

महामहिम श्रीराष्ट्रपतिमहाभाग के प्रधानमन्त्रकत्व से समन्वित
'राजस्थान-वैदिकसत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'

के

तत्वावधान में प्रकाशित

एव राष्ट्राभाषा-हिन्दी में उपनिबद्ध

ग्रन्थों की सूची

१-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड-‘बहिरङ्गपरीक्षा’	१४)
२- ” -द्वितीयखण्ड-‘आत्मपरीक्षा’ (क) विभागात्मिका	२०)✱
३- ” -तृतीयखण्ड-‘ब्रह्मकर्मपरीक्षा’ (ख) ”	२०)✱
४- ” -चतुर्थखण्ड-‘कर्मयोगपरीक्षा’ (ग) ”	२०)✱
५- ” -पञ्चमखण्ड-‘ज्ञानयोगपरीक्षा’ (घ) ”	३)
६- ” -षष्ठखण्ड-‘मक्तियोगपरीक्षा’ (ङ) पूर्वखण्डात्मिका	२०)
७- ” -सप्तमखण्ड-‘मक्तियोगपरीक्षा’ (च) उत्तरखण्डात्मिका	२०)
८- ” -अष्टमखण्ड-‘बुद्धियोगपरीक्षा’ (ग) विभागात्मिका	२०)
९-ईशोपनिषदविज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड	१४)
१०-ईशोपनिषदविज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड	१५)
११-उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड	२०)
१२-उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड	१५)
१३-उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड	१५)
१४-आदिविज्ञानत्रयायुगल ‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक प्रथमखण्ड	२०)✱
१५-आदिविज्ञानत्रयायुगल ‘मायिष्यविज्ञानोपनिषत्’ नामक तृतीयखण्ड	१५)

श्री:

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी महामाता—के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाभ्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षकानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है —



भारत के राष्ट्रपति
डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थानवैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बामने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

निम्नलिखित सेक्रेटरी ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक 3 अक्टूबर 1955

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

प्रमाणित

(कन्स सि) मेजर जनरल

निम्नलिखित सेक्रेटरी ऑफिस

- १६-शतपथब्राह्मण-विद्वानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड २४)
- १७-शतपथब्राह्मण-विद्वानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीयखण्ड ३०)
- १८-दिग्देशकास्त्यस्त्यमीमांसा २४)
- १९-संस्कृति, और सम्पत्ता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्ते, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा नामक-उद्घोषनात्मक-सामयिक-निबन्ध २५)
- २०-"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भाषाकृतो' नामक खण्डसमुच्चयात्मक ग्रन्थानुगत विस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड १५)
- २१-भारतीय दृष्टिकोण से 'विद्वान' शब्द का समन्वय १॥)
- २२-वेद का स्वरूप-विचार २)
- २३-क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रणात्मक निबन्ध) २॥)
- २४-'वेदस्य सर्वविद्या निधानं धर्म' (संस्कृतनिबन्ध) १॥)
- २५-भारतप्रतिमचन से अनुप्राणित-"व्याख्यानपञ्चक" ६)

- (१)-सम्बत्सरमूला-आग्नीषोमविद्या (प्रथम-व्याख्यान)
- (२)-पञ्चपर्वसिद्धि-विरचविद्या (द्वितीय-")
- (३)-मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय-")
- (४)-'भरतस्यविद्या का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ-")
- (५)-बहुरात्र के साथ पुंरात्ररात्रि का समन्वय (पञ्चम-")

प्रतिस्थान—

अथर्वशतक-"राजस्थानवैदिकग्रन्थोपसंस्थान-अजमेर"
मानवाधम-गुर्गापुरा (अजमेर-राजस्थान)

श्री

अथ-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता

‘क’-कारविभागात्मिका

“पूर्वखण्डात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा”

(भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)

की

संक्षिप्ता-विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरोक्षानुगता

‘क’-कार विभागात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका

भक्तियोगपरिच्छा की संक्षिप्त विषयसूची

‘परिच्छेदात्मिका’

—•—

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया पूर्वखण्डे ‘किञ्चिदिव प्रस्ताविकम्’-नामक

प्रथम प्रकरणं सुप्रक्रान्तम्

१

—•—

१-साङ्ख्यिकसंस्कारम्

२-मनो-बुद्धि-विमोहक कर्ममार्ग एव व्यवसायकर्म का अभिव्यक्ति

३-“किञ्चिन् किञ्चिन्मेति कश्चोऽप्यत्र मोक्षिता” मूलक संशयार्थ तथा कर्ममार्ग की आत्यन्तिक अस्मिता

४-कर्मप्रधान ज्ञानमार्ग की श्रुतता अस्तुत्वप्रधान-कर्ममार्ग की वक्तृता तथा ज्ञाननिवृत्त्यन एवमेव संशय की निवृत्ति

५-स्वप्नदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोक्तृता किन्तु स्वप्नदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की अस्मिता तथा-‘दुर्गा पयस्तन कश्चो अस्मिता’ का संस्मरण

६-एतन्मन्त्र-मात्रा-स्पर्श-मात्रों की अनिवाच्यता एवं स्वाभाविक कर्मों की अनिवाच्यता का सिद्धान्त

७-इन्द्रियमनरूप आत्मज्ञान उद्भूत ज्ञानमार्ग एवं बहिस्तम ज्ञानपथ और तत्तिष्ठान मनोविज्ञान का सम्भव	८
८-मात्रास्पर्शमात्रों की शिक्षा और सम्भवभाव	
९-विशेष दैत्याद्यन्त ज्ञानमार्ग की बहिस्तम और उक्त की अन्तरकक्षा अनुमति	--
१-ज्ञान-कर्मों-मध्यमक 'भक्तियोग' का संस्करण	---
११-भक्तियोग का लक्ष्य लक्षण	--- ----
१२-'भक्त्यस्तेऽपीव मे प्रिया' का संस्करण और भक्तियोग की भेदता	---
१३-ज्ञान कर्म, मोक्ष, आत्मा लक्ष्य, आदि भाषों का संस्करण एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा लक्षणों का सम्भव	--- ----

इति-भक्तियोगपरोक्षाया-पूर्वखण्डे "किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्" नामक
प्रथम-प्रकरणानुपरतम्

१

अथ-भक्तियोग परीक्षाया-पूर्वखण्डे 'योगत्रयी का मौलिक विचार' नामक द्वितीय-प्रकरणमुपक्रान्तम्

२

- १-मौलिकतत्त्वभेदों की उपवाणिता का सम्बन्ध, एवं प्रवृत्तिव्यवस्था जीवनपद्धति का सम्बन्ध-
निःश्रेयस-साध-प्रसङ्गत्व --- -- --- १५
- २-नित्यदानान्तरपन अहमा का अशुभ मानवीय भूतत्वा एवं भूतत्वा की कामनाशयी
का संस्मरण --- -- --- १६
- ३-ब्रह्मभूतारिषी का शुभागत एवं प्रवृत्ति की आगच्छाना की लक्ष्यप्राप्तता १७
- ४-प्रवृत्तिमूला योगत्रयी का आनागच्छ और वर्तमान-व्यवस्थानुगत भारतीय-मानव से अनुप्रा-
णिता योगत्रयी --- -- --- १८
- ५-प्रवृत्तिवात् का प्रबल नर्पण तन्मुपायित 'नेकर' का महान् व्यापारन एवं 'प्रवृत्ति' के
परोक्ष स्वरूप से मौलिक प्रगत् की उत्पत्ति --- -- --- १९
- ६-प्रवृत्तिवात् शुद्धिनिष्ठा शब्दविन्यास एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्धन प्रणाली का संस्मरण २०
- ७-'प्रवृत्ति' शब्द का प्र' और वृत्ति' मात्र प्रवृत्तिमूलक वैधान् शब्द एवं तन्मूल्य से
शिवि अन्तिवै --- -- --- २१
- ८-प्रवृत्ति विनायी की अक्षय्यात् मूला 'वैधान् शब्द-निरूपणा महती अन्ति एवं तन्नि-
शब्द-प्रमाण --- -- --- २२
- ९-वृत्ति की प्रागल्भ्य और प्रवृत्ति' शब्द-अन्त्यव --- -- --- २३
- १० प्रवृत्ति शब्दभुगता एक तन्मूला और उन्मा निरुक्तता --- -- --- २४
- ११-व्यर्थमात्रा मूक वृत्ति शब्द कागममात्रमद प्र शब्द और व्यर्थ-वाक्य रूप-प्रवृत्ति
का लक्षणत्व --- -- --- २५
- १२ प्रवृत्तिवात् प्रधान शब्द का तात्त्विक स्वरूप लक्षणत्व --- -- --- २६
- १३-प्रवृत्तिवात्-कारण शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-लक्षणत्व --- -- --- २७
- १४ प्रवृत्तिवात् धीम शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-लक्षणत्व --- -- --- २८

१५-प्रकृतिवाचक 'निधान' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-सामान्य	---	---	१
१६-प्रकृतिवाचक-अव्यय' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-सामान्य	---	---	---
१७-प्रकृतिवाचक 'अक्षर' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-सामान्य	---	---	---
१८-प्रकृतिवाचक-'संतु' शब्द का अन्तर	---	---	२२
१९-प्रकृतिवाचक 'निपति' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-सामान्य	---	---	---
२-महात्म्यायी कर्मोद्धार, और उच्छ्रय शास्त्रोक्त	---	---	---
२१-महात्म्यायिक निपति' शब्द, एवं आधिकारिक श्रौत	---	---	---
२२-महात्म्यायिक मनुष्यात्मिक और उच्छ्रय विवरणार्थि का विवरण	---	---	---
२३-मानव के प्रशस्त्य से प्रकृति का निष्कर्षन एवं उच्छ्रय वैचारिक-विवर का निष्कर्षन	---	---	२३
२४-प्रकृति-विशेष के निष्कर्षन से उच्छ्रयपुरुष का निष्कर्षन उच्छ्रय मानवकर्म से अन्तरण एवं उच्छ्रय धर्मत्वानि की उपस्थापित	---	---	---
२५-मानव के 'अन्तरात्मा' का पावन-उच्छ्रय	---	---	२४
२६-'स्वधर्म' का तात्त्विक अन्वय	---	---	---
२७-प्रकृति के निरूपणार्थ-कारण-मात्र और 'निपति' शब्द का तात्त्विक-निर्णय	---	---	२५
२८-उच्छ्रयश्रौता प्रकृति' उच्छ्रयधर्मना निपति, और प्रकृतिमूलक उच्छ्रयश्रौता विवर	---	---	---
२९-गतिमूला प्रकृति, और उसके 'निपति-मति-आगति'नामक तीन प्रमुख विवर	---	---	---
३-गतिमूल के पाँच मरिमा-विवर एवं उच्छ्रयक अन्तर्धर्मी और उच्छ्रय' का उच्छ्रय	---	---	---
३१-अन्तर्धर्मी का स्वरूप-परिचय, एवं अक्षा-विष्णु-ब्रह्म-नामक तीनों देवताओं का तात्त्विक-अन्वय-	---	---	२६
अन्वय	---	---	---
३२-निपति स्वरूप अन्तर्धर्मी के द्वारा विवर का उच्छ्रय एवं केन्द्रत्व अन्तर्धर्मी द्वारा विवर का निष्कर्ष	---	---	२७
३३-अन्तर्धर्मी मूलक 'हृदय' 'गाई' और 'गर्म' शब्दों का तात्त्विक-अन्वय एवं उच्छ्रय आध्यात्मिक	---	---	---
३४-'हृ' कम विष्णु, 'हृ' कम ब्रह्म 'गर्म' कम अक्षा एवं हृदय में प्रतिष्ठित हृ-र-क-अन्तर्धर्मी	---	---	२८
३५-प्रकृतिवाचक अक्षर की एकाग्रता अक्षरत्मा प्रकृति, एवं उच्छ्रयक विवरणार्थक का अन्वय	---	---	---
३६-निपति-शब्दका प्रकृति का 'हृत्पुमात्' उच्छ्रयधर्मना 'निपतिधर्म्या' और 'निपतिधर्म' शब्द	---	---	२९
३७-पुरुष-प्रकृति-प्रकृतिविशेष-कम अष्टम-अष्टम-शुद्ध-नामक तीन विवरों का उच्छ्रय	---	---	---
३८-मानववाचक कम अष्टमत्वक अष्टमत्वमा अष्टमत्व अष्टमत्व की विवरणार्थक और उच्छ्रयधर्मना	---	---	३
३९-मानववाचक की विवरणार्थक और उच्छ्रयधर्मना अष्टमत्वमा	---	---	---
४०-मानववाचक की विवरणार्थक और उच्छ्रयधर्मना अष्टमत्वमा	---	---	---

४१-अध्यय-आक्षर-द्वर-भाषी में अध्यय आक्षर की स्वरूपता एवं आख्या आक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता	११
४२-ज्ञानयोगविष्ठाता अध्यय कर्मयोगविष्ठाता आक्षर, मक्तियोगविष्ठाता क्षर एवं योगप्रती का समन्वय	११
४३-ज्ञान-कर्म मक्ति-योगी के एकदेशी लक्षण एवं सदाचार पर व्यापक लक्षण का आन्वेषण-मयाव	११
४४-ब्रह्म नामक-अन्त-माश्रमक तीन व्यापक योग और योगप्रती का समन्वय	१२
४५-प्रकृतिविद्-सर्वव्यापक-ज्ञानप्रधान-ज्ञानयोग	११
४६-प्रकृतिविद्-सर्वव्यापक-क्रियाप्रधान-मक्तियोग	११
४७-प्रकृतिविद्-सर्वव्यापक-क्रियाप्रधान-मक्तियोग	११
४८-विकासमाश्रमक ज्ञानयोग स्थितिमाश्रमक कर्मयोग गतिमाश्रमक भक्तियोग एवं तीनो योगों से युक्त निरव के चर-आचर-पणाय	११
४९-अभिप्रायि एकाग्र प्रकृत के नाना विषय एवं एकलनिकषना महामात्र का तथा नानास्व-निरूपता योगमात्रा का पावन संस्मरण	११
५०-ब्रह्मा-इन्द्र-माश्रमगुण योगमाश्रमगी और माश्रमकर्तृक इन्द्रदेवता	११
५१-‘माया’ शब्द का निर्बन्धनप्रमक समन्वय एवं लघुगुणा लक्ष-लक्षवर्त्मिन् योगमाश्रम और उसका योगरत-समन्वय	११
५२-योगमाश्रमगी से अनुगता विष्णुमात्रा का ही योगमाश्रम एवं योगमाश्रमविष्णु वैष्णव-सत् की सर्वव्यापकता का समन्वय	१४
५३-वैष्णवी योगमात्रा का विस्तार-समन्वय	१४
५४-योगमाश्रमविष्णु हरि के विविध अक्षर, एवं ब्रह्माक्षर-महादेवाक्षर आदि की अपविष्टि का समन्वय	१४
५५-शुद्ध-शोणितानुगता रवि-माश्रमिका आ-माश्रमिकी योगमात्रा का स्वरूप समन्वय एवं उद्धार निरव का सम्मोजन	१५
५६-योगमाश्रमगुण सौम्य महर्ब्रह्म अभिरूपन विष्णुमाश्रम सूर्य-चन्द्र-पृथिव्यनुगता ब्रह्मपूर्णमास से विष्णु महर्ब्र की आहृति-आहृति-भाषी में परिणति	१५
५७-महर्ब्रमीश्वर विवर्तना का संस्मरण एवं योगमात्रा के द्वारा अनेक भाषी की प्रकृति	१६
५८-चतुर्वर्तीशक्तिप्रमिता योगमाश्रम एवं योगमात्रा की आक्षरशपरम्पराओं से विवर्तना की निगूणता	१६
५९-योगमाश्रमविष्णु विष्णु के अक्षर का संस्मरण	१६
६०-महामोक्षप्रतिष्ठा योगमात्रा अभिरूपपायमता योगमाश्रमोक्तता एवं लघुसम्पन्न में मार्कण्डेय-महर्ब्र के उद्दीप्तक-सूत्र	१७
६१-विराजता एवं निरव, समष्टिरूप सर्वप्रपञ्च उद्गुणता विषय प्रती एवं सर्वरूपा मोहननी योगमात्रा	१८

अथ-भस्मियाग-पर्वचाया-पूर्वखण्ड 'योगत्रयी, और
भार्गीय महर्षि' नामक
नृत्तीय प्रकरण-मुपक्रान्तम्

22

- [illegible]

- ११-सहस्र-शान्ति-प्राप्ति से अनुप्राणित पुरुषानुक्थी योग सहस्र-शान्ति-विषासक प्रह्वयनुक्थी
अयोगात्मक-योग', एवं दोनों का तत्त्वम्
- १४-आत्मस्वरूप के साक्षरकारका मूर्तिमयों के द्वारा दृष्टा व्यवस्थिता पुरुषयोगान्वी अनुगामी
मारतवय एवं शेष का शेषमूलक
- १५-अर्थी प्रत्यगत्ता एवं अथ भूतत्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ-पथों का योगात्मक-योग', तथा
तत्त्विकचना ज्ञान भक्ति-कर्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी'-का स्वरूप-समन्वय
- १६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में विष्टेयणात्मिका महती विप्रपत्ति
- १७-ज्ञानयोगवादी संस्थों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्म-यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग और उत्तरी
आपातरमनीयता
- १८-कर्मयोगवादी कर्मियों का कामनमय काम्य-कर्मयोग एवं उत्तरी निस्कारणा तथा भक्तियोग-
वादी भक्तों के काम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन
- १९-कपिलसम्मता ज्ञानमातृका द्विरवयवसम्मता भक्तिमातृका एवं स्वयम्भुतसम्मता कर्ममातृ
का का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा समस्तमूलिक-बुद्धियोगान्विता ज्ञान भक्ति-कर्म-योगान्विताओं
का पावन-संस्मरण
- २०-अमुक्त-निःश्रेयस्-संसाधक 'गीतायोग' का अद्यत्ति एवं विरोध राक्षसीयों के द्वारा आवि
ष्कार, तथा गीतायोगानुक्थी निष्काममात्र का संस्मरण
- २१-बर्द्धाश्रमसम्मता ज्ञान-यनित-कर्म-योगत्रयी का ही सर्वत्र व्यवहार्यत्व एवं युगवर्मानुक्थ
से बर्द्धाश्रमवर्ग का शैथिल्य
- २२-सनातन ईश्वर-प्रजापति के सनातन निरव की सनातन-सौक्यविभूतियाँ
- २३-प्रकृतिपरिवर्तनात्मक युगवर्ग से अनुप्राणित-परिवर्तन-प्राप्ति प्राप्तिमूलक सिद्धिवाद एवं
परिवर्तनवादीयों के कल्पनिक-परिवर्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिकमानव का उद्बोधनसूत्र
- २४-अपरिवर्तनीय अक्षर से नियन्त्रित परिवर्तनशील क्षर के परिवर्तनों का भी अपरिवर्तनत्व एवं
सनातन ईश्वर के निरवयवमूल शास्त्र का सनातनत्व
- २५-गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति ज्ञानत्वनिष्ठा
- २६-शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की छैकरलता-निरन्धना सनातनता एवं तदनुप्राणित धारवत्-
सनातनधर्म
- २७-अविचारितमयीया शास्त्रनिष्ठा एवं कल्पनाओं का अस्पष्टिक-अपानोहन
- २८-परिस्थिति मूलक हेत्वाभास का स्वरूप-विगर्हण एवं शास्त्रीय-कर्तव्य के प्रति हेत्वाभास-
वादिनों की निरपेक्षता
- २९-अस्तामध्य प्रयुक्त हेत्वाभास का बाग्वन्मृगमा अनुगामी 'मध्यमवर्ग' एवं अस्पष्टिक-
विधि-समस्याओं के सर्वत्र के द्वारा कथं व्यभिचर के प्रति सर्वत्र की निरपेक्षता
- ३०-समाबलुक्थ से प्रदर्शनात्मक के लिए शास्त्रमन्त्रित-प्रदर्शनपरायण ब्रह्म-वर्ग का अनर्गल-महाप
- ३१-युगवर्तानुगामी विभिन्न वी वर्गों का स्वस्वैतिह्य एवं तत्त्वमन्त्र में विविध उदाहोही का
स्वरूप-दिग्दर्शन

[illegible]

८१-वाम्यात्मलक्षण द्विरवगम ज्ञाया से अनुप्राणित द्वायात्मक-रजोविद्यात अस्त मूर्त-सर्ग का स्वरूप परिचय (रजोविद्यातसर्ग-इन्द्रात्मक आन्तरिक्ष-९)	११
८२-अप्यात्मलक्षण विराट विष्णु से अनुप्राणित एकरमक तमोविद्यात-ता का स्वरूप-परिचय (तमोविद्यातसर्ग-भूकरमक-वार्धिव-१)	" "
८३-अहस्तिनिष्पन्न-त्रिगुणभाव का विस्तार, एतं भाव-गुण-विकार-सर्गत्रयी-से समन्वित विश्वसर्ग	१८
८४-सत्त्वविद्यात-सर्वज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	" "
८५-रजोविद्यात अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	" "
८६-तमाविद्यात अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	१६
८७-सत्त्वविद्यात-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	" "
८८-रजोविद्यात-मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	" "
८९-मातृव्यक्ति-निष्पन्न-त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय	" "
९०-मृतसर्गनिष्पन्न-त्रिगुणात्मक-विषय-विषयों का स्वरूप-समन्वय	७

इति-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वस्वरुहे 'योगत्रयी का मौलिक-विचार नामक'
द्वितीय-प्रकरण-मुपरतम्

अथ-भक्तियाग-परीक्षाया-पूर्वस्वरूपे 'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि' नामक तृतीय प्रकरण-मुपक्रान्तम्

३

- १-इन्द्रियिका ज्ञान मर्ति कर्म-योगवरी तीनों योगों का मह-सम्पन्न एवं कर्तित ज्ञान-मर्ति
मर्ति-कर्म-योगों के द्वारा प्रवर्धित ज्ञान-वरी की अन्तमुत्पत्ति ---- ७६
- २- योग शब्द-अवधारण का अर्थ-सांख्यिक-प्रमाण ----
- ३-वैश्वानर-तैत्तिरीय-प्राज्ञ-पूर्ति योगिक भूतान्ता से अनुप्राणित "योग" और अनुप्राणित
योगवरी ----
- ४-लौकिक-अप्रमाण-मानवक के प्रवृत्तिमुक्त प्रवृत्ति ज्ञान-मर्ति-कर्म-योगों का स्वस्व-विस्तार ---- ८
- ५-प्राणिमान में सम्मिलित लौकिकी-वाह्यिकी ज्ञान-मर्ति-कर्म-योगवरी
- ६-मानव के वैयक्तिक एवं पारिवारिक योगक्षेत्र उत्पन्न-वर्तित तीन सामान्य योग एवं लौकिक
योगवरी में अनुप्राणित योगवरीयक मानवक ----
- ७-वैश्वानरी से सम्मिलित भूतान्ता की प्रवृत्तिमानुषिकी योगवरी से परवृत्ति एवं
आत्मयोगवरी से वृत्ति सम्मिलित-वैश्वानरी से सम्मिलित मानव की अद्यान्त के प्रवृत्ति
अवस्थान्तर का प्रमाण ---- ८१
- ८-पशुप्राणिकता परवृत्ति योगवरी के लक्ष्य प्राप्ति मानवकप्राणिकता प्राप्ति-वैश्वानरी का मह
सम्पन्न एवं इत की आत्मवृत्ति की अन्तमुत्पत्ति ---- "
- ९-नीमित्त वीर्यमानुषिक पशुप्राण की प्राप्ति-वृत्ति एवं उत्पन्नमान में वातावरण-मानव की
प्रवृत्ति योगक्षेत्रमान्ता तथा लक्षिक-मानव प्रवृत्ति-इत्यादि ---- ८२
- १०-वैश्वानरीयक स्वात्मज्ञान एक विप्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति-वरी, तथा पुरुषवरी के अन्तमुत्पत्ति
माध्यम में विप्रतिपत्ति का लक्षण-प्रमाण ---- "
- ११-अन्तमुत्पत्तिमान्तर ईश्वर आत्मप्राप्तिमान्तर जीव (मानव) अन्तमुत्पत्तिमान्तर अन्तु एवं
वैश्वानरीयक योगक्षेत्र का महव्यवहार ----
- १२-पुरुष-प्राप्ति-वृत्तिमान्तर भूतान्ता का लक्षण, लक्षिक-मान्तर आत्म-वृत्ति लक्षण एवं प्रवृत्ति-वरी
के क्षेत्र में अन्तमुत्पत्ति का अन्तमुत्पत्ति ---- ८३

- ११-सङ्ख-शान्ति-प्राप्ति से अनुप्राणित पुरुषानुक्तरी योग सङ्ख-शान्ति-विषातक प्रकृत्यनुक्तरी
'अयोगात्मक-योग' एवं दोनों का तारतम्य ---
- १४-आत्ममन्त्रक के साक्षात्कारकर्ता महर्षिों के द्वारा दृष्टा व्यवस्थिता पुरुषयोगत्रयी तन्नुगामी
मारुतवर्ष एवं शेष का शपथस्वरूप ---
- १५-ब्रह्मी प्रत्यगात्मा एवं अशुभताया के ज्ञान-क्रिया अर्थ-पथों का योगात्मक-योग तथा
तत्त्विकचना ज्ञान भक्ति-कर्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी' का स्वरूप-समन्वय ---
- १६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पितृपञ्चात्मिका महती विप्रपत्ति ---
- १७-ज्ञानयोगावली संज्ञ्यों का कल्पित स्थैतव्यमूलक कर्म यागव्यक्त कल्पित ज्ञानयोग और उसकी
आपाठ्यमणीयता ---
- १८-कर्मयोगवादी कर्मठों का कामनामय काम्य-कर्मयोग एवं उसकी निस्वार्ता तथा भक्तियोग-
वादी भक्तों के काम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन ---
- १९-कविलक्ष्मणा ज्ञानमाधुक्ता हिरण्यवर्मलक्ष्मणा भक्तिमाधुक्ता एवं स्वयम्भुजलक्ष्मणा कर्ममाधु-
क्ता का स्वरूप-निर्गन्धन, तथा समत्कर्मलिका-बुद्धियोगान्विता ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगनिष्ठाओं
का पावन-सम्पन्नत्व ---
- २-अमुदय-निःश्रेयस-संज्ञाचक 'गीतायोग' का ब्रह्मर्षिों एवं विशेषतः गङ्गाधरों के द्वारा आवि-
ष्कार तथा गीतायोगानुक्तरी निष्कर्ममत्त्व का संस्मरण ---
- २१-बर्णाश्रमवर्मांनुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगत्रयी का ही सर्वज्ञ और वाचस्पत्य एवं युगवर्मानुक्त
से बर्णाश्रमवर्मा का शैथिल्य ---
- २२-स्नातन ईश्वर-प्रजापति के स्नातन विश्व की स्नातन-लोचविभूतिर्वा ---
- २३-प्रकृतिरिवर्तनात्मक युगवर्मा से अनुप्राणित-परिवर्तन-प्राप्ति, प्राप्तिमूलक विस्तार एवं
परिवर्तनवाच्यों के कल्पनिक-परिवर्तन के सम्बन्ध में नैतिकमानव का उद्घाटनसूत्र ---
- ४-अपरिवर्तनीय अक्षर में नियन्त्रित परिवर्तनशील स्वर के परिवर्तनों का भी अपरिवर्तनत्व एवं
स्नातन ईश्वर के निश्चयानुभूत शास्त्र का स्नातनत्व ---
- २४-गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति अनन्यनिष्ठा ---
- ५-शास्त्रीय स्नातन शिष्टावली की लौकिकता-निकृष्टता स्नातनता एवं तन्नुप्राणित शास्त्रक
स्नातनवर्मा ---
- २७-अविचारितमयीया शास्त्रनिष्ठा एवं कल्पनाधी का कल्पनिक-व्यामोहन ---
- २८-परिस्थिति मूलक इच्छामात्र का स्वरूप-दृग्दर्शन एवं शास्त्रीय कर्तव्य के प्रति इच्छामात्र
वाच्यों की निरवैक्यता ---
- २९-असामर्थ्य प्रयुक्त इच्छामात्र का वाग्विषमय तन्नुगामी 'मध्यमवर्ग' एवं कल्पनिक
विचित्र-सम्पन्नाओं के लार्जन के द्वारा वस्तुनिष्ठता के प्रति लक्ष्मी की निरवैक्यता ---
- ३०-समाधुक्ता से प्रवर्तनमात्र के निष्ठ शास्त्रमन्त्रित-प्रवर्तनपरायण वक्ष्य-रूप का कल्पनिक-प्रवर्तन
१-युगवर्मानुगामी विभिन्न दो वर्गों का स्वरूपनिर्दिष्ट एवं तन्नुप्राण्य में विविध उदाहरणों का
स्वरूप-निर्गन्धन ---

३२-गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य	६१
३३-शास्त्रीय कर्त्तव्य-धर्मों के सम्बन्ध में सम्मान आदेश और उल्ला नीगृहीत विवेक	
३४-अद्वैतवाद और नवार्थवाद का सम्बन्धन एवं नवार्थवाद से बहिष्कृत आदर्शवाद की आत्म-निरूपणप्रवृत्ति	
३५-गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-विद्वान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण प्रयास एवं गीताशास्त्र की विशेषणता अतएव निरूपणता	
३६-वैदिक-अमनात्मन-धर्मोक्तिक का संशोधक निष्काश-धर्मयोगात्मक गीताशास्त्र	६२
३७-वैदिक धर्मयोग की निष्काशता के सम्बन्धन में गीता के धर्मवाद का शैक्षिक एवं पुनरुक्त मोक्ष की विशेषणता	
३८-शास्त्रकार-अमनात्मन-गीता का धर्मशास्त्रमन्त्र-प्रदर्शन	६३
३९-गीता के सम्बन्ध में-किमसौ शास्त्रविस्तारो मूला निवृत्त-अनन्त-आख्या	
४-आचार्यमन्त्रावलीमन्त्र आदि का गीताशास्त्र और राष्ट्रीय-गीतामस्ती का शास्त्री के प्रति प्रचण्ड-आक्षेप	
४१-धर्मोक्तिधर्मव्यवस्था से अद्वैत गीताशास्त्र अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रवृत्त्या अकृत्यता अकर्मता एवं स्वयं गीताशास्त्र की अवि-स्मृति-शास्त्रोक्तप्रवृत्त्या	
४२-गीताशास्त्र की अद्वैत का आचार्यवृत्त 'धर्मोक्ति' एवं अन्तर्गत अन्तर्गतानुगत- 'भक्तियोग'	६४
४३-गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध धर्मनार्थ, एवं गीताशास्त्र की प्रातिमिकाता तथा धर्मयोगता के अनुबन्ध से विचार विमर्श	६५
४४-अनन्तधर्मों विधानों का प्रचण्ड आक्षेप अन्तर्गत विचारशीली एवं गीता से अनुप्राणित विचार-शीली का परस्पर अन्तर्गतविषय	
४५-गीताशास्त्र की अपूर्वता से दोनों धर्मों का समन्वय शास्त्रविज्ञा योग्यता एवं लोकानुगतता अन्तर्गत, तथा अन्तर्गत आदर्शवाद का उत्तरण	६६
४६-धर्मयोग से बहिष्कृत आदर्श की वाक्यमयता	
४७-आचार्यमन्त्र नवार्थ से अन्तर्गत अनन्तधर्मियों का आचार्यमन्त्रावली एवं अन्तर्गत धर्मयोग से अन्तर्गत आचार्यमन्त्र पठन	
४८-धर्मयोग मन्त्रावली की मन्त्री-विमर्शिता एवं अन्तर्गत आचार्यमन्त्र का अन्तर्गत	६७
४९-आचार्यमन्त्र-धर्मयोग का अन्तर्गत अन्तर्गत आक्षेप और आक्षेपमूला पठन-परम्परा	
५०-आचार्यमन्त्र एवं धर्मयोग का परस्पर प्रचण्ड धर्म तथा धर्मयोग-धर्म की अन्तर्गत अन्तर्गतता	६८
५१-धर्मयोगमन्त्रावली धर्मयोग-संकेत, और धर्मयोग की परम्परा	
५२ धर्मयोगमन्त्रावली हमारी अन्तर्गतपरम्परा एवं अन्तर्गत आचार्यमन्त्र-आदि आचार्यमन्त्रों का अनुपमन	६९
५३-धर्मयोगमन्त्रावली मन्त्री-विमर्शिता एवं अन्तर्गत आचार्यमन्त्रावली अन्तर्गत-धर्मयोग	

५४-शास्त्रनिष्ठ आकट्ययोगी शास्त्रानुगत आचरन्तु मानवभेद और सांसारिक-मरणादि सामान्य मानव	"	"
५५-धर्मसूत्र का सञ्चालक-भारतीय मानवर्ण एवं उनकी विविध उपाधियाँ	"	१००
५६-सहस्र भद्राशीम् किन्तु शास्त्रकर्मानभिष्ट मानवर्ण	"	"
५७-शास्त्र से उत्तरम प्राकृत मानवी का प्रदर्शनात्मक-सुलपूर्ण शास्त्र-सम्बन्धयोग	"	"
५८-शास्त्रद्रोही परिवर्तनवादी उत्सृज्यमानवर्ण और उत्सृज्य अनर्गल प्रलाप	"	"
५९-विविध वर्गों के विविध विस्वाह	"	१०१
६० परस्परसम्पन्नप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग एवं उनकी क्रमशः 'धर्म' तथा 'धृष्ट' के प्रति आचारानुयाय्य दम्भप्रवृत्तियों का नष्ट विषय	"	"
६१-'ततो भूय इष से तमो य इ विद्याया रता'	"	"
६२-विभिन्न वर्गों की पारम्परिक अहमहमिका और उद्धार राष्ट्रियता का अभिमत	"	१ २
६३-धर्ममीत्र पुर्विष्ठर की मयावहा धर्ममीरता मगवान् के द्वारा उत्सृज्य एवं अभिविष्टि पादहर्षों का उत्सृजन	"	"
६४-धर्मनिष्ठ पुर्विष्ठर, एवं सम्पत्तिप्राप्त-दुष्प्रवृत्त दोनों वर्गों का उत्सृज्य-मगन-एवं उत्सृज्य में मगवान् का महान् उत्सृजनसूत्र	"	१०३
६५-'ये यया मा प्रपद्यन्त तांस्तथैव भवान्मह्यम् का सम्पत्ति 'धर्म' और नीति का समुत्पन्न तथा भारतीय राजनीति की धर्मसाधकता	"	१ ४
६६-धर्ममित्रता राजनीति का ही सम्पत्ति-निर्भरत्व-एवं धर्ममात्र का पादहर्षों की धर्ममात्रता के साथ मगवान् के द्वारा नीति का समुत्पन्न	"	"
६७-आपद्धर्मविद्या विशेष-परिचितियों में धर्मनीति की उपेक्षा एवं विद्युत् राजनीति का समुत्पन्न तथा समिष्टवना-पाप-मुक्त-मीमांसा	"	१ ५
६८-मगवद्वैतार के सम्पत्ति में आत्मज्ञान प्रश्न और समिष्टकरण	"	"
६९-साहित्य-इ-हात्मक-मैत्रिक-विरह-की गुण-दोगानुगति एवं विरह के सामूहिक तथा धैर्यविकृत विरहित का कारण	"	"
७०-महाभारतयुग से अनुप्राणित प्रचण्ड-लपराकिर्या के कतिपय उदाहरण	"	१ ६
७१-विरहानुगति का प्रचण्ड सन्त महाभारतकाल, एवं विरहानुगति धर्ममानि व उपरम के निरुद्धी अक्षरीय मगवान् का पुनः कृष्ण के साम्यभावात्त उद्धार	"	"
७२-महाभारतयुग से अनुप्राणित अनिवाद्या दयनीनी	"	१ ८
७३-नीतानुगत आत्ममूलक साम्यवाद तथा समुत्पन्न नैतिक साम्यवाद (धर्ममित्र) का समुत्पन्न	"	१ ९
७४-नीति का विरहानुगति-मूलक महान् गुण एवं उल्लेख का सम्पत्ति-निर्भरत्व	"	"
७५-समिष्टमार्ग का धर्ममित्र-विशेषण	"	१ १
७६-सम्पत्ति-निर्भर-मैत्रिक-नीति का मगवान्	"	"

- ७३-सर्वीसुख्य का अग्रभूत मोक्षासुख्य दोनों के अन्तर्गत एवं ईश्वरीय के द्वारा ही जीने-
का ही प्रशस्ति
- ७४-ईश्वरीय-निरूपणा योगवती का प्राधान्य एवं उद्धार 'अस्मत्कृत स्व-विमोहन की उपशान्ति
- ७५-महाभक्तानुगत विविध सुखकृत एवं महाभक्तानुगता महती प्रेरणा से ही सुदृक्त्व की गति-
शीलता
- ७६-मानवीय जीव की इन्द्रियवर्णानुगता विविध-दृष्टार्थ एवं महाकृपात्मक उन्नायी ईश्वर के द्वारा
॥ उपलब्धियों का सम्पन्न
- ७७-महाकृपात्मक ईश्वर की जीवानुबन्धिनी-मक्ति और 'मक्तियोग'
- ७८-आध्यात्मिक-उद्धानुगता स्व-शान्ति का 'प्रकाशमान' का ईश्वरप्राप्त मक्तिवीर्य
- ७९-विशिष्ट-वैशिष्टा योगवती अनुकूल मक्तियोग एवं ईश्वरप्राप्तमत् से अनुपवेष्टिता का सम्-
न्वय-प्रमाण
- ८०-सूख्य को पूर्णता प्रदान करने वाला वरिष्ठस्वाभाव मक्तिवीर्य अनुकूल आत्मसमर्पण एवं
संज्ञाचन-सम्पन्न-प्रमाण
- ८१-वर्तमान मक्तिवाद के कथन अमिनिवेश अविद्या-आदि अविमानात्मक ११
- ८२-स्वप्राप्तानुगत-मन्मनामाय एवं शरीरकामानुगत-उन्मनामाय
- ८३-कर्मवृत्ति-गुणानिष्ठ-सुख-सर्ववृत्तान्तवाद्या एवं तत्त्विकचन मक्तिवीर्य
- ८४-मन्मनामाकानुगत-अभिचारिणी मक्ति एवं उन्मनामाकानुगता अभिचारिणी-मक्ति
- ८५-अभिमान और अविमान माँ की का स्वल्प-सारवत् उपदेश 'अभिमान' एवं हेय-अभि-
मान' तथा-महास्व-निरूपणा मनोवृत्ति का स्वल्प विरोध
- ८६-अभिमानपञ्चांगामी अनुभूत-मानव उद्यम, शब्दाभिमान से अतीत गुरानिहित अज्ञानव
आत्मवेद एवं अनुगत मन्मनामाकात्मक 'मक्तिवाग'
- ८७-शब्दाभिमान-परम्पराप्राप्तिता उन्मनामाय-सम्पन्नता मक्ति का शब्दीत्व, एवं तत्त्विकचन
आत्मजन और उन्मत्त मे-ईश्वरप्राप्तन्याता अज्ञान' मक्ति ॥ अनुप्राप्ति-मद्वेष' का
स्वरूप-उन्मत्त
- ८८-अज्ञान मनुष्य मन्त्री की विमोक्षार्थ
- ८९-पारिवर्त्य निर्विष बाधनेन तिष्ठतेषु आदेशमूलक-उद्गीर्णन 'विद्या अज्ञान उपनिषत् से
सम्पन्नता आचरनिष्ठा एवं उन्मत्तमे शान्तीय-इष्टिकील
- ९०-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं अज्ञान शान्त्यारोप की अनन्तधारणीकरण
- ९१-स्वल्पमायस्य बन्धस्य प्रायतं महतो मयार्थ-मूलक महान उद्गीर्णनत्व
- ९२-कर्मवृत्तिमूलक-अज्ञान
- ९३-अज्ञान शान्त्यारोप किन्तु सुखवन्ती से पौष्टित मानवी का प्रश्न एवं उन्मत्तानुगता और
सुखकारक मक्तिवीर्य का सम्पन्न
- ९४-सुराचारी मननार्थ के सम्पन्न में प्रश्न उन्मत्तानुगता एवं मक्तिवाग के माध्यम से
सुराचारी का भी सम्पन्न-परिणाम

६६-सुदुराचारी मानवजग की लौकिकभक्ति का समन्वय-प्रयास

१ *—माखीब-हिन्दू-मानवाधिरक्षि पृथक्देशीय तथा इतर-देशीय मानवजगों का भी परित्राता गीता का प्रक्रियोग एवं स्व-स्व-कृत्य के आधारभूत भक्तिबोध से मानवमात्र का सम्भावित आत्मप्राप्त

११६

१०१-धर्म-धर्म-आचार-महा-शास्त्र-आदि की संमिश्रताओं के प्रचरद्वितीयी पुरुषपुङ्गवों का सम्मरण

१ २-आधुर, दैव-मेद-निरूपण द्विविध मानवधर्म आधुर मानवधर्मातुगता कास्मनिक-मानवताएँ तदनुप्राणित स्वर और इह धर्म का दुरमहामक-आग्रह

१ ३-आनीरवरवादी-धाम मांगमात्र-वरायण-कामकामी-नराधर्मों का प्रकृतिवा-व्यामोहन एवं तन्-प्रवर्तक-काममात्र

१२

१०४-धर्म-मान-म- से उन्मत्त-प्रमत्त-आधुर-मानवी की निकृष्टकर्मप्राप्ति

१ ४-आशापाश-बद्ध, काम-कोव-वरायण अर्थ-सङ्ग्रहलिप्सु नराधर्म

१ ५-विविध मोहबाल-समाविष्ट कास्मनिक नामकहादि में आत्मत-व्यात्मत नरकपञ्चानुगामी आधुरमानव

१ ७-अभित्विमोहनमूला श्रेष्ठता के मर्म से मदीयत नराधर्मों की लोभेष्टेष्टा

१०८ प्रत्यगात्मस्वरूप-अभ्येश्वर के अत्यन्त-महिम्नी नराधर्म

१ ८-आधुरी-बोनियों के चक्र से चक्रयित नराधर्मों का आख्यातिक पवन

११०-उर्ध्वान्वित-अतएव स्वरूप-विभू-हर्यभूत नराधर्मों का विनष्टप्राय इतिवृत्त

१११-‘भक्ति’ और ‘उपासना’ शब्दों के बाध्याओं का स्वरूप-समन्वय-प्रयास

१२५

११२-‘भक्ति’ शब्दानुगुण्य सेवावृत्ति का स्वरूप-विगर्शन

”

११३-‘भक्ति’ शब्दानुगुण्य ‘महा’ ‘अश’ प्रमोदा एवं तत्प्रकृतना ज्ञानात्मिका भक्त्यात्मिका कर्मात्मिका-भक्ति त्रयी का स्वरूप-विगर्शन

”

११४-ज्ञानात्मक-ज्ञानवी का स्वरूप-विगर्शन

”

११५-कर्मात्मक-ज्ञानवी का स्वरूप-विगर्शन का समन्वय

”

११६-भक्त्यात्मक-ज्ञानवी का स्वरूप-समन्वय

”

११७-ज्ञानात्मक-कर्मात्मक-भक्त्यात्मक-कर्मात्मक एवं भक्त्यात्मक-कर्मात्मक का स्वरूप-पेक्षित

११८-ज्ञानात्मक-भक्त्यात्मक-कर्मात्मक-भक्त्यात्मक, एवं भक्त्यात्मक-भक्त्यात्मक का चिरम्तेनिवृत्त

१०४

११९-ज्ञानात्मक-भक्त्यात्मक-कर्मात्मक-भक्त्यात्मक, एवं भक्त्यात्मक-भक्त्यात्मक का चिरम्तेनिवृत्त अर्थात् से अनुप्राणिता गीता के द्वारा संस्थापित ज्ञान भक्ति-कर्मात्मक-भक्त्यात्मक का स्वरूप-समन्वय

११ —विद्वत्मानुषन्धिनी योगप्रदी का स्वरूप-संगमरय

”

१२१-ज्ञानात्मक-ज्ञानवी के समर्थक वचन

”

१०४

१२२-कर्मात्मक-ज्ञानवी के समर्थक वचन

”

१२३-भक्त्यात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन	---	---	"
१२४-ज्ञानात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन			
१२५-भक्त्यात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन	---	--	
१२६-कर्म्यात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन		---	१२७
१२७-ज्ञानात्मक कर्मयोग से समर्थक वचन	---		
१२८-भक्त्यात्मक कर्मयोग के समर्थक वचन	--		१२८
१२९-कर्म्यात्मक कर्मयोग के समर्थक वचन			
१३०-ज्ञानबुद्धियोगसहित संशोधित-ज्ञानयोग			
१३१-वेदव्याख्यायुक्तियोगसहित संशोधित-भक्तियोग			१२९
१३२-भक्त्यात्मक योगसहित संशोधित कर्मयोग	---		
१३३-उपासनात्मक भक्तियोग की अष्टांगता का सम्बन्ध तदाचार्यभूत प्रत्यगात्मा एवं शरीरक- आत्मानुगत-मत्स्यात्मक भक्तियोग			
१३४-ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगानुक्रमी-न विविधता के चारतन्त्र का स्वरूप-सम्बन्ध एवं उपासना तथा भक्ति-निरूपण-तन्त्र का सम्बन्ध			
१३५-उपासना और भक्ति से अनुपाश्रित-चारतन्त्र-सिद्धान्त			१३
१३६-प्रत्यगात्मनिरूपण सर्वश्रेष्ठ बुद्धियोगात्मिका भक्ति का संस्मरण		---	
१३७-अध्यात्मनिरूपण 'परा विद्या' अध्यात्मनिरूपण 'अपरा विद्या' का संस्मरण एवं तन्मिरूपण			१३१
ज्ञानयोग-योगनिरूपण			
१३८-विष्णुमातानुक्रमिकी पदवाच्यता तन्मिरूपण आध्यात्मिका प्रगुणमात्रात्मिका योगप्रदी और 'निस्तैगुणो भवानु म का संस्मरण	---	---	"
१३९-अपराविद्या में परविद्या का सम्बन्ध एक तन्मिरूपण-योगनिरूपण तथा 'उप आसना' निरूपण			१३२
उपासना			
१४-स्याम्य चरानुगता योगप्रदी	---		
१४१-गान्धर्व अक्षरानुगता योगप्रदी-(१)	---	---	"
१४२-भारतीय महर्षि की पुराणीप्रज्ञा से प्रख्यात 'योगप्रदी' का संस्मरण एवं श्रुती-अक्षरानुगता			१३३

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्ड-‘योगप्रदी, और भारतीय महर्षि’

नामक

वृत्तिर्धे-भक्त्या-मकरतन्त्र

३

—•—

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया पूर्वखण्डे-‘युगधर्मानुगता- विविध-उपासनाएँ’ नामक-त्रुर्थ-प्रकरणमुपक्रान्तम् तत्र च-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

नामक

प्रथम-अध्याय-प्रकरण

१

- १-श्रुतिद्वया वीणात्रयी के युगधर्म निश्चयन विविध-परिचयन ११७
- २-परिवर्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्तित नीय-मूलक --- "
- ३-आवातपमनीय-कल्पनाओं के समाधान प्रयास का उपक्रम -- "
- ४-भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्मानुगता भ्रान्त चारणा
- ५-देवयुग, वेदयुग तथा पुराणयुग अनुकम्बी से अनुपाशित ज्ञान-कर्म भक्ति-निष्ठात्रयी का युगधर्मनिश्चयन आत्यन्तिक बलविद्युम्भन --- ---
- ६-वीणादिक भक्तिवैराग्य का संस्मरण तद्विषयन वितरहासार तदनुपाशित विवरकल्पनाएँ, एवं निष्ठाद्वयी का आत्मनिक अभिनिवेश -- --
- ७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में भक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यापारन ११८
- ८-कविलुनि-सम्मता तत्त्वनिष्ठा हिरण्यगर्भश्रुति-सम्पत्त योगनिष्ठा, वैमिनि-सम्मता कर्म मीमांसा आदि दृष्टिकोणों के माध्यम से भक्तियोगनिष्ठा का स्वल्प-उपपन्न -- "
- ९-भक्तियोगनिष्ठा की अनादिता एवं परिवर्तनात्मक युगधर्मों के अनुपात से भक्ति के अनुष्ठानप्रत्येक प्रकारों में उपायबन्ध-परिचयन --- --- १४
- १०-भक्तिवैराग्य के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आचर्यक प्रश्न एवं अतिपुरातन युगात्मक माध्ययुग की योगत्रयी --- --
- ११-भूतकिशाननिष्ठागत आचर्यकी का भूतानुकम्बी यमात्मक कर्मयोग तदनुपाशिता मीमांसी योगत्रयी एवं लाप्ययुगोत्तरमा १ देवयुग में उनका संशोधन --- --- "
- १२-देवयुग और वेदयुग का आशिक-पार्थक्य-सम्बन्ध एवं वेदयुगानुगता योगत्रयी का संस्मरण १४१
- १३-इन्द्रादीन्-मर्त्यजन्मन निगुण अव्ययाद्या का स्वकर्म के द्वारा प्रथमाविर्भाव तदनुपाशित वर्तमान ज्ञानयोग एवं तदनुगता योगत्रयी का संस्मरण -- --

- १८-बुधगानुगत विगुण-शब्दवत्त्वा विगुणमति वेत्तुमात्रगता भुग-प्रकाशनेष्टा मनुसुमति
एवं तदापरागेव अविच्छेदा पुराणपुगानुगता सविस्तरमति
- १९-मतिपदा का मतिवत्-रहस्यमति मतिवत्-गानुगता रहस्यमति 'अनन्यता तथा 'अनन्यता' का १५
रहस्य-ममरय एवं भूतानिनिविष्ट मति के मतिवत्-भाग विवक्ष्यता
- २०-योगनीति का अविच्छेदा ॥ योगात्मा एवं योगनीति का शब्द शारीरक अत्मा तथा विविध-भाग
के प्रकाशमानपुनरी रचना-लक्षण
- २१-योगात्मा में अनुगतामति ग्रहनिमित्त-मतिनी-योगनीति, एवं उरुषी विगुणमति तथा १५१
लक्षणवत्ता विवक्ष्यता का विवक्ष्यता
- २२-विगुणमात्रात्मा शरीरवत्ता वाममात्रा-रहस्यी ग्रहनि-तनुगतामति गुणमति का योगनीति एवं
रहस्य-योगनीति का लक्षणप्रकाश
- २३-अनन्य-अनन्यगुणनीति योगनीति तीन भाग योगनीति भागों का गुणमति विवक्ष्यता एवं योगनीति
मी गुणमति भागों का अन्तर्भावगानुगत-अन्तर्भाव-रहस्यमति अन्तर्भाव अनुगतामति
- २४-गुणमतिपदा शब्दनिमित्त-योगनीति में योगनीति के द्वारा विगुणनीति-रहस्यमति संशोधन एवं १५४
गुणमतिपदा-मति-विवक्ष्यता अन्तर्भावगानुगत-रहस्यमति योगनीति के मतिवत् में मतिनी रहस्य
- २५-गुण मति-विवक्ष्यता मति में विवक्ष्यता गुणमतिपदा अन्तर्भावगानुगत के द्वारा शब्द-मतिपदा के
मतिवत्-रहस्यमति मति के २६ अन्तर्भाव का विवक्ष्यता-रहस्यमति प्रकाश
- २६-गौतम-रहस्यमतिपदा की पदा-रहस्यमतिपदा शब्द-रहस्य-मति-रहस्यमति अन्तर्भावगानुगत की मति
मतिपदा
- २७-ज्ञान-मति-रहस्यमति में अविनिविष्ट लक्षणमति-रहस्यमति एवं रहस्यमति-रहस्यमति के अनु
यामी मतिमति मतिमति-रहस्यमति मतिमति-रहस्यमति
- २८-रहस्यमतिपदा-रहस्यमति के लिए अन्तर्भाव गौतम-रहस्यमति एवं गौतम-रहस्यमति के मतिवत् में ही गौतम-
रहस्यमति की मतिमतिपदा का शब्द
- २९-रहस्यमतिपदा-रहस्यमति के मतिवत् में अन्तर्भाव-रहस्यमति मतिमति-रहस्यमति एवं गौतम की
रहस्यमति का मतिमति
- ३०-मति मति-रहस्यमति में विवक्ष्यता शब्द शब्द की रहस्यमति पदा-रहस्यमति-रहस्यमति
विवक्ष्यता मति निमित्त रहस्यमति अन्तर्भावगानुगत की रहस्यमति-रहस्यमति-रहस्यमति
- ३१-रहस्यमति रहस्यमति-रहस्यमति का शब्द एवं विशेष-रहस्यमति-रहस्यमति तथा वेदमति
रहस्यमति का मतिमति अन्तर्भाव रहस्यमति-रहस्यमति
- ३२-रहस्यमति का अनुगतामति रहस्यमति, एवं रहस्यमति-रहस्यमति-रहस्यमति तथा रहस्यमति में
रहस्यमति
- ३३-रहस्यमति रहस्यमति की रहस्यमति रहस्यमति रहस्यमति एवं रहस्यमति-रहस्यमति की रहस्यमति
में अनुगतामति विवक्ष्यता रहस्यमति
- ३४-रहस्यमति योगनीति के मतिवत् मतिमति एवं रहस्यमति-रहस्यमति योगनीति के रहस्यमति
का विवक्ष्यता

- ११-वेद के प्राज्ञसमावेश कर्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा त्रिगुणातीता निष्ठिति का स्वरूप-सम्बन्ध एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति-भावद्वारमक आक्षणवेद
- १२-वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिष्ठों की सम्प्रदाय तदनुबन्धिनी विद्वम्भना एवं बृहदारण्यकोपनिषत् आदि व्याख्यानमूलक-सत्य का सम्बन्ध प्रकाश
- १३-वेदबुधगुणता मन्त्रि का उपनिषत् के ज्ञानमार्ग में अन्तर्भाव अतएव मन्त्रियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अनवसर
- १४-ब्राह्मणमागोस्त प्रकृतिनिबन्धन-गुणारमक-प्रवृत्तुमुक्त कर्मों की उपबोधिता का स्वरूप दिग्दर्शन एवं मीमांसेवादी के द्वारा लक्ष्मण-माध्यम में अनुपपत्ति
- १५-लोकप्रवृत्ति के समुत्थान में शास्त्रप्रवृत्ति का भेदस्थ एवं प्राज्ञसमावेश कर्मकाण्ड का निर्विरोध-सम्बन्ध
- १६-कर्मन्तरमायी भक्तियोग तथा ज्ञानपथ एवं श्रीपनिषद्-ज्ञानयोग से अनुपपन्न कर्म का स्वरूप-विगर्हण
- १७-कर्मबागाविमानी ज्ञानवादी वेदान्तिनी का कर्मोपदेश के सम्बन्ध में अनगल प्रकाश एवं लक्ष्मण में कर्म की अनिवार्यता का उद्घोष
- १८-उपनिषद् की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न एवं तत्तिराकरण
- १९-ब्राह्मणमागोस्त कर्म मन्त्रि-ज्ञान प्रथी का स्वरूप-सम्बन्ध कर्मलता द्विविधा निष्ठा एवं एवं तन्त्र-सत्य-कर्मपरममत्त 'बुद्धियोग'
- २०-मत्तमत्त वैराग्यबुद्धियोग का संस्मरण
- २१-सत्यगुण कर्मयोग अक्षरगुणत ज्ञानयोग धराभ्यानुगत मन्त्रियोग एवं वाच्यगुणत बुद्धियोग तथा शास्त्रसिद्ध योगगुणत कर्म-ज्ञान-मन्त्रि-बुद्धि भिन्नभिन्ना कावचचतुष्टयी का संस्मरण
- २२-वेदसमाप्ता योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगमिता धर्माधिता निवृत्ति योगप्रथी एवं प्रामाणिक-शास्त्री का संस्मरण
- २३-भूतिशास्त्रसिद्धा योगप्रथी पतुष्कलका
- २४-प्रभ्रान्तरेख्य भूतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी योगप्रथी या
- २५-'ज्ञानकल्पवाद' के आधार पर प्रतिष्ठित 'कलकल्पवाद' के गुणसिद्ध तीन प्रपञ्चज्ञान एवं तीनों संघानों के द्वारा कर्म-उपासित ज्ञान का स्वरूप-उद्घोष
- २६-बुद्धियोगनिरूपण स्वतन्त्र कावच के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति एवं तत्तिराकरण प्रकाश
- २७-बुद्धियुक्त मन की विज्ञानपथा तत्तिराकरण योगप्रथी की बुद्धियोगकृता एवं विप्रतिपत्ति का आसन्नित्त-निराकरण
- २८-रूप-रही प्रपञ्च मार्ग-ज्ञाना आदि से सम्बन्धित कलकल्पवाद का संस्मरण एवं तत्तत्सम्बन्ध में महर्षि का उद्घोष
- २९-प्रत्यक्षगामा तथा शारीरकप्रमा की सम्प्रदाय बुद्धि शारीरकप्रम-निरूपण योगप्रथी एवं प्रत्यक्षगामाबुद्धियोग तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपपत्तिता का सम्बन्ध

[illegible]

७२-ब्राह्मण-भारतवर्ष-उपनिषद्-विद्या निष्ठात्रयी का स्वरूप-संस्मरण	---	११
७३-सर्वश्रमना सुपुत्रिता स्वयम्भू-निष्ठा एव हिरण्यगमनिष्ठा तथा कपिलनिष्ठा के सम्बन्ध में मगवान् के द्वारा पर्याप्त-संशोधन	---	१२
७४-सर्वनिष्ठ-‘ज्ञाके-बद्ध’ च सत् तद्विषयना-लोचनिष्ठा तथा वेदनिष्ठा एव दोनों की द्वेयो-देयता का दिग्दर्शन	---	१३
७५-हिरण्यगर्मनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता एवं उत्सम्बन्ध में मगवान् के द्वारा मान्यता-प्रदान	---	१४
७६-अस्यस्वमावाप्त्वा हिरण्यगमनिष्ठात्मिका मन्त्रिर्नृणा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय-वचन-निर्द्धारण	---	१५
७७-योगात्मिक-स्मार्त-उपाधना को केन्द्रात्मक के द्वारा मान्यता-प्रदान	---	१६
७८-कपिलानुगता-स्मार्त-लोचनिष्ठा का सर्वश्रमना समर्पण एवं तत्र शास्त्रसम्मति	---	१७
७९-मीमांसक-गीता के द्वारा कपिल की सर्वश्रमनिष्ठा को मान्यता-प्रदान	---	१८
८०-वेदतन्मता गीतातन्मता अतएव सर्वथा निर्रन्ति हिरण्यगम-कपिल-निष्ठाओं की लोकप्रसिद्धि का मान्यता च उत्सम्बन्ध-प्रकाश	---	१९
८१-हिरण्यगर्मतन्मता योगात्मिका की उपादेयता का समर्पण तद्विषयना बलिता एवं उत्सम्बन्ध में संशोधन-तन्मता-वेद-वस्तुविशेष का संशोधन	---	२०
८२-कपिल-तन्मता मांसवसाग की उपादेयता का अधिनस्थ तद्विषयना बलिता एवं उत्सम्बन्ध में संशोधन-तन्मता-‘ज्ञानबुद्धियोग’ का संशोधन	---	२१
८३-लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर मगवान् के द्वारा प्रहार	---	२२
८४-वेद के ब्राह्मण मत से अनुपासिता-कर्मनिष्ठा की गुणपरकता पर गीता का प्रचरद प्रहार	---	२३
८५-गुणपरक कर्मविशेष के निगु कला-सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् संशोधन	---	२४
८६-भारतवर्ष-मागानुगता उपाधना के व्याख्याताओं के काव्यनिर मन्त्रिण पर गीता का प्रचरद प्रहार	---	२५
८७-अममयी मन्त्रि का लोकसंशोधक मगवान् द्वारा संशोधन	---	२६
८८-भारतवर्ष-निष्ठ-मागानुगता सर्वश्रमनिष्ठा के व्याख्याताओं की काव्यनिर-लोचनिष्ठा पर गीता का प्रचरद-प्रहार	---	२७
८९-कर्म परात्मिक लोचनिष्ठा का मगवान् के द्वारा संशोधन	---	२८
९०-संशोधन का मूलाकार ‘वेद-वस्तुविशेष’	---	२९
९१-अनुगानुगता निगु लोचनता का संस्मरण	---	३०
९२-गुणपरक-विषयना उपाधना का स्वरूप-सम्बन्ध एव चतुर्थ प्रकरण-संगत प्रथम-अध्याय-प्रकरण की उपरति	---	३१
९३-अपराध-प्रमाण परीक्षा तन्मतागत निर्रन्त निर्णय एवं मातृगी उपाधना-प्रकार	---	३२
९४-निगु लोचनता का तन्मता-सम्बन्ध एवं शास्त्राचार की उपाधना में लोचन-प्रदान	---	३३

- ६५-विभिन्न भेदमिश्र अर्थस्य अगणित मन्त्रित्वादीं का युग वर्मानुक्रम से पञ्चाश वर्गीकरण १७१
- ६६-महारम्म शास्त्र से अनुमानित मन्त्रित्वाग में शास्त्रेकारणता की ही अनन्वयता १७२
- ६७-मन्त्रित्वागानुक्रमी उपास्य उपासक एवम् उपासना साधनत्रयी का संस्मरण १७३
- ६८-इहमात्र निकम्बन भक्तिमार्ग १७४
- ६९-मन्त्रित्वाग-निकम्बन इहमात्र की स्वल्प-मीमांस्य तत् प्राथम्यप्रतिष्ठा आहूतिनिष्ठा एवं तत्सम्बन्ध में धर्म-वचनों का संस्मरण १७५
- १-निराकार-माधुर-भेद मित्रा औपासनीकी उत्कर्मव्याप्ति अनुपास्य निराकार, एवं उपास्य सगुण प्रकापति का संस्मरण १७६
- १-१-आत्मा-माध-पशु-सम्यक्सात्मक उपास्य सुगुणेश्वर का संस्मरण १७७
- १-२-आत्म-आधिदैवत-आधिभूत निकम्बन उपासक-उपास्य-साधन-साधनत्री का दार्शनिक स्वल्प-सम्बन्ध १७८
- १-३-वेदबुद्धानुगता नियुक्तोपासना की ज्ञानैक्यव्यवस्था एवं तत्सम्बन्ध में विप्रतिपक्षि-परम्परा १७९
- १-४-उपास्यस्वरूप का पावन संस्मरण अनुपासिता आहूतिनिष्ठा एवं तत्सम्बन्ध-आ-विकल्परम १८०
- १-५-उपास्यदेवता के विभिन्न विवर्त १८१
- १-६-नियुक्त ब्रह्म की परिग्रहानुगता सगुणता का सम्बन्ध १८२
- १-७-सुगुणतत्त्वकर्तृक पञ्चविध १) परिग्रही का नाम-स्मरण १८३
- १-८-सर्वप्रतिमहर् से सुगुणप्रकापति के विभिन्न १ स्वल्प १८४
- १-९-सकल-विलक्षण-परिग्रहविशिष्ट प्रकापति का आत्मव्यर्थमय-सम्बन्ध वक्ष्य १८५
- ११०-सुगुणानुमतिवत्-समन्वयः [परिसेवात्मक] १८६
- १११-पञ्चविध-परिमह-समन्वयः (परिसेवात्मक) १८७
- ११२-अमिल-विदुष्य से उन्नासित मित्र एवं अमिल-आत्मस्वरूप से उन्नासित नानामेद-मित्र प्रादुर्भूत-विवर्त १८८
- ११३-सर्वावात्मक स्वभावमूल निराधार आत्मस्वरूप की तत्त्वव्याप्ति एवं तत्सगुता तत्सम्बन्धानुमानित विवर्त १८९
- ११४-मन्त्रित्वाग उपासनात्मक-मन्त्रित्वाग के अनुक्रम से सर्वाधारमूल आत्मस्वरूप का अनिवार्य संस्मरण एवं वक्ष्यमित्री के दार्शनिक आदेश का निरवत १९०
- ११५-‘एतत्’ रूप विरत के आचारमूल ‘तत्’ रूप निराधारा की मन-मात्र-वाक-निकम्बना ज्ञान विषय-अर्थ-व्यक्तिवती का पावन संस्मरण १९१
- ११६-विराटोत्तम-निष्कल ‘परमपरमेश्वर’ की अन्तर्ग्रह-निकम्बना-साधनानुगता ‘सकलता’ एवं निष्कलता का संस्मरण १९२
- ११७-माधुरप्रति-मुक्त ‘माधी’ अर्थव्यवस्था की अनुक्रमणता का विवर्तन एवं तत्सम्बन्धमा मानी अर्थव्यवस्था की अनारिष्टनिकम्बना ‘सिगुणता’ का सम्बन्ध १९३
- ११८-‘सर्वान्तरात्म-स्वभावोपपन्न मनो-मूर्ति’ नियुक्त अर्थव्यवस्था की आचारमूल-निकम्बना मनः प्राथम्यव्यवस्था का संस्मरण १९४

- ११६-प्रवृत्तिनिकषन अक्षरभाष के अनुकूल से अध्ययात्मा की ही अध्यय-अक्षर धारणेनिकषना
भेषात्रयी का क्रमानुगत-समन्वय - - - - - १८६
- ११७-अमरौद्यम मनोमूर्ति अध्ययात्मा के त्रिक्रमावाप्त मन प्राण-वाग्-विषयों का स्वरूप-समन्वय
एवं निष्कल-मायी की पञ्चकोपेतता का निगन्तन
- ११८-आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-वाग् मेदेन पञ्चकोशात्मक अध्ययात्मा तद्विकषना मुमुक्षा भिक्षुका
कानुप्राणिता निहृदि-प्रवृत्ति एवं चक्षुसाक्षी तथा मुक्तिसाक्षी अध्ययात्मा का संमरण १८७
- ११९-अध्ययात्मसंज्ञान-समन्वय-परिलोकात्मक: - - - - -
- १२०-अक्षरमासंज्ञान-समन्वय-परिलोकात्मक - - - - -
- १२१-अक्षरमासंज्ञान-समन्वय-परिलोकात्मक - - - - - १८७
- १२२-अध्यय अक्षर-चरणुक्षयी-कला-गुण-विकार-परिमर्-समन्वय एवं अध्ययपुरुष की प्रातिभिद्वी
निष्कलता निर्विकलता तथा निगुणता का संमरण - - - - -
- १२३-‘न करोति न शिष्यते’ मूलक विशुद्ध निगुण अध्यय एवं-भूतसृज्य च भूतस्या ममात्मा
भूतमाचन’ मूलक सगुणाध्ययमूर्ति योद्धशीप्रजापति १८८
- १२४-अध्यय-निकषन ‘आत्मा शुद्ध’ एवं योद्धशीप्रजापति-निकषन आत्मस्थी शुद्ध तथा
आत्म प्राण-पशु-समवधारक ‘प्रजापति’ का स्वरूप-समन्वय - - - - -
- १२५-विशुद्ध अध्यय की तत्त्व स्वरूप एवं याद्धशीप्रजापति की ‘असृज्य-अक्ष शुद्ध’-रूपता का
समन्वय - - - - -
- १२६-अक्ष माप्राप्तक निष्कल अध्यय अक्षरमासक पञ्चकल अध्यय उपायमासक पञ्चकल अक्षर
कक्षमासक पञ्चकल क्षर एवं प्रजापति-योद्धशी-प्रजापति-लक्षण ‘ईश्वर’
- १२७-अनुवाद ब्रह्म के ऊर्ध्वमावानुगत तीन पाद एवं अधुर्ध वा’ की विश्वरूपता का समन्वय
तथा अमृत-ब्रह्म शुद्ध १३-अक्षरीणीवाग् महतामदीवान् ‘पुरुषपुरुष रूप अक्षर-प्रजापति का
माप्राप्तिक-संमरण - - - - - १८९
- १२८-पराध्ययमूर्ति, प्रजापतिमूर्ति एवं पराधयक्षरमूर्ति, अतएव सर्वमूर्ति-समन्वय अक्षरप्रजापति की
प्रजापतिता का स्वरूप-समन्वय
- १२९-अमृत ब्रह्म शुद्ध-मूर्ति अक्षर यक्षय पाद्धशीप्रजापति के विशुद्धमावाप्त तद्विकषन-रूप का
समन्वय प्रमाण - - - - - १९०
- १३०-‘मत्स्यप्रजापति’ का स्वरूप-संमरण तद्विकषन परिमर्दी का स्वरूप निगन्तन एवं अक्षरपु
क्षयी गुणमात्र की सगुणरूपता का स्वरूपोपहृ हण १९१
- १३१-पञ्चविध विशाखरी का संमरण तद्विकषन परिमर्दी का स्वरूप-निगन्तन एवं आगमधरा
पुरुषी विकारमायी की तद्विकषन-रूपता का स्वरूपोपहृ हण और तदनुप निगन्तन-रूप-परिमर्दी का
वर्ण-रूप - - - - -
- १३२-यत् के द्वारा स २ भा परिमाणक विमान एवं प्रजापति का अनुप विमान - - - - -

[illegible]

- १५८-विषय त्रयी का समष्टिरूप सत्यवेद एवं त्रिहृद्भावापत्ता चरित्समसंस्था का स्वरूप समन्वय
- १५९-अमृत-ब्रह्मा शुक्र-मावी का दृष्टिकोणसे नित्यनित्यन विभिन्न समन्वय
- १६०-ज्ञान-क्रिया अर्थ-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थात्रयी एवं विभिन्न-तात्त्विकार्थों के माध्यम से स्वरूप-समन्वय --- -- ---
- १६१-आत्मसंस्थात्रयी का स्वरूप-संस्मरण ---- --
- १६२-विश्वप्रपञ्चानुगत विज्ञाननित्यनना विश्वसूत्र, पञ्चजन पुरञ्जन त्रयी एवं दर्शननित्यनना शुद्धमृत-अमृत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप-समन्वय --- --
- १६३-गुणभूतात्मक 'विश्वसूत्र' तथा अणुभूतात्मक 'पञ्चजन' का तात्त्विक पञ्चीकरण एवं रेणुभूतात्मक 'पुरञ्जन' की स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा तत्संस्मरण पुरमावात्मक विश्व का संस्मरण
- १६४-विश्वतीत 'परास्वरज' गुणत स्व-वस्तु के अनुग्रह से पञ्चविध-मात्रात्मक-विकर्तों में 'अमृत' 'मृत्यु' मावी का अपेक्षामे-नित्यन-समन्वय --- -- १६४
- १६५-'अमृतसंस्था' की निष्कल्या 'अमृतरूपता' तथा 'विश्वसंस्था' की विशुद्ध-मृत्युरूपता का समन्वय --- -- --- --
- १६६-अमृतनित्यन काव्य और 'आत्मा' अमृत-मृत्यु-नित्यन-योद्धा-तत्त्व यह विराट् और 'आत्मन्वी' तथा मृत्युनित्यन विश्व --- -- --
- १६७-'प्रजापति' प्रज्ञा संस्था मूलक 'प्रजापति' रूप 'आत्मा' तथा 'प्रजा' रूप 'विश्व' का स्वरूप-समन्वय एवं आत्म-विश्व-समन्वय-आत्मक 'आत्मन्वी'
- १६८-अमृत-मृत्यु-विश्व-नित्यनना तृतीया 'शुक्रसंस्था' से अनुपाशित पञ्चपुरञ्जनात्मक विषय मावी का संस्मरण एवं शुक्रत्रयी की दृष्ट्युत्कर्ष में पवित्रता --- -- १६८
- १६९-स्व-यत्न-प्रजापति से अनुगत अमृता शुक्रत्रयी विराट् प्रजापत्यनुकूल मर्त्या शुक्रत्रयी एवं विकार-परिमितमक 'यज्ञप्रजापति' का संस्मरण -- ---
- १७०-'अमृत' परिग्रहानुगत स्वविधि ७) यज्ञात्म्याओं का नाम प्रवर्तन-समन्वय --
- १७१-'आवरण' परिग्रहानुगत-वृत्ता-मावी से समन्वित मर्त्या शुक्रत्रयी एवं सृष्टा 'विश्व' के स्वरूप की अभिव्यक्ति -- -- --
- १७२-अमृता शुक्रत्रयी के तीन पर्वों से अमृता-देवत्रयी-का आधिपत्य तत्त्विकनता 'अमृतमूर्ति' एवं अमृतसंस्था-यज्ञप्रजापति का स्वरूप-समन्वय --- -- १७२
- १७३-योद्धापुरोदर के शुक्रात्मक 'हर' की विविध-मोक्षानुपपत्तयार्थ तत्त्विकनता तत्त्विकवर्त एवं पीपर्वी शुक्रात्मका से पञ्चपर्वी विश्व की स्वरूपाभिव्यक्ति -- --
- १७४-क्रमसिद्धा-विराट्-प्रजापति-रूपा पञ्चमी-संस्था एवं विराट्-प्रजापति की सुप्रसिद्धा वरा कलाओं का स्वरूप-समन्वय --- -- १७४
- १७५-एककर्म गार्हपत्य काव्यिष्य एककर्म आहवनीय-मिद-नित्यन वैश्वानर-हिरण्यगर्भ तर्क-मूर्ति इत्यादि विराट्-प्रजापति एवं तत्त्व की-देवसंस्था-रूपता का दिग्दर्शन
- १७६-सूर्य के द्वितीयमास के लग्न में महती विपत्तिपति तत्त्विकवृत्त और आवरण-विश्व के सुप्रसिद्ध तीन 'नाम' एवं तत्त्व-मन्त्र-भूति का संस्मरण --- --

- १७७-अमृतस्य के द्वारा 'धर्म-ज्ञान-वैराग्य-प्रेमस्य' भावों की तथा मर्त्यस्य के द्वारा 'अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति' अस्मिता भावों की कथित अभिव्यक्ति का विवरण
- १७८-विराटप्रजापति की रुद्र-रूपता तद्विचरना छत्रपती-रूपता शरती-शिलीकी, एवं तात्त्विकारूपण विराटप्रजापति का चतुर्धा सम्मरण
- १७९-शुक्लसंस्थानुगत चरत्त्व के द्वारा उत्पन्न-विराट-भावों की स्वरूप-विज्ञा
- १८०-"साञ्जानविराट्प्रजापति" के आचार पर सम्मरण विरच की स्वरूपाभिन्नित अग्नीयोमा यिका विरचरूप-परिमाणा एवं अग्नि के विविध-महिमा-विवर्तों का वर्णन
- १८१-विरचनिकचन रोम के विविध-महिमा-विवर्तों का नाम-संमरण
- १८२-विविध अग्नि विवर्तों तथा विविध रोम-विवर्तों से सम्मित पञ्चमक-पञ्चपर्व-आवरण-विरच स्वरूप-निष्पत्ति
- १८३-अम्बान्तर का आरम्भ एवं अम्ब का विरचत्त्व तद्विचरन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप-सम्भव तथा तात्त्विक माध्यम से पञ्चभूतमक-शुक्लमक-विरच का स्वरूप-विवरण
- १८४-मौलिक विरच का मौलिक-उपादान-अभ्यन्तर वाक् उत्पन्न उत्पन्न आधोमन्त्र शुक्लविद्या अनुपाशित बगइचातु एवं तत्त्वात् 'सूर्य' की स्वरूपाभिन्नित
- १८५-विरचमूलभूत वाक्त्त्व के 'मत्स्या आम्बुखी-सूक्ष्मी-अनुत्पुप-सुखद्वय' नामक पाँच महिमा-विवर्त एवं तद्विचरन पञ्चवागमक विरच का तात्त्विक-माध्यम से स्वरूप-सम्भव
- १८६-रणाधी-दृष्टि से अनुपाशित विरच की उत्पन्न-उत्पन्न शुक्लमकता का सम्भव
- १८७-उत्पन्न-विराट-वर्तों को अग्नि से अनुपाशित विरच एवं तत्त्वमन्त्र से पञ्च-उत्पन्नानुगत महती विप्रतिरति
- १८८-पञ्चपर्वमक विरच एवं उत्पन्न-विराट-मूर्ति शुक्लमक अम्ब की अभिज्ञता तद्विचरना अमृत-शुक्लमकी का स्वरूप-सम्भव तथा अस्मत्प्रजापति से अनुपाशित 'लोक' का संमरण
- १८९-अमृतुति का 'लोक' शब्द वैलोक्य-निवास्ति प्रजा का 'लोकमन्त्र' एवं लोकमन्त्र 'विरच' शब्द
- १९०-यह विरच सर्वा तत्-निगम मूलक 'विरच' शब्द की सर्वस्वता अनुकम्पी 'विरचानि' शब्द सन्निधु रितानि परासु' एवं विरच शब्द का स्वरूप-सम्भव
- १९१-प्रजा-रूप-विरच के उत्पन्न-उत्पन्न-गुण-निकचन विविध महिमा विवर्त एवं विरच प्रधानगुण उच्चरति की विज्ञानि
- १९२-स्वयम्भुक्तिव्य मायारूप विचारक्य मय से तद्विचरना के विविध महिमा-विवर्त
- १९३-महामाया योममाया योममाया महामाया आधुमीमाया जीवमाया योममाया योममाया योममाया के पञ्चपर्व-निकचन उच्चरति महिमा-विवर्त
- १९४-विरच परिहरी से सम्मित पञ्चविध भावाविवर्तों के अनुकम्ब से पञ्चविध उपासक-गुरुओं का स्वरूप सम्मरण
- १९५-उत्पन्न तत्त्वानुकम्ब 'मत्तिमाया' मत्तिमाया-निकचन उपासकत्त्व की विरच-रूपता एवं तद्विचरना अग्निमाया-रूपेण उपासक पञ्चविध-परिमहामाया

[illegible]

२२०—महर्षिमुखाय आराध्य गी पशु का औपासनात्मक-उपनयन	२१
२२१—बुद्धिबोधनिष्ठ-पञ्चविध महती उपासना एवं उपासकभूत महतोपहीमान् दिव्य-पादपूति गी पशु	
२२२—और दिव्य-इन्द्र-माणात्मिका गी एवं उपासना का समन्वय	
२२३—विभिन्नपादात्मक विभिन्न धारक-यज्ञ-मूला-आदि प्राणिमैत्री की उपासना का संस्मरण	२६३
२२४—दिव्यपादनिष्कन्ध पक्षी इमि आदि की उपासना का संस्मरण	
२२५—आत्मविरक्त-अचेतन-जीवाणुवर्षिणी प्रक्षिप्तोपासना (मूर्तिपूजन) एवं शान्तिविज्ञ भूतोपासना के सम्बन्ध में वेदमूर्त्तियों का व्याख्यान	
२२६—आतिथ्यविरक्त-अचेतन-उपासक-जीवों से अनुप्राणित उपासना एवं उपासनात्मकनिष्कन्ध पञ्चविध विषय मार्गों का वास्तव्य-माध्यम के सम्बन्ध-प्रकाश	२६८
२२७—पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना जीवोपासना जगदुपासना-पक्षी का स्वरूप-उपनयन	
२२८—उद्दिष्टा आराध्य आरवयज्ञ उपनिषद् तथा गीताशास्त्र से अनुप्राणित प्रामाण्य बचनों का उपक्रम	२७६
२२९—(१) वय मंडितामूलाय पञ्चपा विभक्त उपास्य तत्त्व	
२३०—(२) आराध्यमूलाय पञ्चपा विभक्त उपास्य तत्त्व	
२३१—(३) आरवयज्ञमूलाय पञ्चपा विभक्त उपास्य तत्त्व	
२३२—(४) उपनिषदमूलाय पञ्चपा विभक्त उपास्य तत्त्व	
२३३—(५) गीताशास्त्रमूलाय पञ्चपा विभक्त उपास्य तत्त्व	२८८
२३४—‘यस्मिन् प्राण पञ्चपा संविधरा’ मूलक-पाद-विश्लेषानुसंधी पञ्चाक्षर-उपास्य-विषयों का संस्मरण	२९१
२३५—पञ्चपञ्चम महारम्भ आरंभान्त में उपलब्धित पञ्चोपास्य-विषय	
२३६—गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिष्कन्धाना निगु बाष्पमूला निगु जीवोपासना का स्वरूप-उपनयन-प्रकाश	
२३७—आत्मविरक्त-पक्षी आत्मोपासना की स्वरूप-मीमांसा	२९३
२३८—निगु-आत्मोपासना की लक्ष्यपरिचय का निरूपण	
२३९—आत्मोपासनानुसंधान निगु-प्रमाण, एवं उपासक-गीतावचन	२९६
२४०—सुखदामय बुद्धिमान् आरवयज्ञ की गीता के द्वारा अनुमान-प्रमाण एवं तत्त्विक-मीमांसाशास्त्र का महतीमहोपासना नीति	२९४
२४१—इतर शास्त्रोक्त-गीताशास्त्र की अनूयता विराजमान एवं पूर्वार्थ का संस्मरण	
२४२—पञ्चाक्षर विरक्त-मार्गों की बाष्पमयता, एवं उपरिक्त आत्मार्थमी-यज्ञ-शब्द-प्रकाश	
२४३—सुखदामय-उपासना अभिप्राय की निवर्तिता ऐश्वर्यमयानी मूर्ति एवं उनकी लघु-प्रकाशना का समन्वय	२९५
२४४—आतिथ्य महोपासना आराध्य-उपासक-गीता के वरम्परी में प्रकाशित ऐश्वर्य-बुद्धि-प्रकाशना-मूर्ति	

२४४-राधनियाजुगता दोहरीपुरुषनिकम्बना-ईशकपनम्यता-शङ्कणा भक्ति एवं सगुणगीहरीप्रभापत्सु- पासना-समर्थक-गीतावचन	११
२४५-विष्णुरमुक्तकी उत्तमप्रतिष्ठ यक्षप्रभापति, एवं उत्तमगता उपासना	२६७
२४६-'तानि धर्म्मोणि प्रथमान्यासम्' मूलक यज्ञात्मक कर्म्म एवं तत्त्वमा भक्ति	११
२४८-यक्षप्रभापति के दर्शनोपासना से अनुप्राणित विष्णुस्मिन्ना भक्ति	
२४९-कर्म्ममय-भक्तिमार्ग की विष्णुस्मा-भक्ता के प्रचलद्विरोधी गीतावाच्य	११
२५०-गीता के द्वारा संशोधित गुणात्मक-भक्तिमार्ग का 'धर्म्मबुद्धियोगात्मक' स्वरूप	११
२५१-आद्यप्राणभक्तिमार्ग धर्म्मबुद्धियोगपथ	२६८
२५२-अवतारोपासनात्मिक सविष्णुरोपासना एवं उसके विविध विषय	११
२५३-लोकात्मक-विरहधर्म्म से अनुप्राणित कर्म्ममय-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय	११
२५४-अवतारचरित्रनिकम्बन-कर्म्ममय-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय	१
२५५-आविष्कारित अनेकन-सर्वधर्म्माणि बीजनिकम्बन-कर्म्ममय भक्तिमार्ग का समन्वय	११
२५६-भक्तिमार्ग के प्रथम मध्यम उत्तम-मावनिकम्बन तीन विभिन्न योगन	११
२५७ ईश्वरवत्ता से उत्पन्न मानवों के धर्म्मबुद्ध से अनुप्राणित भक्तिमार्ग की रूपरेखा	११
२५८-केवल प्रकृतिद्वयक मादृश-मानवों का चरित्र-विरह एवं तत्त्वबुद्धय-संस्मरण	११
२५९-प्रकृतिविरह-लोकात्मक-कर्म्ममयानुष्ठानानुगत उदात्तरत्न एवं तन्मिकम्बन पारम्परिक- धर्म्मबुद्ध	११
२६०-प्रचलित कर्म्म-ज्ञान-योग-निष्ठाओं का मगधान् के द्वारा संशोधन	२७
२६१-ज्ञान-कर्म्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वयात्मक-स्वरूप	
२६२-धर्म्मबुद्धियोग के धर्म्म में लोकात्मिकों का व्यापेक्षन एवं उत्तराद्वय-प्रकाश	
२६३-उपनिषत्प्रभापति उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन	११
२६४-ज्ञानसंवादीयता से अनुप्राणित कर्म्म और उत्तम ज्ञानमयत्व	
२६५-बुद्धिबोधात्मिक उपासना और तन्मिकम्बन पारिमायिक-'योग' शब्द	२७१
२६६-बुद्धियोगनिकम्बन योग, और मुक्त-भाव	११
२६७-विविध योगी एवं उनके तान्त्रिक-स्वरूप-समन्वय-प्रकाश	११
२६८-उदासीनवर्णासीन-मुक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरण-प्रिय उभाव का शब्दस्व एवं वाक्कायानुगत-संस्कार	
२६९-लोकात्मिकनिष्ठ मगधान् के द्वारा उदासीनयोगी के मुक्त-योग में अतिशक्ति संशोधन	२७२
२७०-मुक्त-योगी के शक्ति-उदासीनयोग में मानव-महामाह-का समावेश एवं तद्द्वारा मुक्त-योगी की कक्षा का निगमन	११
२७१-भङ्गात् से सम्बन्ध योगी का मुक्ततमत्व, एवं तन्मिकम्बन लोकात्मिक	११
२७२ 'मुक्त' और 'मुक्ततम' शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा अविदिमान मर्यादन	११

- २७१-कर्ममूर्ति का प्रथम पद्यान्त बाहुदेव कृष्ण के 'युक्तात्मनः' का स्वरूप-समग्रण एवं तमि
कथन गीता का 'रहस्ययोग' --- २७२
- २७२-गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमाविषय' उभयविकर्तात्मिका सुपद्विधा 'सुखिभोगनिष्ठा'
एवं तत्त्विकता नियुक्त्यात्मनोपपत्त्या का स्वरूप-समग्रण ---
- २७३-ईश्वरोपासना-सङ्घ-ऐश्वर्यसमुच्चिन्ना की 'भक्ति' कथा सहस्रकथां सुपद्विधोऽऽ, एवं
गीता से अनुप्राणित तपः शब्द का स्वरूप-समग्रण और गीता का पारिभाषिक-उपलब्धि २७४
- २७४-महाशक्तिविष्णु 'योगी' 'तपस्वी' 'कर्मवी' 'ज्ञानी' विमर्श का स्वरूप-समग्रण २७५
- २७५-राजर्षि पुरस्कृत्योक्तं तथा ऐश्वर्यमाली राजाओं के द्वारा गीता के कथित-सुविधानों
का अनुगमन ---
- २७६-वैराग्यसुखिभोग-सङ्घ-योगी की कर्मवैकल्या का स्वरूप-समग्रण
- २७७-कर्मनिष्कथन-शुद्धिनिष्ठा-बाह्य-मयी-भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विषय एवं तत्त्विकथन
सर्वोत्तम उत्तम मध्यम प्रथम-पञ्चानुक्रमी भेदविभाग --- २७८
- २७८-(१) कथकर्मनिष्ठा ज्ञासना सर्वोत्तमा-कर्मयोगो बागिनाम्) भगवन् सम्मत २७९
- २७९-(२) आत्मकर्मनिष्ठा ज्ञासना उत्तमा (ज्ञानयोगो सांख्यनाम्) भगवन्
सम्मत (किन्तु अक्षयिकर) ---
- २८०-(३) अक्षयपुरुषोपासना (कर्मयोग) भगवन्-सम्मत, किन्तु अक्षयिकर २८१
- २८१-(४) प्रकृत्युपासना (कर्मयोग) --- २८२
- २८२-अज्ञानपतिमहर्षि का शिष्ट-पुष्पोपासना आत्मव्यक्तिनिष्ठा भिन्नज्ञोपासना से अनुप्राणित
सुदर्शन-विशेष एवं तत्त्विकप्रण-प्रकाश ---
- २८३-अक्षयकर्मन्वी विद्वत्प्रकाश के साथ मत्त शुद्धानुक्रमी विरहमूर्ति का वह सम्प्रण एवं
पूर्वपरिचय-निष्कर्ष --- २८४
- २८४-अक्षयप्रकाश-निष्कथना निष्कथनोपासना एवं विद्वत्प्रकाश-निष्कथना लक्ष्मणोपासना का
संस्मरण ---
- २८५-अक्षयदेवतामयी, कामकर्मामयी, शिष्टमहात्मिका, विद्वत्प्रकाश का गीता के द्वारा उक्त
एवं तपः संतोषन ---
- २८६-आर्यभट्ट, तथा आर्यभट्ट-वैद्यकर्मन्वी विविध-उपासना-मार्ग, एवं उत्तमवैकल्या
'विरहोपासना' का संस्मरण --- २८७
- २८७-(१) आर्यभट्ट-अज्ञानजीवात्मना (अक्षय-देवतामयी) लोकनिष्ठिका २८८
- २८८-आमोहमोहमत्त-आमोहमयी-मानवर्ण से अनुप्राणित और शक्ति-मूलक-निष्कथना-निष्ठ
कर्मकार-आमोहनामिका-विरहोपासना का पुष्पपूर्ण-वैकल्या ---
- २८९-अक्षय-देवतामयी-गुण लौकिक-उपासना के सम्प्रण में गीताशान्ति का स्पष्टीकरण २९०
- २९०-(२) आत्मव्यक्ति-अज्ञान-आत्मजीवात्मना-मणिपाल-परिग्रह-वैकल्या २९१
- २९१-(३) आर्यभट्ट-पशु-पक्षि-कृन्त्यादि-संज्ञकानां ज्ञान जीवानामुपासना-विमूर्तिरूपा

२२४-(४)-आरवत्तिक-अर्द्धचैतनजीयोपासना	---	२२४
२२४-(४)-आरवत्तिक अर्द्धचैतनजीयोपासना-(योगरूपा प्रतिमोपामना)	---	२२४
२२५-मर्त्यबाधशुक्रमन्त्र 'विराट्' एवं मर्त्यभूतशुक्रमन्त्र 'विश्व' का स्वरूप-संस्मरण, तथा तन्मित्रवना उपासनाओं के उद्भावन तारकम्य और प्राकृतिक 'राजपय' 'पुण्या' भक्ता, राजा का सम्बन्ध	---	२२५
२२६-इन्द्रासीठा उपासना एवं इन्द्राशिमन्त्र उपासना का तारकम्य-प्रदर्शन तथा कामी-उपासना के मीमांसा परिणामी का विग्रहण	---	२२६
२२७-अम्बयोपासक-ईश्वरोपासक-महोपासक-विग्रहोपासक एवं विरहोपासक भेदेन उपासकों के भेदविभागों का तात्त्विक-भाष्य से स्वरूप-सम्बन्ध	---	२२७
२२८-'खानी' जिज्ञासु अर्थार्थी 'बार्न' नामों के अनुप्रासित भक्तिमार्ग के चार प्रसिद्ध भिक्षुओं का स्वरूप-सम्बन्ध	---	२२८
१ -पुण्यमर्मिदैनिकचन उपासना-पर्यो का संस्मरण	---	२२९
१ १-वेदपुगानुगता उपासना लक्षणा 'भक्ति का संस्मरण	---	२३०
१ २-वेदान्तोपनिष्मूला वेदपुगानुगता-उपासना का स्वरूप-सम्बन्ध	---	२३१
१ ३-आरवत्तिकमन्त्रमूला वेदपुगानुगता-उपासना का स्वरूप-संस्मरण	---	२३२
१ ४-ब्राह्मणमन्त्रमूला पुराणपुगानुगता उपासना का स्वरूप-सम्बन्ध	---	२३३
१ ५-तत्त्वार्थनिष्ठमन्त्रमूला पुराणपुगानुगता-उपासना का स्वरूप-सम्बन्ध	---	२३४
१ ६-कर्मनिष्ठमूला दार्शनिक-भक्ति दर्शनमन्त्रनिष्ठवन्ना भोक्तृनिष्ठार्थ, एवं भगवान् के द्वारा उन का संशोधनार्थ-सम्बन्ध	---	२३५
१ ७-नामदोशानुगता भगवत्पुष्टि, एवं व्याख्यातार्थों द्वारा योगचतुष्टयी के मीमांसक-स्वरूपों का अभिमत	---	२३६
१ ८-कर्मपुगानुगता लक्षणा का स्वरूप-सम्बन्ध एवं कृत्यात्मक प्रतिमापूजन का अनादित्व	---	२३७
१ ९-लोक धर्म वेद प्रका-अनुष्ठी के आदिभ्यस्वात्मक भगवान् मीमांसक-स्वरूपों के द्वारा अनुपुग स्वरूपा एवं तदनुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप-सम्बन्ध	---	२३८
१ १०-पराशरब्रह्मसूत्रक "इदृशीयाह्वार" का पावन-संस्मरण	---	२३९
१ ११-आत्मप्रकाशित के तीन लक्षणविशेषों तदनुपाशित पिरन एवं 'आरम्भ' तथा 'निश्चय' की समष्टिरूप 'आमन्त्री' का संस्मरण	---	२४०
१ १२-अतीतकालग अथवात्मा वर्तमानलक्षण चतुष्टया प्रविष्टिचतुष्टय चतुष्टया कासाधन परत्वर, एवं चारी की लक्षिकरूप 'चोदणी प्रजापति' का संस्मरण	---	२४१
१ १३ 'प्रणयोह्वार'-लक्षण। प्रथमा आह्वारलक्षणा का तात्त्विक-स्वरूप-सम्बन्ध	---	२४२
१ १४-इदृशीयाह्वार लक्षणा द्वितीया आह्वारलक्षणा का तात्त्विक-स्वरूप-सम्बन्ध	---	२४३
१ १५-इदृशीयाह्वार लक्षण 'उत्तम-मीमांस' पर्यो का आ प्रतिष्ठापन स्वरूप-सम्बन्ध	---	२४४
१ १६-दानोप-सम्मत 'इदृशीयाह्वार' एवं तदनुपाशित 'पराशरब्रह्म' का संस्मरण	---	२४५

११७—'सर्वोद्धार' लक्षणा तृतीया बोद्धाभूत्या का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	
११८—बोद्धारमुत्पत्ता अष्टमाया एवं तत्र प्रतिष्ठिता अकार उद्धार, मकार प्रवी	२२४
११९—बोद्धारमुत्पत्त चार पक्षों का स्वरूप-समन्वय	२२५
१२०—उद्गीयोद्धारमुत्पत्त चार पक्षों का स्वरूप-समन्वय	"
१२१—प्रज्ञबोद्धारमुत्पत्ता चार पक्षों का स्वरूप-समन्वय	"
१२२—ज्ञानयोगानुगत बोद्धार मक्तिबोमानुगत उद्गीयोद्धार, तथा कर्म्मयोगानुगत प्रज्ञबोद्धार का विचित्रमैदमूलक समन्वय	"
१२३—ज्ञानात्मिका उपासना मत्तयात्मिका उपासना एवं कर्म्मश्रमिका उपासना मिश्रमिता उपासनाभ्यां का स्वरूप समन्वय	"
१२४—विशेष काव्याध्यामा उपास्य काव्यग्रन्थमा एवं स्ववहाय्य चरितमा-निरूप्यना मार्गप्रदी का स्वरूप-समन्वय, तथा तात्त्विक माध्यामेन दन्त्यष्टीकरक-प्रयाग	२२९
१२५—कोट्टास्मकप-विक्रम-शु विस्मय	२३०
१२६—बोद्धिव काव्यधेन एवं काव्यम-पुष्पाधुविचिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय	२३१
१२७—कर्म्मश्रमागुगामी व्याख्याताओं की भ्रांति का निराकरण	"
१२८—समर्पणानुगत विपमर्चन का मौलिक रहस्य एवं मेरुचिह्ण्य अमेरुचिह्ण्य तात्त्विक अष्ट त-छिन्नात का स्वरूप-समन्वय	१०
१२९—धामपुष्पाधुविचिनी-समर्पण तथा निरवग्रहपुष्पाधु 'विपमर्चन' का लोचनानुगत स्वरूप-समन्वय एवं तत्रिक-बना अर्द्धमूला-निगु-बोधासना का संस्मरण	"
१३०—अस्मिन्मन्त्र पर नास्तिर्मी का आक्षेप एवं तत्रिकारण	"
१३१—'संज्ञात' की प्रसिद्धि अर्द्धतानन्दनिष्ठ महामानव एवं 'न बाह्य किञ्चन बहू नान्तरम्' का समन्वय	१०१
१३२—विपमर्चन के विपमर्चन का अनुमर्श एवं तानुमर्शकान् अर्द्धतानन्द	"
१३३—अर्द्धतानन्दप्रवर्तिता 'सर्वोद्धारोपासना' का संस्मरण	"
१३४—'ममर्चिता' और 'विपमर्चिता' का स्वरूप-समन्वय	"
१३५—धामपुष्पाधु, प्रकृतिविष्ट मेरुचिह्ण का स्वरूप-समन्वय	"
१३६—देविक-आपार मेरुचिह्ण आवाहारिक-मेरु का समन्वय	१२
१३७—अर्द्धतानन्द मन्त्रान् वातुपेव हृत्वा के द्वारा प्रकृतिमैदमिक-बन मेरुचिह्णारो का अनुमर्शन	"
१३८—किञ्चयोगात्मिका मक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय	"
१३९—कथं व्यभिच्छात्मिका वातुपेव मक्ति, एवं नामधर्मरक्षण की आपातरमकीवता	"
१४०—'ममर्चिता' मक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	"
१४१—'धामपुष्पाधु' मक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय	१३
१४२—(१)—मन्त्र-हृत्-रूप-योगात्मक मक्तिमार्ग (योगमार्ग)	"
१४३—(२)—राजयोगात्मक मक्तिमार्ग (मक्तिमार्ग)	१४
१४४—हृत्-हृत्-रूप-योगात्मक मक्तिमार्ग का स्वरूप-विस्तार	"

१४५-मर्मदाहकहुरारमक-राहुर-आधानुकी मरिहपम की सर्वव्यापकता एवं उपासनामिक मरिह के चार-विषयों का संस्मरण	१६
१४६-परमप्रभापसुपासनामिका प्रणवोद्धारमूला उपासना एवं प्रभापति के स्वरूप का संस्मरण	
१४७-सहस्रकरोरवरागुता योद्धापीपुष्योपासना एवं एकचरोरवरागुता यज्ञपुष्योपासना	
१४८-सन्निवृत्तिवाचक-एकचरोरवराग-उपेक्षर प्रभापति से अनुप्राणित पारंगकी उपासना	११
१४९-यज्ञकर्मोपासना आरमकर्मोपासना अवतारोपासना प्रकृतिवर्णोपासना-वापुषी का संस्मरण	
१५०-मातृहिक, मानुष एवं समय-विषय अवतारों का नाम-संस्मरण	
१५१-पुरागुत आक्षेप और ठग्यारक-प्रवास	
१५२-विरह की आख्यायिका अनुप्राणित प्रथमा स्थिति एवं आख्यायिका-स्वयम्भू प्रभापति के का-तप-अम से 'सुवेदात्मक स्वेद-वेद का आर्वावर्ध	
१५३-आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित बाबा-वारा आषा-कलधवी की आभिव्यक्ति	१११
१५४-स्वयम्भू की द्वितीया प्रतिमा इयमम सरिर' कन की संश्लिषा एवं श्वेतवराह के द्वारा हिरन-मयाय का आभिवर्ध	११
१५५-सुधानकोरात्मक इहोत्तरसम्बन्ध से समन्वित पञ्चोपेक्षरमूर्ति एकचरोरवराग-प्रभापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय	
१५६ स्वयम्भूप्रभापति की चार प्रतिमाएँ तदनुगत विरक्तसम्पत्ति-प्राप्त-सर्वदुःख' एवं स्वयम्भू प्रभापति की निर्लेपता	
१५७-निष्काममायामूला आरमसमपदात्मिका यज्ञप्रक्रिया तन्निष्कन अवन्धन-कर्म एवं यज्ञोपासना का इहकाममुक्त्य	
१५८-सर्वदुःखसमूर्ति परमप्रभापति से अनुप्राणित यज्ञोपासना एवं यज्ञकर्मों का प्रधानत्व	
१५९-मृता दुपदियों की यज्ञेश्वरोपासना एवं कर्मठ-नामधारी यज्ञकर्मगुणित का समुत्पन्न एवं तन्निष्कन विमिषा उपासना	११३
१६०-अमनिका कुटि का उपासना प्रणवोद्धार एवं ओद्धारमूला-उपासना का स्वरूप-समन्वय	
१६१-अविच्छिन्न-प्रणवचरणा के द्वारा यज्ञविद्ये का उद्धान एवं विरिहक्याता प्रणवोद्धार-प्रभापति	
१६२-प्रणवोद्धारप्रभापति की तीन महाव्याप्तिवर्णिका संस्मरण प्रणव की प्रवृत्ता	११४
१६३-महाव्याप्तिवर्णिका विरहमाफन-नक्षत्रीकात्मक-त्रैलोक्य का स्वरूप-समन्वय	
१६४-त्रैलोक्य-निलोकी-कमा संवती, रोहणी-नाम की महाविलाकी का संस्मरण	११५
१६५-नक्षत्रोद्धानगता सन्निवृत्तिमूर्ति का लाक्षा-माध्यम से स्वयम्भू-समन्वय	
१६६-सन्निवृत्तिवाचक-पञ्चोपेक्षरमूर्ति-एकचरोरवराग सर्वदुःखहात्मक परमप्रभापति के विधान का स्वरूप दिग्दर्शन एवं महर्षि दीर्घतमा के द्वारा संस्तुति	११७

१६७-इष्टिमापनिक्रमना श्रुति-मूला-वृद्धिनिधा से अनुप्राणित प्रबोधद्वार का तात्त्विक स्वरूप- सम्भव	---	---	---	---
१६८-प्रगल्भद्वार में सम्मिलित 'आत्मयोगम्बुज' का स्वरूप-दिग्दर्शन	---	---	---	११८
१६९-योग्य के द्वारा प्रत्यक्ष की प्रगल्भता का सम्भव	---	---	---	"
१७०-बभ्रुतत्त्वानुगता 'आहुति' की 'आहुति-रुपता' का सम्भव एवं बहुप्रक्रियानुक्रमी समष्टि व्यवस्थामक की विभिन्न इष्टि कोश	---	---	---	"
१७१-आध्यात्मिक-वैयर्थिक उग्र के स्वरूप-व्यवस्था की का तात्त्विक-सम्भवतामक लक्ष्य एवं तत्त्विकरचना आध्यात्मिक ब्रह्म की स्वरूपविधि	---	---	---	११९
१७२-विश्ववस्तुक्रम की पारस्परिक-सम्भवतामक लक्ष्योप तत्त्विकरचना आध्यात्मिक ब्रह्म की स्वरूप विधि एवं 'मूर्धोदक' का स्वरूप-सम्भव	---	---	---	"
१७३-अष्टतत्त्विक-नैयर्थिक सर्ववस्तुक्रमप्रक्रिया	---	---	---	"
१७४-अकृपना यज्ञोपासना में अनुप्राणित-उपास्य उपासक उपासनासाधन त्रयी का स्वरूप सम्भव एवं आध्यात्मिकपरमप्रभावित-उपासना का तात्त्विक स्वरूप सम्भव	---	---	---	१२०
१७५-आध्यात्मिक-मौलिक-आत्मिक-वस्तुक्रम से अनुप्राणित यज्ञोपासना का स्वरूप द्योतक- सम्भव एवं इष्टिकोशमेत निरन्तर समष्टि-व्यवस्था-मूर्धोदक तथा लीलोदक का स्वरूप- दिग्दर्शन	---	---	---	"
१७६-महामार्गानुक्रम की लक्ष्य-इष्ट-मार्गविधि विभिन्न योग तत्त्विकरचना द्विरक्षणाभिष्टा तथा कथित भिष्टा एवं 'कलराजमिरा' यज्ञ' का सम्भव	---	---	---	१२१
१७७-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१७८-उपासना' निरन्तर गीता की योगबभ्रुद्वयी का स्वरूप-निर्गन्त एवं सर्ववस्तु वैयर्थ- इष्टिकोश	---	---	---	"
१७९-बभ्रुवैद्य-योगान्तर उपासना के लोकात्मिक-लीलोदक एवं उपासना-बभ्रुद्वयी का कर्तव्यता मक-सम्भव	---	---	---	"
१८०-अर्चन-पूर्वनादि नामनैयर्थिक विभिन्न योग तत्त्विकरचना द्विरक्षणाभिष्टा तथा कथित भिष्टा एवं 'कलराजमिरा' यज्ञ' का सम्भव	---	---	---	१२२
१८१-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८२-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	१२३
१८३-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८४-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८५-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८६-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८७-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८८-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१८९-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९०-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९१-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९२-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९३-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९४-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९५-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९६-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९७-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९८-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
१९९-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"
२००-अवेद्यामेत-निरन्तर 'मूर्धोदक' एवं 'उग्र' मार्गप्रवृत्ति का संस्मरण	---	---	---	"

- ४११-बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का सम्बन्ध एवं तदाचरण की इत्थं शास्त्रीयता तथा
दरमुकामी रहस्यमय गुण-लोकशिखण ---
- ४१२-भगवान् कृष्ण की रहस्यमयी लीलाएँ --- १११
- ४१३-भगवान् की मानुषी तनु श्रीर कदाशा स्त्री-राज-वैश्यादि का सम्मुख ---
- ४१४-बैतरेण राघवद्वार आदि का स्वयम्-कथित ---
- ४१५-परमार्थ-बैतरेण-योगियों के सम्प्रसादारी का सम्मुख ---
- ४१६-इन्द्र जर्म मणि-योगविद्या शास्त्रीय-व्याख्या से अनुपाणित 'अभिधरिणों' का स्वयम्-
सम्बन्ध एवं ज्ञानाविधर-मूला गीता की 'बुद्धियोगनिष्ठा' का उल्लेख --- ११२
- ४१७-स्त्री-राज-वैश्यादि-समुपता प्रकृतिविद्या कर्मविमृष्टि एवं कदाशा कदाकी की सम्मुख
मित्र-कर्म-विमृष्टि ---
- ४१८-बुद्धियोगनिष्ठा कर्मव्यापारि की प्रकृतिविद्या विद्या कर्मविमृष्टि एवं कदाशा महती संश्लिष्ट
का संस्मरण --- ११३
- ४१९-कर्मव्यापारमुपता कर्मव्यापारि का सम्बन्ध एवं शुद्धकर्मनिकम्बन-कीचरनिक-नामों की
कर्मविमृष्टि का स्वयम्-विमृष्टन ---
- ४२-बुद्धियोग की बहिष्कार का स्वयम्-विमृष्टन शुद्धमय मी बुद्धियोग की शुद्धकर्म-व्यापारनिकम्बन
महती बहिष्कार एवं कर्मव्यापारि का सम्बन्ध से उल्लेख-मय ---
- ४२१-'द्विजबन्धु' स्वयम् विमृष्टन बुद्धियोग में कर्मविमृष्टन द्विजबन्धु-आदि बन्धु एवं दशमुख-
मुक्त वीरविमृष्टन-कर्मव्यापारि-नाम का संस्मरण --- ११४
- ४२२-'अथी न बुद्धियोग' का दानिक स्वयम्-सम्बन्ध अथिमाणावरी प्रकृतिविद्या बुद्धियोग
के प्रामाणिक एवं का संस्मरण ---
- ४२३-विमृष्टनमुक्त वीरविमृष्टन कर्मव्यापारि के ज्ञान-कर्म-निकम्बन इतिहास-विमृष्टन --- ११५
- ४२४-बैतरेण-व्यापारि-नाम के व्यापार पर प्रकृतिविद्या वीरविमृष्टन विमृष्टन-नाम का स्वयम्-सम्बन्ध ---
- ४२५-वैतरेण-व्यापारि-नामों के कर्मविमृष्टन प्रकृतिविद्या-व्यापारि-नामों का संस्मरण ---
- ४२६-वैतरेण-व्यापारि-नामों का स्वयम् विमृष्टन एवं कर्मविमृष्टन-व्यापारि-नामों ---
- ४२७-प्रकृतिविद्या एवं शुद्धकर्म-विमृष्टन प्रकृतिविद्या वीर कर्मविमृष्टन-व्यापारि-नामों का स्वयम्-
विमृष्टन के विमृष्टन देवता एवं विमृष्टन 'महोदध' रूप 'महादेव' का संस्मरण ११६
- ४२८-उत्तर-व्यापारि-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन, विमृष्टन-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन-
महाकर्म-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन ---
- ४२९-'अथिमाणावरी' नाम की विद्या व्यापारि एवं कर्मविमृष्टन-विमृष्टन कर्मव्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन
तथा कर्मविमृष्टन-व्यापारि का स्वयम्-विमृष्टन --- ११७
- ४३-विमृष्टन-विमृष्टन-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन, विमृष्टन-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन-
स्वयम्-सम्बन्ध ---
- ४३१-समुपविद्या कर्मव्यापारि का कर्मविमृष्टन एवं इत्थं-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन-
के विमृष्टन-व्यापारि-नामों का स्वयम्-विमृष्टन ---

४१२-लौकिक अवधारोपासना से अनुप्राणित तीर्थ-देवमन्दिरादि के अनाचार और दुराचार तथा कर्मयोगियों के द्वारा मूलनाश का प्रयास	१४३
४१३-मूलसंरक्षणादिष्व-देवनिष्ठचित्पद्धति की ही समादरणीयता एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन	"
४१४-लोकसंप्रदाय मन्त्र-परार्थसाधनसमन्वित पौराणिक-उपासनापथ तथा लोकसंग्रह-शून्य-केवल स्वार्थसंसाधक-पौराणिक भक्तिमार्ग	१४४
४१५-पुराणयुगानुगत उपासनामार्ग के दृष्टिकोण में देवनिष्ठ-नवन विविध-विवक्ष	१४५
४१६-पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग का संमहा मन्त्र स्वरूप-समन्वय एवं तृतीय अवान्तर प्रकरण विराम	

इति-युगधर्मानुगता "विविधोपासना" नामके चतुर्थ प्रकरणे "पुराणयुगानुगता विकारोपासना"

नाम

तृतीय अवान्तर प्रकरण मुपरतम्

अथ-दर्शनयुगानुगत-वैकारिकोपासनामार्गे

चतुर्थ प्रकरणान्तर्गतं

चतुर्थ अवान्तरम् प्रकरणमुपक्रान्तम्

४१७-अज्ञान विद्वद्भान तथा अद्वैतानुसृत विवाद-वाक्यरूप में लच्छास्त्रों का अभिमत एवं सन्देहनिवारक शारंगी की सन्देह-हानि का निगूढान	१४६
४१८-अभिव्यक्ति-निर्णायक वेदशास्त्र की उद्देश्य के दुष्परिणाम एवं व्यवच्छेद-दृष्टि का अभिमत	"
४१९-आत्मधर्मात्मिक उपासना के साथ विचारधर्मात्मिक उपासना का समन्वय एवं पौराणिक उपासना-पथ से समन्वित शारंगिक-उपासनायुगता विचारोपासना का संमरण	"
४२०-विद्युत्प्रवापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप से अनुप्राणित विराट् के पारिभाषिक स्वरूप का पावन-संमरण	१४७
४२१-विद्युत्प्रवापति के विविध महिमामूर्तियों का पारिभाषिक संमरण एवं तत्त्विक उपासना विराट्-प्रवापति के नैगमिक-स्वरूप का निगूढार्थनोपक्रम	"
४२२-निहारबोधनदृष्टि-निवर्धन विद्युत्-स्वभाव-संमरण	"
४२३-आत्ममत्स्य के 'निगूढ-व-अमृतमय-अक्षय-देवमय-भूतमय' नामक पाँच महिम-विषय विचार-चन सम्प्रदाय ईश्वरमय-परात्म-महर्षिभूतान्तरात्म भूतात्मा' नामक पाँच आत्मविषय एवं तन्मूलित देव-ने-मुक्त-दर्शन-वत्मान-मुक्तिकथन पद्धति उपासना-पथ	१४८

- ४४४-पञ्चविध आत्मविवर्तों के आधार पर राक्षसि यन्त्र के द्वारा तीन आत्मविवर्तों का स्वरूप-
समन्वय ---
- ४४५-सर्वमूलान्तरात्म-अवस्था विराट्प्रकाशति उत्कृष्टा-विराट्प्रकाशना तदनुकम्पी 'ब्रह्मस्य एवं
वास्तव्यमात्मस्य से औपचरिण्य प्रथममिदमात्मों का स्वरूप-समन्वय ---
- ४४६-निगमसुखा निगमाप्रकाशना के आधार पर उपरहित नाममयी विराट्प्रकाशना की आभिप्रायिक १२
- ४४७-करीरवर-अवस्था-यवावर्ति की अन्तिम-आत्मारूप आकाशमयी शुक्तिशी एवं तद्विभूति से
अनुमार्शित विराट्प्रकाशति ---
- ४४८-अज्ञातमयी शुक्तिशी के मर्त्य भौतिक तथा अमृत-आकाशमय-स्वरूप का संस्मरण पार्थिव-अग्नि
रक्षात्मक रम्यतरङ्ग का एवं आतिथ्यक्रमक देवराजपद रत्नतरंगम का स्वरूप-समन्वय १५५
- ४४९-उपचरि-अज्ञातमयी-महाशुक्तिशी का अधिष्ठाता प्रेक्षापति-अग्नि एवं तद्विभूतिरूप अग्नि-
बाहु-आदित्य तथा अनुप्राणित बाहु-अदित्य-आदि ३३ देवविभूतिशी शीर-अग्नि-कर्षा
देवता: निगम का समन्वय ---
- ४५०-ब्रह्मविद्यदेवदेवताओं के उपक्रम-उपसंहार-रूप अग्नि विभुषण विविधना आत्मोन्मेषेष्ट
एवं मर्त्य ऐतरेय के द्वारा वीक्षणीयंति का स्वरूप-समन्वय --- १५६
- ४५१-अग्नि-बाहु-आदि-देवताओं की स्तोमसुखा पार्थिव वीक्ष्य-अग्नि तब-मर्त्य-विविधना प्रका-
महिमायें एवं अद्वितीय के आधार पर विवेकशी का वैशेषिक-विषय ---
- ४५२-देवतायों के द्वारा पितृ ब्रह्मप्रणति के आधार से अमृत-ब्रह्म का अनुप्राण एवं अमृत-
के द्वारा देवतायों की-विद्युत् स्वरूप में परिणति --- १५७
- ४५३-संस्कृत-विद्या अमृत-प्रणति का संस्मरण ---
- ४५४-पार्थिव अग्नि का अमृत-अमृत-विद्युत् स्वरूप एवं अग्नि के पञ्चमान पापक शुक्ति
विषय-आदित्य का संस्मरण ---
- ४५५-अमृत-विद्युत् बाहु का अमृत-अमृत-विद्युत् स्वरूप एवं बाहु के-बाहु-अमृत-पञ्चमान-मात्रों का
संस्मरण --- १५८
- ४५६-विद्युत्-अग्नि का अमृत-अमृत-विद्युत् स्वरूप एवं अग्नि के-बाहु-अमृत-पञ्चमान-मात्रों का
संस्मरण ---
- ४५७-अमृत-अग्नि-बाहु-आदित्य की पार्थिव-विषय-आकाशमयी-महा-वैशेषिक-श्रीरत्नमयी-अमृत-प्रणति-
इत्युक्तोक्ति विद्युत् स्वरूप का अद्वितीय-समन्वय ---
- ४५८-संस्कृत-महाप्रणति की विद्युत् स्वरूप का संस्मरण --- १५९
- ४५९-विद्युत्-प्रणति के अमृत-महाप्रणति-अमृत-प्रणति-मात्रों का अद्वितीय-समन्वय एवं
अमृत-प्रणति ---
- ४६०-नैमित्तिक विद्युत्-प्रणति के अमृत से गीताप्रणति के विद्युत्-प्रणति का संस्मरण एवं दोनों के स्वरूप-
समन्वय में मर्त्य विद्युत्-प्रणति का अमृत --- १६०
- ४६१-गीताप्रणति का विद्युत्-प्रणति ---
- ४६२-गीताप्रणति के अमृत-प्रणति का संस्मरण-अमृत ---

४४१-उपमयवि विराहमारी के तारिकक समस्तुतन का समन्वय
४४२-‘यथावद्व तथा पिपद’ मूलक सर्वतत्त्वव्याप्ति-समन्वय तद्विचक्षण विरोध-परिहार एवं विज्ञान द्विचिन्तन विरोध-परिहार का दिग्दर्शन-नीपक्रम		१६२
४४५-यद्विचिन्त-पार्थिव शब्दों की विभिन्नता तथा अविभिन्नता का समन्वय एवं तत्त्वनिश्चयना पारिमात्रिकी शब्दविभिन्नता का दिग्दर्शन और पर्याय-शब्दानुगत भ्रान्ति का निराकरण		
४४६-अव्युत्पन्नः पृथिवी मूला आपोमयी पार्थिवी-सृष्टि का तारिक-स्वरूप-समन्वय एवं अव्युत्पन्न वेद्य-संवेगजनित आप और फलसर्ग	..	१६३
४४७-मृतसृष्टि के प्रवक्त कथम उप-अम-भूर्ति-हृद्य अन्तर्धामी का समन्वय एवं तद्विचक्षण दोहरी- प्रभापति का अक्षरप्रभापति-कर्मण-संस्मरण
४४८ प्रभापति का सृष्टि में प्रवेश एवं ‘उत् सृष्ट्वा तदेकानुप्राप्तिशब्द’ श्रुति का तारिक समन्वय		
४४९-ब्रह्मावान्निष्ठा-मायिव सृष्टि और अष्टाक्षर-भाषत्रीकन्द एवं तदनुप्राप्तिता अक्षयवया भूमि और तत्समर्पक श्रीतन्मयम्	..	१६४
४५०-अति आपो-बाग् रूपा शुक्रवती से अनुप्राप्तिता ब्रह्म-विष्णु इन्द्र-रूपा देववती तदनुप्राप्तिता वेत्-लोक-भूत-रूपा सृष्टित्री एवं कल्प-धरमरुद्वज्जगत्तमिष्य ताहसी का संस्मरण		..
४५१-मूलेन्द्र-भूमध्य-स-ऊर्ध्व अनुगता ब्रह्म-विष्णु शिव त्री का स्वरूप-समन्वय		१६५
४५२-सुविद्यमानुगत भू-भुवः-स्व-रूप त्रैलोक्य का स्वरूप-दिग्दर्शन
४५३-ब्रह्मानुगता वैदताहसी विष्ण्वनुगता लोकताहसी एवं इन्द्रानुगता वाक्ताहसी का तारिक- संस्मरण
४५४-पृथिवी के अचक्षा अनन्ता-रसा विश्वभूमय तथा स्थिर-विचरों का तारिक-स्वरूप-समन्वय एवं तन्मूलक हृद्य-प्रभापति
४५५-विच-चित्तेतिचेयात्मक अग्नि की-‘सर्व’ रूपता का तारिक-समन्वय		१६६
४५६-‘पशु’ शब्द का पारिमात्रिक समन्वय तद्विचक्षण पाशुकाग्नि एवं उसकी अचिकित्तावस्था का समन्वय
४५७-‘एकोऽहं बहु रश्मि’ मूलक प्राणाग्नि-निकषन महिमात्मक विकस्रमात्र और अग्निनिकषन सर्व ‘हस्त’-शब्द
४५८-प्रभापति के अचिकित्ता-उद्गीच एवं सर्व-रूपी का संस्मरण तथा अचिकित्ता-प्रभापति से अनु- प्राप्तिता अचिकित्ता ‘कक्षर’ व्यावृत्ति का तारिक-स्वरूप-समन्वय		
४५९-कक्षरात्मक अचिकित्ता-प्रभापति की ‘स-कारिण्य सर्वरूपता का समन्वय एवं प्रभापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन		१६७
४६०-कक्षर-कक्षर एवं उद्गीच-प्रभापति-त्रयी का माहात्म्य-संस्मरण-प्राणामय एतैतस्मिन्पुरे बापति
४६१-माहात्म्यक हृद्य प्रभापति के विज्ञान का माध्यम भूत एवं भूत साधनरूपता का समन्वय		
४६२-भूतमाध्यम से हृद्यप्रभापति के द्वारा पार्थिव-सृष्टि का विज्ञान		१६८

- ४८३-तंत्रात्म्यसिद्धि प्राप्ताध्यात्मिक प्रभावति का आवश्यक-निरूपण उर्ध्व विज्ञान एवं तन्त्रिकप्रवृत्ति
वेदवरी का स्वरूप-अन्वय ११८
- ४८४-‘पुत्रवरी’ का आत्मवरी का स्वरूप-अन्वय एवं ‘तन्त्रात्म्यवरी’ का परिधि-विशेष
प्रभावति --- ११९
- ४८५-महाभुक्त्यात्मक पारिषद-संवादा का अन्तर्महोत्सव एवं तन्त्रात्म्य-निष्ठा-अन्वय पारिषद-वैशेषिक
४८६-विशेष-प्रभावति का अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव और तन्त्रात्म्य-‘अन्तर्महोत्सव’ १२०
- ४८७-विशेष-प्रभावति के आचार पर अन्तर्महोत्सव की अभिव्यक्ति, तन्त्रिकप्रवृत्ति वैशेषिक-प्रभावति
प्राप्ताध्यात्मिक एवं अन्तर्महोत्सव आत्मवरी १२१
- ४८८-विशेष-प्रभावति के अन्तर्महोत्सव विषय-विषयों तथा आत्मविषयों से अनुपासिता वैशेषिक-प्रभावति
महोत्सव १२२
- ४८९-विशेष-प्रभावति का अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव एवं तन्त्रिकप्रवृत्ति आत्मवरी-लोक
का महोत्सव १२३
- ४९०-महोत्सव-प्रभावति का अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव एवं अन्तर्महोत्सव-प्रभावति का अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२४
- ४९१-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव-प्रभावति का अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२५
- ४९२-अन्तर्महोत्सव का अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२६
- ४९३-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२७
- ४९४-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२८
- ४९५-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १२९
- ४९६-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १३०
- ४९७-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १३१
- ४९८-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १३२
- ४९९-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १३३
- ५००-अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव अन्तर्महोत्सव
अन्तर्महोत्सव १३४

५. २-ब्राह्मी-गायत्री धृषिणी वैष्णवी त्रैष्टुमी-मृषिणी ऐम्त्री बागतीधृषिणी एम् त्रिप्रयिष्मात्मिका महाधृषिणीरूपा विरवम्भरा का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय तथा तमिफचना त्रिसाहस्री का संस्मरण
५. ३-केवल-गायत्री-मृषिणी से अनुप्राणित गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-रूपा ह्रन्स्वरयी तमिफनयना गायत्ररूपा वेदत्रयी एम् रावर्षि मनु के द्वारा कल्परूप समन्वय २७६
५. ४-ह्रन्स्वरयीमयी गायत्री-मृषिणी से अनुप्राणित वेदत्रयी के स्तोमजयानुबन्धी गायत्र-लोक, तमिफनयना वेदत्रयी के 'श्रुक्-बलु'-साम-समुद्र एम् अमृता इन्द्राविष्णु की रहस्यपूर्ण प्रति-स्पर्धा का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय --- --- २७७
५. ५-सुबलोकतात्मक-ब्राह्मण-त्रैष्टुम-वैष्णवलोकाधुनिकी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय २७७
५. ६-वैष्णव-त्रैष्टुम-तीनों लोकों से अनुप्राणित त्रयस्त्रिंश सप्तविंश-एकविंश-स्तोमानुगत गायत्र त्रैष्टुम-बागल-माव एम् वैष्णवी त्रिलोकी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय --- २७८
५. ७-महोकात्मक-बाक् मय-बागल-येन्द्र-लोकाधुनिकी तीन लोकों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय कठनु प्राणित बाक् मय कर्त्तृकार-मवकला एम् सत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्णव्यञ्जन-वशी --- २७८
५. ८-ह्रन्मानुगत-विविधाकारकारणात्मक 'व्याकरण' का स्वरूप-निर्बचन एम् उदाहारमत अक्ष'मात्रा-धमक स्तोत्रका का साहित्यिक स्वरूप-संस्मरण --- --- २७९
५. ९-येन्द्र-बागल-तीनों लोकों से अनुप्राणित-अष्टाचत्वारिंश-चतुरवत्वारिंश-चतुर्विंशस्तोमानुगत गायत्र त्रैष्टुम बागल-माव एम् ऐम्त्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- २८०
५. १०-वेद-लोक-बाक्-अहो-त्रयीमूर्ति पार्थिव-विरट्प्रबापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय २८१
५. ११-विरट्प्रबापति से अनुप्राणित अहर्गयात्मक स्तोमी के गायत्रीकुन्डोनिक्चन अष्टविंश महिम विषयों का स्वरूप-समन्वय --- २८१
५. १२-पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की सुपर्या-पक्षी' रूप में परिचित छद्म के द्वारा लीले पलोक से छेमे का अपहरण एम् 'चतुरशर-अन्वों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन
५. १३-त्रिष्टुप् के ३ पाद् जगती का एक पाद् गायत्री के चार पाद् श्रीर समहपानिका गायत्री की अष्टाशररूपता का समन्वय
५. १४-अष्टाशरा गायत्री एकाशराश्रय त्रिष्टुप् एम् आशराश्रय जगती के अशरसंख्यानिश्चयन तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय एम् गायत्री की लक्ष्यरूपता --- २८२
५. १५-ह्रन्दीमास्तोमपनिष्कम्पता 'ब्रह्मगायत्री' की सर्वव्याप्ति का यथोक्तान
५. १६-गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविंश-असुष्मस्तोम एम् त्रिविंश-सुष्मस्तोमी का समन्वय तथा आसु-स्वरूप राक्ष-येन्द्र-ह्रन्दीमास्तोम-समन्वय
५. १७-बाक् मय ह्रन्दीमास्तोम की ह्रन्तरूपता ह्रन्दीमास्तोमी की अस्तोमरूपता एम् स्तोमानुगत ३३ अहर्गनी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- २८३
५. १८-बाक् मय-येन्द्रस्तोमानुबन्धी बह्मशी से अनुप्राणित 'बाक् के ३ महिमनिर्वर्त कठनुबन्धी बाक्त्तृकार एम् कठनुप्राणित 'बाक्त्तृकार' रूप वीर्यत्तृकार' के 'वयत्तृकार' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय --- २८३

- ५१६-सह्यानुगत-मयहलतमक पुष्पपल्लव तथा रश्म्यात्मक अमिक्षाकल्लोम ए० तत्त्वस्म-संस्मरण ५१६
- ५२-लोकवयी अक्षरवयी शुक्लवयी, हृदयवयी मनोनामवयी एवं वेदवयी निष्कम्भनविशिष्टमावापन
त्रिविधतावयी का स्वरूप-सम्भव --- "
- ५२१-अयुष्मन्तोममयी-आग्नेयी-ब्राह्मी-गावत्रीरूपावेष्टाहसी से समन्विता स्वर्गोद्यमिका 'ब्राह्मी'
पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण --- ५८६
- ५२२-अयुष्मन्तोममयी आपोमयी, वैष्णवी विष्टुवक्या लोकावहसी से समन्विता मुखोद्यमिका
वैष्णवी पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण --- "
- ५२३-अयुष्मन्तोममयी वायुमयी ऐन्दवी जगतीरूपा वाक्साहसी से समन्विता सूक्ष्मात्मिका ऐन्दवी
पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण --- "
- ५२४-अयुष्मन्तोममयानुयता वैश्वान्वयितोरीरूपा महापृथिवी का संकलनप्रत्यक्ष-स्वरूप-संस्मरण
एवं पृथिवी के परिमित अन्तर्बहिः तथा अपरमित बहिर्बहिःस्वरूपों का तात्त्विक स्वरूप
सम्भव --- "
- ५२५-महिमयुक्त्विकानुयता सुकर्मा-जग-लौह-वायुमयो तीन पुरियों का संस्मरण एवं ५८५
- अवर्धमानि ---
- ५२६-देवपुत्रवयी वीरस्वपूणा त्रिमुपलम्पता का स्वरूप-विस्तार एवं पार्थिव गहनज्ञान की
सोमपहरलम्पता म्हात्मकता का अनुयायित त्रिहृद्मावापक तीन पार्थिव लौकों के तीन मुखों
की समष्टि का स्वरूप-सम्भव --- ५८५
- ५२७-ए २१-२४-संख्याओं से मिल तीन पृथिवीलोक, १६ २७-४४-संख्यानुगत तीन अन्तरिक्षलोक
एवं २१ २३-४८ संख्यानुगत तीन वायुलोक --- ५८८
- ५२८-समुद्र एवं मातृदेवता नामक पारिमासिक अन्तरिक्ष तथा नाक अक्षरव विष्ट-सूर्य-नामक
पारिमासिक वायुलोक का स्वरूप-सम्भव --- "
- ५२९-विद्युत्प्रवापति की पूर्वस्था में अनुयायि प्रवाहजव विष्टों का संस्मरण --- ५८८
- ५३०-विद्युत् प्रवापति के अन्तस्ता अक्षयप्रवापति के त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप महिममय स्वरूप
का सम्भव --- "
- ५३१-अक्षयप्रवापति के महिमामय स्वरूप का अन्तिम-स्वरूपसमर्प-मूलोक्त एवं तद्वायु
विद्युत्प्रवापति की प्रवृत्ति तथा तत्किञ्चन विद्युत्प्रवापति की विद्युत्प्रवापति का सम्भव ५९
- ५३२-विद्युत् अक्षयप्रवापति के अन्तस्ता से अक्षयप्रवापति की महिमा का महती माहीकान् विस्तार
एवं तद्वायु पुनर्विष्ट की 'पितृपितृनाम' रूप में परिणति तथा तत्किञ्चन विद्युत् का ही
त्रैलोक्य में परिणत ---
- ५३३-विद्युत्प्रवापति के स्वरूप में अक्षयप्रवापतिस्वरूप के त्रैलोक्यप्रत्यक्ष विस्तार का अन्तस्ता ५९१
- ५३४-गीताप्रतिपादित विद्युत्प्रवापति के विशेष-मायी का निर्दिष्ट सम्भव एवं अक्षयप्रवापति
परिणत विद्युत्प्रवापति के रश्म्यात्मक स्वरूप का सम्भवनात्मक-संस्मरण --- "
- ५३५-विद्युत्प्रवापति के लौकिकप्रत्यक्ष अक्षयप्रवापति महिममय गीताप्रवृत्ति के द्वारा अक्षयप्रवापति के महिम-
मय अक्षय विष्टों का प्रवर्धकवेद्य जगह एवं तद्वायु विद्युत् की सर्वकर्म में परिणति "

५१६-पुराणपरिभाषातुल्य चन्द्रमा का सूर्य से ऊर्ध्व-स्थिति-सम्बन्ध एवं तक्षिक्-वना पौराणिक रहस्यात्मिक परिभाषा	---	---	१६२
५१७-विराट्प्रजापति का 'कविपुत्रस्य' एवं तक्षिक्-वन 'पितृधितस्तासत्' भाव	---	---	
५१८-यज्ञेवरप्रजापति की मृ-मुवाःस्वाः-रूपा तीनों महाभ्याहृतिवों का पुत्र विराट्प्रजापति के महिमाम्ब के साथ सम्बन्ध-सम्बन्ध	---	---	२२१
५१९-यज्ञेवरप्रजापति की महाभ्याहृतिवों की प्रतिकृतिभाषाभाषा विराट्प्रजापति की तीन महाभ्याहृतिवों का स्वस्व-सम्बन्ध	---	---	११
५२०-यज्ञेवरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भूकप-रोहती त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक-भूलोक के साथ सम्बन्ध-सम्बन्ध	---	---	११
५२१-यज्ञेवरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भूकप-रूप-कन्दरी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक-भूलोक के साथ सम्बन्ध-सम्बन्ध	---	---	१६४
५२२-यज्ञेवरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-स्व-रूप-संकी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक-स्वलोक के साथ सम्बन्ध-सम्बन्ध	---	---	
५२३-सृष्टिसङ्कल्पे पिता-यज्ञप्रजापत्यपेक्षया विशेष भाषाभाषा विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का सम्बन्ध	---	---	
५२४-यज्ञेवरप्रजापति के अमृत-मर्त्य-शुक्ल से समुद्भूत पार्थिव-विराट्प्रजापति के महिमाम्ब-शुक्ल की विराट्प्रजापति का सर्वभ्यापि का तत्त्विक सम्बन्ध	---	---	१६६
५२५-विराट्स्वरूप विरहोक्त समर्पक कार्य-वचनों का संस्मरण	---	---	१६७
५२६-आत्म के एकविंशत्यो नामक विराट्प्रजापति का अमृतोत्पत्त्या अष्टावत्पत्तिरिपत्त्योमातुल्य महती व्यापि का महिमाम्ब स्वस्व-सम्बन्ध	---	---	
५२७-पुराणशास्त्र के प्रति मातृक वेदमहती की ज्ञाना इति तद्विराट्प्रजापति एवं पौराणिक-विराट्स्वरूप-सम्बन्ध	---	---	१६८
५२८-दर्शनमुगामुगत बहुविंशतिवत्त्वाद् का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रयोविंशतिवत्त्वाद् पर स्पर्शस्थान एवं पुरुष-प्रकृति-विकृति-मूल-यौवराज्य-प्रजापति-यज्ञप्रजापति-विराट्-प्रजापति का सम्बन्धनात्मक सम्बन्ध	---	---	
५२९-मूलमामप्रधान विराट्प्रजापति का भीमदुर्गावत के द्वारा करोवर्धन	---	---	११
५३०-आधिभारिक-व्यवहन-जीवोपासनात्मिक विराट्प्रजापति का आचारभूत पार्थिव विराट्प्रजापति	---	---	४१
५३१-विद्वत्प्रजापति यौवराज्य-प्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति एवं शरीरप्रजापति विराट्प्रजापति का सम्बन्ध तथा प्रत्यगात्मलक्षण	---	---	११
५३२-ईश्वरशरीरातुल्य सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-मूर्ति विराट्प्रजापति एवं यज्ञप्रजापत्यपेक्षया ईश्वरभूत विराट्प्रजापति का जीवप्रजापति-सम्बन्ध	---	---	

- ५५१-समानशीलमन्त्रिण काविरैविह-वीनविद्यप्रशापति के अथ आध्यात्मिक वीनविद्यप्रशापति का रहस्यपूर्ण-मैत्रीसम्बन्ध एवं पुरुष की प्रशापतिनिकम्बना मण्डिता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५१
- ५५४-विद्यप्रशापति की 'आभिधायिक चतन प्रीति' कथा का सम्बन्ध --- --- ५१
- ५५५-'सबत्र विराजत' रूप विद्यप्रशापति की अतुल्य से आवाक्यवृत्ति एवं आवाक्यमूलक 'अचतन' भाषानुक्त से विद्यप्रशापति का 'अचतनजीवत्सव' सम्बन्ध --- --- ५१
- ५५६-विद्य-स्वरूपमूलक पार्विक-विमल नामों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रकाश --- ५४
- ५५७-पू-भूमि-अचतन-अनन्त नाम की शब्दचतुष्टयी का रहस्यपूर्ण-समन्वय --- --- ५४
- ५५८-रघु-विरहमण्डित-नाम-विमल का रहस्यपूर्ण सम्बन्ध --- --- ५४
- ५५९-बहु-विमल-विरह-नाम-विमल का बहु-वर्ण-अचतन-नाम-विमल का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- ५४
- ५६०-ब्राह्मी वृत्ति के विद्य-प्रशापति अतुल्य विमल शब्द एवं अतुल्य 'काशी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६१-विमलानन्दक-कविरैविह-प्रशापति-प्रशापति-शब्द एवं तत्त्विक-स्वरूप-समन्वय 'शब्द' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६२-पार्विक-विमल-मन्त्र-कर्म-विमल-नामक-कर्म-प्रशापति का कर्म-प्रशापति एवं तत्त्विक-स्वरूप-समन्वय 'कर्म' नाम का स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६३-'विमल' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६४-कर्म-प्रशापति शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६५-पार्विक-विद्य-प्रशापति की 'बहु' कथा का वैदिक-स्वरूप-विमल --- ५४
- ५६६-अतुल्य-नाम-विमल 'बहुमती' एवं 'बहुमती' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- ५४
- ५६७-एक-आवाक्य-आवाक्य एवं कर्म-आवाक्य-आवाक्य शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५६८-ब्रह्म-मन्त्र 'आवाक्य' एवं 'आवाक्य' मन्त्र-आवाक्य-मन्त्र एवं तत्त्विक-स्वरूप-समन्वय 'बहुमती' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- ५४
- ५६९-अतुल्य-मन्त्र में अतुल्य से व्याख्या आवाक्य-विमल के विमल-मन्त्र से अतुल्य 'ब्रह्म' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- ५४
- ५७०-पार्विक-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र का स्वरूप-विमल-समन्वय एवं तत्त्विक-स्वरूप-मन्त्र 'मन्त्र' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५७१-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र पार्विक-मन्त्र-मन्त्र का स्वरूप-विमल-मन्त्र --- --- ५४
- ५७२-विमल-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र का वैदिक-स्वरूप-मन्त्र-मन्त्र --- --- ५४
- ५७३-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-विमल-मन्त्र एवं तत्त्विक-स्वरूप-मन्त्र 'मन्त्र' शब्द का स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५७४-'ब्रह्म' 'मन्त्र' 'मन्त्र' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- --- --- ५४
- ५७५-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र-मन्त्र पार्विक-मन्त्र-मन्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय --- ५४

५७९-उपास्यविष्ट के अमिष्ट तथा उपास्यविष्ट (मानव) के सम्बन्धनात्मक-समान-धर्मों के स्वरूप-निर्द्धारन	---	---	---
५७७-उपास्य-विष्ट के आत्मानुष्करी अत्यन्त रहस्यपूर्ण आकाशराशिष आध्यात्मिकमार्ग			४१७
५७८-प्रसन्न-गायत्री से आत्मपथनिष्पत्ति एवं पञ्चपथ-गायत्री से शरीरपथों की स्वरूप-निष्पत्ति			
५७९-दशा-विषा-एक-विमल विष्ट प्रजापति का विभिन्न इष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय			४११
५८०-त्रयोविष्टिपत्रात्मक विष्ट प्रजापति का अन्य इष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्रमाण			४१४
५८१-विष्टपाठना के द्वारा उपास्य की उपास्यरूप में एवं उपास्य की उपास्य के रूप में परिणति का रहस्यमय दिग्दर्शन	---	---	---
५८२-सुष्टि-विष्ट-मूर्ति मानवीय कर्मात्मा की मोहनिद्रास्थिति का आचरणमूला सुष्टि एवं त्रिकन्वन मन्त्रमात्र का समन्वय			
५८३-इष्टस्य महाविष्ट के द्वारा कर्मात्मविष्ट को समये समये उद्बोधनप्रदानानुसङ्ग एवं कर्मात्मविष्ट की उद्यत्प्रेक्षा	---	---	---
५८४-'क्षेत्रज्ञयोग' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय त्रिकन्वन गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण 'सुष्टियोग' एवं उद् रूप 'क्षेत्रज्ञविष्ट' की उपासना से ही सुष्टिविष्ट का कर्मावित उद्बोधन			४१७
५८५-क्षेत्रज्ञयोगात्मिका विष्टपाठना एवं विष्टरूपोपासना का समस्तज्ञानात्मक-समन्वय			४१८
५८६-'अविष्ट' मातृ-निर्वाचना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय			४१९
५८७-बोधोपासनात्मिका विष्टपाठना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं उत्पत्तिविष्टिमुक्त कश्चित्तरहस्य			
५८८-गार्हपत्य-पिष्टय आहवनीय-रूप-गोवामि-विष्टान-स्वरूप दिग्दर्शन			
५८९-इष्टिर्बेदि एवं सोमवेदि से समन्विष्ट कश्चिद् तथा उत्पत्तिरूपविष्टान-समन्वय			---
५९०-स्वर्गमात्स्यपात्रनिष्कन्वना यज्ञविष्टपाठना का कामनामय धर्मसमन्वय			४२
५९१-आदितात्मक स्वर्गमयज्ञान त्रिकन्वन काममात्र उत्पत्ति-यज्ञमय एवं उत्पत्तिमात्रिका विष्टपाठना तथा विष्टपाठना का प्रथम सोपान			---
५९२-आगमिक ज्ञानानुसङ्गा विष्टिक्रमान्विता पर्वविष्टपाठना का स्वरूप-समन्वय एवं विष्टपाठना का द्वितीय-सोपान			---
५९३-प्रवैष्टोपासनात्मिका विष्टपाठना से अनुप्राप्तिता अक्षतारोपासना उद्बोधनार्थ एवं विष्ट वाचना का तृतीय सोपान			---
५९४-विष्टपाठना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय			४२१
५९५-गार्हपत्य-विष्टानों की स्वतन्त्र दर्शनतत्त्वमूर्ति त्रिकन्वना तत्त्वोपासना एवं उद्बोधन की निम्नोक्त-विष्टमय-संस्थापन-प्रमाण			---
५९६-गोमय-कपिल कण्ठादि गार्हपत्यों की तत्त्वोपासना का संस्मरण			
५९७-गार्हपत्य की तत्त्वोपासनामिनिर्वाहार्थ से अनुप्राप्तिता तत्त्वज्ञानात्मिका अक्षतारोपासना-संस्था			---
५९८-तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक-विष्ट के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण एवं मगधान् व्यास के द्वारा उत्समर्चन	---	---	---

५.६.६—मारुतवर्षीय तत्त्वोपासनामार्ग एवं उस की 'उत्सोपासना' मिश्र विराहपासना का स्वरूप- समन्वय ----	४२३
५ — विराहपासनासुषुप्त-चतुर्विध-उपासनामार्ग एवं 'ब्रह्मोक्ति-युगानुगता-उपासना' का स्वरूप विराम ----	४२४

इति—“युगाधर्मानुगता विराहपासना” नामके चतुर्थे प्रकरणे
 “दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना”—नामक
 चतुर्थमवान्तर प्रकरणमुपरतम्

—४—

—●—

अथ—“युगधर्मानुगता विविधोपासना” नामके चतुर्थप्रकरणे
 “वर्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग” नामक
 पञ्चम अध्यान्तर प्रकरणमुपक्रान्तम्



- १ १—वर्तमानयुगानुगत उपासना-प्रकृत्य से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-उपासनापूर्वों का समष्ट्यार्थक स्वरूप—संस्मरण ४२६
- १ २—ब्रह्मात्मा मानव से अनुप्राणित का मानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-निर्द्धारण एवं काय मानवानुसूची कतिपय-भरण तथा कर्तव्याधानीपक्रम ॥
- १ ३—उमष्टि-अवस्थात्मिक-विराट्पासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख चिह्न— ४३०
- १ ४—विराट्चिह्नयुगानुगता उपासना का ‘जीवबर्ग’ से प्रमुख सम्बन्ध एवं कर्तव्यकी आध्यात्मिक अभिमौलिक-पर्व
- १ ५—उपासनायुगत ‘विश्व’ शब्द का ‘जीवबर्ग’ पारिभाषिक-समन्वय
- १ ६—विराट्पुनरुत्थापना से बोधोपासना एवं नियम अनुगम-मार्ग मिल उपासक-तत्त्वों का नाम-समन्वय
- १ ७—निगम और आगम-शब्दों का पारिभाषिक-सम्बन्ध-सूर्ययूता निगमोपासना तथा पृथिवी-मूला आगमोपासना के अन्तर्गत महिमविद्यों का स्वरूप-निर्द्धारण ॥
- १ ८—नियमागमनीय-आवश्यकताओं के ‘अचेतन-जीवबर्ग’ के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उद्घाटन ४३१
- १ ९—चेतन-अचेतन-शब्दों की शास्त्रीय परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति-निराकरण प्रयास
- १ १०—‘सर्वाङ्गीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि परिमाणमूलक चेतन अचेतन-व्यवहार का सात्त्विक स्वरूप-समन्वय ४३२
- १ ११—चेतन-मायनिक-व्यवहार अङ्गिदृष्टि एवं अचेतन-मायनिक-व्यवहार अङ्गिदृष्टि एवं तन्मय-निकटन चेतन-अचेतन-व्यवस्था-समन्वय
- १ १२—अङ्गीकारात्मिक सेवोपासना का अङ्गत्वेन अचेतनत्व-समन्वय
- १ १३—कर्म से अस्वच्छा प्यानात्मिक अङ्गी उपासना का चेतनत्व-समन्वय
- १ १४—भौतिक-उदाहरणविधा शुद्धोपासना के माध्यम से अङ्गीभूत और अङ्गीभूत की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनत्व-समन्वय ४३३

६३३-आध्यात्मिक-अद्वैतन उपास्य-बीबी के विभिन्न पारिभाषिक-योगों का स्वरूप-समन्वय	
६३४-नित्य-चेतन-उपास्य-बीबी के विविध स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण	..
६३५-चेतन अद्वैतन अथवातन मेद निरूपण विविध उपास्यों का पारिभाषिक-समन्वय	..
६३६-नित्य-आध्यात्मिक-अवताररूप-चेतनजीवधराः (नित्य-अवतारपरिलेखा)	४४३
६३७-(१)-यज्ञप्रजापति-(चेतनो नित्य) । (एकप्रत्योम्भर)	..
६३८-(२)-विराट् प्रजापति (चेतनो नित्य)-(पार्विबन्धर)	४४४
६३९-(३)-कृष्णप्रजापति-(चेतनो नित्य)-(अवयव-अवतार-विषय)	४४५
६४०-(४)-ब्रह्मप्रजापति-(चेतनो नित्य)-(अवयव-अवतार-अन्तरिक्ष)	४४६
६४१-(५)-वामनप्रजापति-(चेतनो नित्य)-(अवयव-अवतार-पार्विबन्ध)	४४७
६४२-द्वारे-पञ्चावतार	४४८
६४३-यज्ञप्रजापतिरूप-अवतार-समर्थकानि-वचनानि [१]	..
६४४-विराट् प्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [२]	..
६४५-कृष्णप्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [३]	४४९
६४६-ब्रह्मप्रजापति (अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [४]	..
६४७-वामनप्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [५]	४५०
६४८-'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतालुगतत्व एवं विष्णु के पारिभाषिक-अवतारधर्म का तात्त्विक त्व-समन्वय	..
६४९-उपास्य-से विभिन्न मगान्त्र-वास्तविक-रूप के पूर्ण-अवतार-का स्वरूप-समन्वय	४५१
६५०-'पार्विबन्धर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	..
६५१-'महीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	..
६५२-'सगणेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	..
६५३-'उर्वीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय	..
६५४-विराट् प्रजापति के अवयव-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण	
६५५-चेतन-अचेतन-मेद-निरूपण अवतारों का स्वरूप-समन्वय	
६५६-सामयिक अवतारों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय	..
६५७-यौगन्ध्याविष्ठाता पाशोपज-विष्णु के अवतारों का नाम-संस्मरण	४५२
६५८-सामयिक-व्यक्ति-अवतारों का नाम-संस्मरण एवं-सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य-अवतार बीबी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय	..

११६-मातृरघी शास्त्रमामाधित्वा आदि के सामाजिक-आचारादी का स्वल्प-संस्मरण	५१५
११७-दिग्भौषणि-दिग्भवनस्पति-आदि के सामाजिक-आचारादी का स्वल्प-संस्मरण	५१५
११८-आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के विभिन्न ३ वर्गों का तात्त्विक स्वल्प-निर्द्धारण	
११९-निरक्ष-आश्चर्यविषय-जीवों का पारिमासिक-स्वरूप-निर्द्धारण	५१५
१२०-विभिन्न-सामाजिक-आश्चर्यविषय-जीवों का पारिमासिक-स्वरूप-निर्द्धारण	५१५
१२१-निरक्ष तथा सामाजिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य-आशुपास्य की व्यवस्था	
१२२-उपासनामार्गों का स्थिति-विवरण	५१५
१२३-उपासनानुगता आधिकारमन्त्रों की व्यवस्था	५१५
१२४-उपासनासुखी तथा काशीकरणात्मक सम्बन्ध एवं पञ्चम-आचान्तर-प्रकरण का उपरान्त	

इति-“युगधर्मानुगता विविधोपासना” ख्ये चतुर्थे प्रकरणे
 “वर्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग”-नामक
 पञ्चममवान्तरप्रकरणमुपरतम्

५

उपरतञ्चद-पञ्चावन्तरप्रकरणसमष्टिरूपं
 ‘युगधर्मानुगता-विविधोपासना’-नामकं
 चतुर्थ-प्रकरणम्

४

- 42

- [illegible]

[illegible]

- ५८-आत्मव्याप्य की मान्यता से अनुयायित्व प्रवृत्तिप्रत्यक्ष केन्द्रात् और तत्तत्त्व में विविधि का रहन
- ५९-प्रतिमापूजन की अवधिक्रिया से अनुयायित्व अधिकारितमानीका विचारधार
- ६०-वर्तमान प्रतिमापूजन प्रकारों की व्यापकित केन्द्रात् में अनुयायि एवं तत्तत्त्वना मही विज्ञात
- ६१-आत्मपूज्य की मान्यताओं के सम्बन्ध में अनुयायिता मही-विप्रतिपत्ति
- ६२-‘संस्कारविधि’ से अनुयायित्व तत्त्वों की इतिवर्तमताओं से एकान्तत्वात् अस्तित्व केन्द्रात् और महाराज्य से प्रतिप्रशान्तिका विज्ञात
- ६३-आत्ममात्र-निष्कन्ध अस्तित्व का विद्याशास्त्र-सम्बन्ध
- ६४-तत्त्व विमल ‘विद्याशास्त्र’ एवं ‘अन्तरात्मा’ तथा तत्तत्त्वना ‘हास्य और ‘करुण’ के का संस्मरण
- ६५-विद्या-उपनिषद्-एवं अज्ञा से तत्तत्त्वना कर्म की वीर्यवता का स्वरूप-सम्बन्ध तथा विद्या ‘वर्मेस रोमते’ का संस्मरण
- ६६-विज्ञान-मृति-इतिहासात्मक आत्म-अस्तित्व एवं कर्म-उपायना ज्ञानमय-वर्मेस-वेदशास्त्र का तत्तत्त्व-स्वरूप-संस्मरण
- ६७-वर्मेस-प्रतिपक्ष-मृतिशास्त्र एवं अन्तरात्मा-प्रतिपक्ष-मृतिशास्त्र तथा तत्तत्त्वना में राक्षस मनु
- ६८-‘विद्याशास्त्र’ तथा ‘अन्तरात्मा-अभिधान’ का पारिभाषिक-स्वरूप-सम्बन्ध
- ६९-विद्युत्-विद्याशास्त्र विद्यामयि-अन्तरात्मा एवं विद्युत्-वर्मेस-प्रतिपक्ष मिरनिष्कन्धना शास्त्रनी का पारिभाषिक-स्वरूप-सम्बन्ध
- ७०-आत्ममात्र से अनुयायिता एक प्रावृत्ति की विज्ञात एवं तत्तत्त्वना प्रवात
- ७१-मायमय-आत्ममात्र की शुद्धमात्रिक परम्परा के सम्बन्ध में विज्ञात की विप्रतिपत्ति का विगर्हण
- ७२-केन्द्रात्तत्त्वों के सम्बन्ध में मही-विप्रतिपत्ति का लक्षण
- ७३-प्रतिमापूजन की अवधिक्रिया के उपरोक्त-वर्ग से प्रतिप्रशान्तिका विज्ञात
- ७४-वास्तविक शास्त्र तथा शास्त्रमात्री का अनुष्ठान एवं शास्त्रमात्री की उपेक्षणीयता
- ७५-मनोमय-प्रपञ्च, तत्त्वमय-प्रपञ्च एवं तत्तत्त्वना प्रपञ्च तथा मृति-विप्रतिपत्ति का तत्तत्त्व-पारिभाषिक-स्वरूप-सम्बन्ध और प्रपञ्च की तत्तत्त्व-प्रतिपक्ष-रूपी पूर्णता का स्वरूप-संस्मरण
- ७६-विद्युत्-वर्मेस-प्रपञ्च की वीर्यवता का तत्तत्त्व-स्वरूप-सम्बन्ध
- ७७-प्रपञ्चमय-प्रपञ्च-प्रपञ्च से अनुयायिता निष्ठा-अविकारता निगमविद्या तथा प्रपञ्चमय-प्रपञ्च-पारिभाषिक-प्रपञ्च से अनुयायिता निष्ठा-अविकारता का प्रपञ्च-सम्बन्ध और तत्तत्त्वना निगममय-शास्त्रनी का संस्मरण

७८-निर्गमागममूलक मन्त्रभाष्यात्मक वेदशास्त्र एवं तन्मूलक पुराण-स्मृति-इतिहासप्रमक शास्त्र का स्वल्प-संस्मरण	
७९-शतव्यवृत्ती का निरूपक वेदशास्त्र एवं उदाहरण आर्य्यवर्ण के तन्मूलक महती विप्रवर्षित का संस्मरण	४३३
८०-प्रिय महाशयवरा से प्रकाशमायेन किञ्चिद्विध सामयिक-आवेदन	---
८१-प्रतिमापूजनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिद्विध प्रासङ्गिक-नाम निवेदन	"
८२-ब्रह्ममक विष्णु के पूर्ण तथा अंशावतारों का पावन संस्मरण	"
८३-अचरमूर्ति-प्रकाशिता का स्वल्प-संस्मरण एवं तद्विचित्रता संपत्ती-कन्दली-रोदसी-त्रिलोपी और तन्मूलक-अक्षरवर्ण का स्वल्प-संस्मरण	४६४
८४-अक्षरवर्ण के अक्षोमाग में अक्षयित मगवान् मृताय के आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण	"
८५-अमृत-मृत्यु-संस्मरण-विवेक एवं मृत्युविशेषा मगवान् मृत्युमय महादेव का भावज्ञात्मक संस्मरण तथा तदनुगता निष्क्रोपात्मता का दिग्दर्शन	---
८६-अक्षरवर्णमक और महादेव एवं विचित्रात्मिका ब्रह्मका का स्वल्प-संस्मरण तथा व्यक्त मूर्ति-मूर्ति-आवातुकी इन्द्राध्यक्ष-शिव के आपातनिक स्वल्प का दिग्दर्शन	४६५
८७-ताम्र-सुमङ्गल-नीलाश्रीवाणि-अक्षर ध्यम्क शिवत्वं एवं उन के शिवशरीर तथा पौरशरीर का पावन-संस्मरण	" " " "
८८-अक्षरवर्णनिर्देशता की शान्ततनु एवं आनुतिनिरोधमगता शेरतनु का संस्मरण	
८९-आवगमाते उपास्य शान्तशरीरी नाम्मवर्णशिव एवं अस्तुनमाते उपरय पार-शरीरी वरदेव का संस्मरण	४६९
९०-अक्षरवर्णनिर्देशन अक्षरमय विष्णु एवं उपास्यमावातुकी व्यक्त शिव का स्वल्प-संस्मरण तथा विचोपात्मता की शान्ततनु का स्वल्प-संस्मरण और तन्मूलक ब्रह्म की अक्षयिनी धैर्य-उपासना का दिग्दर्शन	---
९१-[१]-संहितामाग में प्रतिमापूजन के मूर्तिरु-सूत्रात्मक-संस्मरण	"
९२-महासंहितातुल्य प्रतिमा प्रतिमान अर्चन-प्रदान-सेवा-आदि औपासनात्मक शब्दों का संस्मरण एवं प्रतिमोपासना की प्रामाणिकता का स्वल्प-संस्मरण	४६९
९३-सूक्त लक्षर-मूर्ति-मन्त्र-मावाते से अनुपासिता उपासना का स्वल्प-संस्मरण	---
९४-मूर्ति की आचारमार्गशा से अतीत भी उपासक-ब्रह्म की उपासनाविधि के अनिवार्यकथन अवेष्टित मूर्ति-माध्यमी का स्वल्प-संस्मरण	---
९५-प्रतिमात्मिका मूर्ति की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कठिन भाष्यमय-वचनी का स्वल्प-संस्मरण	---
९६-सम्पन्नपत्रिकों के द्वारा मातृतीय ज्ञानत्र आचारधर्म पर कुट्टरपक्ष तदनुपरिणाम एवं ज्ञानात्मी तथा आर्य्यमाधिवी का निरपेक्षम वाक्यवृत्ति	---
९७-प्रतिमापूजन ज्ञानात्मी की वेग्य के सम्बन्ध में महती शान्ति	---

- २२-ब्रह्मेदीय-प्रारम्भानुगत मन्त्र के वास्तविक-प्रमाण का सम्बन्ध-प्रमाण एवं उद्धार सम्पादित उद्बोधन
- १-२-‘न तन्म प्रतिमा अस्ति’ के सम्बन्ध में लीलावती की लीला का न्यायिकता एवं तदनुगता प्रति का स्वरूप-विरहोपपाद
- १-३-‘न तस्य प्रतिमा अस्ति’ के वास्तविक तात्पर्य का सम्बन्ध प्रमाण, एवं लीलावती का सम्पादित उद्बोधन
- १-४-नीमाणा-सम्पत्ता प्रकरण-इति से अनुपादित-सम्बन्ध का स्वरूप-निर्द्धारन
- १-५-‘प्रतिमान’ शब्द का प्रकरण-इति-निरूपण-वास्तविक-स्वरूप-सम्बन्ध-प्रमाण
- १-६-‘तदेव’ शब्द एवं विधि, नई विधिमुपासते के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-सम्बन्ध प्रमाण
- १-७-प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में बुद्धानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अग्रिमविशेष
- १-८-बुद्धनिर्वाणान्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना-प्रचार-विस्तारन
- १-९-निदान तथा महादान-मनिकम्पन बुद्धमत के दो विभिन्न पक्ष एवं प्रत्यक्ष-निर्वाण प्रतिमापूजना
- १-१०-बुद्धमत के प्रमाण से आश्रित आश्रयस्थ का भी प्रतिमापूजानुसार एवं ऐतिहासिकों का अग्रिम दृष्टिकोण
- १-११-प्रतीत्य सत्ति के अग्रानुगत म अनुपादित तथा अग्रिमविशेष आचार्यों के अग्रिमविशेष से सम्बन्धित भारतीय की परम्परागतता के माध्यम परिकामी का विविध-निर्द्धारन
- १-१२-बुद्ध-वर्ण-प्रमाणिक के आचार्यों से आश्रित भी वर्तमान गतानुगत भारतीय-मानवी का आश्रयस्थ-प्रतीत्य-आश्रयस्थान
- १-१३-आश्रयस्थ तथा बुद्धमत के सम्बन्धन-प्रमाण से प्रतिमापूजन की अनादित्य-साधिका का अग्रिमविशेष-प्रमाण
- १-१४-पुण्यस्थान-प्रमाणिक का आश्रयस्थ का वास्तविकता का स्वरूप-निर्द्धारन
- १-१५-बुद्धमत से पूर्व-बुद्ध के प्रतिमा-विधि के सम्बन्ध में विविध-अग्रिम-आश्रयस्थ
- १-१६-नन्दीया अनुपम-विधि से अनुपादित अग्रिमविशेष की अग्रिमविशेष-प्रमाणिक-प्रमाण का स्वरूप-निर्द्धारन एवं सम्बन्ध में अग्रिम-प्रमाण के अग्रिम
- १-१७-अग्रिमविशेष-प्रमाणिक प्रतिमापूजना के अनादित्य के सम्बन्ध में बुद्धपूर्व आश्रयस्थ-आश्रयस्थ-विशेष-प्रमाण
- १-१८-अग्रिमविशेष (निम्न-प्रमाण)-बुद्धानुगत उद्धारण और अग्रिमविशेष
- १-१९-बुद्धमत से अग्रिमविशेष भारतीय-प्रतिमापूजन-प्रमाण का अग्रिम-प्रमाण
- १-२०-अग्रिमविशेष-विधि की प्रतीक्षा एवं भारतीय-प्रतिमापूजन का अनादित्य
- १-२१-पुण्यस्थान-प्रमाणिक मुख्यतः प्रतिमापूजना एवं तदनुगता के वास्तविक-प्रमाण-प्रमाण का स्वरूप-निर्द्धारन
- १-२२-प्रमाणिक प्रतिमापूजना के अग्रिम-प्रमाणिक प्रतिमापूजना का स्वरूप-प्रमाण एवं तदनुगता में अग्रिमविशेष अग्रिम-प्रमाणिक

१२१-इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप-समन्वय शृङ्खलीय मन्त्र	..	
१२२-महर्षि कामदेव के द्वारा मोमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से देवेन्द्रोपासना और प्रतिमाभाव का संस्मरण	---	५०६
१२३-शृङ्खलीय मन्त्रार्थ-समन्वय	..	
१२४-प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण	..	
१२५-राजसेश्वर राकण के द्वारा ब्राम्हून-सुपर्णात्मक शिवलिङ्ग की उपासना और प्रतिमापूजन		
१२६-सेतुबन्ध रामेश्वर के मध्य से प्रतिमापूजन की अपार्यता का पावन संस्मरण	..	५१
१२७-शास्त्रीय वचनों के सम्बन्ध में देशदृष्टि एवं तत्त्विकचना महती भान्वि		
१२८-नियोगविभूतमक प्रासङ्गिक-उदाहरण के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप विस्तोदन		
१२९-अत्र पूर्व महादेव-इत्यादि श्रीरामाक्षणीय-आयवचन के साथ परमतागुणामियों का बहना पूर्ण-समन्वय-प्रकार	..	५११
१३०-श्रीरामायणान्वयतानुबन्ध के प्रति कृतज्ञतापूर्ण एवं तत्त्विकचना वस्तुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय प्रकाश	---	
१३१-वर्णाश्रमव्यवस्थानिष्ठ आचार्यश्रेण एवं एकलक्ष्य	..	
१३२-एकलक्ष्य की श्रेष्ठप्रतिमोपासना का स्वरूप-समन्वय एवं अनुन का आभ्योश		५१२
१३३-एकलक्ष्य के द्वारा गुरुश्रेण के प्रति वस्तुस्थिति का स्वीकरण	..	
१३४-एकलक्ष्य के द्वारा गुरुदक्षिणा में अङ्गुष्ठ प्रदान और आचार्य के द्वारा वरप्रदान		
१३५-राक्षसानी मीन की आरक्ष्यश्रेण अनु-वर्ण-कुराणता	..	
१३६-मगधान् पाणिनि के कठिनक सूत्र एवं प्रतिमापूजन		
१३७-अप्यस्तकरोपासनानुगता प्रतिमा की अनिवार्यता और संस्कारदर्शन	..	५१३
१३८-दृष्टियोग तथा मनोयोग के विभिन्न क्षेत्रों से अनुमापिता उपासना और प्रतिमानुगता बहना का समन्वय	..	
१३९-भूमाध्यमानुगता उपासना और तत्र उपनिषद्भूति का संस्मरण	..	
१४०-महाविराजा मक-उपास्यदेव और महात्मा तुलसी	---	५१४
१४१-परमेश की दृष्टि में प्रतिमापूजन	..	
१४२-प्रतिमापूजन का समर्पण तथा 'परिशिष्ट-प्रकरणोपराग	..	५१५

इति-भक्तियोग परीक्षायां पूर्वखण्डे "प्रतिमापूजन और उपासना" नामक परिशिष्ट प्रकरणमुपरतम्

इति-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकाया मर्वान्तरतमपरीक्षाया "क" कारविभागात्मकस्य

भक्तियोगपरीक्षात्मकस्य-पूर्वखण्डस्य
मक्षिप्ता-विषयसूची-उपरता (परिच्छेदात्मिका)

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डस्य
सक्षिप्ता-विषयसूची
उपरता
परिच्छेदात्मिका

श्री।

अथ—भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

१-किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्



ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-‘सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक’

‘मक्तियोगपरीक्षा’ नामक पूर्वखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षासुगत — ‘क’-कार विभागात्मक प्रथमखण्ड)

१—किञ्चिदिव—प्रास्ताविकम्
“नामक्ताय कदाचन”

१—मातृशिक्षास्मरणम्—

- १—नि पु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनार महामर्कं मघवञ्चित्रमर्चं ॥
- २—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकाः सूर्यो विरवमनुप्रभृतः ।
एकैवोपाः सर्वमिदं विमर्ति “एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्” ॥
- ३—वार्चं देवाः तपशीबन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा मुवनान्वपिता सा नो हवै जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
- ४—वागधरं प्रब्रज्जा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नामि ।
सा नो जुषाणोपयुक्तामागादवन्ती देवी सुहृदा मेऽस्तु ॥
- ५—यो प्रभाषां विदधाति पूर्वं वो वै वेदांश्च प्रविणोति तस्मै ।
त इ दं देवात्मपुत्रिमकाशं सुमुहूर्तं शूरशर्मणं प्रपद्ये ॥
- ६—ओष्ठापिधाना न कुलीदन्तैः परिहृता पविः ।
मर्षस्त्यै वाच ईशाना चारुमामिह वाद्येत् ॥

●देवताओं के स्वरूप के लक्षण में विद्यमान में वाच अनेक प्रकार की अतिथी होती हैं ।
इसके नियन्त्रण के लिए शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य का प्रथमपाठ्य-प्रथमखण्ड ही देवता
भाष्य ।

७—यो यत्नो दिशि परमं हि गोमवात्मा विज्ञानं समुपदिश्य गीतया यः ।

मानं जनयतु विश्रुतो ममाय गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमह ॥

८—य इम परम गुण मशुमक्तेष्वभिधाम्यति ।

मस्ति मयि परो मृत्वा मामभ्यन्यन्नशयः ॥ (गीता १८ । ६८ ।)

८-११ त नानपम्कय नामक्ताय कदाचन ।

तयाद्भुतं पञ्च बाह्यं न च मां योऽभ्यस्यति ॥ (गीता १८ : ६७) ।

प्राप्तव्योदयतो हि यस्य मिथिलादृशे शरीरोदय —

श्रीचिरवेगादयोदयाय ममभूतकारया सुखिणोदय ।

राष्ट्रा प्रीत्युपादभुज्जपपुरे सुम्यत्ति-मागयोदय —

मिद्धं श्रीमपुमदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोऽय ॥

१—इ गणपतः । आर गी में (मन्त्रगणों में एवं स्तुतिगणों में) विरचित । कर्त्तिक (शिव
मास) आर दी १। कर्त्तिक के मध्य में बड़ मेघाशी सम्मेलन है । अश्वि आरके बिना दूर का अथवा नदी
का अथवा नदी बिना आरकल । (इतिहास मदी बापों के आरकल में आरकल प्रथम शरण मिलान
करके है) । इ महनीय गणपतः त्रिवृत् (१) पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७) अष्टदश (१८),
त्रिगुण (९) प्रथमदश (३३) काऽऽदि विरचित स्तुति में गुप्त महामहिमगानी, अथवा शिवानी की दृष्टि में
आरकल है । वर इत्यादि स्तुति (बापों में) । इ उमे आर निर्निज पूरा करने का अन्तर्गत है ।

—सूचके १ १२५०

[illegible]

२— मनो-बुद्धि-विमोहक कर्ममार्ग, एवं व्यवसायधर्म का अमिश्रण—

कर्म का स्वरूप 'कवयोऽप्यत्र मोहिता' के अनुसार बड़ा भ्रष्ट है। इस भाष्य से कुछ समय के लिए हमें ऐसा विचार हो जाता है कि, ज्ञानयोग अथवा ही 'कर्मयोग' की अपेक्षा एक करल मार्ग है। और न्यायतः ऐसा विचार अनुचित भी नहीं माना जा सकता। कर्म की प्रतिष्ठा अच्छी है। स्वस्वरूप से कल्याणकारी होते हुए ये अस्वल सभ्यता में अनन्त हैं। इसी ज्ञानान्तर से उत्पन्न कर्मों का भी ध्यान हो जाता है। यदि हमारे सामने एक ही वस्तु रहती है तो कभी संदेह की आवश्यक नहीं मिलता। परन्तु भिन्न भिन्न कलाकृतियों से सम्बन्ध रखते बाह्य अनेक भावों का सम्मुख अथवा ही हमारे मन को "यह कर्म कि वह, यह कि वह, उसे छोड़ कि इसे" इस अनिश्चयात्मक भाव का अनुगामी बना देता है। मतःसंभ्रिता बुद्धि "इदं वा प्राण-इदं वा इदं वा स्वाभ्य-इदं वा" इसप्रकार से अनेक शालाह्वय का व्यवसाय की अनुगामिनी बनती हुई अपने स्वाभाविक एकत्वक्षय समाधिकरूप 'व्यवसायधर्म' से- भ्रष्ट होकर मोह में पड़ जाती है।

सभी देखता एकमात्र वाक्यत्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २० मन्त्रों सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्राणों वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। म' मुख स्व., मह बनत, तप - सत्वं ये सारों मूलन वाग्व्यवस्था में ही समर्थ हैं। (इसप्रकार को वाक्यत्व अथवा मन्त्र होना है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध यह वाग्देवी (हमारे इस शब्दवाचक वाक् मय पद में 'ने करल बनाने के लिए हमारी पुकार हैं)।

— 'ते वा १।१८।

४— 'अक्षरमिति (अ०-ब-रम०-इति) अक्षरं वाग्व्यवस्थाधर्म 'अक्षरं वै वाक्' (तापब्रह्मा ४।४।१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्व्यवस्था एकान्वय किंवा अक्षरत्वम् वाग्व्यवस्था ही (विरच में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी श्रुतत्व की प्रथमता कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है अमृत की नामि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रकट होती हुई हमारे इस वाग्व्यवस्था में प्रचारे। अतएव हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्व्यवस्था को निर्दिष्ट पूर्ण करने के लिए) हमारी मार्गना पुनः।

— 'ते वा १।१८।

५— 'वी औपनिषद् पुरुष (बुद्धिनिष्ठा के लिए) प्रतिष्ठाक्षय अनुमुख्य ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्तर करता है जो वेदास्तपुष्य उक्त ब्रह्मा के लिए (बुद्धिनिष्ठाधर्म) वेदों को धर्मित करता है प्रज्ञानान्ता नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियक्षय मन एवं विज्ञाना मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश-धर्म उठी (विद्वान् मन) देव की शरण में ही मुमुक्षु बाराह हैं।

— "इति ३ १।१८।

३—किं कर्म किमकर्मेति करयोऽप्यत्र मोहिता 'मूलक संशयवाद, तथा कर्ममार्ग की आत्यन्तिक अटलता —

'एक संस्रव चरमणि विमृशानाकाशमवगाहि-ज्ञानं संशयः' इस लक्षण के अनुसार करने की "कर्म" नाम में एक ही 'चरम' (परायण) में कानूनत्व-युक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध सब कर्मों के मार्गों का समावेश हाथा है। तो "न कनक भिन्न कर्मों के समावेश में वह कर्म प्रभा की प्रकृत सम्बन्ध बना होता है। अस्मिन्मार्ग मन के साथ निरवच्छिन्न निरवच्छिन्न भी लक्ष्य-लक्ष्यनिष्ठा बन कर सम्बन्धित निष्ठा बन जाती है। सम्बन्धित निष्ठा बुद्धि (विज्ञानात्मक) अपने स्वाभाविक निरवच्छिन्न निरवच्छिन्न बन में अस्मिन्मार्ग होती हुई मार्गमूलक 'डूँ' या 'डूँ' वा' इत्यादि संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का स्वाभाविक कर्म निष्ठा कर्म-विशेष उन्निष्ठ हो जाता है। आचार्य अनुष्ठी की तीन वही वे किरात मी (जो शास्त्रों के पाठश्री विज्ञान माने जाते हैं) का अन्त समय पर कर्म के निरवच्छिन्न बनते हैं) में पड़ जाते हैं। शीघ्र-निष्ठापरायणता में किरात की चरम सीमा पर पहुँच हुए कर्म-निष्ठा के सम्बन्ध में उच्छिन्नकर्म में संशय पर सतत हुए अस्मिन्मार्ग में समाविष्ट सुख-बन्धित ध्यान से कानून के हुए चरमपत्र बुद्धि की उच्छिन्न बन जाने की मरिचिकता के मुख में मी सब हम "चरमस्थ सुखी गति" में अन्त मुनन के लिए चरम लिए जाते हैं। तो फिर चरमपत्र आचार्य अनुष्ठी के सम्बन्ध में तो टीकापत्र की गता सम्बन्धी है। अन्त, कर्ममार्ग के सम्बन्ध में हम विचार होकर 'किं कर्म किमकर्मेति कर्मयोऽप्यत्र मोहिता' इसी वाक्य पर विचार कर लेना पड़ता है।

४—संश्रमप्रधान ज्ञानमार्ग की श्रुता, असंश्रमप्रधान-कर्ममार्ग की श्रुता, तथा ज्ञाननिष्ठा-एकत्र संशय की निष्ठा—

एतन् इच्छति न विचार कर्म पर ज्ञानमार्ग होने लगे प्रतीत होता है। श्रुत ही ज्ञान की प्रतीति है। वह रत तत्त्व सम्बन्ध में मनुष्य आचार्य द्वारा दृष्टा सम्बन्ध में—एक ही शान्त है अनिष्ट है। अन्त उच्छिन्न ज्ञान का मी एकत्र निष्ठ हाथा है। अन्त सम्बन्ध में सबका संशय शून्य है। संशयमूलक कर्म के सम्बन्ध में ही ज्ञान कनक बागवती में प्रवेश होता है। अन्त स्वाभाविक निरवच्छिन्न (रतमपत्र) से प्युन होता है। आचार्य कर्ममार्ग (कर्ममार्ग) की श्रुता में अन्त बन जाता है। इसी निरवच्छिन्न के निराकरण के लिए अन्त (शान्त) निष्ठ-योगियों के कर्म के प्रवेश का आदेश निम्न। उनके आदेश का तात्पर्य यही है कि कनक मुख लोचन कामनामय कर्मों में प्रवेश रहो। तब तक कर्ममार्ग की मरिचिकता ज्ञानमार्ग में समाविष्ट का ही कारण बना रहता। कर्म ज्ञान का निराकारी पन्थ है। उनके मार्ग में कमी ज्ञान अन्त निरवच्छिन्न समाविष्ट-मार्ग में प्रवेश नहीं होता। नरकमार्ग उन स्वाभाविक के ज्ञान के लिए हुए निरवच्छिन्न के ज्ञान ज्ञान के साथ लगी हुई इच्छा के लिए कर कर्म की चरम-स्थिति में ही प्रवेश करना पड़ेगा। हम निरवच्छिन्न-मार्ग ज्ञानमार्ग (शीघ्र के द्वारा संश्रमित चरमपत्र 'ज्ञानबुद्धि' या 'निरवच्छिन्न ज्ञानमार्ग) में-कर्ममार्ग में प्रवेश। कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग निरवच्छिन्न हाथा-गता रत कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग एकत्र। और यह ज्ञान एकत्र के कारण निरवच्छिन्न का प्रवेश बनता हुआ मार्ग-मार्ग का आन्त निरवच्छिन्न प्रवेश बन जाता है।

५—स्थूलरूप्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मरूप्या ज्ञानमार्ग की जटिलता, तथा—‘दुर्ग पथस्तत् कवयो बद्धति’ का संस्मरण—

इस प्रकार कुछ समय के लिए कर्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता है। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं तो यह मार्ग भी कम बटिला प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। यथार्थ कामना (इच्छा) है तभीतक कर्म में प्रवृत्ति है। कर्म कभी निष्काम बन जाय यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण मयम के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंशिल् अनुगमन किया जासकता है और इस संयमलक्षणा तपश्चर्या से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि ‘मम इच्छा-निरोध-संयम से—‘विषया विनिवृत्तस्ते निराहारस्य वैद्विनाः रम्यञ्ज रमोऽयस्य परं इच्छा निवृत्त त’ इस गीताविद्वान्त के ही अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के बादशपाय से निष्कम भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी कन्धनमुष्टि का कारण बनता हुआ भी कर्ममार्ग की प्रशंसा में कभी कोई महत्व नहीं रखता। माना कि—गीता के संशोधित कर्ममार्ग में भी आत्मा का बंधन नहीं है। फिर भी वहाँ कर्म का पलका मारी है। और फिर कर्म कर्म है नानामात्रों से नित्य आक्रान्त है। अतएव यह पराशान्ति (आध्यात्मिक विद्या प्रत्ययगात्मशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इधर ज्ञानयोग पराशान्ति का अनुगामी अक्षर्य है। परन्तु संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्मों में लित रहते हुए, प्रसिद्ध राजशाहों के कुचक से ज्ञानापेक्षित देश-आस्तति नाभनों के विरह में कभी जानानुभावी अपनी ज्ञानचर्या में लक्षण नहीं ईलकता। “छुरस्य घातर निशिता दुरस्यया दुर्ग-पथस्तत् कवयो बद्धति यह सुष्ठि कर्ममार्ग की मांति ज्ञानमार्ग की ही छर की तीक्ष्ण बाप मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६—ऐन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-मात्रों की अनिवार्यता, एवं स्वामाविक कर्मों की अनिवार्यता का दिग्दर्शन—

माननीयिए राष्ट्र आप का है ज्ञाप पूर्ण-वस्तुत्व है ज्ञानयोग नाभन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण नाभन परिग्रह भी प्रस्तुत है। फिर तो कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की उत्कर्षता विद्वद् होगी। मगवान् करते हैं—नहीं। त्रिप्रकार आत्मा का स्वामाविक कर्म ज्ञान एवं निष्कामकर्म है एवमव इन्द्रियों का स्वामाविक धम्म विषय ग्रहण और परिग्रहण है। त्रिप्रकार आत्मा के स्वामाविक धम्मों का हम निष्काम नहीं करसकते बल्कि निष्काम में ज्ञान के स्थान में हानि ही उठानी पड़ती है एवमेव परादमल अतएव निष्काम-वराधन इन्द्रियों के स्वामाविक धम्मों का भी हम निष्काम नहीं करसकते एवं बलान् निष्काम करने से हानि ही उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वामाविक धम्मों के निष्काम में कोई धृष्ट नहीं है। बलुके खमने की वस्तु आजापनी, अक्षर्य वस्तु उनकै रूप का ग्रहण कर लेगा। राष्ट्र आवण भौतन्द्रिय अक्षर्य पकड़ लेगी। अन्य आवण धागन्द्रिय कभी बद्धि न रहगी। स्पष्ट होगा तर्गिन्द्रिय अपने अनुभव से राज्य में रहगी। आप न में करने ही रहें पण्डु मात्राजर्षी कभी अपने इन्द्रियापननों के स्वामाविक लक्ष्य से बद्धि न देंगी। एक ही।

३ — किङ्कर्षं किपङ्कर्षेति करयोऽप्यत्र मोक्षिता 'मूलक संशयवाद, तथा कर्ममार्ग
स्वीभात्यन्तिक प्रतिलता -

एकस्मिन् धम्मणि बिमुत्तानागोच्छवगादि-ज्ञानं संराव" इस वाक्य के अनुसार करने से 'धम्म' नाम से एक ही 'धम्म' (पदार्थ) में कथानन्वय-प्रसक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध सब अनेक भाषी का-कथाबरा हो जाता है तो इन अनेक विरुद्ध धर्मों के समावेश से वह धम्म प्रज्ञा की विरुद्ध कथक्य बना देता है। अग्रियधम्म मन के साथ मिल्यगुता स्थिरबुद्धि की लब्ध-लब्धतामिका मन पर प्रत्यक्षबोधिता बन जाती है। अग्रवलायकका बुद्धि (विज्ञानात्मा) अपने स्वामयिक निरवधारकनिर्णय करने में अत्यन्त दोषी हुई प्रोत्पन्नक "इदं वा इदं वा" इत्याकारक संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का सम्यक् कथक्यक्य-विशेषक उच्छिन्न हो जाता है। वाधारक कथुछी की कान की से कथिमा की (वा) शब्दों के वादार्थी विज्ञान माने जाने हैं वा अत्यन्त समग्र पर धर्म के निर्वाचक बनते हैं। प्रोत् में पड़ जाते हैं। दीपदी-कथारवध-केला में बहिर्बुद्धि की धम्म लीमा पर प्रसक्त हुए कथक्य-निर्णय के समग्र में उच्छावककथन में शररुम्य पर सने हुए अग्रिधम्म से अग्रिधम्म बुद्ध-जनित क्षोभ से कथान्त होने हुए धर्मरुद्ध बुद्धि की उपपन्न होने वाले यौगमिधम्म के मुख से भी सब इस "धम्मस्य सूक्ष्मा गतिः" य अक्षर सुनने के बिना धम्म दिए जाने हैं तो फिर अग्रिधम्म नाधारक अनुसंधान के समग्र में तो दीपदीमयी गमना व्यर्थ ही है। कथन-धर्ममात्र के कथक्य में होने विषय होकर "किञ्चिन्म किमप्यर्थं कथयामि" आदिता इसी वाक्य पर विषय कर लेना पड़ता है।

४—सूक्ष्मप्रधान ज्ञानमार्ग की श्रुति, असूक्ष्मप्रधान-कर्ममार्ग की श्रुति, तथा ज्ञाननिष्ठ-तत्त्व स मशय की निश्चिती—

[illegible]

५—स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की बटिझता तथा—‘दुर्गे पयस्तत् कवयो वदन्ति’ का संस्मरण—

इसप्रकार कुछ समय के लिए कर्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता है। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं तो यह मार्ग भी कम बटिझा प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। वस्तुतः कामना (इच्छा) है तमीतक कर्मों में प्रवृत्ति है। कर्मों की निष्काम बन जाय, वह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण सधर्म के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंभित् अनुगमन किया जासकता है और इस संयमलब्धता उपरज्यो से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि ‘स इच्छा-निरोध-लक्षण संयम से—‘विपश्चा विनिवृत्तते निराहारस्य वैहिनिः रम्यज्ज रमोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते’ इस गीताविद्वान्त के अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के बाधणारा से निष्काम भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होता कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी कचनमुक्ति का कारण बनता हुआ भी कर्ममार्ग की तुलना में कमी काई महत्व नहीं रखता। माना कि—गीता के संशोधित कर्ममार्ग में भी कामना का कचन नहीं है। फिर भी वही कर्मों का फलका भारी है। और फिर कर्मों कर्मों हैं नानामात्री से नित्य आक्रान्त है। अतएव वह पराशान्ति (आध्यत्मशान्ति किंवा प्रत्ययगामशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इसरतानयोग पराशान्ति का अनुगामी आवश्यक है। परन्तु संसार में रहते हुए, संसारिक कर्मों में लिप्त रहते हुए, प्रतिकूल राक्षशात्मों के कुचक्र से हानोपधिक देश-आलां साधनों के विरह से कमी जानानुप्राप्ती अपनी ज्ञानकर्मों में उलझ नहीं दीसकता। ‘दुर्गे पयस्तत् कवयो वदन्ति’ यह सक्ति कर्ममार्ग की मति ज्ञानमार्ग की ही क्षुर की वीक्षण बाध मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६—एन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-मात्रों की अनिवार्यता, एवं स्वामाविक कर्मों की अनिवार्यता का दिग्दर्शन—

मानवीविए राष्ट्र आप का है आप पूर्ण-स्वतन्त्र हैं ज्ञानयोग साधन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण साधन परिग्रह भी प्रस्तुत हैं। फिर तो कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की उत्कर्षता सिद्ध होगई। मगवान् कहते हैं—नहीं। जिसप्रकार आत्मा का स्वामाविक कर्मों ज्ञान एवं निष्कामकर्मों है एवमेव इन्द्रियों का स्वामाविक कर्मों नित्य ग्रहण और परिस्थान है। जिसप्रकार आत्मा के स्वामाविक कर्मों का हम नियन्त्रण नहीं करसकते वस्तुतः नियन्त्रण से लाभ के स्थान में हानि ही उठानी पड़ती है एवमेव पराक्रम्य अतएव नियन्त्रण-पराम्य इन्द्रियों के स्वामाविक कर्मों का भी हम नियन्त्रण नहीं करसकते एवं वस्तुतः नियन्त्रण करने से हानि ही उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वामाविक कर्मों के नियन्त्रण में कोई मूल्य नहीं है। बसुके सामने जो बसु आभासगी, अवश्य बसु उसके रूप का ग्रहण कर लेगा। राष्ट्र आभासा भोनेन्द्रिय अवश्य पकड़ लेगी। फल आभेगा प्रायेन्द्रिय कमी बधित न रहगी। स्पर्श होगा स्वर्गिन्द्रिय अपने अनुभव से राज्य न रहेगी। आप न न करते ही रहें परन्तु मात्रास्पर्श कमी अपने इन्द्रियात्मन्त्री के स्वामाविक लक्ष्यो से बधित न होगी। एक दोरा।

७—इन्द्रियदमनरूप आत्महनन, तदनुगत ज्ञानमार्ग, एवं अजिततम ज्ञानपथ, आर
तमिषधन मनोविज्ञान का समन्वय—

आत्मप्रकाश से ही प्रकाशित इन्द्रियों का दमन आत्महत्या से कम महत्त्व नहीं रखता। उस महात्मन
के मानने पर ही इस पाठक को उपेक्षा भी कर ही जाय तब भी ज्ञानयोग कर्मयोग की अपेक्षा भेद, एवं
मर्यादा नहीं मानता बालकता। विषमों ब्रह्मणकार से इन्द्रियों का संकषम करना पड़े लोचविमृष्टि का सर्वपा-
परिवाग करना पड़े उस मार्ग की बलिहारी तो सहस्रविध ही है। अथ प्रश्न रह जाय है—किंवा भेदका,
एवं समान्यमात्र का। कर्मवाद का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि-विश्व वस्तु से हम अधिक भय
करते हैं वह वस्तु हमें अधिक डराती है। एवं जिससे हम भय नहीं करते वही वस्तु हमारे मैत्रीपूर्ण व्यवहार
से काष्ठान्तर में "माया" कायकमान बन जाती है। मनोविज्ञान-सिद्धान्त भी इसी तथ्य का समर्थक है।

८—मात्रात्म्यशोभा की सिद्धि, आर अमयमान—

नगर में रहने वाली जनिक सावधान्यवादी (नू) से भयवस्तु रहते हैं। प्रतिज्ञात उल्लेख वस्तु रहते हैं।
परिष्कार इत्यादि यह होता है कि उनका शरीर इस आकस्मिक को गहने में अन्तर्गत होता हुआ शक्तिरहित
बन जाय है। सन्तुष्टन का प्रभाव भी नहीं रोका जा सकता चाय ही शरीर का भी बहुपानयोग (दिग्गी)
में बन करके नहीं रक्खा जा सकता। उधर ग्राम में रहने वाला एक हृदय पानी-भूष आका आदि तब कुछ
सहता हुआ भी हमारी अपेक्षा रखता है। उस में प्रकृति के इन माधुर्यपूर्ण में सिद्धि (रहने की शक्ति)
उत्पन्न करती है। यह सिद्धिज्ञानमार्ग ही उसे निर्मल बनाने में अमर्ष हुआ है।

९—विशेष दोषाक्रान्त ज्ञानमार्ग की अजितता आर उस की अवरकवानुगति—

सिद्धिज्ञानमार्ग रहते हुए आत्मा को निष्कामबुद्धि से कर्म में प्रवृत्त रहने दी। अन्तर्कर्म में सुप्रेक्षित
रहने "अन्तर्कर्म" भी सुप्रेक्षित रहेंगे लोचनमार्ग भी प्रसिद्धि रहता एवं विना क्लेश के इस कर्मयोग से वह
कुछ बन अमय। उधर अवरकलेश का मात्रात्म्य लोचनमार्ग का अभाव मानव संस्कार से अधिक कष्टन
की सम्भावना विस्मयानुसिद्धि का प्रभाव अमयपरम्पराओं का आकस्मिक आदि आदि अनेक दोषों
से युक्त मानवीय आचरण ही अवरकलेश का पात्र रह जायगा।

ज्ञानयोग में भी अनेक विपश्चिन्तिका कर्मयोग भी बलिहारी से शून्य नहीं, इसी विषय अमय
को अमयिक करने के लिए माधुर्य में योगी अविश्रययोग का अर्थ हुआ।

१०—ज्ञान-कर्मों-अयात्मक 'भक्तियोग' का संस्मरण—

'भक्तियोग' में ज्ञान-कर्मों की का अमय रक्खा गया। कुछ ज्ञान का माग सिद्ध
मया कुछ कर्मों का माग सिद्ध मया दोनों मागों में व्यपक्षित यह योग 'भक्तियोग' कहा जाय। उस
कर्मों विषय, अमयज्ञान की कल्प में रक्खा अमय शरीरक आत्मज्ञाने विना हृदय प्रवणमया की मानी पर।
भी कुछ किया निष्काममार्ग से ईश्वरार्पणबुद्धि से। वही भक्तियोग कहा जाय। 'ईश्वरपुनःपुनः' ही
इत्यदि रहस्य कहा जाय है—कि प्रथमपदार्थगत गीता का बुद्धियोग नामक प्रकरण में निम्नर से
कहा जाय है।

११- 'मक्तियोग' का सहज साधन—

ज्ञान प्रायोगिक पदार्थ बनता हुआ आधिदैविक है कर्मों ऐहलोकि पदार्थ बनता हुआ आधि-
मौलिक है। मक्तिकाएह में आधिदैविक ज्ञान साध्य है एवं आधिभौतिक कर्मों साधन है अतएव इसका
साधन निम्नलिखित माना गया—

‘ श्रम मार्ग में साधन आधिभौतिक हों, साध्य आधिदैविक हों, दोनों की समष्टि
रूप वही मार्ग मक्तियोग है ’

१२- 'मक्तास्तेऽवीर मे प्रियाः' का संस्मरण, और भक्तियोग की श्रेष्ठता—

कर्म-मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ केवल ऐहलोकि था। ज्ञान
मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिदैविक बनता हुआ प्रायोगिक था। एक में कर्मसक्ति थी दूसरे
में ज्ञानासक्ति थी। अतएव अर्थात्मना दोनों योग क्रियमये। इधर मक्तिमाग में आधिदैविक ज्ञान तथा
आधिभौतिक कर्मों दोनों का समावेश है अतएव वहाँ समता की प्रभावना है। न ज्ञानासक्ति है न द्वेषा-
स्पृष्टि है। अतएव यह योग राग-द्वेष-विरहित वैराग्यबुद्धियोग के समप्रारम्भ पर प्रतिष्ठित होकर हुआ
वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ मगवान् का प्रिय योग बन रहा है—“मक्तास्तेऽवीर मे प्रियाः ।

१३- ज्ञान, कर्म, मक्ति, आत्मा ब्रह्म, आदि भावों का संस्मरण, एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा-सूत्रों का समन्वय—

निष्कर्ष वही हुआ कि ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों में ज्ञान-कर्म एक भेदि की वस्तु है एवं भक्ति
दूसरी भेदि की वस्तु है। यह क्योंकि वैराग्यबुद्धियोग की अनुवायिनी है अतएव भक्तियोग और
बुद्धियोग इन दोनों की हमने एक भेदि में प्रतिष्ठित मान लिया है। पाठकों को स्मरण होगा कि
हमने ज्ञानयोगपरीक्षाप्रकरण के आरम्भ में यह कहा था कि—‘वद्यपि प्रचलित क्रमानुसार कर्म के अनन्तर
भक्ति का ही निरूपण आवश्यकता वा परन्तु किसी आवश्यकयोग से ही कर्मयोगानन्तर भक्ति का निरूपण न
कर पड़िते हमें ज्ञानयोग का ही विवेचन करना पड़ा है। यह विशेषकारण भक्ति के उत्तम स्वरूप से स्पष्ट
हो जाता है। चारों निष्काशों में ज्ञान-कर्म एक भेदि में रहने योग्य हैं एवं भक्ति तथा बुद्धि दोनों एक
भेदि में रहने योग्य हैं। इसी आधार पर इस परीक्षासूत्र के भी दो विभाग करना आवश्यक समझ
गया है। ज्ञान-कर्म-भक्ति-बुद्धि के चारों योग आत्मा के लिए विहित हैं। ऐसी दशा में सबसे पहिले
आत्मा का स्वरूप जानना आवश्यक होता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम वर्तान
एवं विज्ञान-दृष्टि से ‘आत्मपरीक्षा’ की गई। वर्तान का ज्ञान सं सम्बन्ध है एवं विज्ञान का कर्म
से सम्बन्ध है। फलतः यह जानने की विज्ञास्य हुई कि ज्ञान नामक ‘ब्रह्म’ क्या है विज्ञान नामक-‘कर्म’
का क्या स्वरूप है एवं ब्रह्म-कर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है। इसी विज्ञास्य की शान्त करने के लिए
आत्मपरीक्षा के अनन्तर ब्रह्म-कर्म की परीक्षा की गई। ब्रह्म का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है एवं कर्मों
का कर्मयोग से सम्बन्ध है। इन दोनों के स्वल्प परिचय के लिए ‘ज्ञान-कर्मयोग’ की परीक्षा आवश्यक
प्रतीत हुई। प्रचलित दृष्टि के अनुसार वद्यपि ज्ञानयोग ऊँची भेदि में प्रतिष्ठित है एवं कर्मयोग आवश्यक

में। इस दृष्टि से ज्ञानयोग का ही पहिले विचार होना चाहिए था। परन्तु गीता की दृष्टि में (तयास्तु कर्मम-यामान् कर्मयोगो विशिष्यते) दोनों में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग ही विशेष है। इसी विशेषता के लक्ष्य में रखकर पहिले कर्मयोगपरीक्षा की गई अनन्तर ज्ञानयोग की भीमात्म की गई। ज्ञान-कर्म मय आत्मा आत्मा के ब्रह्म-कर्म नामक दोनों अवयव ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानयोग कर्मसम्बन्धी कर्मयोग से पाये हैं। ब्रह्म-कर्म विमृष्टि से आद्यन्त है। अतएव आत्मपरीक्षा ब्रह्मकर्मपरीक्षा कर्मयोगपरीक्षा ज्ञान-योगपरीक्षा इन चारों की समष्टि का एक स्वतन्त्र सङ्ग्रह माना गया। 'मक्तियोग' यद्यपि प्राचीनों के मतानुसार कर्मयोग से पीछे की एवं ज्ञानयोग से पहिले की कस्तु बनता हुआ मध्यमभेदि की कस्तु है। परन्तु ज्ञानकर्म-समन्वय के कारण गीता की दृष्टि में मक्तियोग ज्ञानावेद्यता विशेष एवं कर्मयोग की अपेक्षा से भी उन्नत बनता हुआ ज्ञान-कर्मयोग-सम्बन्ध से बहिर्भूत है। अतएव इसे स्वतन्त्र माना गया। बुद्धियोग इसका अनुपादक है बुद्धियोगपरीक्षा ही गीतासारपरीक्षा है। इसी दृष्टि से मक्तियोगपरीक्षा बुद्धियोगपरीक्षा गीतासारपरीक्षा इन तीनों प्रकरणों का एक स्वतन्त्र सङ्ग्रह माना गया है। यह प्रकरण प्रधानतया से मक्तिहास्य की परीक्षा करने के लिए ही प्रारम्भ होया है। इस मूल प्रस्तावना से हमें कल्याण केनय यही है लक्ष्य-प्रयत्नित जिन तीन निष्ठाओं का भगवान्ने गीता में संशोदन किया है उन तीनों में ज्ञानयोग अवसरकाल में कर्मयोग इसकी अपेक्षा विशेष एवं मक्तियोग इसकी अपेक्षा भी अधः है। दोनों की अपेक्षा बरकरार मार्ग है। रात्रमार्ग है। इसीलिए गीता में यह लेख्यव्यक्तसङ्ग्रह मक्तियोग 'रात्रयोग' नाम से प्रचलित हुआ है। परन्तु गीता के बुद्धि का मार्ग तो रात्रमार्ग से भी श्रेष्ठ रात्रिर्मार्ग है। अतएव व आत्मयोग 'रात्रियोग' नाम से प्रसिद्ध है। वैयक्ति पाठक आदि के प्रकरण में देखेंगे।

इति किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

१



श्री

इति—भक्तियोगपरीक्षायां—पूर्वखण्डे—
किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१



श्री

अथ—भक्तियोगपरोक्षाया—पूर्वखण्डे—

योगत्रयी का मौलिक विचार

२



श्री

इति—भक्तियोगपरोक्षाया—पूर्वखण्डे—

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१



२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का ममन्त्रय, एवं प्रकृतिसम्पत्ता जीवनपद्धति का अम्युदय—नि श्रेयस्—माय—प्रवर्धकम्—

बसतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता तबतक उस की उपयोगिता अनुभवयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। एवं बिना एम मौलिक निर्णय के केवल आभासदा से अपनाए हुए माय एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अम्युदय (ऐहलोकिक सुख) किंवा निःश्रेयस (पागलोकिक आनन्द) के प्रवर्धक नहीं बन सकते। माय ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षिों का) यह भी कहना है कि जो कर्म जो ज्ञान जो मति अपवा जो कुछ हस्तर माय प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते बिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है वे माय (करने भर के लिए) कुछ समय के लिए भूलदृष्टि से उपयोगी भिन्न होत हुए भी कभी स्थायी अम्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही विहताकम्पात हम प्राणियों की बन्धदात्री है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। जन्म में हम उसी के हाथ में लदा के लिए विग्राम कर लेते हैं। प्रमद-प्रतिष्ठा-प्रकाशजनकता ऐसी प्रकृति की अपेक्षा कर हम किसी भी दृष्टि में तुनी नहीं रह सकते।

२—मच्चिन्तनन्दधन आत्मा का अशमूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की काम—नाश्रयी का संस्मरण—

प्रकृति देवी से निच समन्वित स्थापक आ मानन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दधन के ही एक चिन्तनिय (चिन्तयत्री) हैं। हम उसी चिन्तन के चिन्तक हैं। उन मत्तापन से ही हमारी स्वल्पमत्ता प्रतिष्ठित है। आनन्द चिन्तन-मत्तापक क्षीयमानन्द के अशमूत बीजारमा का इनके अतिरिक्त आर का पुनर्गर्त होनरता है कि, यह नित्य सुखी रहे उसमें ज्ञान (चिन्) का पूर्ण विकास रहे एवं यह अग्नि-लक्षय मौलिकधन से पूर्ण धनवर्धकतापी बना रहे। आनन्दकामना मी स्वाभाविक है ज्ञानकामना मी स्वाभाविक है ॥ मत्तापककामना मी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनाशयी की पूर्ण के लिए प्रत्येक मनुष्य जन्त प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्विचार है कि, जकनक अपनी इस वह स्वाभाविक कामना के पून में स्वाभाव (प्रकृति) की प्रतिष्ठित नहीं कर देता तबतक उनकी कोई भी कामना नाल नहीं होती। कामनामना का मूलद्वार प्रकृति ही है। प्रकृति म चिन्त आत्मा ही अम ० होता हुआ मी जन्म धारण

ॐ अत्रोऽपि समुपपत्त्या भूतानामीश्वरोऽपि मन् ।

प्रकृतिं स्वामपिच्छाय सम्मवास्यात्ममायया ॥ (गी० १५।६) ॥

२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकवैश्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिमम्मता जीवनप्रवृत्ति का अम्युदय-निःश्रेयस्-भाव-प्रवर्धकत्व—

जबतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता तबतक उस की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। एवं बिना इस मौलिक निर्णय के केवल अज्ञानमयता से अपनाए हुए भाष एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अम्युदय (एहनीविक सुख) किंवा निःश्रेयस् (पारलौकिक आनन्द) के पवसक नहीं बन सकते। साथ ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षिवा का) यह भी कहना है कि जो कर्म जो ज्ञान जो यष्टि अथवा जो पुण्य इतर भाष प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते जिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है वे भाष (करने भर के लिए) कुछ समय के लिए भूतदृष्टि से उपयोगी दिख होने हुए भी कभी स्थायी अम्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही विज्ञानावस्थापन हम प्राणियों की बमराजी है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। अन्त में हम उन्हीं के लोड में लडा के लिए विमान कर होते हैं। प्रमथ प्रविष्टि-प्रकाशयनरुपा ऐसी प्रकृति की उपज्ञा कर हम किसी भी दृष्टि से सुधी नहीं रह सकते।

२—संविधानन्दपन आत्मा का अशुभ मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की काम-नाश्री का संस्मरण—

प्रकृति देवी से निरव नमनित व्यापक आत्मानन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दपन के ही एक किन्दसिंग (चिनगारी) हैं। हम उन्हीं चिन्चन के चिन्कण हैं। उस लघवन में ही हमारी स्वस्वतता प्रतिष्ठित है। आनन्द-चिन्त-मत्तात्मक तथिब्रह्मण के अशुभ बीबतमा का इसके अतिरिक्त और क्या पुशार्थ होलकता है कि वह निरव सुधी रहे उन्में ज्ञान (चिन्) का पूर्ण विधान रहे एवं वह अन्ति-मकाल मोतिद्वय में पूर्ण ऐश्वर्यशाली बना रहे। आनन्दकामना भी स्वाभाविक है शान्तकामना भी स्वाभाविक है एवं ऐश्वर्यकामना भी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनाश्री की पूर्ति के लिए प्रत्यक मनुष्य लाल प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्बिचार है कि जबतक आपसी इस वह स्वाभाविक कामना के मूल में स्वभाव (प्रकृति) की प्रतिष्ठित नहीं कर लेता तबतक उन्हीं की भी कामना नराल नहीं होती। आनन्दकामना का मूलद्वार प्रकृति ही है। प्रकृति न वंष्टत आत्मा ही अम ० होता हुआ भी अन्य भाष

० अजोऽपि सधम्यपात्मा भूतानामीश्वरोऽपि ननु ।

प्रकृति स्वाधियेष्टाय सम्मशाम्याम्ममायया ॥ (गी० ४।६।) ॥

प्रकृतिक-उत्खनन की खरम धीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाले भी हमने आन प्रवृत्ति को एक परिहास की ही सामग्री बना डाली है। पद पद पर आन हम प्रकृति की खोज करते हैं परन्तु काम सब प्रकृति के विरुद्ध ही करते हैं। भिन्ने देखो वही आन प्रकृति का पूरा परिहास बना हुआ है। यह काम नेचर के विरुद्ध है — यह सब केवल आह्वान है — 'मनुष्यता का लक्ष्य है कि वह इन नेचर के विरुद्ध कामों से परहेज करे ऐसे घेरे आदर्श मान्यो का उपयोग किया जाता है एकमात्र भारतीय ज्ञान-कर्म-मार्ग-योगों के सम्बन्ध में। क्या हम उन प्रकृतिमत्ताओं से यह पूछते कि गृहता कर सकते हैं कि भीमन् ! जाते पीते उठते बैठते चलते निरते अहर्निश जिस नेचर के आप गुणगान करते रहते हैं क्या कभी स्वप्न में भी उस नेचर का स्वरूप जानने के लिए आपकी ओर से कोई प्रयास हुआ है ? प्रकृतिस्वरूप क्या है ? प्रकृति कब कैसे कहाँ क्या उत्पन्न करती है ? क्या इन प्रश्नों की आपने कभी मीमांसा करने का बह उठाया है ? किम युग में प्रकृति का ऐसा स्वरूप हो जाता है ? देश-काल-वात-द्रव्य आदि के कारण से एक ही प्रकृति के कैसे-कैसे विविध रूप हो जाते हैं ? क्या कभी आपने इस सम्बन्ध में कोई निर्याय प्रकाश करने का अनुग्रह किया है ? यदि हाँ तो जानने की जिज्ञासा है। भूलें हुए माध्वीयमहिर्षि उनही रचनाएँ (शास्त्र) एक ठानुगामी हमारे जैसे आचार्यवत्स भारतीय आप का उपकार मालंगे। यदि नहीं, तो फिर आप को अपनी जिज्ञासा के लिए उही भारतीय श्रुतियों की शरण में जाना पड़ेगा। परन्तु ध्यान रखिए ! आप की वह शरणागति भक्तिभाव को प्रधान मान कर ही करना होसकेगी। यदि आपकी भावना धृष्टि है यदि पहिले से ही आपने— 'हम को कुछ जानते एवं करते हैं वह बावन तोला पाव रची है प्रकृति सिद्ध है' इस आदिम भवेष्ट (बुद्धि-वैदिकता) का अनुगमन करते हुए अज्ञानमयी भक्ति का परिष्कार कर आपने आप को अमृत बना रक्खा है तो उत्कृष्ट आपके सामने भगवान् कृष्ण का 'नामस्मय कथाचन' यह आदेश उपस्थित होजायगा। एक उस समय आपको निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। यदि भक्तिमत्ता विहास है तो आपका वही हृदय से अभिन्न है। फलस्वरूप प्रकृति का निम्नलिखित दार्ष्टिक स्वरूप आपके सामने उपस्थित है।

६—श्रुतिप्रधानागत शब्दविन्यास एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्बचन-प्रणाली का मस्मरण—

आर्य महर्षियों के परिमार्जित, श्रेष्ठतम अतएव सर्वथा प्रामाणिक ज्ञानवैभव का सबसे बड़ा चमत्कार है—उनका शब्दविन्यास। उन्होंने जिस लक्ष के म्यहीकरण के लिए वो शब्द कहे हैं उन शब्दों में ही वह लक्ष निगूढ है। यदि सत्तत् लक्ष प्रतिपादक लक्षण शब्दों का ही हम निर्बचनदृष्टि से अध्ययन करने लग पड़ते हैं तो वे शब्द ही उन लक्षों का स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। शब्दब्रह्म का सम्यक् परिज्ञान ही सत्य लक्षण परब्रह्म के ज्ञान का लिए पर्य्याप्त है। जो लक्ष विश्व का मूल कारण है—उसके लिए श्रुति-सम्प्रदाय में प्रकृति प्रधान नियति अत्यन्त अचर अमृत कारण बसु, मूलमात्रा का अन्तर्धामी परा मूल इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत में इन सभी शब्दों का तो निर्बचन नहीं किया जासकता। उदाहरण के लिए तीन बार शब्दों का निर्बचन ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

७—‘प्रकृति’ शब्द के ‘प्र’ और ‘कृति’ भाव प्रकृतिमूलक ‘दैवात्’ शब्द, एवं तत्सम्बन्ध म विविध भ्रान्तियाँ —

पहिले ‘प्रकृति’ शब्द की ही नीधिए। ‘कृति’ शब्द का अर्थ सर्वविदित है। “यह अमुक व्यक्ति की कृति (कार्य-रचना) है” यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविदितता म प्रमाण है। लोक में जितने भी यह चेतन पुराने हैं उन सबका हम “कृति” कह सकते हैं। म सब प्रकार कार्यरत हैं। कार्य बिना कारण के संभवा अनुपपन्न है यह भी निःसंशय सिद्धान्त है। हाँ उस कारण का हमें ज्ञान न हो यह दूसरी बात है। उसी अज्ञान कारण के बिना संस्कृत साहित्य में ‘वैबाल’ शब्द प्रचलित है। प्रकृतितत्त्व के संचालक प्रकृतिरूप रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द-भाषाओं से ऋतीय सूक्ष्म तत्व ही “माय” नाम से प्रसिद्ध है। इन सूक्ष्म प्राणों की अप्रतिपिठर वेग-गम्यत्व अमुर आदि अनेक जातियाँ हैं। इसी प्राणों के समन्वय-सारत्व से सृष्टि में विविध प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं। इन प्राणदेवताओं का व्यापार हमारे चर्मरन्ध्र से भी की करते हैं। जिस प्राणदेवता के जिस व्यापार से भूकम्प होना या न हो हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। देवता के द्वारा होने वाला कृतिकर्म भूकम्प व्यवस्था ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु जिस प्राणरत्मक (देवतात्मक) कारण से इस कृत का कर्म हुआ है वह कारण हमारी ज्ञान-क्षीमा से बाहर है। परन्तु हम इस कम्पन में भी वह व्यवस्था ही कह सकते हैं कि देवता (प्राणदेवता के द्वारा) ही ऐसा हुआ है। किन्तु ही भारतीय विद्वान् दैवात् का अर्थ “यो ही” किया करते हैं। इस “यो” से वह भक्ति निकलती है कि, कारण कुछ न था ‘अकस्मात्’ ऐसा होना। परन्तु विद्वान् दृष्टि से वह भक्ति अशुद्ध है। अस्वकारणम विषय म कोई भी परिवर्तन भी ही नहीं होना करना। व्यवस्था ही प्रत्येक कार्य का कारण होता है। शास्त्राद्या में हम उस कारण का स्वरूपों से अभिन्न करने में समर्थ होजाते हैं। किन्तु अज्ञातवस्था में दैवात् को उपस्थित कर देते हैं। यद्यप्य ज्ञात-अज्ञात दोनों ही कारण प्रकृतिकर्म करते हुए वैबालक है। परन्तु ज्ञातवस्था में वेबप्राण के व्यापार स्वरूपमृत बन जाते हैं ज्ञात। वही देवताशब्द का व्यवहार न होकर स्वरूपमृत का व्यवहार होने जाता है। किन्तु अज्ञातवस्था में विद्युत् देवत्ववहार प्रभाव बन जाता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करने वाला हमारा ‘वैबाल’ शब्द है। दैवात् का अर्थ ‘यो ही’ कैसे बन गया, “यमें भारतीयों का अपना कोई देव नहीं है। अतः यह संज्ञा की कृपा का ही फल है। प्रत्येक कार्य में कारण होने का अभिमान करने वाले परिषदों विद्वान् एवं लघुनामी उच्चिष्ठ मीमांसी भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने बीमूढ से ‘वाइबालन्स’ शब्द का उपयोग कर दिया करते हैं। उनकी दृष्टि में ही वाइबालन्स का ‘यो ही’ अर्थ है। ये “त पवित्र शब्द का उपयोग कर करते हैं”, यह भी एक उदाहरण से देव कीर्तिए।

८—संस्कृत विद्वानों की ‘अकस्मात्’ मूलतः ‘दैवात्’ शब्द निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तमिराकरस्य—प्रयाम—

शास्त्राचार्यवैद्यों का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य के लिए अपने घर से निकलता है और माग में मागबाँ (विष्णु) मार्ग काटती है तो उसे आपत्त होने जाना चाहिए। यदि वह भक्तिपूर्वक रूप से जाता तो उल्टा भविष्य होनापना। ऐसे उदाहरणों का उक्त आचार्य न मानने से

कीर्ति अनिष्ट हो जाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, लो तुमने शाय् भी ध्याना नहीं मानी इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल बाद चाम्पवारी यह उठता है कि अभी जाने भी दो इन बातों में क्या रक्का है। कहीं किसी लापने से भी अनिष्ट हुआ है। यह तो बाह्यबन्ध ऐला हो गया है। तब इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन बाह्यों को नहीं मानस उनका हम कीर्ति भी अनिष्ट नहीं देखते। भाष ही मानने वालों में से भी कितने एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे किसी लाप जाने हैं परन्तु उनका पुत्र भी तो अनिष्ट नहीं होता। केवल इसी तर्कवाद के आधार पर भाष इन महानुमाओं की ओर से भारतीय शङ्खनशास्त्र को निम्नूल बनाने की चेष्टा की बरही है। वे यह मूल बातें हैं कि, मार्गीय शास्त्र भारतीय शास्त्र है प्रकृतिशास्त्र है दिव्यमायामूलक अतीन्द्रियशास्त्र है। वह भीतिक इष्ट अनिष्ट की ही यह अनिष्ट नहीं मानता। अतिष्ठ इसके साथ यह अक्षयत देवनिष्ट-इष्टता की ही विशेष महत्व देता है। यदि एकमात्र उन्परायणता ही इनका इष्ट होता साथ ही केवल शारीरिक-दानि ही अनिष्ट होता तो अवश्य ही ऐसे अवसरों पर उनका बाह्यबन्ध शङ्ख प्रयुक्त होकरता या। कार्यकारणवादी एक वैज्ञानिक की दृष्टि में 'यी ही' अनिष्ट से सम्बन्ध रखने वाले बाह्यबन्ध शब्द का कर्त्तव्य नहीं है। इसी निर्मूल-भाव ने संस्कृत विद्वानों का भी 'वैज्ञान' के अर्थ में अमम भ्रान्त बना दिया है।

६—कृति की प्रागवस्था और 'प्रकृति' शब्द-ममन्वय—

अतः प्रकृत में अत्यन्त यही कि, 'काव्य' नाम से प्रसिद्ध 'कृतिमात्र' का बोध न कर्त्त कारण अवश्य रहता है। कारण की उत्तरावस्था ही कार्य किंवा कृति है। मिष्टी की उत्तरावस्था ही तो पद है। शुक शोभित की उत्तरावस्था ही तो अन्तान है। उत्तरावस्थाका कृति की प्रथमावस्था ही तो कारण है। कृति की वह प्रथमावस्था ही प्र—कृति—कृति प्रागवस्था पूर्वावस्था प्रथमावस्था वा" इस निबन्धन के अनुसार 'प्रकृति' है।

१०—'प्रकृति' शब्दानुगता एक ममस्या, और उसका निराकरण—

इस तर्क में अत्य प्रश्न करेंगे कि यदि कारण का ही प्रहति करा जाता है तो उसे प्रकृति न कहकर केवल 'प्र' इन एवाचन शब्द में ही व्यक्त करना चाहिए वा। कृति शब्द तो उत्तर अवस्था का सूचक है एवं अमीष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' क्यों कहा गया? प्रकृति का अर्थ होगा—कारणयुक्त कृति। हम यह नाम जादम है की कि केवल कृति के प्रागवस्था का ही सूचक हो। तब 'प्रकृति' शब्द ही 'प्र' विपरितति का भी निराकरण कर रहा है।

११—काव्यमाशात्मक 'कृति' शब्द कारखमाशात्मक प्र' शब्द, और काव्य-कारण-

रूप-प्रकृति का ममन्वय—

हमें कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का जलना विवरणना में उपलब्ध होता है। निरवस्था में यह प्रहति किंवा कारण कथानुसार प्र भाष किंवा कृति के सर्वथा अनुसर है। निरवस्थातु प्र भाष (कारण) अत्यन्त क निष्ट भा कृति में बाहिर नहीं है। यदि 'प्र' में से कृति

७—‘प्रकृति’ शब्द का ‘प्र’ भाग ‘कृति’ भाग प्रकृतिभूतक ‘देवात्’ शब्द, एवं
सत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ—

पहिले प्रकृति शब्द को ही लीजिए । ‘कृति’ शब्द का अर्थ सर्वविधित है । ‘यह अमृत
म्यति की कृति (काय-रचना) है यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविधितया में प्रमाण है । लोक
में भित्ति में बड़े चंदन पदार्थ हैं उन सबको हम “कृति” कह सकते हैं । वे एक पदार्थ कार्यरूप हैं ।
कार्य मेंना कारण का स्वभाव अनुपपन्न है वह भी निःसंदिग्ध सिद्धांत है । ही उक्त कारण का हमें ज्ञान
न हो यह दृष्टी बात है । उनी अज्ञात कारण के लिए संस्कृत साहित्य में ‘वैवात्’ शब्द प्रचलित है ।
प्रकृतिक्रम के संचालक प्रकृतिरूप रूप-रस-ग-ब-स्पर्श-शब्द-मायाओं से अतीत सूक्ष्म तत्त्व ही “प्राण”
नाम से प्रसिद्ध है । इन सूक्ष्म प्राणों की अपि-पितर-ब-ग-गन्धर्व-अमुर आदि अनेक जातियाँ हैं । इहाँ
प्राणों के समन्वय-कारणसे पृथि में विविध प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं । इन प्राणवेष्टाओं का
आधार हमारे जर्मन-सूत्र से परे की वस्तु है । जिस प्राणवेष्टा-के कितने व्यापार से भूकम्प होना है, वह इन
अपनी क्षमता से नहीं देख सकते । देवता के द्वारा होने वाला कृतिरूप भूकम्प व्यवहार ही हमारी दृष्टि का
विषय बन रहा है । परन्तु जिस प्राणायामक (देवात्मक) कारण से “स” शब्द का अर्थ हुआ है वह कारण
हमारी ज्ञान-क्षमता से बाहर है । परन्तु हम इस सम्बन्ध में भी यह व्यवहार ही कह सकते हैं कि देवता
(प्राणवेष्टा के द्वारा) ही ऐसा हुआ है । किन्तु ही भारतीय विद्वान् देवात् का अर्थ ‘यों ही’ किया करते हैं ।
“स” यों ? से वह भ्रान्ति निकलती है कि, कारण कुछ न था ‘अकस्मात्’ ऐसा होना । परन्तु विज्ञान
दृष्टि से वह भ्रान्ति अशुद्ध है । काय-कारणमय विश्व में कोई भी परिवर्तन ‘यों ही’ नहीं होना करता ।
व्यवहार ही प्रत्येक कार्य का कारण होता है । ज्ञान-क्षमता में हम उक्त कारण का स्वरूपों से अभिनय करने
में समर्थ होता है । किन्तु अज्ञात-क्षमता में वैवात् को उपलब्ध कर देते हैं । अथवा ज्ञान-अज्ञान दोनों
ही कारण प्रकृतिक्रम करते हुए वैवात्क है । परन्तु ज्ञान-क्षमता में वैवात्क के आधार स्वरूप बन जाते
हैं अतः वहाँ दृष्टान्त का व्यवहार न होकर स्वरूप-भूत का व्यवहार होने लगता है । किन्तु अज्ञात-क्षमता में विद्वान्
व्यवहार प्रमाण बन जाता है । इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला हमें “वैवात्” शब्द है । देवात् का
अर्थ ‘यों ही’ देने का गहरा अर्थ मायावी का अपना कोई दोष नहीं है । अतः यह संसार की कृता का ही
फल है । प्रत्येक कार्य में कारण होने का अभिमान करने वाले पश्चिमी विद्वान् एवं अनुमानों उन्नि-
मोली भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने भीम-सूत्र से “वाइचाम्” शब्द का उच्चारण कर देते हैं ।
उनकी दृष्टि में ही वा-चाम् का ‘यों ही’ अर्थ है । वे इस पश्चिमी शब्द का उपयोग कर करते हैं ? वह भी
एक उदाहरण से देख लीजिए ।

८—मस्कृत विद्वानों की ‘अकस्मात्’ भूला ‘देवात्’ शब्द निबन्धना महती भ्रान्ति,
एवं तमिराकरबा-प्रमाण—

राजगुरु-शिवरात्री का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य के लिए अपने घर में निश्चय
है और प्राण में प्राण-कार (विष्णु) मार्ग का पंथी है तो उसे चापल्य लीजिए जाना चाहिए । यदि वह
अपने घर के अन्तर्गत यापना तो जगत् अनिष्ट ही-आकाश । ऐसे दृष्टान्तों का उक्त आकाश मानने से

को अग्निष्ट कहा जाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, जो तुमने शम्भु की आज्ञा नहीं मानी इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल ब्राह्मणमात्री यह उठता है कि अभी जान भी दो इन बातों में क्या रक्सा है। श्री विस्ली लापन से भी अग्निष्ट हुआ है। यह तो ब्राह्मण ऐसा होगया है। तब इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन अज्ञानों को नहीं मानते उनका हम कोई भी अग्निष्ट नहीं देखते। साथ ही मानने वालों में से भी किसी एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे विस्ली लापन माने हैं परन्तु उनका कुछ भी तो अग्निष्ट नहीं होता। केवल इसी तत्कार के आधार पर ब्राह्मण इन महातुमारी की ओर से भारतीय शम्भुनशम्भु को निम्न क बनाने की चेष्टा की जा रही है। वं यह मूल बातें हैं कि, भारतीय शम्भु 'भारतीय शम्भु' है प्रकृतिशास्त्र है विषयमात्रमूलक अतीन्द्रियशास्त्र है। वह भीतिक इष्ट अग्निष्ट की ही इष्ट अग्निष्ट नहीं मानता। अतः इनके साथ वह अज्ञान देखानिष्ट-दृष्टता की ही विषय महत्त्व होता है। यदि एकमात्र उदाहरणका ही नन्का इष्ट होता साथ ही केवल शारीरिक-मान ही अग्निष्ट होता तो अग्रज ही ऐसे अग्रजों पर उनका शम्भु प्रयुक्त होकर था। कार्यकारणमात्री एक वैज्ञानिक की दृष्टि में 'यही ही' अतः में सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण शम्भु का कोई मूल्य नहीं है। इसी निर्मूल-मात्र ने संस्कृत विद्वानों को भी 'वैशम्भु' के चर्च में ब्राह्मण बना दिया है।

६—कृति की प्रागवस्था और प्रकृति' शब्द-समन्वय—

अतः, प्रकृत में सम्बन्ध यही कि, 'कारण' नाम से प्रसिद्ध 'कृतिमात्र का को' न कोई कारण अग्रज गृह्य है। कारण की उत्तरावस्था ही अग्रज विधा कृति है। मिष्टी की उत्तरावस्था ही तो घट है। शुक शक्ति की उत्तरावस्था ही वास्तव है। उत्तरावस्थाका कृति की प्रथमावस्था ही तो अग्रज है। कृति की वह प्रथमावस्था ही 'प्र—कृति—कृतिः प्रागवस्था पूर्वावस्था प्रथमावस्था वा' इत निर्बचन के अनुरूप 'प्रकृति' है।

१०—प्रकृति' शब्दानुगता एक ममम्मा, और उमका निराकरण—

इस सम्बन्ध में आप प्रश्न करें कि यदि कारण का ही प्रकृति कहा जाता है तो उसे प्रकृति न कहकर केवल 'प्र' इस एकाग्र शब्द में ही व्यक्त करना चाहिए था। कृति शब्द तो उत्तर अग्रज का मूल है जब अग्निष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' क्यों कहा गया? प्रकृति का अर्थ हागा—कारणमुक्त कृति। इस वह नाप बाद में कि कि केवल कृति के प्रागवस्था का ही मूल है। स्वयं 'प्रकृति' शब्द ही इस विधिविधि का भी निराकरण कर रहा है।

११—कारणमात्रात्मक 'कृति' शब्द कारणमात्रात्मक प्र' शब्द, और कारण-कारण-

रूप—'प्रकृति का समन्वय—

इसे कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का विचार विचारना में उपयुक्त होता है। विचारना में वह प्रकृति किता अग्रज कथानुसार प्र मात्र बिना कृति के तर्का अनुरूप है। विचारविध्य प्र मात्र (वाग्) घणमात्र के बिना या कृति में बाहर नहीं है। यदि 'प्र' में म 'कृति

निहाल ही जाती है, तो वह 'प्र' किरमीमा से बाहिर निकलता हुआ 'कृतिमात्र' से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करता हुआ स्वतन्त्र अपनी कार्यात्मकता से भी वंचित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है जबतक कि उसके साथ 'कृति' का सम्बन्ध है। 'कारण' शब्द 'कार्य' की निष्पत्ति को व्यक्त करता है। 'कारण' शब्द के मूल ही तत्त्व का कारण है, वह जानने की अपेक्षा होती है। कार्यपरिमित कारण ही कारण है। कृति की अपेक्षा ही ही कारण का 'प्र' मात्र सुरक्षित है। इसी रहस्य को, इसी निम्न कार्यकारणभाव को उचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' शब्द से सम्बोधित करना उचित समझा गया है।

१२-प्रकृतिवाचक-'प्रधान' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

वृत्त 'प्रधान' शब्द है। प्रकृति शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक का एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उत्पत्तिका का बोधक है। धर्मका ही सम्प्रसारण, प्रकृति शब्द कारण की उत्पत्तिका का सूचक है एवं प्रधान शब्द कारण की प्रकृति का सूचक है। वृत्त से प्रधान उत्पन्न होती है इस दृष्टि से वृत्त की महत्ता की प्रकृति अपेक्षा बढ़ा जा सकता है। परन्तु महत्ता की आप्त्य सुव्यवस्था से पुष्कल भी निकाल सकते हैं। स्वतन्त्र वृत्त ही 'प्रधान' नहीं कहा जानक्य। प्रधान उनी प्रकृति की कहा जायगा यदि कार्य की प्रतिष्ठा भी होगी। उत्पन्न कार्य उत्पन्न से कभी पुष्कल न हो, ऐसा अभिमततात्मक उत्पन्न ही 'प्रधान' इन निर्बन्धन में प्रधान कहा जाएगा। 'प्रधान' शब्द में भी काम नष्ट नष्ट का परन्तु इसके लक्षण अतिव्याप्त न-बाध। कर्मों की हमने कारण कर सकता है। अतः 'प्रधान' के अनुसार शरीर में 'प्रधान' है। परन्तु शरीर और कर्मों की मता एक नहीं है। अतएव इसे जहाँ का 'प्रधान' नहीं कहा जानक्य। कृति की पूर्वावस्था-का 'प्र' ही अभिमततात्मकता 'प्र' है। अतः वही 'प्रधान' कहा जायगा है। कार्य को कर्मों न जानना ही प्र का प्रकृति है। 'प्रधान' का प्र-मात्र ही प्रकृति का सूचक है।

१३-प्रकृतिवाचक-'कारण' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

दीप्त्य 'कारण' शब्द है। यह शब्द कारण की उत्पत्तिका का अभिमततात्मक नष्ट है। शुक उत्पन्न अपेक्षा है। मूल्य की प्रकृति अपेक्षा है। परन्तु इसे कारण नहीं मन्त्रा जातक्य। कारण तो निहा ही माना जायगा। शुक निहा निहा के उत्पन्न क कर्मो अभिमततात्मक में जातुन नहीं जानक्य। उत्तर प्रकृति उत्पत्तिवा होने के साथ-साथ अपनी उत्पत्ति-शक्ति से कारण भी कर्मो दुर्ग है। 'उत्पत्ति' के लक्षण 'कारण' मात्र का भी व्याख्या है। उत्पन्न शुक जैसे अपनी उत्पत्तिका को कार्य में परिवर्तित करने के लिए कार्य कारण (निहा के गतिमात्र) की अपेक्षा करता है। प्रधानत्वका प्रकृति की अपनी उत्पत्तिका उत्पन्न मूल्य के लिए कार्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। व-मूल्य ही उत्पत्ति (प्रकृति) है। यह ही कर्म (कारण) है। अतएव 'कारण' अत निबन्धन से होने कारण कहा जायगा है।

१४-प्रकृतिवाचक-'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

बीज शब्द 'बीज' है। बीज शब्द बिजयन का सूचक है। बिजयन विजय का जायन ही बीज है। 'अभ्युपगमि' (पा ३.३.१३) में बीज शब्द पर 'बीज' ही 'बीज' है। व-कार

य-कार के अन्तर से 'शोच्य' ही वाच्य है। जायने और विजायने में अन्तर है। नियनोत्पत्ति का जायने से सम्बन्ध है, एवं मर्षोत्पत्ति का विजायने से सम्बन्ध है। मानवी-मृती से केवल मनुष्यविद्या प्रवा-ही उत्पन्न होसकती है। इसी नियतमात्र के कारण इसे केवल 'जम्' ही कहा जायगा। परन्तु प्रकृति के गम से यथायाक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परस्पर अत्यन्त विषय सभी विविध भाषा इसी से उत्पन्न हुए हैं। प्रत्यक्ष होने 'विजम्' किंवा 'वीजम्' कहा जाता है। प्रकृत्यविशिष्ट प्रजापति ही 'विजायते' का अभिप्राय है। वैसाकि—'अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि-मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। 'बीज' शब्द इसी मात्रका समर्पक है।

१५-प्रकृतिवाचक—'निदान' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

पौंचर्वा "निदान" शब्द है। वह शब्द का समर्पण का ही स्वरूप है। प्रकृति अपनी कृति के लिए अपने आपका (सत्ता) का दान कर देती है। पिता प्रदान से पुत्रकृति का कारण बनता है। परन्तु वह निमित्तवाक-कार्यकारणमात्र-सम्बन्ध है। पिता न रहे तो पुत्र का कुल नहीं निगड़ता एवं पुत्र न रहे तो पितृस्वरूप की कर्हि हानि नहीं होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ अभिमित्तवाक-कार्यकारणमात्र है। मित्रगी वस्तुति के लिए कार्यप्रसमरण किष्ट हुए हैं। बिना मित्रगी को लिए वर की रक्षा ही नहीं होसकती। यही आत्मसमर्पणसम्बन्ध निश्रयगान है। यही अभिप्राय से—'नितरां वीयते' हम निर्बन्धन से इस निदान कहा जाता है। यह नितरांज्ञान मूलकारणमत्ता से ही सम्बन्ध रखता है अतएव 'आधिकारण' की भी निगान कहा जाता है—'निदान' आधिकारणम्।

१६-प्रकृतिवाचक—'अव्यक्त' शब्द का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

'अव्यक्त' शब्द प्रकृति की अतीन्द्रियता का स्वरूप है। लाकिक-कारणों का हम सम्भवतुओं से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु लोक-वाग्वक्ता प्रकृति की हम देखने में असमर्थ हैं। उसका कृतिस्व किंवा पल्लव ही हमारे सामने आता है। कारणदत्ता सत्ता अव्यक्त (अप्रक-अतीन्द्रिय) ही है। इसी आधार पर महा-मायकचरण अव्यक्तानुपायी विद्वानों के कार्य-कारणरूप काम्य की भी 'अव्यक्त' ही वतनाय है। विद्वान् क्या कर रहा है? इनका किमी का पता नहीं और पता लगना भी नहीं आसिए। विद्वान् के कृत्य का पल्लव को 'कृतिमात्र' है उस ही लोक जानता है एवं जाने। अव्यक्तमूला एभी कृत्य व्यपरायणता ही वास्तविक-कृत्य व्यता है।

१७-प्रकृतिवाचक—'अक्षर' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

'अक्षर' शब्द नि वकारगाताकार का स्वरूप है। यदि दूध से थाप मन्त्राह बनाते वरत बाँये तो कुछ गमन में ही सारा दूध मन्त्राह बन जायगा दूध का मूलोन्मेष होजायगा। परन्तु वही का कार्यकारणमात्र पश्य नहीं है। प्रकृति से ऐसे ऐसे अनन्त महाविरह उत्पन्न होगए, परन्तु ऊर्ध्वार्धम की मति उसका प्राग्गमिक स्वरूप में आरुमात्र भी कमी न हुई—'यप नित्यो महिमा प्रथमो न कम्पया वदते ना कनीमात्र'। इसी अव्यक्तपरिणाममात्र से नित्यपुरुष की वह नित्या प्रकृति 'अक्षर' (क्षीण न होने वाली) नाम से प्रसिद्ध है।

निकात नै जाती है। तो वह 'प्र' चिह्ननीमा से काटि निकला हुआ 'कृमिमात्र' से सर्वथा सम्बन्धित करता हुआ अतएव अग्नी कायमायस्वर्णि से भी भिन्नित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है अर्थात् कि उसके साथ कृमि का सम्बन्ध है। 'कारण' शब्द 'कार्य' की निम्न अपेक्षा रखता है। 'कारण' शब्द के सुनते ही किन का कारण, वह जानने की अपेक्षा होती है। कार्यवर्गित कार्य ही कारण है। कृमि की अपेक्षा ही तो कारण का 'प्र' मात्र सुस्थित है। इसी रहस्य को, इसी नियम कार्यकारणमात्र को उचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' शब्द से समीकित करना उचित समझा गया है।

१२-प्रकृतिवाचक—'प्रधान' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

सूक्त 'प्रधान' शब्द है। 'प्रकृति' शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक या एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उत्पत्त्या का योगक है। अथवा यी समस्त, प्रकृति शब्द कारण की उत्पत्त्याशक्ति का सूचक है। एवं प्रधान शब्द कारण की प्रत्यक्षा का सूचक है। सूचक संमार्थ उत्पन्न होती है। इन दृष्टि से सूचक को मलाल की प्रकृति अवश्य जाना जा सकता है। परन्तु संमार्थ को अतएव दुष्प्रचलित से सूचक भी निकाल सकते हैं। अतएव सूचक 'प्रधान' नहीं कहा जा सकता। प्रधान उसी प्रकृति की कहा जायगा यदि कार्य की प्रसिद्धि भी होगा। उत्पन्न कार्य उत्पत्त्या से कभी सूचक न हो, ऐसा अस्मिन्मन्त्रात्मक उत्पत्त्या ही 'प्रसक्त' इन निर्बन्धन में 'प्रधान' कहा जाएगा। 'प्रधान' शब्द में भी कार्य चल सकता था परन्तु इसके लक्षण अस्मिन्मात्र बन-गल। कर्मों की हमने धारण कर रक्खा है। अतः "कर्म के अनुसार शरीर भी 'प्रधान' है। परन्तु शरीर और कर्मों की लता एक नहीं है। अतएव हमने कर्मों का 'प्रधान' नहीं कहा जानता। कृति की प्रकृत्या-रूप 'प्र' ही अस्मिन्मन्त्रात्मक 'प्र' है। अतः यही 'प्रधान' कहा जाता है। कार्य को कभी न छोड़ना ही 'प्र' का प्रकृत्य है। 'प्रधान' का 'प्र'—मात्र इसी प्रकृत्या का सूचक है।

१३-प्रकृतिवाचक—'कारण' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सूक्त 'कारण' शब्द है। वह शब्द कारण की कृत्स्नशक्ति का अस्मिन्मात्र बन रहा है। शुक उत्पत्त्या केवरम है। मन्त्रान की प्रकृति अवश्य है। परन्तु इसे कारण नहीं माना जा सकता। कारण तो सिद्ध ही माना जायगा। शुक बिना पिता के स्वाध्याय क कभी वायितार्थ में आहुत नहीं हो सकता। उभर प्रकृति उत्पत्तिका होने के साथ-साथ अपनी कृत्स्न-शक्ति से कारण भी बनी हुई है। 'उत्पादक' के साथ 'कारण' मात्र का भी सम्बन्ध है। उत्पत्त्या शुक ब्रह्म अपनी उत्पत्त्याशक्ति की कार्य में बहिष्कृत करने के लिए अन्य कारण (पिता के प्रतिमात्र) की अपेक्षा रखता है। जैसे प्रधानतायत्ता प्रकृति की अपनी उत्पत्त्याशक्ति को व्यपहार में मान के लिए अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। व-स्व ही उत्पत्त्या (प्रकृति) है। स्व ही कर्म (अग्नि) है। अतएव 'कारण' इस निबन्धन से उसे कारण कहा जाता है।

१४-प्रकृतिवाचक—'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

बीजा शब्द 'बीज' है। बीज शब्द विजायत का सूचक है। "विजायत विभिर्ध वा ज्ञानं ही बीजम्" है। "अम्यपामपि" (पा ३.३.१३) से बीज होने पर 'विज' ही 'बीजम्' है। व-कार

१८—प्रकृतिवाचक 'सत्तु' शब्द का सम्मर्या—

प्रकृति के इस और वैचारिक अर्थ है उस और निर्निर्धार पुरुष है मध्य में सेतु—स्थानीया प्रकृति है। प्रकृति का और मूल्य दीक्षा, अर्थ है उच्च लोभादयः मुक्ति है। प्रकृतिवत्त्व के इस मध्य स्थान को एक करने के लिए ही 'मे सेतु' कहा जाता है।

१९—प्रकृतिवाचक—नियति' शब्द का सांख्यिक स्वरूप—ममन्वय—

जैसे महात्मा पूर्वा नाम है नियति। 'म' नाम को हम इसलिए महत्त्वपूर्ण कहेंगे कि—इस नाम की व्याप्ति का हम प्रपञ्च में अनुमान कर रहे हैं। 'नितरां यच्छ्रुति' ही 'नियति' शब्द का निर्वाचन है। प्रकृति का प्रकृतित्व हम नियतिमात्र पर ही निर्भर है। जैसा कि—'प्रकृतिस्त्वा नियोक्त्यति' इत्यादि गीता सिद्धान्त में भी स्पष्ट है। प्रकृति का शासनस्व सत्य है। उसका कार्य उन्मत्तन नहीं कर सकता। जो भी उन्मत्तन करता है वह अपना स्वरूप ही त्याग देता है। उसका नियन्त्रण सर्वथा निवृत्त है। वह नियमपूर्वक ही सब का नियमन किए हुए है। अतएव कौशिक ने नियति की ही नियम की मान लिया है।

२०—महात्मनायी तन्त्रेश्वर, आर उसका शासनतन्त्र—

राजा स्वयं शासन नहीं करता स्वयं व्यवहसिचान नहीं करता। अतएव राजा का निष्पन्न (कादूत) ही शासन करना है। राजा स्वयं अपने राज्य में व्यवहारा नहीं करता। अतएव उसका शासनस्व ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। महात्मनायी तन्त्रेश्वर स्वयं ईश्वरप्रज्ञापति (अध्यय) विश्व का सम्बालन नहीं करता। प्राधानिक मन्त्रानुसार वह तो पुरुषप्रज्ञाशक्त निर्लेप है। शासन करता है उसका नियम और उसी निष्पन्न मूल का नाम है 'नियतिशब्द'। वही नियतिवत्त्व प्रकृति नाम से प्रसिद्ध है—'मयात्मसेष प्रकृति' सूत्र 'मयराचरम'।

२१—महामात्मक नियतिशब्द, आर आधिकारिक जीव—

क्या आप समझते हैं कि मृत्यु—चन्द्रमा—शुक्रिणी—ग्रह—इत्यादि आदि अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपना करना कार्य करते हैं? नहीं, इनकी तो बड़ा स्वतन्त्र अन्धकार है ही—नहीं। वे सब आधिकारिक जीव हैं। प्रकृति के ही। सब अपने अपने कर्म में निष्पन्न हैं। क्या आपने कभी स्वयं बहती हुई को काँट से काँट का सुँगाई का लहलहा का पवित्राण करने। उनके अन्तर्गत पर यह प्रकृति—इच्छा विद्यमान है। उनी महात्मनाय मन्त्रानुसार क मन्त्रानुसार से सब मन्त्रात्मक है—

भाषाभाषाभाषति मीपादति मृत्यु ।

मीपादतिमृत्यु बापुत्त मृत्युभाषति पञ्चमः ॥

२२ मयावद मनुष्यप्राणी आर मनुष्यद्वारा विश्वशान्ति का विकल्पन—

यदि मनुष्य नाम का मयावद प्राणी संसार में म हाता, तो ऊर्ध्व विश्व में शान्ति का प्रसार। वही मयावद का शासन विधिगत म होता। वही मयावद का शासन म विस्तार। वही मयावद का शासन म विस्तार। वही

मापी दुःखी न होता। परन्तु ईश्वरप्रभापति के समकक्ष रहने का गर्व रखने वाले पुष्प किन्तु पशु नाम के मापी ने सब कुछ चोपट कर डाला। उस पुष्प (अम्यप) जन की अधिक मात्रा के गव में आकर इन्ने प्रकृत के नियन्त्रण की उपेक्षा कर, अपने साथ साथ अपने कष्टु नगर प्राणियों को न केवल प्राणियों को ही अपितु मेघ आत्व आदि इतर पदार्थों को भी कुष्ट कर डाला। एक पापी के पैरन में सारी नाका डी हूब गई। समय पर इति न होना अतिवृत्ति होना मूक्य होना महामारी में बनबिनाश होना पश्यर लक्ष-मिष्ट कर राष्ट्र के अम्युदय का नाश कर डालना इन सब अशान्तियों का एकमात्र मनुष्यबानि पर ही उत्सर्गादित्य है। उसी ने स्वर्गसम सवार की नरक बनाया है। और वही बलि बोड़ी की छुड़ि से काम लो लो आब मी यह इसे पुनः स्वर्ग ही स्वर्ग का काननवन ही बना सकता है।

२३-मानव के प्रज्ञापरराध से प्रकृति का विकम्पन, एवं तद्द्वारा वैचारिक-विषय का

विकम्पन—

प्रवृत्तितत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के साथ प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रकृति अपने अंशरूप वैचारिक पदार्थों पर अपना पूर्ण शासन रखती है। परन्तु इसका शासन मनुष्य में ध्वज हो जाता है। कारण इसका यही है कि, जिस पुष्प की ज्ञान-क्रिया-कार्य—शक्ति की लेकर प्रकृति स्वयंमिष्ट वैचारिक पदार्थों का नियन्त्रण करने में समर्थ होती है वही-शक्ति और की अपेक्षा स्वयं प्रकृति की मी अपेक्षा मनुष्य में अधिक मात्रा से आ जाती है। कवी आ जाती है? वह प्रश्न अचिन्त्य है। आ जाती है यह निश्चित है और उनी का विचार प्रमथ है—स्थितस्य गतिरिच्छन्तनीया। इसी शक्तिवैविध्य के कारण मनुष्य ईश्वर के समकक्ष मान लिया गया। ईश्वरीय कल की लेकर प्रकृति जैसे कलु मकलु मन्यवाकलु, समर्थ बन रही है एवमेव उनी कल के सम्भराकल पर सम्भराकल पर ही कवी विशेष बराकल पर आके मनुष्य मी कलु मकलु मन्यवाकलु, समर्थ बन जाता है। अपने इसी ज्ञानातिमान में आकर वह प्रकृतिन्त्र का विरोधी बन जाता है। पहले शम्भो में कुछ समय के लिए सबका शासन करने वाली प्रकृति पर मी यह अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लेता है। संसार की प्रकृतिविप्लव कर्मों की ओर आकर्षित करने लग पड़ता है। प्रकृति का नियन्त्रण धिक्क हो जाता है। परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक विरव के चक्र के साथ साथ वैचारिक जगल मी अशान्त हो जाता है।

२४-प्रकृति-विकृति-के विकम्पन में ईश्वरपुरुष का विकम्पन, उसका मानवरूपसे

अवतरण एवं तद्द्वारा धम्मग्लानि की उपशान्ति—

श्रुति कहते हैं कि, श्रुति-पितर-वृषता-पशु आदि आदि बोध मी प्राणान्तिका प्रजा प्रकृतिन्त्र का उत्कर्षन नहीं करती। एकमात्र मनुष्य ही इसका अतिप्रमथ कर जाता है—“मनुष्या एवकेऽतिप्रमन्ति” (राजयजुर्ब्राह्मण)। परिणाम यी—कुछ दुःख और होगा वह नगर की भोगना पण एव आब मी मानना पड़ रहा है। जैसा कि कहा गया है प्रकृतिन्त्र का प्रजनित वैचारिक छत्र के गंध घनिष्ठ लक्ष्य रहता है। मनुष्य के कुकर्म से वैचारिक जगल अशान्त हो जाता है। धर्म-लक्षण प्राकृतिक नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। दूरे शम्भो में विहृतिमान से नियन्त्रिका प्रकृति मी विहृतिबोध में छुष्य हो जाती है। कलतः प्रकृति

क आत्मार्थिक निश्चय बहुत समय के लिए निरगति होजाता है। न समय पर कुछ होनी, न सर्वस्वी प्राप्ति उन्मत्त न मरणाधी आशय बनने लगे। अज्ञान-अज्ञान-विशेष प्रकार क मरुतु रोग-अज्ञानि-अज्ञानिना-गुणितक-अज्ञानाचरण आदि भीष्मकप सामन उपस्थित होजाता है। मूर्खिष्टयावा प्रकृति मिथी पक्षी में स्थिति का मैमागन की सहा करी रही है। परन्तु मनुष्यो का प्रकृतिनिष्ठ आचरण जब भीमा का अति-कमल पर जाता है तो—प्रकृति का रहा सहा बन भी लक्ष्य अस्मत्पुत्र होजाता है। उस समय शक्ति का नामशय भी नहीं रहता। नारायण कहि ! कहि ! का ही आश नाउ गुंन लगता है। प्रकृति क लय पुरपरवय नित्य विराजमान है। मनुष्य के कुछ-में से विकृतिमगल जब आकृता न रहा विकृतिपुत्र से जब प्रकृति अपन आप को न बचा सकी तो प्रकृति से लक्ष्य पुत्र इलक्ष्यमगल से डेहे जब लक्ष्य है। वस्तुतः प्रकृति पुत्र का अस्मत्पुत्र उस लक्ष्यो पर भी आकृतिवत्ता है। कम बड़ी पहुँचन मर की देर है, फिर सब कम परिक्रमण है। वह प्रकृति पर अपरव ही मनुष्य ने स्थानाचर कर जमा और कुछ करी में शुभ निशुभ-गण-कृति की मीति लन अपने प्रयोगों की सकल भी बना जमा। परन्तु सब उस अस्मत्पुत्र (पुत्र की अस्मत्पुत्र) के-जन्मा अस्मत्पुत्रा ही जन्मा मपूर्ण गर्भ नह होगा। लोचनीतरी नरकहि महर्षि—देम मीत्य अचली पर व ही उपाय कर्त है किन कि प्रकृति का रहा—लक्ष्य कम भी अस्माभागे की इति ने नह हावान और उसका प्रभाव उस लक्ष्य प्रकृति पर पड़े।

२४—मगवान क अवतार का पावन—संस्मरण—

लक्ष्मण कर्म अचयन विरजमान पर जब प्रकृति पुत्र का आक्रमण होता है तो स्वभाव में ही मन्त्रवत्ता का अनुवादी वह अस्मत्पुत्र मन्त्रमात्र की रहा के लिए प्रकृति में अपना अराजक डाकता है। वही अराजक प्रकृति क हाग अराजक पर मानकरागीर में मूर्ख-अज्ञान आधिकारिक बीबी की मीठ अकरीण हाग है। लक्ष्मणकर्म—निदान के अनुसार बकल मनुष्य मनुष्य का पक्षप्रवर्क नहीं बनता, लक्ष्य वह मन्त्रा पर नहीं आता। लक्ष्य ही पक्षप्रवर्क उस मनुष्य का अस्मत्पुत्र में लक्ष्य न होकर अस्मत्पुत्र में अस्मत्पुत्र रहना चाहिए। बीबी क अस्मत्पुत्रिक बीबी ही लक्ष्य-अस्मत्पुत्र-मर् में सकल होला जमा वृत्ति मानकृति का निगेव कर्मकता है। वही अस्मत्पुत्रात्मक अति “अवतार” नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिनन्त्रलक्ष्य अस्मत्पुत्र की स्थिति का शान्त करना, माधुर्य की रक्षा करना असाधुओं का प्रीक्षा देना, व ही अस्मत्पुत्र का कुछ एक रूप उर्द्वर है। उर्द्वरवर्ष के अनन्तर वह पुन अपने लीलाचाम में लीलाचरण कर जाता है। अस्मत्पुत्र न मर पिपी का वैज्ञानिक निश्चय भीष्मकपुत्रनिष्ठ गुण्यक प्रथमकक्षय व मगल है। अतः लक्ष्य अर्थात् वही उपस्थित कर प्रकृति नियम की ओर ही वाटो का अन्त आकर्षित किया अगल है।

२५—‘अवतार’ का तात्त्विक समन्वय—

आधिकार्य में मनुष्यवर्गी की अवतार मानते हुए परमाध्यम्य हमें भी अवतार न मानते हुए हमें यह निर्णय कर होना पन्ता है कि प्रकृति के नियन्त्रण में लक्ष्य वैज्ञानिक वैज्ञान्य में रहने वाली वर अन्तर प्रभा सब कुछ नियन्त्रित है। प्राकृतिक लक्ष्य का विश्वी मान्य लक्ष्य का अनुवादी मनुष्य भी कुछ एक नियन्त्रणों के अधिन नहीं निष्कल मगल। प्रकृति का वह नियन्त्रण ही अस्मत्पुत्रात्मक से ‘अस्मत्पुत्र’ शब्द से अस्मत्पुत्र हुआ है। नर पदार्थ इल लक्ष्य-लक्ष्य अस्मत्पुत्र में नियम नियन्त्रित है।

२७-प्रकृति के नियत कार्य-कारण भाव, और 'नियति' शब्द का तात्त्विक-निर्वचन-

प्रकृति स्वस्वरूप से क्रियाप्रधान किंवा प्राणप्रधान बनती हुई यद्यपि बड़ है तथापि क्याकि यह उस विना मा के ज्ञानप्रकाश से नित्य धुपत रहती है अतएव उसका सम्पूर्ण नियन्त्रण ज्ञानपूर्वक ही होता है। वृक्षों का विन्यास पत्तों की काट-छाँट पुष्पों का बभानुरूप स्वरूप फलों का व्यवस्थित आकार, पर्यंती का आकार-संनिवेश पानी का निम्नगमन वायु का तिर्यग गमन अग्नि का ऊर्ध्वगमन हरिणराजों का समस्तुलित स्नान पक्षियों का आकार संनिवेश ये सब एक सुव्यवस्थित शिष्य (कारीगर) से युक्त हैं। मानना पड़ता है कि कोई चतुर शिष्य ज्ञानपूर्वक नहीं साधनानी से नियमशः इन पदार्थों का निर्माण कर रहा है। यही इस प्रकृति का नियतिभाव किंवा निम्नभाव है। एवं यह परिष्कृत शिष्य ही प्रकृतिदेवी के लक्ष्मण दशुन हैं।

२८-सतरखशीला 'प्रकृति', तन्निवन्धना नियति और प्रकृतिमूलक संतरखशील विश्व

यह दो दुष्मा प्रकृतिभाव का किंवा नियतित्व का दार्शनिक स्वरूप। जब संक्षेप से इनके वैज्ञानिक स्वरूप का भी विचार कीजिए। 'कारण' को हमने 'प्रकृति' कहा है। यही 'कारण' शब्द से 'निमित्त-कारण' ही अभिप्राय है। विस्मयकार घट के प्रति कुम्भकार निमित्तकारण है एवं मिट्टी उपागनकारण है एवमेव विश्वरूप कार्य के प्रति भी दो कारण अवस्थित हैं। इनमें का निमित्तकारण होगा उसे ही हम 'मूलप्रकृति' कहेंगे। यही 'आद्यकारण' कहलाएगा। 'उ' आदिकारणलक्षणा, निमित्तकारणान्विता प्रकृति का मौलिक स्वरूप है— गतिवत्त्व। क्रियाभाव का ही नाम गति है। एवं गति ही मूलप्रकृति है। नित्य कुर्वरूपता ही इस कारण का नित्य संसरण है। सम्पन्न संसरण-(गमन)-शीला प्रकृति ही भिन्न का मूल है अतएव हमें 'संसार' (सतृणाशील विभव) कहा जाता है। इतिभाव का वाचक स्वयं संसार शब्द ही अपनी मूलप्रकृति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है।

२९-गतिमूला प्रकृति और उसके स्थिति गति-आगति' नामक तीन प्रमुख विवर्ध—

यह गतिवत्त्व आगे जाकर पाँच स्वरूपों में परिवर्तन हो जाता है। केन्द्र से घूर्ण की ओर जो गति होती है उसे 'गति' कहा जाता है। घूर्ण से केन्द्र की ओर जो गति होती है उसे 'आगति' कहा जाता है। गति गमन है, आगति आगमन है। आना और जाना जैसी स्वरूप सर्वविधित है। आगतिमूलका गति आगान (होना) मात्र की अभिव्याप्ती है एवं गतिमूलका गति विना (नेना) मात्र की अभिव्याप्ती है। आगान-विना स प्रतिष्ठा स्पर्द्धा होती रहती है। एवं यही स्पर्द्धा पदार्थों के जीवन का मुख्य हेतु है। विरहदिगन्धर्वगति का समन्वय ही 'स्थिति' है। स्थितिमात्र गति से युक्त तत्त्व नहीं है। अणि गतिस्मृत्त्यस्य का नाम स्थिति है। गतिमात्र का समक्षलक्षणा स्थितिरूप यह तीव्र विषय ही आगान-विना-लक्षणा आगति-गति-मात्र की प्रतिष्ठा बनता है। स्थिति-गति आगति तीनों एक ही गतिवत्त्व के तीन विपक्ष हैं।

३०-गतिवत्त्व के पाँच महिमा-विवर्ध, एवं तन्मूलक अन्तर्गामी और 'यत्रात्मा का शास्त्रार्थ—

गति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर वीक्षण, स्थितिरागिता गति नामक एक बीया विवर्ध और प्रकट ही बापगा। यही प्रकार आगति की स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर देने से स्थितिरागिता-

आगति नामक पाँचवीं भाग प्रकट होना होगा। इन पाँच से अतिरिक्त गतिस्व का ६ टा विस्तृत भागों में मिलेगा। अन्तर्ग्रन्थ अथर्ववेद आशुतन्त्र प्रसारण आदि-आदि मिलने की गतिमात्र ही से लक्ष्य ही पाँचों में अन्तर्ग्रन्थ है। इन पाँचों में स्थिति-आगति-गति इन तीनों का एक विभाग है एवं इतर दोनों का एक-विभाग है। इस भागद्वयी के कारण ही अन्तर्ग्रन्थ की रक्षा बहिर्ग्रन्थ। गतिस्व की पञ्च के अन्तर्ग्रन्थ-सङ्घटन इत्यन्त में सम्मिलित है एवं गतिस्व की पञ्च के बहिर्ग्रन्थ-सङ्घटन विग्रह में से सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में की समझिए कि विग्रहभाष की रक्षा गतिस्व पर निर्भर है एवं इत्यन्त गतिस्व के आधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि पाँचों भाग एक ही ही पाँच अन्तर्ग्रन्थ है अतएव इन पाँचों को हम उस एक ही ही पाँच कहा करेंगे एवं उन्हे पञ्चक एक तत्त्व कहेंगे। वही एक तत्त्व मिलती कि पाँच कहा है। प्रकृति नाम से प्रसिद्ध है। उन्हीं के गतिस्वीकृत्य प्रथम विभाग एवं गतिस्वीकृत्य द्वितीय विभाग विग्रहभाषा में क्रमशः 'अन्तर्ग्रन्थ' एवं 'सुत्रभाषा' नाम से प्रसिद्ध है।

३-अन्तर्ग्रन्थ का स्वरूप-परिचय, एवं प्रकाश-विष्णु-इन्द्र-नामक तीनों देवताओं का तात्पर्य-स्वरूप-समन्वय—

अन्तर्ग्रन्थ का अर्थ है 'मीन (केन्द्र) है जो कुछा बहिर्ग्रन्थ का नियन्त्रण करने वाला'। 'अन्तर्ग्रन्थ-नियन्त्रण सब निष्कर्मयति सर्वान् भावान्' ही प्रकृत शब्द का निर्बचन है। वह अन्तर्ग्रन्थ वही हमारी गतिस्व है। गतिस्वमिच्छा निम्न-भाष 'ब्रह्मा' कहलाता है। इसीने आगति-गति के द्वारा कन्तुस्वरूप की श्रम कर रक्ता है। प्रसिद्ध की विष्णु ही नाम का मूल कारण है एवं प्रसिद्ध की रक्षा ही कन्तु की रक्षा है। इसीलिए 'विमर्श' नाम निर्बचन से 'स स्थितिमात्र की 'ब्रह्मा' कहा जाता है। 'ब्रह्म' के स्वस्व प्रसिद्ध 'सर्वान् भावान्' की 'नी ब्रह्मभाष का समर्थन कर रही है। निष्कर्मयति ब्रह्म के आधार पर प्रसिद्ध आशुतन्त्र आगति-स्व ही 'विष्णु' है। वे स्वके द्वारा वस्तु का पालन करते हैं। जिसमें किसी की आशुति होता ही वह है। वी पञ्चों का श्रमयन्त्रितीय ही बचन है बचन ही वह है वह ही जीवन का कारण है। विष्णुलक्षणा आशुतन्त्र से ही बाहिर से पदार्थ का आकर एवं पदार्थ में आशुत होत रहते हैं। वही शक्ति अशुतनाश (शून्य) की बनती है। इसी अशुतनाश शक्ति से आशुतित अथ कन्तु के अग्नि में आशुत होत रहता है। आशुतलक्षणा वह के अविष्णुता आशुतिक्रम विष्णु है अतएव विष्णु 'अथ' शब्द से ही अथर्वत का स्थित बताया है। विष्णुके केन्द्रस्था आशुतलक्षणा अपनी आशुतलक्षणा से निम्नतः कुछ निष्कर्म करती है एवमेव केन्द्रस्था विष्णुलक्षणा अपनी निष्कर्मयति से निम्नतः पञ्चों के कार्य की बाहिर निष्कर्म करती है। यदि विष्णु आशुत ही होत रहे तो आशुतलक्षणा की श्रम अथर्वत होना, पञ्चतः पदार्थ नीमा से बाहिर जाता हुआ आशुत स्वस्व ही को बैठे। अथ आशुत के साथ विष्णु भी निष्कर्म अथर्वत है। दूसरे शब्दों में-वह भी नहीं तो कीर आशुतित न होगी कि विष्णुका आशुतलक्षणा विष्णु स्थिति-लक्षणा ब्रह्मा की प्रसिद्ध है। एवमेव विष्णुलक्षणा इन्द्र देवता विष्णु की प्रसिद्ध है। निम्न ही आशुत का कारण है। ब्रह्म विष्णु है। तभी एक आशुत है। त्याग में ही वेमन का आशुतन मुक्ति है। त्याग ही कन्तु के विष्णु का कारण है। विष्णु ही अग्नि है। अग्नि ही वस्तु का

इन्द्रमात्र है। इसी इन्द्रमात्र के कारण निम्नलिखित गतिमात्र 'य ई-ये' इस निर्वचन से 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। 'इन्द्र' ॥ परोक्षप्रियवेकताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। निम्नलिखित ब्रह्मा आगातिशब्द विष्णु एवं गतिशब्द इन्द्र तीनों एक ही गति के तीन विवरण हैं— 'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा ।

३२-नियति स्वरूप अन्तर्यामी के द्वारा विश्व का सम्चालन एवं केन्द्रम्य अन्तर्यामी के द्वारा विश्व का नियन्त्रण—

तीनों की समष्टि ही 'अन्तर्यामी' है। हमारा मानस ज्ञान और बौद्ध ज्ञान दोनों इसके परिज्ञान में सम्मर्पण हैं। शरीरकल्याण में जीवन-साध केसे कर बन कर कहाँ प्रतिष्ठित होकर क्या काम करता रहता है ? यह हम नहीं जानते नहीं जान सकते। कारण वही है कि, ज्ञानेन्द्रियों का कल बाहिर की ओर है। मन इनका अनुगामी बना रहता है। मनोऽप्यत्र बुद्धि भी बहिष्मुक्ता ही कनी रहती है। यदि किसी उपाय से हम इन्द्रिय-संक्रम के द्वारा मन-बुद्धि को अन्तर्मुख बना लें तो अन्तर्यामी की उस निवृत्ति के दर्शन कर सकते हैं। बन्धनान्तरा पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित यह अन्तर्यामी सत्का सम्चालन कर रहा है। यह सब जानता है उसके निष्पन्न को कोई नहीं जानता। "वी रहस्य को लक्ष्य में रख बाधि मुक्ति करती है—

“यः पृथिव्यां अप्सु अग्नी, आकाशे, वायौ, आदित्ये, चन्द्रतारके, दिङ्मु, विद्युति, स्तनयित्तौ सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु यज्ञेषु, सर्वेषु भूतेषु, प्राणेषु वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि श्वाचि, तेजसि तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन् पृथिव्या अद्भ्यम्० अन्तर, यं पृथिवी-आपः० न बिदुः, यस्य पृथिवी आपः० शरीर, यः पृथिवी अपः अन्तरो यमयति, स तऽब्राह्मणः— ‘अन्तर्यामी’—‘अमृतः’ ।

—शत० १४। ६। ७।

३३-अन्तर्यामी मूलक 'हृदय', 'गाह' और 'गर्म' शब्दों का तात्त्विक-समन्वय, एवं उस की अजापमानता—

अन्तर्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। क्योंकि अन्तर्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसका यह प्रतिष्ठास्थान 'हृदयम्' नाम से अग्रहृत हुआ है। आकाशराशमक, अतएव 'गुह्य' नाम से प्रसिद्ध असीम अजापत ही 'हृदय' है। स्तोत्र-पुष्प-जप-हृदय नाम की चार विधियों में हृदयकिन्तु असीम बनती हुई सर्वथा निरुपकार है। इसी आधार पर परार्थ का ग्रहण है। अतएव "एहं शक्ति इति श्रुत्यसे इति 'गाह' कहा जाता है। * हृदयोमाया के निष्कामानुसार हकार के स्थान में मकार प्रयुक्त होता है। अतः 'गाह' की वहाँ 'गर्म' कहा जाता है। 'प्रजापतिविरचरति गर्भे अन्तरात्मनो बहुधा

* "हृदयोर्मरुत्प्रवृत्ति (पा १४) ।

विज्ञापन के अनुसार इन्द्रियसङ्ग कन्तव्यामी प्रभावति गम म ही प्रतिष्ठित है। वह स्वयं मिले पश्य
उसी से मनुष्य विरूपयन्त्र का विकास हुआ है।

३४-‘हृ’ रूप विष्णु ‘हृ’ रूप इन्द्र, ‘यम्’ रूप ब्रह्मा एवं हृदय में प्रतिष्ठित इन्द्र-य-
रूप-अन्तर्यामी—

आगनशक्ति ही आह्वय है ‘हृ’ शब्द इन्दी का सूचक है। विमर्शशक्ति ही लयजन है ‘हृ’
इन्दी का सूचक है। इन्दी का नियमन करन वाली शक्ति ही ‘यम्’ है। ‘हृ’ नामक विष्णु, ‘हृ’ नामक
इन्द्र ‘यम्’ नामक ब्रह्मा की स्वस्ति ही ‘हृ-य-यम्’ है। हृ-य-य नामक तीनों भाव हृदय में प्रतिष्ठित
हैं। हृदय स्वयं अन्तर्यामी सञ्चालन कर रहा है। किन्तु वह ही शेष तीनों गतिमात्र इन्दी प्रत्येक का समाधान
करता है। स्थितिगर्भिता आगति साम है एवं स्थितिगर्भिता गति अग्नि है। इन्द्र अग्नी शक्ति न
मात्राग्नि की बाहिर निकाला करता है एवं विष्णु अपनी शक्ति से बाह्य योग की भीतर लाता करता है। इन्दी
में परस्पर स्पर्धा चलती रहती है। इन्दी की स्पर्धा के कारण से अन्तर्यामी में परिवर्तन हुआ करता है।
विष्णु की प्रधानता में पुष्टि है ‘अन्तर्यामी’ की समानता में समता है एवं ‘अन्तर्यामी’ प्रधानता में हुआ है। विष्णु
‘अन्तर्यामी’ में विनाश है। ब्रह्मा अन्तर्यामी के विष्णु स्थितिमात्र के एवं इन्द्र संगमात्र के अन्ति-
मता है। विरूप अन्तर्यामीयक है विरूपमा अन्तर्यामी ब्रह्मा-विष्णु इन्द्रपुष्टि है। पौष्ठी की स्वस्ति
परमेश्वर अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी निरूप है। निरूप ही प्रहरी है। अन्तर्यामी निरूप ही, तत्काल
शान्ति है। निरूप विरूप गड सब कुछ विरूप गया। निरूपी निरूपि म अन्तर आगमा
उमध्य वितारा निरूपन है।

३५-परमविष्णु अन्तर्यामी परमेश्वरता अन्तर्यामी प्रकृति, एवं तत्काल विश्वप्रपञ्च का
समन्वय—

आगन विष्णु के अन्तर्यामी ब्रह्मा हैं आगन करन वाले विष्णु हैं विमर्श करन वाले इन्द्र—हृ।
विष्णु के द्वारा आगन होता है—आम का। ‘अ’ के द्वारा विष्णु होता है अग्नि का। इन तीनों की ‘समुदाये
इन्द्रा शतदा अक्षयवेषवि केशजा’ इस न्याय का अनुयाय स्वप्नरूप से पाँच अक्षर भी माने करते हैं
जैसा कि ‘महेश्वरं परमेश्वरं समष्टिं मुक्ता मुक्ता अग्नि यन् सर्वहन्ति’ ‘त्यागि अग्नि से गृह है। पौष्ठी
में ब्रह्मा विष्णु इन्द्र तीनों की समष्टि अन्तर्यामी है अन्तर्यामी की समष्टि सृष्टिमात्र है। अन्तर्यामी
इन्द्रात्म्य के सामक है, सृष्टिमात्रा पितृव्यगत के स्वरूप-संवाहक है। शान्त सन्निध कहा जाता है
कि, अन्तर्यामी अन्तर्यामी विष्णु के उपादान न करन केवल निमित्त बनती है। उपादान ही सर्वेश्वर ही बनता
है। इन्दी इन्दी में ब्रह्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है इन्द्राविष्णु दोनो समुक्त है एवं अन्तर्यामी दोनो मयुक्त है
जैसा कि ‘ब्रह्मा यं सर्वस्य प्रतिष्ठा’—‘इन्द्रात्म्यमुक्त्य मन्त्रा’—‘तवाहमस्मि सर्वस्य न्याया’ ‘त्यागि
अग्निमा न न्ये है।

● पौष्ठी का वह भी स्वरूप लाता आता है कि इन्द्रा विष्णु के अन्तर्यामी एवं अन्तर्यामी के
अन्तर्यामी अन्तर्यामी ‘नम परमेश्वर उपादान रहा जैसा कि इन्द्रात्म्यनिरूपन में विष्णु
प्रतिष्ठित है।

३६—'नियति'—लक्षणा प्रकृति का 'हस्तमात्र, तदनुबन्धिनी' 'नियतिचर्या', और 'नियतिचर' मन्त्र —

पञ्चकृत अक्षरस्य प्राणप्रधान बनता हुआ गतिप्रधान है ज्ञाता कि चाहे बाहर स्पष्ट हो जावगा । इसी गतिमात्र के कारण यह अक्षरप्रकृति को 'हस्त' कहा जाता है । हिनोति-ध्याप्नोति कर्त्यात्मक विरम' यही इसका निर्वचन है । गत्यर्थक हिं पातु (स्था० पं. अ.) से ही— कमिमनि (उ. १. ७१) अयाति स्व से 'तुम्हें प्रत्यक्ष के द्वारा देख' शब्द निष्पन्न हुआ है । वही प्रकृति नियमशास्त्र का अपनी चर्या में सुरक्षित रखती है । सम्पूर्ण विश्व कमलि एवं व्यक्तिक्रम से समवया 'नियतिचर्या' से नियत आकाश है । नियति की-चर्या (आचरण-शासन) में विचरण करता हुआ प्रत्येक पदार्थ "नियतिचर" है । उन प्रकृतियों की "नेचर" का प्रत्युत्तर यही नियतिचर' शब्द है ।

अक्षरः शास्त्रा—प्रकृति

१—स्थितिः (गतिमपत्ति)—	मन्त्रा (अ)	} —मन्त्रा	} —अक्षरार्थमी दुष्ट
२—आगतिः (अर्वागतिः)—	विष्णु (इ)		
३—गतिः (परागति)—	इन्द्रा (उ)		
४—स्थितिमयिता आगति (सकाचः)—	सोमः (लृ)	} —अग्निविमो	} —सत्तात्मा पृथक्
५—स्थितिमयिता गति (विप्रलम्भः)—	अग्निः (कृ)		

३७—पुरुष-प्रकृति-प्रकृतिविकृति-रूप अमृत-मन्त्र-शुद्ध-नामक तीन विषयों का संस्मरण—

उक्त पाँची प्रकृतियों से किया एक ही प्रकृति के पाँच अवस्थाओं से क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अक्षर-अक्षरान् इन पाँच धारणाओं का विकास होता है । यही पञ्चकला कर विश्व का उत्पादनकारण बनता है । अक्षरप्रकृति की अपेक्षा यह विकृति है एवं वैश्वरूप विश्व की अपेक्षा इसे प्रकृति भी माना जा सकता है । अक्षरप्रधानात्मक शास्त्र में महाविद्युत्त वह व्यक्तप्रकृति 'प्रकृतिविकृति' नाम से प्रसिद्ध है । सम्पूर्ण विश्व विद्युत्त वैश्वरूप है । सर्वातीत पुरुष न प्रकृति है न विकृति है । इस दृष्टि से हम इस बात को पुरुष प्रकृति विकृति (प्रकृतिविकृति) इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं । पुरुष अक्षरनाम से प्रकृति अक्षर नाम से एवं विकृति अक्षर नाम से प्रसिद्ध है । इन्हीं तीनों को विज्ञानशास्त्र में अमृत-मन्त्र-शुद्ध-नाम कहा जाता है ।

३८—मन-प्राणवाङ्मय कर्मात्मरूप अक्षय्यसत्ता मनोमय अक्षय्य की त्रिविधरूपता, आर तदनुबन्धी ज्ञानयोग—

एक ही पुरुषात्मा के ये तीन भाग कैसे हो गए ? इसका उत्तर उन्हीं अक्षय्यपुरुष से मिले।
 ज्ञानात्मान ज्ञानयोग। पञ्चक अक्षय्य पुरुष का मनः-प्राण-वाङ्मय भाग 'कर्मात्म' नाम से प्रसिद्ध है।
 कर्मात्म की तीन कलाएँ ही इस त्रिविधता का कारण बनती हैं। मनस्वरूप ब्रह्म अक्षय्य है, प्राणस्वरूप ब्रह्म
 अक्षय्य है, एवं वाङ्मय रूप ब्रह्म अक्षय्य है। अक्षय्य की ये तीनों कलाएँ त्रिविधतावादी हैं। वेद में
 विद्यमानवाक्य—“मनः-प्राण-वाङ्मय त्रिविधरूपता की व्यापकता” नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित
 है। मन में ही मनः-प्राण-वाङ्मय तीनों हैं। मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है अतएव इस त्रिविध
 मनप्रधान की ज्ञानमयवृत्ति ही कहा जायगा। इसका अतिश्रुति स्वयं अक्षय्यपुरुष होगा। अक्षय्य का मन से
 ज्ञानप्रधान होमा ही वाच ही उक्त कर्मात्म भाग और अक्षय्य वाङ्मय ही ज्ञानप्रधान ही होगा—
 “यस्य ज्ञानमय तपः”।

३९—प्राणमय अक्षर की त्रिविधरूपता आर तदनुबन्धी कर्मात्मयोग—

प्राण में ही मनः-प्राण-वाङ्मय तीनों हैं। प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्मात्मप्रधान है अतएव
 इस त्रिविध प्राणप्रधान की 'कर्मात्मवृत्ति' ही कहा जायगा। इसका अतिश्रुति माना जायगा अक्षय्य के प्राण
 में अनुमदीन अक्षर की, किंवा प्रकृति की। अक्षर का प्राणभाग ही कर्मात्मप्रधान होगा ही, तब ही उक्त ज्ञानरूप
 मनोमय, एवं अक्षय्य वाङ्मय ही कर्मात्मप्रधान ही होगा।

४०—वाङ्मय अक्षय्य की त्रिविधरूपता आर तदनुबन्धी मक्तियोग—

वाङ्मय में ही मनः-प्राण-वाङ्मय तीनों हैं। वाङ्मय की प्रधानता है। क्योंकि वाङ्मय कर्मात्मप्रधान है
 अतएव इस त्रिविध वाङ्मय की 'अक्षय्यवृत्ति' ही कहा जायगा। इसका अतिश्रुति मनोमय-अक्षय्य के वाङ्मय
 से अनुमदीन अक्षर, किंवा प्रकृति। अक्षर का वाङ्मय ही अक्षय्यप्रधान होगा ही, तब ही उक्त ज्ञानरूप मनोमय,
 एवं अक्षय्य वाङ्मय ही कर्मात्मप्रधान ही होगा।

४१—अक्षय्य-अक्षर-क्षर-मात्रों में मध्यम अक्षर की सर्वरूपता, एवं अक्षय्यका अक्षर प्रकृति की मय्यापकता—

अक्षय्य-अक्षर-क्षर (वाङ्मय-प्राण-मनः) ज्ञानमय (मनो-मय) अक्षय्यपुरुष अक्षर ज्ञान-मयिष्ठ
 (वाङ्मय-मनो-मयिष्ठ) कर्मात्म (प्राणमयी) अक्षय्यप्रकृति, एवं ज्ञानकर्मात्मिष्ठ (मन-मयिष्ठ) अक्षय्य
 (वाङ्मय) अक्षय्यप्रकृति की समष्टि ही विश्व का आधार विद्यमान है। तीनों में अक्षय्यपुरुष आत्मन है
 अक्षय्यप्रकृति निमित्तकारण है एवं अक्षय्यप्रकृति उपरान्तकारण है। अक्षय्यप्रकार पर मयिष्ठ अक्षर क्षर के
 द्वारा तत्पूर्ण विश्व का निर्माण कर “तत्त्वमसि वा तत्त्वानुमाधिराज” इस विद्वान् के अनुमद विश्व में प्रसिद्ध
 द्वारा विश्वप्रमाण बन रहा है। यद्यपि अक्षय्यप्रकार की समष्टि ही विश्वप्रमाण है परन्तु प्रधानता अक्षर की
 ही है। उन्हीं में उक्त अक्षय्य का विश्व में प्रसिद्ध किया है उन्हीं में अक्षर का विश्वरूप में परिणत किया है।

अक्षर ही प्रकृति है, बही विरक्तज्ञ का मूल है। अतः हम सम्पूर्ण विरव को केवल अम्यक्तमूलक ही मान सकते हैं। बोध कि निम्नलिखित गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है—

१—अव्यक्तात् व्यक्त्य सर्वाः प्रमथन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रस्लीयन्ते तत्रयाव्यक्तसङ्गमे ॥

२—अजोऽपि सव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्मवास्यात्मनापया ॥

३—मयाप्यघेष्ट प्रकृति क्षयते स चराचरम् ॥

४२—ज्ञानयोगाधिष्ठाता अव्यय, कर्मयोगाधिष्ठाता अक्षर, भक्तियोगाधिष्ठाता चर, एवं योगप्रवी का समन्वय—

मनोमय अव्ययपुरुष ज्ञानयोग का अधिष्ठाता है, प्राणमयी अक्षरप्रकृति भक्तियोग की अधिष्ठात्री है एवं बाह्यमयी चराचरप्रकृति कर्मयोग की अधिष्ठात्री है। कारण स्पष्ट है। ज्ञेता कि पूर्व में कई बार स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञान आधिदैविक पदार्थ है कर्म आधिमासिक पदार्थ है। ज्ञानमय मनोविवेक आधिदैविक है अर्थमय वाग्मात्र आधिमोक्षिक है। सम्पूर्ण क्रियामय प्रलब्धविवेक में उक्त अक्षर के अव्यय के ज्ञानभाग का भी सम्बन्ध है एवं इस अक्षर के चर के अर्थभाग का भी सम्बन्ध है। अतएव आधिदैविक (ज्ञान) आधिमोक्षिक (अर्थ) विवेक के भागों से युक्त इन प्राणमय सम्पूर्ण विवेक को हम अक्षर ही भक्तियोग का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

४३—ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगों के एकदशी लक्षण, एवं तदाक्षर पर व्यापक लक्षण का अन्वेषण—प्राप्त—

ज्ञान-कर्म-भक्ति, तीनों के प्राकृतिक लक्षण क्या? यह भी विचारणीय विषय है। 'इन्द्रिय-संयम पूरक आधिदैविकभाव में प्रवृत्त रहना ज्ञानयोग है निष्कामबुद्धि से आधिमोक्षिकभाव में प्रवृत्त रहना कर्मयोग है एवं ईश्वरार्पणबुद्धि कर्म करना भक्तियोग है। ये तीनों ही लक्षण एकदशी ब्रह्मते हुए मूर्ति की मध्या से बहिष्कृत हैं। यदि तीनों ही योग नित्य हैं सर्वव्यापक हैं तो अक्षर ही तीनों का एका लक्षण होना चाहिए, जो मंगल के अनुपमात्र में यह ज्ञान में केवल मनुष्यों में ही अतिशुद्ध अक्षर-व्यवस्थावत् पदार्थों के साथ तीनों का सम्बन्ध होना। उन व्यापक लक्षण के लिए हमें निम्न लिखित श्रोत बचन का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

य सर्वज्ञ सर्ववित्, यस्य ज्ञानमय रूप ।

तस्मादतश्च श्रद्धा, नामरूप मन्त्रेण ज्ञायत ॥

—मुण्डकोपनिषद्

३८—मन प्राप्ताशङ्क मय कर्मोत्पन्नरूप अभ्ययात्मा, मनोमय अभ्यय की विश्वरूपता, आर तदनुबन्धी ज्ञानयोग—

एक ही पुरुषात्म के दो तीन भाग कैसे हो गए ? इसका उत्तर उही अभ्ययपुरुष से है। तत्प्राप्त होशयता। पञ्चम अभ्यय पुरुष का मन-प्राण-बाह्यरूप माय 'कर्मोत्पन्न' नाम से प्रसिद्ध है। कर्मोत्पन्न की तीन कलाएँ हैं 'त त्रिविध' का आरम्भ होती हैं। मनस्वन बाही अभ्यय है, प्राणस्वन बाही अक्षर है, एवं बाह्यरूप स बाही अक्षर है। अभ्यय की ये तीनों कलाएँ विश्वरूपता हैं। जैसे कि ईशमात्मनोर्गत—'मन-प्राण-बाह्य-तु त्रिविधभाष की व्यापकता' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। मन में ही मन-प्राण-बाह्य-तीनों हैं। मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है अतएव इस विश्व मनस्वित्व का ज्ञानमहत्त्व ही कहा जायगा। इसका अविच्छाद्य स्वरूप अभ्ययपुरुष होता। अभ्यय का मन ही ज्ञानप्रधान होता ही तब ही उक्त कर्मरूप प्राण और अर्चरूप बाह्यमाय भी ज्ञानप्रधान ही होता—'कस्व ज्ञानमये तप ।

३९—प्राणमय अक्षर की विश्वरूपता और तदनुबन्धी कर्मयोग—

प्राण में ही मन-प्राण-बाह्य-तीनों हैं, प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्मप्रधान है अतएव इस विश्व प्राणस्वित्व को 'कर्ममहत्त्व' ही कहा जायगा। इसका अविच्छाद्य माना जायगा अभ्यय के प्राण के अनुमहीन अक्षर को, किंवा प्रकृति को। अक्षर का प्राणमाय ही कर्मप्रधान होता ही, तब ही उक्त ज्ञानरूप मनोमय, एवं अर्चरूप बाह्यमाय भी कर्मप्रधान ही होता।

४—बाह्यमय आत्मक्षर की विश्वरूपता और तदनुबन्धी मत्तियोग—

बाह्य में ही मन-प्राण-बाह्य-तीनों हैं, बाह्य की प्रधानता है। क्योंकि बाह्यत्व अर्चप्रधान है अतएव इस विश्व-बाह्यत्व की 'अर्चमहत्त्व' ही कहा जायगा। इसका अक्षय्य स्वरूप-अक्षय्य के बाह्यमाय में अनुमहीन अक्षर, किंवा निरुति। अक्षर का बाह्यमाय ही अर्चप्रधान होता ही, तब ही उक्त ज्ञानरूप मनोमय, एवं अर्चरूप बाह्यमाय भी अर्चप्रधान ही होता।

४१—अभ्यय-अक्षर-अक्षर-मायों में अभ्यय अक्षर की सर्वरूपता, एवं अभ्यय अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता—

अक्षर-कर्म मर्गिण (बाह्य प्राण-मर्गिण) ज्ञानमूर्ति (मन-मूर्ति) अभ्ययपुरुष, अर्च ज्ञान-मर्गिण (बाह्य-मनो-मर्गिण) कर्ममयी (प्राणमयी) अक्षरप्रकृति, एवं ज्ञानकर्ममर्गिण (मन-प्राणमर्गिण) अर्चमयी (बाह्यमयी) अक्षरप्रकृति की कर्मि ही विश्व का आकार निरधारता है। तीनों में अभ्ययपुरुष आत्मजन है अतएव प्रकृति निमित्तकारण है एवं अक्षरप्रकृति उपदानकारण है। अभ्ययपुरुष पर प्रसिद्ध अक्षर अक्षर के बाह्य अनुमहीन अक्षर का निर्माण कर 'तत्त्वमसि' तथा 'तत्त्वमसि' का विद्यान्त के अनुमहीन अक्षर में प्रसिद्ध 'तत्त्वमसि' का अक्षर है। यद्यपि अभ्ययपुरुष अक्षर की कर्मि ही निरधारता है परन्तु प्रधानता अक्षर की ही है। उही न उन अभ्यय की विश्व में प्रसिद्ध किंवा है उही न अक्षर का निरधारण में परिणत किंवा है।

पल्लवापानेनाला है। स्थितिमात्र अर्थसापेक्ष बनता हुआ धर को विभूति है। गतिमात्र क्रियासापेक्ष बनता हुआ अक्षर की विभूति है। संसार में अन्वयात् पदार्थों के अन्वय-अक्षर-धर-विभूति-विराजता प्रतिष्ठित है। "ईशात्यास्यमिदं सर्वं यन् किञ्च जगत्स्य अगत्" (ईशोपनिषत्) इस ओपनिषद सिद्धान्त से तीन अपरिचित है। १ अतएव सिद्ध होना है कि प्रत्येक वस्तु में विकास भी है स्थितिमात्र भी है, एवं गतिमात्र भी है। वस्तु का विकास ही उत्तम अध्ययानुबन्धी ज्ञानयोग है वस्तु का स्थितिमात्र ही उत्तम धरानुबन्धी-कर्मयोग है एवं वस्तु का गतिमात्र ही उत्तम अक्षरानुबन्धी मक्तियोग है। प्रत्यक्ष दार्ष्ट्य इस दृष्टि से जानी-कर्मयोग एवं मक्ति है। वही प्राकृतिक ज्ञान-कर्म-मक्ति-बोली की सर्वव्यापकता है। परन्तु..... ।

४६—अभिधापि एकापि प्रकृति के नाना विवर्ण, एवं एकरवनिवन्धना महामाया का, तथा नानास्व-निवन्धना योगमाया का पावन संस्मरण—

अमी ठहर बाहर। इस 'किन्तु' 'परन्तु' की समलोचना पीछे की बाणी। अमी प्रकृति-धरा ही होलेने दीक्षित। प्रकृति का स्वरूप ब्रह्म नियत था तो संसार में वह वैविध्य क्यों उत्पन्न हुआ ? यह प्रश्न धरा-धरके लिए हमारे प्रकृतिकार पर सदा आघात कर बैठता है। किन्तु उत्तर बड़ा सरल है। व्यक्ति एक ही है उसकी प्रकृति भी एक ही है किन्तु वह अपने बाबा का पोता बापका वेद्य केदेक बाप पत्नी का पति पात्राला का अध्यापक, व्यापारी का ग्राहक, पत्रका सम्पादक, राजा की प्रजा पर का स्वामी यह सब क्या करता है ? बस जो उत्तर इस प्रश्न का है वही उत्तर वक्त प्रश्न का है। प्रकृति का स्वरूप एक सर्वथा ही एक किन्तु कर्म-मे-से बैठे एक ही धर्मित के अनेक नाम-अनेक-कर्म होजाते हैं एवमेव कर्मनामात्र से एक ही प्रकृति नानामात्रों में परिणत होखी है। पानी में भी वही अन्तर्व्यामी है अग्नि में भी वही अन्तर्व्यामी है। परन्तु पानी का वही अन्तर्व्यामी पानी की निम्न बरातल का अनुगामी बना रहा है वही अन्तर्व्यामी अग्नि को ऊँचे की ओर से बाराहा है। बिल्ले आग-पानी वायु-आदि में उत्पन्न किया उभने इस एक ही अन्तर्व्यामी की मिल भी बनाया। वह मेढक कोन ? हरि की योगमाया अमेक कोन ? अध्यय की महामाया ।

४७—ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-मातानुगता योगमायाप्रयी, आर मायाप्रवर्त्तक इन्द्रदेवता—

पूर्व में बताया गया कि, एक ही प्रकृति के ब्रह्मा-विष्णु आदि पाँच अवयव हैं। इन पाँचों अवयवों पर समष्टिरूप से व्याप्त रहने वाली प्रकृति ही महामाया है। पुराणक यह महामाया भी एकरवा ही है। इसके गम में इनीके माय धरमाय से नर्तनयम तीन योगमायाधी का आभिर्भाव होता है। पहली ब्रह्ममाया है दूसरी विष्णुमाया है तीसरी शिवमाया तथा इन्द्रमाया है—“त्रयो मायामि पुराण ईयन् (अथर्ववेदमहिता)।

४१—‘माया’ शब्द का निवन्धनात्मक समन्वय, एवं तद्व्युत्पत्ता स्पष्ट-स्पष्टात्मिक योगमाया और उसका योगस्व-समन्वय—

माया एक प्रकार का वह परिच्छेद है जो अमीम की लमीम बना देता है अन्वय की लम्ह-लम्ह-कर्म में परिणत करदेता है। मितवर्गिणी प्रकृति ही माया है। अक्षर-धरा महामाया न तदव्यापक अन्वय

४४—ब्रह्म-नामरूप-अक्ष-भावात्मक तीन व्यापक योग, अक्ष यागश्रयी का समन्वय

अक्ष कहती है कि जो मन्त्र है सवस्ति (सर्वमय) है विसृष्ट तत्त्व (कर्म) ज्ञानमय है उक्त ब्रह्म-नामरूप-अक्ष नाम के तीन उत्तरी का विकास होता है। विसृष्ट-विसृष्ट वह तत्त्व नहीं धारण करता विसृष्ट वृत्ति धारण में सर्वथा अव्यभिचारा प्रकृति (अक्षर) ही है। वही अक्षर के ज्ञान से मनेन्द्रिय की वृत्ति धारण है वही-अक्षर के अक्षरमात्र में अक्षरमयी बनती हुई सर्वार्थमयी है एक अक्षर प्राकृत्यकार से वही उत्पत्ती है। उक्त तत्त्वकार से ज्ञानमात्र के द्वारा नामरूप का विकास होता है अक्षरमात्र से ब्रह्म का विकास होता है एक प्राकृत्यमात्र में अक्षर का विकास होता है। ज्ञानमय नामरूप अक्षरमात्र ब्रह्म एवं कर्ममय अक्षर ही कर्मर ज्ञान-कर्म-मक्ति-विसृष्ट है।

४५—प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-अक्षप्रधान 'कर्मयोग'—

यही तीनों तत्त्व विज्ञानमात्र में अक्षरः प्रविष्ट-व्योति-अक्ष-अक्ष नामों से प्रविष्ट है। वैकृतिक विरह में अक्षप्रधान भूतव्यञ्ज ही ज्ञान-कर्म की प्रविष्ट बनते हैं क्योंकि ज्ञानवागरीक्षोपक्रम में विज्ञान में कल्याण आशुता है। अक्ष ही उत्तमात्र है। अक्ष ही प्रविष्टतत्त्व ब्रह्म है। वह प्रविष्टतत्त्व मन्त्रमात्र (नामविकृत उत्तमात्र) ही ब्रह्म है वही प्रविष्ट है। वही आदिमीतिक प्रवृत्ति है। वही प्रविष्ट-व्योति अक्षप्रधान कर्मयोग है।

४६—प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-ज्ञानप्रधान—'ज्ञानयोग'—

प्रकाश का ही नाम व्योति है। व्योति ही ज्ञान है। नामरूप, अक्षर ही का ही नाम व्योतिप्रधान व्योति है। 'हम वह जानते हैं हम वह जानते हैं' व्योति के ज्ञान की भीमा विरहापेक्षमा नाम-रूप पर ही विज्ञान है। या तो हम नाम जानते हैं अक्षर रूप जानते हैं। नाम रूप से व्योतिप्रधान ज्ञान का (मात्र-रूप) अक्षर क्या स्वरूप रूप रह जाता है। नामरूप में ही विरह प्रकाशित है। जिस दिन नाम-रूप का अक्षर-मात्र हो जाता है उस दिन जिस केवल स्मृति की ही कल्प रह जाता है। नामरूपवत्त्व वह व्योतिप्रधान ही व्योति है वही आदिमीतिक प्रवृत्ति है वही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानप्रधान-ज्ञानयोग है।

४७—प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-क्रियाप्रधान-मक्तियोग—

आत्मविज्ञान का जगत्प्रधान ही ब्रह्म है। यज्ञ ही अक्षर है—“यज्ञा वा अक्षरम्” (यज्ञ ब्रह्मणः)। समस्त कर्मों की नीना आश्रित विज्ञानमय अक्षर ब्रह्मणः पर ही विज्ञान है अक्षरप्रधान कर्मों को “अक्षरमयकर्म” माना गया है—“यज्ञा वे अक्षरमय कर्म” (यज्ञप्रधानाक्षर)। अक्षर में विज्ञान की विज्ञानप्रधान है एक आश्रितविज्ञान मय बनता हुआ ब्रह्मणः है। अक्षरमय ज्ञान का प्रविष्टतत्त्व अक्षर के साथ मन्त्र बनने वाला मन्त्र वह मन्त्र, अक्षरप्रधान अक्षरमयमन्त्रमय ब्रह्म ही है। वही उत्पत्तीप्रधान में ब्रह्म बनता हुआ प्रविष्ट मक्तियोग है। नीना जगत्प्रधान सर्वत्र व्याप्त है।

४८—विक्राममात्रात्मक ज्ञानयोग, स्थितिमात्रात्मक कर्मयोग, वृत्तिमात्रात्मक मक्तियोग

अस तीनों योगों से युक्त विज्ञान के अक्षर अक्षर-पदार्थ—

विज्ञानमात्र ज्ञानवाग है स्थितिमात्र कर्मयोग है, वृत्तिमात्र मक्तियोग है। विज्ञान-प्रधानमय बनता हुआ अक्षर की विभूति है जैसा कि मूलमात्र में विभूति-रहस्योपनिषत् में विज्ञान से

(महादेव) आते। आते हैं अर्थात् से एकमात्र विष्णु। अथवा अहम्भूत विद्यानी को यह विदित है कि भारवर्ण में २४—२—चित्ते मी अन्तार सुने आते हैं वे सब एकमात्र विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं। पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि जब जब संसार में अत्याचार फैलता है तब तब देवगण सहित ब्रह्मा और महादेव गोलोकवासी गोविन्द की नहीं नही गोविन्द की उस योगमाया की ही सृष्टि करते हैं, चित्ते कि—“शेर्षा निद्रावश नीत” (सत्तलारी) के अनुसार स्वयं उसको मी मोहनिद्रा से अभिमूढ कर रक्खा है। प्रार्थना से योगमाया हरि का प्रबोधन करती है। हरि अथवा के लिए आश्वासन प्रदान करते हैं। यही कारण है कि, बर्म्भस्थानि के उपशम के लिए विष्णु के अतिरिक्त अथवाओं के लोक में ब्रह्मावतार किंवा—महादेवावतार प्रसिद्धि में नहीं आये।

५५—शुक्र-शोषितानुगता रयि-प्रायात्मिका आप्यात्मिकी योगमाया का स्वरूप— समन्वय एवं तद्वद्वारा विश्व का सम्मोहन—

एक कम-कार और देखिए। आगस्तित्व का ही नाम विष्णु है एवं रिधाकारिता आनति को ही हमने सोम कहाया है। सोम ही विष्णु का विष्णुत्व है। सोमदान से ही यक्षमूर्ति विष्णु का ब्रह्मर्म्म प्रतिष्ठित है। उचर इन्द्र नामक गत-तरल का अग्नि के साथ सम्बन्ध स्थापना गया है। यों समस्तिक्रमिक सोमत्व विष्णु शान्त है एवं अग्निवैक्य इन्द्र, किंवा पुराणपरिभाषानुसार वह उग्र देवता है। उमय-निष्ठा स्थितिक्रम ब्रह्मा अनुष्णापीन हैं। आप्तेप्राण हवा कहाया है। सोमप्राण योना नाम से प्रसिद्ध है। योना स्त्रीमात्र का समर्पक है हवा पुरुषमात्र का समर्पक है। माता के गर्भाशयमें योनाप्राण की प्रधानता है अतएव वह सोम विष्णु-प्रधान है—“प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः शूरे (शतपथ ब्राह्मण)। पिता आग्नेय-प्राणात्मक हवाप्रधान है। कन्मगाता पिता है गर्भरक्षा करने वाली माता है। वही पालन करती है वही रक्षा करती है। यह विष्णु की योगमाया का ही अनुग्रह है। माता खाद्यत् योगमाया है वैष्णवी माया है। इसीलिए आर्य-साहित्य में पिता की अपेक्षा माता का स्थान ऊँचा माना गया है। ब्रह्म्य यही है कि तीनों योगमायाओं में से केवल विष्णुमाया ही योगमाया कहासकती है वैवाकि—‘योगमाया इरेरथैतत् तथा संमोहयते जगम्’ इत्यादि श्रुत्यवचन से स्पष्ट है।

५६—योगमायातुगत मौम्य महत्प्रज्ञा, तन्निबन्धन त्रिगुणभाव सूर्य चन्द्र पृथिव्यनुगत दशपूर्यमास से त्रिगुण महान् की आकृति-प्रकृति-अर्द्धकृति-मातों में परिणति—

यही योगमाया विज्ञानमाया में ‘महत्प्रज्ञा’ नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व के वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा प्रकर्य में इसे ही हमने ‘महानादृमा’ कहा है। महान् पारमेष्ठ्य-मीम्बतरन है वैवाकि—“महत्तत् सोमो महिषब्रह्मर” “त्याप्ति मन्त्रकर्णन से स्पष्ट है। सूर्य के दशपूर्यमास से नम पारमेष्ठ्य सौम्य महान् त्रिगुणमात्र का उद्भव होता है। बिचप्रकार अजमा शुक्ली के चारों ओर परिक्रमा लगाता है अथवा-पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है एवमेव चन्द्र-पृथिवी से युक्त सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है बाकि परिक्रमाद्वय आत्र के मीथिक विज्ञान की परिकानलीमा से बर्हिभूत है। सूर्य की इसी परिक्रमा का नाम वर्द्ध-पूर्यमास है। पारमेष्ठ्य महान् का जो माग सूर्य से प्रकाशित रहता है,

परम-पर को सीमित किया है तो महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित करके योगमाया ने इस बन्धवानी महात्म्य को भी सीमित कर, इसे भी लयबद्ध-लयबद्ध रूप में परिवर्तित कर लिया है। क्योंकि ब्रह्ममाया अक्षरशक्ति का महा-माया के गर्भ में प्रतिष्ठित रहती हुई महामाया से भुक्त रहती है अतएव उसे 'योगमाया' कहा जाता है। 'योग' शब्द के 'यु' सम्बन्धन अर्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र तीनों ही भागों में योगमाया कहना लज्जा है। ब्रह्ममाया उत्पत्ति की अविद्याशक्ति है विष्णुमाया पालनकर्म की अविद्याशक्ति है। एवं रुद्रमाया संहार की प्रवर्तिता है।

५२—योगमायात्रयी से अनुगता विष्णुमाया का ही योगमायात्व, एवं योगमायावच्छिन्न शैव्याव-यस्य की संगम्यापकृता का समन्वय—

कारण की उत्पत्तिमें ब्रह्ममाया का अनुग्रह है स्थिति में विष्णुमाया का अनुग्रह है एवं संहार में रुद्रमाया का इस्तबैष है। वस्तुतः (अस्तित्व) के सम्बन्धता ब्रह्मा है पुरुषवत् स्वरूप का विष्णु है, एवं पुरु-विनाशक रुद्र है। तभी तो वे 'त्रिमूर्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं। इत्युक्त 'ब्रह्ममायाया युक्त्यवच्छिन्नमस्मिन् मायं योगमाया' 'स निबन्धन के अनुसार कथित उक्त तीनों ही लयबद्धमाया योगमाया नामसे सम्बन्धित होकर हैं एवं होती हैं परन्तु योग—शब्द के सामान्य अर्थ के विचार करने पर 'योगमाया' नाम की अवधारणा एकमात्र विष्णुमाया ही रह सकती है। दो अनुग्रहों का मिलना ही योग कहा जाता है। रुद्रमाया पूर्वकर्मना-नुसार अपनी विष्णुमाया विक्षेपशक्ति से किसी हुई कष्ट का सम्बन्ध त्रुटित कर उसे उत्थान कर देती है अतएव योग नहीं कहितु विरोध है। अतः इस योगमाया को योगमाया की अपेक्षा अयोगमाया कहना है अन्वय कहलाता है। ब्रह्ममाया शुक्र-रोमित के योग के द्वारा किंचि रति और प्राण के योग के द्वारा ब्रह्म एव अचैतन्य पदार्थों के रूप का कायक बनती हुई कथित योगमाया कहना सकती है। परन्तु ब्रह्ममाया व ब्रह्म योगमाया विष्णुमाया की रूपा पर ही अवलम्बित है। अज्ञान से ही शुक्ररोहित का स्वरूप निष्पन्न होता है। उच्च बोधि में शुक्रशुद्धि का योग होता ही वैष्णव यम की रूपा का ही पक्ष है।

५३—मध्यवी योगमाया का विस्तार-समन्वय—

स्वयं ब्रह्मा का स्वरूप भी विष्णुमाया से ही सुवर्णित है। यदि विष्णुदेवता अज्ञान न करे, तो निरन्तर ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कभी सुवर्णित न रहे। इत्युक्त विष्णु की प्रतिष्ठा की (ब्रह्मा की) की भी प्रतिष्ठा का अर्थ है। अतएव ब्रह्ममाया का योगत्व भी विष्णुमाया से ही अन्वयित हो जाता है। अतएव आदित्य कर उक्त पदार्थों के साथ योग कर के इन योग के द्वारा पदार्थों का किंचि पदार्थ-समन्वित विस्तार का स्वरूप सुवर्णित रहता एकमात्र वैष्णवी माया का ही काम है। अतः आदित्य किंचि का योगमाया न कहकर विष्णुमाया का ही इस भागमाया कहेंगे।

५४—योगमायावच्छिन्न हरि के विविध अवतार, एवं ब्रह्मावतार-महादेवावतार-आदि की अवधि का समन्वय—

का पालन करता है उसे ही रूपा की चिन्ता होती है। पालन करना क्योंकि एकमात्र विष्णुमाया का ही काम है अतएव विस्तार में वह सब अवलम्बित उपस्थित होती है वह सब न ब्रह्मा आने न रुद्र

मगवानपि ता रात्रीः शरदोऽपुष्पमक्षिका ।

वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमाया-समावृतः ॥

श्रीमद्भागवते

महामाया का व्यापक पुरुष से सम्बन्ध है एवं उसका अवतार असम्भव है। दूसरी दृष्टि नवमेऽंश-
के अवतार है— 'ममेवांशो जीवन्तोके जीवभूताः सनातन- ।

६०—महामोहप्रवर्तिका योगमाया, सञ्चित्युपायभूता योगमायोपासना, एवं तत्सम्बन्ध
में मार्कण्डेय-महर्षि के उद्बोधक-सूत्र—

त्रिसंस्कार उत्त व्यापक पुरुष के लिए वह महामाया है एवमेव त्रिगुणसमक विरव एवं विरव
में रहने वाली त्रिगुणात्मिका प्रका के लिए तो योगमाया ही महामाया है। सभी प्राणी जन्ममात्रा से मुक्त हैं
ज्ञान मोहनाश का वास्तव है। परन्तु इस महामायायामी योगमाया के निमग्नत्वक अनुमह से रहता हुआ म।
ज्ञान मोह को नहीं हटा सकता। बड़े बड़े तपस्वी भी ज्ञानी भी योगमाया के बलवत् आकर्षण से मोह के
अनुमामी बन ही जाते हैं। मोह से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—माया की आराधना जगत्मा
की स्तुति। त्रिगुणे मोहपाश में आबद्ध कर रक्का है वही पाशकल्पन से विमुक्त भी कर सकती है। इसी
मायाश्रय का विरहेण करते हुए महर्षि उपासक मुख्य गन्ता से कहते हैं—

१—ज्ञानमग्नि समस्तस्य अन्तोर्विषयगोचर ।

विषयाश्च महामाग यान्ति श्वं शूयक् शूयक ॥

२—दिवाचाः प्राग्निन कश्चिद्रात्रावन्धास्तथाऽपरे ।

केचिदिवा तथा रात्रौ प्राग्निनस्तुन्यष्टस्य ॥

३—ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते नहि क्वलम् ।

पतो हि ज्ञानिन मर्ने पशुपविमृगादय ॥

४—ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ।

मनुष्याणां च यत्तेषां तुभ्यमन्यत्तयोमपोः ॥

५—ज्ञानसि सति परपैतानपतगाश्चावर्चनुपु ।

कणमोघाहता मोहान् पीड्यमानानपि क्षुपा ॥

६—मानुषा मनुष्याणां गामिलाणां मुनान् प्रति ।

सोभात् प्रप्युपकाराय न वनान् किं न परपमि ॥

बद्ध प्रकाशित अंश उत्पत्ति महान् है अप्रकाशित अंश तमोर्त्ति महान् है एवं सन्ध्य माग रमोर्त्ति महान् है । "न तीनी गुणों के अनिरुद्ध" ती महान् में इसी दर्शपूर्णमास से आकृति-प्रकृति-आहर्त्ति-मात्रों का जन्म होता है । भूतमयी पृथिवी के दर्शपूर्णमास से महान् में आकृतियाँ का उदय होता है चन्द्रमा के दर्शपूर्णमास से प्रकृतिभाव का उदय होता है एवं स्वर्ग स्वर्ग के दर्शपूर्णमास से आहर्त्तिय का उदय होता है । आहर्त्ति का सन्ध्य से उदय है प्रकृति का रमोर्त्ति से उदय है एवं आहर्त्ति का तमोर्त्ति से उदय है ।

५७—महद्गामीभूत चिदात्मा का संस्मरण, एवं योगमाया के द्वारा अनेक भावों की प्रकृति—

इन योगमायामय महान् के इसी ६ भावों का तीनों देवताओं के साथ सम्बन्ध होता है । इसा कृतगुणप्रधान है विष्णु रमोर्त्तिप्रधान है एवं ब्रह्म तमोर्त्तिप्रधान है । इनप्रकार महामावर्त्ति कर्त्त के गम में रहते जाणा वह योगमाया (विष्णुमाया) विष्णुगुणप्रधान बन जाती है । यही विष्णुगुणप्रधान योगमाया उस अन्तरिक्ष को लपट-लपट-रूप में परिणत कर देती है । 'मम बोनिमहद् ब्रह्म तस्मिन् गम द्वाभ्यहम्' के अनुसार इसी महद्गम में चिदात्मा गर्भ बाण करते हैं । वित्तप्रकार पावों के मेर से एक ही धर्मप्रतिबिम्ब अनेक भावों में परिणत होता हुआ लपट-लपट रूप में विभक्त हो जाता है एकमेव एक ही अन्तरिक्ष (आहर्त्तिप्रधान) शरीरप्रतिबिम्ब पावस्थानीया इन योगमाया के अन्तर्गत से लपट-लपट रूप में परिणत हो गया है ।

५८—चतुरशीतिलक्षमिता योगमाया एवं योगमाया की आवरणपरम्पराओं से चिदात्मा की निगुहता—

चतुरशीतिलक्ष आहर्त्ति यन्त्रमुद्रा "स योगमाया के अनेक अन्तर अन्तर लपट होती है । अन्तर में अन्त्य लीमित पदार्थ हैं । एक एक लीमित पदार्थ एक एक योगमाया है । प्रत्येक योगमाया में परमाहर्त्ति में अन्त्य योगमाया है । यही योगमाया में छोटी योगमाया छोटी में पुनः योगमाया इत दहरीचर-अन्त्य में विरह में अन्त्ययोगमाया विष्णुगुणप्रधान ती योगमाया का अन्त्य होता है । योगमाया के आवरण से एतत्त्वबद्धता महद्गम एवं लक्ष्मिबद्धता महद्गमयी पुनः अनेकों का स्वरूप आहर्त्ति होता है । योगमाया न ही अन्त्यबद्धता की आहर्त्ति कर गया है अन्त्य कि अन्त्य करते हैं—

नाह प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमाहृतः ।

इदोऽयं नामिज्ञानाति लोको मामग्रमभ्ययम् ॥

—गीता

५९—योगमायाबद्धि विष्णु के अवतार का संस्मरण—

अन्त है अवतार का एकमात्र इसी योगमाया से सम्बन्ध है क्योंकि अन्त्य विष्णु का ही होता है एक उनी की मात्र योगमाया है अन्त्य कि अन्त्यविभक्त अन्त्य में रहते हैं—

६—पकारान्तरं सप्तमि --

१—आनन्दमय मनः—ज्ञानयोगभूमि
 २—विज्ञानमय प्राणः—भक्तियोगभूमि
 ३—मनोमयी बुद्धि—कर्मयोगभूमि

ज्ञानयोगविद्याता—अभ्यवपुल्य

१—आनन्दगर्भिता, मनोमय मयसो ब्रह्मा प्राणमूर्तिः }—ज्ञानयोगभूमिः
 २—विज्ञानगर्भिता प्राणमय, मयराशि विष्णु प्राणमूर्तिः }—भक्तियोगभूमिः
 ३—मनोगर्भित वाहमयः मयविन् इन्द्र—प्राणमूर्ति
 ४—मनोगर्भित मन प्राणमय सर्वविन्-अग्नि प्राणमूर्ति }—कर्मयोगभूमिः
 ५—प्राणपान्मर्भितः प्राणवाहमयः मयविन्-सोम-प्राणमूर्ति

भक्तियोगविद्यात्री
 प्रकृति (अपरः)

१—आनन्दगर्भितः, मनोमय बुद्धिमूर्ति प्राण—वाहमय }—ज्ञानयोगभूमिः
 २—विज्ञानगर्भिता, प्राणमयः लोकमय आपः—वाहमय }—भक्तियोगभूमिः
 ३—मनोगर्भिता, वाहमयी देवमयी वाक् वाहमयी
 ४—मनोगर्भित मन प्राणवाहमयः मूतमय—अन्नाद्-वाहमय }—कर्मयोगभूमिः
 ५—प्राणपान्मर्भित प्राणवाहमय धम्ममयः अन्नम् वाहमयम्

कर्मयोगविद्यात्री
 प्रकृति (परः)

४—समष्टि

- | | | |
|--|---|---------------|
| १—मनः—ज्ञानं (ज्ञानयोगः)—मनोमूर्तिरव्ययः | } | —सदिदं सर्वम् |
| २—प्राणः—क्रिया (भक्तियोगः)—प्राणमयाऽक्षरः | | |
| ३—वाक्—अर्थः (कर्मयोगः)—वाक्मयः चरः | | |



५—समष्टि

- | | | |
|------------|---|---|
| विद्वन्मनः | { १—मनोमयं मनः (मनः)—ज्ञानम् (ज्ञानमयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
२—मनोमया प्राणः (मनः)—क्रिया (ज्ञानमया भक्तियोगः) दे० मू
३—मनोमयी वाक् मनः—अर्थः (ज्ञानमया कर्मयोगः) अधिभू० | { —ज्ञानयोगः—अव्ययः
—भक्तियोगः—अक्षरः
—कर्मयोगः—चरः |
| प्राणमयः | { १—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—क्रिया (क्रियामयो भक्तियोगः) दे० मू
२—प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानम् (क्रियामयो ज्ञानयोगः) अधिदै
३—प्राणमयी वाक् (प्राणः)—अर्थः (क्रियामया कर्मयोगः) अधिभू० | |
| वाक्मयः | { १—वाक्मयी वाक् (वाक्)—अर्थः (अर्थमया कर्मयोगः) अधिभू
२—वाक्मयः प्राण (वाक्)—क्रिया (अर्थमया भक्तियोगः) दे० मू
३—वाक्मयं मनः (वाक्)—ज्ञानम् (अर्थमयो ज्ञानयोगः) अधिदै | |

१—अव्ययपुरुष

—	मनोमयो मुक्तिवाच्यो	ज्ञानस्य-विज्ञान-	१—मनः (ज्ञानं—ज्ञानयोगः) अधिवैषतम्	}	आत्मस्वनम् “न करोति न लिप्यते”
			२—प्राणः (क्रिया—भक्तियोगः) वैषतानिधमूतानिध		
			३—वाक् (अर्थः—कर्मयोगः) अधिमूलम्		



२—अक्षरप्रकृतिः (महामाया)

१—ब्रह्मा (१)	}	मनोमयः (ज्ञानं—ज्ञानयोगः) अधिवै०	}	निमित्तकारणम् “करोति, न लिप्यते”
२—विष्णुः (१)		प्राणमयी (क्रिया—भक्तियोगः) वै० मू०		
३—इन्द्रः (२)				
४—अग्निः (१)		वाक्मयी (अर्थः—कर्मयोगः) अधिमू०		
५—सोमः (२)	}		}	



३—क्षरप्रकृतिः (प्रकृतिविकृतिः) योगमाया

१—प्राणः (१)	}	मनोमयः (ज्ञानं—ज्ञानयोगः) अधिवै०	}	उपादानकारणम् “विकरोति लिप्ते च”
२—आत्माः (१)		प्राणमयी (क्रिया—भक्तियोगः) वै० मू०		
३—वाक् (२)				
४—अस्मादाः (१)		वाक्मयी (अर्थः—कर्मयोगः) अधिमू०		
५—अस्मत् (२)	}		}	



- ७—तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्भे निपासिता ।
महामायाप्रमाथेय संसारस्थितिकारिणः ॥
- ८—तथात्र हिम्मयः काप्यो योगनिद्रा खगस्पतेः ।
महामाया इन्मैषा तथा संमोहते जगत् ॥
- ९—ज्ञानिनामपि चेतांसि वेदी मगधती हि सा ।
बलाद्राकृत्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
- १०—तया विसृज्यत विरवं जगदेतन्मराधरम् ।
तया प्रमथा बरुता नृणां भवति मुक्तये ॥
- ११—सा विद्या परमा मुक्तोद्देशुभूता सनातनी ।
संसारवन्देतुम् तैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥
- १२—एतच्छे कथितं मूष । देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
एव प्रगाथा सा हवी यदेदं धार्यत जगत् ॥
- १३—विद्या तयैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।
तया त्वमप वैश्यश्च तयैवान्य विवेकिनः ॥
- १४—मासन्त मोहितामकैव मोहमेप्यन्ति चापरे ।
तानुपैक्षि महाराज ! शरत्वं परमेस्वरीम् ॥
- १५—आराधिता तैव नृणां भोगम्भगपिबर्गदा ॥

—श्रीमत्कव्यदेपुराणे

६१—विश्वाम्ना ष्मं विरवं समष्टिरूपं सदाप्रपञ्चं तदनुगता विवर्धयिषी, एषं सम्-
ख्या मोहजननी योगमाया—

अक्षय के समय का निरूपण यही हुआ कि विश्वविषय विवर्धयिषी, और विरवं इन दो भागों में विभक्त है। विरवा मा में अक्षय-आकार-कार के तीन विभक्त हैं। तीनों कमरा पुरुष प्रकृति-विकृति है। पुरुष मात्र-प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है आत्मस्थ है। मूर्ति प्राप्तिप्रधान बनती हुई क्रिया-प्रधान है प्रज्ञाया हीन में उभयविध है। यही निमित्तकारण है स्वयं से एक है महामाया है। विरवि वास्तविकता बनती हुई अक्षयप्रधान है उपादानकारण है। यही त्रिगुणमायात्मिका मायमाया है। यही मा ही बनती है यही विरव्या है यही लक्ष्म्या है। ये ही तीनों विभक्त कमरा ज्ञान-भक्ति-कर्म-योग के अक्षय-जगत्क है। निम्न निरूपण तात्पर्यात्मी में निरूपण कर म्भक्त्य तद्वर्धयिता दण्ड ही-जाना है।

—पकारान्तरेण समष्टि —

- १—ज्ञानान्वयं मनः—ज्ञानयोगमूभिः
 २—विज्ञानमयं प्राणः—भक्तियोगमूभिः
 ३—मनोमयी वाक्—कर्मयोगमूभिः
- ज्ञानयोगाधिष्ठाता—अव्ययपुरुषः

- १—ज्ञानान्वयं मनः, मनोमयः सवक्षो ब्रह्मा प्राणमूर्तिः
 २—विज्ञानमयं प्राणमयः, सवक्षो विष्णुः प्राणमूर्तिः
 ३—मनोमयं वाक्मयः सर्ववित् इन्द्र—प्राणमूर्तिः
 ४—मनोमयं मनः प्राणमयः सर्ववित् अग्निः प्राणमूर्तिः
 ५—प्राणमयं प्राणमयः सर्ववित् सोमः प्राणमूर्तिः
- ज्ञानयोगमूभिः
 भक्तियोगमूभिः
 कर्मयोगमूभिः
- मत्तियोगाधिष्ठाता
 प्रकृति (अव्ययः)

- १—ज्ञानान्वयं मनोमयः सवक्षो ब्रह्मा प्राणमूर्तिः
 २—विज्ञानमयं प्राणमयः सवक्षो विष्णुः प्राणमूर्तिः
 ३—मनोमयं वाक्मयः सर्ववित् इन्द्र—प्राणमूर्तिः
 ४—मनोमयं मनः प्राणमयः सर्ववित् अग्निः प्राणमूर्तिः
 ५—प्राणमयं प्राणमयः सर्ववित् सोमः प्राणमूर्तिः
- ज्ञानयोगमूभिः
 भक्तियोगमूभिः
 कर्मयोगमूभिः
- मत्तियोगाधिष्ठाता
 प्रकृति (अव्ययः)

४—समष्टिः

- | | | |
|--|---|---------------|
| १—मनः—ज्ञानं (ज्ञानयोगः)—मनोमूर्तिरुत्पद्य | } | —सदिदं सर्वम् |
| २—प्राणः—क्रिया (मक्तियोगः)—प्राणमयोऽक्षरः | | |
| ३—वाक्—अर्थः (कर्मयोगः)—वाक्मयः क्षरः | | |

५—समष्टि

- | | | |
|-----------|--|------------------|
| ज्ञानयोगः | { १—मनोमयं मनः (मनः)—ज्ञानम् (ज्ञानमयो ज्ञानयोगः) अविद्ये०
२—मनोमयः प्राणः (मनः)—क्रिया (ज्ञानमयो मक्तियोगः) वे० मू
३—मनोमयी वाक् मनः—अर्थः (ज्ञानमयो कर्मयोगः) अविद्युः } | ज्ञानयोगः—मनः |
| मक्तियोगः | { १—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—क्रिया (क्रियामयो मक्तियोगः) वे० मू
२—प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानम् (क्रियामयो ज्ञानयोगः) अविद्ये०
३—प्राणमयी वाक् प्राणः—अर्थः (क्रियामयो कर्मयोगः) अविद्युः } | मक्तियोगः—प्राणः |
| कर्मयोगः | { १—वाक्मयी वाक् (वाक्)—अर्थः (अर्थमयो कर्मयोगः) अविद्युः०
२—वाक्मयः प्राणः (वाक्) क्रिया (अर्थमयो मक्तियोगः) वे० मू
३—वाक्मयं मनः (वाक्) ज्ञानम् (अर्थमयो ज्ञानयोगः) अविद्ये } | कर्मयोगः—वाक् |

८—साम्या विष्णुमाया-योगमाया-खण्डखण्डात्मिका-त्रिगुणमयी दुरत्यया—

- १—मखगुणको महाम्—तद्विद् पारमेष्ठ्य ब्रह्म मौन्यं वैष्णवम्—विद्वान्मनोनि
- २—रजोगुणको महाम् "
- ३—तमोगुणको महाम् "
- ४—अहंकृतिमहान् "
- ५—प्रकृतिमहाम् "
- ६—आकृतिमहाम् "

१०—दशार्शमास—

- १—सौरप्रक्षरानुगतो महाम्—प्रक्षरामूर्तिः—सखम्
- २—सौरविष्वद्विगतो महाम्—तमामूर्तिः—तम
- ३—मणिगतो महाम्—रजामूर्तिः—रज
- ४—सारपूषमासेन महति—अहंकृतकृत्यः—अहंकृति
- ५—चान्द्रपूषमासेन महति—प्रकृतेकृत्यः—प्रकृति
- ६—पार्ष्वपूषमासेन महति—आकृतेकृत्यः—आकृति

- १—सखमूर्तिर्महान्—अहंकृतरविज्ञाता—ज्ञानयोगमूर्तिः
- २—रजोमूर्तिर्महान्—प्रकृतरविज्ञाता—मक्तिवागमूर्तिः
- ३—तमोमूर्तिर्महान्—आकृतरविज्ञाता—कर्मयोगमूर्तिः

६०—पुरुषयुक्ता गुणान्विता शिफला प्रकृति, तन्निबन्धन-प्रित्तमात्र, एव—'वि सत्या वै देवा' का समन्वय—

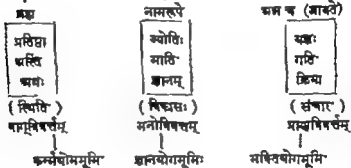
प्रकृति क्या है ? इस प्रश्न की सीमाओं की गई । इस सीमाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुरुषयुक्ता प्रकृति अपनी अवयवकला त्रिगुणकला त्रिगुणमायात्मिका योगमाया की छाती पर विरच का स्वरूप निर्माण कर रही है । क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से युक्ता योगमाया ही विरच की बननी है वृत्तों शब्दों से—दीनी का समन्वय ही विरच का व्यक्ता है अतएव तत्पूर्व विरच में लयति, एवं व्यक्तिरूप है

७—महामायाविवर्त—

मनोमयस्थानं सर्वज्ञः, प्राणमयस्थानं सर्वशक्तिः, वाक् मयस्थानं सर्वविद्

तस्मिन् (अक्षरात्)

एतन्



सर्वं कर्माणि पार्थ ! जाने परिसमाप्यते

८—योगमायाविवर्त—

- १—ब्रह्ममाया—ततो ब्रह्म (कस्याप्यमम्)—अनुप्यासप्रतिष्ठा—योगमाया
- २—विद्युमाया—ततो विद्युत् (पाकनं रज्ज्वाच्च)—सौम्या—योगमाया
- ३—शिवमाया—ततो शिवः (संहारः)—आग्नेया—योगमाया

८—सौम्या विष्णुमाया-योगमाया-खण्डखण्डात्मिका-त्रिगुणमयी दुरत्यया—

- १—सर्वगुणको महान्—सर्वं पारमेष्ठ्य ब्रह्म सौम्यं वैष्णवम्—विवात्मयोनिः
 २—रजोगुणको महान्
 ३—तमोगुणको महान्
 ४—अहंकृतिमहान्
 ५—प्रकृतिमहान्
 ६—आकृतिमहान्

१०—दर्शपूर्णमास—

- १—सौरप्रक्षरानुगतो महान्—प्रक्षरमूर्तिः—सर्वम्
 २—सौरविष्वद्विगुप्तो महान्—तमोमूर्तिः—तम
 ३—सम्बिगतो महान्—रजोमूर्तिः—रज
 ४—सौरपूर्वमासेन महति—अहंकृतेरुच्यः—अहंकृति
 ५—चान्द्रपूर्वमासेन महति—प्रकृतेरुच्यः—प्रकृति
 ६—पार्विषपूर्वमासेन महति—आकृतेरुच्यः—आकृति

- १—सर्वमूर्तिर्महान्—अहंकृतेरभिप्राता—ज्ञानयोगमूमा
 २—रजोमूर्तिर्महान्—प्रकृतेरभिप्राता—मक्तिःयोगमूमा
 ३—तमोमूर्तिर्महान्—आकृतेरभिप्राता—कर्मयोगमूमा

६२—पुरुषपुक्ता गुणान्विता त्रिकला प्रकृति, तमिष-धन-त्रिषमाव, एव—‘त्रि-सत्या’
 वै देवा’ का समन्वय—

प्रकृति क्या है ? इस प्रश्न की सीमाया की गई । इस सीमाया से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, पुरुषपुक्ता प्रकृति अपनी अवयवकला त्रिगुणकला त्रिगुणमायात्मिका योगमाया की धारी कर विरव का स्वरूप-निर्माण कर रही है । क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से पुक्ता योगमाया ही विरव की बननी है । पूछे शब्दों में—तीनों का समन्वय ही विरव का आत्मा है, अतएव सम्पूर्ण विरव में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से

सर्वत्र ज्ञान-रूप मन्त्रि-योगी का ही साम्राज्य है। प्रकृतिक्रिडा अतुल्यत्व की भाँति प्रकृतिक्रिडा योगपी भी मन्त्रिक बनती हुई सर्वथा निराला है। इसी भाँति योगी के प्रभाव से अथवा योगयोगवस्तुम विरक्त निराला के अतुल्य से सर्वत्र विरक्तता का साम्राज्य ही रहा है। साम्तीय व्यवहारी में तो विपुलि का राज है ही, परन्तु लौकिक व्यवहार भी इसमें बहिष्कृत नहीं है। इसी अन्तर्गुणि से साम्राज्यत्व परिपूरित है। देवत्व स्वभावगामी है इसी अन्तर्भाव से इनके मन्त्रत्व में — 'प्रियमस्या यं कृषा' यह वचन प्रसिद्ध है। विपुलि का साम्राज्य कहीं कहीं व्याप्त है, यह निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों में स्पष्ट होता है—

६३—त्रिपुलिभाषान्विता त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रित्व-धर्मों का विभिन्न षष्टि कोणों से समन्वय एवं प्राकृत विरक्तानुबन्धिना भावपी के कतिपय उदाहरण—

विश्वलील प्रविविक्तजगत् विरचन प्रविष्टजगत् विरवरूप सृष्टजगत् मेघ से जगत् के तीन विरक्त है। मूला अक्षिमा मूलाक्षिमा मं से विरक्तलील परात्पर के तीन विरक्त है। आत्मक-अक्षर-आत्मक (पुरुष-प्रकृति-विहृति) मेघ से विरक्त पादशी पुरुष के तीन विरक्त है। तपरी तैल-वर्ण स्व-कन्दरी तैलवर्ण मुख रोखी तैलवर्ण मू मं म विरक्त भी विरक्त है।

आत्म-विज्ञान-आत्मना (स्वकीय-मनो) मं से कृत्तिका की ज्ञानरमा (विद्यात्मक) भी विरक्त है। मन्त्र-प्राप्त-वाक् मं से कृत्तिका की कम्पात्मा (कम्पात्मक) भी विरक्त है। प्रद्यो-न्ताविष्णु-अग्नीपाम मं म प्रकृति (अक्षर) भी विरक्त है। प्राप्त-आरोहा-अमाना मं म विहृति (अक्षर) भी विरक्त है। मन्त्र-अनना-आनन्द मं से व्यापक प्रद्यो भी विरक्त है।

—

वाक् आप-अग्नि मं से सङ्कीर्ण शुक्ल भी विरक्त है। आत्मा-प्राप्त-पशु मेघ से सृष्टिर्गुणि प्रद्योपनि भी विरक्त है। आत्मा पर्व-पुनर्पर्व मेघ से प्रद्योपनि की मन्त्रा २ भी विरक्त है। उक्थ-नक्ष-अग्नीनि मं म महवुक्थ भी विरक्त है। काम-लप-कम मेघ से सृष्ट्यनुबन्ध भी विरक्त है। जगत्-कर्म-आत्म-मं से मायात्मिक जगत् भी विरक्त है। ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान मेघ से जगत् ३ (ज्ञान) भी विरक्त है। कर्म-विकर्म-अकर्म मं से कर्म ४ भी विरक्त है। नाम-जप-अक्ष मं से अक्ष भी विरक्त है। मन्त्रित प्रारम्भ-क्रियमाण मेघ से अतुलित कर्म भी विरक्त है। काविक-वाकिक-आत्मिक मेघ से भावात्मिक कर्म भी विरक्त है। कर्तु-अप्रा-भाव मं म आत्मन्तर कर्म ५ भी विरक्त है। मन्त्रित-विकार-मन्त्र मं से वाक्कर्म ६ भी विरक्त है।

अक्षरकर्म-अक्षरकर्म-अक्षरकर्म मेघ से अक्षरविकर्त ७ भी विरक्त है। अक्षरकर्म-मूलात्मा कर्म मं से अक्षरकर्म ८ भी विरक्त है। सत्वात्मा-अज्ञात्मा-विद्यात्मा मं से अक्षरकर्म ९ भी विरक्त है। सत्वात्मा-हिरण्यकाम-विराट् मेघ से अक्षरकर्म १० भी विरक्त है। विद्यात्मा प्रत्यक्षात्मा-शारीरिकआत्मा मं से आध्यात्मिक आत्मा भी विरक्त है। वैश्वानर-तमस-प्राप्त मेघ मं शारीरिकआत्मा भी विरक्त है। अग्नि-वायु-वृत्त मं म वैश्वानर भी विरक्त है। प्राप्त

ध्यान अध्यान मेद से सैजस^३ भी विफल है। प्रज्ञा-प्राण-भूत मेद से प्राज्ञ^{३३} भी विफल है। पद्मान पायक-शुचि मेद से अग्नि^{३३} भी विफल है। रुद्र-मरुत्-मारुत् मेद से वायु^{३३} भी विफल है। वासव मकरवान-मघवा मेद से इन्द्र^{३३} भी विफल है।

अध्यात्म अभिभूत अधिदैवत मेद से प्रपञ्च^{३३} भी विफल है। आम्-उन्-सत् मेद से परब्रह्म अ निर्देशक शब्दप्रपञ्च^{३३} भी विफल है। स्फोट-स्वर-वर्ण मेद से बाह्म्य^{३३} प्रपञ्च भी विफल है। असत्स्फोट-बाह्यस्फोट-शब्दाक्षरस्फोट मेद से स्फोट^{३३} भी विफल है (भूषणसम्मत ध्याने ग्योने का इही तीनों में अन्तर्भाव है)। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित मेद से स्वर^{३३} भी विफल है। व्यञ्जनारम्भ-स्वरारम्भ-उभयारम्भ मेद से वर्ण भी विफल है। भूत-भविष्यत् वर्तमान मेद से काल भी विफल^{३३} है। एकवचन-द्विवचन-बहुवचन मेद से वचन^{३३} भी विफल है। कर्त्ता-कर्म-करण मेद से कर्तृत्व^{३३} भी विफल है। आत्मनपद परस्मैपद उभयपद मेद से धातु भी विफल है। अकर्मक-सकर्मक-प्रत्ययार्थक मेद से क्रिया भी विफल है। उत्तम-मध्यम-प्रथम मेद से पुरुष^{३३} भी विफल है। कर्तृ प्रधानवाक्य-कर्मप्रधानवाक्य-भावप्रधानवाक्य मेद से वाक्य^{३३} भी विफल है। क्षिप्त-वचन-कारक मेद से मन्त्राङ्ग भी विफल है। ऋद्ध यागिक योगरूढ मेद से मन्त्रा^{३३} भी विफल है। पुष्पिग-स्त्रीक्षिग-नपु मक्षिग मेद से क्षिग भी विफल है। स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग मेद से सन्धिप्रकार^{३३} भी विफल है।

आह-ब्रह्मास्मि-तत्त्वमसि-सोऽहं—मेद से महावाक्य^{३३} भी विफल है। सजातीय-विजातीय-स्वगत मेद से भेद^{३३} भी विफल है। योग-विमुक्ति-बन्ध मेद से सम्बन्ध^{३३} भी विफल है। अज्ञ-स्वभाव-कर्म मेद से नियति^{३३} भी विफल है। हृष्ट अनुमान-आप्त मेद से प्रमाण^{३३} भी विफल है। औपलब्धिक-वैयर्थिक-अविद्ययापक मेद से आधार^{३३} प्रकार भी विफल है। स्वाय-पराय-परमार्थ मेद से वृत्ति भी विफल है। मिथ्या-व्यवहार-परमाय मेद से इष्टि^{३३} भी विफल है। सत्य अज्ञ-सत्यानृत मेद से भाव^{३३} भी विफल है।

धृगु-आङ्गो-अति मे से अति^{३३} भी विफल है। अग्निव्यापार मामसन्-वर्हिष्य मेद से पितर^{३३} भी विफल है। आग्नेय-माम्य-माय्य मेद से दक्षता^{३३} भी विफल है। नमु-प-युत्र-बल मे से असुर^{३३} भी विफल है। अङ्गा-यगधा-अरपादा मेद से अतिक्रान्ता प्रजा^{३३} भी विफल है। कदा तथा मितार्थ विफल प्रकृत्य की इन विपुलि के नक्षिप्त निदर्शन से ही एक स्वतन्त्र विद्यालयाय ग्रन्थ बन सकया है। अतः अधिक विस्तार न कर कुछ एक विपुलि की परिगणना उक्त त कर विधाय कर लिया जाता है—

- ६६-भृक्-भृजुः, साम (षडश्रयी) ।
 ६७-पय-गय-गान (रचनश्रयी)
 ६८-भू-भुव-भ्वः (लोकत्रयी)
 ६९-अग्नि वायु आदित्य (देवत्रयी)
 ७०-मा प्रमा-प्रिना (छन्दोत्रयी)
 ७१-महोक्म-महाग्रत-साम (रहस्यत्रयी)
 ७२-प्रज्ञ चतुर्विद (वीर्यत्रयी)
 ७३-आ० चतुर्विद-ईश (दशत्रयी)
 ७४-यस्य-तप-दानम् (कर्मत्रयी)
 ७५-इष्ट-आपू० इष्टम् (लोककर्मत्रयी)
 ७६-स्वर्ग-नरक-मुक्ति (गतित्रयी)
 ७७-अग्नि-यम-आदित्य (अक्षिरात्रयी)
 ७८-आपः-वायु-सोम (सृगुत्रयी)
 ७९-इष्टि-यशु-सोमः (पञ्चत्रयी)
 ८०-पुरोडाश-वपा-रस (द्रव्यत्रयी)
 ८१-तत्र आप-अमम् (भूतत्रयी)
 ८२-सत्यवती अज्ञवती-अन्यवती
 (उपासनाश्रयी)
 ८३-आकृति-प्रकृति-अर्कृति (वृत्तित्रयी)
 ८४-आप्त-स्वप्न-सुषुप्ति (अवस्थात्रयी)
 ८५-उत्पत्ति स्थिति-लयः (मात्रत्रयी)
 ८६-बुद्ध-बैराज-वैराज (सारमात्रत्रयी)
 ८७-रघन्तर-ईश शास्त्र (पा० सामत्रयी)
 ८८-भगः-मह-यशः (तत्त्वत्रयी)
 ८९-प्राप्त-म०-माप्स्यन्ति-सार्ध (महानत्रयी)
 ९०-इष्टि आकृति, शक्ति (विद्यमत्रयी)
 ९१-पञ्चापन्ति-वारवन्तीय भावन्तीय
 (सामत्रयी)

- ९२-ज्योति-गो-आयु (संरक्षत्रयी)
 ९३-इष्टा ऊक् भोगाः (पारमेष्ठितत्रयी)
 ९४-रत-भद्रा-पशुः (चान्द-तत्रयी)
 ९५-वाक्-गो-गो (पार्थिवतत्रयी)
 ९६-आत्मा-सर्व शरीम् (दण्डत्रयी)
 ९७-स्युल्ल-सुखम्-कारणम् (शरीरत्रयी)
 ९८-प्रज्ञा-प्रास्य-भूतमात्रा (मात्रात्रयी)
 ९९-नमस्वर-स्थलवरः-जलवर
 (जीवत्रयी)
 १००-वात-मूल-जीवा (जीवत्रयी)
 १०१-संसर्गा, अन्तःसर्गा, असर्गा
 (प्राज्ञित्रयी)
 १०२-निदानं-निषण्ड-चिच्छिन्ना
 (आयुर्वेद-विषयत्रयी)
 १०३-वातः-पित्तम्-कफः (वातुत्रयी)
 १०४-शिरा-स्नायन-धमन्यः
 (नाडीत्रयी)
 १०५-धना-द्रवा-वाप्या (अवस्थात्रयी)
 १०६-स्वप्ना, अनिप्ना, परेप्ना
 (प्रारम्भत्रयी)
 १०७-दक्षि-मधु-मृतम् (रसत्रयी)
 १०८-माता, पिता, मन्त्रिः
 (मैथुनीसंहितात्रयी)
 १०९-माता-पिता-आचार्यः
 (मांस्कारिकी संहितात्रयी)
 ११०-आचार्य अन्तर्वासी, विद्या
 (ज्ञानसंहितात्रयी)
 १११-ईश्वर-जीव-शब्द (सर्वत्रयी)

६४—लोकव्यवहारसुगत त्रिष्व-धर्मों का समन्वय—

यह ही दुबरा शास्त्रीय व्यवहार । अब संक्षेप से लौकिक व्यवहार का भी निवार कर लीजिए । पौर-
श्रेष्ठतम नास्तिक सम्प्रदाय, एवं आस्तिक सम्प्रदाय दोनों में ही अपने व्यवहारकाण्ड में त्रित्ववाद को मूल
मान रक्खा है । भारतीय धर्मों के उत्कृष्ट उपसंहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है । मङ्गलपाठ के
उपसंहार में—“ओ शान्ति । शान्ति ॥ शान्ति ॥” यह वाक्य अभिविष्ट था है । शान्ति जिसकी जाही
चाहती वह आत्मा हो शरीर हो, अथवा विश्व का कोई भी बड़ा कृतन पदार्थ हो, त्रिगुणभाव के कारण वह
त्रिपक्षी किंवा त्रिकल ही होगा । ऐसी दशा में सर्वप्रथम शान्ति तत्त्वक सर्वोच्च न बनेगी बल्कि कि शान्ति-
भाव को भी त्रिपक्षी नहीं बना लिया जायगा । इसीप्रकार तीन बार आचमन करना, तीन बार हाथ धोना तीन
बार शपथ खाना आदि आदि व्यवहार भी त्रिकल आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं ।

६५—लोकसुखी त्रिमात्रों का स्वरूप-समन्वय—

किस मान आत्मज्ञान में वादी-प्रतिवादिबो के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (उपरही) “अमुक
व्यक्ति उपस्थित है ।” इस आह्वान-वाक्य को तीन बार दोहराना कौन आवश्यक समझता है ? रात्रि
के समय बैङ्क-सेनास्त्र आदि प्रवेशनिमित्त स्वामी में भूक से बने जाने वाले व्यक्ति पर “कौन ?” शब्द की
विपत्ति के अनन्तर ही शब्द की उस आगन्तुक पर कायर बनने का आदेश कौन मिला ? अथर्ववेद के शिष्ट
तमत्र व्यक्ति के लक्ष्य में एक-दो-तीन के अनन्तर ही कौन मलपात्र डाला जाता है ? क्या पश्चिमी वैज्ञानिकों
के प्रकाश में इन प्रश्नों का समाधान है ? नहीं । इन सभी त्रित्वमात्रों का समाधान करीब एकमात्र प्रकृति-
शान्ति भारतीय शास्त्र । वही वह कला तरेगा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है । स्वयं आत्मा भी त्रिकल
है । एवं तत्त्वकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई त्रिकल है । मला प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध
रखने वाला इस व्यवस्था त्रित्वमान का बीज विरोध कर सकता है ?

६६—जननी के धर्मों का अन्य-पदार्थों में समन्वय—

सकल सभी प्रतीमात्रों की मूल प्रविष्टा है गुणप्रती । गुणप्रती का मौलिक स्वरूप है—मातृकी की
पूर्वपरिविता बही “योगमाया” आछ से आरम्भ कर महान् पर्यन्त भूत से आरम्भ कर देवता पर्यन्त,
पृथिवी से आरम्भ कर पशुशाल पर्यन्त कितने भी विषयमात्र हैं वे सभी गुणमयी इस गुरुत्ववा योगमाया के
आवरण से निम्न आच्छादित हैं । जननी के धर्म कथं न आर्थ यह कैसे होसकता है ? योगमाया की वृद्धे शब्दी
मे योगमायागुणप्रती इन्हीं तीनों गुणों की सर्वप्रतिष्ठा का स्वीकार कर लेंगे हुए योगवार कहते हैं—

सर्वं रस-स्य-इति गुणा प्रकृतिसम्भवा ।

निबज्जन्ति महाबाहो । देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४।५)

विभिर्गुणमयैर्वैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेवमः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७।१३)

- ६६-भृक्ष-यजुः, साम (विश्वप्रयी) ।
 ६७-यय-यय-यान (रघुनाथप्रयी)
 ६८-भृः-भृ-भृः (लोचनप्रयी)
 ६९-अग्नि वायु आदित्य (देवप्रयी)
 ७०-मा प्रमा-प्रतिना (छन्दोप्रयी)
 ७१-महोक्ष-महाव्रत-साम (रहस्यप्रयी)
 ७२-ब्रह्म सप्त-विं (वीर्यप्रयी)
 ७३-प्रा० क्षत्रियः-वैश्यः (दशप्रयी)
 ७४-यज्ञ-तप दानम् (कर्मप्रयी)
 ७५-इष्ट-आदु० इक्षुम् (लोककर्मप्रयी)
 ७६-स्वर्ग-नरक-मुक्ति (गतिप्रयी)
 ७७-अग्नि-यम-आदित्य (अक्षिरात्रप्रयी)
 ७८-आपाः-वायु-सोम (सृगुत्रयी)
 ७९-इष्टि-यज्ञ-सोमः (यज्ञप्रयी)
 ८०-पुरोडाश-वपा-रस (द्रव्यप्रयी)
 ८१-तद-आप-अक्षम् (भूतप्रयी)
 ८२-सत्यवती अज्ञवती-अन्यवती
 (उपासनाप्रयी)
 ८३-आकृति-प्रकृति अहकृति (इष्टिप्रयी)
 ८४-जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति (अवस्थाप्रयी)
 ८५-उत्पत्ति स्थिति-क्षयः (मात्रप्रयी)
 ८६-वृद्ध-कैराज रेकत (सारमामप्रयी)
 ८७-रघुन्तर-रूप शाकर (पा० मामप्रयी)
 ८८-मर्गः-मह-महाः (तत्त्वप्रयी)
 ८९-प्रातः-स-माध्यन्ति-मार्ग (मवनप्रयी)
 ९०-व्यक्ति आकृति, माति (विक्रमप्रयी)
 ९१-पन्नायन्त्रिय वारवन्तीय आयन्तीय
 (सामप्रयी)

- ९२-न्योति-गौ-आयु (सौरतत्त्वप्रयी)
 ९३-इडा ऊर्क-भोगाः (पारमेष्ठ्यतत्त्वप्रयी)
 ९४-रत-अदा पशु (चान्द्र तत्त्वप्रयी)
 ९५-वाक्-गा-यौ (पार्थिवतत्त्वप्रयी)
 ९६-आत्मा-सर्व शरीम् (इयडप्रयी)
 ९७-स्थूल० सूक्ष्म० काश० (शरीरप्रयी)
 ९८-प्रज्ञा प्राथ-भूतमात्रा (मात्राप्रयी)
 ९९-नमवर-स्पर्शवरः-बलवरः
 (वीर्यप्रयी)
 १००-वातु-मूल-जीवा (वीर्यप्रयी)
 १०१-संसङ्गा, अन्तःसङ्गा असङ्गा
 (प्राप्तिप्रयी)
 १०२-निदानं-निपन्तु-चिकित्सा
 (आयुर्वेद-विषयप्रयी)
 १०३-वाक्-पिचम्-कफः (वातुप्रयी)
 १०४-शिरा-स्नायन-धमन्यः
 (नाडीप्रयी)
 १०५-धनाः-द्रवा-वाप्याः (अवस्थाप्रयी)
 १०६-स्वप्ना, अनिष्ठा, परेष्ठा
 (प्रारम्भप्रयी)
 १०७ इष्टि-मपु-भूतम् (रसप्रयी)
 १०८-माता, पिता, सन्ततिः
 (मैथुनीसंहिताप्रयी)
 १०९-माता-पिता आचार्यः
 (याज्ञिकारिषी संहिताप्रयी)
 ११०-आचार्यः, अन्तर्वासी, विद्या
 (ज्ञानसंहिताप्रयी)
 १११ ईश्वर-जीव जगत् (सर्वप्रयी)

६४—लोकव्यवहारलुप्त विषय-धर्मों का समन्वय—

यह दो हुआ शास्त्रीय व्यवहार । अब संदेह से लौकिक व्यवहार का भी निवार कर लीजिए । पौर-पोठम नास्तिक सम्प्रदाय एवं आस्तिक सम्प्रदाय दोनों में ही आपने व्यवहारव्यवह में विरोध का मूल मान रक्खा है । भारतीय धर्मों के उपक्रम उपरहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है । मङ्गलपाठ के उपरहार में— 'ओ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!' वह वाक्य समिधित रहता है । शान्ति जिसकी चाही जायगी वह आत्मा ही शरीर ही अथवा विश्व का कोई भी अङ्ग अतन पर्याय हो, त्रिगुणभाव के कारण वह विपरीत किंवा विपन्न ही होगा । ऐसी दशा में उपर्युक्त शान्ति तब तक सर्वाङ्गीय न बनेगी जब तक कि शान्ति-भाव की भी विपरीत नही बना लीया जायगा । इसीप्रकार तीन बार आचमन करना तीन बार हाथ धोना तीन बार शयन करना, आदि आदि व्यवहार भी जिस आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं ।

६५—लोकलुप्तवी विभावों का स्वरूप-समन्वय—

वर्तमान स्वाभावों में वादी-प्रतिवादिओं के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (चपरासी) 'अमुक व्यक्ति उपस्थित है ।' इस आह्वान-वाक्य की तीन बार दोहरना कहीं आवश्यक समझता है ? यदि के अन्त वैकुण्ठ-सेनारयण आदि प्रवेशनिष्ठ स्वामी में भूल से बले बाने वाले व्यक्ति पर 'कौन ?' शब्द की त्रिरूपि के अनन्तर ही शब्द की उठ आगम्य पर काकर करने का आदेश कहीं मिला ? बचदबह के लिए सज्ज व्यक्ति के गले में एक-दो-तीन के अनन्तर ही कहीं गलपाठ आता थाया है ? क्या परिवर्ती वैज्ञानिकों के महाज्ञेय में इन प्रश्नों का समाधान है ? नहीं । इन सभी विस्वभावों का समाधान होगा एकमात्र प्रकृति-शास्त्र माणवीय शास्त्र । वही यह अन्तता समझा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है । स्वयं आत्मा भी प्रकृत है । एवं उसकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई प्रकृत है । मत्ता प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले इस अङ्ग सिद्ध विस्वभाव का कौन विरोध कर सकता है ? ।

६६—जननी के धर्मों का जन्म-पदार्थों में समन्वय—

उक्त सभी बर्गोमात्रों की मूल प्रकृति है गुणत्रयी । गुणत्रयी का मौलिक स्वरूप है—पात्रों की पूर्णपरिचित बही 'योगमाया' कारण से आरम्भ कर महान् पर्यन्त, फल से आरम्भ कर देवता पर्यन्त, पृथिवी से आरम्भ कर पशुल पर्यन्त बितने भी विश्वभाव हैं वे सभी गुणमयी इस ब्रह्मवय दौलमाया के आचरण से निरम आहत हैं । जननी के धर्म जन्म में न आते यह कैसे होसकता है ? योगमाया की वृत्त शक्ती में योगमायानुसूची इसी तीनों गुणों की सर्वम्पत्ति का स्वीकृत्य करते हुए मगवान् करते हैं—

सत्त्वं रज-स्तम-इति गुणा प्रकृतिसम्भवा ।

निषध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४/१५)

त्रिभिर्गुणमयैर्मानैरेमि सर्वमिदं तत्पम् ।

मोहितं नाभिजानाति मामग्नयः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७/१३) ।

न तदन्ति पृथिप्यां वा दिवि द्यपु वा पुन ।

सर्वं प्रकृतिजं ह्येकं यदेमि स्यात्प्रिमिगुणं ॥२॥ (गी० १८।४०।)

६७—योगत्रयपुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया क्वा कर्तृस्य—

[illegible]

६८—प्राधानिक (सांख्य) शान्द-सम्मत प्राकृतिक भूतसग का विस्तार, एमं उत्तक
त्रिविध, तथा अतुर्दशविध विषयो का समन्वय—

भोग आप हैं, तो मुझल कक्षा प्राधानिक राज्य है। प्रकृति क्या करती है? इस का टीक लेन
उपर प्रकृतिवादी (संस्कृत) ही देखना है। प्रकृतिवात् के सम्पूर्ण विषय माणों को रख करन वतों
निम्नलिखित तीन बचन हमारे सामन आते हैं—

१—अष्टविंशत्यो द्वे सप्तविंशत्यो नवसप्तविंशत्यो मवति ।

मानुस्मैकविष ममासुतो मासिक सर्ग ॥

+ त्रिगुणमात्र का सम्बन्ध कर्मवैशेष में है। दूसरी शब्दी में त्रिगुणमात्रमय कर्मवैशेष का सम्बन्ध ज्ञानायोगात् स सम्बन्ध है। यदि कर्म में गुणमात्र निकल गया होता। तो इत्यादीत यह कर्म भ्रष्टि-प्राप्त में निरुक्त होता त्रिगुण सम्बन्धबद्ध धर्मवैशेष का कर्म बन जाता है। “निर्गुणस्यो महाभुजः” में भगवान् न कर्ममात्र में वे त्रिगुणमात्र के महाभुज का ही आदेश दिया है।

[illegible]

२—ऊर्ध्व सत्त्वविशास, स्वमोविशासश्च मूलत मर्ग ।

मध्य रजोविशासो, ब्रह्मादिस्तम्भ-पर्यन्त ॥

३—सत्र क्षरामरस्यकृत दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुंसः ॥

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥

—सार्थकारिका ५३-५४-५५ ।

योगाभाष्यमहाप्रभु की एकमात्र कार्य है—मूलप्रकृति किंवा सत्त्व के शब्दों में भौतिकता । निर्माणा सामग्री सत्त्व-रज-तमो-मेघ से तीन भागों में विभक्त है । तीनों सामग्रियों यद्यपि परस्पर अविनाशित हैं अतएव प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक भौतिक र्ग में तीनों गुणों की सत्ता माननी पड़ती है । इसी आधार पर प्रत्येक र्ग में सत्त्वानुबन्धी अल्पमानुगत ज्ञानयोग रजोऽनुबन्धी अल्पमानुगत मक्तियोग एवं तमोऽनुबन्धी अल्पमानुगत कर्मयोग तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । अथप्रकार यद्यपि गुणसमानापेक्षया सभी भूत र्ग समान परस्पर पर प्रतिष्ठित हैं । तथापि गुणसामान्य से वह र्ग सत्त्वविशास रजोविशास तमोविशास मेघ से तीन भागों में विभक्त हो जाता है । आगे बाहर तो ज्ञान प्रसार की गति वह र्ग अवस्थित मेघों में परिणत हो जाता है वैसाकि अनुपम में ही कलाप जाने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा । पहिले तूफान की ही किन्तु कीजिए—जब प्रकृति में सत्त्वभाव की प्रधानता रहती है तब और तम गौण बनते हुए सत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं तो उस वशा में सत्त्वप्रधान बनती हुई वह प्रकृति—ब्रह्म-ब्रह्मपति मेन्द्र-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिराच इन अष्टविध सत्त्वविशास र्गों की बनती बनती है । वही ऊर्ध्व र्ग कहलाता है । क्योंकि तीनों गुणों में से स्वयं सत्त्वगुण ऊर्ध्वरचानीय है । वही 'वैशर्ग' नाम से भी प्रविष्ट है । इन भागों की र्गों में सुप्रविष्ट ११ इन्द्रियाँ तो रहती ही हैं साथ ही कर्म से ही इनमें आन किन्तु नव बुद्धियाँ और रहती हैं । समूह इनमें ६८ इन्द्रियाँ हो जाती हैं । बन्धनमरकत इनकी आवास-भूमि है । और प्रकृत इनका शत्रु है । इनके पैर नहीं होते अतएव विज्ञानभूमि में इन्हें "अपदबीज" कहा जाता है । बन्धनमरकत के समूह से इनका शरीर उसी प्रकार छेदप्रधान है जैसे कि पार्थिव-मिट्टी के समूह से पार्थिव शरीर मूलप्रधान रहता है । इसी छेदय भाव के कारण "न आटी वेक्ष्येन्निरी" का लक्षण र्गों से ब्रह्मदीय छेदय प्राप्ति पर (बन्धी एवं रिक्तों पर, क्योंकि बन्धी में भी छेद की प्रधानता रहती है एवं रिक्तों का मूलब्रह्म भी छेदय है ही) आक्रमण हुआ करता है । वही आक्रमण के अनुसार मूलक्रमण कहलाता है । इनके लिए हमारे इस वैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र में (अरकने) भूतपराशरनीयार्थोप नाम का एक लक्षण प्रकट रहता है ।

५६—अष्टविध सत्त्वविशास-सर्गों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

आटी में उत्तर उत्तर वेक्ष्य की अपेक्षा पूर्व पूर्व र्ग सत्त्वदिग् के कारण अष्ट-वेक्षि में प्रतिष्ठित है । दूसरी इति से ब्रह्म आश्रय-मेन्द्र-वैश्व इन चारों का एक विभाग है गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिराच-इन चारों का एक विभाग है । अन्य इति से ब्रह्म-आश्रयस्य का एक गुण मेन्द्र-वैश्व का एक गुण गन्धर्व-यक्ष

न तद्विधि पृथिव्यां वा दिवि द्रवेषु वा पुन ।

सर्वं प्रकृतिजमुक्तं पदेमि स्यात्प्रिमिगुर्ध ॥२॥ (गी० १८।४०।)

६७—योगप्रयुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया का कर्तृत्वं—

आत्म्य के सम्बन्ध में ज्ञानयोगविधायी आक्षर के सम्बन्ध में भक्तियोगविधायी एवं स्वयं करने विगुण+ माय से कर्मयोगविधायी साध ही आत्म्य-आक्षर के बिना योगमाया रह ही नहीं सकती । कहेका इसका बीजवाक्यविद्वद्वाच्य मन्त्रीमात्रि जिह्व हावाता है । योगप्रयुक्ता गुणत्रयसमन्विता योगमाया कर्त्री क्या है ! मुनिप ।

६८—प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र—सम्मत प्राकृतिक सूतसंग का विस्तार, एवं उसके विविध, तथा अतुल्य शक्ति विषयों का समन्वय—

भीता ध्याप हैं तो मुनान बाका प्राधानिक शास्त्र है । प्रकृति क्या करती है ? इस का ठीक ठीक उत्तर प्रकृतिवादी (सांख्य) ही देसकता है । प्रकृतित्व क सम्पूर्ण विषय मायों को रख करने वाले निम्नलिखित तीन कथन हमारे सामने आते हैं—

१—आदिकल्पो द्वैत स्तप्यग्योनरश्च पञ्चधा भवति ।

मानुरबैकविध समासतो मातृक सर्ग ॥

+ विगुणमाय का सम्बन्ध कर्मयोग में है । दूसरे शब्दों में विगुणमायमय कर्मयोग का कथन— मूला बीजमाया से सम्बन्ध है । यदि कर्म से गुणमाय निकाल दिया जाता है तो इन्तर्गत वह कर्म प्रकृति-पारा में विद्रुत होकर विगुण समस्तकाल अन्वयतामा का कर्म बन जाता है । 'नित्यैगुणयो भवानु न' में प्रगणन न कर्ममाय में से विगुणमाय के लोचन का ही आदेश दिया है ।

आत्म्यमायका में स्मृतक विग्रहमा के अराधत प्रकृतता शारीक आत्मा नाम के दो विषय हैं । दोनों में से प्रकृततामयक अन्वय वेद में रहता हुआ भी विगुणमाय के कर्मण वैहामिमय से शब्द है निर्लेप है । आक्षरप्रकृति के दो होने के कारण 'त पदा आक्षरप्रकृति के गर्भ में प्रकट होने वाली अरुणा योगमाया के विगुणमाय का आक्रमण नहीं होता वैदिकि—'अनादिस्त्वामिषु कल्पान् परमात्मसमन्वय । गरीश्वोऽपि कान्तय । न कराति न क्षिप्यते इत्यपि गीयतिज्ञान से रहत है । शारीक आत्मा कथि उगी प्रकृततामा का अर्थ है । पञ्च 'जीवमूर्त महाबाहा' । के अनुसर इन्का आश्रमाय आक्षरप्रकृति के गर्भ में ही होता है । अक्षरक तत्त्वमानवगतक पर प्रसिद्धि रहने वाली योगमाय के आक्रमण में वह वैहामिमानी शारीक आत्म्य (आक्षरक 'बही' नाम से प्रसिद्ध) नहीं बच सकता । शरीर य प्रकृततामयक अन्वय शारीकतामयक जीवामय दोनों में से शारीक आत्म्य ही कथन में आता है एगी लक्ष्मीनर के लिए भयभाव को आत्म्य के साथ 'इहिन स्थिरक लगाना पड़ा है ।

अधिक संश्लिष्ट रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विषयों को जानने में विशेष समय है। जब प्रकृति में रबोमात्र की प्रधानता रहती है तब और तब गौण बनते हुए सब के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं तो उस दशा में रबोप्रधाना प्रकृति मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इन पाँच रबोविशालसर्गों की बननी बनती है। यही मध्यसर्ग है। क्योंकि गुणत्रयी में रबोगुण मध्य-स्थानीय है। यही “विष्वक्सर्ग” नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की जेतना का मूल आधार वास्तव्य ही है।

७२—तमोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

तमोमात्रप्रधाना उत्तरबोर्गमिता प्रकृति तमोविशालसर्ग की बननी बनती है। वातुर्ग बोधवि-वनस्पति से आरम्भ कर स्तम्भ पर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोगुण-प्रधान है। यही प्रकृति का तीसरा मौलिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोगुण मूल में प्रतिष्ठित है अतएव इसे मूलसर्ग कहा जाता है।

७३—‘वतुर्गशिवो भूतसर्ग’ और ब्रह्माद स्तम्भ पर्यन्त सर्गों का सम्मरय—

उर्ध्वसर्ग स्वानुसूची किंवा उत्तरप्रधान बनता हुआ उत्तरसम्बन्धी ज्ञानमूर्ति आध्वय का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मध्यसर्ग रबोऽनुसूची किंवा रबोप्रधान बनता हुआ रबो सम्बन्धी किंवामूर्ति महापाषाण मनु आदि का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ क्रियाप्रधान है। अतएव इस मध्यसर्ग को (मध्यमता के कारण) ज्ञानार्थकता उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोऽनुसूची किंवा तमो-प्रधान बनता हुआ तमो-सम्बन्धी अर्धमूर्ति योगमायात्मक चर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अर्धप्रधान है। अतएव इसे हम कर्मयोगानुगामी मान सकते हैं। ब्रह्म से आरम्भ कर स्तम्भ के पर्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक का सम्मूह १४ भागों में विभक्त है। यही सत्यधारण का—‘वतुर्गशिवो भूतसर्ग’ है। इन चोदशों में भी अचान्तर वास्तव्य है।

७४—सर्वविशालमर्गानुगता ज्ञान-मक्ति-कर्म-योगत्रयी—

सर्वविशाल सर्वविषय वेबसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा जहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है वहाँ अपने पारस्परिक भेद के कारण इनमें भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होता है। ब्रह्म प्रजापति नाम के प्रथम बुध में सत्य की प्रधानता है इन्द्र एवं पितर में रबो की प्रधानता है एवं सत्यर्वादि धारों में तम की प्रधानता है। सर्वप्रधान प्रथम बुध ज्ञानयोगानुगामी है रबोप्रधान द्वितीय-बुध मक्तियोगानुगामी है एवं तमप्रधान तृतीय-बुध कर्मयोगानुगामी है। इत्युपर सत्य-रबो-स्तम्भ के त्रैमिक सम्बन्ध से इन सर्वविशाल एवं ज्ञानयोगानुगामी वेबसर्गों में भी अचान्तर तीन भेद हो जाते हैं।

● पानी में आई के तप से प्रतिष्ठित शीबल का मौलिक रूप ही ‘स्तम्भ’ है।

अ एक पुष्प एवं राक्षस पिशाच का एक पुष्प है। चारों ओरों में से आरम्भ के ही पुष्पों का अन्त हो
कायिक है। रोष दोनों आरम्भ प्रथम उत्पन्न मन्त्रों ही रहते हैं। पिशाच का मति भाग पर आरम्भ
होता है। वही वन्धों का 'सूत्र' (सूत्रों की पीमारी) कहलाता है। राक्षस का आरम्भ बहिर पर हो
है बहिर पीला किन्ना श्वेत होजाता है। 'यक्ष' का आरम्भ इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियों अपना स्वयं
अन्त व्यक्त करने लगती हैं। 'गन्धर्व' का आरम्भ मन पर होता है मन प्रज्ञा का अनुगामी बन जाते हैं।
'पितर' का आरम्भ शुक्रियत महाना मा पर होता है संतान का निरोध हो जाता है जिसकी कि अनेक
विशेषाओं में से विशुद्ध भी एक अनित्यत्व विविधता मानी गई है। 'देव' का आरम्भ बुद्धि पर होता
है बुद्धि का स्वयंस्वरूप लघुविशेष बन्धित होजाता है। 'मात्रा' का आरम्भ योगमात्रा (प्रज्ञा)
पर होता है प्रज्ञा (स्वयं) विग्रह जाती है स्वयं विग्रहित होजाता है। 'मात्रा' का आरम्भ अस्ति
पर होता है। मनुष्य अपना आपा ही लो बैठता है। इन वृत्ति आरम्भों के लक्ष लक्ष अनेक
अनुकूल-साधनों के उपस्थिति होने पर कभी कभी इनका आरम्भ काम की भी वृत्ति बन जाते हैं।
स्वयं वेद में एक ऐसे ही आरम्भ का उल्लेख मिलता है। उल्लेख यों है—

७ —कर्मण्य अर्था के द्वारा पञ्चमस काप्य से प्रश्न एवं तन्मूलक देवसर्ग का
संस्मरण—

अरुणपुत्र सुप्रविष्ट वैशान्वि कहलाता करते हैं कि आश्विनम् । हम (उत्पन्न) काप्यमर्हि के कई
व्यक्त्य के अर्थक के लिए मन्त्रों में रहते हैं। काप्य की स्त्री में गन्धर्व का आगमन होता रहता था।
एक बार मेरे सामने ही (परमप्रवेशकृपा) गन्धर्वदेवता श्रुतिपत्नी में प्रकट हुआ। मैंने उचित प्रश्न किया
कि तुम कौन हो। उत्तर मिला—मैं अथर्व नाम के गन्धर्ववंश में उत्पन्न होने वाला आरम्भ हूँ, और मेरा
नाम कर्मण्य है। आरम्भम् । महाआरम्भम् । अपने परिचय देने के अर्थवर्तितोत्तरकात्त में ही पञ्चमस काप्य
स एव उस स्थान में रहने वाले शक्ति से कर्मण्य प्रश्न कर बैठा कि—'यदि आप जानते हैं तो उस सूत्र
(वृत्तमा) का स्वरूप कलाप्य, जिसमें वह लोक, परलोक एवं तन्मूल्य भूतलमा कहें हैं। पञ्चमस अन्त
कहने लगे मगन्तु । मैं यह नहीं जानता कि, वह वृत्तमा कौन है। कर्मण्य ने वृत्त प्रश्न यह किया कि "उत्त
अन्तर्धर्मा का क्या स्वरूप है जो इस लोक परलोक एवं तन्मूल्य भूतलमा को (उनके द्वारा में बैठा हुआ)
निकटत में रहता है। पञ्चमस काप्य कर्मण्य के इस बुरे प्रश्न का भी उत्तरन दे लगे। आनी बाहर कर्मण्य
कहने लगा कि, हे काप्य । जो व्यक्ति उस वृत्तमा और अन्तर्धर्मा को जानेगा वही अक्षयि लोकनि
'वर्तित' वेदनि वरणि भूतनि आरम्भनि एवं तन्मूल्य कहलाएगा। और दुर्घट वह जानकर प्रत्यक्ष
होगी कि उन दोनों का स्वरूप मैं जानता हूँ। (यत्त २४।४।४।४।)।

७१ —रजोविशालसर्ग का स्वरूप—समन्वय—

उक्त काप्यमान से यह भी सिद्ध होता है कि इन देवयोगिनी में अन्त-मूल्य विद्या कठिनी कापि
मानुष्यवहार कर्मण्य प्रविष्टित है। इनमें प्रधानतया से प्रकृति का लक्ष्यमा प्रविष्टित है। प्रकृति के ही
अन्तर्धर्मा मूलमा से ही विद्यार्थी होता कि पूर्व में वृत्तमा अनुगामी है। अतएव वह महा प्रकृति के

अधिक सक्रिय रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विषयों को जानने में विशेष समय है। जब प्रकृति में रबोमल की प्रधानता रहती है तब और तम गीत बनते हुए रब के गर्म में प्रविष्ट रहते हैं तो उस दशा में रबप्रधाना प्रकृति मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इन पाँच रबोविशालसर्गों की बननी बनती है। यही सम्भवमर्ग है। क्योंकि गुणत्रयी में रबोमुख मध्य-स्थानीय है। यही “तित्त्विकमर्ग” नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की चेतना का मूल आधार वायुतत्त्व ही है।

७२—तमोविशालमर्ग का स्वरूप-समन्वय—

तमोमात्रप्रधाना उत्तरबोगमिता प्रकृति तमोविशालसर्गों की बननी बनती है। अतुल्य ब्रह्मवि-वनस्पति से आरम्भ कर तन्त्र पर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोमुख-प्रधान है। यही प्रकृति का हीरा मौक्तिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोमुख मूल में प्रतिष्ठित है अतएव इसे मूलसर्ग कहा जाता है।

७३—‘अतुल्यशक्ति भूतसर्ग’ और ब्रह्माद तन्त्र पर्यन्त सर्गों का सम्मेलन—

अर्थात् सर्वभूतकी किंवा सर्वप्रधान बनता हुआ उत्तरतमकी ज्ञानमूर्ति अन्त्य का अतुल्य मान करवा हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। सम्भवमर्ग रबोमुख की किंवा रबप्रधान बनता हुआ रब सम्भव की किंवा मूर्ति महाभावमक अन्तर का अतुल्य प्राप्त करता हुआ किंवा प्रधान है। अतएव इस सम्भवमर्ग को (मध्यस्थ के कारण ज्ञानार्थरूप उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) मूर्तियोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोमुख की किंवा तम-प्रधान बनता हुआ तमो-सम्भव की अर्थमूर्ति बोधमायामक धर का अतुल्य प्राप्त करता हुआ अर्थप्रधान है। अतएव इसे हम कर्मयोगानुगामी मान सकते हैं। ब्रह्म से आरम्भ कर तन्त्र पर्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक स्रष्टा सम्मूह २४ भागों में विभक्त है। यही सम्मेलन का—‘अतुल्यशक्ति भूतसर्ग’ है। इन चोखों में भी अन्तर वास्तव्य है।

७४—सर्वविशालमर्गानुगता ज्ञान-मक्ति-कर्म-यागत्रयी—

सर्वविशाल ब्रह्मविषय वेदसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा यहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है यहाँ अपने पारम्परिक मेरु के कारण इनमें भी तीनों बोगों का अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। ब्रह्म प्रजापति नाम के प्रथम युग में तब की प्रधानता है इन्द्र एवं पितर में रब की प्रधानता है एवं शम्भुवादि धारों में तम की प्रधानता है। सर्वप्रधान प्रथम युग ज्ञानयोगानुगामी है रबप्रधान द्वितीय-युग मक्तियोगानुगामी है एवं तमप्रधान तृतीय-युग कर्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व-रज-तम के क्रमिक सम्मेलन से इन सर्वविशाल एवं ज्ञानयोगानुगामी वेदसर्गों में भी अन्तर तीन भेद हो जाते हैं।

• पानी में आई के रूप में प्रतिष्ठित शैवाल का मौक्तिक रूप ही ‘सुम्भ’ है।

७५--रमोविशालसगानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म योगत्रयी--

मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इन रमोविशाल, अतएव भक्तिबाग्यनुगामी निर्यक्ष्णों में भी बरी बात है। उत्तमप्रधान मनुष्य ज्ञानयोगानुगामी है रम-प्रधान-पशुपक्षी-बुध्म भक्तिबाग्यनुगामी है एवं तमप्रधान कृमि-कीट-युग्म कर्मयोगानुगामी है। इतपक्षर उत्तम-रम-स्वम के अधिक विकास से इन रमोविशाल अतएव भक्ति-योगानुगामी क्षिप्र्यक्ष्णों में भी तीनों योगों का प्रत्यर्भाव सिद्ध होजाता है।

७६--तमोविशालसगानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगत्रयी--

बाहु झोंगवि बनस्पति-स्वप्न-लक्ष्ण तमोविशाल अतएव कर्मयोगानुगामी मूलतः में भी स्वस्वतात्मा है। उत्तमप्रधान झोंगवि-बनस्पतिवर्ग ज्ञानयोगानुगामी है रम-प्रधान स्वप्न भक्तिबाग्यनुगामी है एवं तमप्रधान बाहुवर्ग कर्मयोगानुगामी है। इतपक्षर उत्तम-रम-स्वम के उत्तमत्व से तमोविशाल अतएव कर्मयोगानुगामी इन मूलतः में भी तीनों योगों का योग सिद्ध हो जाता है जिस कि निम्नलिखित शक्तिबाग्यो से स्पष्ट है।

अथ विंशत्यने १४ भूतसर्गों का अप्रत्यक्ष रूप देवसर्ग, पञ्चषा विभक्त [पशु-पक्षी-मर्ग-की-
 रथावर] तैव्यक्सर्ग, पञ्चविंश मानुषसर्ग इस क्रम से विभाजन किया है। परन्तु विज्ञानदृष्टि का प्रधानता देने
 हुए हमने गुणविवेक की दृष्टि से देवताओं की एक वर्ग में मानते हुए इनका स्वल्प विभाग माना है। अतः
 प्राणियों की साम्यदृष्टि से मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि कौट इन पाँचों का स्वल्प विभाग माना है। मर्ग के
 स्थान में मर्गविषय कृमियों के मर्ग के लिए 'कृमि' शब्द ही अधिक उपयुक्त लगभग है। अथर्वव्याधि रथावर
 विभाग का स्वल्प माना है। अति संक्षेपसामुच्चार ही इन वर्गों का विचार किया जाता है। नीचे निम्नलिखित
 छानिका हमारे सामने आती है—

अतुर्दशविधो भूतसर्ग-सोत्प्यामिमतः—

दशसर्ग—	$\left\{ \begin{array}{l} \text{मम, पञ्चविंश इन्द्रा पितरः} \\ \text{मन्वेष्टः यक्षः राक्षसः, विद्यावः} \end{array} \right.$	$\left\{ \begin{array}{l} \text{मन्वेष्टावर्ग—ऊर्ध्वसर्ग—२} \end{array} \right.$
---------	--	--

मनुष्यसर्ग—	$\left\{ \begin{array}{l} \text{आ च वे शशमेऽमित्रो मनुष्यः} \end{array} \right.$	$\left\{ \begin{array}{l} \text{रथाविद्यावर्ग—मध्यसर्ग—१} \end{array} \right.$
-------------	--	--

विंशसर्ग—	$\left\{ \begin{array}{l} \text{रथावर—मन्वेष्टः, कृमिः, पक्षी, पक्षिणः} \end{array} \right.$	$\left\{ \begin{array}{l} \text{उत्तमविद्यावर्ग—मूलसर्ग—४} \\ \text{पशु रक्षी भूतसर्ग} \end{array} \right.$
-----------	--	---

७७-पृथ्व्यनुगत 'मृत्' तत्त्व, तदनुगता मौक्तिकी प्रज्ञा, एवं स्तौम्यशोकात्मक-पाण्डित-मृत-
सर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय—

[illegible]

७-दुरत्यया दुर्बिज्ञया सगणपरम्परा एव असक 'मात्र-गुण-विकार' नामक स्त्री
विषयों का संस्मरण—

एतन्मयी ही दुष्टत्वया हीतो दुर्ग दुर्गिजेवा है। तो प्रकृति से उत्पन्न कर्म कैसे सुविज्ञेय रह सकत है।
 एतन्मयी ही दुर्गिजेवा मात्र गुण-विच्छेद मेरु से तीन मागी में विभक्त है। मात्रसृष्टि अन्वयसृष्टि है
 नवे ही मानसीसृष्टि भी कहा जाता है। गुणसृष्टि अक्षरसृष्टि है, इसे ही प्राकृतिकसृष्टि भी कहा जाता है।
 विच्छेदसृष्टि चरसृष्टि है, वही मैथुनीसृष्टि, आक्षिपीसृष्टि वैकरिषीसृष्टि अविशिसृष्टि पार्थिवीसृष्टि,
 मूलसृष्टि मायिकसृष्टि कल्पसृष्टि, त्रिदेवसृष्टि त्रिगुणसृष्टि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। एत
 त्रिगुणात्मक चरसृष्टि का एकमात्र पार्थिव आवाहविषयी से ही सम्भव है। इसी हेतुव को लक्षण में स्थाप
 न्नावान् मैं कहा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि द्रवेषु वा पुन ।

सर्वं प्रकृतिजैम् क्व यदमिः स्यात्त्रिमिगु^३यैः ॥

—भीखा

७८-त्रिगुणामिक प्रकृति की निस्वभ्यापकता, एवं उसके भाव-गुण-विकार-नामक तीन महिमाविवर्ण—

अथ यानुगता मानसीमृष्टि की विधानभूमि अथवा—स्वयम्भू एवं महत् परमेशी है। जपि [मीनिकथाय] और चार मनु ही इन भाषात्मिका लक्षि के प्रधान विस्त हैं। वैश्वि—‘महत्पयः सत्य पूर्व अन्वारा समवतलाय। अन्वित भाषा मूनामां सत् [अथयम्भू] एवं स्वयम्भूविद्याः इत्यदि गीतादिग्रन्थ में गृह्य है। अथ यानुगता शुक्लमृष्टि की विधानभूमि विश्वैकेश्वर स्वर्ण है। पिण्डमात्र का [अपने इष्टार्थ मान वज्र में] अथवा लभ्यक वही है अन्वित रूप में किन्तु से अन्वित जापुत्रा है। दम्भात्रा रूप शुभो का उपक्रम वही स्थान है। अथ यानुगता विचारभूमि की विधानभूमि अथवा—शुक्ल है। अथ यानुगता की म योग है। अथ यानुगता ‘महत्पयः’ शब्द में हीनी एही है। महत्पय के ही अथ यानुगता अथवा—महत्पय के ही म योग है। अथ यानुगता ‘महत्पयः’ शब्द में हीनी एही है। महत्पय के ही अथ यानुगता अथवा—महत्पय के ही म योग है।

विश्वरूपि होमी है जेना कि—‘विकारास्व गुणोत्तरैतान विद्धि प्रकृति-मम्भयान इत्यादि गीता-वचन से स्पष्ट है।

८०-सत्त्व-रज-स्तमो-गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी ‘परम-मध्यम-अवम-’ नामक तीन धामों का संस्मरण—

निष्कर्ष बही हुआ कि, पञ्चप्राणिमय विश्वरूपि को हम सत्त्वानुगतता अम्भयसृष्टि रजोऽनुगतता अक्षररूपि एवं तमोऽनुगतता अक्षररूपि के भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। वही विश्वरूपि का मौलिक विभाग है। स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि परमधाम है चमूमा-गुणिवी की समष्टि अथमधाम है, एवं मृत्यु मध्यमधाम है। ‘उत्तमाद्यन् किञ्चार्वाचीनमाविस्थात् सत्त्व तन्मृत्युनाप्यम्’ “एव श्रौत सिद्धान्त के अनुसार स्वर्ग से नीचे नीचे का विस्तार मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। ‘निवेशयन्मृतं मर्त्यञ्च एव वदुःप्रति के अनुसार मर्त्यस्य स्वर्ग दोनों का संशोध्य बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृत प्रधान परमधाम + में अमृतप्रधान उत्तममूर्ति अम्भय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अथमधाम में मर्त्य-प्रधान तमोमूर्ति अक्षर की प्रधानता है एवं उभयप्रधान मध्यमधाम में उभयप्रधान रजोमूर्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, ‘पुरुष-महामाया-योगमाया-निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तात्त्विका के द्वारा तत्त्वमन्वय प्रयास—

परमधाम हानयोगानुवाची है मध्यमधाम मल्लियोगानुवाची है एवं अथमधाम कर्मयोगानुवाची है। तीनों रूपरा-भास्व-गुण-विकार-रूपिणी के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान-रूपि में भास्वसर्ग सत्त्ववि-शास्त्र है गुणसर्ग रजोविशास्त्र है एवं विकारराग तमोविशास्त्र है। सत्त्वविद्यालक्ष्मी का स्वयं पुरुष से सम्बन्ध है रजोविशास्त्रकर्ता का महामाया [अक्षर] से सम्बन्ध है एवं तमोविशास्त्रकर्ता का योगमाया [अक्षर] से सम्बन्ध है। शक्त्यस्य से त्रिगुणारमिष्य, कर्तृ ही अक्षरमा योगमाया तमः-प्रधाना ही मानी जायगी। कारण मगवान् ने योगमाया की आबरवा * करने वाली बतलाया है एवं आबरव करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वाभाविक धर्म है। आपके सांख्यमिश्र सत्त्व-रज-स्तमो-विद्यालक्षणों का विज्ञान-विश्व अथमधाम योगमायागुणवी केवल तमोविद्यालक्ष्मी में ही अन्तर्भाव है जेना कि आगे की तात्त्विकाओं में स्पष्ट है।

— स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम (उनिपन्)

यद् गच्छा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । (गीता)

* “नाह प्रकाश समस्य योगमाया समावृत” (गीता)

१ चतुर्दशभिर्भूतसङ्गाः—(सङ्शोभित)

१—अद्य (१) (१)	अद्य सप्तपिरासा	ज्ञानयोगानुगामी
२—प्रजापतिः (२) ()		
३—इन्द्रः (१) (३)		
४—अग्निः (२) (४)		
५—गन्धर्वः (१) (१)		
६—यक्षः (१) (७)		
७—राक्षसः (१) (३)		
८—पिरासः (७) (४)	अद्य सप्तपिरासा	भक्तियोगानुगामी
९—मनुष्यः (१) (१)		
१०—पशुः (७) (१)		
११—पक्षी (३) (२)		
१२—मृगः (१) (१)		
१३—कृमिः (७) (७)	अद्य सप्तपिरासा	कर्मयोगानुगामी
१४—सर्वभूतः		

२-मस्वविशालो दक्षमर्ग — (ज्ञानयोगानुगत —

१	१—ब्रह्मा	{	सत्त्वानुगतो—ज्ञाननिष्ठो—ज्ञानयोगानुगतो
२	२—प्रजापतिः		
३	१—इन्द्रः	{	रजोऽनुगतो भावो—मक्तिबोगानुगती
४	२—सितरः		
५	१—गन्धर्वः	{	तमोऽनुगता—कर्म ।।—कर्मयोगानुगता
६	२—यक्ष		
७	३—राक्षसः		
८	४—निष्ठाप		

ज्ञानयोगानुगता—ब्रह्मा—मोक्षमा

मस्वविशालाः

३-रजोविशालो त्रिपक्ष-सर्ग — (मक्तियोगानुगतः) —

१	१—मनुष्याः	{	सत्त्वानुगता—ज्ञाननिष्ठाः—ज्ञानयोगानुगताः
२	२—पशवः		
३	२—पक्षिणः	{	रजोऽनुगता—मक्ता—मक्तिबोगानुगताः
४	१—कुम्भक		
५	२—कीटः	{	तमोऽनुगता—कर्मणा—कर्मयोगानुगता
६	३—मृग		

मक्तिबोगानुगता—प्राणिना—वाक्यवा

रजोविशालाः

४-तमोविशालो स्वावरसर्ग — (कर्मयोगानुगतः) —

१	१—श्रोत्रधरः	{	सत्त्वानुगताः—ज्ञानबोगानुगता
२	—वनस्पतयः		
३	२—स्तम्भरीवाकातयः	{	रजोऽनुगता—मक्तिबोगानुगता
४	१—बाणवः, कर्मवैद्य पायाकातयः		

कर्मयोगानुगता—शरीरा—

कर्मवैद्यः तमोविशालाः

७७-रूपमनुगत 'भूत' तस्य, तदनुगता मौलिकी प्रथा, एवं स्तौम्यलोकात्मक-पारिषद-मार्गं की भवतुर्दशविधता का समन्वय—

[illegible]

७८-इत्यप्या दुर्विज्ञेया सगणरम्भरा, एव उत्तक 'भाव-शुद्ध-विकार' नामक तीन विषयों का संस्मरण—

एव प्रकृति ही बुद्धिमा होती हुई बुद्धिमत्ता है तो प्रकृति से उत्पन्न कर्ण जैसे मुखमेल यह लक्षण है। इन वर्गों की बुद्धिकेय भाषा-शुद्ध-विचार मेर से तीन भागी में विभक्त हैं। भाषासृष्टि अम्बबसृष्टि है इसे ही मानसीमृष्टि भी कहा जाता है। शुद्धसृष्टि अक्षरसृष्टि है, इसे ही प्राकृतिकसृष्टि भी कहा जाता है। विचारमृष्टि चरसृष्टि है, यही मैथिलीमृष्टि बाष्पिकीसृष्टि, बैधिरकीसृष्टि, अद्वैतिसृष्टि पार्थिवीमृष्टि मूलमृष्टि मायिकमृष्टि अस्वप्नमृष्टि त्रिवेदामृष्टि त्रिशुणसृष्टि आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है। इस त्रिशुणाभिधा चरसृष्टि का एकमात्र पार्थिव वाचावृत्ति ही सम्भव है। इसी रहस्य को साहज में रखकर महाबाहु ने कहा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन ।

सन् प्रकृतित्रैमंक्त महेमिः स्यात्त्रिमिगुंहीः ॥

— ११५ —

७८-त्रिगुणात्मिका प्रकृति की विस्वव्यापकता, एवं उसके माद-गुण-विकार-नामक तीन महिमाविवर्ण—

अथवा अनुगता मानसीमृष्टि की विकासशक्ति अथवा स्वतन्त्र रूप में महान् परमेष्ठी है। अथवा [मौलिकप्रकाश] और और मनु ही इस मायात्मिका शक्ति के प्रधान विचार हैं वैश्विक-महर्षयः सप्त पूर्ण चरित्रों में मन्वन्तया। अथवा माया मूलानां मन्वन् [अथवा] एष पृथग्भूतिषा इत्यादि पीताम्बिकात् न स्पष्ट है। अथवा अनुगता मुखमृष्टि की विकासशक्ति विरचने इत्यर्थ है। त्रिगुणभाव का [अथवा] इत्यर्थ मान यह है [अथवा] समर्थ नहीं है। अथवा पूर्व में विस्तार से बताया जा चुका है। अथवा अथवा गुणों का अन्तर्गत नहीं है। अथवा अनुगता विकासशक्ति की विकासशक्ति अथवा शक्ति है। और अथवा का ही मन्वन् है। अथवा 'महर्षयः' शब्द में ही नहीं पड़ता है। प्रकृति के ही अथवा अथवा अथवा अथवा से अथवा ही है। प्रकृति के ही सर्वप्रधान अथवा अथवा से अथवा ही है। अथवा प्रकृति के ही सर्वप्रधान अथवा अथवा से

विकारसृष्टि होती है अर्थात्—‘विकारारंभ गुणारंभैवान् विद्धि प्रकृति-सम्भवान् इत्यादि गीता-वचन से स्पष्ट है।

८०—मच्च-रज-स्तमो-गुणात्मिका प्रकृति के विरचानुबन्धी ‘परम-मध्यम-अवम-’ नामक तीन धामों का सम्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि, पञ्चपर्वतिष्ठ विरचसृष्टि को हम सत्त्वानुगता अव्ययसृष्टि रजोऽनुगता अक्षरसृष्टि एवं तमोऽनुगता क्षरसृष्टि के भी से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यही विरचसृष्टि का मौलिक विभाग है। स्वयम्भू-परमोष्ठी की समष्टि परमप्रथम है चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि अथमप्रथम है एवं सूर्य्य मध्यमप्रथम है। ‘तस्माद्यत् किंचावापीनमादिस्थात् सद्यं तम्भूत्युनाप्तम्’ इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य से नीचे नीचे का विस्तृत मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। निवेशयन्ममूर्तं मर्त्यञ्च’ इस यजुर्मन्त्र के अनुसार मध्यम मर्त्य दोनों का संयोजक बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृत-प्रधान परमप्रथम — में अमृतप्रधान कल्बमूर्ति अव्यय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अथमप्रथम में मर्त्य-प्रधान तमामूर्ति क्षर की प्रधानता है, एवं तमप्रधान मध्यमप्रथम में तमप्रधान रजोमूर्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, ‘पुरुष-महामाया-योगमाया निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय प्रपांस—

परमप्रथम ज्ञानयोगानुवाची है मध्यमप्रथम मक्षितयोगानुवाची है एवं अथमप्रथम कर्मयोगानुवाची है। तीनों क्रमशः भाव-गुण-विकार-सृष्टियों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान-रजि से भावसर्ग सत्त्ववि-रास है गुणसर्ग रजोविशाल है एवम विकारराग तमोविशाल है। कल्बविशालता का स्वयं पुरुष से सम्बन्ध है रजोविशालता का महात्मना [अक्षर] से सम्बन्ध है एवं तमोविशालता का योगमाया [क्षर] से सम्बन्ध है। तदन्तर्ग से त्रिगुणात्मिक बनती हुई भी अक्षरमा योगमाया तम-प्रधाना ही मानी जायगी। अक्षर्य मगवान् ने योगमाया को आवरण * करने वाली बतलाया है एवं आवरण करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वामात्मिक धर्म है। आपने अक्षर्याभिमय सत्त्व-रज-स्तमो-विशालताओं का विज्ञान-विद्वद्ब्रह्मप्रधान योगमायानुबन्धी केवल तमोविशालता में ही अन्तर्भाव है जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

— स केदंतत् परमं ब्रह्म धाम (उपनिषत्)

यद् गच्छा न निबन्धन्ते तद्धाम परमं मम । (गीता)

* “नाहं प्रकाशं सर्वस्य योगमाया समावृतं” (गीता)

विज्ञानाभिमत त्रिविध मर्ग—

- १- (१) १-स्वयम्भू } परमधाम (अम्भविद्यामृमि) — मत्तानुगतममुत्तम
 (२) २-परमेष्ठी }
 २- (१) १-एवम्भू } मध्यमधाम (अम्भविद्यामृमि) — रत्नोऽनुगती अमृतमृन्मू
 (२) १-चन्द्रमाः }
 (३) २-दुर्मित्री } अकमधाम (अम्भविद्यामृमि) — तमोऽनुगतं मत्तम्

पञ्चमर्गो—विश्वम्

- १-मत्तानुगतेनाम्भवेन—मावम्भूति (अम्भ—मानवा—नित्य—अमुत्तम)
 २-रत्नोऽनुगतेनाम्भवेन—गुणवत्तुति (पञ्चकम्भवाः)
 ३-तमोऽनुगतेन अम्भवेन—विश्ववत्तुति (अम्भ—दुर्मित्री मृन्मू)

सर्वसंगममार्गः

- १-स्वयम्भूति—मानवानुगती—मावम्भूति—मानवानुगताः (मावम्भूति)
 २-रत्नोऽनुगती—रत्नानुगता—गुणवत्तुति—महिषीगानुगताः (मावम्भूति)
 ३-तमोऽनुगती—रत्नानुगता—विश्ववत्तुति—महिषीगानुगताः (महिषीगानुगताः)

- १-स्वयम्भूति (स्वयम्भूति—पारमेष्ठिनी—गुणवानुगता—नित्य वा त्वति)
 २-स्वयम्भूति (स्वयम्भूति) — महामानुगता—गुणवानुगता त्वति
 ३-स्वयम्भूति (चान्द्रमसी वारिणी) — योगमानुगता विगुणवत्तुति त्वति

८२ - त्रिविध-सर्गानुगता पार्थिवी-त्रिलोकी, एवं तदनुगत चौदह प्रकार का भूत-मग -

वैज्ञानिकी सृष्टिपाठ की मीमांसा को छोड़िए। प्रस्तुत है सांख्यमिमत चतुर्दशविध भूतसर्ग का वैज्ञानिक विचार। यही अत्र मीमांस्य है। यह पूर्णरूपेण लक्ष्य में रखना चाहिये कि, इस सर्ग का केवल अन्तर्गर्भिता पृथिवी से ही सम्बन्ध है। पृथिवी के चित्स-चित्तनिधेय मंद से दो विभव माने गए हैं। संक्षेप में इस सम्बन्ध में यही ज्ञान लेना पर्याप्त होगा कि सिद्धपृथिवी के केन्द्र से निकल कर २१ वें स्तोम पर्यन्त स्थाप्य प्राणानिमग्न मयबल ही चित्तेनिधेया पृथिवी है। इसके निहत (६) पञ्चरात्र (१५) एकविंश (२१) वे तीन विभाग हैं। त्रिहस्त्योमावन्निष्ठ पार्थिव प्राणमयबल इस पृथिवी का पृथिवीलोक है पञ्चदशस्तोमावन्निष्ठ पार्थिव प्राणमयबल इसका अन्तरिक्षलोक है एवं एकविंशस्तोमावन्निष्ठ पार्थिव प्राणमयबल इसका द्युलोक है। इसप्रकार केवल स्तोममेव से पृथिवी में ही तीनों लोकों का योग सिद्ध हो जाता है। विज्ञानमया में यज्ञपृथिवीरूपा यही त्रिलोकी 'स्तोम्यान्त्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही 'अवितिपृथिवी' भी कहा जाता है। यही ब्राह्मणप्रथा की 'द्यावापृथिवी' है। पृथिवी माता है द्युपिता है। पृथिवी सोनि है द्यु रे सोचा है, पार्थिव-शुद्ध रत्न है। तीनों के सम्बन्ध से ही चतुर्दशविध भूतसर्गों की अभिव्यक्ति हुई है।

८३—त्रैलोक्यद्वयताओं का तानूनय, तद्विवचन सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ विराट्-नामक प्रलाप्य-देशता, एवं इनकी ज्ञान क्रिया-अर्थ-रूपता का समन्वय—

निहतपृथिवी अग्निप्रधान है। यह पार्थिव प्राणानि अर्चरात्रि का अविद्याता है। पञ्चदश अन्तरिक्ष वायुप्रधान है। यह क्रियाशक्ति का अविद्याता है। एकविंश द्युलोक इन्द्रप्रधान है। यह हानरात्रि का अविद्याता है। इन तीनों त्रैलोक्य-देवताओं का परस्पर तानूनय [संगमन] होता है। कलात् तीनों तीनों शक्तियों से युक्त हो जाते हैं केवल प्रधानता अग्रधानता का तारतम्य रहता है। ज्ञानशक्तियुत इन्द्र क्रियाशक्तियुत वायु इन दोनों की अपने गर्भ में रखने वाला अवयव इन्द्र-वायु-अग्नि-मूर्ध्नि-अर्चरात्रियुत अग्नि 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'मूलहस्ता' "विष्णु" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अर्चरात्रियुत अग्नि, ज्ञान शक्तियुत इन्द्र इन दोनों का अपने गर्भ में रखने वाला अवयव अग्नि इन्द्र-वायुमूर्ध्नि क्रियाशक्तियुत वायु 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'हस्तात्मा' — 'ब्रह्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध है। अर्चरात्रियुत अग्नि क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों की अपने गर्भ में रखने वाला अवयव अग्नि-वायु इन्द्रमूर्ध्नि ज्ञान शक्तियुत इन्द्र सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। यही 'ब्रह्मात्मा' "शिष्य" इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। तानूनय के कारण वरपि तीनों ही तीनों शक्तियों से युक्त हैं परन्तु क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र की प्रधानता से तीनों क्रमशः अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान ही कम गह है।

● गयाभास्वानुगामी प्रेठ हंल्य मा की हल हंल्यमा से सर्वथा वृथा लमझना चाहिए।

८४—सर्गज्ञानुगत ससङ्गमर्ग, द्विरवयवमर्गानुगत अन्तःसङ्गमर्ग, विराडनुगत असङ्गमर्ग-
भेद से त्रिविध-सर्गों का समन्वय, एवं तात्त्विक-माध्यम से सर्गत्रयी का स्वरूप-
व्यवच्छेद—

अर्थ का धार से सम्बन्ध है आध्यय की कथानुगता वाक से सम्बन्ध है एवं यही लभोभाष का अधि-
ष्ठाय है। अतएव उपमान आर्थमूर्ति विराट विष्णु को हम लभोऽनुकम्पी कर्मयोग का आध्यय कह सकते हैं।
क्रिया का आक्षर से सम्बन्ध है आध्यय के आक्षरानुगत प्राण से सम्बन्ध है एवं यही रजोभाष का अधिष्ठाय
है। अतएव उपमान क्रियामूर्ति द्विरवयवमर्ग ज्ञान को हम रजोऽनुकम्पी मत्तियोग का आध्यय मान सकते
हैं। ज्ञान का आध्यय से सम्बन्ध है आध्ययानुगत मन से सम्बन्ध है एवं यही लब्धभाष का अधिष्ठाय है।
अतएव उपमान ज्ञानमूर्ति सर्वत्र शिव को हम लब्धानुकम्पी ज्ञानयोग का प्रवर्तक कह सकते हैं-‘ज्ञानमिष्यो-
न्महस्वरत्नम्’। तीनो लोको के अधिष्ठाया ये ही तीनो देवता संमन्त्र अमृतःसंज्ञ-असंज्ञ इन तीन शूरको
के प्रवर्तक बनते हैं वैसाकि अनुपम में ही स्पष्ट होने वाला है।

मत्तियोग- परीक्षा	सोमप्रतिष्ठा- पारिवी	१-त्रिभुक्तोभाषविद्वज्—प्राणमयहसम्—अग्निमयम्—(पृथिवी)	अग्निवर्मा- पृथिवी
		२-पञ्चानुभाषविद्वज्—प्राणमयहसम्—वायुमयम्—(अन्तरिक्षम्)	
		३-एकविराटप्राणविद्वज्—प्राणमयहसम्—इन्द्रमयम्—(वी)	

- १-अग्निः (अर्थमयः)—पारिव—वाह मय—कथानुगत।
२-वायु (अर्थमयः)—आन्तरिक्ष—प्राणमय—अक्षयानुगत।
३-इन्द्र (अर्थमयः)—विष्णु—मनोमय—अध्ययानुगत।

विरचेदेवा

- १-इन्द्र (ज्ञानमयः)—मन—आध्यय—अक्षयम्
—वायु (क्रिया—प्राण—आक्षर—रज)
३-अग्नि (अर्थ)—वाह—धार—लभः

अग्निवर्मावर्मा इन्द्र इन्द्रपत्न्या
मयत्ता विप

१-वायुः (क्रिया) — प्राण — अक्षर — रज	}	अग्नीन्द्रगर्भितः- 'वायु' ईसात्मा हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा
२-इन्द्रः (ज्ञानम्) — मन — अव्यय — सत्त्वम्		
३-अग्नि (अर्थ) — वाक् — चर — तम		

१-अग्निः (अर्थ) वाक् — चर — तम	}	इन्द्रवायुगर्भितः 'अग्नि' सूखात्मा विराट् विष्णुः
२-वायुः (क्रिया) प्राणः — अक्षर — रज		
३-इन्द्र (ज्ञानम्) मन — अव्यय — सत्त्वम्		

- १-उर्वरः — शिव — दिव्य — दिव्यसर्गाधिष्ठाता — सत्वमूर्ति
- २-हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा — आन्तरिक्ष — आन्तरिक्षसर्गाधिष्ठाता — रजोमूर्ति
- ३-विराट् — विष्णु — पार्थिव — पार्थिवसर्गाधिष्ठाता — तमोमूर्ति

- १-सत्वमूर्ति शिव — सत्वविशालसर्गप्रवक्तृ कः — ज्ञानयोगाधिष्ठाता — अनेकमूर्तसर्गाष्टात्र ।
- २-रजोमूर्ति ब्रह्मा — रजोविशालसर्गप्रवक्तृ कः — मक्तियोगाधिष्ठाता — अनेकमूर्तसर्गाष्टात्र ।
- ३-तमोमूर्ति विष्णु — तमोविशालसर्गप्रवक्तृ कः — कर्मयोगाधिष्ठाता — अनेकमूर्तसर्गाष्टात्र ।

८५—इन्द्रात्मसत्त्व सत्त्व शिव से अनुप्राणित आत्मक-सत्त्वविशाल मसंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (सत्त्वविशालमगस्यात्मक-दिश्य -(१)—

अक्षर शिव भूतओं की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन कराया गया । अब क्रमशः तीनों के अन्तर विभागों का विवरण करते हुए तीनों के स्वरूपों की भीमोक्षा प्रस्तुत की जाती है । क्रमशः पहिले सत्वमूर्ति, सत्व विशालसर्ग के प्रवक्तृ तर्क्य इन्द्रात्मा शिव से सम्बन्ध रखने वाले सर्वज्ञमग का ही विचार कीजिए ।

‘संसद्’ उन सभों का नाम है जिनमें ज्ञानप्राप्त (चिन्त) की अभिव्यक्ति-प्राप्त के लक्ष्य प्राप्त किया एवं अर्पणरहित का भी विकास रह। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जिन जीव में ज्ञानप्राप्त मग्न कियाप्रधान दिग्गन्धर्व एवं अग्रप्राप्त विद्युत् इन तीनों व्यापारिक आत्माओं का सिद्ध एक ही आत्मा के इन तीनों विषयों का समावेश रहता समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो विश्वेश्वर के अग्रतः तब में है) अतः अभिव्यक्ति रहेगी, वही ‘संसद्’ जीव कहलाएगा। एवं उठे ही हम “अनन्य कहेंगे।

यह जलनल्लं पान्द्र गोम तथा द्विष्य द्रुह के भेद में दो भागों में विभक्त है । पान्द्रों को समग्र होय कि, हमने मक्खन्ना दूधेरी को भूतमग की प्रशस्ति का कृतवाचा था । जिन जलनल्लंकी में पान्द्रहीन की प्रशस्तिया रहती है उन्हें 'दूधना' का ज्ञान है और वे पूर्वकथनानुसार ब्रह्म-प्रज्ञानि आदि में से आठ भागों में विभक्त है । जिनमें पान्द्रप्राण गीण एवं पान्द्रप्राण मुख्य रहता है वही कुलरा खेदनर्ग है । इन्हें मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-कृमि व पाँच विभाग हैं ।

पाषाणों में भी अधिक ज्ञानवृद्धि है। यह सतवाषा ही वायुष्य है। इसी के सहस्रपात्र रातपात्र-
पक्षिपात्र आदि अनन्त मंद हैं। "जने चेतना की अभिव्यक्ति स्वल्पमात्रा में है। पार्थिव आकर्षण अधिक
है। मानव "नृ" की मात्रा स्थूल है। अतएव वे भूषुष्ट पर रंगते हुए ही जलते हैं। भूषुष्ट का झोड़कर
बाहर उठ जाना इन की शक्ति के बाहर है। अमर-सपिण्ड-सहाय-आदि वे सब प्राणी कीट व
साधे-दो जो भूषुष्ट के नाब लक्ष्य निगबलम भी रहस्यते हैं। हमी की अवस्था इन में चेतना की अधिक
अभिव्यक्ति हुई। परिलामता: पार्थिव-आकर्षण विधिलि हुआ। हमिके अनन्तर पक्षियों का स्थान है।
पक्षी में आर अधिक चेतना आता। पक्षी का मत्तकभाग एकात्मक इन्द्राकर्षण से मोड़ा उठा होना
छामाव नीचा रहा। बहोतक तो एक कम बहो। अब वही में पशु में कम कम गया। पार्थिव एवं लैर
आकर्षण बलानाम में परिणत होना। पक्षी के मत्तक भूषुष्ट भाग वहाँ ऊर्ध्व-धरा के वहाँ पशु के
मत्तक-भूषुष्टभाग समान बराबर पर आगए। आती फिर कम बढ़ता। मनुष्य में चेतना की पूर्ण अभि-
व्यक्ति होना। उच्चत इसके ऊपर का मत्तकभाग पार्थिव आकर्षण से विभुक्त होना हुआ। लैर इन की ओर
मिलत होकर (उन वर) लड़ा होना। पशु इनके शरीर में मिट्टी का याग अधिक था अतएव यह
भूषुष्ट की न झोड़कर। "नी आकारमात्र के विषय इसे पैरी की अवस्था हुई - 'पशुस्थान भूमि प्रतिष्ठित'।
आगे बाहर लोम की वृद्धि से चेतना में आर भी अधिक वृद्धि हुई। लोम विष्पादक 'बीम' फाय है। वही
किन्तु जो अपने गम में बाध कर पाशात्मक "नृ" की मात्रा किंवा मर्कट बनाता है। क्योंकि लोम की इसी
से चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई अतएव वह चेतनार्थ पार्थिव आकर्षण से लब्धा युक्त होना। उसे
पैरी की आकृतिवत्ता नहीं रही। मानववर्गना पक्षी पर सब प्रकार के शरीर बाध कर लेना इन का अन्त-
मिष्ट धर्म बन गया। कृमि-जीवादि की भाँति "नृ" आर वैविधित्वों में भी चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई
जिस का कि निम्नतर करता लब्धा बाधावृत्त होगा। "नृ" आर-आन्त लोम-बीम विभु इनके वास्तव्य से चेतन
मर्त दो प्राणी विभुक्त होना। पहिला लोम आठ प्राणी में विभुक्त हुआ। दूसरा ५ प्राणी में। तत्पूव लोम-
विभुक्त चेतनार्थ के ११ विधियाँ होगी। "ने हम विध्यमर्ग ही बनेंगी। विद्युत् का अर्थ वहाँ 'वेक्षण'
कहाता। विद्युत्कर्षण का अर्थ 'वेक्षण' कहाया एवं लब्ध का अर्थ 'प्राप्त' कहाया।

इन तीन आत्म-विषयों के कारण ही यह ससङ्ग-स्तवविशालमार्ग 'अष्टात्मक' समीपन का अधिष्ठात्री बना ।

८६-आद्यात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्वायात्मक रजोविशाल-अन्त -

मन्त्र-सर्ग का स्वरूप-परिषय (रजोविशालमार्ग-द्वायात्मक-आन्तरिक्ष - (२)-

पार्थिवभाग की अधिकांश से बीवी में चेतना का भूमिभूत हो गया (उप गया) वे ही बीव अन्त-सङ्ग नाम से प्रसिद्ध हुए । इन में आन्तरिक्ष हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के, एवं पार्थिव विराट् विष्णु के प्रत्ययों की ही प्रधानता रही । सर्वज्ञ के तिरोमासलक्षण अभाव से वे पृथिवी के मूल को न छोड़ सकें । विराट् के द्वारा इनके शरीर का निर्माण हुआ एवं हिरण्यगर्भाभूत तैबससायु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन-लक्षण गतिमान का विकास हुआ । हिरण्यगर्भाभूत तैबससायु के विकास से वे बड़ हो अवश्व गये परन्तु मूल (मूर्ध्म) को न छोड़ सकें । अतएव इन्हें मूलजीव कहा गया । यद्यपि अमरकजी आदि कुछ एक वक्त्रियाँ अवश्य ही ऐसी हैं जो इन्हीं पर बिना पृथिवीमूल के भी व्याप्त हो जाती हैं । परन्तु उन में भी पूर्वविश्रुत त्याग-उत्तर प्रदेशसंयोग-लक्षणा-प्राज्ञानुगता गति का तो अभाव ही है । अतएव इन को भी निम्नूना नहीं माना जा सकता । इन मूलबीवों का आरम्भ स्तन्य से होता है एवं समाप्ति इन्हीं पर होती है । स्तन्य-कुरा-कारा-वल्ली-गुल्म-अता-गुल्म अल्प शुष्क-हृष्ट आदि अनेक विषयों में वे अन्तःमन्त्र विभक्त हैं । इनमें केवल तन्निद्रिय का ही विकास रहता है । जो अक्षय्य स्वप्नावस्था में मानव की रहती है वही अवस्था इन अन्तःसङ्ग बीवों की है । स्तन्य में हमारी संज्ञा (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिदांश) अन्तःमूल रहती है एवमेव इनकी चेतना का अन्तःमूल ही रहती है । अतएव इन्हें—“अन्तःमन्त्र” कहा जाता है । तन्निद्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें रुक्म्य धरान-हृन्मन-गन्ध-ग्राह्यादि व्यापार होते हैं । इसी के द्वारा इन्हें शुक्ल-गुल्मागुम्य हुआ करता है । परन्तु विषयकार त्याग-गुल्म-गुल्मी-के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते हैं एवमेव स्वप्नावस्था से निवृत्त य अन्तःसङ्ग बीव शुक्ल-गुल्म का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं—“अन्तःसङ्ग मयस्येते सुखदुःखसमन्विताः । (महाभारत) ।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (बायु) है अतएव इन्हें हम पूर्वपरिभाषानुसार मक्ति रजोनुमाती कह सकते हैं । इन में ज्ञान का भी आशिक समावेश है इसलिए तो वे अन्तःमन्त्र हैं अर्थ का भी समावेश है इसलिए वे अन्तःमन्त्र हैं । सन्ध्य अवस्था ही स्वप्नावस्था है । ज्ञानानुगता प्राप्रवस्था का इनमें अभाव है । उच्च रूप का मक्तियोग भी साम्म्य ही माना गया है । ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है अतएव उन अन्तःसङ्ग रजोविशालता को हम 'आन्तरिक्ष' कह सकते हैं । इन्हीं में चेतना है अथवा नहीं । इस प्रश्न की मीमांसा की आश कोई भी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि भारतवर्षाम ॥ श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अन्तः के द्वारा इस रहस्य को समी के लिए व्यक्त कर दिया है ।

८७-अग्न्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक समोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिषय-(समोविशालसर्गः एकात्मक-पार्थिव -(३)-

पार्थिवभाग की ओर इष्टि हुई । शेषमूला चेतना भी आत्मनिष्ठरूप से अभिभूत हुआ । केवल पार्थिव अग्नि का ही (विशालरूप ही) साम्राज्य शेष रह गया । वे ही बीव 'असंज्ञ' किंवा 'अचनन' कह

'संमिश्र' उन मग का नाम है जिस में ज्ञानमार्ग (चिन्ता) की अस्मिन्मूर्ति-प्राप्त्य के साथ साथ किंवा एवं अर्थशक्ति का भी विकास रह । दूसरे शब्दों में वा समभिप्रायि जिस बीच में ज्ञानप्रधान तथा क्रियाप्रधान द्विव्यवहार एक साथ चलान विरह इन तीनों व्यापिदैविक आत्माधी का हिंसा एक ही आत्मा के इन तीनों विषयों का समावेश म्हात्मा समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो विशदमार्ग के कारण ही में है) अन्ति अस्मिन्मूर्ति रहेगी वही 'संमिश्रजीव कहलाएगा । एवं उसे ही हम "चतुर्थ" कहेंगे ।

यह जलनर्ग बाण गोम तथा शिव इन्द्र के मे-मे दो भागों में विभक्त है। बाणों का स्वरूप हाथ कि, हमन नबन्ना गुपेरी का मृन्मय भी प्रवर्तित जलभाया या। जिन जलनर्गों में जलनर्गों के प्रचलता रहती है उन्हें 'द्वन्वा' कहा जाय है। जो ये पूर्वजलानुत्तर बाण-प्रज्ञाति आदि मेर से बाण भागों में विभक्त हैं। जिनमें जलनर्ग गोम एवं जलनर्ग मुसुर रहता है। बरी मृन्मय जलनर्ग है। इन्हें मनुष्य पशु पक्षी-कीट-कृमि व गोम विभाग हैं।

पानी में भी बहिर मानव है वह बतलाना ही बाधक है। हमारे मानवपुत्र रामपुत्र-
पाशुपुत्र आदि अनेक हैं। उनमें बचना की अभिव्यक्ति स्वयम्भवा से है। पार्थिव आकर्षक अधिक
है अतएव इन्द्र की माया लक्ष्य है। अतएव वं भूदृष्ट पर गले हुए ही बलते हैं। भूदृष्ट की छोड़कर
अन्य उठ जाना इन की शक्ति के बाहिर है। अमर-महिष-महाक-आदि वे सब प्राणी कीट वृ-
क्षायों को भूदृष्ट के माय लक्ष्य निरालम्ब भी रहस्यते है। इसी की अपेक्षा न में बचना की अधिक
अभिव्यक्ति हुई। परिणामतः पार्थिव-आकर्षण शक्ति हुआ। इसीके अनन्तर पक्षियों का जन्म है।
पक्षी में अनेक अधिक बचना आता है। पक्षी का मूलकमाग वातावरण द्वारा कार्य से जोड़ के वा हाव
दृष्टता सीखा गया। पार्थिव तो एक कम बचा। कम बहा में पशु में कम बचा गया। पार्थिव एवं और
आकर्षण समानता में परिणत हो गया। पक्षी के मूलक-दृष्ट माग बहा अर्थात्-अन्य है। बहा पशु के
मूलक-दृष्टमाग समान बलागत पर आया। आगे फिर कम बचा। मनुष्य में बचना की पूर्ण अभि-
व्यक्ति हो गई। अतएव इनके आगे का मूलकमाग पार्थिव आकर्षण से विमुक्त होना हुआ। और इन की अनेक
विभिन्न होकर (उन पर) लड़ाई हो गया। परन्तु इनके शरीर में मिट्टी का माग अधिक रहा अतएव यह
भूदृष्ट का न हो सका। इसी आचारमय के लिए हम पक्षी की अपेक्षा करें—‘पक्ष्या भूमि प्रतिष्ठिता’।
अनेक प्रकार राम की इच्छा में बचना में आता भी अधिक इच्छा हुई। राम विस्मयक ‘मीमांसा’ प्रसार है। अनेक
विभिन्न को करने राम में आकाश पर शाश्वतक मन्त्र को प्राप्त किया सम्भल बनाता है। क्योंकि राम की इच्छा
में बचना की अधिक अभिव्यक्ति यह अतएव वह धनकर्मा पार्थिव आकर्षण से लक्ष्य प्राप्त हो गया। उसे
पक्षी की आकर्षणता नहीं है। आकर्षणता करने पर लक्ष्य प्रकार के शरीर धारण कर लेना इत का सम्भ-
लित करने का गया। इसी-रीति की भाँति इन आकाश विधिविधानों में भी बचना की अधिक अभिव्यक्ति हुई
जिन का निमित्त बनना लक्ष्य का अग्रगण्य हो गया। अतएव-अन्य राम-और विभिन्न इन्द्र के तात्पर्य से अनेक
लक्ष्य की प्राप्ति विमल हो गया। पहिला लक्ष्य आकाश में विमल हुआ दूसरा ५ मांगों में। लक्ष्य लक्ष्य-
विभाग बलकर्मा के ५ विधित हो गया। नये हम विस्मयका ही कहेंगे। विष्णु का अर्थ बहा वैश्वानर
कहा गया विस्मयका का अर्थ ‘लक्ष्य’ कहा गया एवं लक्ष्य का अर्थ ‘प्राप्त’ कहा गया।

इन तीन आत्म-विवर्तों के कारण ही यह सर्वज्ञ-सर्वविद्यालमर्ग अत्यात्मक सम्बोधन का अधिकारी बना ।

८६—आत्मात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित दयात्मक रजोविशाल-अत्र-सङ्ग-सर्ग का स्वरूप-परिचय (रजोविशालमर्ग-दयात्मक-आन्तरिक्ष)-(२)—

पार्थिवभाग की अधिकता से जीवों में चेतनाश अभिमूल होना (वह गया) वे ही जीव अन्तः-सङ्ग नाम से प्रसिद्ध हुए । इन में आन्तरिक्ष हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के एवं पार्थिव विराट् बिष्णु के प्रत्ययों की ही प्रधानता रही । सर्वज्ञ के त्रिरोमाक्षलक्षण अभिप्राय से वे पृथिवी के मूल को न छोड़ सकें । विराट् के द्वारा इनके घरीर का निर्माण हुआ एवं हिरण्यगर्भाश्रित तैलसबाधु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन-लक्षण गतिभाव का विकास हुआ । हिरण्यगर्भाश्रित तैलसबाधु के विकास से वे बल तो अवश्य गए परन्तु मूल (मूर्धन्य) को न छोड़ सकें । अतएव इन्हें मूलजीव कहा गया । यद्यपि अमरत्वकी आप्ति कुछ एक बलि यों अवश्य ही ऐसी है जो हृद्यों पर बिना पृथिवीमूल के भी ध्यात हो जाती है । परन्तु उन में भी पूर्वदिश त्याग-उत्तर प्रवेशयोग-लक्षणा-प्राज्ञानुगता गति का तो अभाव ही है । अतएव इन की भी निष्कूल नहीं माना जा सकता । इन मूलजीवों का आरम्भ क्षण से होता है एवं समाप्ति हृद्यों पर होती है । स्वप्न-पुरा-कारा-बन्धी-गुरुम-सर्व-गुरु प्रत्युप श्रुपक वृद्ध आदि अनेक विषयों में वे अन्तःसङ्ग विभक्त हैं । इनमें केवल त्वग्निन्द्रिय का ही विकास होता है । जो अक्षरवा स्वप्नावस्था में मानव की रहती है वही अक्षरवा अन्तःसङ्ग सङ्ग जीवों की है । स्वप्न में हमारी मङ्गला (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिद्विश) अन्तःसङ्ग रहती है एवमेव अन्तःसङ्ग चेतना का अन्तःसङ्ग ही रहती है । अतएव यह — अन्तःसङ्ग कहा जाता है । त्वग्निन्द्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें कृष्ण वर्णन-हमन-गन्ध-महर्षादि व्यापार होते हैं । इसी के द्वारा बुद्धि-सुख-दुःखानुभव हुआ करता है । परन्तु बिस्मयकार स्वप्न-गुरु-गुरु-के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते हैं एवमेव स्वप्नावस्था में निष्कूल वे अन्तःसङ्ग जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं—

“अन्तःसङ्ग मयस्येन्ते सुखदुःखममभिविदाः । (महामाय) ।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (बाधु) है अतएव इन्हें हम पूर्वपरिमाणानुसार भक्ति योगानुसारी कह सकते हैं । इन में ज्ञान का भी आधिक्य अभाव है । इसलिए ही वे अन्तःसङ्ग हैं अर्थात् का भी समावेश है इसलिए वे अक्षरक हैं । लब्ध-अक्षरवा ही स्वप्नावस्था है । ज्ञानानुगता आप्रवस्था का इनमें अभाव है । उधर आप का भक्तियोग भी लब्ध ही माना गया है । ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है अतएव इन अन्तःसङ्ग रजोविशालमर्ग को हम ‘आन्तरिक्ष’ कह सकते हैं । हृद्यों में चेतना है अथवा नहीं ? इस प्रश्न की सीमाय की आब कोई भी आवश्यक नहीं रही, जब कि मारकलाल स्व भी जगदीशचन्द्र बसु ने सन्तों के द्वारा इस प्रश्न को सही के लिए ध्यात कर लिया है ।

८७—अन्यात्मलक्षण विराट् बिष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिचय (तमोविशालमर्ग-एकात्मक-पार्थिव)-(२)—

पार्थिवभाग की ओर इतिष्ठ हुआ । शेषशला भवना भी आत्मनिकरूप से अभिमुख होकर । केवल पार्थिव भाग का ही (विशालका ही) व्यापार शेष रह गया । वे ही जीव “असङ्ग” किंवा “अचनन” कह

लाए। वह तो प्रत्येक शिष्या में नहीं ही मुक्ताना चाहिए कि चेतन-अचतन-अज्ञ-जसतन इत्यादि व्यवहारी का कारण "विद्यमान-निर्विद्यमान (आत्ममत्ता-आत्मामात्र) नहीं है। क्योंकि वैदिक-विज्ञान के अनुसार (आत्मा के निर्विद्यमान के कारण) ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें मनो-प्राण-बाह्य-अन्तर आत्मा प्रतिष्ठित न हो। विवश का निष्कार एवं अविच्छेद ही उक्त व्यवहार का कारण है। इन्द्रियों के द्वारा ही निर्वाण अवस्थित होता है। मेघ में बहिः स्वरूपकाय बाह्य हीनया मुक्तावस्था । पटल रीफ का प्रकार यदि अक्षर्य होगा तो इन अवस्था-प्रमाण से ही वीरप्रकाश एवं शीघ्रप्रकाश का प्रतीकभाव सिद्ध पुरुषाकाश में एवं अनादिप्रकाश प्रकाशा में अभाष नहीं माना जा सकता। एवमेव प्रकाशसूक्त इन्द्रियगत के अभाष से बहिः स्थिती मोक्षिक पदार्थ में चेतना का निगमन नहीं है। जो प्रत्यक्षा ही उसके मृगाकाश को आवरण नहीं करा जाता। इन्द्रियसत्ता एवं इन्द्रियात्मक ही चेतन-अज्ञ भेद का कारण है न कि आत्ममत्ता एवं आत्मामात्र वैद्याकि-— ऐन्द्रिये चेतनब्रह्म निरिन्द्रियमचेतनम्' इत्यादि धार्यवचनों से स्पष्ट है।

[illegible]

सौमन्तिक, पथराग, अनवधाराग, पारिजातपुष्पक, वाससुष्पक वैद्युत्, इन्द्रनील क्लाव
पुष्पक महानील नन्दक, शीतकुण्डित (चन्द्रकमल) सूर्यकान्त आदि मणियों सप्त वागु सप्त उपवागु,
मण्ड रस मण्ड उपरस सप्त विप मण्ड उपविप आदि ४२ रत्नगर्भे पद्मा पुष्कराक्ष डीरक, मोती
काञ्चक, कषक आदि आदि लघु इत दीर्घे रत्नान्तर अष्टाङ्गुलं मे ही कल्पयूत है । तमविद्यात्त व लक्षण का मही
वर्णित स्वरूप—निर्धार्य है ।

[illegible]

विमानसम्पत्त-योगमायानुबन्धी सर्ग—

- (१) १—प्रद्य (१)
 (२) २—प्रजापतिः (२)
 (३) ३—इन्द्रः (३)
 (४) ४—पितरः (४)
 (५) ५—गणवः (५)
 (६) ६—ब्रह्मा (६)
 (७) ७—राक्षसः (७)
 (८) ८—पिराक्षः (८)

वान्प्रसोमप्रधानसर्गः

६

एकद्विरास्तोमावच्छिन्न-विराट्-द्विरुक्ताभर्गमित-मर्षकाः शिव-
 ज्ञानप्रचाला-प्रतिष्ठामुमि, सर्गप्रयरोक्ष्य ।

सर्वविशालसर्ग - दिव्यः - (संसङ्गा - आत्मका
 जीव-जीवा)

- ***
 (९) १—मनुष्य (१)
 (१०) १—पृथु (१)
 (११) २—पृथी (२)
 (१२) १—कीटः (४)
 (१३) ४—कुमि (५)

इन्द्रप्रसोमप्रधानसर्गः

७

स्तम्भ
 द्वा
 कला
 नक्षी
 पया
 कृष्ण
 उपक
 इकादि

एकद्विरास्तोमावच्छिन्न-विराट्-द्विरुक्ताभर्गमित-मर्षकाः शिव-
 ज्ञानप्रचाला-प्रतिष्ठामुमि सर्ग-

प्रयरोक्ष्य ।

पवित्रप्रधानमूलसर्गः

१

रजोविशालसर्ग - आन्तरिचराः - (अन्तःरांशाः -
 द्विआत्मकाः मूल-जीवाः)

महि
मुळा
वज्र
अथ
गंधक
पारद
अमरक-आदि

मिष्टान्द्रोमादिषु विपद्य विपद्युः-अर्चयन्तः-
प्रविष्टान्द्रोमादिषु विपद्य विपद्युः-अर्चयन्तः ।

तमोविशालसर्गः-पार्विवा-(सर्पद्वय-एकद्वय-वायु-जीवा)



१-उर्वरं-प्राज्ञ-कान्तप्रधान-अग्निबाधुगर्मित-इन्द्र-इन्द्रमा-पिब।

२-विरहकान्तं-वैश्व-क्रियाप्रधान-अग्निप्रगर्मित-वायु-इन्द्रमा-वज्रा

३-विरहं-वैश्वानर-अर्चयन्तः-वायु-अग्नि-इन्द्रमा-पिब।



१—मलात्मा-विष्णु

२—ईश्या-ब्रह्मा

३—इन्द्रात्मा-शिव

तमोमूर्तिः

रजोमूर्तिः

सत्त्वमूर्तिः

१—विराट् (अधिदैवतम्)

२—वैश्वानरः (अध्यात्मम्)

३—विबुधस्तोमाः (अधिदैवतम्)

४—मूलप्रणयः (अध्यात्मम्)

१—हिरण्यगर्भः (अधिदैवतम्)

२—तैत्तिरीयः (अध्यात्मम्)

३—पञ्चराश्रोपः (अधिदैवतम्)

४—हृदयमेषः (अध्यात्मम्)

१—सर्वज्ञः (अधिदैवतम्)

२—प्राज्ञः (अध्यात्मम्)

३—एकविंशन्तोमः (अधिदैवतम्)

४—ब्रह्मरन्ध्रम् (अध्यात्मम्)

अपानमण्डलम्

बुधिवी

अर्धशक्तिः

म्यानमण्डलम्

अन्तरिक्षम्

श्रियाशक्तिः

मासमण्डलम्

सौः

ज्ञानशक्तिः

अर्धशक्तिर्वर्धमानः

एकविध

अचेतन

अन्तःसर्वविकल्पमात्रः

एकविध

अर्धचेतनः

सर्वविकल्पमात्रः

त्रयोविध

चेतनः

पञ्चवैश्विको मूलमगः

१-प्रार्थना

२-नैषध

१-वैष्णवराः

२-श्रीमद

२-वैरचनद

१-वर्धनट, जन्म-संस्कृतमहा बीरा (वास्तव) चम्पैयैर्गोपुत्रः

८८—प्रकृतिनिबन्धन-विगुणमात्र का विस्तार, एवं मात्र-गुण-विस्तर-सर्गत्रयी-से समन्वित
विश्वमात्र—

प्रकृति के त्रिभिन्न अकारणों को देख में रख कर ही हमें त्रिगुणभाव की व्याप्ति का विचार करना चाहिए। अन्तःप्रधान बुधधातुकी भावला राजःप्रधान महाभावा-(अक्षर)-तुल्यी गुणत्व एवं स्वःप्रधान वनमात्रा-(अक्षर)-तुल्यी विचारण में तीनों अकारण स्वविशाल-रसविशाल-धर्मविशाल-हैं। यही मौलिक विवरण है। इस तीनों में मध्यस्थ स्वभाव-परमेश्वरी से गुणत्व एवं स्व से एवं विचारण अन्तर्गमिता द्वितीया स समस्त रचना है।

८६-सप्तविंशत्यु-सप्तहमग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विषय—

इस समाधिस्थल पार्श्ववर्ग के भी सन्निविष्टात अस्तस्य रजोविशाल जगत्संघर्ष पर
 समीपविशाल अस्तस्य मंत्र स तीन विधाय दीयते है । इनसे भी प्रत्येक कर्म तीनो कर्मों के आश्रय है
 अस्तस्य पश्चिमे अस्तस्य अस्तस्य का ही सीमाधिप । अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य
 अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य
 अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य
 अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य अस्तस्य

६ रवोविशाल-चन्त-सकर्म के त्रिगुणात्मक तीन यक्षिमा-विषय—

दुसरा उदाहरण अन्तःसंज्ञा है। किन्तु एक पढ़ाई इच्छा ऐसे है कि, यदि कीज प्राची उनके स्मरण में प्रिय लगती है तो वे उन्नीषधर का पनी छायावादी से उसका चित्रण कर लेते हैं, जैसेकि एक बचन मनुष्य किसी वस्तु की छायाकार में बह कर जाता है। अथवा ही ऐसे इच्छा-कलावि हावप्रधान माने जायेंगे। इस-सुरा लावक-ती के बड़े करमर्ह कर दिखा जाता है। तो वह उन्नीषधर नष्ट हो जाती है। जैसेकि एक स्त्री रसगुण के माहात्म्य में लज्जा से विनम्रमूर्खी बन जाती है। ऐसे अतिरिक्त अन्तःसंज्ञा की दो इस अथवा ही अन्तःप्रधान मानत हुए कल्पविद्या कहेंगे। कथन-संज्ञावादी आदि अतिरिक्त पुनर् में विचार-

एवं मुकुलित-मावानुसूची क्रियामात्र प्रत्यक्ष में देखा जाता है। क्रिया का रजोगुण से सम्बन्ध है। ऐसी दशा में ऐसे अन्तःसंज्ञकों को अवश्य ही रजोविशाल माना जा सकता है। क-पिप्पल-निम्ब-करीर-ताल [लवंग] आदि कई शास्त्रों में स्वरूप वृक्ष-श्रेणियों में अन्तःसंज्ञकों को अवश्य ही रजोविशाल माना जा सकता है।

६१-तमोविशाल असङ्गसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विशेष—

तीसरा तमोविशाल असङ्गसर्ग है। अन्तःकान्त सूर्यकान्त स्फटिक, वैतृष्य आदि ज्योतिर्वन मन्त्रियों प्रकारक ज्ञानविकास के सम्बन्ध से उत्सविशाल मानी जा सकती है। शैविष्य फाटोरस, हीरक मुक्ता माणक पन्ना नीलम पुष्कराग [पुष्कराग] गोमदेक आदि पदार्थों को सामान्य विज्ञान के सम्बन्ध से रजोविशाल कहा जा सकता है। एक सुवर्ण रत्न लाभ शीतल कान्य पिप्पल आदि स्थूल अप्रकाशित वातुवर्ग को अवश्य ही तमोविशाल माना जा सकता है।

६२-सत्त्वविशाल-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विशेष—

संज्ञावर्ग के सत्त्वविशाल देवसर्ग को लीजिए। वज्र-प्रभापति का शुभ ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। इन्द्र विरर का शुभ क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है एवं गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच चारी अर्चप्रधान बनते हुए तमोविशाल है।

६३-रजोविशाल मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विशेष—

संज्ञावर्ग के रजोविशाल मनुष्यसर्ग को लीजिए। अष्टवीर्ययुक्त अतएव ज्ञानप्रधान मनुष्य [मात्सीय परिमारा के अनुसार ब्राह्मणवर्ग] उत्सविशाल है। अष्टवीर्ययुक्त अतएव क्रियाप्रधान मनुष्य [क्षत्रियवर्ग] रजोविशाल है। एवं विद्ववीर्ययुक्त अतएव अर्चप्रधान मनुष्य [वैश्ववर्ग] तमोविशाल है।

६४-मानवव्यक्ति-निवन्धन त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विशेष—

केवल मनुष्य का ही विचार लीजिए। ज्ञानराहित्ययुक्त शिरोमग सत्त्वविशाल है। क्रियाराहित्ययुक्त इन्द्र-वृक्षरस रजोविशाल है एवं अर्थसंज्ञाविज्ञाया उदरमग तमोविशाल है। अथवा क्षात्र प्रदेशस्थ शिरो-गुहात्मक अमृतस्थान ज्ञानात्मक रजोवर्ग प्रज्ञान शिव से युक्त होता हुआ सत्त्वविशाल है। इन्द्रस्थान क्रिया प्रधान रक्तवर्ग वज्रा से युक्त होता हुआ रजोविशाल है। एवं नाभस्थान अवप्रधान नीलवर्ग विष्णु से युक्त होता हुआ तमोविशाल है। केवल मनुष्य को लीजिए। आदित्यात्मक [इन्द्रात्मक] अर्जु ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। वाय्वात्मिका नाभिका क्रियाप्रधान बनती हुई रजोविशाल है। एवं अप्रत्यात्मक मूल अर्धप्रधान बनता हुआ तमोविशाल है। करणों की दृष्टि से देखिए। ज्ञानाधिष्ठात्री बुद्धि सत्त्वविशाल है। उन्मत्तात्मक मन रजोविशाल है। एक अर्धानुगत इन्द्रवर्ग तमोविशाल है। लवणस्थानस्थ से मनुष्यरासीगत अमृतविवर्त का विचार लीजिए। अमृतवृक्ष-महान का शुभ ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। विज्ञानरसा [बुद्धि] क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है एवं प्रज्ञानयुक्त प्राणात्मा अर्धवृक्ष बनता हुआ तमोविशाल है।

४-रघोविशालेषु-मक्तियोगानुगतेषु-अन्तःसप्तषु योगप्रयोपयोग —

- | | | | | |
|------------|--------------|----------------|-----------------|---------------|
| १-सायकन्ती | —वेतनापुष्पा | —पयतीवृद्धा | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-अमल | —मृग्यमुष्मी | —आदिहृत्पुष्पा | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-अ | —पिप्पल | —तालादिहृत्पा | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

५-रघोविशालेषु-कर्मयोगानुगतेषु-अन्तःसप्तषु योगप्रयोपयोग —

- | | | |
|--------------------|-----------------|---------------|
| १-महिष्यः | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-हीरकसकादिर्वा | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-मुवर्त-रघोविशाला | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

६-समन्ता मर्क-सत्त्वविराज्ञा-ज्ञानयोगानुगते-त्रेवसर्गे योगप्रयोपयोग —

- | | | |
|--------|-----------------|---------------|
| १-मर्क | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-मर्क | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-मर्क | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

७-मर्मज्ञा मर्क-रघोविशाल-मक्तियोगानुगते-मनुष्यसर्गे योगप्रयोपयोग —

- | | | |
|------------|-----------------|---------------|
| १-मर्मज्ञा | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-मर्मज्ञा | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-मर्मज्ञा | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

८-रघोविशालेषु-मनुष्यसर्गे योगप्रयोपयोग —

- | | | |
|----------------|-----------------|---------------|
| (१) १-रघोविशाल | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-रघोविशाल | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-रघोविशाल | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

- | | | |
|----------------|-----------------|---------------|
| (२) १-रघोविशाल | —सत्त्वविराज्ञा | —आग्नि |
| २-रघोविशाल | —रघोविशाला | —उपायका |
| ३-रघोविशाल | —रघोविशाला | —कर्मपरकृष्णा |

६-कैवल्यमस्तिष्के-एव योगप्रयोपयोग —

- १-इन्द्रात्मकश्चक्षुः — सत्त्वविशालम् — ज्ञानी
- २-वाय्वादिमहा नासिका-रजोविशाला — उपासकः
- ३-अग्निमात्रकं मुखम् — तमोविशालम् — कर्मपरत्नः

१०-स्वप्नेषु योगप्रयोपयोगः—

- १-शुद्धिः — सत्त्वविशाला — ज्ञानयोगानुगतः
- २-मनः — रजोविशालम् — महिमोगानुगतम्
- ३-इन्द्रियणि-तमोविशालानि — कर्मायोगानुगतानि

११-स्वप्नमात्रवर्गे योगप्रयोपयोग —

- १-महद्गर्भित्वाभ्यस्तमा — सत्त्वविशाला — ज्ञानी
- २-विज्ञानात्मा — रजोविशाला — उपासकः
- ३-प्रधानगर्भित्वाभ्यस्तमा — तमोविशाला — कर्मपरत्नः

१२-ससंज्ञात्मके तमोविशाले कर्मयोगानुगते पञ्चादिसर्ग योगप्रयोपयोगः—

- १-पञ्चिनः — सत्त्वविशाला — ज्ञानिनः
- २-पराशः — रजोविशाला — उपासकः
- ३-कुमिन्द्रीयः — तमोविशाला — कर्मपरत्नः

१३-सत्त्वविशालेषु ज्ञानयोगानुगतेषु पञ्चिषु योगप्रयोपयोग —

- १-मिद्वद-शुक्ल-सावितादयः — सत्त्वविशाला — ज्ञानिनः
- २-चटक-वारुण-ककुत्सादयः — रजोविशाला — उपासकाः
- ३-आक्षय्यदयः — तमोविशाला — कर्मपरत्नः

१४-रजोविशालेषु भक्तियोगानुगतेषु पञ्चषु योगप्रयोपयोगः—

- १-गन्ध — सुरगादयः — सत्त्वविशाला — ज्ञानिनः
- २-हृष्यम-मृगादयः — रजोविशाला — उपासकाः
- ३-गद म-रजानादयः — तमोविशाला — कर्मपरत्नः

६५-भूतमार्गनिबन्धन-त्रिगुणारम्भ-विधि महिमा-विधौ का स्वरूप-समन्वय—

अर्चक के तमोविद्याल परादिसर्ग की प्रीमांश कीर्ति । जान की विशेष भाषा से गुप्त पक्षी
 उत्पत्तिगत है किन्तुगुप्त पशु मध्यम अंश में प्रविष्टित होता हुआ रबोविद्याल है । एवं कृमि-मृदुल
 बह्मकृत बनते हुए तमोविद्याल है । केवल पक्षियों को लीकिए । स्वर्गम मेकद्व शुद्ध, लीकिए आदि
 जानीय पक्षी उत्पत्तिगत है । परम-स्वरूप-दीप्तर-आनन्द-शुद्धा आदि पक्षी रबोविद्याल है । एवं भक्त-पद-विभक्त
 आदि पक्षी तमोविद्याल है । पशुओं को लीकिए । हाथी-भरत आदि पशु जानप्रधान बनते हुए उत्पत्तिगत
 है । इक्ष्म इक्ष्म शुद्ध, सिंह आदि पशु किन्तुप्रधान बनते हुए रबोविद्याल है । एवं गर्भ-रचन-प्रयत्न
 आदि मूल्य पशु तमोविद्याल है । कृमियों को लीकिए । पिपीलीक (पिपिलीक) कीट [कीट] आदि जानप्रधान
 कृमि उत्पत्तिगत है । मनुष्य-उद्भवनाम आदि किन्तुगुप्त कृमि रबोविद्याल है । एवं बह्म-म-विष्टा आदि
 निरुद्ध पक्षी को ही अपनी आवाज-भूमि बनाने वाले स्वर्ग शुद्ध कृमि अर्चानुगत बनते हुए तमोविद्याल है ।
 कीट विमला पर इक्ष्म आदि । प्रमद-प्रमद आदि जानप्रधान कीट उत्पत्तिगत है । बाहुल्य-चरणशील विविध
 कीट [किन्तुगुप्त] रबोविद्याल है । एवं मराक-मरिचक आदि अर्चयित्व कीट तमोविद्याल है । इक्ष्मकर लक्ष्मण
 के प्रत्येक पक्ष में ही लीकिए । बड़ी बड़ा रबोविद्याल अमृत-संस्कार एवं तमोविद्याल
 अमृतल की अर्चयित्व । बड़ी नही, महोमहीनस् से आरम्भ कर अमृतल-विन पर्वत स्वर्गम से
 आरम्भ कर स्वर्गम पर्वत इक्ष्म से आरम्भ कर पर्वतस् पर्वत त्रिगुणमात्रम विवर्ण प्राप्त है ।
 जान-अक्षि-कर्म-भूत आत्मा का यह विरचन इन स्वामाधिक अमृतल से लेते विहित य लक्ष्मण है-
 'मत्ता परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति जनन्यत्' । आगे की लीकिए प्रकृति के हवी त्रिगुणारम्भ विचार
 का कथनान कर रही है

१ विरचयपत्रेषु योग्ययोगयोगः—(मौलिकयोग्ययोग)

- १-स्वर्गानुक्तवी मावर्ग [अक्षयकृत-मानस-जान-जानयोग [स्वर्गविद्याल-महर्गमिता स्वर्गभूत]
- २-रबोऽनुक्तवी गुणवर्ग [महाभावाकृत-प्राक्मभ-किन्तु-महिमायोग [रबोविद्याल-लीक]
- ३-तमोऽनुक्तवी विचारवर्ग [योगमावाकृत-वाचिक-अर्थ-अर्थयोग [तमोविद्याल-अक्षयमिता पार्थिव]



-योगमायानुगतपु त्रीकेषु योग्ययोगयोगः—(विचारवर्ग वा)—(पार्थिववर्ग वा)

(क)

- पेश्वान्दीवतप्राक्मर्तिवीक—लक्ष्मणः—जानप्रधान [जीववीक] उत्पत्तिगत
- ५—पेश्वान्दीवतप्राक्मर्तिवीक—अन्तःस्वर्ग-किन्तुगुप्त [मूलजीव] रबोविद्याल
- ६—पेश्वान्दीवतप्राक्मर्तिवीक—अन्तःस्वर्ग—अर्चानुगत [बाहुल्यवीक] तमोविद्याल



(स)

१—मन [ज्ञान]—अध्यास—सर्व—इन्द्र [२१] धी—शिव—ज्ञानम्

२—माया [क्रिया]—अक्षर—रज—बाहु [१५] अन्त—ब्रह्मा—मक्ति

३—वाक् [अर्थ]—अट—उमा—अग्नि [८] पृथिवी—विष्णु—कर्म

} सर्वज्ञ—इन्द्र—ज्ञानयोगाभिधाता

(ग)

१—माया [क्रिया]—अक्षर—रज—बाहु [१५] अन्त—ब्रह्मा—कर्म

२—मन [ज्ञान]—अध्यास—सर्व—इन्द्र [२१] धी—शिव—मक्ति

३—वाक् [अर्थ]—अट—उमा—अग्नि [८] पृथिवी—विष्णु—ज्ञानम्

} हिरण्यगर्भो बाहुः मक्तिर्योगाभिधाता

(घ)

१—वाक् [अर्थ]—अट—उमा—अग्नि [८] पृथिवी—विष्णु—कर्म

२—माया [क्रिया]—अक्षर—रज—बाहु [१५] अन्त—ब्रह्मा—मक्ति

३—मन [ज्ञान]—अध्यास—सर्व—इन्द्र [२१] धी—शिव—ज्ञानम्

} विराट् विष्णु—कर्मयोगाभिधाता

(ङ)

१—उर्ध्वदण्डमूला—वैश्वानरलैबल्लक्षणाबीजा—असंज्ञा—ज्ञानिनः

२—हिरण्यगर्भायमूला—वैश्वानरलैबल्लक्षणाबीजा—अन्तःसंज्ञा—उपासका

३—विपरीणमूला—वैश्वानरलैबल्लक्षणाबीजा—असंज्ञा—कर्मपरवृत्ता

३—सप्तविशालेषु ज्ञानयोगालुगतेषु—सप्तविधेऽपि योगप्रयोगयोगः—

१—अष्टविधयो वैशर्माः—सप्तविशालः—[ज्ञानयोगी]

२—मनुष्यसर्गाः—सप्तविशालः—[उपासका]

३—रघु—पक्षि—कुम्भी—शूद्र—सर्गाः—सप्तविशालः—[कर्मपरवृत्ता]

४ रजोविशालेषु-भक्तियोगानुगतेषु-अन्तःसमेषु योगप्रयोगयोगः —

- १-लाघवन्ती — चतुर्नायिकाः — पञ्चमीपञ्चमाः — सत्त्वविद्याः — ज्ञानिनः
 २-कर्मणः — मृग्यमृग्यी — आदिपञ्चमाः — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-४२ — विप्लव — शाखादिपञ्चमाः — समोविद्याः — कर्मपरलब्धः

५-तमोविशालेषु-कर्मयोगानुगतेषु-अन्तःसमेषु योगप्रयोगयोगः —

- १-प्रतीक्षाः — सत्त्वविद्याः — ज्ञानि
 २-हीनकर्मणः — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-मुक्त्या-रजोविद्याः — तमोविद्याः — कर्मपरलब्धः

६-समवात्मके-सत्त्वविशाल-ज्ञानयोगानुगते-उत्तमेषु योगप्रयोगयोगः —

- १-ब्रह्म व प्रत्यक्षिणः — सत्त्वविद्याः — ज्ञानिनी
 २-अत्र विप्लव — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-अत्र विप्लव — तमोविद्याः — कर्मपरलब्धः

७-सर्वज्ञात्मके-रजोविशाल-भक्तियोगानुगते-मनुष्यसर्गे योगप्रयोगयोगः —

- १-ब्रह्मविद्यापिणः मनुष्याः — सत्त्वविद्याः — ज्ञानिनः
 २-ब्रह्मविद्यापिणः मनुष्याः — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-ब्रह्मविद्यापिणः मनुष्याः — तमोविद्याः — कर्मपरलब्धः

८-केवलेषु-मनुष्येषु योगप्रयोगयोगः —

- (क) १-शिरोमाग — सत्त्वविद्याः — ज्ञानि
 २-हृदी उत्तर — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-उत्तर — तमोविद्याः — कर्मपरलब्धः

- (ख) १-शिरोमागममनुष्यानम् — सत्त्वविद्याः — ज्ञानि
 २-हृदी मनुष्यानम् — रजोविद्याः — उपानयनः
 ३-नाभिमानम् — तमोविद्याः — कर्मपरलब्धः

६-केवलमस्तिष्के एव योगत्रयोपभोगः—

- १—इन्द्रात्मकस्त्वचुः —सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानी
 २—वाय्वाग्निमहा नासिका—रजोविद्यालम् —उपासकः
 ३—धाम्नात्मकं मुखम् —तमोविद्यालम् —कर्मपरत्नत्राः

१-करयेषु योगत्रयोपभोगः—

- १—बुद्धिः —सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानयोगानुगतम्
 २—मनः —रजोविद्यालम् —भक्तियोगानुगतम्
 ३—इन्द्रियाणि—तमोविद्यालानि —कर्मयोगानुगतानि

११-सुषुप्तात्मवर्गे योगत्रयोपभोगः—

- १—महद्गर्भितान्म्यकात्मा—सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानी
 २—विद्यनाम्ना —रजोविद्यालम् —उपासकः
 ३—प्रज्ञानगर्भितप्राणात्मा—तमोविद्यालम् —कर्मपरत्नत्राः

१२-सर्वात्मके तमोविद्याल्ले कर्मयोगानुगते पञ्चादिसर्गे योगत्रयोपभोगः—

- १—पश्चिमः—सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानिनः
 २—पश्चिमः —रजोविद्यालम् —उपासकः
 ३—दक्षिणः—तमोविद्यालम् —कर्मपरत्नत्राः

१३-सत्त्वविद्याल्लेपु ज्ञानयोगानुगतेषु पश्चिपु योगत्रयोपभोगः—

- १—मेढयङ्—शुक्ल —सारिध्रवः—सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानिनः
 २—कण्ठ—सारस—कुरुगदय —रजोविद्यालम् —उपासकः
 ३—अक्षयद्वयः —तमोविद्यालम् —कर्मपरत्नत्राः

१४-रजोविद्याल्लेपु भक्तियोगानुगतेषु पशुषु योगत्रयोपभोगः—

- १—गवः —मृगादयः —सत्त्वविद्यालम् —ज्ञानिनः
 २—वृषभ—मृगादयः —रजोविद्यालम् —उपासकः
 ३—गर्धभ—रत्नादयः—तमोविद्यालम् —कर्मपरत्नत्राः

११-तमोविशाखेषु, कर्मयोगानुगतेषु कृमिषु योगप्रयोपयोगः—

- १-विपरीतिषु—दीप्तदमः—उत्तरविशाखा—हानिनः
- २-ऊर्ध्वानामि—सङ्क्रान्तदमः—उत्तरविशाखा—उपासका
- ३-मस्तिनः—उत्तरविशाखा—कर्मपरः—हाः

१६-तमोविशाखेषु कर्मयोगानुगतेषु क्रीडेषु योगप्रयोपयोगः—

- १-अमर—उत्तरविशाखा—हानिनः
- २-अन्तरिक्षानामि विविधा—उत्तरविशाखा—उपासका
- ३-मस्तिनः—उत्तरविशाखा—कर्मपरः—हाः

त्रिगुणात्मिका प्रकृति [योगमाया] क्या करती है ? इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न है—प्रकृति क्या नहीं करती ? त्रेलोक्य [पार्थिव आकाशवायु] में जो कुछ 'कर्म' कहने योग्य है वह समस्त अस्तिप्रवर्तिकात्मक [चन्द्रमसि] इसी त्रिगुणात्मिका बुद्धका बुद्धिके मायाया का विस्तार है। अपने सत्त्वगुणकी शक्त-वीर्य से इसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से एवं तमोऽनुकम्पी कर्मयोग से वह सर्वत्र व्याप्त होती है। इसी इसी योगमाया व्याप्त से त्रेलोक्य में रहने वाले अक्षय-अक्षय-अक्षय-अक्षय [प्रत्येक] तीनों योगों से व्याप्त है। वह स्वाभाविक ज्ञान-वर्त्म-प्रकृति के वारधम्य से सर्वत्र सब में व्याप्त है। यही इन तीनों योगों की प्रकृतिविशेषता • अक्षय-वर्त्ममा निवृत्ता है। एवं यही “योगप्रयी का संक्षिप्त मालिका विचार” है।

‘योगप्रयी का मौलिक-विचार’ नामक
द्वितीय-प्रकरण उपरत

१

•-‘प्रकृतिविशिष्ट आद्यवर्धम्य, संस्कारविशेषात्मक’।

—वसिष्ठ—

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—
“योगत्रयी का मौलिक विचार”

नामक

द्वितीय-प्रकरण-उपरत

२



श्री

अथ—भक्तियोगपरीक्षाया—पूर्वखण्डे—
“योगत्रयी, और भारतीय महर्षि”

नामक

तृतीय—प्रकरण

३

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—
“योगत्रयी का मौलिक विचार”

नामक

द्वितीय-प्रकरण-उपरत

२



श्रीः

३-योगत्रयी और भारतीय-महर्षि

१-प्रकृतिसिद्धा-ज्ञान भक्ति कर्म-योगत्रयी, तीनों योगों का मह-मन्त्रवय, एवं कल्पित ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगों के द्वारा प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी की अन्तर्मुखता—

द्वितीय-प्रकरणोपस्थिता प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी का उन आठ महर्षिजनों अपनी योगबद्धि से प्रकट किया। प्रत्यक्ष कर प्रकृतिसिद्धा व्याख्याकर्ता की मूर्ति तीनों योगों की प्रकृति के अनुसार वर्णक्रमों का अनुगामी बनाते हुए भारतीय-मानव-समाज में इन तीनों योगों को व्यवस्थित किया। श्रुतियों के द्वारा व्यवस्थित वे ही प्राकृतिक योग भारतीय-साम्राज्य में ज्ञानयोग-कर्मयोग-भक्तियोग इन नामों से प्रसिद्ध हुए। तीनों ही योग समाधन हैं। निष्पत्ति हैं। तीनों के सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि 'पहिले कर्म योग का आविष्कार हुआ अनन्तर भक्तियोग प्रचलित हुआ सर्वोत्तम में एकेश्वरवासमूलक ज्ञान योग का परिज्ञान हुआ' कल्पना अशुभ ही मानी जायगी। अस्तु जिस देवयुग में कर्मयोग का आविर्भाव हुआ था उसी युग में भक्तियोग एक ज्ञानयोग भी विद्यमान की परमसीमा पर पहुँच चुके थे। हाँ इस सम्बन्ध में यह तो फिर भी मानना बा लज्जा है कि सत्ययुगोपस्थित वैद्ययुग में ज्ञानयोग की प्रतापयुगोपस्थित वैदिकयुग में कर्मयोग की एवं तृतीययुगोपस्थित पौराणिकयुग में भक्तियोग की विशेष प्रचलनवा रही। आगे जाकर क्षत्रियुगोपस्थित अश्वयुग में तीनों ही योगों का स्वरूप विद्युत् होता। ज्ञानयोग का आसन कल्पित अवैश्वानर ने ज्ञान लिया। कर्मयोग का आसन कल्पित अवैश्वानर ने ज्ञान लिया। एवं ज्ञानवैश्वानरगामी भक्तियोग का आसन अज्ञान-आमलिक के अनुयायी नामसंकीर्तन-परायण लोकयशःकामुक ब्रह्म भक्तों ने ज्ञान लिया।

२-‘योग’ शब्द-व्यवहार का कारणान्वेषण-प्रयास—

कहिए तीनों योग प्रकृतिसिद्ध थे लक्ष्यसिद्ध थे तो इनके विरुद्ध अपनी कल्पना का उदाहरण कर तीन भारतीय योगों का आविष्कार क्यों किया गया? यह भी एक लक्ष्य परत है। 'विष्णुसामा' नाम से प्रसिद्ध योगमाया का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि “योग” शब्द का अर्थ है संगमन मेल सम्बन्ध। अथ इत लक्ष्य में हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि ज्ञान कर्म भक्ति, इन तीनों के साथ किस का योग (सम्बन्ध) हुआ जिससे कि वे तीनों प्रकृतिक ‘योग’ शब्द से व्यवहार करने लग पड़े।

३-वैश्वानर-तैत्तिरीय-प्राज्ञ-मूर्ति शारीरिक मूलात्मा से अनुपासित ‘योग’, और तदनु बन्धनी योगत्रयी—

मानववर्ग से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का पार्थिवमग से सम्बन्ध है जिसकी पूर्वप्रकरण में विचार से बतलाया जा चुका है। पार्थिववर्ग में पार्थिव आत्मा ही प्रधान है। इसी पार्थिव आत्मा का

ज्ञान-कर्म-अर्थों की ओर अपने भूतात्मा की मुक्ति हुए, भोजन के लिए आत्ममर्पण करते हुए परमिष्ठान्त के अनुसार 'ज्ञाना-पीना-सौम उद्धाना' इस आदेश का अनुगमन करत हुए, लौकिक ज्ञान लौकिक कर्म एवं लौकिक अर्थों का अपने भूतात्मा के साथ योग कर देना ही प्रवृत्तिमित्र-ज्ञान-मक्ति-कर्म योग है। इन महाभक्ति योगों का अनुगामी बनता हुआ शारीरिक भूतात्मा परिजगत् का ही उपासक बन रहा है।

७-बहिर्योगप्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगप्रयी से पराङ्मुखा, एवं आत्मयोगप्रयी से वञ्चित काममोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वयण का प्रयास—

शारीरिक अत्मा में बड़ी भी बड़ी से ज्ञान-कर्म अथ ही भाग्य के आर्ष हैं जिनके अशासन से कि शारीरिक भूतात्मा ज्ञान-कर्म अथ-मय बना हुआ है उन पर [ईश्वरव्यपारता]—भाषाओं से कृतमूर्ति भूतात्मा बहिरङ्गता के ज्ञान-कर्म अर्थों के साथ बड़ी पुष्ट है वही उस 'परमस्पर्ति [आत्ममस्पर्ति] से विमुक्त है। अतीत्य 'परमात्मा प्रत्यगात्मा' कहलाता है। इनके अर्थ से देहामिदानी शारीरिक भूतात्मा का स्वल्प-निर्माण हुआ है। कौटिल्य योगमात्रा अशानुबन्धिनी है उधर स्वयं मतात्मा भी (मनुष्य का भी) अशानुबन्धी है एवं बहिरङ्गता भी भूतप्रधान बनता हुआ अशानुबन्धी ही है अतएव अशपयज्ञ में स्वभावतः आनन्द ['प्रयुक्तिरथा-भूतात्मानाम्] भूतात्मा उस अशरीर प्रत्यगात्मा के योग में किंवा प्रत्यगात्म मन्त्रकी—अनामक ज्ञान-कर्म-अर्थों का योग में आविष्ट रहता है एवं अशप्रधान अशपयज्ञ के प्राकृतिक [अशानुबन्धी] किंवा योगमात्रानुबन्धी ज्ञान-कर्म अथ प्रपञ्चों के साथ युक्त रहता है। बही महायोग [उद्वेगोपेयण का मासक बनता हुआ भी वैयर्थिक अशिक मुनी का उद्योग बनता हुआ भी] इसकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित होजाता है।

८-पशुसंगानुगता पशुत्वा योगप्रयी का माय प्राकृत मानवमगानुगता मानुषी-योगप्रयी का सह समनुसृत एवं इस की आत्यन्तिकी मयावहता—

प्राकृतिक-योगप्रयी की दृष्टि से मनुष्य की पशु दोनों समपर्यक्त पर ही प्रतिष्ठित हैं। पशु भी प्राकृतिक-योगप्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का निर्वाह कर ही रहता है उधर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगप्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का रह ही रहता है। वह भी पशु के साथ पशु है ना वह बिना मीन के पशु का पशु है। ऐसी योगप्रयी से न इनके अशमानुगामी ज्ञान का विकास होता न अर्थ का विकास होता एवं न अर्थ का। होता भी है—ता उन ज्ञान का जो कि ज्ञान अर्थिक विज्ञान का ज्ञान पहिनाता हुआ मानवमात्र की शक्ति का मूलोद्देशक ही है उन कर्म का जो मानव की कामनाओं की उद्योग ही बनने वाला है एवं उन अर्थ का जो कि आत्मपरिहारा का यत्न ही है। इन दृष्टि से ता यह मानुषी-योगप्रयी पशुत्वा-योगप्रयी से भी बड़ी मयावक बन आती है।

अन्तरिममागनुसार शारीरिक आत्मा कहा जाता है मनु के शरीर में वही कर्मकर्ता मूलत्मा है—“उ करोति तु कर्माणि स मूलत्माकथयते बुधे” (मनु२२।१२)। “त मूलत्मा की अवस्थाबोधन के लिये त्रिप्राधान्य तैजस एवं ज्ञानप्राधान्य प्राप्ति व तीन कथार्य हैं। निम्न मूलत्मा इन्द्रियों के द्वारा वैश्वानर माग से मूलपुरुष की ‘अर्थ’ के साथ ‘योग’ करता है तैजसमाग से अर्धपुरुष की ‘कर्म’ के साथ ‘योग’ करता है एवं प्राज्ञ माग से अथपुरुष की ‘ज्ञान’ के साथ योग करता है।

४-सात्त्विक-मामान्य-मानवकर्मा के प्रकृतिनुगत प्राकृत-ज्ञान, भक्ति, कर्म-योगों का स्वरूप-विमर्शान—

‘अत्येक मनुष्य कुछ न कुछ जानता है’—इस वाक्य का वही अर्थ है कि, इसके आत्मा के लक्ष (प्राधान्य के साथ) मीथक ज्ञान का योग होता है। वही प्रकृतिमिष्ट ज्ञानयोग है। ‘अत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता रहता है’—इस वाक्य का वही अर्थ है कि इसके आत्मा के लक्ष (वैश्वानर माग के लक्ष) सात्त्विक सम्प्रदाय-कर्म का योग होता है। वही प्रकृतिमिष्ट भक्तियोग है। ज्ञान के और-करन से वृद्ध शरीर में ज्ञानपूर्वक कर्म करने से मीथिक अर्थकपति प्राप्त होती है। “त अर्थकपति के लक्ष मी कर्मात्मा आत्मा का (अज्ञान के वैश्वानर माग का) सम्बन्ध होता है। वही प्रकृतिमिष्ट कर्मयोग है।

५-प्राधान्य स समन्वित सात्त्विकी प्राकृतिकी-ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगप्रयी—

मूल से मूल मनुष्य उक्त विज्ञान से विज्ञान मनुष्य लक्ष में मूलत्मानुगामी प्रकृतिमिष्ट के तीनों योग सम्बन्धित हैं। त्रिप्राधान्य योग होता है वे हैं वैयक्तिक ज्ञान सात्त्विक कर्म एवं भौतिक परार्थ। त्रिप्राधान्य योग होता है वह है मूलत्मा किन्वा मूलत्मा की ज्ञानमय-प्राज्ञ कर्ममय-तैजस एवं अर्थमय वैश्वानर माग की तीन कथार्य। प्रकृतिमूलक, प्रकृतिमिष्ट के तीनों योग न कल मनुष्यों में ही, अति प्राचीनमान में ही मिले हैं।

६ मानव के वैयक्तिक, एवं पारिवारिक योगक्षेम, उत्तर्साधक तीन सामान्ययोग, एवं सात्त्विक योगप्रयी स अनुप्रासित योगपरम्परा मानवयोग—

ऐसे प्रकृतिमिष्ट तीनों योग केवल योग-क्षेम के ही लक्षण हैं प्रकृतिमूलक के ही आधार हैं। वही मनुष्य ज्ञानपूर्वक कुछ करता रहेगा तो अर्थ-प्राप्ति के द्वारा उनकी जीवनयात्रा का सुचारु-रूप से निष्ठा होता रहेगा। ऐसे ज्ञानी मनुष्य एवं कर्मठ भी अपने लिए, किन्वा अपने कुटुम्ब के लिए स्वयं-प्राप्त की चिन्ता का किण्व मागना न करना पड़ेगा। एक शिक्षणी (शरीर) ज्ञानपूर्वक माध्य-निर्माण का काम करता है अथवापति होती है। उनके द्वारा वह अपने मूलत्मा का भी मरच वैश्वानर करता है एवं अपने कुटुम्ब का भी पालन करता है। वही वह प्रकृतिमिष्ट इन तीनों लक्षों का परिष्कार करता हुआ अर्थमय जन मागना तो अर्थमय-मूल मूलत्मा भी सुरक्षित न रहेगा एवं साथ ही वह कुटुम्ब-लक्ष का भी कार्य जन मागना। तात्पर्य वही हुआ कि मूलत्मा मूलत्मा के लक्ष शरीर एवं मूलत्मा-कर्म की पुनः-पुनः-पुनः अति की जीवनयात्रा की लक्ष में अपने हुए, इनकी रक्षा के लिए मीथिक प्राकृतिक

ज्ञान-कर्म-अर्थों की ओर अपने भूतमा की मुक्तते हुए, भोजन के लिए आत्मसमर्पण करते हुए, परिष्कान्त के अनुसार 'स्थानापीना-मौन उक्तानां' इस आदर्श का अनुगमन करते हुए, लौकिक ज्ञान लौकिक कर्म एवं लौकिक अर्थों का अपने भूतमा के साथ योग कर देना ही प्राकृतिक-ज्ञान-अस्मि-कर्म-योग है। इन लक्ष्यस्थि योगों का अनुगामी बनता हुआ शारीरिक भूतमा बहिर्बल का ही उपासक बन रहा है।

७-बहिर्योगत्रयी से समन्वित भूतमा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित कामयोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वेषण का प्रयास—

शारीरिक आत्मा में जहाँ भी जहाँ से ज्ञान-कर्म-अर्थ की मागें आती हैं उनके अंशानुमन से कि शारीरिक भूतमा ज्ञान-कर्म-अर्थ-मय बना हुआ है उन पर [अध्यात्मप्रवृत्त]—मात्राओं से हृत्पूर्ति भूतमा बहिर्बल का ज्ञान-कर्म-अर्थों के साथ जहाँ जुक्त है वहाँ उस 'परमपति' [आत्मसम्पत्ति] से विपुल है। अर्थात् परमात्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है। इसीके अंश से वेदाभिमान शारीरिक भूतमा का स्वल्प-निर्माण हुआ है। क्योंकि योगमाया अणुबन्धिनी है। उपर एवं मतमा भी (मनुष्य मा भी) अणुबन्धी है एवं बहिर्बल भी भूतप्रधान बना हुआ अणुबन्धी ही है अतएव अणुप्रधान से समागत आत्म ['प्रवृत्तिरया-भूतानाम्'] भूतमा उन अणुबन्ध प्रत्यगात्मा के योग से किंवा प्रत्यगात्म-मय—अनात्म-ज्ञान-कर्म-अर्थों का योग से तो वञ्चित रहता है एवं अणुप्रधान अणुबन्ध के प्राकृतिक [अणुबन्धी] किंवा योगमायाबन्धी ज्ञान-कर्म-अर्थ प्रपञ्चों का साथ जुक्त रहता है। यही आत्मयोग [उपरयोग का साथ बनता हुआ भी वैयक्तिक दृष्टिक भुक्तों का उल्लेख करता हुआ भी] इनकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित होजाता है।

८-पशुसंगानुगता पशुमाया योगत्रयी का साथ प्राकृत मानवसंगानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह सम्पत्तन, एवं इस की आपत्तिकी मपावृत्ता—

प्राकृतिक-योगत्रयी की दृष्टि से मनुष्य, और पशु दोनों सम्पत्तन पर ही प्रवृत्ति हैं। पशु भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनपाया का निवाह कर ही लेता है, उपर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनमात्र ता रह ही सचता है। वह सीमा पूर्वक या पशु है या यह बिना सीमा पूर्वक का पशु है। ऐसी योगत्रयी से न इनके ज्ञानानुगामी ज्ञान का विकास होगा न कर्मों का विकास होगा एवं न अर्थ का। होता भी है—जी उन ज्ञान का, या कि ज्ञान कृतिक विज्ञान का ज्ञान पहिन्ता हुआ मानवमात्र की शान्ति का मूल्यापेक्ष ही है उक्त कर्म का जो मानव की कामनाओं का उत्पत्ति ही करने वाला है एवं उन अर्थ का जो कि आ-पिण्ड का मज्ज ही है। इन दृष्टि से तो यह मानुषी-योगत्रयी पशुमाया-योगत्रयी से भी वही मज्जक का जाती है।

८-मीमित योगवेदान्तगत पशुपदा की प्राकृतिक तृष्टि, एवं तत्समतुलन में कामो-
मक्तिमय मानव की प्रवृद्धा योगवेदान्तगत, तथा तत्समिधन प्रवृद्धतम इत्यादि
धाम—

कारण-पशुपदी का भूगर्भात् नर्चया स्वकल्प नहीं है अस्तित्व नद नियमितक क्य अनुगामी है। अतएव
उसके ज्ञान-कर्म-अर्थ-भूतानुगामी बनते हुए भी बर्हीनक मीमित रहते हैं। बर्हीनक कि उतका यत्न-वेम-
वर्धनक बना रहता है। "अथ ज्ञानमन्त्रात्मक से मन्त्रिकत मनुष्य ज्ञान का पुष्पयोग करता हुआ योग-वेम-
प्रदान। क्य भी अतिमन्त्रक क्य जाता है। प्रकृति इस श्रिता देना चाहती है। अतएव अतएव इतकी अद मूल
आर भी अद जाती है। और भी "जम जम मुरमा बदन बद्धाया रिचन्दी लक्ष्मणा बरिताय हीरकी
है। कहना न होगा कि, पृथिवीमण्डल के मन्त्रक मनुष्य प्रकृतिमिद इकी तीनी योगी के अनुगामी है।
आर पदी योगानुगमन मानव की अराष्टि क्य मूल कारण है।

१०-‘वदताम्यापात’ न्यायमूला एक विप्रतिपत्ति एवं प्रकृतियोग तथा पुष्पयोग के
व्ययच्छद-माध्यम से विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रदान—

अथ कर्तव्य-व्यापात क्या है। विहीन प्रकृत्यमें प्रकृति के स्वकल्प का उपक्रम करते हुए हमने यह कहा है
कि, प्रकृति के अनुसार बनने में ही आनन्द है शान्ति है। आर उीह इसके विपरीत यह कहा जाता है
कि, प्रकृतिमिदया योगवदी ता पशुपदम है अराष्टि की अनन्ता है। अतएव प्रकृति क्य बर्ही-
व्यापात करने के लिए एवं विचार करे क्य इसके द्वारा क्या देता है। प्रकृति क्य अनुगमन सचमा शान्ति-
कर किन्तु प्रकृति क्य ही अनुगमन मन्त्रका अराष्टि कर। एवं द्वारा प्रकृति योग-अनन्त-निर्वाह के
लिए प्रकृतिमिदया योगी का अनुगमन करता हुआ प्रसंगमन्त्रकमों [पुष्पकमों] के साथ भी उक्त रात्र
है। तो इसे समन्वयमन्त्रक मी प्राप्त होजाती है। तीनी आर म मार कात्मनुगमन होजाता है। 'प्रकृतिमिदया
यमा शान्तिकर है' इस वाक्य क्य अर्थ है—'पुष्पकागामुक्ती प्रकृतिमिदया योग'। यदि केवल प्रकृति
का ही योग है तो अतएव ही महत्त्व उपस्थित है। अपने लिए ही महत्त्व नहीं, अस्तित्व अपने लक्ष लक्ष
बन्त का भी विचार है। अतु बर्ही अपने लक्ष से प्रकृति के अनुगामी रहने हैं बर्ही पर लक्ष के निमित्तक
रहत हुए पुष्पयोग म भी एकलक्षण बर्हीन नहीं रहते हैं। अतएव किन्तु प्रकृतिमन्त्रानुगामी मनुष्य की
अवस्था क्य महत्त्वक दृष्ट रहते हैं। उतकर इस मनुष्य की अपेक्षा क्य कथन पशुपदमन्त्र योगवेम कर ही
अपने योगी का विचार कर देता है क्य मनुष्य अधिक अराष्टि रहते हैं। को कि योग वेम-अर्थका ॥
अतिमन्त्रक कर अपने ज्ञानात्मक को निःसीयकपेन उहाँन कर लेते हैं। योगवेदान्तगामी बर्हीन (मन्त्रक)
क्या-क्या लक्ष मी उकी है किन्तु अर्थकात्मक मन्त्रक पत्रिशात् अन्तर्गत-गतता करता हुआ मी ज्ञान है
इस लक्षितक श्रिता का यौन विचार कर लता है।

११-अन्वयपुष्पप्रधान ईश्वर, अन्वयप्रकृतिप्रधान बीज (मानव), अन्वयप्रकृतिप्रधान अन्व
एवं चिरवमायात्मिका योगमाया का सहज आकाश—

व्यप्य करने का यही हुआ कि प्रकृति क्य बर्ही योगानुगमन शान्तिकर है किन्तु पुष्पयोग म्मा-
विह हो। पुष्पयोग से बर्हीन प्रकृतियोग क्य अराष्टि का कारण क्य जाता है, इस प्रश्न के समाधान

का भी समन्वय कर लीजिए। योगमाया ही यहाँ प्रकृति शब्द से ग्राह्य है। योगमाया अक्षरप्रधाना है। एवं यही मूलतः की अविद्याश्री है। स्वयं भूतत्वा महामायातुल्यकी बनता हुआ अक्षरप्रधान है एवं प्रत्यक्षमाया अन्वयप्रधान है। अन्वयप्रधान प्रत्यक्षात्मा (आध्यात्मिक) ईश्वर है, अक्षरप्रधान शारीरिक आत्मा जीव है एवं अक्षरप्रधान विरक्त जात है। योगमाया क्योंकि अक्षरप्रधाना है एवं इसीके गम में अक्षर प्रधान जीव का कम होता है अतएव वह विशेषतः योगमाया से आकर्षित होता हुआ तद्रूप मीथिक बगों का ही अनुगामी बना रहता है।

११-पुरुष-प्रकृति-निबन्धन भूमानन्द का तारतम्य, तन्निबन्धन शान्ति-सुख तारतम्य, एवं प्रकृतिभोग के क्षेत्र में शान्ति का अत्यन्ताभाव—

यह भी निश्चय है कि, अन्वय के द्वारा अक्षर में पुरुषाकार का आगमन हुआ है एवं अक्षर के द्वारा अक्षर में। इसी द्वारा-सम्बन्ध से यह भी निश्चित है कि, अन्वयप्रधान प्रत्यक्षात्मा की अपेक्षा अक्षर प्रधान शारीरिक आत्मा में प्रत्यक्ष अन्वय है इसकी अपेक्षा मनेयुक्त इन्द्रियवर्गों में कम है एवं तदपेक्षया अक्षरप्रधान निरव में कम है। आनन्दलक्षणा तृप्ति का भूमाभाव से ही सम्भव है। उच्चर योगमायातुल्यकी मीथिक बगों की अपेक्षा भूतत्वा अन्वय भूमाभाव है। ऐसी दशा में इसकी तृप्ति यही आनन्द कर सकता है जो कि इसकी अपेक्षा भूमाभावापन्न हो। मीथिक पदार्थों में उस भूमा का अभाव है नाभूतत्वात् तद् अक्षा-स्ति विज्ञेय। प्रतिपत्तः अविज्ञेय आनन्द न मिलने से विशुद्ध प्रकृतियों के अनुगामी को बन्दी शान्ति नहीं मिल सकती।

१२-सहस्र शान्ति प्राप्ति से अनुभाषित पुरुषानुबन्धी योग, सहस्र-शान्ति विघातक प्रकृत्यनुबन्धी अयोगात्मक-योग, एवं दोनों का तारतम्य—

शान्ति मिले जब जबकि जीवनमात्र-निर्वाह के लिए आवश्यक योगक्षेममात्रार्थ प्रकृतिविद्ध योगश्री का अनुगमन करता हुआ मूलतः पुरुषात्मका (प्रत्यक्षमात्रविद्धा) योगश्री में प्रतिष्ठित रहे। पुरुषविद्धा योग-श्री ही समाधि है इन्में प्रतिष्ठित योगी ही प्रकृतिविद्ध योगश्री का अनुगमन करता हुआ पदवीदिक अन्वय के साथ साथ पारमार्थिक शारदत भूमानन्द (निर्भीक) का भी अधिकांश बनता हुआ निर्बीजक्षेम आत्मभान बन जाता है। क्योंकि विशुद्ध प्राकृतिक-योगश्री केवल मीथिक-नग्नति की अभिवृद्धि का कारण बनती हुई भूतत्वा को अपनी ओर आकर्षित करती हुई उसे प्रत्यक्षमायायोग से नञ्जित कर देती है अतएव इन योग को हम 'अयोग' ही कहेंगे जिसके कि अनुगामी लभ्याप्राप्तन निरव एवं तन्मयक बचकात् प्राकृत मानव बने हुए हैं।

१४ आत्ममन्त्ररूप का वाचात्करकता महर्षियों के द्वारा दया, व्यवधिता पुरुषयोगश्री, तदनुगामी भारतवर्ष, एवं योनि का शोभप्रत्यक्ष—

आत्मतावात्कार करने वाले महर्षियों ने इस विप्रतिपत्ति का अनुभव किया। और इसके निराकरण के लिए ही प्रकृतिविद्ध योगश्री के आचार पर पुरुषानुगामी तीन योगों का आधिपत्य किया। इन

आत्मकार का अविच्छेद के प्रचार का प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेष्ठ मिला आधिष्ठाता-मास्त्रीय मूर्तिनी की, मन्त्रादि धर्मोपायों को, एवं तदनुगमिनी मास्त्रीय-कथाग्राम-प्रमाणितगता प्रभा को। इसी वैशिष्ट्य से वह आधिष्ठाता एकमात्र मास्त्रीय की ही प्रातिमिक सम्पत्ति बन गया। शेष शेष 'शेषकोपि' में रहने हुए- 'यत्रैवावलम्बितो वेतास' की सूक्ति को परिधाय करने वाले ही बन रह गए।

१५-अष्टी प्रत्यगात्मा एवं अष्ट भूतात्मा के ज्ञान क्रिया-अर्थ-पथों का योगात्मक-योग, तथा तन्निष्पन्नता ज्ञान-भक्ति-कर्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी' का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म-अर्थ-यन जिस प्रत्यगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतात्मा) अष्ट है अष्टा-धिका उन ज्ञान-कर्म-अर्थ-मात्राओं का। अष्टी की धनाश्रयता ज्ञान-कर्म-अर्थ-कलाओं के साथ जोड़-होना ही व्यावहारिक (शास्त्रमूलक व्यावहारिक अतएव इत इति से पाप्याधिक) ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में प्रत्यगात्मा और शारीरिक के ज्ञानों का भाग ही ज्ञानभाग है, कर्मों का भाग ही भक्तिभाग है, एवं अर्थों का भाग ही कर्मयोग है। इन योगों की लक्षणरूपा प्रमाणों में अष्टों बाहर तन्निष्पन्नता से 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध होता है। वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है। सिद्धयोग के लक्षण के लिए दूसरे शब्दों में योगनिर्मुक्त प्राप्त करने के लिए जिन लक्षणों का अनुगमन किया जाता है वे लक्षण न ही 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आश्रय के लक्षण ही लक्षणधारण में 'योग' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। परन्तु योगत्व की मीमांसा करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि-ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों ही योग नित्य हैं, सिद्ध हैं। अष्टी का अष्ट के लक्षण ज्ञान अष्ट का अष्टी के लक्षण कर्म योग न रहे वह लक्षण असम्भव है। ही अष्टात्मा अपने प्रकाशपथ से अष्टाश्रयण की लेकर हुआ तन्निष्पन्नतामूर्ति की मूर्तिन अक्षर ही बना होता है। इस मूर्तिनता का प्रभाव ही अष्ट पर ही होता है। अष्टी तो फिर भी निर्लेप ही रहता है। पुरुष ॥ पुरुषार्थ नहीं है कि वह उपायविशेषों से आश्रय की हय व। आश्रय के हयते ही सिद्धयोगमूर्ति का उदय होनाका एवं शारीरिक आत्मा प्रत्यगात्मानुग्रह प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन आया। अष्टा की अष्टवन्तिक अष्टवन्ति होनाकगी एवं नित्य नृपानन्द आधिष्ठाता होपड़ेगा।

१६ गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में विष्टपेप्यात्मिका महती विप्रपत्ति—

याममें ही पाठक यह प्रश्न करेगा कि योगत्रयी अनादि है एवं इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होनाका है। फिर गीताने इन के सम्बन्ध में विष्टपेप्य के अतिरिक्त और क्या कहालाका?। प्रश्न का समाधान पूर्णपरखों में कई प्रकार से किया जासुका है। वहीं भी यशस्वयवृद्धि के लिए ही अक्षर यह बना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अष्ट तत्वाद्युल्लेख कर्मत्पागा-मक कल्पित ज्ञानयोग, आर उमष्टी आपाश्रममणीयता—

प्रतिष्ठिता योगत्रयी की लक्षण का कारण मानने वाले सांख्यिकों ने राम की चित्तिम के लक्षण लक्षण रोगी की भी चित्तिम कर ली। अपने पहिले ज्ञानयोगवादी सांख्यों की ही कीचित्ति। उहोंने यह लक्षण नि-गम एक पवित्र कथु है एव वहीं एकमात्र आत्मा का स्वकथम है। सामाजिक और भौतिक अर्थों में एवं

मीतिक कर्मोंमें ही पवित्र ज्ञानात्मा को मग्न कर रखता है। ऐसी दशा में भूतात्मा को अस्तक कर्माप-
पत्नी से धुंध नहीं कर दिया जायगा तत्काल कर्मापत्नीक असम्भव है। एकमात्र इसी हेतुमात्र को भागे करते
हुए कपिल ने कर्म का व्यवहार करते हुए विशुद्ध ज्ञानागुप्तान का ही आदेश दे डाला। इसप्रकार व्यक्त
कर्ममार्ग से विरहिता सांख्यनिष्ठा विशुद्ध अस्तकस्वरूप में ही परिणत होगई। इस निष्ठा में योग-
क्षेम की भी स्मृति उपेक्षा ही की गई।

१८-कर्मयोगवादी कर्मों का कामनामय काम्य कर्मयोग एवं उसकी निःसारता,
तथा मक्तियोगवादी भक्तों के काम्य मक्तियोग का दिग्दर्शन—

कर्मयोगियोंमें यह छिद्रान्त स्थापित किया कि जगदीश्वर ने कर्म के द्वारा ही यह लोकवैभव प्राप्त कर
रखा है। तो हम भी इसकी कामना क्या न करें?। इसी कामना को फलासक्ति को भागे करते हुए उन्होंने
विशुद्ध व्यक्त-कर्ममार्ग की ही भेष्टता स्वीकार की। एतदतिरिक्त एक ऐसा मध्यम वर्ग अभिव्यक्त हो रहा
जिसे कर्म का भी काटना ठीक न समझा। एवं ज्ञानमूर्ति ईश्वर की उपेक्षा भी इस से कम न हुई। अतः
इस मध्यम वर्ग ने अपना यह विश्रुत प्रकट किया कि, कर्म करो परन्तु ईश्वरार्पणबुद्धि से। ऐसा करने
से तुम्हें कर्म का फल भी मिल जायगा (क्योंकि कर्म कभी निरर्थक नहीं जाता) एवं ईश्वर क्योंकि ईश्वर
की योगी तुम केवल निमित्तमात्र रहोगे अतएव कर्मजनित-सुखदुःख का भी तुम पर कोई प्रभाव
न होगा। इस ईश्वरानुग्रह से ही तुम्हारे मनुष्यी पाप फलायित हो जायेंगे— 'आई' तथा सर्वपापेभ्यो मोक्षयि-
ष्यामि मा शुचः । ।

१९-कपिलसम्मतता ज्ञानमाधुक्ता, हिरण्यगर्भमम्मता मक्तिमाधुक्ता एवं स्वयम्भू
सम्मतता कर्ममाधुक्ता का स्वरूप दिग्दर्शन तथा समग्रमूला-बुद्धियोगान्विता ज्ञान
मक्ति-कर्म-योगनिष्ठाओं का पावन संस्मरण—

कर्मत्यागस्तद्वय ज्ञानबाग कर्मफलासक्तिस्तद्वय कर्मबाग । एवं ईश्वरानुग्रहप्राप्ति-प्राप्त-
म्य-स्तद्वय भक्तियोग ने तीनों योग कहने को अवश्य ही प्रवृत्तात्मा के अनुगामी बन गए। परन्तु वास्तविक-
दृष्टि से विचार किया जाता है तो इनका आशय उन तीनों योगों के समवर्तक पर ही प्रतिष्ठित मानना
पड़ेगा जो कि तीनों योग विशुद्ध प्रकृति के अनुगामी बनते हुए योगक्षेम के नाशक माने गए हैं। अत्यन्त
प्रकृति (अक्षर) ज्ञानप्रधाना है व्यक्त प्रकृति (अक्षर) कर्मप्रधाना है। एक में ज्ञानप्रधान एवं कर्म
प्रधान है एक में कर्म प्रधान तथा ज्ञान प्रधान है। अतः नियमावयुक्त दोनों ही योग समन्वयक प्रत्य-
गात्मा (अभ्यस) की समता से तो गर्भदा ही विनिर्णय हैं। मक्तियोग मध्यममार्ग बनता हुआ यद्यपि 'सम' है
परन्तु ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति-कामना के बीच से यह भी विपक्ष ही बना हुआ है। अतएव मृतानुगामी
औरकि ज्ञान-मक्ति-कर्म-यत्नि विशुद्ध कर के (योगमाया के) अनुगामी बनते हुए विपक्ष हैं
ना लोकावस्थित कपिल-हिरण्यगर्भ-स्वयम्भू सम्मत शास्त्रीय ज्ञान-मक्ति-कर्मयोग-अक्षरानुगामी
बनते हुए विपक्ष हैं। समता का एकमात्र अर्थ है-प्रत्यगात्मस्तद्वय ईश्वरानुग्रह । बिना उक्त बाग
के तीनों शास्त्रीय योग भी अव्यर्थ ही हैं। कपिल ने अवश्य ही उद्देश्य लक्ष्य कर ही अपने ज्ञानयोग को
प्राप्त बनाया। हिरण्यगर्भ ने विगुणमाया से समन्वित एतद्वेश्वर के कारण प्राप्ति की। एवं स्वयम्भू का कर्म

आत्मिकता का अन्विष्टार के प्रचार का प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेष्ठ विधा आदिपुरुष-मार्गीय महर्षियों की, एम्बादि जगन्नाथों की एवं लक्ष्मणमिनी भारतीय-वर्णभ्रम-जगन्मिनीता प्रजा की। इसे वैशिष्ट्य से यह अन्विष्टार एकमात्र भारतीय की ही प्राथमिक सम्पत्ति बन गया। शेष देश 'शुपथेति मे यत्ने दुष्ट-तत्रैवापलम्बितो यताम' की वृत्ति की परिणाम करने वाले हैं। कर रहे गए।

१५-अशी प्रत्यगात्मा एवं अशी भूतत्मा के ज्ञान किया अर्थ-यथों का योगात्मक-योग, तथा अन्विष्टारना ज्ञान-मक्ति-कर्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी' का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म-अर्थ-यथ विषय प्रत्यगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतत्मा) अथ है अशी-मिमा उन ज्ञान-कर्म-अर्थ-मात्राश्री। अशी की पनास्मिता ज्ञान-कर्म-अर्थ-कलाश्री के लक्ष्य-योग-होना ही व्यावहारिक (शस्त्रमूलक व्यावहारिक अथवा इस दृष्टि से पारमार्थिक) ज्ञान-कर्म-मक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में प्रत्यगात्मा का शारीरिक के ज्ञानों का योग ही ज्ञानयोग है, कर्मों का योग ही मक्तियोग है, एवं अर्थों का योग ही कर्मयोग है। इन योगों की लक्षणभूता प्राक्कायों में ज्ञानों का लक्षण लक्ष्यमध्य से योग नाम से ही प्रसिद्ध होता है। वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है। लक्ष्ययोग के लक्षण के लिए दूसरे शब्दों में योगविभूति प्राप्त करने के लिए जिन लक्षणों का अनुगमन किया जाता है वे लक्षणों में 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। अथ वे लक्षण ही सर्वनाचार्य में 'योग' नाम से प्रसिद्ध होये हैं। पदार्थ योगत्व की सीमात्मक करते हुए इन कह नहीं सुना देना चाहिए कि-ज्ञान-मक्ति-कर्म तीनों ही योग नित्य हैं, सिद्ध हैं। अशी का अर्थ के लक्ष्य विधा अथ का अर्थ का अर्थ के लक्षण कभी योग न रहे, यह लक्षण असम्भव है। हाँ अशी का अर्थ प्रकाशरूप से लक्षणरूप का लेकर इस लक्षणविभूति की मक्ति अथवा ही बना होता है। इस मक्तिता का प्रमाण भी अथ पर ही होता है। अशी का फिर भी निरूप ही होता है। पुरुष का पुरुषार्थ यही है कि वह उपपत्तिश्री से आवरण की हृदय वे। प्रकाश के हृदय ही सिद्धयोगविभूति का लक्षण होनाका एवं शारीरिक आत्मा प्रत्यगात्मासुम्भूत प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन जाता। अन्विष्टार की अन्विष्टार अन्विष्टार होनाका एवं नित्य भूतानन्द अन्विष्टार होनाका।

१६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपुष्टात्मिका महर्षी विमर्ष—

जगन्मोदी पात्रक यह प्रश्न करती कि योगत्रयी अनादि है एव इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होता है। फिर गीतामें इन के लक्षण में पिष्टपुष्ट के अन्विष्टार कीर क्या व्याख्या?। प्रश्न का समाधान पूर्वप्रश्नों में कई प्रकार से किया जा चुका है। यही भी प्रकरणमिति के लिए दो प्रकार का देना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी श्रोत्रियों का कल्पित अथैतवाद्मूलक कर्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी आपातमन्त्रीपता—

महर्षिशास्त्र योगत्रयी की अन्विष्टार का कारण मानने वाले श्रोत्रियों में योग की विशिष्टता के लक्षण लक्षण ऐसी की भी विशिष्टता कर जाती। लक्ष्य पक्षों ज्ञानयोगवादी श्रोत्रियों की ही लक्ष्य। उन्होंने यह समझ कि, ज्ञान एक पवित्र वस्तु है एवं यही एकमात्र अन्विष्टार का स्वयंप्रमाण है। लक्ष्य लक्ष्य और लक्ष्य अन्विष्टार एवं

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे थे आज भी वही के वही नियमान हैं। अतीत में उन से जो कर्म होता था आज भी वही कर्म होता है। इसीप्रकार जौ-गेहू-बाजरा-उड़-भूंग आदि ओषधियों आज-काल नाज़ूरी आदि वनस्पतियों और और भी धातुवर्ग जैसे पण्डितों के आज भी हैं। मनुष्य पशु-पक्षी-आदि के स्वस्वों का संघटन जैसे हमारी वर्ग पहिले था आज भी है।

३-प्रकृतिपरिवर्तनात्मक युगधर्म से अनप्राप्ति-परिवर्तन-आन्ति, आन्तिमूलक विसबाद एवं परिवर्तनवादियों के अल्पनिक-परिवर्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक-मानव का उद्बोधनसूत्र--

‘प्रकृतिपरिवर्तनात्मक’ जिस युगधर्म राज्य को आगे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्तन की बिनाशा प्रकट करते हैं। साथ ही इसी हेतुमात्र को आगे कर प्रकृतिरहस्यानमित्र को महामुगध कथ मानसुग के लिए शास्त्रों की अनुपादेयता सिद्ध करने में ही माध्यम से प्रकृतशक्ति को हुए हैं। क्या उनका यह प्रयत्न सर्वथा आपातमयी ही नहीं है? पानी के लिए वही पानी मोहन के लिए वही अन्न भोजन वही आत्मा भोगाद्यन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्तन की चेष्टा की है? परिवर्तन के पक्षपाती उन महानुमाओं से हम पूछते हैं कि क्यों नहीं वे उस ईश्वर को ही बदल दें जो कि आज बहुत पुराना हो-गया है? क्यों नहीं उस विश्व का ही अन्वेषण कर डालते जिसमें सूर्य-चन्द्र-माह-तारादि अथवा वषात्मान स्वस्थित रहते हुए आजकल उसी ठरने पर चले आये हैं? क्यों नहीं उन वेदों के स्थान में नए वेद बना डालते जब पुराने वेदों की भाषा आज के लघुशब्द अथवा अनुकूलतामयी मानव के लिए अत्यन्त क्लेश अथवा अनुपयुक्त है? क्यों नहीं प्रचलित भाषा में छोटे छोटे वाक्यों के अन्वेषण नहीं ही कर बना दिए जाते? और फिर उन्हें मनुष्य मनुष्या में भी अस्वीय भारतीयों में भी द्विजातिधर्म ही अपना प्राविष्टिक-वादाद (मीकरी वाक्याद) समझ, इस की भी क्या आवश्यकता? वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है तो उस का क्यों नहीं अमान्य से मनुष्यमान को अधिकार? न न पशुधर्मों क्या अथवा किया है। क्यों नहीं अनुपपन्न-जनता वेदभाषा में ही बात जीत कर? क्यों नहीं जौ-गेहू के स्थान में धाननादि को ही अन्न बना लिया जाय? पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया जाय? क्या वे सब तथ्यकृत्य सम्भव हैं? यदि नहीं, तो शास्त्रों में भी परिवर्तन असम्भव है। फलतः उन मन्त्रों पर वेदास्तुत्य करने वाले परिवर्तनवादिनों के उद्गार भी सर्वथा निरर्थक हैं। प्रकृत्य-युगधर्माभिनिधि की इत्यमृता मानुष्या-पूर्वा मन्त्रवादी का किञ्चन करते हुए ही नैष्ठिक मानव के मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो ही दो पड़ते हैं कि—

स्वादव्याः परमेश्वरः स हि नर्भं प्रथमं यदनुत्पादयत् ।

तत्राप्युन्मथान्य-वाक्क-गुञ्जान-वेदान् समुद्रासयेत् ॥

तान् विन्दत अनुत्पदान्तजनन्ता, पेष्टत साप्युत्पथम् ।

कथं वाप समाजुर्पा दि हृदयोद्गारोऽपि पार नयेत् ॥

योग कामना के द्वारा सिद्ध बना दिया गया। मगवान्ने हीनीं च मशोपन िया चार उत मशोपन ये मगवान्ने बना एकमात्र अम्यवपुरुष तथा सुप्रियता। बुद्धियोग-मगवान्ने न मुक्त, अम्यवानुगामी अतम्य कम्यपरिमहलक्षण ज्ञानयोग ही वास्तविक ज्ञानयोग माना गया कामनम्यवपुरुष कम्ययोग ही वास्तविक कम्ययोग माना गया एवं निष्कममयावमुक्त मक्तियोग ही वास्तविक मक्तियोग माना गया जेगाकि पूरवम्यवानुगत-ज्ञानयोगपरीक्षा-प्रकरण में लिखर से अज्ञात अनुष्ठ है।

२०-अम्यवपुरुष-नि धेयम-मयावद गीतायो' का अज्ञापिषो एवं विरोधतः राजपिषो के द्वारा आदिष्कार, तथा गीतायोगानुबन्धी निष्कममयाव' का संस्मरण—

इव प्रकार मक्तिमिष्टा योगमयी के आधार पर भारतीय अज्ञापिषो के द्वारा विरोधतः राजपिषो के द्वारा मानव-अज्ञात के अम्यवपुरुष-निधेयपुरुष के लिए अविचारमे' से हीनीं का आदिष्कार हुआ। वे ही हीनीं योग मानव-अज्ञात के अम्यवपुरुष एवं निष्कम' के कारण बने। बुद्धियोग के अभावे' से राजम्यवपुरुष की रक्षा के साथ साथ इन यामी में लोकवर्षद का भी कर्मात्मा मयावद होताका। कर्मात्मात्मक कथ ज्ञानम्य' का ही 'स्वधर्म' का ज्ञान दिया गया। राजपिषो ज्ञान-मक्ति-कम्य-योगी को कर्मात्मा आत्म प्रदान किया गया। एवं इन सभी विषयों की आधारभूमि माना गया एकमात्र निष्कममयाव। दिन कम्यो से लोकवर्षद उपरिगत रहता है मक्ति वे कर्मात्मा के विरोधी भी है। एवं भी उन का आधार दिया गया किन्तु अविचाररूप के परिधि-निधी की विरोधकातानुगत-अज्ञात-विरोध के कारणम्यवानुगत से।

२१-अज्ञातमयम्यवानुगता ज्ञान-मक्ति-कम्य-योगपरीक्षा का ही सर्वतः अयोग्यवच एवं युगधम्मामुबन्ध स अज्ञातमयम्यम का शक्तिव्य—

मर्कः अयोग्य तो नहीं है कि प्रत्येक कर्मात्मा अपने अपने कर्मात्मा का अनुममन करता हुआ शास्त्रमिष्ट-ज्ञान-कम्य-मक्ति, 'न हीनीं मे से विनी एक का ही अनुममन करे। परन्तु युगधम्मो का परि-कथन भी (राजपिषो के कथनानुसार ही) नष्ट लोकवर्षद का बाया है। शास्त्र ही हमें यह भी कहते हैं कि अज्ञातम्य' में कर्मात्मा निहित होयाका, कर्मात्मा पर आकाश रहना मानव-अज्ञात के लिए कठिन ही-बाध्य। इस का यह तात्पर्य ही नहीं है कि, हम ज्ञान ही युगधर्म के उद्येवक बनत हुए कथधर्म के विरोधी बन दें। किन्तु कर्मात्मा-मक्तिमय शास्त्रक कर्मात्मागता राजपिषो की निष्ठा करत रहे, किन्तु अज्ञातमयम्य' कहताहै हुए उन के विरोध विष-ममन किया करें।

२२-सनातन कुम्भार-यज्ञापति के सनातन विरुध की सनातन-लोकाविपुर्दिर्भा—

राजपिषो की निष्ठामय प्रामाणिकता अतएव उपादेयता निमित्तमिष्टा है। कर्मात्मा भी मग हो, राजपिषो-नुसार कर्मात्मा-मयाव कथ ज्ञानम्य' पर आकाश रहना अम्यवपुरुष का ही कारण माना बाका। परित्त मशोपन अम्यवपुरुष मक्तिमय नहीन नहीन रूप कारण करनी हुई हमारे सामने आती रहती है। इसीलिए संसार को परित्त नहीन माना गया है। प्रकृति के इन लक्ष्यमिष्ट परित्तवत् के साथ साथ अविचाररूपीनीय मायी की भी उद्येवक नही की बाधकती। प्रकृति के अन्त-मायु-अग्नि-जल-प्रकाश-विद्युत्-माम आदि आदि

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे य आब भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। असीध में उन से जो कर्म होता या आब भी वही कर्म होता है। इसीप्रकार जी-मोह-चाँवस-उर्ध्व-मूँग आदि ओपधियों आम्-केला नारङ्गी आदि धनस्पतियों ओर ओर भी धातुवग जैसे पहिले ये आब भी हैं। मनुष्य पशु-पक्षी-आदि के स्वरूपी का सचटन जैसे इबारों बर्य पहिले या आब भी हैं।

३-प्रकृतिपरिवर्तनात्मक युगधर्म से अनप्राणिता-परिवर्तन-आन्ति, आन्तिमूलक विसबाद एष परिवर्तनवादियों के काम्पनिक-परिवर्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक-मानव का उद्बोधनछत्र -

‘प्रकृतिपरिवर्तनात्मक’ किन युगधर्म शब्द को समझे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्तन की विज्ञाना प्रकट करते हैं। मध्य ॥ इसी हेत्वाभास को समझे कर प्रकृतिपरिवर्तनात्मक का महानुभाव वच मानसुग के लिए शान्ती की अनुपादेयता सिद्ध करने में ही प्राकृषण से प्रकटशक्ति बने हुए हैं। क्या उनका यह प्रकटन सर्वथा आपाकरमणीय ही नहीं है? पानी के लिए वही पानी मोहन के लिए वही अन्न मोक्षा वही आत्मा भोगलाभन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्तन की चेष्टा की है? परिवर्तन के पक्षपाती उन महानुभावों से हम पूँछते हैं कि क्यों नहीं वे उल ईश्वर को ही बल देते जो कि आब बहुत पुराना हो-गया है? क्यों नहीं उल विश्व का ही अवाक्य कर डालते जिसमें मृत्यु-बन्ध-मह-नक्षत्रादि अवयव यथास्थान व्यवस्थित रहते हुए आबलक जमी एचरे पर अन्ते आरहे हैं? क्यों नहीं उन बेगों के स्थान में नए वेद बना डालते जब पुराने बेदों की माया आब के संघर्षात्म्य अवयव अनुकूलताओं की मानव के लिए अत्यन्त क्लेश अवयव अनुपयुक्त है? क्यों नहीं प्रचलित माय में छोट छोट बाक्को के संघर्षरूप नवीन ही वेद बना दिए बात? और फिर उन्हें मनुष्य मनुष्यों में भी भारतीय भारतीयों में भी द्विजातिवग ॥ अपना प्रातिमिक दावाद (मौक्की अयदाद) समर्प, हठ की भी क्या आपरयकता? के? यदि ईश्वरीय ज्ञान है तो उस का क्यों नहीं समानरूप से मनुष्यमात्र को अतिव्यग? न न पशुखीन क्या अपराध किया है। क्यों नहीं अनुपपन्नत जनता वेदमाय में ही बात बीत करे? क्यों नहीं जी-गैह के स्थान में धानागति का ही अन्न बना लिया बात? पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया ज्ञय? क्या य सब व्यर्थकृत्य लम्ब है? यदि नहीं तो शान्ती में भी परिवर्तन अवयव है। पलायः उन मन्त्री पर वेदास्तन करने वाले परिवर्तनवादियों के उद्गार भी सर्वथे निरर्थक है। प्रकृत-युगधर्माभिनिविष्टों की इत्यभूता मातृक्य-पूर्णा मान्यताओं का विचय करन हुए ही नैष्ठिक मानव के मुन मे य उद्गार अविद्यमान हो ही तो पड़न है कि—

म्यादन्त परमेश्वर स हि नव प्रल एडमुत्पादयन् ।

सत्राप्युभयवाप्य-बाधक-गुणान्-वेदान् समुद्रासयेत् ॥

तान् बिन्दत पतुपदान्तजनन्ता, यत्नेन साप्युत्पद्यम् ।

तमेवाय समाहुतां हि हृदयोद्गारोऽपि पार नयन् ॥

॥४॥ अपरिचरणीय अक्षर से निषन्धित परिवर्तनशील स्वर के परिवर्तना का भी अपरिचरणीय एवं सनातन ईश्वर के निरुत्सृज्य शब्द सनातन—

अक्षरानुगामी अपरिचरणीय भावों के साथ रहने वाला अक्षरानुगामी परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन है। मूलप्रकृति की गम में स्थिती हुई ही बिहूनि अपने स्वल्प की सुधित तन्ने में मग्न है। बलक स्थिति का प्रवाहकता मति की प्रतिष्ठा नहीं बना लिये गया तब प्रवाहकता ही स्वल्पप्रवाह ही सम्भव नहीं है। इस प्राकृतिक परिवर्तन की निरालाश शास्त्र नहीं जानता यह वह भी न कह सकता है। निम्न आशय—परमेश्वर जैसे आतीन्द्रिय-भावों का स्वीकरण कर दिया वह शास्त्र 'अक्षर' क्या होगा वह जानने में असमर्थ होता हुआ अस्त व्यस्त यह गया वह शब्द भी हमें प्रत्यक्ष का नहीं बना रहा है। फिर बुधधर्माभ्यास बहो बिहूनि चरों में परिवर्तन अपेक्षित का उन का निर्णय भी दो शास्त्रों ने कर ही दिया है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि— सनातन ईश्वर की विभवात्मा की प्रतिष्ठित शास्त्र भी अपरच ही सनातन है।

२५—गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति अनन्यनिष्ठ—

परिवर्तन के पक्षधरी तब ही गीतामार्गिक का हिमिदमपेक्ष करने वाले उन उत्पन्नानुगामी का मन्त्रुषी से हम पूछते हैं कि जब गीताशास्त्र ही हम समय के लिए उपयोगी है इतर मन्त्रादि शास्त्र अनुपयुक्त है तो मन्त्रान ने कर्तव्यकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र का महत्त्व क्यों स्वीकार किया ?। यदि मन्त्रों की दृष्टि में शास्त्र-सामर्थ्य ही होते तो क्यों उनके मुख से (परिवर्तनात्मक शास्त्र के सम्बन्ध में) आनकी दृष्टि से 'सत्सङ्ग-शास्त्रं प्रमाणं ते' का अक्षर न निकलते।

२६—शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की सदैकरसता-निषन्धना सनातनता, एवं अनुमानित शास्त्र-सनातनधर्म—

सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि नैतिक नियम-इश्वरी वरं प्रदत्त की उतम माने वाले वे आदमी उनकी उतमता क्यों की भी प्रचुर है। बुधधर्माभ्यास से यदि आदम कोई अज्ञान इन नैतिक आशयों का उद्घरण कर रहा है तो क्या उमात्र उठी उन्नी दृष्टि से देखता है ?। क्या बुधधर्म का हिंसा परिवर्तनधर्म की धारी करते हुए— 'मरुत कोखता पाप है जारी करना प्रसन्न है इत्यक्षर से उन नैतिक आशयों में परिवर्तन आने में काला व्यक्ति आदर की दृष्टि से देखा जायगा ?। हमें स्मरण रखना चाहिए कि, रूप मन्त्रात्मक ही है उतम मन्त्र का उतम ही है। अनुमान-निष्केत-आशय शास्त्रादेशों का भी महत्त्व पूर्ण बुद्धि में का आशय भी है। और उन्नी के अनुमान में हमारा अनुमान भी है। परिचितिबध बहो बहो व्यक्ति उतम का आशय नहीं करता तो क्या उतम वह कलम्य उतम माना जायगा कि, वह उतम की निष्ठा करने लगे ?। नहीं। बयादृष्टि हमें तब का अनुमान करना चाहिए। परिचितिबध बहो निष्ठा का अक्षर आने बहो में बयादृष्टि आशयपरिभाषा का ही अर्थन करना चाहिए, और विश्वाता में मिथ्यनुमान करने में हमें बुधधर्म का आशय ही करना चाहिए।

२७—अविचारितरमणीया शास्त्रनिन्दा एवं कल्पनाओं का कल्पनिक-व्यामोहन—

जबकि गीतामार्गिक के अनुमान ही शास्त्र भातनम्ब है तो उसके सम्बन्ध में भी हमें उक्त नीति का ही अनुमान करना चाहिए। "हम शास्त्रादेशानुगमन करने में असमर्थ हैं एकमात्र इती शेष

को समी कर हम शास्त्र की निम्न करने लगे निम्न का आवश्यक प्रचार करने लगे अपनी इस कुप्रवृत्ति के लिए दुष्प्र मानने के स्थान में उद्दण्डतापूर्वक शास्त्रविद्वान्ताओं के खण्डन में ॥ अपने चल-बुद्धि-सक का बलप्रयोग करने लगे क्या इसी का नाम गीतामति है ? क्या गीता से हमने आधिशास्त्रिका ऐसी ही शिक्षा प्राप्त की है ? क्या इसी आधार पर हम अपने को 'पक्षा' ईश्वरवादी एवं आस्तिक मानने का अभिमान कर रहे हैं ? अमरवयम् ? अमरवयम् ? महीविद्वयम् ?

२८—'परिस्थिति' मूलक हेत्वाभास का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं शास्त्रीय कर्तव्य के प्रति हेत्वाभासानुयायियों की निरपेक्षता—

आज कुछ एक संशोधक महोदय शास्त्रादेशों के सम्मुख में वे भी उत्तार निकाला करते हैं कि जब परिस्थितिबद्ध हम शास्त्रादेशों का यथावत् पालन नहीं कर सकते तो फिर उन आदेशों को बौद्ध भी क्यों लिया जाय ? क्यों नहीं उन वृत्ता में हम शास्त्रों को कुछ समय के लिए एक कोने में रखकर समयानुसार प्रवाहित होने वाली प्रगति के ही अनुयायी बन जाय ?। सध्या-संपन्न-आद्व आदि कर्मों का जैसा विधान है ठीक उसी विधान के अनुसार वैद्य ही कर्मता परिस्थितिवश वच मान पुग में अलम्ब है । जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हैं-वे क्यों जो नहीं कर अन्त पूरी इतिवक्तव्य नहीं निमावकते वे करें ही क्यों ।

२९—'अमामर्ष' प्रयुक्त इष्टवामास का शास्त्रविद्वम्भण, तन्नुगामी 'मध्यमवर्ग', एवं कल्पनिक-विद्विध-समस्याओं के सज्जन के द्वारा कल्पन्यनिष्ठा के प्रति तद्वर्ग की निरपेक्षता—

म्यगतं मा । ऐसे वर्ग को ही हम माध्यमिक वर्ग भी कह सकते हैं । विचारपरमर्श से इस वर्ग के सम्मुख में भी हमें वो धारणाएँ व्यक्त करनी पड़ती हैं । फलतः धारणापर से इस माध्यमिक वर्ग के भी आगे आकर हो विमान होकर हैं । कुछ एक महानुमान तो अन्तर ही ऐसे हैं जो शास्त्रों पर पूर्ण महा-विश्वास रखते हैं । शास्त्र का अक्षर अक्षर उनके लिए मान्य है । परन्तु नाम ही "यदि कर्म का स्वरूप विगाड़ दिया तो वह कर्म स्वाम के स्थान में हानि का ही कारण बन जायगा इस शास्त्रादेश की विभीषिका से वे शास्त्रीय कर्मों में प्रवृत्त होने हुए ही रहते हैं । सशस्त्र शास्त्रीय ज्ञान का अभाव औदुम्बिक-विम्वता अचरमक आदि अनेक कारणों को अपने गर्भ में रखने वाली परिस्थिति से विचर हाकर उक्त विभीषिका को मूल में रखते हुए ही वे महानुमान कहा करते हैं कि क्या करें कुछ तो अवश्य होना है अशास्त्रीय कर्मों से अमामर्श भी होती है परन्तु विचर है । इसी विचरता में पड़कर यदध्यापुग शास्त्रीय कर्म-ज्ञान मति-योगी से बाधित होता हुआ कहा करता है कि—'जब इस मीक ठीक कर नहीं सकते तो करें ही क्यों ।

३०—समाजानुषंग स प्रदर्शनमात्र के लिए शास्त्रमति-प्रशानपरायण बद्धक-वर्ग का अनगल प्रसाध

कतिपय गहन ऐसे भी हैं जो अममगमा से तो शास्त्र पर अनुमान भी अन्त विचरान नहीं रखते । परन्तु जिन नमा से रहकर रहें अपनी अर्थलाभता पूरी करनी होती है आर्थान्ध्र के लिए रहें उन नमाक-

निष्ठा की ही में ही मिलानी पड़ती है। अक्सर आन पर लब्ध भद्रानु की मूर्ति मायावश प्रकाश करत रत्न में भी प महानुमाय अष्टमाय भी लक्ष्मी नहीं करत। यह उस वर्ग की दशा है जिस का पतन दोषक मन्त्र का श्रीमन्तो की हृया पर ही निरुद्ध है। उस शास्त्रनिष्ठा मन्त्रा का प्रकाश करने के लिए, माय ही "सुम शास्त्रानुमाय कर्म क्यों नहीं करत" यह प्रश्न के समाधान के लिए वे स्वाभाविकमन्त्र शास्त्र कहा करते हैं कि— श्री। इन्द्र दा बहुत कुछ है परन्तु क्या करें परिस्थितिबश नहीं कर सकते। श्री विधि न खाने में भय लगता है कि कहीं मन्त्र के स्थान में कुछ न हो जाय। करें तो ग्रीक ठीक करें नहीं तो कुछ भी न करें।

३१—सुगन्धमन्त्रानुगामी विभिन्न ठो बर्गों का स्वरूपविषय, एवं सत्सम्बन्ध में विविध ठो पाठों का स्वरूप—दिग्दर्शन—

इसप्रकार एक बग हृदय से शास्त्र के प्रति निष्ठा रखता हुआ सुगन्ध वर्ग मन्त्रानुमाय से शास्त्रमन्त्र का श्रम करता हुआ उस मान युग में शास्त्रीय कर्म की उपेक्षा ही कर रहा है। हमों में प्रथम बग के लिए ही हमने "रत्नागमन" कहा है। सुगन्ध वर्ग के लिए तो— "सुगन्धनं प्रथमं बन्धु" ही पुस्तक है। क्योंकि जो वर्ग उन्मूलक मन्त्र (सुगन्ध मन्त्र) शास्त्र की निष्ठा करता रहता है उसकी अपेक्षा भी यह द्वितीय बग कहीं अधिक महत्त्व है। काव्य स्पष्ट है। जो महानुमाय वर्ग लगता है शास्त्रीय-मन्त्रानु स काशी हूँ पश्चिमी-शिखा की लक्ष्मी प्रतीता है जो स्वयं मन्त्र के नहीं, अपितु त्रिनका मन्त्र है। शास्त्र-मन्त्र-मन्त्र के द्वारा सुगन्धन की मूर्ति विद्योर्ध्व मीमांसा-मन्त्र-मन्त्र लक्ष्मी कतिपय महानुमायों की भी स्व-मन्त्रानु-पाठ में लक्ष्मी काव्य कर रहता है। शास्त्रीय-मन्त्र कतिपय सुगन्ध ही त्रिनका पद्यदर्शक है सुगन्ध-मन्त्रों के मन्त्र में रहने वाला माध्यमिक भी शास्त्रमन्त्र में त्रिनका पाठ में परम्परा का है ऐसे कल्पित शास्त्रमन्त्र व्यक्ति ही सत्सु शब्दों में शास्त्री की निष्ठा से अपनी शिक्षा कायित करने रहते हैं। यथा केवल के अविमान से वे शास्त्राधिकारी भी लगे रहते हैं। शास्त्र के मन्त्र में वे अपनी लक्ष्मी परिपूर्ण सम्पत्ति देते रहते हैं मानी इन्होंने शास्त्री का अनुमूलक मन्त्र ही कर चाका है। माय ही "हो जानु बिलकुल ग्रीक" कहने वाली की भी कमी नहीं रहती। ऐत ही महानुमाय अपनी निष्ठावशीला की लक्ष्मी का अनुमाय शास्त्री में परीक्षा न चाहते रहते हैं। वे ही शास्त्री के निष्ठा हैं। इन्धन बग के लिए तो "कक्षापि लक्ष्मी पातानामन्त्रमन्त्र मन्त्र" ही प्रस्ताव है।

जो अपने अग्रिम म "अच्छा ला हम नामिक ह शास्त्र बान्ध नहीं मानत सुदी स्वर्गामन धीनि-मना यह अविमान के साथ यह कहते रहते हैं अक्षर ही विज्ञान की विमलबाध में लक्ष्मी काव्य रहें पवित्र शिवा काव्यता है। क्योंकि— "अज्ञानं तन्मय शरणा"। अज्ञान से ही इन्होंने अन्तर्मात्रा को अपना लिया है। वर्तमान-मानत लक्ष्मी के द्वारा इनके लक्ष्मी शास्त्री का श्रम रहता जाता है। लक्ष्मी ही लक्ष्मी में वे शास्त्रमन्त्र नामिक भी प्रथम काव्यिक बन गच्छते हैं। वैसाकि हमें इन विज्ञान का व्यक्तिगत अनुमन्त्र है। परन्तु त्रिनका काव्य य मन्त्र "सुगन्धे राम बगल में लुटि बरी है उस लक्ष्मी अविमल वर्ग की विविधता का वर्णन ही करता हमारे लक्ष्मी काव्यिक के लिए ही अनुमन्त्र ही है। लक्ष्मी है "लक्ष्मी महर्षि अपने लक्ष्मी के प्रतीक में उन का भी उद्धार कर लेंगे।

३२-गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य—

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि पूर्ण भगवान् होता हुआ भी या तो परि-
संयतचित्त शास्त्रकर्मनित्तवान् न करने के कारण अथवा विमोक्षितचित्त न करने के कारण वचमान युग के
लिए शास्त्री को अनुपादेय स्वत्वा रहा है। 'हमारा गीताशास्त्र इसी के अन्तर्गत के लिए प्रवृत्त हुआ
है' यदि गीता के सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

३३-शास्त्रीय कर्तव्य-कर्मों के सम्बन्ध में सामान्य आवश्यक, और उसका नीरक्षर विवेक—

जैसे तो इस कलहमूलक कलियुग में कुछ एक परिगणित अपवादों को छोड़कर किसी को भी पूर्णरूप
से शास्त्रीय आदेशों पर चलने का न तो अधिकार ही है न योग्यता ही है न साधन ही है न समय ही
है। तमस्क्रीति में उन कर्तव्य-कर्मों के वैज्ञानिक स्वरूप का विवेक सम्बन्ध में बड़े अभिमान के साथ
हमने यह कहा था कि— वर्णव्यवस्था प्रकृतिमिता है जन्ममिता है। इसलिए प्रत्येक वर्ण को अपना
अपना शास्त्रिक आधिपतिक कर्म ही करने रहना चाहिए। वर्णवर्त्म-विरोधी शास्त्रिक कर्म कभी शास्त्रवत
शान्ति के कारण नहीं बन सकते—'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'।

३४-आदर्शवाद, और यथार्थवाद का समतुलन, एवं यथार्थवाद से वञ्चित आदर्शवाद की आस्त्यन्तिक-यातयामता—

यदि इसी आदर्शवाक्य पर सुख एवं सुखिता का विभाग मान लिया जाता है तब तो सम्पूर्ण शास्त्र
वचमान युग के लिए केवल नमस्कार की ही कल्पना रहे जाते हैं। आदर्शवाद की शोभा है-अव्यवहार
मत्ता। ऐसे सिद्धान्त, वा आदर्शवाद की दृष्टि में स्वर्ग के उत्तम सोपान पर प्रतिष्ठित हैं यदि व्यवहार में नहीं
आते किन्तु नहीं आते तो उस दृष्टि में समुच्च के सिद्धान्त दूर से ही प्रभाव है। और वच पूर्णरूप,
तो हमें निःसंकोच होकर कहना पड़ेगा कि भारतीय के शास्त्र के बहाँ आते और वह एक कारण है वहाँ
उन धर्मों में विशुद्ध आदर्शवाद किन्तु सिद्धान्तवाद भी एक मुख्य कारण है। यदि हमारे मनातन
धर्मों पात्रक युग न माने तो यह भी कह देने में हम किसी आपत्ति का अनुभव नहीं करेंगे कि एक मात्र
विशुद्ध आदर्शवाद ही हमारा अनायास विषय है। जैसे १. तो सुनिश्चित।

३५-गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण प्रयाम, एवं गीताशास्त्र की विप्लवप्रवृत्ति अतएव निरर्थकता—

आदर्श वा आदर्श ही रहेगा हममें भी कोई संदेह नहीं। उत्तम कर्म का उत्तम ही मानी जायगी
यह भी निश्चित है। शास्त्र मनातन रूप है और उनके निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करने पर ही मानव-
जन्मा का सम्पूर्ण उत्तम है यह भी प्रबल रूप है। अतः "गीता प्रयामरूप से शास्त्रमिदं ब्रह्मविद्या
धर्मनित्तुल्य कर्मों का है। प्रतिपादन करती है यह सिद्धान्त भी लक्ष्यमय है। परन्तु केवल इसी
सिद्धान्त पर गीतादृष्ट का विभाग मान लेने से तो गीता की अत्यन्त विचित्रता एवं पूर्णरूप ब्रह्मविद्या

नहीं हो सकती। फिर जो यह कह देने में भी कोई आपत्ति न होगी कि वर्णाश्रम का मौलिक रहस्य मात्राश्रम-
नाश्रम में ही गतार्थ है। रहस्यज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ आत्म्य है वह में उल्लेख भी अधिक करना
दिया है। वर्णाश्रमकर्मों की हितकृत ध्यता (जिस की कथनानुसार कर्म करना चाहिये, यह पद्धति) मन्त्रो-
पदेशनाम्नी से गतार्थ है। नहिं गीता का यही अर्थ लक्ष्य है ता श्रुति-स्मृति से सर्वथा गतार्थ उक्त रहस्य
के समुद्धान में गीता एक पितृपेयमान ही है अतएव यह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

३६ वैदिक-कर्मनाम-कर्मकारण का सशोषक ? निष्कर्म-कर्मयोगात्मक गीता- शास्त्र—

यदि इस सम्बन्ध में कोई गीताज्ञान यह कहे कि श्रुति-स्मृति में जिन कथन-कर्मों का विधान
हुआ है वे कर्मनाम होने से शास्त्र-शास्त्र के कारण नहीं बन सकते। वैदिक शास्त्रविहित कर्म—
“य्मातिष्ठोमेव स्वर्गकामो यजेत इत्यादि कर्म से सर्वथा निष्कर्म है। फलकामासक्ति को मूल में रखने
हुए ही वैदिक कर्म विहित है। गीता ने श्रुति-स्मृति विहित गीता की अपर अर्थ का विधान किया है
परन्तु छाप ही कामना के प्रतिपाद का आवेष्टक दिया है। निष्कर्मकर्म ही शास्त्र-शास्त्र
के कारण है। गीता का यही उद्योग है। और इसी उद्योग से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो
जाती है।

३७ वैदिक कर्मयोग की निष्कर्मता के समुद्धान में गीता के कर्मवाद का शब्द एव पुनश्च गीता की पितृपेयता—

परन्तु जब हम वैदिक-कर्मों के मौलिक रहस्य का आन्वेषण करने चलते हैं तो उक्त उद्देश्य ही
गीता की अपूर्वता सुस्पष्ट नहीं रह सकती। यह गीता है कि कर्मकारणमयान माध्यात्मिकों में परे पर
कि कर्मों का यन्त्र—“किं कर्मा मं मयात्—स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि कर्म से कामनाओं का प्राप्ति
उत्पन्न होता है। परन्तु यह ही श्रुतिमयकर्म उपनक्ष-कर्म तथा श्रुति में निष्कर्मकर्म की ही
बोधना करण हुआ एकमात्र उल्लेख ही पर शास्त्र का कारण बतलाया हुआ हमारे सामने आया है। गीता ने
स्वयं स्वयं पर कर्म-मूल-कर्म का उद्देश्य ज्ञान-कर्म के समुद्धान से निष्कर्म का निष्कर्ष किया है
उपनिषद् में विस्तार के साथ उक्त का भी निष्कर्ष हुआ है। शब्द—“स शान्तिमाप्नोति न कर्म
कामी”—“कर्ममं बहू कर्माणि”—“सम्पुष्टिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह”—“विद्यां चाविद्यां
च यस्तद्वेदोभयं सह”—“अन्तरं मृत्योरेतन्मृतं मृत्योरेतन्मृतमाहितम्” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। यही
नहीं, किन्तु बुद्धियोग की गीता का अपूर्व निष्कर्ष बतलाता गया है। उक्त मूल ही उपनिषद् में स्पष्ट है
वेदिक भाव्यभूमिका-प्रथमसंस्कृत में विस्तार से कहा गया आशुता है। तब मात्र कर्मयोग में भी—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च विविधं कर्म वैदिकम्” इत्यादि कर्म से वैदिक-कर्मों की प्रवृत्ति (सकर्म)
निवृत्ति (निष्कर्म) में से कर्म-प्रवृत्तिकर्म को स्वर्गसुख का कारण माना है एवं निवृत्तिकर्म को
परशान्ति-प्राप्ति का हेतु बतलाया है। अतएव यदि गीता में निष्कर्मकर्म का निष्कर्ष किया है तो यह भी गीता
का निष्कर्ष ही है।

३८—शास्त्रसार—ममन्वयात्मिका गीता का सर्वशास्त्रमयत्व—प्रदर्शन—

बादी यदि यह कहे कि भुक्ति-सृष्टि-शास्त्र आचार्यभेद से अत्यन्त दुर्गम है अतएव सामान्य मनुष्य श्रौत-स्मार्त-कर्मों के सम्बन्ध में बहुविस्तृत भुक्ति-सृष्टि-ग्रन्थों में अपने इस स्वल्प जीवन में निर्णय नहीं कर सकता। इसी विप्रतिपत्ति से मनुष्य श्रौत-स्मार्त कर्म-बाल से मय जाता हुआ कर्तव्य-कर्म से विमुख हो जाता है। महात्मान् ने गीताशास्त्र में अनेक संक्षेप से कर्मों का निर्णय कर दिया है। अनन्त वेदशास्त्र एवं अरवस्य स्मृतिशास्त्रों के दुर्गम कर्मबाल का सम्बन्ध करते हुए केवल छतरी रत्नों से समन्वित गीता में उन सब के लिए सरलपथ प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिए गीता—सर्वशास्त्रमयी' कह सारी है।

३९—गीता के सम्बन्ध में—'किमन्यै शास्त्रविस्तरेः' भूसा नितान्त-आन्त-धारणा—

इसी हेतुवाद को ध्यान करते हुए ये महत्सुमाव यह भी कहा करते हैं कि—'बिसने गीता का मर्म समझ लिया उसने सब कुछ जान लिया'। गीताम्बाध्याय के अनन्तर मनुष्य के लिए कुछ भी शतव्य-कर्तव्य नहीं रह जाता। केवल गीता ही कर्मनिर्णय के सन्ध में पर्याप्त साधन है—'किमन्यै शास्त्रविस्तरे'। केवल इसी आचार पर आज कतिपय महानुभावों के धीशूल से वह भी सुतन का लौमाय प्राप्त होता रहता है कि—सब शास्त्र निरमक हैं। यदि उन्हें बाँझों की फं लिय सामक मान भी लिया जाय' तो भी 'गीता के अतिरिक्त गीता के रहने उनको कोई आश्चर्यकण नहीं रह जाती'। वेद के एक महान नेता ने इस सम्बन्ध में अपने ने मात्र प्रकट करते हुए कहा है—

“गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें समझ लेंगे।”

ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके' (भीगा-धीड़ी)

४०—आपक्षव्यवसायात्मक आज्ञा का गीताशास्त्र, और राष्ट्रीय-गीतामक्तों का शास्त्रों के प्रति प्रचण्ड-आक्रोश—

यही कारण है कि भारतीय-राष्ट्रकर्मा में सब शास्त्रों का आसन आज गीताने ही अक्षुण्ण कर लिया है। धार्मिक-शिक्षा क्या होनी चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में गीता की ही जामी रक्ता जाता है। इसप्रकार सर्वशास्त्र-विरहिता महात्मान् की वह गीता आज एकप्रकार से 'आपक्षव्यवसाय का ही माध्यम बन गई है। सभी गीता के मर्मस्पर्शी बने हुए हैं। आज गीताध्ययन ही सब की पिय है। नवभूत यह 'आदरभाव' लौमाय के बिहू है। विद्वान् का विचार तो तिर किया जायगा। प्रहल में बहस्य यही है कि, हेतुवादियों के कथनानुसार गीता सब शास्त्रों का निचोड़ है कर्म-निर्णय करने वाला अन्तर्भाग है। अगर यही गीता की विशा-रता है।

४१—कर्मवैकर्तव्यता से असंतुष्ट गोताशास्त्र अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रदृष्ट्या अकृत्स्नता, असर्वता, एवं स्वयं गीताशास्त्र की भुक्ति-सृष्टि-शास्त्रकथार-यता—

विचार करने पर इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। आस्था-निष्ठा के माध्यम यह महत्प्रयत्न प्रभावित है कि गीता किसी भी कर्म की इतिवृत्तव्यता नहीं बतलाती। अथ स इति पर्यन्त गीता के

नहीं होसकती। फिर तो वह कह देने में भी कोई आपत्ति न होगी कि वर्णाश्रम का मौखिक रहस्य मन्त्रब्राह्मण-मन्त्र वेद से ही गतार्थ है। रहस्यज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ बातें हैं। कहे ने उससे भी अभिष्ट किया है। वर्णाश्रमधर्मों की इच्छित व्युत्पत्ति (जिस की वह वीनया कर्म करना चाहिए, वह पञ्चमि) मन्त्र-धर्मशास्त्रों से गतार्थ है। यदि गीता का यही अर्थ अर्थ है तो भुक्ति-भुक्ति से सर्वथा गतार्थ उक्त अर्थ के सम्बन्धन में गीता एक पित्रपेयमात्र ही है अतएव वह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

३६ वैदिक-कामनामय-कर्मकाण्ड का संशोधक? निष्काम-कर्मयोगात्मक गीता-शास्त्र—

यदि हम सम्बन्ध में कोई गीताभक्त यह कहे कि भुक्ति-भुक्ति में जिन वस्तु-कर्मों का निधान हुआ है वे कामनामय होने से शारत-शान्ति के कारण नहीं बन सकते। वेगति शास्त्रविहित कर्म—‘ज्योतिषोमेन स्वर्गकामो यजेत’ इत्यादि रूप से सर्वथा भ्रम है। पञ्चकामासक्ति को मूल में रखते हुए ही वैदिक कर्म चिह्नित है। गीताने भुक्ति-भुक्ति-सिद्धि तीनों योगों का आन्तर अन्तर किन्हीं के परन्तु साथ ही कामना के परिचाय का आदेश दिया है। “निष्कामकर्म ही शारत शान्ति के कारण है” गीता का यही संशोधन है। और इसी संशोधन से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो जाती है।

३७ वैदिक कर्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्मपाद का शैवस्य एव पुनश्च गीता की प्रियपक्षता—

परन्तु अब हम वैदिक-कर्मों के मौखिक रहस्य का अन्वेषण करने चलते हैं तो उक्त अनुपात में गीता की अपूर्वता सुरक्षित नहीं रह सकना। वह ठीक है कि कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणधर्मों में पदे पदे ‘किं वास्या यजमहि’ — ‘किं ततो भुक्त्वा’ — ‘स्वर्गकामा यजेत’ इत्यादि रूप से कामनाओं का प्रत्यक्ष उल्लेख होता है। परन्तु वह वा ही अन्तिममागम्य उपन्यास-रूप रहा शास्त्रों में निष्कामकर्म की ही प्रेरणा करता हुआ एकमात्र उसे ही पद शान्ति का कारण बताया हुआ हमारे सामने आता है। गीताने स्थान स्थान पर अमृत-मुक्त-संशुद्ध ज्ञान-कर्म के सम्बन्धित रूप जित समस्त का निरूपण किया है उपनिषद् में विस्तार के साथ उस का भी निरूपण हुआ है। वैदिक—‘स शान्तिमाप्नोति न कर्म कर्मा’ — ‘कुर्वन्नेह कर्मसिद्धि’ — ‘संशुद्धिं च विनाशं च अस्तु ह्येवार्थं सद्’ — ‘विद्या या विद्या च अस्तु ह्येवार्थं सद्’ — ‘अन्तरं यत्परोक्षं यत्परोक्षं यत्परोक्षं यत्परोक्षं’ इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। वही नहीं, बित्त बुद्धियोग की गीता का अपूर्व विषय बताया गया है। उसका मूल भी उपनिषद् में स्पष्ट है। बलादि भाव्यभूमिका-प्रथमकाल में विस्तार से बताया जा चुका है। एवं मानवधर्मशास्त्र में भी—‘प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्’ इत्यादि रूप से वैदिक-कर्मों की प्रवृत्त (सकाम) निवृत्त (निष्काम) भेद से अन्तरा प्रवृत्तकर्म को स्वर्गपुण्य का कारण माना है एवं निवृत्तकर्म को पराधार्मिक-प्राप्ति का हेतु बताया है। कलत्र यदि गीता ने निष्कामकर्म का निरूपण किया है तो वह भी गीता का विशेषण ही है।

का ही प्रधानरूप में निरूपण किया है। यद्यपि कर्मोत्तिर्लक्ष्यता भी कर्मों का एक टंग ही है परन्तु कर्मों परस्परिणाम इस ढंग का गीता में निरूपण नहीं है। मनुष्य का क्या कर्तव्य है? इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्तव्य-कर्मों का बोधना क्या है? गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और वह बोधना है एकमात्र वेदव्याख्या—‘बुद्धियोग’ जिसका कि निरूपण पाठक समझे प्रकल्प में देखेंगे।

४३—गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्राप्ति श्रिक्तता, तथा मार्गभौमता के अनुबन्ध से विचार-विमर्श—

हैं तो ऊपर की पङ्क्तियों से हम यह समझे कि शास्त्रविहित कर्मों के साथ बुद्धियोगरूप की शान्ति का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही ‘गीताशास्त्र’ है। अवश्य ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इसी अपूर्वता से गीता ‘ईश्वरीयग्रन्थ’ नहीं माना जा सकता। सम्भव है गीता की वह अपूर्वता वर्णभ्रमधर्म के अन्तर्गत पाठी एक भारतीय का उपकार करके। परन्तु जो ‘बुद्धि-गुप्ति’ शास्त्र से परिचित नहीं, श्रौत-स्मार्त कर्मों का बिना अभिन्न नहीं वे तो ऐसी गीता से वञ्चित ही रह जाते हैं। गीता न भारतवर्ष की है न द्विजातिवर्ग की ही अपनी कोई प्रातिमिक निधि (चरोहर) है। अपितु गीता तो उन महात्मा की है जो कि महात्मा बन-अनरुद्ध के रूप में अन्तर्धर्मात्मिक से प्रतिष्ठित रहते हुए स्वयं अपने निरतिशय में समाधान कर रहे हैं। महात्मा का अन्तर्धर्म केवल भारतीयों के अन्तर्धर्म के लिए ही नहीं हुआ है अपितु ‘अनुग्रहाय भूतानां मानुषी दुःखमाश्रितः’ के अनुसार समूह विश्व के अन्तर्धर्म के लिए ही महात्मा का प्राकट्य है। उन सर्वव्यापक महात्मा का ज्ञान भी कभी किसी व्यक्त वेदा आदि में सीमित नहीं रह सकता। अवश्य ही महात्मा का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अन्तर्धर्म के लिए ही प्रकट हुआ है। सभी क्या सभी जातियों समानरूप से गीतायोग के अधिकारी हैं। जहाँ श्रुति-स्मृति शास्त्र—‘यस्मिन् वेदां मुखाः कृष्यान्तस्मिन् धर्मं निधातुं को भगवता से कह होते हुए केवल भारतीय वर्णभ्रममनुगामीनी प्रजा के ही उपकारक बन रहे हैं वहाँ गीताशास्त्र विश्वकल्याण को अपना मूल बनाता हुआ सवार की निधि है। विभिन्न धर्म विभिन्न मतवाद व्यक्तित्व तथा साम्प्रदायिक लोभामात्र आदि आदि सभी मेषवाद अग्रिम गीतायोग के लक्ष्य हैं। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतायोग एक नेत्रमुखावी द्विजाति का भित्ति उपकार कर सकता है एक ईसा पारसी, मुसलमान क्यूरी भी इस योग का अनुष्ठान करता हुआ हृदय बन सकता है। और अपने इसी गुणादिरूप से गीता का विश्वकल्याण प्रत्यक्ष बन रहा है।

४४ सनातनधर्मों विज्ञानों का प्रथम आक्रोश तत्प्रवर्द्धक विचारशीली एवं गीता से अनुप्राणित विचार-द्वयी का परस्पर अर्थमाहिम्य—

सनातनधर्मों के मौलिक रहस्य से अपरिचित अतएव नाममात्र के सनातनधर्मों विज्ञानों के सम्मुख जब गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता रखी जाती है तो वे अतिशय-बाधुर बन जाते हैं। वे यह कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते कि गीताज्ञान का स्वयं समानाधिकार है। गीता को विश्वकल्याण प्रथम मानने में वे सनातनधर्मों की दृष्टि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि से विचार करने पर हमें भी कुछ एव ही प्रतीत होने लगता है कि, यदि गीता का स्वयं समानाधिकार है दिया जायगा तो गीता एक शास्त्रविषय प्रथम बन

वस्तु का अन्वेषण कर बाह्य, बाह्य-स्वयम् का पालन करना चाहिए - 'वर्णमम कर्मो वा
धामनि होकर अनुगम करना चाहिए' - 'सत्रिय को युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए' -

मन्त्र का अपन अपन कर्मों में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहना चाहिए इतकपर से स्वयम् का
शिक्षण प्रवर्य मिलेगा। परन्तु उक्त स्वयम् का क्या स्वरूप है? क्या इतिकर्तव्यता है? माया-
सत्रियविषय क्यों के कर्म किस प्रवृत्ति में होते हैं? इन प्रश्नों का आचार-प्रवृत्ति एवं
भी अभावान् अन्तर्गत गीताशास्त्र में उपलब्ध न होगा। वह तो एक गीताशास्त्र की भी मान ही लेना योग्य
कि, द्विबन्धन के लिए निश्चित मन्त्रादि शास्त्रमिद-कर्म मगधान की पूर्ण अभिप्राय है। मन्त्र कर्म के
गीताशास्त्र केवल गीता के आचार पर ही उन कर्मों का अनुष्ठान कर लता है? किन्तु कर्मों को किस
आश्रम में अन्तर्गत कर्म करना चाहिए? इस प्रश्न का अभावान् गीता से नहीं होकर एवं न हीन के
आचारकता ही है। वह मन्त्र अनुष्ठान-शास्त्रों से अब गताय है ही उक्त उल्लेख होना ही क्यों? किन्तु
कर्मों को क्या करना चाहिए? "न मन्त्रकर्म मगधान वा-सुरमाणां प्रमाणां ते कर्मविप्रत्य-उप-
रिधत्वा, मात्वा शास्त्रविधानात् कर्म कथं मिहार्हसि" वह उत्तर ही कर्मावधि है।

४०-गीताशास्त्र की अपूर्वता का आधारभूत 'कर्मवैशेष्य', एवं उद्बुद्धि-सम्बन्ध- योगालुगत-पुद्गलयोग-

यदि गीता ही हमारी कर्मवैशेष्यता की आधारभूत शास्त्र कर देती तो मगधान् कर्म शास्त्रविधान की
आत्मा में हमें न इतनी किना "उर शास्त्रों के केवल गीता के आधार पर इमाप कर्म भी कर्म किन्तु नहीं
होकरता। हमें अन्तर्गत शास्त्रों के उक्त कर्मों पर का आधार होना ही पड़ता है और होना ही पड़ेगा। गीता
का स्वयम् शास्त्रविधानोक्त कर्म ही है। वो महाशुभा मगधान् की उक्त आशा के किन्तु स्वयम् की
वैशेष्यता अन्तर्गत शास्त्रविधान की उल्लेख करते हैं व मगधान् के और उनके गीताशास्त्र के अन्तर्गत
ही हैं। और फिर हमारा वा यह भी उक्त निम्न है कि बिना वेदादि-शास्त्रों के विधान के गीता के एक आधार
का भी मर्म स्वयम् में नहीं आकरता। यदि उही विचारशीलों के महाशुभा गीता मगधान् शास्त्रों का उर है
तो वह शास्त्रों से भी अधिक दुष्प्रभ है। बहुविधतामय शास्त्र ही अब हमारे निरुद्ध हैं। तो उनका वह
वैशेष्यता हमारी उद्बुद्धिमुक्तता स्वयम्-अन्तर्गत के निरुद्ध और भी अधिक बढ़ित ही प्रमाणात् होगा वह कर्म
वैशेष्यता अन्तर्गत न करेगा। गीता का कर्मवाद यदि "अधिकार" शास्त्र पर प्रतिष्ठित है तो स्वयम् गीताशास्त्र
भी अधिकारी की अपेक्षा बाध है। हम शास्त्रों की लभता उल्लेख करें उनकी निम्न ही कर्मवैशेष्यता हमारे
निर्णय होना कर्मों के शास्त्रीय-कर्म हमारे शास्त्र का रहे, और फिर हम अन्तर्गत कर्मों से प्रवृत्तता से
गीता का निरुद्ध कर दें- 'अन्तर्गतकर्मवैशेष्य'।

इतकपर न गीता के द्वारा कर्म का निर्माण ही मगधान् न गीता का निरुद्ध ही अपूर्व फिर गीता बढ़ती क्या है।
वह प्रश्न जो का ली उद्बुद्धि वह बाधा है। इन प्रश्न का अन्वेषण है- 'समान्यप्रमाण'। गीता प्रमाण
कर्मवैशेष्यता का निरुद्ध कर्मों है और वह गीता ही गीता का अन्तर्गत है। वह प्रमाणवैशेष्य है कि कर्म कर्म
काय के लिये न न जानने से उक्त लभता के उक्त भी कर्म विरुद्ध बाधा है। उक्त से उक्त कर्मों की
न ही के विरुद्ध शास्त्रों से अशुभोक्त कर्म बाधा है। मगधान् न कर्मवैशेष्यता [कर्म करने के लिये-उक्त]

का ही प्रधानरूप में निरूपण किया है। यद्यपि कर्मोत्तिर्कृत्यता भी कर्म का एक ढंग ही है परन्तु कर्म पक्षिरूप इस ढंग का गीता में निरूपण नहीं है। मनुष्य का क्या कर्तव्य है? इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्तव्य-कर्मों का बोधना क्या है? गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और यह बोधना है एकमात्र वैराग्यलक्षण—‘बुद्धियोग’ जिसका कि निरूपण पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

४३—गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्राप्ति स्विकृता, तथा सार्धभौमता के अनुबन्ध से विचार-विमर्श—

हाँ तो ऊपर की पक्षिःश्रुती से हम यह समझें कि शास्त्रविहित कर्मों के साथ बुद्धियोगरूप बोधना का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही ‘गीताशास्त्र’ है। अथवा ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इन्हीं अपूर्वता से गीता ‘ईश्वरीयग्रन्थ’ नहीं माना जा सकता। सम्यक् है गीता की यह अपूर्वता वर्णाश्रमधर्म के अन्तर्गत पाटी एक भारतीय का उपकार करके। परन्तु जो भुक्ति-सुक्ति-शास्त्र से परिचित नहीं, श्रोत-स्मार्त कर्मों का विह्वल अधिकार नहीं वे तो ऐसी गीता से बलिष्ठ ही रह जाते हैं। गीता न मारतकर की है न द्विवाचिकर्ग की ही अपनी कोई प्रातिमिक निधि (बगैर) है। अपितु गीता तो उन भगवान् की है जो कि भगवान् स्वर-अथवा सत् के हृदयों में अन्तर्ध्यामीरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए स्वका अपने नियतिर्बद्ध से लब्धालन कर रहे हैं। भगवान् का अवतार केवल भारतीयों के अस्तुत्य के लिए ही नहीं हुआ है अपितु ‘अनुग्रहाय भूतानां मानुषी देहमाश्रित’ के अनुसार समूह विरम के अस्तुत्य के लिए ही भगवान् का प्राकृत्य है। उन सबमात्रक भगवान् का ज्ञान मीकमी किसी अज्ञेय देश आदि में सीमित नहीं रह सकता। अथवा ही भगवान् का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अस्तुत्य के लिए ही प्राप्त हुआ है। सभी वण सभी वादित्वा समानरूप से गीताज्ञान के अधिकारी हैं। वहाँ भुक्ति-सुक्ति शास्त्र— यस्मिन् दूरो युगः कृष्णस्तस्मिन् अस्मिन् निबो धत’ की अगला से यह होते हुए केवल भारतीय वर्णाश्रमालुगात्मिनी प्रका के ही उपकारक बन रहे हैं, वहाँ गीताशास्त्र विरक्तनुत्त का अपना मूल बनाता हुआ उत्तर की निधि है। विभिन्न धर्म विभिन्न मतवा स्मृतिगत स्थाय स्मृतिगतिक छीमात्र आदि आदि सभी मतवा अस्मिन् गीतायोग के समान हवनीय हैं। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतापदार्थ एक मनुष्यामी द्विवाचिक निबो का उपकार कर लब्ध है एक ईकां पारवी, सुल्लमान वही भी इत याग का अनुपान करता हुआ इतहृत्य बन सकता है। और अपने ही गुणविशय से गीता आत्र विरक्त्य ग्रन्थ बन रहा है।

४४ सनातनधर्मी विद्वानों का प्रथम आक्रोश तत्प्रबुद्धि विचारशीली एवं गीता से अनुप्रायिता विचार-द्वयी का परस्पर अस्वमाहिष्य—

सनातनधर्म के मूलिक रहस्य से अपरिचित अतएव नाममात्र के सनातनधर्मी विद्वानों के लक्षण यह गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता उनकी जानी है तो वे अस्मिन्-बातुत्त बन जाते हैं। व यह कथमपि स्वीकार नहीं करनेवाले कि गीताज्ञान का सर्वो समानाधिकार है। गीता की विरक्त्य ग्रन्थ मानने में वे सनातनधर्म की हानि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि ॥ विचार करने पर इनमें भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि यदि गीता का सर्वो समानाधिकार है दिया जायगा तो गीता एक शास्त्रविषय ग्रन्थ बन

शास्त्रा।। क्याकि भोजन-ग्राहक शान-कम्प-महि-योगों का व्यवहार एकमात्र भारतीय बर्तन-प्रकार को ही है। बर्तन-प्रकार का शान-कम्प-महि-योग शास्त्र-निष्ठ है। तब तो इनका भी व्यवहार नहीं किया जान सकता। बर्तन-प्रकार निश्चय है। हो फिर गीता-शास्त्र-प्रकार बर्तनों के लिए माले ही उपयुक्त हो कम से कम भारतीय प्रजा को ऐसे शास्त्र-निष्ठ व्यवहार को बड़ी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकेंगी। भारत-देशों में से एक ही भारतीय भाषा है। बाकी गीता का मूल-मन्त्र-मुक्त-गाम्भीर्य मानते हुए केवल भारतीय प्रजा के लिए ही निष्पन्न मानिये। व्यवहार-शास्त्र-मर्मज्ञों के बहिष्कृत मानिये। दोनों में से वांछनीय बात माननी भाव है, परिली में शास्त्र-मर्मज्ञों की रक्षा है परन्तु मर्मज्ञ की व्यवहार-शील शक्ति है। दूसरी में व्यवहार की तो रक्षा है परन्तु शास्त्र-मर्मज्ञों की रक्षा-शील है। बर्तन-प्रकार-मर्मज्ञ है। शास्त्र-प्रकार के अनिवार्य इस व्यवहार को और बर्तन-मुक्त-प्रकार है।।

४५—गीताशास्त्र की अप्रतिमा से दोनों तथ्यों का समन्वय, शास्त्र मित्रायोगत्रयी एवं साङ्ख्यगता मनुप्रवृत्ति तथा कम्पित आदर्शवाद का सम्मरस—

गण्य ही अर्थव्यवस्था में अपनी विशिष्ट भागी का सम्मन्धन कर रहता है। व्यवस्था ही मीमांसा-सुवि-
मूर्ति का व्यवस्था का अनुपाती बनता हुआ हम भारतीयों की ही एकमात्र मौखिक निधि है। हमें तो व्यव-
स्था ही समझ नहीं है। और "संस्कृति से गीत का योग्य सम्मान हमारे ही अधिकार की वस्तु है। व्यवस्था
की व्यवस्था पर प्रतिष्ठित शास्त्रनिष्ठ विवेक ज्ञान-बल-धर्म-धर्म का एकमात्र हमें ही अधिकार है।
को व्यक्ति योग्य की एक विधि की समझी अवस्था यह है। व्यवस्था ही के अन्तिम में है। परन्तु "नये व्यव-
स्था में एक उपाय योग्य की कल्पना किया है कि, जो व्यक्ति शास्त्रीय योग्य का अनुमान न कर विश्वामय का
अनुमान कर रहा है वह भी उस उपाय से अपना जीवन सफल बना सकता है। धार्मिकता योग्य की
व्यवस्था में वही मीमांसा का वर्णनमय व्यवस्था में वह हमें हुआ देखिये के लिए मौखिक है। वही उपाय-
व्यवस्था वह व्यवस्था की व्यवस्था है। कर्त्तव्य विनियोग योग्य की के लिए विनियोग ही अधिकारी माना जाय
है वही उस उपाय का अनुमान करने में कर्त्तव्यवस्था की योग्य व्यवस्था नहीं है। "मनुष्य" व्यवस्था ही उसकी
व्यवस्था का व्यवस्था है। वह व्यवस्था है, वह व्यवस्था योग्य किया जायगा। विश्व विनियोग व्यवस्था की व्यव-
स्था व्यवस्था की व्यवस्था व्यवस्था का व्यवस्था व्यवस्था है।

४६-यथायना न बन्धित आन्तरा की यातयामता—

बैसाख पक्ष में कहा गया है आठमास की शोभा स्वच्छतामय है चार स्वच्छतामय की प्रतिज्ञा लम्बित परिनिधि है। धर्म की दीर्घकला की प्राप्ति से कलान की सेवा करते हुए लम्बित परिनिधि का अनुमान करना ही लम्बित शालो का रहस्य है। जो व्यक्ति लम्बित परिनिधि की लक्ष्य उन्हा कर केवल आठमास का निष्ठान्ता के ही गुणान विधा करने हैं उनका यह किमुद कावर्ष लक्ष्य निर-पक्ष ही बन जाय है आठ लक्ष्यनिधि की ओर न जाय नही दमदा है।

४७-आवागमन-यथाय म शून्य आदय म अनुप्राणित मनातनप्रमियों का म्पात्र-
धम्मावरण एव तयाम्म धर्मव्याज स इमारा आन्यन्तिक वतन—

महानगरों में हम शहरी की एक बर्ग की इलाक़ें बन गये हैं। यहां हम क्रायल में रह कर हम
महानगरों में रहने की सवधान्य बन गये हैं। उदाहरण के लिए उन लोगों को जो की शहरी में रहने के लिए

करने में हम एड़ी से जोड़ी तक का पसीना बहा देते हैं। वर्णव्यवस्था सर्वोत्तम है यह भी ठीक। वर्णव्यवस्था का अनुगमन प्रत्येक दशा में अभ्युत्थक है यह भी प्रयुक्त। परन्तु जो वस्तु सिद्धान्त में सर्वोत्तम हो परन्तु सामयिक परिस्थिति जिस सिद्धान्त को पनपने में बाधा पहुँचा रही हो उस सिद्धान्त का गुणानुवाद ही हमारा हीत साधन नहीं कर सकता। जो सिद्धान्त वर्णव्यवस्था के उपदेशों से समासर्पों को कम्पित किया करते है क्या हम उन से यह पूछने की वृत्ता कर सकते हैं कि आज अपने आपकी सनातनधर्मी करने का अभिमान करने वाले कितने उपदेशक ऐसे हैं जो शास्त्रसिद्ध वर्णव्यवस्था के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं? हमने तो प्रत्यक्ष में देखा है कि, बड़े-बड़े संस्कृत विद्वानों की महामहोपदेशकों की कृतवर्त्ता भी उन्हीं की इच्छा से आज वर्णव्यवस्थाविरोधिनी पश्चिमी शिक्षा का अनुगमन कर रही हैं। आज यौन वर्ण अपने धर्म पर प्रतिष्ठित है!। परिस्थितिवश कहिए, आजवा और किसी कारणवश से कष्टित करना धर्म उत्पन्न ही बन रहा है। ब्राह्मणवर्ग शुद्धस्मृक बनता हुआ भी अभिमान कर रहा है। जयिधवर्ग तो सर्वथा ही अस्तमाय है। वैश्यमहामाग भी धर्म की छाट में स्वार्थसाधन ही कर रहे हैं। शूद्र धर्मव्यतिरिक्त बन रहे हैं। कर्म विरहित विशुद्ध आत्मिमम ने भी क्या कमी वर्णधर्म की रखा की है?। व्यवहार हमारा सर्वथा पतित और आदर्श 'तना उगात। फिर कहिए तो सही इस आदर्श का हम क्या करें?। और ऐसे आदर्शवादीयों के उपदेश से बनता क्या काम उठाने?। स्मरण रखिए, आप कुछ समय के लिए अपनी बाखी को अक्षय ही बोका दे सकते हैं परन्तु आत्मा को एवं आत्ममुक्त धर्म को बोका नहीं दिया जासकता। बोके में पका हुआ यह धर्म ही अभिम बन कर कमी हमें ही बोका दे जायगा— न व्याजेन धर्ममाचरेत्'।

४८-प्रबलित भक्तिकावट की महती-विमीयिकाएँ, एवं तद्द्वारा आचारधर्म का अभिमत—

इसीप्रकार प्रबलित उपासनावाज को लीकिए। शास्त्रप्रकृति के द्वारा वेदमन्त्रा से प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ सर्वथा पवित्र हैं एवं इनके दर्शन का एकमात्र अधिकार द्विजातिवर्ग को ही है। इस उक्तसिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाने जासकती। अक्षय ही शास्त्रमन्त्रा की रक्षा के लिए अर्यव-प्रवेश की रोकना चाहिए। परन्तु इस प्रवेश-निरोध का प्रचार करते समय हमारे सनातनधर्मी उपदेशक यह मूल जाते हैं कि 'जिन प्रतिमाओं की प्राक्प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हम मगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं वह प्राक्प्रतिष्ठा हमारे देश से पहिले से ही प्लासित होचुकी है। दुरा न मानिए, बिके से धर्म लीकिए। इदय पर हाथ धर कर अन्तर्धर्मी से पूर्वक्षिपि कि क्या वे मन्दिर जो आज स्वामी मन्त्र-महन्ती की अभिषाखीला के पतक क्षेत्र बने हुए हैं वही द्विधममन्त्रा से युक्त रह सकते हैं?। जिन मन्दिर-मठा की लाविक आज का उपायोग मन्त्र मठाधीशों की किताखीला में पत्नी की माँति रहता रहता है शास्त्रतत्त्वानभिक्त जिन पुषागिरी के मन्त्रिन् अन्तःपरवर्गों से पवित्र मयवर्ग-प्रतिमाएँ अहीनाय नमिक्त रहती हैं वहाँ का कोना कोना दुग्ध बातावरण की प्रतिमा बना हुआ है उनकी रक्षा के लिए गला काटना क्या उरुता ही लगेगा?। क्या हम स्वार्थलीला की सुरक्षित करने का नाम हैं मन्दिर, एवं प्रतिमाओं की पवित्रता की रक्षा है?।

४९-आचारहीन-गुरुपममात्र आ स्त्रीवर्ग के प्रति दम्भपूर्ण आक्रोश और आक्रोश-मुत्ता पतनपरम्पराएँ—

और आगे बड़िए। स्त्री का यह परम धर्म है कि, वह कमी परपुत्र का चिन्तन न करे। न केवल इस बन्ध में ही, अपितु परबन्ध में भी वह उन्नी पति का अनुगमन करे। मन्त्रमुक्त सिद्धान्त बड़ा ही पवित्र

एवं प्रत्येक दशा से व्यावर्णीय है। और नारी को इसी का अनुगमन करना भी चाहिए। परन्तु इन पानिप्रव बर्गों का उत्प्रेषण करते हुए हम यह भूल बात हैं कि आब भारतीय पुरुषव्यास न अपना अस्मित्व बर्हिषत्पुरुषेण गन् रक्ता है ?। अगममात्र भीता सावित्री अनुमृदा दमस्मयी नर्मणा आनि महामतिवो के बरिषी को जाने कर बर्हि इस स्त्रीव्यास पर अपना प्रभाव डालना चाहते हैं बर्हि माय खच ही हमें भी ममवान् गन् सववान्, अति दुष्प्रसन्न आनि एकपत्नीकृतियों के आशय का अनुगमन करना चाहिए। हमारा बरिष काय से इसि पम्पस दृष्टि रह और फिर हम अपने उगी कलङ्कित मुख से उन आदर्शवाद के बर्णित स्वन देना करें वह विवमना नहीं, तो और क्या है ?। विवर्धनमात्र है। आब हम सनातनधर्मियों के स्त्रीय आदर्श ही आदर्श रह गया है। उक्त उचरौग होनकता है तो बर्हि कि—अम्ना कलङ्कित मुख उस आदर्श (दर्श) में देख बेल का पञ्चाव्यप किया करें। पर पर पर शास्त्रीय बचनी को, अतीत दुम के आदर्श बरिषी को लामने गन्ने से न आबनक किमी का सम्बुदय हुआ है एवं न मविष्य में ऐसे बम्भव्यास से सम्बुदय की कीय आया ही ग्वनी पाहिए। ही पठन अवश्य होना है और डमहा है किन्कि कि कल्ल सनातन धर्मी बगल् को मोलन पड़ रहे हैं। आब प्रसन्न में उनके शास्त्री पर, शास्त्रीय धर्मों पर, आबा ? पर गम्प्य पद, देवमन्दिरों पर अलबनी की ओर से मीरव व्यथमल हीरह हैं और वे आक्रमण लडल मी होत बाधे है। हम पाप का मागी जान ? हम एकमात्र सनातनधर्मी—बगल्, उसकी मोह निद्रा उक्त बोग आदर्शवाद और आदर्शवाद के उतर में पनये बग्ला मिष्यचार।

५०-आचारधर्म एवं युगधर्म का परापर प्रचण्ड संघर्ष तथा धार्मिक-प्रजा की किङ्कणम्यविमूढता—

मान लीबिए—हम आदर्शवाद को तुरन्त स्मना चाहते हैं, शास्त्रानुसूल धर्मों में ही प्रचल रहना चाहते हैं। परन्तु उन शास्त्री के कथनानुसार ही बगमानुम में आदर्श को, शास्त्रनधर्मा को बकाव् दुष्प्र-बन्धित रखने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा। बम्भशास्त्र करते हैं कि बिनके राम में अवम्म होता है, बाम्भ दुष्प्र पठे ही ————— की दिश हीरी ही, उत देव की छोड़ देना चाहिए। बलिय, बर्हि बडा बाम्भ !। इन्पि उत देव की, बर्हि उक्त विमोरीबाधे न ही। क्या हूँड लईने ?। अवम्म !। बर्हि तो युगधर्म है। कृत और बर्हि में वही तो अन्तर है। धर्मशास्त्री में ऐसे बम्भक्य विवमोतमनिकम मने पड़े हैं बिनका युगधर्म की कृपा से अधिकांश में (बन्धन न रखत हुए मी) आब हम पालन नहीं कर लवते। और बच मान मारलव की तो बर्हि करना ही धर्म है बर्हि की प्रजा स्वन ही शास्त्री को कुबलने के लिए लकड़ लड़ी है। इनीलिए तो एक रात्रिकानने अपने श्रीमुख से—“बर्हि बग्लण चाहेंगे तो ब बग्लन बन सकेंगे” इन बातों से शब्दबल की आस्वात्नीकृत कर दिवा बा।

५१-अधममस्वानुगत धार्मिक-सकट, और धम्मचक्र की परबशता—

उक्त धार्मिक सकट में पड़कर सेवाधर्मी स्त्रीकर कर लेता है। बर्हिगय परित्रम करने पर बर्हि वह अपना उदरपोषण करने में समर्थ होता है। प्राकनकरावका उत की शास्त्र बर मी दूर्व मिष्टा है। परन्तु परिमितिबरा उते समर्थ नहीं मिलता। कल्लाए, वह क्या करे ?। बिल उपाय में वह इत धर्मसकट से बचे ?। और हमारा निरवात है कि आब हवारी धार्मिक एकमात्र धर्मधर्मा की बलिहारा से ही अपनी

भद्रा को कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकते। क्या शास्त्री में इन परवशों के सम्मुख का कार्य भी माग नहीं है ?।

५२-अर्थवलोमनानुगत हमारी स्वतन्त्रपरम्पराएँ, एवं तदुपस्थाप्य अमत्य-दम्भ-क्षल्य आदि आसुरधर्मों का अनुगमन—

श्रीर कामो बन्धन। पितने एक व्यक्ति ऐसे भी है जो किसी प्रकार परिस्थितियों का सामना करते हुए अज्ञान राक्षसीय धर्मों के लिए समस्त निकालते हैं। यथारहित करते भी हैं। परन्तु सब तापनों की अनुकूलता के अभाव से साथ ही स्वयं राक्षसत्व की कमी से वह धर्म बिल बिबि से होना चाहिए, नहीं होता। उदाहरण के लिए एक बकील को लीबिण, ऐसे प्लीडर को लीबिण, जो आदि से आस-७ है मातापिता बिलके परम कृतज्ञधर्मों हैं। आर्थिक परिस्थिति के कारण बिल परिचयी-शिष्टा का अनुगामी बन जाना पड़ा है। परन्तु स्वभावकारणवश आशा कि धर्मों में उच्छा पूर्ण निरवाम है। आस का समय है अथवा १० बजे उसे नियम से को में पहुँच ही जाना चाहिए। पलतः उसे १ बजे से पहिले पहिले ही आसधर्म का आस करनेना पड़ता है। इस शास्त्रविद्वत् आसधर्म से होने वाले प्रत्यक्ष से वह विषय व्यक्ति कैसे बचे ?। वह जानता है कि मिथ्या बोलना पाप है। परन्तु उसे यह भी प्यार है कि, बिना इन ब्रह्मास्त्रप्रयोग के वह लक्ष्य प्लीडर नहीं बन सकता। कतगाहए, इसके उद्धार का क्या उपाय ?।

५३-कलियुगानुगत मङ्गली-विभीषिकाएँ, एवं उत्परित्रासोपायभूत अन्यतम- भक्तियोग—

निर्धनमानव है। त्रिगुणमात्रात्मिक प्रकृति के गर्भ में रहने वाले सर्वथा आभ्यस्तिक मनुष्य के जीवन में पद पद पर ऐसे धर्मोन्मत्त उपरिष्ठ होते रहते हैं। कमी कमी दो वे लड़क जीवनका का भी विन्देह कर आस दते हैं। इन नियम परिस्थितियों में बढ़ने से हमारा रहा तदा विवेकज्ञान भी लुप्त होजाता है हम किङ्कर्णधर्म बन आते हैं। हम ऐसी परिस्थितियों में या तो यह निर्णय कर आसत हैं कि-छोड़ो इन सब भ्रमों को। अथवा यह निश्चय कर लेते हैं कि, जैसे जैसे भिन्नान करके ही आसपास करतेंगे। बीन इन मातारिक वैमर्षों के पीछे होते हैं। इसप्रकार हमें स्वतन्त्र कलियुगधर्मोन्मत्त अनुगमन का उत्तराधिकार मिल जाता है। अब यदि हमारे अमुकधर्म का कोई धर्म बच जाता है तो वह है एकमात्र श्रीकृष्ण का उत्तराधिकारी “गीताशास्त्र”। कर्मभावकालाव संग्रह से हमें अथर्व ही आसपास मिलेगा। मगवान हमें परिस्थिति से होने वाले पाठको से बचावेंगे। उसके लिए वे प्रदीप करी उठी उताव का जो कि शास्त्रधर्मों की शास्त्र-निष्ठा को पूर्णरूप से उपरिष्ठ रखता हुआ आस मातों आस्यों का जो अमुकधर्म लपन केगा। श्रीर बही उभाव होम-इत ‘पूवम्पद का मुख्य प्रतिपाद्य “भक्तियोग”।

५४-शास्त्रनिष्ठ आस्ययोगी, शास्त्रानुगत आसकल मानवधेष्ट और सामारिक-अम्य दानि सामान्य मानव—

शास्त्रनिष्ठ धर्मों का यथार्थ अनुगमन करने वाले कृतज्ञान निर्धन भिन्नयोगी सर्वथा परिणित है। शूलहृदि से तो ऐसे भिन्नयोगी सर्वथा ही परे हैं। युगधर्म के परिहाता व मध्य योगी आस के मन्त्र के लामन नहीं आने। आते हैं तो क्या ? जबकि सर्वनाश का समय उपरिष्ठ होता है। कलत इनके लक्ष्य में तो कुछ भी

पूर्ण आदेश। केवल आचरण पर गति-पथित समाज को आपना अनुवाची बनाने हुए, नही निकरने पुष्पापराधन्य संघटन को 'सङ्गच्छन्म' से अनुगत पवित्र संघटन शब्द से, कलाकृत करते हुए, हिन्दुत्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्व के विनाश पर वृत्ते हुए, भारतीय सम्यता से विरोध करने वाले न्यायालयी के साथ समझौता करते हुए, भारतीय असाध्य सर्वथा अक्षय आग्रह को उभसि का मूल मन्त्र मानते हुए ने ही आज प्रवर्तक से भारतीय आदर्श-एवं अपने अपने-सम्बन्धकारणों को भी निम्नूल बनाने में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५२-विभिन्न वर्गों के विभिन्न निमण्ड—

एक कहते हैं करो कुछ मत, केवल हमारा शास्त्र हमारा शास्त्र हमारा स्नातनधर्म हमारा स्नातनधर्म पुकारते रहे। वृत्ते कहते हैं सब कुछ करो, कोई निम्नत्व नहीं धर्म का नाम सिद्धान्त सिद्धी। सम्भव ही तो शास्त्रों को समुद्रगर्भ में विलीन करना। हम हिन्दू हैं हिन्दुस्तान हमारा है स्वतन्त्रता हमारा अन्तर्निष्ठ अधिकार है—इस वाक्य का पाराकाश करते हुए आज वृत्त चले। विरोधियों को धाम राम-दरद-मेद से बेस बने कुचलते बाधो।

६०-परस्परतन्त्रप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म', तथा 'सुधार' के प्रति आचारशून्या धम्मप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्व के ठेकेदार। स्वयंसेवक यह ठेकेदारी बड़ी सम्पन्न बन्तु हैं। बहुत हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी तबतक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु अब से ठेकेदारी बड़ी है अब से प्रत्येक बन्तु का मुख्य तो बड़ा गया परन्तु बन्तु का स्वरूप नष्ट होमा। मज्जा लोक प्रवर्तित इस ठेकेदारी से धम्म और हिन्दुत्व कैम क्या रह जाता है। इन दोनों ठेकेदारों ने धर्म-ओर हिन्दुत्व का मूल तो अक्षय बड़ा दिया। प्रत्यक्षां प्रवर्तित धर्मकथकाः—के अनुसार आज आपको सर्वत्र स्नातनधर्मसमा आर्यसमाजमन्दिर व्याख्यानवाक्यवृत्ति, महाभारत-उपदेशक, प्रतिनिधिसभा शाखा तथा उपशालासमा आदि का प्राचुर्य मिलेगा। अस्मत्स्य मन्दिर, राजराज मठ आदि के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। प्रत्येक श्रीमान् अपने बीकन में एक दो मन्दिर, धर्मशास्त्रा काकर आश्रय पुण्य छात्र ही मिलेगा। परन्तु 'सम्भवापि सम्भवाप्यते'। केन कोने में धर्म की पुर्ण श्रम पर भी आज कोई नौक समय पर धर्म केवल आचरणक धर्म भी तो नहीं करता। इसीप्रकार हिन्दुत्व की सुधरा का नग्न चित्र हमारे सामने है। सर्वत्र हिन्दुत्व का आचरण व्याप्त है। नही नहीं आज तो बाइबल-बुकिंग-वेरय शूद्रादि नामों का स्थान भी तो इन्हीं हिन्दुत्व के लीन लिखा है। इसप्रकार विज्ञान-विज्ञान के अनुसार आदि और अन्य, ऐसी एक ही दृष्टि पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। 'य एवादि स एवादि'।

६१-‘ततो मूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः—

कहने एक, अधिनिवेश समान परन्तु धर्म में बड़ा अक्षय। ऐसा नहीं है, उक्त उसी योगशास्त्र में दृष्टि। धर्मातिवाची (किन्तु बाइबल की समीप प्रतिमा) महाभारत केवल आचरणक में पञ्चर दोन-मावानुवाची लाकरीय से भी हाथ पीरैते। न श्वर के रो, न उचर के। 'ततो मूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः'।

विचार करना अनविकार्य ही होगी। कुछ महापुरुष ऐसे हैं जो तर्क में रहते हुए कमनिबन्धों के तर्कों से इन्टिपर्सन करते हुए, विविक्तवैद्यों की करते हुए शास्त्रविद्वद् कर्म-ज्ञान-मन्त्रिणी में से किसी को का अनुष्ठान कर रहे हैं। महापुरुष अन्तर्गत मन्त्रियों की दृष्टि में अवश्य ही वे परिगणित मन्त्रिणी राज्य के सम्पन्न अनुष्ठान करने वाले हैं। कला गीता के शब्दों में इन आदर्श (सम्पन्न) योगियों की धर्मा करने का भी हमें अधिकार नहीं है।

५४-धर्मग्रन्थ का सम्प्रसारक-भारतीय मानववर्ग, एवं उसकी विविध उपाधियाँ—

अब हमारे सामने चार प्रकार का मानव समाज उपस्थित होता है। एक समाज तो ऐसा है जो शास्त्रों का पूरा भक्त है शास्त्रधर्म का भी परिगणित है परन्तु कभी मर के लिए वह शास्त्रविद्वद् योगानुष्ठान का भी अभिमान करता है। साधारण जनता "हो" आदर की दृष्टि से भी देखती है मयाशक्त इनके उपदेश अवश्य का भी कर उठाती है। समाजधर्म के आचार्य कृत महत्त्व, महापुरुषवैद्य उपदेशक पुरुषविद्वान् इन सबको हम एक स्वतन्त्र क्षेत्र में प्रतिष्ठित मानते हैं। धर्मग्रन्थ का समाजिक आदर भी उद्भव है। परिणाम क्या होता है, वह आदर्श ही प्रकट है।

५५-नव्य भद्राशील, किन्तु शास्त्रकम्मानभिष्ट मानववर्ग—

कुछ एक महापुरुष ऐसे हैं जो न तो संस्कृतभाषा का ज्ञान रखते न परिचितविद्वद् दृष्टि रखते हुए भी अपनी विद्वान्ता ही शान्त करके। परन्तु शास्त्रों पर भ्रमा भिन्नात रखते हुए जैसे जैसे अस्तमन्त्र रूप से शास्त्रविद्वद् योगानुष्ठान का अनुष्ठान करते रहते हैं।

५६-शास्त्र से तन्मय प्राकृत मानवों का प्रदर्शनात्मक-कृतपूर्ण शास्त्र शास्त्रोद्भोप—

कुछ एक महापुरुष ऐसे हैं जो शास्त्र बाल ज्ञानते जानते कुछ नहीं। न शास्त्री बालों, एवं तन्मय योगी योगी में इनकी मन्त्रि-वर्ति ही। अन्तर्गत में यह सब कुछ इनके लिए ठीक होता है। परन्तु अपने प्रमुखमन्त्रिणी की प्रवृत्ति करने के लिए, अथवा शास्त्रविद्वद् अन्तर्गतों को आभोग में जल कर उनसे स्वाध्याय करने के लिए वे लगन प्रकट में शास्त्रमन्त्रिणी का प्रचरक प्रदर्शन करते रहते हैं। यह ही कृतमन्त्रिणी में अन्तर्गत शास्त्र को अन्तर्गत कर चुट्टी पलाते हैं। यही मन्त्रिणी, उन अन्तर्गतों की निन्दा भी किया करते हैं कि "देवता, वे ईश्वर आदि ईश्वर नहीं कर अनर्थ कर रहे हैं। और हम ही हम इस अनर्थ से बच हुए हैं।" अन्तःशास्त्र विद्वद् ही।

५७-शास्त्रोद्भो परिचयनवादी उच्छ्रितमानववर्ग, और उसका अनगल प्रकाश—

अब एक समाज वर्ग हमारे सामने आता है जिसका अन्तः, और वह योगी ही समाज प्राय में प्रकाशित है। इनकी अन्तः भी शास्त्रधर्म ही ही है। अन्तः से भी वह विद्यति ही है। परन्तु परिचयनमन्त्रिणी में महानुभाव बुद्धधर्मानुसार का तो शास्त्रों का परिचयन चाहते हैं अथवा फिर शास्त्र का नामधेय भी नहीं रखना चाहते। इनकी दृष्टि में नारा का एकमात्र कारण है-भारतीय शास्त्र उनके प्रदर्शक मन्त्रिणी के आदर्श।

पूर्ण आदेश। केवल अयत्न पर गति-पथिता समाज को अपना अनुयायी बनाते हुए, इसी निष्कामे पुनर्जागरण तपटन को 'साम्प्रदायिक' से अनुगत पवित्र तपटन शब्द से कथकित करते हुए, हिन्दुत्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्व के विनाश पर लगे हुए, भारतीय सभ्यता से विरोध करने वाले न्यायालयों के साथ समझौता करते हुए, भारतीय समाज के अन्तर्गत समाज के उत्पत्ति का मूल मात्र मानते हुए ये ही आकाश प्रवक्तृव्य से भारतीय आदर्श-एवं बने युव-समूह-आचार्य को भी निम्न बनाते में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५२-विभिन्न वर्गों के विभिन्न विचार—

एक कहते हैं क्या कुछ मत केवल हमारा शास्त्र हमारा शास्त्र हमारा अनात्मधर्म हमारा अनात्मधर्म पुकारते रहो। दूसरे कहते हैं सब कुछ करो, कोई निष्कर्ष नहीं, धर्म का नाम सिमाना सिमाना। सम्भव ही तो शास्त्रों को समुपगम्य में लीन करो। 'हम हिन्दू हैं हिन्दुस्तान हमारा है स्वतन्त्रता हमारा कर्मविश्व अधिकार है'—इस वाक्य का पाराकाश करते हुए आगे बढ़ते चलो। विरोधियों को काम दाम-दण्ड-मेव से जैसे बने कुचलते जाओ।

६०-परस्परान्तर्गतप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभागा, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म', तथा 'सुधार' के प्रति आधारशून्या दम्भप्रवक्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्व के ठेकेदार। एकमुख यह ठेकेदारी बड़ी मजदूर बन्य है। बसक हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी। सबक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु अब से ठेकेदारी चली है। अब से प्रत्येक कर्म का मूल्य तो बढ़ गया परन्तु वस्तु का स्वरूप नष्ट हो गया। महा लोक प्रवर्तित इस ठेकेदारी से धर्म और हिन्दुत्व के क्या रह जाता है। इन दोनों ठेकेदारों में धर्म-आर हिन्दुत्व का मूल्य तो अवरुद्ध बढ़ा दिया। प्रत्येक प्रवर्तित धर्मकथकः—के अनुसर आकाश आकाश सर्वत्र अनात्मधर्मतमा आचार्यसमाजमन्त्रि, व्याख्यानवाक्यमिति, महामहा-उपदेशक प्रतिनिधिमया शास्त्रा नमा उपशास्त्रातमा आदि का प्रत्युत्पन्न मिलेगा। धर्मकथ प्रवर्तित सहस्रशः पर आदि के अर्थन कर्म का मोभाव प्राप्त होगा। प्रत्येक धर्मात्म करने धीमेन में एक ही मन्त्रि, धर्मशास्त्रा अनात्म आचार्य पुनः लक्ष्य ही मिलेगा। परन्तु 'मन्त्र्यापि धर्म्यायत' बने काल में धर्म की दुर्भाव करने पर भी आकाश कोई गीत कर्म वर कथ्य केवल आचार्यक धर्म भी ही नहीं करता। इन्हींप्रकार हिन्दुत्व की सुधा का नान विर हिमारे नामने है। सर्वत्र हिन्दुत्व का आत्मनाद व्याप्त है। यही कभी आकाश ता आकाश-आचार्य-वैश्य शूद्रादि नामी का स्थान भी तो हमी हिन्दुत्वमें लीन लिया है। इन्हींप्रकार विज्ञान विद्वान्त के अनु-का आदि और अन्त दोनों एक ही दुर्हिन्दु पर प्रतिष्ठित होकर हैं। 'य एवादि म एवादि'।

६१-ततो भूय इव त तमो य उ विद्यायां रता—

तद्वत् तद, अतिनिवेश लभान परन्तु बल में बढ़ा अन्तर। एता कथी? उक्त उभी वीममाया न वृत्ति। धर्मानुयायी (हिन्दु आचार्य की लक्ष्य प्रविष्टा) महामुपाय केवल 'आचार्य' में पढ़कर योग माशानुष्ठी लाकरैव से भी हाथ धारें। न इधर के रह, न उधर के। 'ततो भूय इव त तमो य उ विद्यायां रताः'।

६२-निमिष मगों की पारस्परिक-अहमहमिका, आर तद्द्वारा राष्ट्रमम का अमिमम—

उपर बीमबाव के ही अनन्य भक्त हिन्दुत्वानुपायी महात्माव परमार्थरूप से अन्तः पर का अनुष्मन करत हुए भी लोकवैमर्षमह में काशी मार होगए। कुछ महवीम कालपुष्प का मिला कुछ नैतिक व्यथोग कुछ पातुष्प और नभने वहा महवोग लोकवैमर्ष की अभिज्ञात्री होगमावा का। फिर क्या का। उई वहाँ पेठ मर भी अमन मिला वहाँ इहँमि अधिक लाते लाते काचित्ता करना आरम्भ कर िया। एक वर्ग अधिक कृत्य होन से आचारधर्म में अममर्ष है तो दूसरा वर्ग अधिक स्थूल होने में अममर्ष बना रहता हुआ—‘अशुभ कृत्या मद्यमि को बरितार्थ कर रहा है। इन दो ठेकेदारों के बीच में व दो बग-एक बहालु नुमरे अन्तम्याता बहिः शेषाः। आमे आपर दोनों में कौन किन ठेकेदार का अनुपायी बन गया? यह भी स्पष्ट कर लीगिए। ‘ममानशीमस्वमनपु मेत्री’ प्रसिद्ध है। बहालुका का मुलाव बम्माभिमिनिहों की आर होना आकरक्यता का। नाम के बहालुका, किन्तु पोर अमहालुका मुलाव हिन्दुत्व के पक्षपाती के लय हुआ। हाँ कुछ एक बहालु ऐसे भी रहे, जो अममहर्षाईत बन कर उपर न रहकर इकर ही रहे। परन्तु उनका आत्मा उपर ही रहा। इत्यपर अमम मारतीय मानवर्ष ६ मगों में विमक्त माना आरक्य है। इतर देशानुपायियों में से अधिक देश तो उन राष्ट्रपातियों के अनुगायी रहे और कुछ आत्ममिमानी बम्माभिमिनिहों के पक्षपाती रहे। इन किन्ही विशेष प्रयाजन को लक्ष्य में रखकर ही उक्त वर्गीकरण की लय होकर पाण्डों के अमम उपस्थित हुए हैं। अतः हम अनुरोध करीं कि, उक्त ६ की विमार्गों की प्यान में रखते हुए ही पाण्ड आमे के प्रकरण पर दृष्टि डालें—

१-(१) १-किङ्गवेमिनः—आकटाः—जीव-मुक्ताः

२-(२) २-अम्भवेमिनः—आवरक्य—मुक्त्वागामिन

३-(१) १-बम्माभिमिनिह—बर्म्मशुल्का—विशुद्धकिङ्गमवाधिनः (आरममका—अनममका वा)

४-(२) २-अमहालकः—कम्पाणि—अन्तम्यस्वरूपेण महुता बार्मिका—अमपवाधिनः उमवनिह

५-(१) १-अमहालकः—अमहालकः—बर्म्मशुल्का—उमववाधिनः—मिहाविमुताः

६-(२) २-हिन्दुत्वभिमिनिह—बर्म्मशुल्का—राष्ट्रवाधिनः—(राष्ट्रममका—बर्म्ममका वा)

६३-बम्ममीक युधिष्ठिर की मयावहा बम्ममीरुता मगवान् के द्वारा तद्मर्त्सन, एवं अमिमिनिह पाण्डवों का उद्बोधन—

गीता की आकरक्यता कवी कुछ १, एवं गीता ने वह कौनका उपाय लयाया किन्ते उक्त पाण्डवों का अममुत्र अमम है १, इसके लिए महाभारतकालीन मानवसमाज पर दृष्टि डालिए, समाधान हो-

बापसा । उस युग के अन्त्येष्ट से पाठक इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि, उस युग में मानवसमाज की प्रायः बड़ी अकस्मा थी जिस अकस्मा का कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है । सिद्धयोगियों की भी उस युग में कमी न थी । पराशर-स्मृत-परशुराम-आदि सब इसी कोटि में माने जा सकते हैं । और तबसे बड़े योगी साङ्ख्य योगेश्वर भगवान् कृष्ण भी उस युग का महान् बड़ा रहे थे । विष्णु-उद्भव-बलराम-आदि स्वयं-योगियों की भी उस युग में कमी न थी । अब शेष बारी दलों का विचार कीजिए । धर्माभिनिविष्ट पाण्डु-युग पैत्रिक-सम्पत्ति से कहीं अधिक रहे हैं, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-धर्माभिनिवेश । इन्होंने स्वयम्भ का वास्तविक धर्म न समझे हुए—‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ इस नीति का तिर-स्कार किया । बुद्धिद्विज जानते थे कि, औरत शूद्र के बहाने मेरा सर्वस्व अपहरण करना चाहते हैं । फिर भी अपनी धर्माभिनिष्टा से औरतों के निमग्न हो स्वीकार कर ही लिया । और फिर प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो न करना चाहिये था साधुवर्ग की उपासना कर वह सब कुछ कर डाला । स्वयं भगवान् कृष्णने बुद्धिद्विज के इस कर्म की वैसी भर्त्सना की है वह भी ऐच्छिक-व्यवस्थाधी से किया नहीं है । हमें मानना पड़ेगा कि बुद्धिद्विज में धर्म का पूर्ण अभिनिवेश था । वे संसारबाधा से अत्यन्त विरक्त थे । इसी दीप्त से उन्हें कष्ट सहने पड़े । यदि भगवान् कृष्ण मत्सर्य बन कर रहें न समाज से वे तो पाण्डवों को बाधभीजन ही कह सकते पड़ते ।

६४ धर्माभिनिविष्ट बुद्धिद्विज एवं राक्षसलिप्सात्मक-दुर्योधन, दोनों वर्गों का उत्पद्य गमन—एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् का महान् उद्बोधनपत्र—

इसका बर्ण औरतों का था । इसके अभिनायक दुर्योधन की मनाहति के मन्त्रीकरण की बात बाध-रूपका नहीं है । राक्षसलिप्सा ही इसका परमधर्म था । अपनी इस लालचिप्सा के लिए दुर्योधन नीच से नीच कर्म करने में भी लम्बा का अनुमन नहीं करता था । धर्माभिनिविष्ट पाण्डुपुत्री पर इस दुर्बुद्धि ने कैसे कैसे आत्माचार किया, यह सर्वविदित है । इन दोनों अत्यन्त के वर्गों के अन्तर्गत दोनों मत्सर्य बग हमारे सामने आते हैं । मीमा दीप्त कृपादि धर्माव्यवस्था के पूर्ण भद्रास्त थे । परन्तु असमर्थ से इनका शरीर दुर्योधन के ही लब्ध था । अन्तरात्मा से वे दुर्योधन की पापवृत्ति के घोर विरोधी थे । परन्तु परिस्थिति ने इस विरोध कर रक्का था । शकुनि-नर्य-नुशासनादि हत्य के बड़े कुटिल थे । वे प्र बलकम से दुर्योधन की पापनीति का समर्थन कर रहे थे । तत्पक्ष स्वदेशी मित्रों शत्रुओं में से अधिक प्राण दुर्योधन की ही ओर था एवं स्वयंभग पाण्डवों की ओर था । कारण स्पष्ट है । पापवृत्ति के लक्षण संसार में अधिक लुप्त हैं । औरत-पाण्डव-धर्म न था अतः धर्माभिनिविष्टों, एवं लालचिप्सा के लक्षण का । दोनों वर्गों युद्ध के लिए लज्ज थे परन्तु इसी धर्माभिनिवेश ने तबला लब्ध काम भीष्ट कर दिया । अर्जुन में काश्यप दीप्त का आधिपत्य होगा । स्वधर्म का रहस्य विज्ञान होगा । वह इसी ‘मिथये धमुपस्थिते भगवान् का वह उपाय अर्जुन के सामने आया । और उन उपाय का परिणाम यह निकला कि, अर्जुन में अर्जुन के पुत्र ने—‘करिष्ये अर्जुनं तत्र वे अक्षर निकल पड़े । धर्माभिनिविष्टों का अभिनिवेश इत्यथा गया और उनके सामने एक लक्ष्मण-विज्ञान रक्का गया जिसके कि सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि-विरोध में शान्ति बनाए रखने के लिए गीता का वह एक विज्ञान ही पर्याप्त है । और उस विज्ञान का स्वरूप है—

‘य यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’

६५—यि यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम् का समन्वय 'धर्म' और नीति का समतुल्यन तथा भारतीय राजनीति की धर्ममापवता—

“तुम्हारे साथ जो ऐसा वक्तो करे तुम भी उसका साथ देना ही धर्मप्रकार करो इसी नीति के गम में ही विश्वशांति का बीज प्रोत्पन्न है। जब जब भी समाज किंवा राष्ट्र ने इस नीति की उल्लंघना की है तो उस ही उल्लंघना के कारण ही सामान्य करना पड़ा है। पाठक जानते हैं। हमें कि गीतार्थ की अपनी संज्ञा के कारण करते हुए विश्व की शांतिविधियों में भारतवर्ष की धर्ममहिमा से क्या कर लिया जा है, जिसका कि प्रतिष्ठा आशय भारतीय प्रथा को प्रोत्साहित करता है। इसी धर्ममहिमा ने आज भी हमें अपने वक्तव्य से बलिष्ठ कर रखा है। हम विश्वासपूर्वक मं पड़कर जिस के साथ समाज नीति को धूल कर अपना सन्देश कर बैठते हैं। विमुक्त धर्मनीति लोकवैयर्थ्य की शुरु है बल्कि कि उनके साथ राजनीति का समन्वय न करा दिया जाय। ही राजनीति के समन्वय में हम प्रत्येक वक्ता में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि इस राजनीति का लोक-धर्मप्रकार से ही सम्बन्ध है। कि वे स्थितिस्थिति धर्मका दशविशेष के स्वार्थों की रक्षा करने वाली राजनीति कुटिल नीति ही मानी गई है। विमुक्त लोकवैयर्थ्य मते ही इसका समर्थन करें परन्तु धर्मालोचन से निरपेक्ष महत्त्व नहीं देते। अतः नन्दबोध की उल्लंघना कर यदि अन्तर्गत की स्वाधिकार शिला बिना गना तो इससे क्या हुआ। “राजनीति” जिसे अन्तर्गत भाषा में हम “आधुनी” भी कह सकते हैं। लोकवैयर्थ्यविनी ही हीनी आदि। और वह तभी सम्भव है जबकि राजनीति के मूल में धर्म प्रतिक्रिया किया जाय। “उत्तर वैश्व की राजनीति” दश भारतीय राजनीति में वही लक्ष्य वक्ता अन्तर है। उत्तरवैश्व में राजनीति का ही स्थापन करण है किन्तु भारतवर्ष में धर्मप्रकार ही राजनीति का लक्ष्य बन गया है।

६६—धर्मसमन्वित राजनीति का ही धर्मप्रकार-निर्भर्य करण, एवं धर्ममापवता पाठकों की धर्मभावना के साथ मगधान के द्वारा नीति का समन्वय—

निवारण से वह भी निश्चित है कि धर्मनीति का विमुक्त लोकवैयर्थ्य से सम्बन्ध है एवं राजनीति का विमुक्त लोकवैयर्थ्य (धर्मनिष्ठा) से सम्बन्ध है। विमुक्त धर्मनीतिमूला जननिष्ठा हमें लोकवैयर्थ्य से बलिष्ठ कर देती है एवं विमुक्त-धर्मनिष्ठा हमें परमार्थमहत्त्व से बलिष्ठ कर देती है। एक में विमुक्त परमार्थ माना गया है दूसरी में विमुक्त स्वार्थ है। कर्तुल मीमांसा की दृष्टि में दोनों ही विमुक्त स्वार्थ हैं। ही अन्तर्गत राजनीति में अन्तर्गत ही स्वार्थ के साथ साथ जोड़ा परमार्थ भी है। मगधान दोनों का मेरु बुद्ध समझते हैं। गीतार्थप्रकार में मगधान के लक्ष्य में वे ही दो मार्ग उपलब्ध थे। एक विमुक्त धर्मनीति के अनुगामी करते हुए लोकवैयर्थ्य से बलिष्ठ होने के दूसरे मार्ग विमुक्त राजनीति का अनुगामी बनना हुआ विश्व-आशांति का कारण बन रहा था। मगधान ने नीति के द्वारा दोनों का सम्बन्ध किया। अतः मगधान ने विमुक्त राजनीति-परमार्थ बुद्धिजन का भी धर्मप्रकार में कोई स्थाना नहीं की थी। व बाह्य में कि बुद्धिजन अपनी राजनीति में जोड़ा ला लक्ष्य बन गया हुआ धर्मनीति की उनका मूल बनाले। परन्तु स्वार्थी बुद्धिजन पर मगधान के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः मगधान की उस दूसरे मार्ग पर दृष्टि मत जो कि-विमुक्त धर्मनीति का अनुगामी था। उसके साथ मगधान ने क्या किया। वह सर्वविधित

० या लोकवैयर्थ्यविनी अनुगामी-सा आधुनी आधुनी ।

है। उनमें राजनीति का समावेश कराया गया और उसका मूल उद्देश्य रक्खा गया लोक-अमुदय।

६७-प्रापदुर्मर्यादा विशेष-परिस्थितियों में धर्मनीति की उपधा, एवं विशुद्ध राजनीति का अनुगमन, तथा तत्सिद्धान्त-प्राप-पुण्य सीमाया—

हमी लोक-अमुदय की भावना से मगवान् ने विशेष परिस्थितियों में धर्मनीति की उपेक्षा करने में भी कठ शक्ति नहीं समझी। जिस धर्मराज ने अपने जीवन में कभी मिथ्यामायण नहीं किया था उसे "नुरो वा कुसुरो वा" धर्म के लिए विवश करना विशुद्ध राजनीति नहीं, तो और क्या है?। क्या सुविष्टर ने ऐसा करते हुए स्वयंभूम को बोध नहीं दिया?। तिया, और अक्षय दिया। इसी पाप के दल से मनुष्य से उँचा चलने वाला सुविष्टर का यह कर्म पर आठहरा। इसी पाप से सुविष्टर को कुछ समय के लिए नरक स्थान में भी निवास करना पड़ा। धर्मनीति के रक्षण विरुद्ध भीम को बुद्धिबल की बहू पा पर गण-प्रहार के लिए मजबूर करना क्या मगवान् का पुण्यकर्म था?। शस्त्र छोड़ें हुए कर्ण पर प्रहार करने के लिए अहं न की प्रेरणाहित करना धर्महीन अहंन के न करने पर भी इसे उस निरन्ध्र पर प्रहार करने के लिए विवश करना क्या पुण्यकर्म था?। शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर भीष्मबल के लिए कुर्षण लेकर दौड़ पड़ना धर्मना धर्म-कर्म था?। अश्वत्थ का बर्ष से बंध करवा डालना की-सी धर्मनीति थी?। पुत्रप्रधार मैकही उदाहरण देने लिए आम्हने हैं जिनमें विशुद्ध राजनीति का ही स्पष्ट उपलब्ध होख है। और धर्म की कक्षी पर कर्म से उँहें अर्धधर्म ही मानना पड़ता है।

६८-साक्षरवतार के सम्बन्ध में प्रामाणिक प्रश्न, और तत्सिद्धान्त—

पत्नी तथा में प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब मगवान् का अवतार धर्मस्थान को दूर करने एवं धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ था तो फिर जान बूझ कर मगवान् ने अधर्मनीति का आश्रय क्यों लिया?। कुछ एक मनुष्य राजन तो यह करने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते कि 'हूय ने माखवर का जोड़े-उपकरण नहीं किया। अणि को शत्रुओं की लड़ा कर भारत के समुद्र वैभव का नाश ही करवा डाला।

उत्तर में कहना पड़ेगा कि, मगवान् की वैदिक-व्यवस्था में भी जब बुद्धिबलनाति आमुखीय मगवान् की मगवत्त समझने में असमर्थ होते हुए उनकी निम्ना से नहीं बूझने व तो आश्रय यदि कठ मन्दबुद्धि मगवत्ता का अनुमात्र ही स्वल्प न जानता हुआ यदि उन पर किसी प्रकार का आश्रय करता है तो हममें उलझ का दोष नहीं है।

६९-प्राकृतिक-दन्डात्मक-भौतिक-विश्व-की गुण-गोपानुगति, एवं विश्व के सामूहिक, तथा गण्यस्तिक दिवाहित का सारतम्य—

हम यह पुके हैं कि, मगवान् का प्रधान लक्ष्य है-विश्वशांति। यदि इसके लिए मार्ग की भी आहूति दनी पड़े तो भी बोध मत्ता ही माना जायगा। यह एक निश्चित निष्ठा है कि विशुद्ध-

निम्न बीजाभास के द्वारा सञ्जात इस विश्व में शुद्ध गुणविर्युति कभी नहीं पनप सकती ।। उन्म में उन्म कार्य में भी दोष का अनुपपन्न अनिवार्य है— सर्वात्म्या हि बोधया भूमनाग्निरिवाकृताः ।। श्री आचार पर वह भी सिद्ध होजाता है कि, जिस कर्म से अधिक अनुपपन्न का उपकार ही—वह प्राप्त है एवं इस महोपकार के लाने अस्वीकृतगुणामी कर्म उन्म है । बुधिरिन्द्र—अनुनादि को पाप लय होगा उन्म पक्ष भी उन्म मोक्षता पक्ष होगा । परन्तु निर्विवाद के लाने व्यक्तिगत का कोई मूल नहीं है । और रही मयान् की बात । तो उनके सम्मुख में हमें गीता-शिल्पी करने का कोई अधिकार नहीं ।। मयान् तो एक व्यक्ति के उद्धार के लिए भी अपने आपकी कल्पना में डालते गुने गए हैं । मानसुखान्ति नारद के अनुसार के लिए मयान् की मानवस्य (साधारण रामस्य) बालक करना पड़ा है वह कर्मविरहित है ।

७०—महामारस्युग से अनुप्राप्तिता प्रपण्ड—सधर्मावस्था का कतिपय उद्धारक—

हिर वह लम्बे समय भी जिस काम का जिसका एकमात्र उद्देश्य हो स्वार्थसिद्धि की उद्देश्य देना । वह जिसका अधिकार भी जिस काम के किन्हीं मानवसमाज की शास्त्रमात्राएँ कुचलीं जाँव ।। इन्हीं जन का धर्म देना ही था । और उन्म युग में शास्त्रासी का सिद्धि भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था । पक्ष बात में बोद्धा महापुरुषों के लिए समझ होजाते थे । मीमांसा—परशुराम—स्पर्धा अनुन—कर्ण—स्पर्धा विष्णु नगर में होने वाली और—पञ्चदश—स्पर्धा आदि इस सम्मुख में सम्मुख उद्धारक हैं । 'कुम्भकर्ण प्रति न कुम्भकर्ण—कुम्भकर्ण कुरास बने' काय शास्त्रिण्य के समस्त श्रोतार्थार्थ से सम्मुख शास्त्र की शास्त्र-वत् से विविधियों (उपद्रव) की कुचलीं ही इच्छा रखते थे । शास्त्रशास्त्र करकस्यामा भी अपने आपकी शीरोक्षता सम्मुख में गौरव का अनुभव करता था । मिला होजाता है वेने कर्ण की शास्त्र का शास्त्र-सिद्धि से क्या सम्मुख । एक शास्त्र की किसी से सम्मुख की वह कि मानवस्यशास्त्र ने उनके लिए— कुम्भकर्ण न था कुम्भकर्णों शास्त्र सम्मुख यह आदेश दिया है । परन्तु हम देखते हैं कि शास्त्र-सिद्धि में श्रोतार्थ इन्हीं की अपने शास्त्र में लाने की सम्मुख अधिकार कर बैठते हैं । और उन्म की वह कुम्भकर्ण सम्मुख शास्त्र ही नहीं होती बल्कि कि वे उपद्रवों का आधा माय लान कर 'अधिकार' का अपनी शास्त्रासी नहीं बना लेते ।

७१—विश्वशान्ति का प्रपण्ड शत्रु महामारस्युग, एवं विश्वात्मिक धर्मस्थानि के उपरम के लिए ही अश्वतीर्ष मयान् शास्त्र के साम्यमावापन्न उद्धार—

सम्मुख महामारस्युग की लम्बे विश्व के लिए, विश्व की शान्ति के लिए एक मयान् ही लम्बे था । मार्ग मार्ग था शत्रु का लम्बे व्यक्ति अपने अपने अधिकार की ही सम्मुख सम्मुख आहत था शरीरस्य लम्बे में था सम्मुख-शास्त्रार्थ लम्बे-वत् के लम्बे का लम्बे था । भी वह धर्मस्य इमात्र लम्बे शास्त्र करने के लिए उद्धार पाएँ लम्बे था । शरीरी व्यक्तता थी, वेदता लम्बे थे धर्मस्थानि चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी । शीर्ष लम्बे-सिद्धि का अनुभव शास्त्रार्थ रहा था तो शीर्ष लम्बे लम्बे की ही उद्धार का चरम लम्बे मान रहा था । शान्ति (अनुनादि) शास्त्र शास्त्रकर्णों की लम्बे लम्बे लम्बे थे तो शास्त्र (शिल्पी) शास्त्रकर्ण का अधिकार लम्बे थे । लम्बे-लम्बे लम्बे था । कुपुत्र (शिल्पी) शिल्पी पर (अन्तेनादि पर) का-आचार लम्बे लम्बे नहीं होते थे । लम्बे-लम्बे (लम्बे-लम्बे) लम्बे-लम्बे लम्बे में लम्बे थी । इस-

प्रकार उक्त महाभारतकालीन समूहवैयर्थ्य के गर्म में अत्याचार का ही दावानल प्रज्वलित हो रहा था। परियाम स्वरूप बगनीचर मानुषदेह में उठी अत्याचार की लीमा में (कंस के कारागार में) प्रकट होते हैं। उनके सामने सारी परिस्थिति प्रकट होती है। अब इनके लिए एकमात्र कर्तव्य है—शान्ति स्थापित करना। और इसके उपाय हैं—सम अथवा तो दबदबा। महाभारतवेत्ताओं को विहित है कि भगवान् कृष्ण ने उदादबदनीति के सम्मूलन में स्पष्ट सद्बला की नीति को ही उच्चासन प्रधान किया है। अवैयर्थ्य की अपेक्षा वैयर्थ्य सर्वोपान्दीभान को ही श्रेष्ठ माना है। और मानवता का यह आग्रह भी है कि बर्हातक सम्भव हो यदि समत्वमूलक व्यवहार से ही शान्ति होनाब तो पहिले उन्हीं के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। भगवान् समत्वयोग के आधिपत्य के थे। दबदबनीति में भी समता आती है परन्तु पहिले नियमता का ही सामना करना पड़ता है। उच्च सामनीति में आरम्भ से ही समता की प्रधानता है। भगवान् ने पहिले वही किया। क्या कंस को समझने में भगवान् ने कोई भय बाकी रक्की थी? मिथुपास के किलने अपराध क्षमा किए। परन्तु जब सामनीति लज्ज न हुई तो अन्त में भगवान् को कुरुराज के द्वारा दबदबनीति का ही आग्रह लेना पड़ा। यही दरा वीरवों की हुई। बगवित्त्वान् वृत्त करने में भी लज्जा नही किया। वे नहीं चाहते थे कि, दो कुरुवी में सम्मिलित के अन्त इतमधर रक्तपात हो और भारत का समूहवैयर्थ्य केवल इतिहासनों की ही कस्तु बना रह जाय। परन्तु वे यह भी भूल नही कर सकते थे कि, अत्याचारी आधिपत्यिक न्यायेचित्त लक्ष्य को भी पूरा न करें। समुद्रि भी धनी रहे कोई अपनी आधिपत्यिक-सम्पत्ति से भी वञ्चित न रहे दोनों लक्ष्य सामने रखकर ही भगवान् ने एक बार पुनः शान्ति की इच्छा प्रकट की। बुधित्ति ने बतलाया कि भगवान्। अब शान्ति की चेष्टा व्यर्थ है। मुझे निश्चय है कि, आपके लुपदेह का बुधौवन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। परन्तु भगवान् क्या उत्तर देते हैं? बुधित्ति। मैं वृत्तव्य की पाषाणता को मलीयति बान्ता हूँ। और यह भी समझता हूँ कि—मुझे लक्ष्य के लिए गया वृत्तव्य रागाग्न अनेक प्रकार के अपवाद उठाएँगे। कहेंगे—बुधित्ति अपनी निर्मलता ने हर कर लक्ष्य की मित्रा के लिए वृष्ण को मेव रखा है। वराचित् मुझे यह आशङ्क हो कि, मुझे एकमात्र पाषाण कीव मेव कुछ अनिष्ट कर बालेंगे तो इत और से मुझे निश्चित ही रहना चाहिए। अणुमात्र भी अविचलन करने पर मैं समूर्ण वीरवों को वही मजबूत कर दूँगा +। राबन्! यदि वे मज मए, तो अम्मुदय है

ॐ न ममैतन्मर्तं कृष्ण ! यच्च यायाः कुलम्-अति ।

मुपोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते बन्धः

—महाभारते-उद्योगपर्वणि ७७ अध्याय ८९ श्लोक ।

— अनाभ्येता—मशमाग । धातराष्ट्रस्य पापताम् ॥

अवाच्यास्तु मविष्याम मर्षलोके महीसिताम् ॥१॥

न चापि मम पण्याप्ता महिता सर्वपाथिना ॥

क्रुद्धस्य मयुगे स्थातु सिहस्येवेतर मृगा ॥२॥

अयं चेत्-प्रवणन्त मयि क्षिप्रिद् साम्प्रतम् ॥

‘निन्दह्यं कुलम् मवान्’—इति मे धीपते मति ॥३॥

अन्य दोनो अन्त्याधो मे ममान हे । आवाप्यवादिओ का मुल बीन रोक सकता हे । इत्यकार मुनिपर का परिणय कर सीतापर वृत्तेश मे खोरकतमा मे पहुँचते हैं और वहाँ अन्वेषित कानी का प्रथम कने दुर करत है—

7

भीमगवानुवाच—कुन्त्या पाण्डवानाञ्च शम म्यादिति मारत । ॥

अप्रसाधेन वीरास्यामतद्-याधितुमागत ॥१॥

राजन् ! नान्यत्-प्रकथंभ्य तव नैःधयस वच ॥

विदितं शेषं ते सर्वं वेदितव्यमस्मिन्दम ! ॥२॥

चात्रचम्पादमयोत्मा नोकम्पत, सुषिप्ति ॥

अहं तु तव, तेषां च भय इच्छामि मारत ! ॥३॥

धम्मादवात् सुखान्धं मा राज्ञानंश प्रजा ॥

अनर्धमर्थे मन्वानोऽप्यथ चानर्थमात्मनः ॥४॥

लोमऽतिप्रसूतान् पुत्रान्-निगृहीष्व विशीपत ! ॥

नृपिता ह्यभूषितं पत्न्या स्थिता यादुमरिन्दमा ॥५॥

यथो पथ्यनर्मं राखैस्तस्मिन्तिष्ठ परतप ! ॥६॥

—म उवाच ॥७॥

उपस्थित ब्राह्मण प्रत्यक्षीन एवं करत नास्त्यस्मिन् इति कीर्ति कृष्णकपेश का कृत अभयन किया। उन्होंने कृष्णपन के समाने निम्नलिखित विमर्शिका की उपस्थित की कि—

मुद्गां हि धनं मुक्त्वा कृत्वा प्रलयमीप्सितम् ।

प्रतिक्रमं मुशक्तस्य त्रिषीठान्मरुत वरम् ॥ 7

७२—आत्तापीषण आर तदनुपाशिता अनिवाप्या दण्डनीति—

तव अभयं राक्षसवदन्ती की भी यही अस्मति रही। परन्तु क परिणाम हो कुछ हुआ वह नर्तितित है। इत्यकार अन्त्याधो भगवान् की आम्नीति अब लज्ज नहीं होती तो अन्त्या उई दण्डनीति का ही आशय होना पड़ता है। भगवान् निश्चय कर लेते हैं कि ये आत्तापी किना बन्देबद क नहीं मानगे। अन्-

● वरुणि अन्त्यामी भगवान् पहिले से ही उन्नु परिणाम की जानते थे। परन्तु लोक-शिखण के निण ही उन्होंने नर्तनीति का प्रथम आशय किया। यदि भगवान् ऐसी शिक्षा न दते तो “यशश्चापरति के अनुसार दण्डनीति से आशय रहता हुआ भी आम्नाय अनुत्प्राप्त उद्गृहता का ही आशय प्रथम मान ५८५।

एव विवश होकर विश्वशान्ति के उदात्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए मगवान् की मारत के उस समूह वैभव का बलिदान ही करनेना पड़ा है। ऐश्वर्य-व्ययार्थों का अनवयव किए बिना ही मगवान् कृष्ण पर समुद्रिनाश का कशङ्क लगाने वाले चक्रपुत्र ही महापातकी हैं।

७३ गीतानुगत आत्ममूलक साम्यवाद, तथा भूतमूलक वचमान साम्यवाद (कम्प्यूनिज्म) का समसुलन—

साम्यवाद का राज्य प्रसङ्गत उपस्थित होना। अतएव प्रसङ्गगत इस के समुच्चयों में किञ्चित् निवेदन करदेना आवश्यक होगा है। गीताके साम्यवाद और तत्त मानसुग में प्रचलित साम्यवाद में किटना, और कैसा अन्तर है? यह गीताभूमिका-प्रथमसर्गक में वस्तु से क्लृप्ताया जाचुका है। गीता का साम्यवाद 'आत्मसाम्य' से सम्बन्ध रखता हुआ राज्यतन्त्र पर प्रतिष्ठित है एवं 'स का भूत पर्यन्तरेव' है। ऐसे मान साम्यवाद भूतसाम्यवाद (जो कि सर्वथा असम्भव है) से सम्बन्ध रखता हुआ प्रजातन्त्र पर प्रतिष्ठित है एवं इसका मूल अनीस्वरवाद है। यह साम्यवाद, कम्प्यूनिज्म, तो मौलिक-क्षिप्ता का उत्प्रेरक समुत्प्रेरित ही करता रहता है। साम्यवाद विना सहयोग नहीं भण्ड है जिनके धूल में वर्ममनीति प्रतिष्ठित है। हमारे राज्यादी साम्यवादमूलक सदास्तिवनिष्पन्न जिस सहयोगभाव की आकांक्षा रखते हैं वह वर्ममनीति से वञ्चित रहता हुआ अथ ही वर्ममनीति का विरोध करता हुआ गीता के साम्यवाद से समझ बयामेद का पात्र 'उत्तु बनता हुआ सर्वथा हानिकार ही है।

७४-गीता का विश्वशान्ति-मूलक महान् सन्, एवं उस का समन्वय-निर्गदर्शन—

हैं तो अत्र पुन महत् का अनुसरण कीजिए। हमने क्लृप्ताया है कि, विश्वशान्ति के लिए गीता का 'जैसे के साथ सैमा' सिद्धान्त ही पर्याप्त है। अक्षर्य ही विगत शताब्दियों में हस्त नम सिद्धान्त की उपेक्षा कर अपना सर्वस्व ही लीरिया है। और आब भी हम अपनी अन्धबुद्धाके कारण माबावेश में आकर उक्त आदेश की अमोहना ही करत जाचें हैं। यह जानते हुए एवं मानते हुए भी कि असुख स्मिन्त न संभाव में प्रविष्टा प्राप्त कर अमिमान में पड़कर समाज की शरान्त बना रहना है हम मीत वारय कर समान्य बतप्रवाद की ही में ही मिलते हुए उनकी बातक प्रतिष्ठा की सुरक्षित रखने का ही कर्न किया करत हैं। अमोम्य व्यक्ति की पूजा-प्रतिष्ठा ही हमारे पवन का मुख्य कारण है। यदि हमें अपने अपने समाज का अपने राज का एवं विश्व का अनुसुख समीह है तो जिस अन्नमदमापनी व्यक्तिपूजा ने आब प्रवान-आमन प्रहा कर रहता है उसका समुत्प्रेरक बिनाश कर ही देना पड़ेगा। यदि कोई साम्यवादि आचार्य व्यक्तिप्रतिष्ठा में अनुचित नाम उठाने का प्रवात करेगा तो समाज पहिले जमनीति से अम होगा अन्यथा उच्छेदनीति की अपनारण। यदि कोई राष्ट्रीय नेता अर्थात्तिमान बरीतिमान आदि में पड़कर व्यक्तिप्रतिष्ठा में प्रवृत्त होता हुआ बभञ्ज-अनर्गत आदेश देम करेगा तो हमें उसकी भी विचिन्ता कर ही देनी पड़ेगी। उच्छेद-अन्याय-अधर्म-ही अलमात्र भी उपेक्षा नहीं की जायगी। प्रतिष्ठ पर हमारी- 'यं ब्रमा मां प्रपद्यन्त तांस्तथैव भजाम्यहम्' यही नीति रखेगी और इसी से हमारा अनुसुख सम्भव तथा सुनिश्चित बन सकेगा।

अन्यथा तेनो अस्माकं मे ममान है । अस्माकंमिदं का मुक्त कौन शक्यता है ? । अस्माकं मुक्ति का प्रमाण कर लीलापर वृत्तेषु मे औरवममा मे पहुँचते हैं और वही अस्माकंमिदं वाणी का प्रमाण करते हैं ।

श्रीमद्गदानुवाच—कुम्भ्यां पश्यद्वानाञ्च शमः स्यादिति मारुत ! ॥

अप्रथाशेन बीराशामतद्—याचितुमागतः ॥१॥

राजन् ! नान्यत्—प्रकृत्यं तव नै—अथस वच ॥

चिदित शेष ते सर्व वेदितव्यमरिन्दम ! ॥२॥

आत्मन्मादमयीत्मा नाकम्पत, युधिष्ठिर ॥

अह तु तव, तेषां च श्रेय इच्छामि मारुत ! ॥३॥

अस्माद्वान् सुखार्थं मा राजमानस प्रथा ॥

अनर्थमर्थे भवानोऽप्ययं चानर्थमात्मनः ॥४॥

लोमऽतिप्रसूतान् 'पुत्रान्—निगृहीरव विशासत ! ॥

श्विता शुभ्रवितं पापो श्विता पादुमरिन्दमा ॥५॥

यतो पथ्यनर्मे राजैस्तस्मिस्तिष्ठ पर तप ! ॥६॥

—स उवाच ॥ ६५ ॥

उपशेष आत्मन मन्त्राणां एक कथन नारायण महर्षिर्वाक्यं कृष्णकृत्येण का पूजा समकल किया। उन्होंने कृष्णकृत्य के नामन निम्नलिखित विधीरिका की उपशेष की कि—

सुहृदा हि धनं सुकृत्वा कृत्वा प्रशयमीप्सितम् ।

प्रतिकृणुमगस्तस्य शिषीताम्बरस्य वरम् ॥ १ ॥

७२—आत्मनापीषण आर तदनुप्राणिता अनिवाप्या द्यवदनीति—

तव अथवा राजकर्मण्येव की भी नहीं सम्पत्ति रही । परन्तु ७ परिग्राम की कुछ हुआ वह नारायण । इत्येव नारायण मंगलाय की नामनीति का नदय नहीं होती या आपका उद्दे द्यवदनीति का ही आभय लेना बहुत है । मंगलाय निश्चय क लेत है कि व आपनापी बिना अथवा के नहीं मानती । अतः

७ परति अन्त्यमी मंगलाय कहिले है ही इन परिग्राम की वाचन है । परन्तु लोच—मिच्छा के । नर ही उन्हें नन्त्यमीति का अथवा आभय दिया । यदि मंगलाय ऐसी मिच्छा म दत है "अथवापरति के अनुप्राण द्यवदनीति । अथवा वदत हुआ भी नामात्म अनुप्राण उद्देवता का ही आभय प्रदान माने ।

७६-महायन्त्रानुगत विविध सुद्रपन्त्र, एवं महायन्त्रानुगता महती प्रेरणा से ही सुद्रपन्त्रों की गतिशीलता—

वात है जोड़ी आपसी ही परन्तु अनुभवविधि। वास्तव में न हम कुछ करते एवं न कुछ कर सकते। विसमप्रकार गङ्गाप्रवाह में पड़ा हुआ एक गूँघ गङ्गाप्रवाह के साथ साथ प्रवाहित रहता है। इस प्रवाह में 'तुल्य' पद्धति का कोई मूल्य नहीं है। एकमेव हम ही उस संसारप्रवाह में एक तुल्य से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखते। बिना संसारक बाधा है। बिना होकर हमें ही उसी ओर जाना पड़ता है। पञ्चिन का महायन्त्र अपने स्वर में अनन्त छोटे छोटे कण प्रतिष्ठित रहता है। महायन्त्र के साथ साथ उन्हें ही घूमते रहना पड़ता है। छोटे कण महायन्त्र की मक्ति (माग-आवृत्ति) बने हुए बिना होकर उसके साथ घूमते रहते हैं। जब महायन्त्र आवृत्ति (वेद) होता है तो कण उसी के सुद्रकण भी अपनी मक्ति छोड़ बैठते हैं। ठीक इसीप्रकार वह सृष्टिविस्तारितकालात्मक महासाधारण महाविराट भी ईश्वर का महायन्त्र ही है। सूर्य-चन्द्र-महा-नेत्र-अपि पितृ-देवता-गन्धर्व-सोऽप्यस्य-विष्णु-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि सब इन महायन्त्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले महायन्त्र की मक्ति बने हुए छोटे छोटे कण हैं। कर्ममय ईश्वरकालक महायन्त्र अनन्त घूमता रहता है। इससे वह उन सुद्रकणों की भी बिना होकर घूमना पड़ता है। इन सुद्रकणों की स्वल्प इच्छा का कोई भी मूल्य नहीं है।

८०-मानवीय जीव की इन्द्रियवर्गानुगता विविध-इच्छाएँ, एवं मह यन्त्रात्मक तन्त्रायी ईश्वर के द्वारा ही तदिच्छाओं का मन्तनन—

हाम का उठना पैर का आगे बढ़ना मुँह से शब्द निकलना नासिकासे प्रस्रवा महसूस होना वह सब कुछ (व्यवहारका) जैसे हमारी इच्छा मानी जाती है। हाथ-पैर-मुख-नासिका-कण आदि अपनी इच्छा से कुछ नहीं करते। वे सब हमारे ही अवयव हैं। एवं इन अवयवों की इच्छा हमारी ही इच्छा है। ठीक इसी प्रकार हम सब उस ईश्वरपरीर के ही अवयव हैं। ईश्वर-इच्छा ही हमारी इच्छा है। मोक्षन-दान-राजन-जागरण-सब कुछ उसी की इच्छा से प्रवृत्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, इच्छा को हम (जीवितमा) कभी उत्पन्न नहीं करते। आशु ईश्वर के द्वारा अपने आप विनिर्मित इच्छा का ही हम "हमारी इच्छा है" इन शब्दों में अभिनय करते रहते हैं। "मैं अब मोक्षन करूँ" इस इच्छा के लिए हम अपनी ओर से कोई व्यवहार नहीं करते। इच्छा होता ही है वह हम उसे पहिचान पाते हैं। मानना पड़ेगा कि अवश्य ही हमसे (जीव से) इच्छा कोई सब अन्तर्गत में पैदा प्रतिष्ठित है। बिना प्रेरणा से ही इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहती है और हम उस इच्छा के निमित्तमान ही बनते रहते हैं। प्रसंगात्मकमन्त्रिणी इसी ईश्वर-इच्छा का निगन्तन करते हुए मगान् करते हैं—

ईश्वर सर्वभूतानां हृदोऽर्जुन ! तिष्ठत्त ।

आमयन् समभूतानि यन्त्रास्तानि मायया ॥

८१ महायन्त्रात्मक ईश्वर की बीजानुवर्धिनी-मक्ति, और 'मक्तियोग'—

जब वह किन्तु है कि, हम हमारी इच्छा से कुछ नहीं करते। हम निमित्तमान हैं। तो प्रेरणा से प्रेरणा-सिद्धा योगवर्धिनी बीज कल्पन का कारण नहीं बन सकती। यथा ही इच्छा से यदि एक व्यक्ति किसी अवयव की

७४-मक्तिमाग का कर्मबन्धन-विमोक्तत्व—

उक्त सिद्धन्त के लक्ष साम हमें सम्यक्बुद्धि उत्त उपाय का भी आशय होना पड़ेगा किन्तु नि-
रुद्ध-य मे—‘कर्मबन्धनं प्रहास्यसि’ यह सक्ति प्रसिद्ध है। धर्मनीति में राजनीति का सम्बन्ध करना
जुगा एवं राजनीति में कर्मनीति का समावेश करना पड़ेगा। राज्य को योगानुसार बनाना पड़ेगा एवं
योग को राज्य का अनुस्यूनी बनाना पड़ेगा। ईश्वर के ज्ञानमाग में कर्म को मुक्त करना पड़ेगा एवं कर्ममाग को
इ नगर प्रसिद्ध करना पड़ेगा। और इसी मक्तिमार्ग से हम सर्वोक्ति में सम्यक् बन लेंगे।

७५-अभ्युदय-नि भेयस्-सत्तापक-गीत का मक्तियोग -

प्रश्न हमारे सामने यही आ कि, अज्ञान अर्थात् राक्षसपद्धति का इस युग में क्या भव्य अनुष्ठान नहीं
कर सकते। कुछ अज्ञान को किसी भी सामाजिक ज्ञान-कर्म-अभि-योग का अनुष्ठान नहीं कर सकते। एवं
मारुतेश्वर देशवासियों को सामाजिक योगवशी का अधिकार ही नहीं। अतएव वे भारतीय ज्ञानतन्त्रधर्म के अनु-
यायी नहीं। “न लभ के अभ्युदय का कदा उपाय है, उत्तर यही मक्तियोग।

७७-साक्षीसुपर्ण का अराक्षत भोक्तृसुपर्ण, दोनों के इच्छातन्त्र, एवं ईश्वरेश्वर के द्वारा ही जीवैच्छा की प्रकान्ति—

अज्ञानता को अपनी अवैध-सामाजिक-योगवशी में यही भव है कि “हमें प्राक्कृत का सम्यक् बनना
पड़ेगा। यह मन समीप है अतएव कि हमारा कर्म इतर-बन्त हमारी मक्ति ‘हमारे’ है। अन्धकार
में हमने प्रवृत्तात्मा, एवं शारीरिक आत्मा नाम के दो विषय कलाए हैं। सर्वोपाय देहस्थित परमात्मा
ही प्रवृत्तात्मा है यही आध्यात्मिक इष्टतम ईश्वर है एवं इसी की विज्ञानमात्रा में साक्षीसुपर्ण का नाक
है। देहस्थित-आत्मा-आत्मा-अंतर्धारी में प्रवृत्ति देहस्थितानी आत्मा ही शारीरिक आत्मा है एवं यही
“आत्मासुपर्ण” नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिमा वैश्वान्त-सम्मत सर्वोपायक वेदतन्त्र है, तो दूसरा प्राकृतिक-
सम्मत प्रविशरीर मित्र वेदतन्त्र है। इन दोनों ही आत्माओं का सामाजिक योग अधिकार का प्रकृत है
अवैधतन्त्र में प्रसिद्ध होना है। इसी अवैध से प्रवृत्तात्मा के द्वारा ज्ञानेश्वरी इच्छा को जीवता अपनी
इच्छा समझने लगता है और निश्चयन यह इच्छातन्त्र ही कर्मकर्मन का कारण बनता है।

७८ ईश्वरेश्वर-निबन्धना योगवशी का प्राधान्य, एवं तद्वारा ‘अस्मत्कर्तृत्व’-विमोक्षण की उपशान्ति —

इसी दृष्टि-नु के माध्यम से मगधान् हमें आदेश करते हैं कि विने युग अपनी इच्छा समझ रहे हैं,
विराज करी। कर्तृत्वं यह ईश्वरेश्वर ही है। इष्टतम ज्ञानवशी अगरीश्वर की ही प्रेरणा है। मेरी (अन्वय की)
ही प्रेरणा है। विने विने युग इन रहस्य पर विचारण कराना, उन विने ज्ञानवशी प्राक्कृततन्त्र से
गर्वा ही मुक्त होऊँगी। वेब दो, अन्वय अवैध योग कभी समझ नहीं करता। समझ का तो एकमात्र
प्राग है—इष्टतमकर्म। ‘हम’ करते हैं यही अन्वय उन योग के सम विषय कर्म के लक्ष हमें यह
कर देती है। यदि ईश्वरेश्वर-नुकला हम अज्ञा-विराज-पूर्वक अवैध-विने-से भी योगवशी का अनुष्ठान करते
हैं तो यह योगवशी वेब बन जाती है और उन ज्ञान परिणाम का कभी अवसर नहीं मिलता।

३- 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्यते तत्त्ववित् ।

परयन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन् धरन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥

४- प्रलपन् विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु घटन्ते, इति धारयन् ॥

५- ब्रह्मसंसाधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पबुमपन्नमिवात्मना ॥

८४-अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने वाला त्रिष्टय-ज्ञाना भक्तियोग, तदनुबन्धी आत्मममपद्य शब्द गीतावचन-समन्वय प्रयास—

प्रलपन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-उन्मिषन्-निमिषन् आदि शब्दों में कहा ही अवलम्ब है। प्रलापी (पागल) मनुष्य को कुछ बोलता है उनका परेच्छा से ही सम्बन्ध है। यदि कोई पागल किसी को गाली भी दे देता है तो वह अपराधी नहीं माना जाता। स्वाध्यायी भी उसे यह अपने बुरा में नहीं है वह बर छोड़ देता है। मगवान करते हैं—तुम अपनी बाकी को प्रलाप समझो। समझो कि मैं अपनी इच्छा से नहीं बोलता। अन्तिम बात दूसरी ही मुझे बुरावा रहा है। आत्मा की फलकों में उन्मेष (ऊँचा चटना) निमेष (नीच गिरना) स्वाभाविक है। इसे ध्यान भी नहीं रहता और यह कर्म होता रहता है। उन्मेष करते हैं-शवास-रोष्ठ परन्तु निमेषी देर ?। "करिष्यमशोऽपि तत् । इमारे न न क्वन सेकमी न स्वाभाविकी इच्छा का निष्पन्न नहीं होसकता। जो कुछ हो रहा है उसे हानि हो। अपनापन समाधि मत होने। जो कुछ हो रहा है उसमें अपनापन लगाना उहीप्रकार अपने आपका आपस में बाँटवोना है जैसे कि पुस्तक की पक्षी-कात में राम देकर अपने आपको फैलाना है। ऐसी दशा में उन अज्ञानुच्छा का यह कतव्य होता आदि कि मुनिबालुकार से जिन लोग का बित रूप स भी अनुष्ठान करते हैं तब के मूल में प्रवृत्तासमाधना को ही मुख्य आधार मानें। प्रवृत्तासमा पूर्ण है वही सुखाय है। यदि उनका कर्म अपूर्ण होगा तो प्रवृत्तासमा मति उसे पूर्ण कर देगी यदि मुनिपुत्र होगा तो वही मुनि का स्वरूप भी कर लेगी। इनप्रकार शास्त्रीय बोलचाल का समाधान अनुष्ठान करने में असमर्थ रहते हुए भी वे भ्रष्टालु क्रमशः सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होजायें— 'स्वकर्मणा तमव्ययमिदं सिद्धिं विवृति मानया ।

८५-वर्तमान भक्तियोग के बचन अभिनिवृत्त अविद्या-आदि अतिमानासक-
दोष—

'अपनी इच्छा का स्वाध्याय करने कर उमक स्थान में ईश्वर-ज्ञा का समावेश समझना इस पाद में भी यथार्थिष्ठ पत्र का मय है। यथार्थिष्ठ भी अनुष्ठाना भी यह ईश्वर-ज्ञा बीकड़ा स भी वही अधिक आकर्षण की बननी बन जाती है। और इसे कहना पड़ेगा कि आद्य हमने मति का यथार्थिष्ठ मय न समझते हुए अपने प्रवृत्तासमा से ईश्वर-ज्ञा को या आकर्षण की ही बननी बना लिया है। तब मात्र भक्तियोग का निष्पन्न है—उत्पन्न अभिनिवृत्त अविद्या अज्ञान पादक आने का कर देगो।

का बंध कर देता है तो इस में उक्त बन्धिका का क्या अर्थ है ? उन्हे तो बंधन में बंधना आत्ममर्मा करने हुए 'मात्रा की मक्ति' प्राप्त कर गयी है। शास्त्रीय कर्म विधिपूर्वक न हुए, तो हमारा क्या होने ? ईश्वर ने बंध बाधा का निषेध किया। इतर की 'मक्ति' बन कर योगमुद्रा करने से कभी पतन का ना नहीं है।

८२-आध्यात्मिक-रागानुगता महत्-शान्ति का 'एकयतन' रूप ईश्वरार्पणमक

१ मक्तिपाग—

बंद पैर में बंधा लग जाना है ना हाथ छोड़ पड़ते हैं। बंद पैर गहक की आर बंध रहे हैं तो बंध बना होती है। उतर की बुझा हाथ के हाथ प्रविष्ट भुक्तम शास्त्र कर देता है। इतरकार परमर बंध मन्त्र न रखने वाले शरीरबन्ध एक भुक्त की अदायता करने हुए, 'आध्यात्मिक राष्ट्र' की शास्त्र बनाए रखते हैं। शिष्यकार हस्तपादार्पण हमारे बंधवर्ध है तब हम उक्त ईश्वरगरीर के अर्पण हैं। मन्त्र का बंध एक आत्मा है—“मन्त्रोपासनाद्वयनम्”। शिष्यकार हस्तपादार्पण अनेक शारीरिक अर्पणों का अर्पण एक ही है तबैव अर्पणवर्धक हस्तपाद भुक्त का प्रत्यक्षार्पण भी एक ही है। शिष्यकार आध्यात्मिक राष्ट्र की शास्त्र के लिए मन्त्रपूर्ण शारीरिक अर्पण विरोध में हुए रहते हुए एक भुक्त की अदायता में उत्तर रहते हैं एकमेव मन्त्रपात्र का 'मन्त्रमूलात्ममूलात्मा' शिष्यकार को बाधे रखे हुए परमपर-मन्त्रोपासना की ही भावना रखनी चाहिए। अर्पण-कर्म अर्पण ज्ञान अर्पण मक्ति बिबेक के मन्त्रोपासना की शक्ति शान्ति में ही अर्पण कर देन चरितार्थ है।

८३-विधि-बन्धिता योगप्रयी, तदनुषंधी मक्तिपाग, एव ईश्वरार्पणमुद्रा स तदुपयोगिता का समन्वय-प्रयास—

आत्म का कर्म है-बन्धना नाक का काम है-बुझना मुख का काम है-बलना। इतरकार ईश्वरने मन्त्र-शरीर का मन्त्र-कर्म परिले में ही निबद्ध कर देता है। क्या हमने अपनी 'बन्धना' में 'मन्त्रोपासना' का निर्माण किया है ? नहीं। तो ऐसी रक्षा में हमारी 'बन्धना' का क्या मूल्य है ? आत्म का कर्म बंध बलना है ना बंध देवता ही। इस बलना में हमारा (आत्मा का) क्या मन्त्रकर्म ? न में बलना है न बलना है न बलना है मन्त्र इच्छा का इच्छा ही क्या है ? बन्धने में इच्छा ही मन्त्र बलना हो तो मैं बन्धन क्यों रहूँ ? कभी शरीर कर्म ? कभी बुद्धि कर्म ? मन्त्रोपासना का बलना में ऐसी है कि बिने उक्त इच्छा-बन्धन का निरकार कर के ही बुद्धि का बंध कर लिया है। शास्त्रीय शरीर को अविधिपूर्वक बलना में हम प्रायश्चित्त में देते बने हैं, न का प्रकृत उपासना बन्धन मक्तिपाग (मन्त्रोपासना में अर्पणमन्त्रपात्र) ही है। नती उपासना का विगुणन कराने हुए मन्त्रपात्र बनता है—

१ मन्त्रान्त महाबाहो ! दू मन्त्रोपासनायोगतः ।

योगमुद्रा मुनिप्रदा नचिरसाधिगच्छति ॥

२-योगमुद्रा विगुणरत्ना विजितरत्ना विजितश्रियः ।

मन्त्रमूलात्ममूलात्मा कृपापि न लिप्यते ॥

८६-अभिमान और अतिमान, भावों का स्वरूप-सारसम्प, उपादेय 'अभिमान,' एवं हय 'अतिमान', तथा-अद्याध्वान्नवचना मनोवृत्ति का स्वरूप-विरलेपस्य—

'हम उमी क आरा है, यही है, अनन्य हैं हम की इच्छा ही हमारी इच्छा है हमारी इच्छा उमी की इच्छा है इस भाव का मनन करना अभिमान है। और यही आत्माभिमान हमारी आत्मशक्ति का प्रयत्न है। हम अपने अन्तर्बन्ध में अपने आपसे उदा सर्वभूत ही समझना चाहिए। 'हम गरीब हैं, वरित्री हैं, मूर्ख हैं, अस्ममर्थ हैं' यह भावना हमें कालान्तर में सर्वथैव निर्भीक्य बना जा सकती है। उस प्रत्यक्षमा की ईश्वरता के साथ शारीरक आत्मा का योग कराने के लिए, उससे इच्छा उद्धार करने के लिए उस का इस पर कथुत्व स्थापित करने के लिए उदा आत्मभिमान की ही भावना रखनी चाहिए। इस भावना से वह हमारा मित्र बन जायगा एवं दयनीय भावना से उस का इस पर अनुग्रह न होगा। पशुवः यही मित्रत्वा हमारा शत्रु न जायगा। त यथा यथोपायत तथैव भवति (छान्दोग्य उप) —अद्याध्वान्नवचना पुरुषो यो यच्छेद्धः स एव स (गीता) एवं—'आ की रही भावना जैसी प्रभु मूर्ख बंकी जिन तेसी' इत्यादि वृत्तियाँ इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं। इसी आत्माभिमान की आवश्यकता सूचित करते हुए महाभारत करते हैं—

उद्धरदात्मना (प्रत्यगात्मना) उपमान (शारीरकम्) —

नात्मान-शारीरक-भवसादयत् ।

आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) आत्मनो (शारीरक-आत्मनो) बधु—

रात्मैव (प्रत्यगात्मैव) रिपुगत्मन (शारीरक-आत्मन) (गीता) ॥

६०-अतिमानपद्यानुगामी आसुर-मानव तत्परामर्श, शृद्धाभिनय से अतत गुडानिहित अद्यामय आत्मद्वय एवं तनुगत मन्मनामावात्मक—'भक्तियोग'—

भावना रखना अभिमान है यही अन्तर्बन्ध की कथु है एवं यही मन्मनावृत्ति है। परन्तु इन भावना का बाधों से अभिनय करते रहना अतिमान है। 'तदसुरा अतिमानतेष परावभूयु (शतसप्तम्य) के अनुसार यह अतिमान ही आ मयवन-लक्षण परामर्श का मूल कारण है। 'हम मरणात् प्रथम क आरा है यही हैं यह कथ वेना ही अभिमान है। गुडानिहित-निगू-सुगूय प्रथम पर भाव की गति अवस्था है—'सर्विद्वन्ति न यं बंधा । उत शान्तातीत अस्मद्वयका को शान्तानुगामी बना देना उन चरमाय स ही युक्त कर देना है मन्मना की उन्मना ही बना देना है। तो क्या स्थनीयभाव प्रथम सिद्धि बांध ? नहीं। आ मन्मन्मन्म हा शान्तबन्ध बनना ही ध्यर्थ एवं हानिकर है। भिन्नप्रकार उन्मनाय का अभिनय करना बुरा है प्रथम 'हम भक्तिमन्त हैं' उस क सामान्य हम क्या हैं इसप्रकार की दयनीय बानी का प्रयोग ही ध्यर्थ एवं हानिकर ही है। क्योंकि उमी में ही उन्मनाभाव समाविष्ट है। मन्मना किन्तु कहा मन यही मन्मनाभाव किंवा आत्माभिमान है और यही वास्तविक भक्तिपाय है।

८६-प्रत्ययान्तानुगति-‘म’मनामाश्च, एषं शारीरकान्तानुगत-‘ठ’मनामाश्च’—

ईश्वरेश्वर के सम्मुख में हमें "अममना-उन्मना" का इन दो प्रतिबन्धी शब्दों पर इष्टि बलनी पड़ी। मनाहृति को बहिष्कृत रखना ही 'अममनामात्र' है एवं अममनामत्र रखना ही 'ममनामात्र' है। शरीररु (बीज) आत्मा "जीवमूला महाबाहो" के अनुसार अक्षरप्रधान है। प्रमगात्मा (ईश्वर) अममप्रधान है एवं मौलिक विषय अक्षरप्रधान है। जीवमूला के इस घोर अक्षय का साम्राज्य है पर उस अक्षर अक्षर का वैभव है। अक्षरप्रधान जीवमूला को अक्षरमूलागी बनाने वाला इन्द्रिययुक्त मन ही है एवं अक्षरमूलागी बनाने वाला बुद्धि ही है। प्रमगात्मा-बुद्धि-जीवमूला-मन-वहिराज मौलिक विषय पर प्रभु है। बुद्धि के द्वारा जीवमूला प्रमगात्मा का प्रभु बनता हुआ वहाँ ममना रहता है वहाँ मन के द्वारा वहिराज विषयों का प्रभु बनता हुआ 'उन्मना' रहता है। ममनाहृति में जीवमूला अक्षय का प्रभु है एवं उन्मनाहृति में अक्षर का अनुवाची है।

८७-समभूतनिगूढ-गुह्यानिहित-सुशुप्त-समभूतान्तरात्मा एव तन्निबन्धन मसि-
योग—

अम्बकलक्षर प्रत्यगात्मा 'एष सर्वेषु भूतेषु गुह्योत्तमा ॥ प्रकाशते' के अनुसार निम्न है गुप्त है गुह्य है प्रोच है। चरलक्षर नियम "हरा सर्वेषु भूतानि" के अनुसार प्रकट है प्रत्यक्ष है। यदि हमारी मरिचि प्रकट है तो हम भुगुणा अम्बकमणि से वञ्चित हैं। "सर्व बुद्धि भगवान् की प्रकाश स ह्यस्या ह" "४ शक्य वा चन्दयोर करना एकल मक्तिमान है। "स अम्बकवाद के बीजमा ईश्वरका वा भुगुणाका करना दुःसा भी अम्बक हर का अनुगामी बना रहता है। "वहव" अम्बकनिष्ठा से वञ्चित रहता है। बरी "सर्व उन्मत्तमान है।

८८-उन्मनाभाषानुगता-व्यमिशारिणी भक्ति एवं उन्मनाभाषानुगता व्यमिशारिणी-भक्ति-

“हैं। दोनों दुविधा के लिए विज्ञानभाषा में अल्प अस्मिन् और अस्मिन् के दो रूप प्रयुक्त
हैं। इंद्रोक्ष का अस्मिन् करना सम्मानात्मक है एवं बड़ी भक्तिभोग की रक्षा का हार है। इंद्रोक्ष
का अस्मिन् करना सम्मानात्मक है एवं बड़ी भक्तिभोग का निषादक है। सम्मानात्मक अस्मिन्भारिणी
हैं क्योंकि इन्में अस्मिन् का अस्मिन् की अस्मिन्भारिणी है—‘अस्मिन्भारिणी’
अस्मानात्मक अस्मिन्भारिणी है क्योंकि इन्में अस्मिन् अस्मिन्भारिणी के साथ साथ अस्मिन्-प्रत्ययों
रहा भी रही रही है।

● इसी राष्ट्र के स्थान में हमारी जातीय भाषा में 'अणुमण्डल' राष्ट्र प्रविष्ट है।

यत्तत्तान् वाता ही नही है'—इस ज्ञानाभास के दो दृष्टिबिन्दु (परस्पर) हैं—एक उपपत्तिज्ञान तथा दूसरा कर्माज्ञान । कर्म किम् पद्धति से किया जाता है वह जानना तो बार्ध कर्त्तव्य बात नहीं है । केवल इसी दृष्टि से ही कभी कर्ममार्ग से बहिष्कृत नहीं रहना चाहिए । यही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की जिसके मन्त्र में भी यथापि हम मानते हैं कि— यद्यपि मिथ्या करोति—कर्मोपनिषत् तदेव कीर्त्यावन्तरं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यकर्मका वापपरिज्ञानाभिमता विद्या मनोयोगात्मिका भूत्वा एवं मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत् इन तीनों में समन्वित योगानुष्ठानविशेष ही बलप्रद बनता है । परन्तु जबतक इन तीनों का परिज्ञान न हो तबतक कर्म कर ही नहीं यह भ्रान्ति है । इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल शास्त्रानुदेश पर ही विभाम करना पड़ेगा । पारिवर्त्य को छोड़कर वास्तविकता से बिना किसी ऊहापोह (नव नुव) के कर्म में प्रवृत्त होजाना पड़ेगा— पारिवर्त्य निविद्य बाल्येन विप्रासेत् ।

६४—'तस्माच्छास्त्रं प्रमास्य ते' लक्ष्य शास्त्रादश की अनन्यशरणीकरणीयता—

यदि हम मौलिक रहस्यज्ञान के अन्योन्य में ही रहे रह तो कभी हम कर्म में मग्नता प्राप्त नहीं कर सकेंगे । और फिर उपपत्तिज्ञान कभी को होनाय वह सम्भव भी नहीं है । हम अपने लौकिक व्यवहारों में भी महत् जनों के गत पन्था इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है । बालक को पढ़ते वर्णशिक्षा मक कर्म में ही प्रवृत्त कर दिया जाता है । वह यदि यह करने लगे कि मैं पढ़ने शिक्षा का मौलिक रहस्य ज्ञान लूँगा, तभी शिक्षाकर्म का अनुष्ठान करूँगा । वह कभी शिक्षित नहीं बन सकेगा । 'तस्माच्छास्त्र प्रमास्य ते कर्माकाव्यकर्मस्थिति ।

६५—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—मूलक महान् उद्घाघनसूत्र—

बिना भी बैलभी बन पड़े-योगानुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए । कर्मशून्यता भूत्वा सर्वथा निरर्थक है । यदि एक ग्लास पानी में सम्पूर्ण शरीरक अग्नि का शान्त करने की शक्ति है तो एक बूँद में भी अग्निपरमाणु की शान्त करने की शक्ति है । अम्युदबकर धर्म का अश भी निरर्थक नहीं जाता । फिर वह कौन की बुद्धिमानी है कि—स्वल्प में से बच हुए एक अग्नि की भी हम उपेक्षा करें ? इसी अभिप्राय से मन्त्रान् कहते हैं—

नहि कस्याश्चिद् कश्चित् दुयति तात् । गच्छति ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

६६—कर्मनिगतिमूलक—भोय यथा

'कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना ही न था पन्था है' इस कार्यबन्धीन सिद्धान्त को समझ रखते हुए, प्राबल्य के मय से ज्ञान पान के लिए ईश्वरानन्यता की मूलाधार बनाते हुए उन विशुद्ध भद्राशुभों को भी यथाशक्ति अवश्य ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए । इस उपाय से नशा भी अम्युदय निमित्त है ।

६१-शुद्धमिनय परम्परानुप्राप्तिता उन्मनामाव-समन्विता भक्ति का शाब्दोद्घोषण, एवं तस्मिन् घन आत्मपतन, और तत्सम्बन्ध में - 'ईश्वरानन्यता-सघृष्टा' भक्ति से अनुप्राप्ति-मदर्थक' का स्वरूप-समन्वय—

आज क्या हो रहा है ? ठीक इस से विपरीत । पद पद पर मन्मनामाव का आग्रह । अपने प्राण को मगवान् का प्रियमल कहने का आदिमान करने वाले अन्तर्ध्यायी का लक्षण-तैल (नेत्र-तण) का जो प्रेमाव बचने वाले कुछ एक महापुरुष शास्त्रीय मर्यादा से सर्वथा विमुख— 'यह सच मगवान् की ही कृपा का फल है-जिससे कि हम ऐसा करने में समर्थ हुए हैं । हमारी तो शक्ति हो क्या है' इत्यादि रूप में उन्मनामाव का वाक्यों का प्रयोग करने में ही अपना गौरव समझते हैं । छिद्र पदार्थ का आमेतम कभी अनुपपन्नक नहीं बन सकता । फिर ऐसे अनुपपन्न को हम कैसे भक्तियोग का प्रचार करें जबकि उसकी प्रत्येक पद्धति प्रम से इति पर्यन्त उन्मनामावकूलक अभिनय से ही ओच्छेदित रहती है ? हमें सम्मना ही करना चाहिए, मगवायी ही करना चाहिए मूलमूल ही करना चाहिए । तभी हम उस 'मा' को प्राप्त कर सकेंगे । अपने अन्तर्बल में सर्वव्यापक चैतन्य के दर्शन करते हुए मौनमाव से ही योगजयी में प्रवृत्त रहना चाहिए । 'हम अमुक की इच्छा से करते हैं हम बोधी नहीं हैं सच ईश्वरेच्छा से ही होता है' एक कठमप-पदा व्यक्ति के लिए ऐसे बागाइम्बर की व्यावस्थितता ही स्वा रह जाती है ? उसे अपने कर्तव्य के अतिरिक्त और किसी पर इति ज्ञान का अवसर ही नहीं है । हमें तो अपने कर्माध्य को ही ईश्वर समझना है । कल व्यानन्वता ही उस की ईश्वरानन्वता है । मनु और-स्वतन्त्र का मेघ ही जब इन अनन्वता में सम्पूर्ण में नहीं है तो कौन किस से क्या करे ? और क्यों करे ? "तुल्यनिन्वागुर्विमानो । नही वास्तविक भक्तियोग है । यही मन्मनामाव है और यही है मर्त्यक ।

यत् करोषि यदरुनाति यज्जुहोसि ददामि यत् ।

यत् उपरुति कौन्तय ! तत्कुल्य मदर्थकम् ॥

६२-यद्वास्तु मामुक्तं मत्तो की विमीषिकाएँ—

कुछ मद्वास्तु ऐसे भी हैं-बी शास्त्रीय-योगजयी के अनुष्ठान में भी समर्थ हैं । जिन्हें सुविचार्य मी प्राप्त है । परिप्लित मी जिनके अनुकूल हैं । परन्तु केवल इति मीषिका से ही नहीं बल्कि आश्रय के वाक्य-ई एवं न स्वयं हम ही "तनी दीप्ति" कहते कि योगजयी का क्याविधि अनुष्ठान कर सकें । ऐसी वशा में न करना ही अनुष्ठान है । कौ तो पद्य जान कर ठीक ठीक ही करें अन्वया सर्वथा न करें । यह इस प्रकार से प्रायः लक्ष्य ही को रखते हैं— 'अद्यानन प्रवृत्तस्व सम्बन्धनं स्यात् पदे पदे' इस अर्थ को उपमन्व्य करते हुए ।

६३-'पापिदयं निषिध्य बान्धेन तिष्ठस्तत्'—आश्रयमूलक-उद्घोषण 'विद्या-भद्रा उपनिबद्ध' से समन्विता आचरनिष्ठा एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय-इष्टिकोस

एसे अनेक मद्वास्तुओं के साथ सम्पर्कविनश्र आये हैं बी उक्त श्लोक का अर्थ कर कर्म छोड़ें हुए हैं । 'हम जानते ही नहीं कि सम्बन्ध का क्या तात्पर्य है, फिर करने से क्या लाभ' कोई

पतलान घल्ला ही नहीं है - इस ज्ञानाभास के दो दृष्टिबिन्दु (पहलू) हैं- एक उपपत्तिज्ञान तथा दूसरा कर्माज्ञान । कर्मों किम पद्धति से किया जाता है वह जानना तो कोई कठिन बात नहीं है । केवल इसी बात से तो सभी कर्ममार्ग से बञ्चित नहीं रहना चाहिए । यही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की त्रिकके मान्यता में भी यद्यपि हम मानते हैं कि- 'यदेव विद्याया करोति-अनुयोगनिपदा तद्वय योर्वावतारं प्रवर्ति' -स विद्वान्त के अनुसंग कर्माकारणभावपरिज्ञानात्मिका विद्या मनोयोगात्मिका भद्रा एवं मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत् । इन तीनों से सम्मिलित योगानुष्ठानविशेष ही स्वप्रद केनता है । परन्तु जबतक 'मनोनिती' का परिज्ञान न हो तबतक कर्मों की ही नहीं, यह भावित है । इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल शास्त्रादेश पर ही विश्राम करना पड़ेगा । पाणिन्य के छोड़कर पात्रावृत्ति से बिना किसी उद्देश्य (नव नुच) के कर्मों में प्रवृत्त होबाना पड़ेगा- 'पाणिन्य' निर्दिष्ट वाच्यन विद्यासम् ।

६४- 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं लघुशु शास्त्रादेशु की अनन्यशरणीकरणीयता -

यदि हम मौलिक रहस्यज्ञान के अन्वेषण में ही पड़े रहे तो सभी हम कर्म में लज्जलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे । और फिर उपपत्तिज्ञान सभी को होनाय यह सम्भव भी नहीं है । हमें अपने लौकिक व्यवहारों में भी महा-जनोपनयन रत्नः पन्था' इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है । बालक को पहिले वर्षाशिक्षात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त कर दिया जाता है । वह यदि वह कहने लगे कि मैं पढित शिक्षा का मौलिक रहस्य जान लूँगा तभी शिक्षाकर्म का अनुष्ठान करूँगा तो वह कभी शिक्षित नहीं बन सकेगा । 'तस्माच्छास्त्र प्रमाणं ते कर्म्याकाव्यव्यभिचारी ।

६५- 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतं महतो मयात्'-मूलक महान् लघुवाचनसूत्र-

बिना भी जैलमी बन पड़े-योगानुष्ठान आवश्यक करते रहना चाहिए । कर्मशून्या भद्रा सर्वथा निरर्थक है । यदि एक ग्लास पानी में सम्पूर्ण शरीरक अग्नि की शान्त काने की शक्ति है तो एक बूँद में भी अग्निपर माणु की शान्त करने की शक्ति है । अमुद्वेगकर धर्म का अर्थ भी निरर्थक नहीं जाता । फिर वह कान ही उद्दिष्टमानी है कि 'अप्यमे' में तो थोड़े हुए एक काने की भी हम उपेक्षा करें ? । इसी अस्मिमाय से महान् कहते हैं-

नहि कर्म्याशक्तु कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतं महता मयात् ॥

६६-कस्मानुगतिमूलक-अथःपन्था

'कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना ही अथःपन्था है । हम सार्वबनीन विद्वान्त को सामने रखते हुए, प्रायश्चित के मय से त्राण पाने के लिए ईश्वरानुभवा की मूलाधार बनाते हुए, उन विशुद्ध महालुप्तों की भी मयाशक्ति आवश्यक ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए । इस उपाय से 'नका' भी अस्त्यु वय निरिचत है ।

६७-भद्रालु, शास्त्रमक्त, किन्तु युगधर्म्य ता पीडित मानवों का प्रश्न एवं तत्समाधान प्रणाम, भार तदुपकारक मक्तिशाली पर सम्मरण—

[illegible]

६८ सुदुराचारी मानवशेक के सम्बन्ध में प्रश्न तत्समाधानशृङ्गा, ७४ मन्त्रिपरिषद् के
साध्यम से सुदुराचारी का मो सम्भाषित-परिचाल—

[illegible]

अपि अत्र सुदृग्वारो भजत मामनन्यमाह ।

माधुग्नं य मन्त्रस्य मन्त्रग व्यवर्तिनो हि सु ॥

८८-मुद्रगुप्तारी मानववर्ग की साक्षरता का समन्वय-प्रयास---

“मगधन का सञ्चय भी एक विधियन लभ्य है। साधारण के लक्ष्य का उस यज्ञ का भी सब समझत है कि कुशावरी को आदिपति कि वह प्रजा लेकर सबका सर्वोच्च योनि लेकर हर राम-हर राम विद्या न। परन्तु एक प्रजा कुशावरी को सर्वोच्च विद्या में प्राप्त करता है। माया लेकर सब

आत्म कर देगा अतममय है। यहाँ तो यही वैसी ही भक्ति बन सकती जो हमके दुराचार में बाधा न डाले। दुराचरण के अतिरिक्त नामस्मरणलक्षणा भक्ति के लिए ॥ यदि उसके जीवन में समग्र होता यदि वह यह जानता कि नामस्मरण दुराचार को दूर कर देगा दूसरे शब्दों में यदि वह दुराचार को समझने की योग्यता रखता तो वह दुराचार में प्रवृत्त ही नहीं होता। प्रश्न तो यह है कि, जिसे दुराचार के अतिरिक्त और कुछ अन्धता ही नहीं लगता वह क्या करे? उठ ही भक्ति का स्वरूप एकमात्र यही हो सकता है कि, वह अपने दुराचार को अपना न समझकर ईश्वरीय प्रेरणा समझने लगे। उन दुराचार-व्यवहारों को अक्षरशः निमित्त की महिमा ही समझे। इस अन्वय से अपनापन हटाता हुआ वह दुराचारी अवश्य ही 'साधु' बदलावेगा एवं कालान्तर में तो यह वास्तव में साधु बन ही जायगा। यही सत्य भक्तिसमार्थ इस का अर्थ है।

१००—भारतीय हिन्दू-मानवातिरिक्त एतद्देशीय, तथा इतर-देशीय मानववर्गों का भी परित्राता गीता का भक्तियोग, एवं स्व स्व-कर्तव्य-का आधारभूत भक्तियोग से मानवमात्र का सम्भावित आत्मप्राण —

न केवल भारतवासी ही अपितु दूसरे देशों के मनुष्य भी इसी उपाय से शान्ति-काम कर सकते हैं। एक मुक्तमान का यही कृतव्य होना चाहिए कि वह सर्वसौ सुहृत्सम भावित्व को अपना अनन्त देवता मानता हुआ कृतव्य में प्रवृत्त रहे। यह अनन्यनिष्ठा ही इसकी बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायधर्म से छेड़ कर देगी। इसीप्रकार ईसाई-पारसी-बहुवी आदि ॥ तब सभी भक्ति अपने अपनी दिशा के अनुकूल अपने अपने ईष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा रखते हुए यदि कर्म में प्रवृत्त रहेंगे तो वे साधु ही मान पायेंगे। एवं गीताछिद्वान्त के अनुसार वे भी अवश्य ही कालान्तर में परशान्ति का अधिकारी बन पायेंगे।

१०१—धर्म-कर्म-आचार-अद्या-शास्त्र-आदि की सन्निष्ठाओं के प्रचण्डविरोधी पुरुषपुरुषों का संस्मरण—

अब वे पुरुषपुरुष? शेष यह बाते हैं जो उक्त उपायों में से किसी एक का भी अनुगम करने के लिए मत्त नही हैं। उनका क्या मन्तव्य रहता है? एवं वे किस पथ के अनुगामी बने रहते हैं? इन प्रश्नों का स्वयं गीतने ही स्पष्टीकरण कर दिया है।

१०२—आसुर, दैव-मंद निबन्धन द्विविध मानववर्ग, आसुर मानववर्गादुगता कान्पनिक-मान्यताएँ, तदनुप्राणित सत्य, और इस सत्य का दुराग्रहात्मक-आग्रह—

अब न। इस (मायात्मक) विषय में आसुर और दैव नामों का प्रचार की खिचड़ी है। इनमें से दैववर्ग, का हमने विस्तार से निबन्धन कर दिया है। अब आसुरवर्ग का स्वरूप सुन। शास्त्रने जिन कर्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है उनका एक शास्त्रने जिन कर्मों से बचने का आदेश दिया है—उनका इन आसुर-मनुष्यों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। शास्त्रोक्त विधि एवं नियम दोनों ही इन की दृष्टि में निरयत्न हैं। अपने दृष्टानुवृत्त कर्मों में ही वे प्रवृत्त होते हैं एवं इनका का ही निष्पत्ति में मुख्य स्थान

न है। इनमें आम्हेंतर एव बाह्य क इना प्रकार की पवित्रताओं का आभाव है। शास्त्रोक्त आचार का भी अनैव आभाव है। अथ कदा वस्तु है इसका तो हर्ष यान भी नहीं है। त्रिमे य अपनी ताम्रपत्रिणी युगधम्मनिगता कम्पनास मत्त मान लत है, यही इनका मय है। आर तनुनुमाणिता दुःखमहरि है। इनका मत्तामह है। (गीता ११।१०)।

१०३ अनीश्वरः दाममोगमात्र-परायण-आमकामी-नराधमों का प्रकृतिवाद-म्यामोहन एवं तनुप्रवण-काममात्र—

इयान्तर मय-गोच-विधि नियम म रहित वे आसुर मनुष्य रथ अक्षय में रत रहते हुए बन्ध का भी आश्रय ही मानते रहते हैं। "नही इति में इश्वरमत्ता का भी कीट मूय नहीं है। य किशुब नथर बाही (नियतिशरबाही किवा प्रहतिशरही) ही है। अम्म अथम्म को वे सुख दुःख का कारण नहीं मानते। अस्तु कम्पनास को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। "प्रवोदति का एकमात्र अर्थ 'कर्म' (इयति न्दा) ही है। ईश्वर का प्रभाव में काट सम्बन्ध नहीं है। (१ ११।१०)।

न बुद्धि नान्तरि हृद को प्रभाव मानते एव आमा (प्रत्यात्मा) और बुद्धि दोनों के वास्तविक प्रियम (अन्तर्लोचनजन विद्याविशम) से बर्जित एव हुए य आसुर मनुष्य मन्धर के नाश के लिए (पृथि निरु) उम क ों में ही प्रवृत्त रहते हैं। (गी ११।१०)।

१०४ दम्म-मान-म-स टम्मच प्रमत्त आसुर-मानवों की निरुपकर्म प्रवृत्ति—

कभी पूर्व न होने वाली कामना का आश्रय लेकर बहिष्मन्ताक्षिण-लक्षण दम्म स्वात्मान-कृपाम्भीकृति-नखण मान लाककविशम-मध्यमलक्षण मधु म निव्य सुख रहते हुए अर्थात् पद्यों की ही भ्रष्ट मानते एव अपनी बुद्धि के लमन मत्र का गुच्छ ममभने हुए मोक्षमणिबन्ध मान आर मयनिका का अस्मान करत हुए, लम्बा अपवित्र व आसु मनुष्य सर्वथा निरुद्ध कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं। (गी ११ ०)।

१०५-आद्यापाय-वद्ध आम-कोष परायण अथ-सुखपल्लिप्सु नराधम—

उन विन्ध के, विन का कि अन्न प्रत्यक्ष काल में ही दाया अनुगामी करते हुए वे पम्पर काम-आमा की ही वनपुद्गाराय मानत हुए आम-आय में निव्य प्रवृत्त विविध प्रकार की आगाओं से बद्ध अपनी काम भागवामना का शमन व न के विष अग्राय म ही अयनव्य की अय्य किवा करत है। (११ ११)।

१०६-विशिष्ट माइजाम-ममाधिष्ठ काण्डनिक नामयत्राणि में आयक-म्यामक नरकपया तुगामी आसुरमानव—

आय मने यह प्राण करलिषा कम मरा आसुर मनारथ निष्ठ हाशायमा यह ना मरा है ही कम यह आर हाशायमा वृद्ध ममय में में धनयान यन जाय'गा, मने उम शत्रु का मार दिया

पृथि व न मर क विन व बाह्य विविध का आम्हेंतर व न है। वस्तु के बाह्य रूप (मातुन जीन य) में सुन्दर व यन व अशुन्दर की वास्तविक रत है।

हैं दूसरों को भी इसीप्रकार चुन चुन कर मारूँगा। मैं सम्पत्तिशाली हूँ मुझमें भोगसामर्थ्य है मैं मित्र हूँ, वलवान हूँ सुखी हूँ, वैभव से युक्त हूँ, भरा परिवार बहुत बड़ा है मुझ जैसा आज दूसरा कौन सुखी है, मैं जाग (अवेक) करूँगा दान करूँगा। बड़ा भानन्व मनाऊँगा इसप्रकार की भावनाओं से विमोहित अनेक विषयों की ओर अपने चित्त को खिंचित रखने वाले महामोहबाल से विरह हुए काममोर्गी में ग्राम्य वे आसुर मनुष्य बोधनरक में ही गिरते हैं (१३ १४ १५ १६)।

१०७-व्यक्तिविमोहनमूला अष्टता के दम्भ से मदोन्मत्त नराधमों की लोकेपेक्षा—

सांसारिक वैभव अभिमान मद् से युक्त अपने मन से ही अपने आप को उत्तम समझने वाले ये पादर (वैदिक वक्ता की उल्लेख कर लोकप्रसिद्धा की प्राप्ति के लिए) सत्त्वा शास्त्रविद्वद् वैराग्य ज्ञान-ज्ञान नाम-यज्ञों का ही बड़े दम्भ से अनुपान करते रहते हैं। (१७)।

१०८-प्रत्यगात्मस्वरूप-अव्ययेश्वर के अत्यन्तम प्रतिद्वन्द्वी नराधम—

मैं कुक्षरीक्ष सम्पन्न हूँ मयशास्त्रपाज्जित हूँ, सर्वज्ञ हूँ, धर्मिण हूँ, सर्वोत्तम हूँ—इसप्रकार अपनी सम्पूर्ण इतिवीं की सर्वश्रेष्ठ सम्पन्न का अहङ्कार करते हुए बल-व्य-कर्म-क्रोध के प्रवाह में प्रबाहित होतेहुए ये अधम मनुष्य मुक्त स्वध्यायक अव्यय की व्याप्ति से डर ही किया करते हैं। अपना स्वतन्त्रत्व ही अपना स्वाय ही इन का मूलमन्त्र है। सर्वव्यापक प्रत्यगात्मसत्त्वक अव्ययेश्वर के लो से नास्तिक घोर शत्रु ही बने रहते हैं। (१८)।

१०९-आसुरी-योनियों के चक्र से चक्रापित नराधमों का आरयान्तिक पतन

अन्धबामा से शत्रुता रखने वाले इन कुर कुटिल नरविशाली का मैं (अव्यय) पुन पुन आसुरी योनियों का ही अनुगामी बनता रहता हूँ। अनेक कर्मों पर्यन्त आसुरीयोनिषा के चक्र में कैसे हुए वे मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर अज्ञानगति के ही पाव बनते हैं। (१९)।

११०-सम्मानधिभूढ अतएव स्वरूप विभूढ, इत्यर्थ नराधमों का विनष्टमाय इतिवृत्त—

इसप्रकार भगवदुपदिष्ट किन्ही भी मार्ग का आधार न करने वाले ऐसे स्वेच्छाकारी मनुष्यों का अत्युन्मत्त मत्वा ही अत्यन्त है। एक स्थान पर ही भगवान् ने बड़े आदेश के साथ इन उन्मत्तगामियों के लिए यह नामनि दे दी है कि—'सम्मानधिमूढा जह्नु मनुष्यों का सर्वानारा ही निरिपत ह' 'सर्वज्ञानविभूढा ज्ञान विद्धि न ज्ञानवन्तम्'। इन अमिनिष्टि जीवों के अतिरिक्त गीताशास्त्र का मर भे शिष्यों के मनुष्यों के लिए अत्युन्मत्त का मार्ग बनता रहा है। गीताप्रतिपादित विज्ञाना म मनुष्यमात्र अपना अत्युन्मत्त माधन कर सकते हैं। अतएव गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की सीति सीमित न रह कर विश्वशास्त्र ही बन गया है। इतर शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र की यही मय से बड़ी व्यापकता है। आर उम व्यापकता का प्रधान अन्तर्म है—गीता की योग्यही उम में भी मध्यस्थ अतिव्याप। आर यही उम नियम्य का मुख्य प्रतिपाद विषय है।

१११-‘मक्ति’, आर ‘उपासना’ शब्दों के धार्याओं का स्वरूप-ममन्वय-प्रयास

यदि सर्वलक्षणों की दृष्टि में मक्ति और उपासना दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं मनु विज्ञानदृष्टि से कोई शब्द किसी शब्द का पर्याय नहीं बन सकता। इन सामान्य-वैज्ञानिक-परिग्रह के आधार पर हम यह समझते हैं कि मक्ति-और उपासना शब्द भी अमान अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। अतएव ही मक्ति शब्द किसी अन्य अर्थ का वाचक है एवं उपासना शब्द किसी दूसरे ही अर्थ का वाचक है। आर अब हमें स्पष्ट से इसी वास्तव्य का विचार कर लेना है।

सेवात्मक मन्त्र मनु से ही मक्तिशब्द उत्पन्न हुआ है। सेवामय का अर्थ है ‘स्वयं’ (संवा-स्वयंवाच्य अमर ०।६।१०)। (विश्वकर्मा रवान (कुला) अक्षप्रदत्ता स्वामी के पीछे पीछे अनुपावन करता रहता है। प्रथम सेवक भी अक्षप्रदत्ता स्वामी के पीछे पीछे ही अनुपावन करता रहता है। स्वामी के प्रत्येक सेवक की इन अनुपावनदृष्टि का ही नाम सेवामय है। इसी सेवामय का नाम ‘मक्ति’ है। एवं मक्तिमय का अनुपावी मनुष्य ही ‘मक्त’ है।

११२-‘मक्ति’ शब्दानुगता सेवादृष्टि का स्वरूप विगूढान-—

मक्ति शब्द कामना की ही अक्षरे उतर में रहता है। रवानदृष्टि में रवान की अक्ष पर ही दृष्टि है। अक्षा कार्य से ही रवान स्वामी का मक्त बना रहता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वरानुगताकार्य से अक्षरित मनुष्य ही ईश्वर का मक्ति ईश्वरविभूतिरूप उत्पन्नकामी का मक्त बना रहता है। मक्तिमय में मक्त स्वामी के अनुग्रह की ही अक्षरितगता रहता है। यही इसकी में मायमक्ति है। वे एक आगे के प्रकरणों में विस्तार से कल्याण बाने बलता है।

११३-‘मक्ति’ शब्दानुगता ‘माग’ ‘अश’ मय्यादा एवं तन्मि-धना ज्ञानात्मिका मक्त्यात्मिका, कर्म्यात्मिका-मक्ति-त्रयी का स्वरूप विगूढान-—

मक्ति का दूसरा अर्थ है माग किना अक्षर। किसी भी उपास से बीजाला ईश्वरानुगतात्मिका का अक्षरित बन जाय यह उपास ही मक्ति है। प्रत्यगात्मा उपास शरीरकल्याण के लिए से मागानुगतात्मिका मक्ति, कर्म्यात्मिका मक्ति, उपासनात्मिका मक्ति के तीन रूप हो जाते हैं। गीताप्रवृत्तिरित ज्ञानबुद्धियोग-संख्या साधनानुगता मी एकप्रकार का मक्तिमार्ग ही है। कर्मबुद्धियोग-संख्या योग-निगता मी एकप्रकार का मक्तिमार्ग ही है। एवं ऐश्वर्यबुद्धियोग-संख्या मक्तिनिगता मी एकप्रकार का मक्तिमार्ग ही है। तीनों ही गीता के द्वारा उपोषित योग हैं। तीनों में ज्ञान-कर्म दोनों का सम्मिश्रण है अतएव तीनों ही समस्तबुद्धियोगों की प्रवृत्तिमय से अनुग्रहित हैं। क्योंकि-तीनों में दोनों हैं अतएव तीनों की तीनों नामों से सम्बद्ध किना बालकता है। ज्ञानयोग में कर्म का समावेश है। इसलिए यह कर्मयोग मी है। ईश्वरार्पणमात्र ही इसलिए यह मक्तियोग मी है। कर्मयोग में निराम भाव का समावेश है। इसलिए यह ज्ञानयोग मी है। ईश्वरार्पणमात्र मी “आत्मनस्तु” इस अक्षरितार्थ के द्वारा समाहित है इसलिए यह मक्तियोग मी है। मक्तियोग में ज्ञान का समावेश है। इसलिए यह ज्ञानयोग मी है। कर्म के समावेश से कर्मयोग मी है। इस दृष्टि से ज्ञान-कर्म-मक्ति तीनों के ही निम्न विहित तीन तीन रूप हो जाते हैं।

११४-ज्ञानात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यह ज्ञानयोग (१)—ज्ञानात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें केवल आध्यात्मिक निवृत्त-कर्म का प्रवृत्ति रहेगा एवं धारण ध्यान-समाधि-लक्षण ईश्वरप्रेममूला अत्यन्तप्रधाना ईश्वरचिन्ता रहेगी। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग का आधिकारी कर्म विरता ही बन सकेगा। कारण, यहाँ का कर्म भी निगुणभाव में ही सम्पन्न रहता है एवं यहाँ की उपासना भी निगुणभावस्थिति ही है। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में लोकसंसार का आत्यन्तिक सम्भाव रहेगा।

११५-कर्मोत्तम-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिशा का समन्वय —

यह ज्ञानयोग (२)—कर्मोत्तम ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें प्रधानता तो निवृत्ति-लक्षण आध्यात्मिक कर्म की ही रहेगी परन्तु आधिकारिक से लोकसंसारिक व्यक्त कर्मों पर भी दृष्टि रहेगी। साथ ही उपासना भी रहेगी तो आध्यात्मिक निगुणभाव ही परन्तु आधिकारिक से सगुणप्रभाव की ओर भी मुक्त रहेंगे। इस कर्मोत्तम ज्ञानयोग में लोकसंसार का आधिकारिक से समावेश रहेगा।

११६-भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय—

यह ज्ञानयोग (३)—भक्त्यात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा जिसमें आध्यात्मिक ज्ञानार्थ के साथ साथ निवृत्तिपूर्वक निगुणोत्तम आध्यात्मिक कर्मों के साथ साथ निष्कामबुद्धि का सहित लोकसंसारिक व्यक्त कर्मों का भी विशेषरूप से समावेश रहेगा। उपासना रहेगी निगुण प्रधाना ही परन्तु सगुण का भी साधनरूप से समावेश रहेगा। इन तीनों ज्ञानयोगों में—ज्ञान-कर्मोत्तम भक्तियोगसमय ज्ञानयोग सर्वोत्तम माना जायगा कर्मोत्तम ज्ञानयोग इसमें अक्षरकृता का माना जायगा एवं ज्ञानात्मक ज्ञानयोग सबसे नीची भेयि का माना जायगा। कारण—भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में लोकसंसार पर विचार दृष्टि है अतएव सार्व के साथ साथ यह परमार्थभाव में भी युक्त है। कर्मोत्तम ज्ञानयोग भी आधिकारिक लोकसंसार के कारण आधिकारिक रूप से परमार्थ की ओर ही मुक्त हुआ है। परन्तु ज्ञानात्मक ज्ञानयोग लोकसंसार की उपेक्षा करता हुआ विशुद्ध रसाय का ही अनुमात्र बन रहा है।

११७-ज्ञानात्मक-कर्मयोग, कर्मात्मक-कर्मयोग, एवं भक्त्यात्मक-कर्मयोग का स्वरूप-पटिवृत्त—

दूसरा है कर्मयोग। यह कर्मयोग (१)—ज्ञानात्मक कर्मयोग कहलाएगा जिसमें आध्यात्मिक ज्ञानो-परिद नैकर्म-कर्मों की प्रधानता होगी एवं सगुणप्रभावमूला ईश्वरचिन्ता-लक्षण आध्यात्मिक उपासना का समावेश रहेगा। इसमें लोकसंसार पर आधिकारिक से दृष्टि रहेगी। यह कर्मयोग (२)—कर्मात्मक कर्मयोग कहलाएगा जिसमें लोकसंसारिक व्यक्त कर्मों की ही प्रधानता रहेगी एवं उपासना का बरी रूप रहेगा। यह कर्मयोग (३)—भक्त्यात्मक कर्मयोग कहलाएगा जिसमें इक्ष्वरभक्तता को प्रधान बना कर लोकसंसारिक व्यक्त कर्म प्रधान रहेंगे। इन तीनों कर्मयोगों में भी भक्तियोगात्मक कर्मयोग सर्वो-त्तम माना जायगा कर्मयोगात्मक कर्मयोग इसमें अक्षरकृता का माना जायगा एवं ज्ञानयोगा-त्मक कर्मयोग इसमें भी नीची भेयि का माना जायगा। कारण यही है कि भक्तियोग एवं कर्मयोग

में लोकम्बर के साथ साथ ईश्वरानन्दनता का भी विनाश है। कर्ममयिक कर्मयोग में लोकम्बर की तो प्रधानता है परन्तु धनन्तामयता भी नहीं गायी कन रही है। परन्तु ज्ञानात्मक कर्मयोग में लोकम्बर की भाँप है एवं धनन्तामय भी मुक्तिप्राप्ति है।

११८-ज्ञानात्मक-मक्तियोग, कर्ममयिक-मक्तियोग एवं मक्त्यात्मक मक्तियोग का विरलनर्तन—

तीसरा है मक्तियोग। यह मक्तियोग (१)—ज्ञानात्मक मक्तियोग कहा जाएगा जिसमें प्रधानतः ईश्वरानन्दानन्द-सम्पादक कर्मों की रहती एवं उन्मुक्त ही अष्टाङ्गमुक्ता ज्ञानकर्मा रहती। लोकम्बर होगा परन्तु लोकम्बरवद्वि से नहीं आशु ज्ञानवद्वि म। यह मक्तियोग (२)—कर्ममयिक मक्तियोग कहा जाएगा जिसमें अल्प-ज्ञानकर्मा के साथ साथ लोकम्बरवद्वि अल्प कर्मों पर प्रधानवद्वि रहती। एवं यह मक्तियोग (३)—मक्त्यात्मक मक्तियोग कहा जाएगा जिसमें अल्पमयिक ज्ञान एवं अष्टाङ्ग मुक्तकर्मों पर समान वद्वि रहती। "न तीनी मक्तियोगी में मक्त्यात्मक मक्तियोग का सर्वप्रथम माना जायगा। ज्ञानात्मक मक्तियोग को आचरकता का कहा जायगा एवं कर्ममयिक मक्तियोग को मध्यम मक्ति का माना जायगा। कायक भी है कि मक्त्यात्मक मक्तियोग म मक्त्यात्मक मक्तियोग है लोकम्बर की भी पूर्ण रहा है। कर्ममयिक मक्तियोग में धनन्ता गीत है। एवं ज्ञानात्मक मक्त्यात्मक म मक्त्यात्मक मक्ति है।

११९-ज्ञानबुद्धियोगाहुता सिद्धिबद्धा एवमर्षबुद्धियोगानुगत राजविद्या एवं धर्म बुद्धियागानुगत आपविद्या स अनुप्राप्तिता गीता के द्वारा सहायिता ज्ञान-मक्ति-कर्मयोगत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

पाठकी का विहित है कि उक्त तीनी मर्षाविन योगी का गीता की सिद्धिबद्धा, राजविद्या आचरविद्या न तीन विद्याओं म निरूपण हुआ है। ७ म अध्यायमिच्छा सिद्धिबद्धा में ज्ञानबुद्धियाग-सहाय मर्षाविन ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है। १-१-११-१२-अध्यायमिच्छा राजविद्या में परमार्थ-बुद्धियाग-सहाय मर्षाविन मक्तियोग का निरूपण हुआ है। एवं १३-१४-१५-१६-१७-१८ अध्यायमिच्छा आपविद्या में धर्मबुद्धियाग-सहाय मर्षाविन कर्मयोग का निरूपण हुआ है। पाठकी की यह भी धारणा है कि ज्ञानयोग का आत्म्या की सम-कता म मक्त्यात्मक है मक्तियोग का प्राणिकता म मक्त्यात्मक है एवं कर्मयोग का आचरकता म मक्त्यात्मक है। योगत्रयी के उती मीतिक मक्त्यात्मक में म भी मक्त्यात्मक दिशा गया है कि आत्म्या की के तीनी कर्माएँ विद्वद्भाव के कारण तीनी भाग म भुक्त हैं। "ती विद्वद्भाव म तीनी योगी में प्रत्येक म तीनी योगी का धर्ममयि मिद्वद्भाव है। प्रधानता कयो के तीनी में मक्त्यात्मक की रहती है। अतएव म साथ मक्त्यात्मक नादी के मक्त्यात्मक म दायर मक्त्यात्मक प्रधान मक्त्यात्मक म की मक्त्यात्मक है।

१२०-त्रिष्टुमागानुर्वाचनी यागत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इसी नामधेयता के कारण गीताप्रतिपादित तीनी विद्याओं में यद्यपि कर्म प्रधानत्व से ज्ञान मक्ति-कर्म-योगी का ही निरूपण हुआ है। परन्तु विद्यावृत्त के आचरण में पाठकी का इत निरूपण

पर भी पहुँचना पड़ेगा कि भगवान् ने तत्त्वविद्याका में प्रधानयोग निरूपण के साथ साथ विशुद्धानुष्ठान-अथवा मुख्यदेहा से अश्विनाभूत उन इतर दोनों योगों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। विशेष विस्तार तो मूलभाष्य में ही देवना चा हए। यहाँ केवल प्रकरण-संगति के लिए उन योगों के समर्थक कुछ एक वचन मात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१०१—ज्ञानात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानयोग (मिद्धविद्यात्मक—७-८ अध्यायानुगत)—
(त्रिवृन्मनोयोग)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोग —

१—अध्याययोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुच्छं दिव्यं याति पार्थालुचिन्तयन् ॥ (८।८।)

२—यदधर वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं मग्नह्य ब्रवीमि ॥ (८।१)

३—सर्वद्वाराणि मयम्भ मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्न्यार्चायात्मन प्राशमास्थितो योगधारणम् ॥ (८।१०) ।



१२२—कर्मात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

२—कर्मात्मको ज्ञानयोग —

१—उत्तराः सर्वं परैत ज्ञानी स्वात्मैव म मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८) ।

२—अरामरसमोक्षाय मामाभित्य यतन्ति यः ।

तं ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मणास्त्रिसम् ॥ (७।२६) ।

३—साधिभूताष्टिष मां साधियन्नय य विदुः ।

प्रपाशकालऽपि च मां ते विदुर्गुह्यततः ॥ (७।३०) ।



१२३—भक्त्यात्मक ज्ञानयाग के समर्थक वचन—

३—भक्त्यात्मका ज्ञानयोग —

१—तथां ज्ञानी नित्ययुक्त एकमक्तिर्बिशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽस्ययमहं स च मम प्रिय ॥ (७।१७) ।

२—यद्गुणं जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वागुदेव सधमिमि म महात्मा सुदुलभ ॥ (७।१८) ।

३—येषां त्वन्तर्गतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

तं जन्ममोहनिर्मुक्ता मज्जन्ते मां दृढव्रता ॥ (७।२८) ।

— १ —

२—भक्तियोग (राजविद्यात्मक - ६-१०-११-१२-अध्यायानुगत) (त्रिहनुपाणयोग)

१२४—ज्ञानात्मक भक्तियाग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मका भक्तियाग —

१—महात्मानस्तु मां पार्थ ! ईर्ष्यां प्रकृतिमाभिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ब्राह्मा भूतादिमम्ययम् ॥ (६।१३) ।

२—सक्तः कीर्णमन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (६।१४) ।

३—ज्ञानयत्नेन चाप्यन्ये यजन्तो माह्वपासते ।

एकत्वेन पृथक्स्वन बहुपा विरक्तोऽल्लभम् ॥ (६।१५) ।

१२५—भक्त्यात्मक भक्तिमाग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मका भक्तियाग —

—ममोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्विष्योऽस्ति न प्रिय ।

यं मज्जन्ति तु मां भक्त्या नयि ते तेषु चाप्यहम् । (६।२६)

२-मन्मनामव भद्रमक्तो मधाभी मा नमस्कृत् ।

मामेवैष्यसि युक्तौवमात्मान मत्परायण ॥ (६।३४)

३ मय्येव मन आधत्स्व मयि युद्धि निवशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न मशय ॥ (१२।८) ।



१२६-कर्म्यात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

३-कर्मयोगात्मको भक्तियोग -

१-यत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ॥ (६।२६) ।

२ यत्करोषि यदश्नामि यज्जुहोषि ददामि यत् ।

रक्षयस्यसि कान्तेय ! तत्कुरुष्व भद्रयणम् ॥ (६।२७) ।

३-शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धने ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (६।२८) ।



— २ —

३-कर्मयोग [आर्पविद्यात्मक - १३ १४ १५ १६ १७-१८ अध्यायानुगत]

(त्रिवर्णाश्रमयोग)

१२७-ज्ञानात्मक कर्मयोग से समर्थक वचन—

१-ज्ञानात्मक कर्मयोग -

१ अमानिषमदम्भिषमद्विसाक्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्वैर्योगाभिविनिग्रहः ॥ (१३।७) ।

२-इन्द्रियाण्येव ब्रह्मण्यमनहकार एव च ।

बन्धमन्युज्जराभ्यापि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।

३-अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानाधदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यन्तोऽन्यथा ॥ (१३।९) ।



१२८-मक्त्यात्मक कर्मयोग के समर्थक वचन—

२—मक्त्यात्मक कर्मयोग—

१-मायं ध्यानन्ययोगेन मक्तिरभ्यभिषारिणी ।

विबिन्तदशमविष्णुमरदिबनसंसिद्धि ॥ (१६।१०) ।

२-इति क्षेत्रं तथा ज्ञान क्षेत्रं चोक्त समासत ।

मद्वक्तं ण्डडिज्ञाय मद्रमाबायोपघते ॥ (१३।१८) ।

३-मक्त्या मायमिजानाति यात्रान्यरक्षास्मि तत्पत ।

ततो मां तत्पतो ज्ञाप्ता विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५) ।



१२९-कर्मत्मक कर्मयोग के समर्थक वचन—

३—कर्मत्मक कर्मयोग—

१-यद्य-दान-तप-कर्म न त्वान्यं कार्यमेव तत् ।

यद्यो दानं तपरैश्च पावनानि मनीषिष्याम् ॥ (१८।५)

१-गतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कृत्वाप्यानीति म पाथ ! निश्चितं मतमुद्यमम् ॥ (१८।६) ।

३ न द्वेष्टदुष्कर्म कर्म कृत्वा नानुपजत ।

न्यागी मन्त्रममाविष्टा मयावी द्विषमशय ॥ (१८।१०) ।

— ३ —



१३०-ज्ञानबुद्धियागलक्षण मगाधित-ज्ञानयाग—

१-ज्ञानबुद्धियागलक्षणा-ज्ञानयाग (मिद्वविश्वारहम्यम्) ।

१-मक्त्यात्मक ज्ञानयाग—माकेरवरमं प्रहृष्टपा—उत्तमः

२-कर्मत्मक ज्ञानयाग—जाह्नवप्रपुष्ताऽपि—मध्यम

३-गातात्मक ज्ञानयाग—माहर्मप्रहृष्टान्य प्रथम

१३१-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण मशोधित-भक्तियोग—

२-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणो भक्तियोग (राजविद्यारहस्यम्) ।

१-मत्स्यात्मको ज्ञानयोग-ज्ञानकर्मसमन्वितवृत्त्य-उत्तम

२-कृष्णात्मको भक्तियोग-लोकसंग्रहप्रधान ———मध्यम

३-ज्ञानात्मको भक्तियोगः-आशिक्षलोकसंग्रहात्मकः प्रथम

१३२-धर्मबुद्धियोगलक्षण सशोधित कर्मयोग—

३-धर्मबुद्धियागलक्षण कर्मयोग (आर्पणविद्यारहस्यम्) ।

१-मत्स्यात्मक कर्मयोग-लोकेश्वरसमन्वितवृत्त्य-उत्तमः

२-कृष्णात्मक कर्मयोग-लोकसंग्रहप्रधान ———मध्यम

३-ज्ञानात्मक कर्मयोग-लोकसंग्रहविष्णुतः-प्रथम

१३३-उपासनात्मक-भक्तियोग की श्रेष्ठता का समन्वय, तदाधारभूत प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक-आत्मालुगत-मत्स्यात्मक भक्तियोग—

उक्त तीनों योग वे शास्त्रीय योग हैं जिनका अर्थोचन करत हुए मगवान्ने गीताशास्त्र में (लोक निष्ठा की रक्षा के लिए) उल्लेख कर लिया है । इन संशोधित तीनों योगों का जो भक्तियोग है उसे हम उपासनात्मक भक्तियोग होने से 'भक्ति न कह कर 'उपासना' ही कहेंगे । यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो विविध भक्तियोगों में से भी केवल मत्स्यात्मक भक्तियोग को ही 'उपासना' कहा जायगा । ज्ञानात्मिका भक्ति भी भक्ति है एवं कर्मात्मिका भक्ति भी भक्ति है । परन्तु मत्स्यात्मिका भक्ति ही उपासना है । यही योगात्मिका भक्ति है । तीनों भक्तियों में से इस योगात्मिका भक्ति का ही प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है । इसी भक्तिरूप के लिए मगवान्ने "तेऽतीव मे प्रिया यह कहा है । रोप दीनी भक्तिची एक विविध-भक्तियोग और विविध कर्मयोग इन सब का शारीरक-आत्मा से ही सम्बन्ध है ।

१३४-ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगानुबन्धी-भेदविभाग ५ तारतम्य का स्वरूप-समन्वय एवं उपासना, तथा भक्ति-निष्पन्न-तथ्य का समन्वय—

अपनी यह टीका है कि विविध ज्ञानयोगों में मत्स्यात्मक ज्ञानयोग भी आशिक्षरूप से प्रत्यगात्मा का अनुगामी बना हुआ है विविध कर्मयोगों से से मत्स्यात्मक कर्मयोग भी आशिक्षरूप से प्रत्यगात्मानुगामी बना

दुष्टा है इन विविध मक्तियोगों में से ज्ञानात्मक मक्तियोग तथा कर्मात्मक मक्तियोग भी आंशिकरूप से प्रत्यक्ष या सूक्ष्मी बना हुआ है। और इसी विशेषता के कारण हमने विविध ज्ञानयोगों में से प्रत्यक्षप्रत्यक्षी मत्त्वोपेक्षक ज्ञानयोग को एवं विविध कर्मयोगों में से प्रत्यक्षप्रत्यक्षी मत्त्वोपेक्षक कर्मयोग को, इन दोनों की अपेक्षा विविध मक्तियोग की श्रेष्ठ कल्पना है। तथापि प्रत्यक्षप्रत्यक्षी का वास्तविक अनुग्रह कर्तव्य विविध मक्तियोगों में से मत्त्वोपेक्षक मक्तियोग पर ही है। अतः इसे ही हम सर्वश्रेष्ठ कहेंगे। माया ही का तो नाम मक्ति है। मत्त्वोपेक्षक ज्ञानयोग में ज्ञान की मक्ति प्राप्त होती है। का भी शारीरिक अचरजान की मक्ति, अचरजान की मक्ति। मत्त्वोपेक्षक कर्मयोग में कर्म की मक्ति प्राप्त होती है। तो भी शारीरिक कर्म की मक्ति, अचरजान की मक्ति। अतः मत्त्वोपेक्षक मक्तियोग में अचरजानमय अचरज ही प्राप्त होती है। अतः इस में अचरज का ज्ञानोपेक्षक बना हुआ है। अचरज कर्मात्मक मक्तियोग में अचरज की कर्ममक्ति ही प्राप्त होती है। अतः इसमें अचरज का कर्मोपेक्षक प्रदान बना हुआ है। अतः मत्त्वोपेक्षक मक्तियोग में अचरज की ज्ञानमक्ति ही प्राप्त है। एवं अचरज की कर्ममक्ति भी प्राप्त है। अचरज न केवल ज्ञानमूर्ति है न कर्ममूर्ति। अतः उभयमूर्ति है। अतः एवं कर्म दोनों ही अचरज के मांग हैं। अतएव दोनों मांगों के संघर्ष के बिना मक्तिमय अचरज ही रहता है। अतएव एक एक मांग की अनुवाप्ति ज्ञानात्मिका मक्ति, एवं कर्मात्मिका मक्ति तथा अचरज ही है। इतीतिह नमः हमें उपेक्षा न कहकर 'मक्ति' शब्द से ही स्पष्ट करते हैं।

१३४-उपासना, और मक्ति से अनुप्राणित-तारतम्य-विगुदशन—

उपासना का अर्थ है—उप-आसन (समीप बैठना)। ज्ञानात्मिका मक्ति का अनुप्राणित मत्त्व ज्ञानात्मिका अचरज ही अचरजमय के समीप बैठना हुआ है। अतः कर्मोपेक्षक से ज्ञानोपेक्षक विगत है। अतएव मांग-तत्त्वमयि-प्राप्त कला हुआ भी वह "उप-आसन" से विगत है। अतएव कर्मात्मिका मक्ति का अनुप्राणित ज्ञान के उप-आसन से विगत है। मक्तिमयमय मक्तियोग में ज्ञान के भी वह "उप" (समीप) है कर्म के भी उप है। अतः वही 'उपासनामय' तत्त्वमय-समीप प्राप्त होकर है। उपासना, और मक्ति से ही तारतम्य है।

१३५-प्रत्यगात्मनिवृत्तना सर्वश्रेष्ठा बुद्धियोगात्मिका मक्ति का संस्मरण—

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि गीता में वहाँ वहाँ 'मक्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वहाँ वह मत्त्व (१) शारीरिक-ज्ञानमक्ति-लक्षण ज्ञानात्मिका मक्तिमय। (२) शारीरिक-कर्ममयमय कर्मोपेक्षक मक्तिमय। (३) प्रत्यक्षप्रत्यक्षी मक्तिमय ज्ञानात्मिका मक्तिमय एवं प्रत्यक्षप्रत्यक्षी कर्मोपेक्षक मक्तिमय। अतः मक्तिमय मक्तिमय "न चारी" अचरज-मक्तिमयों में से किसी एक मक्तिमय का ही एक है। एवं वहाँ-वहाँ "अचरज मत्त्वोपेक्षक" इत्यदिमय से "अपासना" शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ-वहाँ वह ज्ञान प्रत्यक्षप्रत्यक्षी मक्तिमय (ज्ञानात्मिका) मक्तिमय का ही एक है। और यही गीता की श्रेष्ठ में सर्वश्रेष्ठा योगात्मिका मक्ति है।

• इस मक्तिमय की श्रेष्ठता दूसरे लोगों की अपेक्षा ही उपमानी चाहिए। इसकी श्रेष्ठता का मूल कारण यही है कि यह मक्तिमय मत्त्वमय है अतः मक्तिमय से मिलती जुलती है। अतः जब हम इस

१३७-अक्षरनिबन्धना 'परा विद्या', अक्षरनिबन्धना 'अपरा विद्या' का सम्मरण, एवं तन्निबन्धना शास्त्रीय-योगनिष्ठाएँ—

इन्के अतिरिक्त पाठकी की यह भी नहीं गुला देना चाहिए कि, लोक में जो शास्त्रीय तीन निष्ठाएँ प्रचलित हैं उनका अन्तःकर्म से ही सम्बन्ध है। प्रक्यात्मा ईश्वरतन्त्र है शारीरक आत्मा जीवतन्त्र है एवं भीतिक विरह अगततन्त्र है। तीनों कर्मणः अन्तःकर्मप्रतीति सनातन-ज्ञान-कर्मसमस्त-साक्षर अन्त्य अन्त्यस्त ज्ञानप्रधान अक्षर एवं अन्त्य कर्मप्रधान अक्षर से अतुल्य है। अतःकर्म कर्मप्रधान अगततन्त्र का अपराविद्या (वेदविद्या) से सम्बन्ध है अक्षरकर्म ज्ञानप्रधान जीवतन्त्र का पराविद्या से सम्बन्ध है एवं अन्त्यकर्म ज्ञान-कर्ममय ईश्वरतन्त्र दोनों का अतुल्य है वेदा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

अविद्या (अविद्या-कर्म)—“तस्मै स होषाच-द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह-स्म यद्विद्विदो वदन्ति, परा चैव अपरा च। तत्रापरा-श्रद्धावेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिवा, कर्म, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो न्योतिपमिति।

अक्षरविद्या—(विद्या-ज्ञानम्)—“अथ परा-यथा तदक्षरमविगम्यत। यत्तददृश्यम्-प्राज्ञमगोत्रमवर्णमचक्षुः भोज तदपाशिपाद नित्यं विदुः सर्वगतं सुप्रसम्भम्।—तदव्ययं तदमृतं तदोनि परिपश्यन्ति धीराः।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।

अक्षरं त्वविद्या ब्रह्मतु विद्या विद्याविद्ये इत्येते यस्तु सोऽन्यः॥

—उपनिषत् १।१।१।

१३८-त्रिगुणमात्रानुबन्धिनी वेदवाङ्मय, तन्निबन्धना अपोकारिका त्रिगुणमात्रावका योगप्रवी, और 'निस्त्रैगुणयो मवाञ्जुन' का सम्मरण—

अन्त्यपुरुष का ज्ञानकर्म अक्षर, एवं अक्षर में अक्षरीर्ष होकर जीवतन्त्र एवं अगततन्त्र का सनातन कर रहा है। इस त्रिगुणमेव से ज्ञानकर्म के तीन रूप हो जाते हैं। त्रिगुणमात्रात्मिका अपराविद्या

मगविद्या की दृष्टि से मगविद्या की अज्ञता का विचार करेंगे तो उस समय वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा यह भी अक्षरकर्म में ही रह जायगी। मगविद्या में अन्त्यपुरुष भी है अन्त्यकर्म भी है इसलिए तो यह वैराग्यनिष्ठा के समकक्ष है। पण्डित अन्त्यकर्म के साथ इत्ये आधिभीतिक अन्त्य अक्षरकर्म का भी समावेश है वही इसकी आधिक विरमता है। इसी अक्षरकर्म में इत्ये वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा नीचा आत्मन दे रक्ता है जेवकि ज्ञान के बुद्धियोगपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बताया जाने वाला है।

+ अक्षर मध्यम है। अक्षरकर्म यह पर अन्त्य का भी अतुल्य है एवं अक्षर-मगविद्या अक्षर का भी अतुल्य है। अक्षरकर्म अतुल्य पराविद्यात्मिका अक्षर को अन्त्य, धीर भूतयोनि भी मान लेंगे कि जेवकि—
'एतदप्येवाक्षरं ब्रह्म (अक्षर) एतदप्येवाक्षरं परम् (अन्त्य)। इत्यादि अन्य अतुल्यों में भी स्पष्ट है।

का प्रतिपादक शास्त्र विद्वत् योगप्रदीप का निरूपण करता है। उनमें आध्यात्मिक चार ही ही प्रधानता है। ऐसी हीनी यम आत्मपाद, ध्यानी में ब्रह्म होन हुए ध्यानपति के ही अनुगामी हैं। मगधन की रति में सपानुगामी शास्त्रीय ज्ञान-कर्म-भक्ति, तीनों योग अथाग हैं। यही भाग्येश्वरप्रमत्त ब्रह्मावृत्तों के त्रिगुणसंज्ञात्मक योग हैं। ऐसे कर्मव्यापककाल ज्ञानयोग का मगधन न ज्ञानयोग करने न कर्मव्यापक कर्मव्यापक की कर्मयोग मानते एवं न ईश्वरानुग्रहादिप्रतिफल प्रीतिमय भक्तियोग की भक्तियोग कहते। 'नित्यगुणयो मगधु न'।

१३६-अपराधिषा में पराधिषा अ समन्वय एवं तन्मूलक-योगसु शोभन, तथा 'उप आसन' निबन्धना 'उपामना'—

नरक अनन्तर संशोभित योगप्रदीप हमारे समने आती है। अपराधिषा में पराधिषा का समन्वय ही संशोभन है। वे ही तीनों योग प्रमत्त हैं। इनमें ज्ञानभिमिका-कर्मभिमिका भक्ति का 'मग' माधम समन्वय रखती है 'भक्ति कल्याणी है एवं ज्ञान-कर्मप्रमत्तता मगध्यात्मिका मगध 'उप-आसन' माध के कारण 'उपामना' कहलाती है। शेष रहा विद्या-ध्यायसे आतीत आध्यात्म, और उक्त समन्वय रखने वाली मगध्यात्म। इसमें और उपासना में क्या अन्तर है? इस प्रश्न की सीमा में स्वतन्त्र रूप से अनुग्रह में ही की बात कही है। अथवा योगप्रदीप के समन्वय में विद्वत् विविध दृष्टिकोणों का स्वरूपोत्पन्न हुआ है निम्न विविध दृष्टिकोणों से उन लक्ष्य मगध से कर्मप्रमत्त स्वरूप हो जाता है।

१४०-त्याज्या चरानुगता यागत्रयी—

- १-ज्ञानयोग — कर्मयोगसंज्ञा — ज्ञानयोग
- २-कर्मयोग — फलकामाभिलाषा — अकर्मयोग
- ३-भक्तियोग — ईश्वरानुग्रहाभिधमस्तु चक्षुः अभक्तिप्राप्त

} 'त्याज्या'

१४१-गाथा अक्षरानुगता योगत्रयी—(१)

१-ज्ञानयाग — (अनुगमनीय)

- १-ज्ञानात्मको ज्ञानयोग — शरीरकात्मज्ञानप्रधान (अक्षर)
- २-कर्मजात्मको ज्ञानयोग — शरीरकर्मकर्मप्रधान (मध्यम)
- ३-मक्त्यात्मको ज्ञानयोग — शरीरकात्मज्ञानकर्मप्रधान (उत्तम)

२—कर्मयोग —(गाह्य)

१—ब्रानात्मक कर्मयोग—शारीरकज्ञानानुगत (भवर)

२—कृष्णान्तक—कर्मयोग—शारीरककृष्णान्तक (मध्यम)

३—महत्यात्मक-कर्मयोगः—शारीरकज्ञानकर्मानुगत (उत्तम)

३-भक्तियोग -संगाद्य -

(भक्ति) १-ज्ञानात्मको भक्तियोग — प्रत्यगात्मानुगतशरीरकमानुगत (भ्रवर)

(प्रपत्ति) २-कर्ममार्गो भक्तिपथः — प्रत्यगात्मानुगतशरीरकर्ममार्गः (मध्यम)

(उपामना) ३-मक्ष्यामको मक्षियाग-विश्वस्मानुगतप्रत्यगात्मलक्षणान्स्मानुगत (उत्तम)

१४२-भारतीय महर्षियोंके 'पुराणाप्रज्ञा' से प्रसूता 'गोगप्रयी' का मन्मथ एवं
 द्वितीय-प्रकरणोपरान्त—

परिचय—पवित्रतम—आश्विनपक्ष म अमष्टमि—पार्विरेहीतसंवाधिपन्ना 'भारत' नामक 'अमिनद्व' के अन्तर्ध्याम—वक्रव से धन्यतम—पवित्रतम—वशास्यतम बन हुए हन वाकनतम भारतवर्ष के महिमा म विज्ञाप माह्व में अचर्नीर्ण होने वाले प्रभावतमममूर्ति मशामिमिशाली प्रवचरण 'आरमहृषियों की लक्षानुगत पुरमयीप्रज्ञा मे मानव क अमृतरुच निध वन के निच शिन अवाधिक एवं लाक्ष्म्यदाय्य मरुता—महीयन् उपपन्न का आधिर्भाव हुआ बरी राजपन्न—'भारतीय महृषियों की वागव्रयी नाम म मनि' हुआ शिन हन वरीतव के 'ज्ञान-अस्मिन्-वृद्ध-योग' नामक तीनी वीणी का ही प्रकन्त तृतीय प्रकरण में अनेक दृष्टिकाली म संस्मरण—प्रयास हुआ है । अब अस्मिन् प्रकरण में हमने वागव्रयी म मन्त्र-व श्रुते वाले वृष्युग-वेदमुता—पुराणयुग—इरानयुग—आदि आदि युगधर्मांनुकषी म अमृतागित तीनो धनी के युग-धर्म' मक परिचित—वक्रवी के अन्वय व ही प्रयास ममावित है ।

इति-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वस्वर्गडे

‘योगत्रयी और भारतीय-महर्षि’

नामक

तृतीय-प्रकरण-उपरत

3.

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—
‘योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि’

नामक

तृतीय-प्रकरण-उपरत

३

श्री

अथ—भक्तियोगपरीक्षाया—पूर्वखण्डे—
“युगवर्म्मानुगता--विविध-उपासनाएँ”

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४



(१) - देवयुगानुगता निर्गुणोपासना स अनुप्राणित-पारिमापिक-परिलेख-

“अव्ययोपासना” (निर्गुणा -- अव्यय - ईश)

ज्ञानमेव-उपासना-ज्ञानात्मिका — (अमृतम्)

निर्गुणोपासना-ईशोपासना-ज्ञानात्मिका

मनोमयी-उपासना-ज्ञानात्मिका

सोऽयं निर्गुणोऽव्यय	{	१-आनन्द — आनन्दमयोऽव्यय — मन एव	} तदिदं अव्ययविवर्तनम् मनोविवर्तनम्
		२-विज्ञानम् — विज्ञानमयोऽव्यय — मन एव	
		३-मन — शब्दस्पर्शमनोमयोऽव्यय — मन एव	
<p>सोऽयं-मनोमयो निर्गुणोऽव्यय एवं विज्ञानासितव्यः सोऽव्ययताव्यः-उपासितव्यः</p>			

(सोऽयं देवयुग प्रथम -- सत्ययुगारम्भात्मक)

अमृतम्
अव्यय
ज्ञानम्
मन

{ तदेतत्-मन एव, अव्यय एव-निर्गुण
“अनादित्वाभिर्गुणत्वात् परमात्माव्ययम् ”

विज्ञाना-आतुमिच्छा ज्ञानमय

मया विज्ञाना-अनुपपन्नसत्यम्

मय-ज्ञानात्मिका-उपासना-‘उपासना’ देवयुगानुगता-प्रथमा (१)

“अनुपपन्न-ममानप्रत्ययपदादुपासना”

श्री

“युगधर्मानुगता-विविध-उपासनाएँ”

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४

(चतुर्थप्रकरण-अर्गत-प्रथम-अबान्तर-प्रकरण)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

१-श्रुतिव्या योगत्रयी के युगधर्म-निबन्धन विविध-परिवर्तन—

‘ज्ञान-भक्ति-कर्म’—नाम से प्रसिद्धा त्रिव योगत्रयी का भारत के महर्षिदो की ‘पुराणी प्रज्ञा’ से मानव के अन्त्युदय-निर्धोष के लिए देवयुगारम्भ में आध्यात्मिक हुआ वह योगत्रयी जिसे उन योगत्रयी के हीनो प्रज्ञाओं का स्वरूप आये चलकर युगधर्मानुगत-विदेशकालानुसारी-मन-शरीरानुमाश्रित-विविध-उपासना परिवर्तनो के कारण विभिन्न-विभिन्न प्रकाश में ही परिणत होखे गया ।

२-परिवर्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्तनीय-मूलतत्त्व—

युगधर्मानुगता मानवताश्री के समावेश से उन श्रुतिगम्यता योगत्रयी का स्वरूप युगधर्मानुगत ने बनलता रहा। जबकि येन केन कथेन उन परिवर्तनों के मूल में श्रुतिगम्यता मौलिक स्वरूप की अनुशासकमंगल मूलाचिह्न-मात्रवा प्रसिद्धि ही होता आरम्भ है। इसी मूलदृष्टि से तत्त्व-युग के लक्षणमाहक-मनीषी विद्वानों के द्वारा समाकालिकों के द्वारा तत्त्वपरिवर्तित स्वरूपों का भी लक्षणमाहक की दृष्टि से समादर होता रहा और युगधर्मानुगता ही मानवता-परम्परा के कारण श्रुतिव्या-मौलिक-मात्रवा के अबान्तर विभिन्न-प्रकाशित भेद होगए, जबकि लक्षणमाहकता ही पर्याप्त-मूढि वह ‘यह ही मूलतत्त्व रहा’ ।

❖ रुधीनां वै-निष्प्रादु-श्रुजु—कृजित—नानापद्यजुषां—

नशामेकै गम्यस्त्वमपि पयसामद्याव इव ॥

—महिम्नस्तोत्रे परमशेष श्रीपुण्यवन्ता

२-आपातरमणीय-कल्पनाओं के समाधान-प्रयास का उपक्रम--

श्रुतिपुराण-वेदपुराण से आरम्भ कर वर्तमान युग पर्यन्त उस योगजयी के सम्बन्ध सुनिश्चित 'भक्तियोग' के निष्ठा-उपासना के बिना कबान्तर बिम्ब हो रहे ? प्रस्तुत चतुर्थ-प्रकरण में संक्षेप से इसी प्रश्न-उत्तर का प्रयास प्रयत्न हो रहा है । अज्ञापूर्णा ऐसी आस्था है कि उपासना के विभिन्न रूपों से मायुक्तताका हम जो आस्था कल्पनाएँ करने लग पड़ते हैं प्रस्तुत प्रकरण सर्वप्रथम नहीं, तो अग्रतः ही उन आपातरमणीय-कल्पनाओं का समन्वय करकेगा ।

४-भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्मानुगता भ्रान्त बाराह--

भक्तियोग के सम्बन्ध में यह विचार भी कम महत्त्व नहीं रखता कि उस भक्तिनिष्ठा का विकास किस युग में हुआ । कुछ उमासी-बनों का कहना है कि आरम्भ में ज्ञान एवं कर्म नाम की दो निष्ठायें ही प्रचलित थी । तीसरी भक्तिनिष्ठा का विकास उस पौराणिकयुग में हुआ है जिस कि महाभारतकाल में कह सकते हैं । उस काल को पुष्ट करने के लिए उमासी-बनों की ओर से सम्मान्य कर एक ऐसीमासी के अतिरिक्त निम्नलिखित गीतावचन भी उद्धृत हुआ है--

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।।

ज्ञानयोगेन सांख्यानौ कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

—गीता

५-देवयुग, वेदयुग, तथा पुराणयुग-अनुबन्धों से अनुशासित ज्ञान कर्म-भक्ति-निष्ठाद्वयी का युगधर्मनिबन्धन काव्यनिक बागवित्त-मन्त्र --

उनका कहना है कि जिस समय मन्वान् य १०११वें वर्ष दया या उस से पहिले लोक में साँख्यों की ज्ञानयोगनिष्ठा एवं स्वयम्भूमनु की (कर्मयोग) कर्मयोगनिष्ठा के दो निष्ठायें ही प्रचलित थी । मगवान् ने इन दोनों वा शरीरोंन करते हुए तीसरी भक्तियोगनिष्ठा स्थापित की और श्री गीता का मुख्य लक्ष्य बना बैराग्य- 'मन्वन्तानाम् बहुमन्त्रो मन्त्रादौ मां तमस्तुत' "यदि भक्तिजनपंक वचनो से स्पष्ट है । यथाय उसी युग में जब तब भक्तिमार्ग का विकास होयुक्त था परन्तु वह भक्ति कामना-मयी थी । मगवान् ने इस के स्थान में निष्ठासमर्पण का ही विधान किया । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पुराणयुग से पहिले कर्मयोग अपनी लता खतने वाले वेदयुग एवं देवयुग में भक्तिमार्ग वा स्वयम्भूमन्त्र ही था । उन युगों का मानवसमाज ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का ही अनुशासनी था ।

६-पौराणिक भक्तियोग का संस्मरण, तद्विबन्धन विवरणशास्त्र तदनुशासिता विविध कल्पनाएँ, एवं निष्ठाद्वयी का काव्यनिक अभिविवेश--

उमासी-बनों की उक्त उमासी-बनों से थोड़ी देर के लिए हम भी व्याप्रीजन में यह बात है । ठीक तो है । यदि देवयुग एवं वेदयुग में तीसरे भक्तियोग की भी लता खड़ी हो तो मगवान् कभी 'लोकेऽस्मिन्

द्विविधा निष्ठा यह न करते। फिर पौराणिक मक्तियोग का (अवतारोपासनात्मिक मक्तियोग का) जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं उसका मूल वेद में नहीं तो उपलब्ध होता। हम देखते हैं कि देवयुगकालीन गाथा-ग्रन्थों में एवं वेदयुगकालीन समस्त वैदिक साहित्य में किसी भी मक्ति का उक्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होगा। सब से पहले आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस ईश्वरतत्त्व के आचार पर पौराणिक-मक्तिवाद प्रतिष्ठित है समस्त वैदिक साहित्य में उस 'ईश्वर' शब्द का ही आत्यन्तिक अभाव है। 'ईश्वर' शब्द ही नहीं रामकृष्णायि अथवाओं का नामोन्तेष नहीं, पत्र-पुष्प-फल आद्योपसा मक्ति का उन्तेष नहीं। फिर किस आचार पर मक्तियोग को प्राचीन मान लिया जाय ?, एवं किस आचार पर उसे वेदास्त्र-सम्मत माना जाय ?। अतएव कहना पड़ेगा कि मक्तिमार्ग केवल कल्पना की वस्तु है। वस्तुतः शास्त्रविद्वद् लोग तो केवल ज्ञानयोग एवं कर्मयोग ही हैं।

७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में मक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यमोहन—

समालोचना की ही अपना निस्वकम्प समझने वाले उन समालोचकधुरीणों से इस सम्बन्ध में हम प्रश्न करते हैं कि उन्हें मक्तियोग के स्वरूप की अनादिता में शन्देह है ? अथवा मक्तियोग की अनादिता में शन्देह है ?। पूछ में जो हेतु कलाप गए हैं उन से तो स्पष्टरूप से यही सिद्ध होगया है कि उन्हें प्राचीन वेदादि साहित्य में मक्ति का प्रचलित (पौराणिक) स्वरूप नहीं मिला था। अतएव वे इसे कल्पना की वस्तु समझ रहे हैं।

८-कपिलमुनि-सम्मत सारूपनिष्ठा, हिस्मयगर्मभूषि-सम्मत योगनिष्ठा जैमिनि सम्मत कर्ममीमांसा आदि दण्डिकाओं के माध्यम से मक्तियोगनिष्ठा का स्वरूप-समन्वय—

उत्तर में नहीं निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि, केवल स्वरूप के आचार पर ही किसी वस्तुतत्त्व के अद्विज अनादित्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। क्या वे समालोचक वह सिद्ध कर सकेंगे कि ज्ञान-योग कर्मयोग का जो स्वरूप क्रमशः देवयुग तथा वेदयुग में प्रचलित था आमतक उसका वही स्वरूप सुरक्षित है ?। हम तो देखते हैं कि वात्स्यायन-कपिल-निष्ठात्मक ज्ञानयोग के आद्य केन्द्रतत्त्व का व्यास-निष्ठा का ही परिचय (बाना) पहिच लिया है। एवमेव स्वयम्भू-निष्ठा मन्त्र कर्मयोग जैमिनिसम्मत मीमांसा-मात्र से ही यत्न हो रहा है। यह तो स्थूल परिवर्तन की कथा है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जायगा तो उन दोनों के तत्कालीन स्वरूपों में और वर्तमान स्वरूपों में शाला प्रशाना-मे-युक्त अहो-रात्र का अन्तर मिलेगा। दूसरे शब्दों में जो कहिए कि आज के ज्ञानयोग और कर्मयोग के स्वरूपों का आप उन अनादि-शास्त्रों में अन्वेषण करने वाले तो अधिकतर में आप का यह प्रयास ध्वज ही प्रमा पित होगा। क्या हमी आचार पर ज्ञान-कर्म-निष्ठाओं को भी कल्पना की ही वस्तु मान लिया जायगा ?।

६-भक्तियोगनिष्ठा की अनुरागिता, एवं परिश्रानात्मक युगधर्म्मों के अनुराग स भक्ति के अनुरागनात्मक प्रकारों में उदात्त-परिवर्तन—

जैसे वही भक्तियोग के स्वभाव के लक्षण में व्यक्त है। परिकल्पनात्मक मानवीय मन के लक्षण से भक्तियोग का स्वरूप-आत्मात्मिक स्वरूपमात्र बनता गया है। परन्तु भक्ति का मीनिकल्प तो भी वास्तव में ही वर्तमान है। स्वभाव में वृत्तलता ही योग्य और बनाना ही चाहिए। क्योंकि युगधर्म्म के परिवर्तन के साथ साथ चित्तवृत्ति का बदलना या अनिवार्य है। चित्तवृत्ति के पक्ष-वृत्तन के साथ साथ योगस्वरूप-परिवर्तन भी आवश्यक है। देवपूज तथा कर्माग काय में भी भक्तियोग का पूर्ण विकास था। परन्तु उस समय उसका स्वरूप दूसरा या लक्ष्य दूसरा था। वैराग्यिकयुग में स्वभाव और लक्ष्य भी बन गए। एतावत ही भक्ति योग का उस युगी में अभाव मान बैठना मीनिकल्प नहीं, तो और क्या है ?।

१-भक्तियोग के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आवश्यक प्रश्न एवं भक्तिपुरातन युगात्मक साध्ययुग की योग्यता—

ही इन लक्षण में वह विज्ञाप्य लक्षण ही न्यायपूर्ण है कि ब्रह्मयुगकालीन भक्तियोग का क्या स्वरूप था ? ब्रह्मयुग में भक्ति का क्या स्वरूप हुआ ? एवं पाण्डित्य युग में भक्ति में क्या परिवर्तन आया ?। तीनों विज्ञाप्य में से प्रकृत प्रथम प्रथम विज्ञाप्य का ही श्रान्त करने के लिए प्रश्न हुआ है। 'ब्रह्मयुगानुगत भक्ति किंवा रूपामना का क्या स्वरूप है। इस विज्ञाप्य के साथ-साथ "लोकस्मिन् द्विविधा निष्ठा बहु विप्रतिपत्ति मी उपस्थित है और बहु लक्षणता मी है। अर्थात् ही इन इन लक्षण में भी वर्तमान स्थिति उत्तर मिलता ही चाहिए, भिन्न के आधार पर ही इन वह विज्ञाप्य कर उन्हें कि— कथि लोक में तीनों भक्तिनिष्ठा मी पहिल स ही पक्षस्थिती थी परन्तु अमुक पक्ष-विज्ञाप्य में सम्मान न दीर्घ निष्ठा का नामनिर्देश करना आवश्यक नहीं समझें"।

१-भूतविज्ञाननिष्ठा साध्ययुगी का भूतलुब्धकी यक्षत्मक कर्मयोग, तदनुमायिता मानिकी साध्ययुगी एवं साध्ययुगात्तरमासी ब्रह्मयुग में उमका संशोधन—

पहली का वह विज्ञाप्य है कि, हमने देवयुग से पहिले इन साध्ययुग की लक्ष्य कलाओं की वित्तिका प्रमाण लक्षण "कर्मज ज्ञानमयज्ज्ञान देवा. रही था। (वैदिक आध्यात्मिक प्रवर्तनका मूल कालमीमा)। यक्षधर्म्म ही इस युगका महान्तर लक्षणालि का परम पुरकार्य था। इसके शब्दों में "मक लिए वह भी कहा जासकता है कि वह लक्ष्य-मुगाध्य-प्रार्थनात्मक केवल कर्मयोग का ही अनुगामी था। मानिकी-ननुवर्तित क लिए वा लक्षणात्मक (वैदिक विज्ञानात्मक) ज्ञान क्षेत्रित है उमकी वा कर्ममीमा पर ही वे साध्ययुग पक्षि हुए थे। परन्तु अहमयुगकी, एवेरवर्तमान्तरक ज्ञान स व लक्ष्य ही वर्तित थे। वे अपने लक्ष्य स लक्ष्य (भौतिक प्रपञ्च) का ही लक्ष्य वरत थे। "नका कर्मयोग कर्ममय विज्ञा कर्मप्रधान विज्ञा का ही उपपादक था।

१२-देवयुग, और देवयुग का आश्विन-पार्वण-समन्वय, एवं धन्युगानुगता योगत्रयी का सस्मरण—

यह भी एक म्निष्ठ विषय है कि जब जब युगपरिवर्तन होता है तो उन परिवर्तित-युगों में कुछ समय के लिए पूवयुग के भी कुछ एक धर्मों का समावेश होजाता है। पूर्वयुगों के परिष्कृतरूप का नाम ही तो उत्तरयुग है। वस्तुतः माध्ययुग के अनन्तर आने वाले देवयुग में (उत्तरयुग में) माध्ययुगकालीन धर्मधर्मों का समावेश प्रकृतिमिष्ट बन जाता है। वयपि जेवयुग और वेदयुग का हम पूवयुग ही मान सकते हैं। बौद्धि, देवयुगप्रकार स्वयम्भूते ही पानुचर्य-धर्मयुगक कल्याण को सुधबधित दिया है। तथापि बौद्धि-साहित्य में जिस योगप्रती का निरूपण हुआ है उसमें एव बौद्धयुग की आरम्भस्थानका देवयुगानुगता योगप्रती में बाड़ाया अन्तर है। इसी अन्तर के कारण हम दोनों का पार्श्वक भी मान सकते हैं।

१३-द्वितीयतः सर्वात्मन-निर्गुण आख्यात्मा सा स्वयम्भू क द्वारा प्रथमाभिर्भाव,
तदनुप्राणित मन्त्राधार ज्ञानयोग, एव तदनुगत योगप्रयी सा सस्मरणा —

वययुग की प्रगुति का मूलभय स्वयम् प्रजापत को ही है । श्री य स्वयम् यत्रकर्म प्रिय तापश्रुति के अनुसार तन में रदन वाली माधयुगानुगत तुपितश्रुति में ही प्रकट हुए य । रदीन ही सर्वप्रथम माधयश्रुति के समन किवा तनवाणीन मानव-मात्र क सामन- 'तस्माद्व्याम्यन्न पर किञ्चनाम' यह निश्चित उपरिधत रिया था । प्रदान उन लरव्यापक प्रप्र का अतिशय दिया आदि मन्मर्मा नर प्ररक्षा का एकमात्र आलम्भन है । आगे आर 'मन परतरं नाम्बन् किञ्चिद्विनि घनस्य' । इन निदान्त से पुष्ट हान वाते हृष्टशीत मर्शलम्भन निगुण परमात्मस्वरूप-अध्वय क का प्रथमाविर्भाव स्वयम् के द्वारा ही हुआ । आर यह अध्वयनिष्ठा ही ज्ञानयागनिष्ठा फूलाह । माधी के नामन यही निश्चित उपरिधत रिया गया कि गुह्याग यत्रकर्म तनक म्पथा निरपक है ब्रतन किन्तु उन लरव्यापक ज्ञानमूर्ति निगुण ब्रह्म को अपन इन रकम्प का आलम्भन नही बनावत । ज्ञानयाग ही गुह्यागे कर्मयोग का मूल आधार है आर यही मिडि का अन्यतम ह्रम है- 'अध्वयमगुण तम-यस्य मिडि विश्वनि मानय ।

४ स्वपुगानुगता निगुणा-अल्पयमूला निगुणाभक्ति वदपुगानुगता मगुणा-प्रज्ञा-
पतिमूला मगुणाभक्ति त्व तथाचार्यव अमिष्यता पुगागपुगानुप्राप्तिता 'मवि
कारभक्ति'—

द्वन्द्ववार वषट्कार के समय-मध्यमध्यमक ज्ञानयोग वा भी शिखर लब्ध। व ही दत्ता
मित्रा दत्तवर्ग की शिखर भी वा शिखर है। इहाँ लब्धवर्ग की वा शिखर भी वा लब्ध म
म

० अनादिशक्तिगुणाद्यापरमात्मापमव्यय ।

शरीरम्योऽपि हान्यत ! न क्वापि न लिप्यत ॥ (गीता)

मगवान न 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्तमयानम'। यह कहा गया है। अपने महम्म को ज्ञानत्मक निगुलमक्ष (अध्यास) के प्रांत अर्थात् कर देना ही उस पुग का तीमर मक्तियोग माना गया। निगुलमक्षित ही द्वायुग की मक्षित बनी। और यही निगुलमक्षित आगे जाकर वेदपुग में सगुणरूप में परिणित हुई एवं यही सगुणमक्षित आगे जाकर पौराणिकपुग में सक्किररूप में परिणित हुई वैवाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होजायगा।

१५-मक्तियोग का मौलिक-रहस्यक्षत्र मक्किपायदानुगता रहस्यपूर्वा 'अनन्यता' तथा 'अपता' का स्वरूप-समन्वय एवं भूताभिनिविष्ट माध्यों के मौलिक-योग-विजम्भय—

मक्तियोग का मौलिक रहस्य है— 'अन्यमाग को पराभित मानना'। "हम नहीं कर रहे, अक्षि कोई दूसरी है। शक्ति प्रेरणा कर रही है" इस आत्मविश्वास का नाम ही मक्ति है। क्योंकि मक्ति की उपनिष्ठा 'अनन्यता' ही मानी गई है। परन्तु व्यवहारदृष्टि में 'अनन्यता' ही मक्ति की उपनिष्ठा है। दूसरे शब्दों में अन्य के साथ रहने वाली अनन्यता ही मक्तियोग की उपनिष्ठा है। हम अपने आपको ही एवं कुछ कमजोरी हुए अपने में अन्य किसी व्यापक तत्त्व तत्त्व की तथा स्वीकार न करते हुए अपने कर्मों की अनन्य (दूसरे की प्रेरणा से कोई कमजोर न रहने वाला) मार्ग यही माध्यों का कर्मयोग का। यही इनका ज्ञानयोग का एवं यही इनका मक्तियोग था। और इस दृष्टि से साध्वी तीनों योगों के अनुवादी बने हुए थे।

१६-योगत्रयी का अभिष्ठाता प्रत्यगात्मा एवं योगत्रयी का साधक शारीरक-आत्मा तथा त्रिविध-योगों के प्रत्यगात्मानुबन्धी स्वरूप-लक्षण—

तीनों योग एवं प्रवृत्तिभिन्ना हैं। ती प्रवृत्ति के मार्ग में प्रतिष्ठित रहने वाले साध्वी तीनों से बड़े बड़ा रह सकते थे। स्वामिनिरी योगत्रयी का सम्बन्ध तो प्राचीमात्र के साथ है। वैवाकि परीक्षाक्रम में ही निम्नतर से अज्ञानता बाधुका है। परन्तु 'म' प्रवृत्तिभिन्ना योगत्रयी में वैचारिक क्रमगत की ही प्रधानता है। अतएव इसमें 'म' माध का सम्बन्ध ही नहीं है। केवल 'म' की ही प्रधानता है। आत्मा योगत्रयी का अभिष्ठाता है एवं प्रज्ञानमन बाग करान वाला है। आत्मा के ज्ञानमय अनामगत के साथ प्रज्ञानमन के द्वारा वैचारिक मौलिक-प्रपञ्च के—साध्वी ज्ञान का सम्बन्ध हाजाना ही प्राकृतिक—'अनन्यता' है। आत्मा के क्रियामय प्राणमाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतबोधक, भूतानुगामी कर्म का बाग हाजाना ही प्राकृतिक मक्तियोग है। एवं आत्मा के अर्थमय बाल माग के साथ प्रज्ञान के द्वारा मूलमात्राध्यों का (वासनारूप से) बाग हाजाना ही प्राकृतिक कर्मयोग है। एतद्वारा भूतानुगत ज्ञानयोग भूतानुबन्धी मक्तियोग एवं मूलमय कर्मयोग दो तीनों ही वैचारिकयोग केवल योगयोग के गवाहक बनते हुए, केवल लोचनमय के उत्तीर्णक बनत हुए प्रवृत्ति-भिन्ना हैं।

१७-प्राणीमात्र स अनुप्राणिता प्रकृतिमिदा-मौलिनी-योगप्रयी, एवं उसकी त्रिगुणात्मकता, तथा सन्निवन्धना विषमता का दिग्दर्शन—

तीनों में ही मूलकृतिमाध्यतैष्ट्याभाजनतामूला—ममत्वबलकणा अनन्यता विद्यमान है। आशामर—
आदिप्रबन्धन आत्मालङ्कार सभी इस प्रकृतिमिता यागवशी क कर्म में ही अनुगामा हैं। 'मैं ही जानता हूँ'—
यह अनन्य ज्ञानयोग है। 'मैं ही करता हूँ'—यह अनन्य भक्तियोग है। एवं 'मैं ही मरी' अथ
सम्पत्ति का प्रभु हूँ यह अनन्य कर्मयोग है। इनप्रकार साधुगुण में भी तीनों वेगों की सत्ता स्थि
हावाती है। परन्तु तीनों में भूतमाग की ही प्रधानता है वैकारिक प्रयत्न का ही साम्राज्य है निगुण
साधनैवम का ही विद्यमान है। एवं भूतमाग ही कर्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव साधुओं के व तीनों ही योग
'कर्मयोग' ही बन जान हैं। कर्मयोगात्मक व तीनों ही योग योग-सुख के कारण बनत हुए भी आत्मवृत्ति
के विघातक बनते हुए अयोग ही हैं। कारण स्पष्ट है। आत्मा की तीनों कलाएँ पूर्ण हैं नित्य हैं।
उपर प्राकृतिक योग से ज्ञान वाले ज्ञान-विद्या अथ तीनों ही प्रकृत्य गुणवशी के लम्ब-ब ने इन्द्रमात्र में
परिणत होते हुए बने शरीर में इन्द्रमात्र के प्रबलक बनते हुए विद्यमान हैं।

१८-त्रिगुणमाश्रयका चरान्मिक यागमाप्यापिणी प्रकृति तदनुप्राप्ता गुणात्मिका योगप्रयी, एवं इत्यभूता यागप्रयी का बन्धनप्रवृत्त बन्ध—

पाठकों की स्मरण दृष्टि कि, हमने प्राकृतिक-योगवर्षी का सम्बन्ध त्रिगुणमित्रा योगमाया से ही बनाया है। नाग ही बड़ी धारमात्र का इन योगमाया का अनुकम्पी बननाया गया है। खग मका योगमाया ही त्रिगुणात्मक अतएव हन्त्रमायाकल्पित मोक्ष जन-क्रिया अथमय विश्व की प्रतीक है। कर्मता यह प्राकृतिक-योगवर्षी कर्म- (अर्थ)-प्रधाना ही बन जाती है। कर्म की प्रधानता से विश्वानुकम्पी जन-क्रिया अर्थ-मीनी ही आदर्शरूपी बन हुए हैं। इनके सम्बन्ध से प्रत्येकगमन-संग-समाविभाष उलगाकर खारून ही होता रहता है। अतएव इन प्राकृतिक अर्थप्रधाना योगमायासुगता योगवर्षी का हम केवल 'कर्मयोग' ही नहीं एवं इस योग के आदर्श होने के कारण अथ ही विद्यापुष्टि के अर्थव्याप्या के अर्थ यह सब स्वाभाविक रंग का गुण करने के कारण इस अर्थयोग ही बनते।

१६-अप्यक्त अक्षरानुक्षयी नाम्प्रमिद तीन योग शास्त्रीय पाणों का गुणात्मक
 बितान एवं शास्त्रमिद मी गुणात्मक योगों का आम्भरधनानुगत अम्भान्तिक-
 विषमस्य, अतएव अनपात्र्यस्य —

[illegible]

कर्मों की या कर्मिण उषेक्षा कर्म काश में कर्म निहात्मकता करते हुए सम्पन्न है। अद्यतनपरी है। इनमें सम्पन्न अक्षरानुसंधी ज्ञान प्रदान बना हुआ है। एवम्पन्न अक्षरानुसंधी कर्म नदी के समान है। नदी के समान इनका कर्म पड़ता है कि सम्पन्न-ज्ञानानुसंधी ज्ञानयोगी को भी शरीरानुसंधी कर्म कर्म (मोक्ष शक्ति-शक्ति) का प्रत्येक देश में करने ही पड़ता है। इन कर्मों के परिणाम से ही शरीरानुसंधी (मोक्ष) ही सम्पन्न नहीं है—“शरीरानुसंधी विषय न प्रसिद्धये” सम्पन्नः । इत्यत्र शरीरानुसंधी से “न कर्मस्यागम्यता ज्ञानात्” में भी सम्पन्न कर्मों का संग्रह अक्षर्य है। पञ्च इनका उद्देश्य केवल “हृन् जीविन रहे” (‘पञ्चन्यायमक्षरानुसंधी’ वही है। ऐसे ज्ञानयोगी में समार का कोई उपकार सम्पन्न नहीं है। अतएव मगवान् की दृष्टि में पञ्च ज्ञानयोग एवम्पन्न अनुसंधी ही है।

२०—मुद्राप्रशाम्भिक शास्त्रमिह्यापि यागवधौ में मगवान् के द्वारा श्रुतिर्दीकरात्मक सरोचन एवं शब्दप्रमाणान्तरक निम्नान्त आत्मप्रमाणान्तर शास्त्र प्रमाण के समान में महती समस्या—

पूर्व प्रकरणों में हमने अनेक स्थानों में यह स्पष्ट किया है कि, भगवान् शास्त्रमिह्यापि सरोचन में सरोचन करते हैं। न “सरोचन” शब्द का यही उत्पत्ति निकलता है कि, शास्त्र ने कुछ मूल पर ही की, ठीक मूल का ही मगवान् ने सरोचन किया है। यदि यह बात सच है तो मारीय ब्रह्ममन्त्रों का कोई महत्त्व शय नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में—“आत्मप्रमाण” शब्द-शब्दप्रमाणका बय, अक्षरानुसंधी शब्द आदि एवं सम्पन्न प्रमाणान्तर” न शास्त्रमन्त्रों का अनिश्चित ही महत्त्व शय नहीं रह जाता। सम्पन्नान्तर का सम्पन्न एवं शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। उन की दृष्टि में शास्त्र सम्पन्नान्तर है। अतएव उनका अक्षर अक्षर उते मान्य है। यदि हमने में आक्षेपन में भी आत्मि ही तो मगवान् के मूल में कभी निहन्ताभाव में “सम्पन्नान्तर” प्रमाणों का सम्पन्नान्तरप्रमाणिकता से अक्षर नहीं निकलने। फिर हम किन आधार पर कह कह सकते हैं कि शास्त्रमिह्यापि योगनकी का मगवान् योगीन आहते हैं। अबका शास्त्रों में जो मूल रह गई थी, उन का मगवान् उन्नीयधार सरोचन आक्षरवत् सम्पन्न है। जैसा कि श्रुतिप्रकार मगवान् के निम्नान्त में “मग्न प्रमाणान्तरात्मक” यह सरोचन आवश्यक् सम्पन्न है।

२१—मुद्रा मय विकल्पन-मय से विकल्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्र मान्यता का मग्नानुसंधी स गीता के १८ अध्यायों का श्रुति वर्गीकरण प्रमाण—

अक्षर्य ही गीताप्रमाणिक गीतान्तरों के सम्पन्न में यह एक महत्त्वपूर्ण सम्पन्न है। सम्पन्न ऐसी बुद्धि है कि प्राचीन सम्पन्नान्तरों में से किनी म भी न मुद्रा मय को विकल्पित करता (लेखना) उचित नहीं सम्पन्न। अतएव शास्त्रमन्त्रों को गुरुचित न्य के लिए उहमें यही मान लेने में आत्मप्रमाण सम्पन्न कि वे शास्त्र के जिन आधारभूत भाग में सम्पन्नान्तर का आक्षेपमान में विकल्पित का एवं अनिष्ट भाग में ज्ञानयोग का निम्नान्तर हुआ है मगवान् ने एक ही गीतात्मक में ६-६-६ अध्यायों के सम्पन्न से सम्पन्न ज्ञान-मन्त्र-कर्म तीनों योगों का सम्पन्न कर दिया है और यही गीता का ‘मग्नानुसंधी’ है।

२२-गीताध्यात्मशास्त्रों की परस्परतत्पन्तविरुद्धा ज्ञान-कर्म भक्ति-प्रधाना व्याख्याओं

अहमदमिका

अधिक से अधिक व्याख्याताओं ने गीता को त्रिमागानुगमिनी मान कर विभक्त कर लिया। कुछ एक व्याख्याताओं ने तो यह सिद्ध किया कि गीता में वर्यपि प्रधानता ज्ञानयोग की ही है। अथ से इति पर्यन्त गीता कर्मस्यागच्छत्तु उपनिषत्सिद्धि, नि अयसमायक ज्ञानयोग को ही अपना मुख्य सत्य बनाती है। तयार्प साधनमह की रखा के लिए समान्य अधिकारियों के लिए भगवान् ने गीताकर्म से कर्म-मार्ग एवं भक्तिमार्ग का भी दिग्दर्शन कर दिया है। कुछ एक भागवत ज्ञानकर्म को गीतय मानते हुए गीता को भक्तिप्रधान ग्रन्थ ही कहते हैं। एवं कुछ एक अर्वाचीन महानुभाव ज्ञान-भक्ति को गीतय मानते हुए इसे कर्मयोगशास्त्र ही मान रहे हैं।

२३-ज्ञान-भक्ति-कर्म-मार्गों में अभिनिविष्ट साम्प्रदायिक-व्याख्याता एवं समन्वय-कांक्षु के अनगामी महामहिम महामाहेश्वर श्रीअभिनवगुप्ताचार्य—

यह स्मरण रखने की बात है कि गीता के प्राय सभी व्याख्याता श्रीशङ्कराचार्य का अनुगमन करते हुए ज्ञानयोग पर ही विशेष वलप्रयोग कर रहे हैं। वैष्णव-अग्रवाद के प्रितने श्री आचार्य ई व मन शङ्करव्याम्भा से किङ्क भक्तियोग की ही स्थापना कर रहे हैं। इत्यकार शास्त्रसिद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से ज्ञान योग-भक्तियोग गीता के ये दो ही मुख्य सिद्धान्त बन रहे हैं। केवल महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य ने ही गीता में ज्ञान-भक्ति कर्म "न नीनी का समन्वय माना है। "गीता त्रिशुद्ध कर्मयोगशास्त्र है उम सिद्धान्त का प्राचीन व्याख्यातों में मन्था अवस्था ही है। यह सिद्धान्त तो मन्था अर्वाचीन अतम्य उपर्यायी ही है जेसाकि भूमिका-प्रथमखण्ड में नाममीमांसाखण्ड उपनिषद्परारहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२४-शास्त्रनिष्ठाभरण के लिए आतुर गीताव्याख्याता एवं गीताधरों के माध्यम से ही गीताव्याख्यातार्यों की मान्यता का रक्षित्य—

तत्पन्थ करने का नही है कि शास्त्रनिष्ठा का सुखित रखने के लिए गीता के व्याख्याताओं ने नन-मन्थक दोहर बही मान होने में अम्पुदय लभञ्ज कि गीता शास्त्रसिद्धा धागवयी का अथवा नीनों म से किमी एक याग पद ही प्रधानरूप से निरूपण कर रही है। परन्तु जब स्वयं गीता के अधरों के आधार पर हम गीतानिष्ठा का अन्वेषण करन चलते हैं तो हम गीता के उक्त सिद्धान्त अवास्तता शून्य शून्य ही (निरे लोचने ही) प्रवीन ज्ञान लगने है जेसाकि अने के • बुद्धियोगपराङ्म-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है • ।

• अर्जुनसमवगीताभूमिका-गीताभूमिकाभूमिका-आर्यी पृष्ठमक-वद्विधागपरीक्षा पृथक्पृथक् प्रग रित्य दमया है प्रम्पुन भक्तियोगवरीक्षा से पृथ ही।

२५-शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा के सम्बन्ध में अज्ञानाया धारणा, तस्मिन्नाकारण प्रयास, एवं गीता की शास्त्रनिष्ठा का सस्मरण—

क्या हम शास्त्रनिष्ठा के विरोधी हैं ? क्या शास्त्र हमारी दृष्टि में श्रान्त है ? शिव । शिव । । प्र
 अरुणम् । । । प्रअरुणम् । । । । शास्त्र के संन्यस में ऐसे अज्ञान निक्षलना भी अपने आप की प्राप्तिपथ का
 मार्ग मान लेना है । शास्त्र का अज्ञान अज्ञान हमारे लिए प्राप्ति है । साथ ही शास्त्रनिष्ठा के प्रवक्त कविता भी
 हमारे प्राप्ति है । स्वयं प्रमाण में “सिद्धान्त कविता सुनि” कहते हुए कविता के प्रति अपनी निष्ठा
 प्रवक्त की है । उधर विदितवेदितक प्रवितनिष्ठा के प्रवक्त द्विरवयवम सहर्षि भी हमारे लिए प्रवक्तक
 ही मान्य है । कर्मयोगनिष्ठा के प्रवक्तक स्वकर्म मनु भी हमारी अज्ञा के अनन्तमान है । फिर इन
 कहे इनके सिद्धान्तों की श्रान्त कलाने का दुस्वस्व कर सकते हैं । क्या हम यह दुस्वस्व नहीं कर सकते तो
 फिर यह भी किता आचार पर यह कहते हैं कि “गोवा न शास्त्रप्रतिष्ठा योगप्रती का संशोधन किता है” ।
 निष्क्रान्त शास्त्र की निष्क्रान्त योगप्रती में संशोधन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? ।

२६—श्रुति स्मृति—वेदसे द्विषा विभक्त शास्त्र शास्त्र को प्यत-प्रमाण परत-प्रमाण—
मदस्मिन्ना द्वित्रिषा प्रवृत्ति निम्नान्त वेदशास्त्र और स्मृतिशास्त्र की पुण्यवर्ग—
निष्कर्षना—आन्ति—

[illegible]

२७-सामान्य धर्म-प्रतिपादक वेदशास्त्र एवं विशेषधर्म-प्रतिपादक स्मृति-
शास्त्र तथा वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य और वेदविरुद्धा स्मृतियों का
अप्रामाण्य—

यद्वराहः तर्ह्यसमाप्त्यप्यस्यैव प्रत्यिपादकः सः तर्ह्यस्मृतिरास्य विग्रहप्रश्नार्थः का प्रचारकः । यद्वराहः सः यदागुतः स्मृतिरास्य सौ स्वप्रतिपादः विग्रहप्रश्नार्थः के साथ साथ यद्वराहः समाप्त्यप्यस्यैव

का भी आठर करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में—इसे अपने विशेषधर्म की प्रामाणिकता के लिए सामान्य धर्म की भी प्रमाधिकता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए स्मृतिशास्त्र का यह भी एक आवश्यक कर्तव्य होता है कि देश-जन्म-पात्र-ग्रन्थ-भद्रा के शारतम् से विशेषधर्मों के परिवर्तन के विधान के साथ साथ इसे यह मान रखना पड़ता है कि कहीं वेदसिद्ध सामान्यधर्म (आनुवंशिकमूलक वर्णभ्रमधर्म) पर तो कोई आपात नहीं हो रहा। यदि कोई स्मृतिशास्त्र वेद के इस सामान्यधर्म की उपेक्षा कर विशुद्ध सामयिक प्रवृत्ति में पड़कर धर्म के आत्यन्तिक परिवर्तन की कुवेला करता है तो आर्षसाहित्य उसका सर्वमना बहिष्कार ही कर देता है। जैसा कि निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

या वेदव्यासा स्मृतयो याश्च काश्च कुर्यात् ॥

सत्तांता निष्पन्ना प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥

उत्पद्यन्ते प्यवन्ते च गान्धर्वोऽन्यानि कानिचित् ॥

तान्यवधिकालिकृतया निष्कलान्यनृतानि च ॥२॥

—मनु १०।६४।६५।

२८ स्मृतियों का अनुगमनीय सुचरित एवं बुद्धिवादात्मक-त्याग्य-दृष्टिकोण तथा तत्सम्बन्ध में तत्त्वसमन्वय—

उक्त शान्तराजी के आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि वेदशास्त्र सर्वथा निष्प्रान्त शास्त्र है। एवं मानवजन्म-कर्मकी स्मृतिशास्त्र आधिक्य स भ्रान्त बन सकता है। स्मृतिशास्त्र का जो आवेश कलमस्त है वह बिना किसी लोपोपन के हमें मान्य है। परन्तु मानवकुलम सहज अनुभवमूलक वा सिद्धान्त वेद विरुद्ध है प्रत्येक इरा में वह स्मार्त मिश्रण से संशोधन की हुई अपेक्षा रखता है। यदि स्मृतिशास्त्र सर्वथा निष्प्रान्त ही होता तो आधारमूलक उसके लिए वेद हमें कभी यह आवेश न देता कि—‘जो हमारे (स्मृतिशास्त्र के वेदशास्त्रसम्मत सुचरित हैं, तुम उन्हीं का अनुगमन करना अर्थात् का नहीं’ +।

ॐ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्च सनातनम् ।

अशक्यं चाप्रमयं च वेदशास्त्रमिति स्थिति ॥ (मनु १२।६४)।

— गान्धर्वोऽन्यानि कर्माणि, तानि स्वया सेवितव्यानि नो इतराणि ।

गान्धर्वोऽन्यानि कर्माणि, तानि स्वया सेवितव्यानि नो इतराणि ॥ (उपनिषद्)

यह भी एक रहस्य की बात है कि यज्ञ विद्याशास्त्र है, एवं स्मृति धर्मशास्त्र है। धर्म का मासिक रहस्य विद्या है एवं इस का वेद में प्रतिपादन हुआ है। मौलिकरहस्यानुगत आधारण ही धर्म है एवं इस का स्मृति में निरूपण हुआ है। दूसरे शब्दों में भी धर्मविद कि धर्म का धर्मत्व वतलाना वेदशास्त्र का काम है एवं धर्म की इतिवृत्तव्यता वतलाना स्मृतिशास्त्र का धर्म है।

२६-स्मात् प्रत्याकी भ्रान्ति के विविध दोषों के पूर्व स्मृतिप्रयोगों के स्वरूपाभाषों की सम्पना से अनुप्राणित विविध भ्रान्तियाँ—

स्मृतिशास्त्रों की भ्रान्ति के दो स्वरूप हैं। जिन महापुरुषों ने स्मृतिप्रयोगों का निर्माण किया है वे स्वयं भी ज्ञान की सीमा से भ्रांति कर गये हैं अथवा गण्डवृक्ष स्मरणों बापि भवस्थल प्रमादों के अनुसार उन में भी त्रुटि हो सकती है। अथवा स्मृतिशास्त्रों के अनुपायी स्मात् वचनों के वास्तविक उत्पत्त्य को न समझकर हम अपने बुद्धिदोष में भी उन स्मार्त निद्वान्तों को भ्रान्त बना लाने हैं। उदाहरण के लिए योगशास्त्र की दो वीथियाँ। गीता के आत्मव्यापकता की भावना के सम्मान के लिए 'शुनि बंध स्वपाक व परिहृता समस्तारिना' यह आशय दिया है। अब यदि यह गुरुवादी गीताम्मत 'न वचन का यह उत्पत्त्य समझन की भूल पर कट्य है कि—'समस्तवार आइयाँ के लिए कुले चार पाण्डवों में काह आकर नहीं है, उन के लिए हा वानों समान है'। इस आदेश में सम्मान यही बतलाना चाहत है कि, समस्त के प्रार्थनामय एक ब्रह्मण पर ही प्रणिष्टि है। परस्पर दृष्ट्यामदृष्ट का भावना करने का पड़ना छोटा बड़ा समझना गीता के विरुद्ध है' तो 'न म मी नामान् प्रमुच्य भ्रांति कर बैठते हैं। "अथवा एवं प्रवक्तव्य के मरुद्विष्टि अरुतनीति—मानवस्वभाव से भी क्रम में भ्रांति सम्भव है एवं दृष्टिद्वान्तनुवाची शब्द स्मृति के शर से (वास्तव में निराम्य रहता हुआ भी वह निद्वान्त) भ्रान्त बन जाता है।

'क्या करना चाहिए' क्या नहीं करना चाहिए' इ. आचारणमात्र का प्रतिपादक शास्त्र स्मृतिशास्त्र है। 'किम् पद्वि न किम् उपनिषत् स करना चाहिए' इन मौलिकमात्र का प्रतिपादक शास्त्र वेदशास्त्र है। गीता वरिष्ठ सामान्य-परिव्याप्त के आधार पर स्मृतिशास्त्र ही माना गया है। परन्तु बीच का प्रयत्न तत्त्व कर्मेतिवत्त स्वयं बतलाना नहीं है क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए वह तत्त्व नहीं है। अतः वेदशास्त्रका वचनस्वरूप का मौलिक रहस्य अज्ञात हुए उस की रहस्यमय उपनिषत् (मौलिक-उपनिषत्) बतलाना ही गीता का मुख्य प्रतिपादक विषय है। अपने ठीक मौलिक विषय के कारण गीता स्मृति हारी हुए भी 'उपनिषत्' (वह) कहलाता है एवं अपनी इसी अपूर्वता के कारण वह ईश्वरीयशास्त्र—आद्य-वचन वेदशास्त्र के समकक्ष मान लिया गया है। इस ब्रह्मण में प्रकट ही हमें दृष्टि कहना है कि 'अन्तर्मात्र सुखरितानि' इत्यादि श्रुति का 'सुखरितानि' पर स्मृतिशास्त्र की ओर ही संकेत कर रहा है। ऐक्य मानने का वाक्य है। आचारण ही सुखरित में अभिहित है। एवं आचारण ही कर्मेतिवत्त स्वयं है। वह इति-वचनस्वरूप स्मृतिशास्त्र में ही प्रयत्न उत्पन्न करती है। वृत्त वाक्य वह है कि, वेदशास्त्र सर्वत्र निरूपित है। उन की आज्ञा में—'यह माया यह अमाया' इस द्वीपीयता का समावेश सम्भव है। इतिवत्त मन्त्रियों का वह निरर्थक तुलना है कि 'यहाँ श्रुतियों में परस्पर विरोध आकर बड़ा वानों ही प्रमाण है'। यह निगूढ तमी माया बन गइया है। अब कि श्रुति की 'अथ न इति पश्यन् निरान्त ही मान लिया जाय। ऐसी कथा में 'मा उपराणि' वाक्य का स्मृतिशास्त्र पर ही ब्यवधान मानना शास्त्र, एक बुद्धिहर्मण निज होता है। "श्रीनिधय इमेन" न वचनों की स्मृतिशास्त्रपरक ही माना है।

३०-वेदामिमता योगत्रयी के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थ, एवं स्मृत्यनुगता योगत्रयी के भ्रान्त दृष्टिकोण का निगूढार्थ—

अब हमें विचार यह करना है कि स्मास ग्रन्थों में वेदामिमता जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है उस का कीनसा अर्थ भ्रान्त है। एवं भगवान् उस का किम रूपसे संशोधन किया है। मन्त्र स पहिले तो उक्त योगत्रयी का ही विचार अपेक्षित है जिस का कि स्वतः प्रमाणभूत अतएव निश्चित वेदशास्त्र से सम्बन्ध है। वेदशास्त्र जब निश्चित है तो तत्सम्भूता योगत्रयी भी निश्चिता ही होनी चाहिए, और नाम्मन्त्र में ऐसा है भी। यदनुगानुगत मक्तिमाग का स्वरूप है, इस प्रश्न का समाधान तो अगले प्रकरणों में होगा। अभी तो केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि वेद का ब्राह्मणमाग कर्मनिष्ठा का प्रतिपक्ष है, वेद का अमर्याद माग मक्तिनिष्ठा का समर्थक है एवं उपनिषद्भाग जाननिष्ठा का अनुमोदक है।

३१-वेद के ब्राह्मणमागोक्त कर्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति, तथा त्रिगुणातीता निवृत्ति का स्वरूप समन्वय। एवं प्रवृत्ति निवृत्ति मात्रद्वयात्मक ब्राह्मणवेद—

हीनों में से पहिले ब्राह्मणमागोक्त कर्मयोग का ही विचार कीजिए। वेद एक प्रवृत्तिविद् सनातन-शास्त्र है। योगमाग के नाम में रहने वाले त्रिगुणमात्र से नित्य आकान्त मानवमात्र के अम्युदक के लिए प्रवृत्ति वेदशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्ति की एकान्त उपधा नहीं करमकता। मन्त्र में रहने वाले योगमाग-प्रवृत्त मनुष्य स्वमात्र से ही वेदों की ओर आकर्षित होने रहता है—'प्रवृत्तिरया भूतानाम्। पुत्र-स्त्राक-विशेषणार्थों में किम मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। स्वर्गादि सुख वान नहीं चाहता। का व्यष्टि अमरत्व लोकमन्वसि की ओर मुग्ध रहता है उस यदि लक्ष्य यह कह दिया जाय कि 'तुम किसी काम की कामना न रखते हुए कर्म करो' तो कामवत् इत आदेश का अनुगामी नहने में से को ना ही व्यष्टि बन सकेगा। बलवत् शिक्षित व्यक्तियों में न आये तत्त्वक उनका मूय ही क्या है। और ऐसे अव्यवहार्य अथवा स्वाचित्क सिद्धान्त का उपदेश देने वाले उन कशास्त्र का महत्त्व ही क्या है। वेद जब ईश्वरीय ज्ञान है तो उसमें कैसी शक्ति होनी ही चाहिए कि वह प्रवृत्तिमय्यदा की, मानव-स्मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रमत्त देता हुआ ही क्रमशः उसे अम्युदक निर्भयम् की ओर लेजाय। एकमात्र ही लक्ष्यनिष्ठ के लिए जाने अपने कर्मकारण की प्रवृत्ति-निवृत्ति के भेद से वा भागी में विभक्त किया। कामनामय कामों का भी विज्ञान विज्ञा एवं निष्कामकामों का भी लक्ष्मीकरण दिया।

३२-वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिविष्टों की मान्यता, तन्नुपनिषन्ती निदम्भना एवं 'युद्धादराण्यकोपनिषत् आदि ध्यवहारमूलक-तथ्य का समन्वय प्रयास—

वन्धित-दन्तवादिहीन समझ गम्या है कि वेद का उपनिषद्-भाग ही निवृत्तिमाग का उपदेश रहता है ब्राह्मणमाग तो केवल प्रवृत्ति-प्रधान ही है। परन्तु यह भूल जान है कि कर्मकारण के प्रतिपादक गुणिह्द रातरघनास्त्र के तैरद काण्ड बही प्रवृत्तिमाग का निरूपण करत है वही कर्मप्रतिष्ठा के दर्शन ब्राह्मण

का चीटइसी कारण भित्तिमार्ग का ही विधान कर रहा है। सब से बड़ा समझवार तो यह है कि शक्त का यह अन्तिम कारण ही स्वतन्त्र रूप में होकर उसी भगवन्तत्त्वमयता में 'ब्रह्मायमकापनिषत्' नाम में प्रसिद्ध हो रहा है। कम्य मक्ति-ज्ञान का पार्थक्य नहीं है ही नहीं। जब की दृष्टि से जाया जाये, वही मान्य है। पर्यन्त मान्य है वही मान्य है। नीचे रहने की सुचेत करने के लिए अग्नि के केलि शब्द-प्रकाश में ही नीचे का प्रकाश कर दिया है।

३२-बन्धुगानुगत मक्ति का उपनिषत् का ज्ञानसाग में अन्तर्गत, अतएव मक्तियोग का स्वतन्त्र व्यवहार का अनवसर—

न स्वतन्त्र में ही कुछ समझ है। मक्तिमार्ग ज्ञान कम्य में कुछ नहीं बचता। इसीलिए मक्तिमार्ग का कारण, एवं ज्ञानमार्ग का उपनिषत् दोनों का एकसाध प्रत्यक्ष कर दिया गया है बन्धु ब्रह्मायमकापनिषत् नाम ब्रह्म-प्रकाश के लिये है। वही कारण है कि बन्धुमार्ग ने निष्ठावर्ग का ही बाहर से ही निष्ठावा ही में परिणत हो रहा है। लीकरी मक्तिमार्ग का ज्ञानबोध में ही अन्तर्गत हो गया है।

३४-ब्रह्मसमागत्-प्रकृतिनिबन्धन-गुणान्मक-प्रवृत्त्युत्पन्न कर्मों की उपयोगिता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं भीमकृताओं के द्वारा तत्कर्म माध्यम से असुर-परामर्श—

स्वतन्त्र कर्ममार्ग का माध्यमगत प्रकृतिकर्म-निवृत्तिकर्म (जिसे कि योगसमागत् में निष्कामकर्म कहा गया है) दोनों का ही निरूपण हुआ है। प्रकृतिकर्म के लक्षण में यह प्रत्यक्ष हो रहा है कि वह प्रकृति स्वभाविकी है। तो उस का विधान करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? उत्तर यह है। प्रकृति का यह निष्काम निवृत्तिकर्म है निष्काम स्वभाविकी है। वही स्वतन्त्र प्रकृति है। यदि कर्मकाण्ड मनुष्य प्रकृति के अनुसार कर्म करेगा तो उस की प्रकृति सफल होगी एवं प्रकृतिकर्म का ही निष्काम निवृत्ति का भी कारण नहीं बनेगी। उच्च प्रकृति-निवृत्ति कर्मों में प्रकृति स्वतन्त्र बनेगी स्वतन्त्र के कर्म में लक्षण भी निवृत्ति रहेगी, यदि सफल हो तो भी स्वतन्त्र, या वह प्रकृति से निवृत्ति बनेगी दुर्ग देवता निवृत्ति के लिए अग्रणी का भी का यह निवृत्ति होगी। परमार्थ न ली स्वतन्त्र ही कम से कम इत्यादि देखा है, जिस में स्वतन्त्र की दृष्टि न रहेगी। इसी प्रयोग के लिए बने प्रकृतिकर्मों की लक्षणमयता करना आवश्यक समझा। और विद्युत्माध्यम की प्रकृति अग्रणी-निवृत्ति का लक्षणिक न बनेगी दुर्ग भी शक्ति की लिए असुर ही बनेगा दुर्ग। प्रकृतिकर्म का ही स्वतन्त्र में भी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्र समय पर अग्रणी स्वतन्त्र का प्रमाण कर निवृत्ति का अग्रणी का बचता यह लक्षणिक ही है।

३५-ब्रह्मप्रति क समस्तज्ञान में शास्त्रप्रकृति का प्रकृतिक एवं ब्रह्मसमागत् कर्मकाण्ड का निर्विरोध-समन्वय—

प्रकृतिकर्म के साथ साथ ही निवृत्तिकर्म का उत्तरावरोध हो के स्वतन्त्र ही निवृत्ति कर दिया कि ब्रह्मप्रति में ब्रह्म प्रकृतिकर्म का ही बचता है। प्रकृति वही ही पर विधान न कर देना-‘मनुष्य’

एव तु-आराधित विश्वेन (शक्तः) । चरम नि श्रेयस तो निवृत्तिभाव पर ही निर्भर है । "सपक्ष्य सामान्य अभिप्रायों के बुद्धिवाद को झुठिलाव रखने से लिए पहिले वे"न कामनामय अतएव विगुणभावमय कर्म-क्षरक का समर्थन किया एवं आगे आकर भौतार्थ कायक में विगुणातीत निवृत्तिप्रधान कर्ममार्ग का आदेश दिया । स्वाभाविकतीन्याय से कर्म को जो कुछ कहना था कह दिया । यही वे"न के ब्राह्मणभाग से सम्मत कर्मयोग कहाया जो कि सर्वथा निर्रन्त है ।

३६-कर्मनान्तरमायी मक्तिपथ, तथा ज्ञानपथ, एवं औपनिषद्-ज्ञानयोग स अनु-प्रापित कर्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कर्म के अनन्तर वे"न के सामने अतिशय ही और ज्ञानक्षरक आण । "नके लिए इसे आरम्भक एवं उपनिषद् रूप में परिचय होना पड़ा । वेद का मक्तिमार्ग क्योंकि निवृत्तिप्रधान था अतएव पूर्वकथनानुसार आगे आकर निवृत्तिमुखक औपनिषद् ज्ञानयोग में ही इस का अन्तर्भाव होगा । वेद को आराद्धा थी कि कही ज्ञानयोग का अथ कर्मोच्छास न समझ लिया जाय । अतएव ज्ञानयोग की प्रतिपादिका पहिली श्रौतनिषद् में ही उम्मेद-“कुर्वन्नेवेह कर्माणि”—“न श्लिष्यते नरः” यह स्पष्ट करत हुए ज्ञानमार्ग में भी कर्म की आवश्यकता सूचित करदी ।

३७-कर्मरूपतामिमानी ज्ञानवादी वेदान्तियों का कर्मोपदेश क सम्बन्ध में अनगल प्रवाद एवं तत्सम्बन्ध में कर्म की अनिवार्यता का उन्वेष —

कर्म वागावितानी कहा करते हैं कि 'यद् भुक्ति सामान्य अभिप्रायों से ही सम्बन्ध रखती है । जो ज्ञान यौग की योग्यता नहीं रखते उन्हीं ही कर्म का उपदेश दिया गया है । अविमानों व्याख्याता यह मूल बातें हैं कि वेद का यह कथन तो ब्राह्मणभाग से ही गलाय होया है । जो निवृत्तिकर्ममूलक ज्ञानयोग की उन्व भूमिका का अविकारी नहीं हैं उन्हीं के लिए आरम्भक और ब्राह्मण भाग निर्रत है । जब यह लक्ष्य पूर्वमागी से गलाय ॥ तो फिर उपनिषद्-सम्बन्धी कर्मबन्धन को उबर लीजाना कैस सहज होसकता है ।' आखर ही औपनिषद् ज्ञानयोग का यही तात्पर्य मानना पड़ेगा कि ज्ञानयोग में भी कर्म का ज्ञानुच्छान किया जाय परन्तु कथनबुद्धि से कलकामानवित छोड़ कर ।

३८-उपनिषदों की आवश्यकता क सम्बन्ध में एक प्रश्न, एवं सधिराकरश-प्रयास —

पाठक यह प्रश्न करेंगे कि जब ज्ञानयोग का यही तात्पर्य है-कि निवृत्तिमूलक कर्म करना त उपनिषद् की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती । क्योंकि पूर्वकथनानुसार यह काम ही वेनेतमात्रप्रमाण से ही गलाय है । जब ब्राह्मणभागने प्रवृत्ति क साथ साथ निवृत्तिकर्म का भी उपदेश दे दिया एवं निवृत्तिकर्म ही का नाम अब ज्ञानयोग है तो उस आवश्यकता में उपनिषद्-भाग तो सर्वथा निरर्थक ही होजाता है ।

३९ ब्राह्मणभागोक्ता कर्म-मक्ति ज्ञान प्रयी का स्वरूप-समन्वय, तन्मूला निविधा निष्ठा, एवं सर्वत्र सव सन्त्र अन्ययैवसरसम्मत 'युद्धियोग' —

यही निरप्रतिष्ठित उल रहस्यात्मक भीष बुद्धिवाग का गरीबकरण कर रही है जिसका कि हम आरम्भ से ही परीक्षण करने आरम्भ है । ब्राह्मणभागान् प्रवृत्तिमूलक कर्म कर्मयोग है आखणुभागान् निवृत्तिमूलक

निष्कर्मकर्म ज्ञानयोग है चाप्यवकमागाक्ता उपायना भक्तियोग है एवं उपनिषद्गत, कर्म-परिमहसङ्गरा रागद्वयवियुक्त ज्ञानयोग अर्था बुद्धियोग है। होय का रागद्वय मे सम्भव है। कर्त्तव्य बुद्धियोगवत्तु ओरनिष्ठ ज्ञानयोग में किंवा ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग मे रागद्वय का समाप्त है हेतुगत का समाप्ति है अतएव यद् बुद्धियोगवत्तु 'योग ही कर्मों में (आत्मबोद्ध प्रवृत्तिमूलक कर्मों में) घोरान् कर्म दृष्टा नवया सम्भवन है। उपनिषद् की निम्न निम्न अति इसी रहस्यमय बुद्धियोग का निरूपण कर रही है—

दृष्टमेवेह कर्माणि त्रिबीजिष्यन्त्य मया ।

एवं स्वयि नान्यत्तोऽस्ति न कर्म स्तिप्यत नर ॥

—इगोपनिषद्

४०—मन्मन्मत वैराग्यबुद्धियोग का सम्मरण—

‘अन्न मतिः सा गतिः’ इस निष्ठान्त कथनपर कट का अन्तिम भागवत्तु अतएव ‘बहुन्त’ मत्त मे प्रसिद्ध उपनिषद्गत अन्न बुद्धिः का क भाग बड़ी शिक्षण करता है कि गुप्त प्रवृत्तिमूलक आत्मबोद्ध कर्मायोग का यदि बुद्धियोग के समाप्ति मे अनुत्पन्न करोये तो गुप्तारा यद् कर्मायोग ‘वर्त्मबुद्धियोग’ का बाधना। निवृत्तिवत्तु कर्मायोग (जिसे कि हम ज्ञानयोग कहेंगे) में बुद्धियोग के समाप्ति मे यद् ‘ज्ञानबुद्धि योग’ का बाधना। एवं आत्मबोद्ध—मन्मन् मत्तियोग में बुद्धियोग के समाप्ति मे यद् ‘वैराग्य-व्यवृद्धियोग’ का बाधना। ‘मन्मन्मत’ तीनों का किंवा दोनों निष्ठाभी का पार्यन्त इदं बाधना एवं लम्बान् रद्द बाधना केवल मन्मन्मन्मत—बुद्धियोगनिष्ठ का किंवा वैराग्यबुद्धियोग का।

४१—वैराग्यगत कर्मायोग, अक्षरागुगत ज्ञानयोग, वैराग्यवानुगत भक्तियोग, एवं अक्षयवानुगत बुद्धियोग तथा शास्त्रसिद्ध-पागानुगता कर्माज्ञान-भक्ति-बुद्धि-मेह मिना काण्डवत्तुपि का सम्मरण—

यद् यी मन्मन् रचना चाहिए कि, वैराग्य ‘न चाती निष्ठाभी में वर्त्मबुद्धियोगनिष्ठ मे (कर्मायोग में) वनादि विरक्त की, वृत्ति शब्दों में अक्षरगत की ही प्रभावना है अतएव ‘मे हम ‘वैराग्य’ (‘वैराग्य-मत्त’) कहनकरी है। ज्ञानबुद्धियोगनिष्ठ मे (ज्ञानयोग में) निराकरणव्यापिष्टात्तु अक्षर की प्रभावना है अत एव हमे हम अक्षरवत्तु (अक्षरगतयोग कह सकत है। वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ मे अक्षरवत्तु, एवं अक्षरवत्तु का सम्भव है अतएव हमे हम अक्षरवत्तुयोग कह सकत है। कथि मत्तियोग आशिरूप से अक्षरवत्तुपि मत्तियोग की का सम्भव है अतएव तीनों की बाधना हमे अक्षरवत्तु मी माना गया है अतएव ‘न का उपनिषद् मे सम्भव मी माना गया है तथापि अक्षरवत्तु के सम्भव मे यद् किन्तु मत्तियोग नहीं है। उक्त उपनिषद् मे मत्तियोग बोध वैराग्ययोग मे कर्मा मी अक्षरवानुगत है तथा ज्ञान मी अक्षरवानुक्त की ही है। गीतापारम्यवत्तुत्तर ‘अहं’ शब्द अक्षरवत्तु का ही बाधक है अतएव ‘न चाते योग की हम ‘मत्तियोग’ (‘अक्षरवत्तुपि’—‘मे मत्तियोग’ (‘अक्षरवत्तुपि’) कह सकत है। ‘मन्मन्मत’ तीनों मत्तियोग मे विचार करने पर दिक्कारवत्तु-शास्त्र मे उक्तियोग अत कावर्त्तु की लम्बा निष्ठ हीवती है जिसे कि निष्ठवत्तु गीता वत्तुत्तु अक्षरवत्तु ही वती हुई है।

४२-वेदसम्मत योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगगमिता सशोधिता निर्भान्ता योगत्रयी एव प्रामाणिक-शास्त्रों का सम्मरस—

वेदसम्मत यह योगचतुष्टयी किंवा दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोगगमिता योगत्रयी ही निर्भान्ता योगत्रयी है। इस में संशोधन बहुतमान्य भी अपेक्षित नहीं है। एवं इस दृष्टि में गीताशास्त्र किसी अपूर्वयोग का निरूपण नहीं कर रहा। इन्हीं दृष्टि की कृत्रिमता कर योगशास्त्र ने 'उत्तमाश्वासार्थं प्रमाणं तं' कहा है। गीता का शास्त्र शब्द प्रधानरूप से वेदशास्त्र का संपादक बनता हुआ वेदसम्मत पदान्तरशास्त्र (शारीरकशास्त्र) मनुस्मृत एवं आंग आंग भी वेदाविरोधी निवन्ध्यादि शास्त्रों का अनुप्राहक बन रहा है।

४३-श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी चतुष्काण्डा—

१—प्रवर्ण वैदिक कर्म—आत्मचरयोग — कर्मयोग	} — १	} बुद्धियोग
२—निवृत्त वैदिक कर्म—अभ्यक्ताचरयोग — ज्ञानयोगः		
३—अभ्ययानुगता भक्ति — व्यक्त अतीतयोग — भक्तियोगः	} — २	
४ अभ्ययानुगते ज्ञानकर्माणी-पुरुषोत्तमयोग — बुद्धियोगः		

४४-प्रकारान्तरेण श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी, योगत्रयी वा

१—कर्मयोग — धम्मबुद्धियोगः — आत्मसमागमिद	} आत्मयोग १
२—ज्ञानयोग — ज्ञानबुद्धियोग — आरप्यकमागमिदः	
३—भक्तियोग — परबर्ष्यबुद्धियोग — आत्मसमागमिद	} आरप्ययोग २
४—बुद्धियोगः — पराग्यबुद्धियोग — उपनिषद्मागमिद	

४४--'इत्यव्यय' के आधार पर प्रतिष्ठित 'कर्तव्यवेद' के सुप्रामाण्य तीन ग्रन्थ-संस्थान एवं तीनों संस्थानों के द्वारा कर्म-उपासि ज्ञान का स्वरूप-उपव दृश्य—

उक्त विभाग-व्युत्पत्ती के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वेदशास्त्र की दृष्टि से तीन के स्थान में चार योग के दो उत्पत्ति यह कर्तव्यमार्ग भाग चार भागों में विभक्त कभी नहीं माना गया ?। कर्तव्यवेद के ब्राह्मण-आरबक उपनिषद् ने तीन भाग ही प्रतिष्ठित हैं। एवं समान प्रश्न के अनुसार भी तीनों कर्म-उपासि-ज्ञान के ही प्रतिपादित होने गये हैं। फिर वह बाधा बुद्धिभोग कहाँ से आता ? और का भी गया तो इसके लिए वेद का एक स्वतन्त्र बाध कीर कदा न हुआ ।।

४५--बुद्धियोग-निबन्धन स्वतन्त्र कारण के सम्बन्ध में एक महीनी विप्रतिपत्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

विप्रतिपत्ति बर्णार्थ है। पृथक् के 'ज्ञानयोग परीक्षाप्रकरण' में भी प्रकरणान्तर से इत विप्रतिपत्ति का विवरण कर दिया गया है एवं साथ ही कथान्तर से वही व्याख्यान भी कर दिया गया है। यहाँ एक दृष्टि से यह विप्रतिपत्ति हमारे सामने आई है। बात वास्तव में यह है कि कर्तव्यमार्ग मन्त्र वेदशास्त्र की वात्मा का ईश्वरवात्मा के साथ योग करना चाहता है। वह प्रकृत्या या (ईश्वर) एवं शास्त्रिक वात्मा (बोध) दोनों ही से का पय वात्मा वादमय प्रमाणमयी मनोमय के अनुसार प्रकृत है। तभी तीनों कथार्थों का उक्त की तीनों कथार्थों के साथ योग कर देना ही वेदशास्त्र का मूल उद्देश्य है। वाक्पञ्चा के साथ योग कर देना ही कर्मयोग है। प्राण का प्राण के साथ योग कर देना ही भक्तियोग है। एवं मन का मन के साथ योग कर देना ही ज्ञानयोग है। एवं इत दृष्टि से तीन ही योग करते हैं। इसी प्रवृत्तिविशेष विस्मयपूर्ण की रक्षा के लिए कर्तव्यमार्ग के ब्राह्मण आरबक उपनिषद् इन तीनों ही भागों में परिणत होना पड़ा है। इसीलिए कर्तव्यवेद के मध्य 'त्रिकर्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

४६--बुद्धियुक्त मन की विज्ञानबधा, तन्निबन्धना योगप्रयी की बुद्धियोगरूपता, एवं विप्रतिपत्ति का आत्यन्तिक-निराकरण—

ये तीनों ही योग यदि एकामात्र से किए जाते हैं तो वे प्रयोगात्मक से बहिर रह जाते हैं। इसके लिए तीसरे उपनिषद्-भागने 'कर्तव्यवेद कर्माधि' व्याख्यान से तीनों के साथ निष्कामभाव का सम्बन्ध करना आवश्यक समझा। उपनिषद् ने कथनाया कि कर्म-ज्ञान भक्ति-तीनों ही विद्या भिन्न-उपनिषद् से किए जाने पर ही तीर्थस्वर करते हुए लक्षणयोग बन सकते हैं। कामभाव मन की दृष्टि है एवं निष्कामभाव अतद्वृद्धि का आधार है। यदि अतद्वृद्धि का प्रधान बताते हुए बुरे राश्री में-बुद्धि का मन के साथ योग करते हुए योगप्रयी का अनुष्ठान किया जाय तो बहिष्कारा तत्पर अनुष्ठान का वरत्न बरत्न हुआ लक्षणस्थान पर पहुँच जायगा। इस प्रकार उपनिषद् ने निष्काम राश्री में बुद्धियोग की योगता की ओर आदेश दिया कि, प्रकाश कर्म प्रकाश भक्ति एवं प्रकाश ज्ञान सभी लक्षण हैं यदि हम विज्ञानबधा (बुद्धियोगी) बन जायों।

४८-रथ-रथी प्रग्रह मार्ग-यात्रा आदि से समन्वित कर्णव्यय का सम्मिश्रण, एव तत्-
सम्बन्ध में महर्षि कठ क उद्गार—

शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित 'रथी' आत्मा (शारीरक आत्मा) की प्रयत्नात्मा पर पहुँचना है। इन्द्रियारथ का प्रग्रह (लगाम) मन है। 'सारथी' बुद्धि है। यदि सारथी के हाथ में बागडोर है तो थोड़े ठीक मार्ग पर चलते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँचा देते हैं। यदि सारथी प्रमादी रहा तो लगाम (मन) टीली पड़ जायगी थोड़े बिगड़ जायेंगे रथ टूट जायगा रथी बायल होजायगा और यों मलकुछ नष्ट भ्रष्ट ही होजायगा। ऐसी दशा में सारथी का योग (बुद्धियोग) नितान्त अपेक्षित होभागा है। "नी बुद्धियोग आ विमूर्तान् कथसी कुर्वन् उपनिपत्य" इति कथी है—

य सेतुरीजानानां अक्षर ब्रह्म यत् परम् ।
अमय नितीर्वतां पार नाधिकैव शक्नेमहि ॥ १ ॥
आत्मानं रश्मिं विद्धि शरीर रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥ २ ॥
इन्द्रियाणि इयानाहुर्निर्परांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मन्त्रियमनोयुक्त मोक्षतेत्याहुर्मर्म्मनिषिञ्च ॥ ३ ॥
यस्त्विद्विज्ञानवान् मन्त्रययुक्तेन मनसा सदा ।
तत्स्पर्शियाद्यवयवयानि दुष्टास्वा इव सारथे ॥ ४ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति यकठन मनसा सदा ।
तत्स्पर्शियाणि वययानि मद्वन्वा इव सारथे ॥ ५ ॥
यस्त्विद्विज्ञानवान् मन्त्रयमनस्क सदाऽशुचिः ।
न स तत् पदमाप्नोति ससार चाधिगच्छति ॥ ६ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ७ ॥
विज्ञानमारविर्गम्यन्तु मन प्रग्रहमात्म ।
सोऽप्यन पारमाप्नोति तद्विष्णो परम पदम् ॥ ८ ॥

—कृष्णोपनिषद्

४९-प्रत्यगात्मा, तथा शारीरकात्मा की मध्यस्था बुद्धि शारीरकात्म-निबन्धना योगप्रयी एवं ज्ञेयगात्मानुबन्धी बुद्धियोग तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपपन्नता का समन्वय—

प्रत्यगात्मा और शारीरक-आत्मा के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। यही वाक्या में आत्मा मन के साथ बलवत् बुद्धि को न गगने लवतक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं होजाती। एव लवतक योगवदी सफल नहीं हो-

मन्त्री । उपनिषद् केवल स्वतन्त्र विभाग नहीं है । बुद्धियोग का प्रति एक वेदभाग ही उपनिषद् है । वेदान्त तो ब्राह्मण एवं कारवक भाग से ही गठित है । उसके साथ बुद्ध का योग करने के लिए ही उपनिषद् सब प्रवृत्त हुआ है । उपनिषद् को ज्ञानयोग का प्रतिपादक मानना तो सर्वथा भ्रान्ति ही है । निष्किल्बिष ही वह नाम जब ज्ञानयोग है और वह सब ब्राह्मणभाग से ही गठित है तो फिर उसके लिए उपनिषद् की रूप आवश्यकता रह जाती है । मानना पड़ेगा कि, उपनिषद् तो एक वैरा विभाग है जिसमें तीनों वेदों में ही सम्मिलित है । ईश्वरविष्णु ब्राह्मणभाग में भी उपनिषद् का सम्मिलन देखा जाता है एवं कारवक भाग में भी सम्मिलन पाया जाता है । यद्यपि औपनिषद-बुद्धियोग है तीनों के शुद्ध परन्तु तीनों का मूलधार बना हुआ है । अतएव अनुम कायद के स्वतन्त्र व्यवहार का व्यवहार नहीं किया-वृत्ति सब सुस्थाय ।

५०-धम्म-ज्ञान-विराग्य-परमार्थ-नामक-योगों की अग्रिवाओं के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति एव औपनिषद्-युक्तियोग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का अपूर्वता, तथा विलक्षणता का समन्वय-

एक विमलितपि श्रीः । निवारणायक उक्त वेदमात्र में स्थूलरूप से चण्ड-आन-ऐरव-व्य-वैराग्य नामक बुद्धिबोधि
का उल्लेख नहीं मिलता । कथवि उपनिषद् में आरम्भ ही बुद्धिबोधि का आभास मिलता है परन्तु स्थूल
में यहाँ भी स्पष्ट-ऐर (स्त्री) नहीं हुआ है । इतना कहा कारण । श्रीर विम आचार पर इस विमलमात्रबुद्धी का
प्रामाणिक मान निरा काय । इस विमलितपि का उत्तर यही हमारा गोपाराम्य है । इतने कोई छन्देह नहीं कि
उपनिषद् में प्रतिपादित बुद्धिबोधि धर्म अथवाकामा लब्धा संकुचित ही रहे । यहाँ रहस्यभङ्गा में गुप्तरूप में
बड़े ही लक्ष्मण स बुद्धिबोधि एक अथवाकामा का निरूपण हुआ है । उन्नी लक्ष्मण का विस्तार किया है नीला
शाम्भ न गीता-रहा भगवान् जीहृण न । हमें ही इन मन्त्रों में यह भी कह देने में कोई लक्ष्मण नहीं
दाता कि बड़े नीला न होनी तो वेद का रहस्यपूर्ण बुद्धिबोधि, एक अथवाकामा अविच्छिन्न ही बने रह जाते । यही
कारण है कि वेदभिर इन मत के लिए भगवान् न "य म मतम्" कहने में भी कर्म लक्ष्मण नहीं किया । वीचित्र
मुनिदिन, रहस्यपूर्ण शक्तिप्रदाय में ही परम्परा प्रविष्ट वेदनुत के आरम्भ में भगवान् ने ही इतना
भिन्न किया । उन महाभागतत्व में भी मन्त्रान न ही इतना पुनरुद्धार किया । इनीतिर कह भगवान् का
नीला कहना । लक्ष्मण पद का विस्तार ही तो गम्य है जैसा कि प्रथममन्त्रमन्त्रगत नामप्रमाणप्रकाश
की नीला-मन्त्र में विस्तार स लक्ष्मण जाना है । लक्ष्मण कह बड़े ही लक्ष्मण का निम्न है कि आत्र
पुन नीला का यह रहस्यपूर्ण बुद्धिबोधि विस्तृत होगया है । कवी विष्णु हारा ? इनका कारण पात्रक अनुप
स ही गरी ।

५१-यागसतुष्यी का तपन यागद्वीपा निष्ठाद्वी मं ही अन्तमाय-

[illegible]

ही निष्ठाओं में पर्यवसान होगया। व्यक्त-स्वरमूलक प्रवृत्ति-कर्ममूलक कर्मयोग अव्यक्ताक्षरमूलक निवृत्ति-कर्ममूलक ज्ञानयोग इन दोनों का कर्मस्त्वेन एक विभाग मान लिया गया। निगुण (अव्यय)-मूलक भक्तियोग अव्ययमूलक उपनिषद् ज्ञानयोग (बुद्धियोग) दोनों का एक विभाग मान लिया गया।

५२-योगप्रयी के क्षेत्र में सशोधन के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त देवयुगानुगत गीताशास्त्र का संस्मरण—

देवयुगानुगत भक्तिमार्ग में आरम्भकमूला सगुणोपासना का पूर्ण विचार नहीं हुआ था। अतएव उस आरम्भ की परिस्थिति में 'सत्सङ्गान्ध्यानाः परां किञ्चिन्नासं' इस स्थायम्भुत विज्ञान के आचार पर उमान् प्रत्ययप्रवाहकता निगुणोपासना ही प्रचलित थी। यह उपासना निगुण अव्ययमूलक बुद्धियोग से स्वतन्त्र न थी। अतएव उस युग में भक्तियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अक्षर ही नहीं आया। उस पुराण में लोक में दो ही निष्ठाएँ प्रचलित थीं। अक्षर ही कुछ समय पर्यन्त दोनों निष्ठाओं का स्वल्प स्मरण रहा। परन्तु कुछ ही समय पीछे दोनों का पार्यन्त कर जाका गया। उसी के संशोधन के लिए उसी देवयुग में गीताश्रेष्ठ प्रवृत्त हुआ।

५३-सुप्रसिद्धा कर्म-ज्ञान-वैराग्य-एकवर्त्य-नाम की चतुर्विधा योगनिष्ठाएँ एवं उन का सुप्रसिद्धा दो निष्ठाओं से ही समतुल्य समन्वय—

इस परिस्थिति को न जानकर यदि कोई मन्दबुद्धि यह करने का दुस्साहस करे कि—“देवयुगारम्भ में केवल कर्म-ज्ञान-निष्ठाएँ ही प्रचलित थीं भक्तिनिष्ठा का आरम्भ में क्या था। पौराणिक समय में ही भक्तिमार्ग का आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भगवान् ने पुराणकाल में दो ही निष्ठाओं का उल्लेख किया है” तो उसका कोई भी महत्व नहीं है। अक्षर ही ज्ञान-कर्मका भक्तिनिष्ठ भी प्राचीन ही है। तीनों का आविर्भाव ही समकालिक ही है। केवल निगुणोपासना का स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करना अनावश्यक समझा गया है। और इसी आचार पर 'लोकैऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्त' यह कहा गया है।

१—	१—प्रवृत्त कर्म	(कर्मयोगः)—कर्म	—ब्राह्मणभाग	}—कर्मनिष्ठा
	२—निवृत्त कर्म	(ज्ञानयोगः)—कर्म	—ब्राह्मणभाग	
२—	१—निगुणभक्ति	(भक्तियोगः)—ज्ञानम्	—आरम्भकभाग	}—बुद्धिनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा)
	४—बुद्धियोगः	(बुद्धियोगः)—ज्ञानम्	—उपनिषद्भाग	

५४-बेदमिथ्या काण्डचतुष्टया, तथा गीतामिथ्या योगचतुष्टयी का सह-समतुलन, वदोक्ता सविष्ठा योगविभूति का गीता के द्वारा विस्तार एवं प्रवृत्तिमूलक श्रुत यप का यशोधन—

बेदमिथ्या निष्ठाचतुष्टयी एवं गीतामिथ्या निष्ठाचतुष्टयी में जोर अंतर नहीं है। केवल दो रूपों में यीशारात्रन केन्द्रात्रन की अपेक्षा अपूर्व बना हुआ है। पहिली बात तो यही है कि, बेद के उपनिषद्-योग में बुद्धिबोधावच्छिन्न बिम अल्पवयमा का बर्हा बनी ही गृहस्थमात्र में बर्हा ही संज्ञेय में प्रवृत्तिमान हुआ है बर्हा गीता ने उसे विस्तृत रूप दे दिया है। दूसरी बात ब्राह्मणमागेस्त प्रवृत्तिमूलक कामनामय कर्मयोग से सम्बन्ध रखती है। बेद के ब्राह्मणमागेस्त लोक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुवर्धित रखने के लिए बिम प्रवृत्तिमार्ग का अंतर निभा है मगवान् उनसे स्वीकार नहीं किया। वह बहुत समझ है कि सत्य-वेदा-श्रुती में (बह कि-मानक-ममात्र की बुद्धि परमार्थ की ओर ही विशेषरूप से सुनो हुई थी) प्रवृत्तिमूलक कामनामय परमाधमात्मना की कुल मानता हुआ विशिष्टरूप से काम्युदय का ही कारण बनता होता। उस समय के वह बागादि लोकापकार की योजना में ही किए जाते हैं। श्री इति से केर का यह आदेश उन श्रुती के लिए अक्षर्य ही उपादेय रहा होगा। परन्तु अब बलिभुग में बिमने कि मानकम्याय महत्त्वावपरम्परा बना रहना है प्रवृत्तिमूलक कर्ममार्ग विशुद्ध स्वावन्तन कला हुआ विश्व की अराधना का एका आत्मपतन का ही कारण बन जाता है। केवल इही श्रुती की मूल मान कर मगवान् ने त्रैगुणमात्ममूलक पदविधर्म की अनुपपन्न सिद्ध कर दिया।

५५-कलिभुगानुगता मयक्तिक-स्वाधमूला पापारिपका इति के मूलोच्छेद पूर्वक ही वेदबादरति का यशोधन एवं लोकप्रवाहक मगवान् के द्वारा नियोगसेम का आदेश—

मगवान् का अक्षरार्थोपर के अन्त में वय कलि के आरम्भ में हुआ था। अतन्तव की परिस्थिति महामार्गार्थना थी। अब अपनी अपनी मेयक्तिकी स्वावच्छिन्न के प्रभाव में ही सम्बन्ध थे। ऐसी दशा में यदि मानवान् उन त्रैगुणमात्ममय केवल प्रवृत्ति कर्मों को उपादेय कला देते तो अक्षरालीन मानवधमा की स्वावच्छिन्न को अक्षर्य ही अक्षरित प्रवृत्तिमान प्राप्ति होजाय। अतएव मगवान् ने वह आक्षर्यक समझ कि अब मानव ममात्र में वह योग्यता नहीं है कि वह लोकापकार की भावना से प्रवृत्तिमार्गप्रदान में समर्थ होगा। श्री लोकप्रवाहका के लिए मगवान् का विशय होकर बराबर त्रैगुणधर्म के सम्बन्ध में वह कह ही देना पड़ा कि—

पावानय उदपाने ममत्त तंष्टुतोदक।

तावान् समस्य केन्म्य ब्राह्मणस्या विज्ञानत ॥

श्रुतयविपया वेदा निर्मैगुणयो मवातुर्न ॥

निद्र न्दो निम्नामप्यस्यो नियोगसेम आत्मवान् ॥

५६-भावुक मानवों की वेदानुगता आन्ति, एवं गीता क ही शब्दों में आन्ति का
आमूलवृद्ध निराकरण, तथा वैदिक यज्ञ-उपा-दान प्रयी का निष्ठापूर्णक
समर्थन—

कितन ही महापुरुष उक्त वचनों उचित का यह तात्पर्य लगाते हैं कि भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में वेद की
विषय वेदसम्मत यज्ञ-उपा-दान कर्मों की निन्दा ही की है। कहना पड़गा कि-कभी व गीता क तात्पर्य स ठीक ही
वर्णित है। भगवान् शत्रु व केवल प्रवृत्तिमात्र के न कि वेदों के कर्ममार्ग के। कत वाक्य उक्त के निरर्थक के
सम्बन्ध में शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् वेद की निन्दा करें? यह असम्भव है। सम्भवतः भगवान् की मी उक्त
वचन श्रीमुख से निकलते हुए वह विचार हुआ होगा कि कभी "नका वह तात्पर्य न समझ लिया बात
कि वैदिक कर्ममार्ग निन्द्य है मोक्ष का प्रतिकषक है (वैदिक आराधन के अर्थ उपादी समझ था है)। इसी-
लिए भगवान् को आती आकर स्पष्ट कर ही देना पड़ा कि—

यज्ञ-दान तप-कर्म न त्याज्य कार्यमिव तत् ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१॥

एतान्यपि तु कर्माणि मङ्गलानि फलानि च ॥

कर्त्तव्यानीति म पार्थ ! निश्चित मतमुच्यते ॥२॥

नियतस्य तु म-पाम कर्मणो नोपपद्यते ॥

मोक्षस्य परित्यागस्तामस परिहर्तव्य ॥३॥

तदित्यनभिसन्धानं फल यज्ञ-तप क्रियाः ॥

दानक्रियाश्च विविधा क्रियन्ते मोक्षकर्तृभिः ॥४॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवचन ॥

तदर्थं कर्म कौन्तय ! मुक्तमङ्ग समाधर ॥५॥

५७-वेदोक्त कर्ममार्ग की मोक्षोपयुक्तता का समन्वय वनेक्त प्राज्ञापन यज्ञकर्म का
गीता क द्वारा यश व्यापन, एवं निष्ठावर्मावानुबन्धी वैदिक-कर्मयोग का
उ-मुक्तवृद्धय स समाधर—

उक्त वचनों को देखते हुए एक मन मूर्ख होगा जो कि वेदोक्त कर्ममार्ग का मोक्षमार्ग का प्रति-
कषक कलामे की मूर्खता करेगा। वेदवादरति के ही भगवान् विरोधी है यथावत्ता मंगैश्वर्यप्रवृत्ति क
ही शत्रु है। गीताप्रवेष्टक से हमें तो यह मान जान में भी कोर नदीय नदी हाइरा कि यदि हमारा प्रवृत्तिम
हमारे व्याप का कारण नहीं है परमार्थकामना स यदि हम कर्ममार्ग में प्रवृत्त हल है मंगैश्वर्य का मान-
कमात्र को "ह-मीग मिलते हैं" "स क्षमना से यदि हम काम मी कर्म करत हैं तो भगवान् की इति से
वे मी आदरणीय ही हैं। भगवान् केवल उक्त कामना क विरोधी है जो कि केवल आत्मवचन का ही कारण मनी-
नी है। परमार्थकामनामय तो प्रवृत्तिम मी भगवत्सम्मत ही है। और यज्ञक प्रवृत्तिम का रही मूल उद्देश्य

भी है । क्योंकि स्वार्थमूलक कृति में ऐसा होना कठिन है । इसलिए भगवान्ने क्षमना का निरोध करना आवश्यक समझा । यह कार्य अथ पुण्य इस पुण्य में भी परमायुष्मान्ना से काम्य कर्म करता है । तो भगवान् उसे आदर ही करते हैं । देखिए ।

सह्यसा प्रज्ञा सृज्या पुरोधाश्च प्रज्ञापति ॥
अनेन प्रमत्तिव्यञ्जयः शोऽस्त्वित्कामधुक् ॥१॥
दत्तान् माययतानन ते दत्ता मायय तु वः ॥
परस्पर माययन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥२॥
इष्टान् मोगान् हि वो दत्ता दास्यन्ते यत्प्रमायिता ॥
तैर्दत्तान्प्रदायन्त्यो यो मुहुक्ते स्तेन एव ह्य ॥३॥
यत्प्रशिष्टाशिनः मन्ता मुह्यन्ते समकिन्धिर्षः ॥
मुह्यते ते त्वर्ष पापा य पचन्त्यात्मकारणात् ॥४॥
कम्प प्रज्ञाश्रय विद्धि प्रज्ञाचरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सधंगत प्रज्ञा नित्यं यत्प्र प्रतिष्ठितम् ॥५॥
एवं प्रवर्तितं चक्र नानवर्तयतीह य ॥
अवापुरिन्निवृत्तामा मोष पाप ! स जीवति ॥६॥

५८—कविपय कसिकर्ण शास्त्रीय विधान एवं गीताशास्त्र-सम्मत संशोधन का तात्त्विक समन्वय

नियोगविधि शास्त्र-सम्मत है पशुपुरोडाश शास्त्रविहित है परन्तु यह कविधर्म माना गया है । कारण इतना बड़ी है कि कविपुण्य में मनुष्य स्वमात्र पर इन्द्रियपरायण होते हैं । ऐसी दशा में उन्हें निदान की आज्ञा देना अनाचार का है । प्रोत्साहन देना है । वही व्यवस्था पशुपुरोडाश की है । माय में अमृत ही मोक्षपरिणाम होता आदिर । परन्तु उसके स्थान में जो माय (उर्ध्व) का निदान हुआ है इच्छा भी बड़ी रहस्य है । इसका वह अन्तर्गर्भ नहीं है कि, कविपुण्य में ऐसा करना पाप है । यदि कोई आशीर्वाद इन्द्रिय-मनोवशक ऐव कथकला है तो बहुत ही उत्तम है । स्वयं व्याजवस्तुने अमृतवत् के परमेश्वर में हमी माय की भोग माना है । चवन म पुत्र अथवा जी अथि अथ इन पाँच पशुप्रीति आनन्द कर इन के मोक्ष में कुछ मित्रों से इच्छा निर्माण होता है । अवश्य ही वह कर्म कविधर्म है । परन्तु और करे, तो अवश्य ही वह उत्तम भी है (देखिए) हात का (१५) । ऐसी दशा में भुवधर्म की मर्यादा की लक्ष्य में रखकर यदि भगवान् न संश्लेष प्रवर्तकर्म का निरोध कर दिया तो एतावता ही गीता का अवशिष्टविधि मान बैठना सर्वथा अव्यवहार्य ही तो माना जायगा ।

५६-भुतिशास्त्रमिद्वैव योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा उपबद्ध्य—

वात्सल्य उक्त निवेदन का बड़ी हुआ कि भुतिशास्त्र ने जिस योगचतुष्टयी का दूसरे शब्दा में औपनिषद् बुद्धिरागार्थिता अतएव बुद्धियोगात्मिका त्रिंश योगत्रयी का संक्षेप से निरूपण किया है बिना किसी संशोधन के (नाममात्र का संशोधन करते हुए) भगवान्ने गीता में उक्त विस्तार के साथ क्यो का स्यों संग्रह कर लिया है। वेदशास्त्रसम्मत, अतएव सर्वथा निर्ग्रन्थ इसी शास्त्रीय-योगत्रयी के सम्बन्ध में भगवान्ने—“त—स्माच्छास्त्रं प्रमाणां तं बह कथा है।

६०-स्मृतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी का गीता के द्वारा यत्किञ्चित्-संशोधनपूर्वक समग्र—

अब वृत्त स्मृतिशास्त्र हमारे सामने आता है। इसके सम्बन्ध में आवश्यक ही गीता ने संशोधन किया है। श्रीर इसी स्मात्-संशोधन को लक्ष्य में रखकर हमने कहा है कि— गीता शास्त्रसिद्ध योगत्रयी का संशोधन करके ही उन का संग्रह कर रही है।

६१-वेदशास्त्रमिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर स्वयम्भूम्नु अपान्तरतमा, तथा कविल के द्वारा कर्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी का स्वरूपोद्भव, एवं तत्संशोधन के लिए ही प्रवण गीताशास्त्र—

वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर उठी देवयुग में तीन आचार्यों के द्वारा तीन स्वल्प शास्त्री का जन्म हुआ। क्योंकि ये तीनों ही शास्त्र अत्युत्थानुगामी थे अतएव इन्हें ‘स्मृति’ कहना अनर्थ माना गया। ब्राह्मणयोगोक्ता कर्मनिष्ठा के आधार पर स्वयम्भूम्नु के द्वारा मानवधर्महिता का जन्म हुआ जिसका कि रूपान्तर आब ‘मानवधर्मशास्त्र’ नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर इन स्मृतिशास्त्र से सिद्ध कर्मयोग का “स्वयम्भूनिष्ठा” भी कह सकते हैं। आगे आकर वेदार्थ्य प्राचीनर्षी (अपान्तरतम) नामक मारवीय मर्षी के द्वारा वेद निष्ठा सोढ में प्रचलित हुई। आरण्यकमागोक्ता भक्तिनिष्ठा के आधार पर द्विरवयवर्ष के द्वारा भक्तिवेदात्मिका भक्तिनिष्ठा का विकास हुआ। अतएव इन इन “द्विरवयवनिष्ठा” भी कह सकते हैं। अतएव ही मानवधर्मशास्त्र की मति द्विरवयव का भी योगात्मिकोपपत्ति का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ था होगा। परन्तु आज यह अनुपलब्ध है। सुप्रसिद्ध पातञ्जलयोगदर्शन इसी निष्ठाव्यव का रूपान्तर है। उपनिषद् भागोक्ता ज्ञाननिष्ठा के आधार पर कविल के द्वारा कर्म-वागलक्षणा ज्ञाननिष्ठा का जन्म हुआ। यही निष्ठा आगे आकर प्राकृतिक अस्पृहज्ञान के लक्ष्य से मोक्षयनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि प्रधानकारी कविल न अस्पृह अस्पृह ज्ञान की ही मान्य कहा है। सुप्रसिद्ध मोक्षयदर्शन भी निष्ठा का समग्र है। इनकार भुति के आधार पर इन तीन आचार्यों में तीन स्वल्प निष्ठाओं का जन्म दिया।

६०-निष्ठात्रयी की अन्तर्नोक्ता निष्ठात्रयी में ही परिणति—

ये तीनों निष्ठाएँ भी पुन ही समय में १) ही क्यो में परिणत होगी। द्विरवयव-मान्यता योगनिष्ठा ज्ञानयुगामी १) बनती हैं तन्निष्ठाव्य में ही परिणत होगी। क्योंकि इन का भी गुणात्मिक चरमाव का ही मान्य था। उपर मध्य भी गुणनिवेद का ही पक्षगणी था। इनकार स्मृतिशास्त्रनिष्ठा

तीनों निष्ठाओं में से कर्म ज्ञान वा ही निष्ठाएँ श्रेष्ठ हैं । कर्मनिष्ठा 'योगनिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुई
एवं ज्ञाननिष्ठा 'मास्वनिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुई ।

- १—कर्मनिष्ठा—स्वकर्मनिष्ठा (कर्मयोग म्यातः)—आश्विनमूलक
२—महितीनिष्ठा—हिरण्यकर्मनिष्ठा (महितयोग म्यातः)—आश्विनमूलक
३—ज्ञाननिष्ठा—वित्तनिष्ठा (ज्ञानयोग म्यातः)—उपनिषद्मूलक

- १—कर्मयोग—योगनिष्ठा १ (कर्मयोग)
२—महितयोग—योगनिष्ठा २ (ज्ञानयोग)
३—ज्ञानयोग—योगनिष्ठा ३ (ज्ञानयोग)

६३ ग्रन्थकारों की भ्रान्ति, एवं ग्रन्थकारों की भ्रान्ति रूप से भ्रान्ति क दो
विषय, एवं गीता के द्वारा संशोधित-तत्त्व की स्वरूप-विशेष—

प्रकरणारम्भ में यह कहा गया था कि समाजधर्मों के सम्बन्ध में दो प्रकार से भ्रान्ति सम्भव
है । स्वयं ग्रन्थकारों की भ्रान्ति वचनगत है । एवं अन्य वा व्याख्यात्मक भ्रान्ति न समझने वाले उद्योगियों की भ्रान्ति
के विधानों की भ्रान्ति वचनगत है । अब हमें यह विचार करना था कि उक्त तीनों म्यातनिष्ठाओं में से
अथवा गीतों म्यातनिष्ठाओं में से ग्रन्थकारों की भ्रान्ति की है । अथवा उद्योगियों में उनके विधानों की भ्रान्ति
क्या है ? और उक्त भ्रान्ति का क्या स्वरूप है ? इनके कि संशोधन की (मग एन् की) आवश्यकता हुई।

६४—परमाराध्य त्रिविध आचार्य, तथैव सर्वव्याप मान्य उन के त्रिविध-शास्त्रों
योग, एवं तदाचार्य संशोधन-विचार-विमर्श तथा गीता का तत्त्वम्बन्ध में
साक्ष्यप्राप्त विशाल-दृष्टिकोण—

अब से पहले दो बातें स्मरण करना—कर्म से हमें अपना अहम् इतना पड़ेगा । हमारे लिए तीनों ही
म्यातनिष्ठाएँ एवं म्यातनिष्ठाओं के प्रत्येक आचार्य आरम्भ हैं । हम उनकी वाणी की समझना
करने का कोई अधिकार नहीं रखते । ऐसी दशा में इतने कर्म के लिए हमें भगवद्भिन्नता का ही आश्रय
लेना पड़ेगा । वह भी आम समझ की बात है कि भगवान् ने भी त्रिविधप्रवक्तृ आचार्यों में अपनी पूर्ण
शक्ति दी, प्रवक्तृ की है । उदाहरण के लिए राजाधिराज कहिए की ही लीजिए । “विद्वान्ते कर्मिणो मुनि
वदन्ते ह्युप भगवान् मे कश्चिन्नामिदं विभूति कलाया है । नहीं नहीं, कवि के प्रवृत्तिवाद का भगवान् ने
स्वयं स्थान पर पूर्ण समर्पण किया है । तबसे यदि कर्मों विषय की आवश्यकता कलाया है तो भगवान् की
उक्त आवश्यकता ही मान लें (देखिए गीता चारण) । तबसे के अनुसार यदि कोई पुण्य मित्रों है निगुण

तो मगवान् भी न कहेति न लिप्यते कहते हुए इसका समयन ही कर रहे हैं। इन सब समताओं को देखते हुए सो मही मानना पड़ता है कि, मगवान् सांख्यनिष्ठा के पूर्ण समयक हैं। फिर भी एक स्थान ऐसा रह जाता है जिसके लिए संशोधन आवश्यक हो जाता है और वह स्थान है अक्षययपुरुष ।

६५-सांख्यज्ञान-प्रधान-गीताशास्त्र-सद्यथा मान्यता को सर्वथा अपातर-मशीयता—

फिरने ही महानुभाव गीता को सांख्यशास्त्र की प्रतिष्ठाया ही सिद्ध करते हुए यह कहा करते हैं कि मगवान् ने गीता में प्रधानत्व से सांख्यज्ञान का ही निरूपण किया है। कर्मसागलक्षण संन्य ही "त का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। एवं नक्ष्य बही सुप्रसिद्ध 'कपिलनिष्ठा' है। यदि मगवान् सांख्यनिष्ठा के विरोधी होते तो तत्प्रवक्तृ कपिल को 'मिथ्यानां कपिलो मुनि' यह उल्थासन कदापि प्रमाण नहीं करते।

६६-विविध विभूति-स्मरणात्मक कपिलादि का यश स्थापनमात्र, एवं तदनुबन्धनैव गीता में कपिल-सांख्य का समादर—

केवल उक्त युक्ति से कभी गीता को सांख्यनिष्ठा-परक नहीं माना जा सकता। विमृष्टिगणना में तो मगवान् ने बहुत कर्म को भी अपनी विभूति कलाया है। क्या इससे यह माना जायगा कि गीता वास्तविक कर्म का भी समर्थन करती है? 'पाण्डवानां धनञ्जयः बाला अत्रु न कर्षो मेक्ष्यन्व कना ?' यदि मगवान् की विभूति अत्रु न भ्रान्ति कर सकता है तो मगवाहिभूतिव्य कपिल से भी भ्रान्ति सम्भव है। कतव्यमिदं यही है कि, उक्त छीनी निष्ठाओं में से जो निष्ठाएँ आवश्यक हैं संशोधन की अपेक्षा रखती हैं।

६७-मानवधर्मशास्त्रात्मिका त्वयम्भू निष्ठा का गीता के द्वारा सर्वात्मना समर्थन—

त्वयम्भूनिष्ठा ही कर्मयोग है। इसका निरूपक मानवधर्मशास्त्र है। यह सर्वथा वेदसम्मत है। 'मनुष्ये चतुर्विधावदन तद्भेदपत्रं भेदत्रयाया' अर्थात् रूप से स्वयं के ने इसकी प्रमाणितता हुई की है। अतएव 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाख्यते' से वैश वेदशास्त्र एही है एवमेव मानवधर्मशास्त्र भी एही है। और यह वेदवत् नववा निम्नस्त ही है। यही कारण है कि, विनयकार वेदवाचा स्मृतिषां अग्रगता मानी गई हैं एवमेव मनुस्मृति के विनयीन जाने वाली स्मृतिषां भी अग्रगता ही मानी गई हैं।

६८-आचार्यममता भक्तिनिष्ठा, तथा सांख्यनिष्ठा का स्वल्प-दिग्दर्शन, एवं गीता के द्वारा दोनों निष्ठाओं का वद्विषय-माध्यम संशोधन—

अब शेर रहती है भक्तिनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा। इन भक्ति का रूप है तत्प्रतिष्ठान अथारोहायूपक इन्द्रियवशम नाभारिक कर्मों से अरति। एवं इस ज्ञान का स्वरूप है कर्मसाग तथा विरुद्ध ज्ञानानुपमन। कर्मसागलक्षणा सांख्यनिष्ठा एवं योगात्मिका भक्तिनिष्ठा इन दोनों का मूलभाष्य के "मोक्षडिग्मिन" अर्थात् ईशोपभाष्य में अतिर स निरूपण होन वाला है। अतः यही इन सम्बन्ध में विशद विचार की आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिनिष्ठा किंवा दिग्यगमनिष्ठा ज्ञानजन (अन्तरजान) की अनुगामिनी बनी। अतएव दोनों मिलकर एक ज्ञाननिष्ठा ही रह गई। एवं इनका संशोधन में ही उनका भी संशोधन गन्ताय बन गया।

६८-हिरण्यगर्भनिष्ठातुल्यता महती भवति, एवं गीता के द्वारा तत्समीचन-
प्रपञ्च—

हिरण्यगर्भ ने भवति यह भी कि, वेत्तमय ईश्वरानन्तता की उपेक्षा कर उसने आत्मतत्त्व—सध्व
अस्मत्तेज को ही प्रधानता दे बाली। ईश्वर का स्थान (अध्वम का स्थान) बागध्याधि ने छीन लिया।
बागध्याधि के आकर्षण से यह मस्ति बोगत्र—सिद्धिर्षी की अनुग्रहिनी बनती हुई ईश्वरमात्र से वञ्चित हो
गई। आत्मनिर्भरता का स्थान साक्षात्सिद्धिर्षी ने छीन लिया। फलतः "तथा संशोचन आवश्यक हो गया।

७०-कपिलनिष्ठातुल्यता महती भवति एवं भगवान् के द्वारा तत्समीचन—

कपिल ने यह भवति की कि उपनिषद्-सम्मत बुद्धियोग का कार्य उन्होंने निरूपितमात्र समक किया।
उनका लक्ष्य बना प्रसिद्धाचार में भिक्षु देहाभिमान की नाश। और उसका फल ने साक्षात्त समक
कम्पनमात्र में। साक्षात्त निष्ठासिद्धि एवं उपनिषद्बुद्धियोग दोनों को एक समक किया गया। एवं
हम समक के कारण को "त्यागने के अनुभवमाननु" — "नस्तत्त्वज्ञानः कृतेन — 'आत्मतत्त्वबापासीन'
'नामूनतत्त्वत्वासाति विचि न' इत्यादि औपनिषद्-वचन। इत्यकार बुद्धियोग का आत्म उपनिषद्
ज्ञानयोग ने छीन लिया। फलतः इसका भी संशोचन आवश्यक हो गया।

७१-प्रत्यक्षता क सम्बन्ध से ही निष्ठाद्वयी में भवति—

तत्त्वज्ञान यह निष्ठा कि सीनी स्थापित—निष्ठाद्वयी में से साक्षात्त—मागतमस्त कर्मबोधनिष्ठा सम्बन्ध
के सम्बन्ध से निष्पन्न रही एवं उपनिषद्भाग-सम्मत ज्ञानयोगनिष्ठा एवं आरण्यकभाग-सम्मत मस्तिनिष्ठा
प्रत्यक्षता के ही सम्बन्ध से प्राप्त बन गई। गीता ने इसी दोनों का पियोग्य से संशोचन किया।

७२-साक्षात्त-आरण्यक उपनिषद्-सिद्धा निष्ठाद्वयी का स्वरूप-संस्मरण—

औन-स्थापित निष्ठाद्वयी की निष्ठा-भ्रान्त-निष्ठाद्वयी की तुलना के लिए यह भी ध्यान देना
आवश्यक है कि, सीनी निष्ठाद्वयी का क्या स्वरूप था? संसार के सम्मुख के लिए परमार्थ-ज्ञानता से
काम्य कर्मों में प्रवृत्त होना ही साक्षात्तमागध्याधि कर्मनिष्ठा थी। आत्मानुभव के लिए (साक्षात्त पर इष्टि
गन्ते हुए) निष्ठासिद्धि में प्रवृत्त रहना ही उपनिषद्मागध्याधि ज्ञाननिष्ठा थी। आत्मनिर्भरता के लिए
(साक्षात्त पर इष्टि गन्ते हुए) ईश्वरानन्तमात्र-लक्षणः निगुण-ब्रह्मोपलब्धता ही आरण्यकमागध्याधि
मस्तिनिष्ठा थी।

७३ सुधारना सुगुप्ता स्वयम्-निष्ठा एवं हिरण्यगर्भनिष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा के
सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा पर्याप्त-संशोचन—

हम सीनी साग-निष्ठाद्वयी में से स्वयम् न तो कर्मनिष्ठा का स्वरूप उगी वा खी सुरक्षित रहना। परन्तु
निराकार में मस्तिनिष्ठा का एक कपिल ने ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप विवृत कर दिया। प्रिय कि पूरा में बड़ा
गया है निरूपण एव कपिल के सम्बन्ध में साक्षात्त कर्मज्ञान का साधन कर्मज्ञान की नहीं है। हम तो उके

निर्भन्त ही कहेंगे। श्रीर स्वयं भगवान् ने भी यह अधिकार केवल अपने ही हाथ में रक्खा है—‘श्रीकृष्णः’
“आकाशमिव द्विविधा निष्ठा” इत्यादि से सिद्ध है। महापुरुषों के उपात मिद्वान्त की ममाशोचना का
अधिकार भी महापुरुष ही रखते हैं। हमारे लिए तो गुह्य और गोपित, दोनों ममानघरातल पर ही
प्रतिष्ठित हैं।

७४-सर्वविदित-‘लोक-वेदे च सूत्र, लोकाध्याय-लोकाधिष्ठा कृपा वेदनिष्ठा एवं
दोनो की ह्योपादेयता का दिग्दर्शन—

‘लोक-वेदे च यह वाक्य सर्वविदित है। शास्त्रमन्त्र मार्ग को ‘वैदिकमार्ग’ कहा जाता है एवं
साधनमन्त्र मार्ग को ‘लौकिकमार्ग’ कहा जाता है। यदि शास्त्रनिष्ठा ब्रह्मनुगता है तो वह ‘वेदनिष्ठा’ है
एवं मानवमात्र में उत्कृष्ट विस्मय तात्पर्य लगाते हुए यदि लौकिक बना जाता है तो वह ‘लौकिकनिष्ठा’ है।
दोनों में वेदनिष्ठा प्रथम है एवं लौकिकनिष्ठा त्याग्य है। लौकिकनिष्ठा भी वही प्रथम है किन्तु वेदनिष्ठा असाक्षिक
पुरुषों के द्वारा संशोधन होना।

७५-हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् क
द्वारा मान्यता प्रदान—

कम से कम हमें तो किना किमी नचनुच के नभमन्त्र होकर यह मान ही लेना चाहिए कि वेदनिष्ठा
मन्त्र निष्ठा भी सर्वथा निर्भन्त ही है। कर्मनिष्ठा की निर्भन्तता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है।
अब यह बाती है—हिरण्यगर्भनिष्ठा एवं क्षयनिष्ठा। यह ठीक है कि हिरण्यगर्भ का प्रधान सत्त्व चिह्न
ही रहा ईश्वरानन्दता नहीं। परन्तु अन्तर्गत चिह्नशुद्धि नहीं होसकती तबतक ईश्वरानन्दता प्राप्त भी तो नहीं
होसकती। फिर भगवान् ने भी तो काकश्लोकात्मक इस ध्यानात्मक मन्त्रमार्ग का (योगमार्ग का) समर्थन ही
किया है जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं ब्रह्मसि स्थितः ।

एकक्षरी यत्प्रतिष्ठात्मा निराशीरपरिग्रह ॥ १ ॥

तत्रैकाग्र मनः कृत्वा यत्प्रतिष्ठेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासनं युञ्ज्यायोगमात्मविशुद्धये ॥ २ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्यवावृत्तिष्ठते ।

नि स्पृह सर्वकामस्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥

यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं परयन्नात्मनि मुप्यति ॥ ४ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्सुखान्तराश्रयो ।

प्राश्नापानी सर्वा कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणी ॥ ५ ॥

यत्प्रतिष्ठमनो-युद्धिम्बु निर्मोक्षपरायण ।

विगतैश्चक्षुर्मयङ्कोषो यः सदा युक्त एव सः ॥ ६ ॥

यथा दीपा निवातस्थो नक्तं सोपमा स्मृता ।

योगिना यतचित्तस्य युञ्जता योगमात्मनः ॥ ७ ॥

तस्मान्नमिन्द्रियास्मादौ नियम्य भरत्सर्वम् ।।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ८ ॥

युञ्जन् यः सदात्मानं योगो नियतमानसः ॥

शान्तिं निर्वाणपरमां मनुसम्भानमधिगच्छति ॥ ९ ॥

७६ अच्युतमावापन्ना दिव्ययगमनिष्ठात्मिका भक्तिनिष्ठा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय वचन—दिग्दर्शन—

दिव्ययगम-अमृत कायलेखान्तक इन्द्रियसंयम-संयुक्त योगात्मक भक्तिमार्ग का प्रायः वही स्वरूप है जो कि उक्त गीताविवृति से स्पष्ट हुआ है । उन्होंने महिषनिष्ठाप्राप्ति के लिए चित्तविरागक इतनी योग का समर्थन किया है जिसके निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

इन्त ते ममप्रवक्ष्यामि यदेतदनुपुञ्जसि ।

योगकर्म्यं महाराम ! पृथगेव शृणुष्व मे ॥ १ ॥

विमुक्तः सर्वसंशयो लब्धद्वारो भित्तेन्द्रिय ।

मनो बुद्ध्या स्थिर कृत्वा पाषाणं न निश्चलः ॥ २ ॥

स्याद्युक्ताप्यर्कस्य स्याद्विगिरिवर्षापि निश्चल ।

बुद्ध्या विधिविधानकृत्स्न्या युक्तं प्रवक्षते ॥ ३ ॥

निवसि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।

निर्लिङ्गो विषलशोर्ध्वं न तिर्य्यगतिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥

एवं परयन् प्रपरयन्ति आत्मानममरं परम् ।

योगदर्शनमतामुक्तं ते तस्मतो मया ॥ ५ ॥

७७-योगारिमिका स्मार्त्ता-उपासना को वेदशास्त्र क द्वारा मान्यता-प्रदान-

यहमा न होना कि उक्त लक्षणा दिव्ययगमनिष्ठा का गीता में उपासना स्मार्त ही हुआ है । श्रीर हीना भी चाहिये जब कि यह योगोपासना आश्रमविशुद्धि का कारण बनती है ईश्वरजन्यस्वभाव की प्राप्ति का

कारण बन जाती है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि, यह योगात्मिका स्मार्थी उपासना केनागुगता बनती हुई अन्तर ही निर्मलता है।

७८ कपिलानुगता-स्मार्थी-सारूप्यनिष्ठा का सर्वात्मना समर्पण, एवं तत्र शास्त्रसम्पत्ति—

यही दशा सांख्यनिष्ठा की समग्रिण्य। सांख्य ने कर्मत्वाग का आदेश अन्तर हीमा है परन्तु उनका लक्ष्य क्या था यह देखना चाहिए। मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता कपिल मलीमति जानते हैं। गुणान्वित-कर्मप्रपञ्ची का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इनसे उत्पन्न होने वाले संस्काररूप से बचा रहे यह कठिन है। इसके लिए कपिल न सांसारिक कर्मों का परित्याग ही आवश्यक समझा। सांख्यशास्त्र ने यह आवश्यक समझा कि बीबाक्ता कर्मन से मुक्त होने के लिए तत्त्वविषेक का आशय होता हुआ प्रकृति-गुण का विवेक करे। और यह विश्वास करे कि वह कर्मबन्धन योगमायावली त्रिगुण अन्धकार-प्रकृति का ही विस्तार है। गुण सर्वथा निर्लेप है। इस विरक्तलक्षिक-भावना से मनुष्य की अन्तः प्रकृति बाह्यी पलतः संन्यासनिष्ठा का उदय होजायगा। निम्नलिखित श्लोक इसी सांख्यनिष्ठान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

अव्यक्त चेन्नमित्युक्तं तथा सर्वं तथेवम् ॥

अनीश्वरमव्यक्तं च तत्र तत् प्रकृतिशक्तम् ॥ १ ॥

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसरूपानुदर्शनम् ॥

सांख्या प्रकृते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ २ ॥

प्रकृतिं प्रकृत्यात्मा पुण्यमान इति स्मृतम् ॥

यदा तु बुध्यतेऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तत्र तत्त्वतः ॥

एवमतद्विज्ञानन्तः साम्यतां प्रविशन्त्युत ॥ ४ ॥

७९—मीमांसकगीता के द्वारा कपिल की सांख्यनिष्ठा को मान्यता-प्रदान—

मगवान् ने भी उक्त सिद्धान्त का समान्तर से समर्पण ही किया है। अहंभाव को मगवान् भी गुण ही समझते हैं। यदि यह भी कहा जाय कि गीता ने अहंभाव के निराश के लिए ही अवतार लिया है सब भी पूर्ण प्रत्युत्पन्न न होगी। अत्र न कहा था मैं बन रहा हूँ मगवान् कहते थे—तो निमित्त है। प्रकृति ही सबकुछ कर रही है। बिना दिन वृत्तविषेक कर लेगा उस दिन तेरी अहन्ता हूँ बाह्यी। देखिए निम्नलिखित गीतावचन इसी सांख्य-सिद्धान्त का समर्पण कर रहे हैं—

प्रकृते क्रियमायायानि गुणौ कर्माणि सर्वशः ॥

अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ १ ॥

तत्त्वविषु महाबाहो ! गुणकर्मविमागयो ॥

गुणा गुणेषु बभान्ते, इति मत्वा न सञ्जते ॥ २ ॥

८०-वेदमम्मता गीतासम्मता अतएव सर्वथा निर्भ्रान्ता हिरण्यगर्भं कपिल निष्ठाभो
की लोकप्रवर्धामिका मान्यताय समन्वय-प्रयास-

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विरूपण की वांछनीयता प्रकटनिष्ठा, एवं व्यक्ति की संवेदनशीलता, दोनों ही सम्मुख, अतएव निर्धारित हैं। अथवा ही "नमः मी आत्मनि" श्लोक सम्भव है। इसीलिए शीघ्र ने यह ध्यान प्रदान किया है। एनी कथा में एकरूपता यह स्थान बैठना कि, मीमा न "नमः" शब्दों में लक्ष्य है। लक्ष्य अनुचित है। इ। मगध न भीमा न मरुचन अथवा ही किया है। पण्डित कह मरुचन मी मूल विद्वान्तर पर कार्य प्रदान नहीं कर रहा। मरुचन क्या किया? मरुचन की आत्मावस्था कभी समझी नहीं, मरुचन है।

८१ विरययगर्मममृत योगमाग की उपादयता का समर्थन, तन्निषेधना वदित्ता, एवं तदुत्थान में तन्निषेधनात्मक-एकव्ययद्विधाग का मस्यापन—

द्विचकार्म का योगार्थ भी व्यवहार ही आत्मनिर्भरता का लक्षण है। परन्तु योगप्रक्रियाएँ व्यापकता से आविष्ट रहित हैं। न "नमो सर्वपापराय ग्रहण होना" न ग्रहण होने वाली में से तभी को सर्वत्र ही मिल सकती। कष्ट विरक्त विरोधित्व ही इनका अविच्छेदी बन सकता है। लोकसंग्रह का भी इन्हीं अर्थान्वयक अर्थ है। योगात्मक योगी यन्त्रिजिन् भी अन्तर्बचानी से मिल सकता है। "उपकार का कोशालय वह योग अनेक जगती का अम्बाल से ही कवच-विमोह का धारक बनता है। जो देख ही करना चाहते हैं व उन्हें कष्ट हाथ नहीं है। परन्तु "न मार्ग में उन्नाधारण का निर्धन सम्भव नहीं है।" "योगी अनेक को अपने करते हुए मगान ने "उ योगमात्र की अनुपातेन मित्र करने हुए "लोक स्थान में देख्यन्तु शिष्योपमात्र मन्त्रिमात्र श्वास्ति किया था कि योगप्रिया मन्त्रि का ही स्वास्ति रूप है।

८७-इति-सम्मत 'मांस्यमाग' की उपादयता का अभिनन्दन, तन्निषेधना मरि
तता, एवं तत्स्थान य संशोधनात्मक- 'ज्ञानवद्वियाग' का संस्थापन—

वही श्रुता कर्मत्यागप्रवृत्ति का प्रत्यक्षनिष्पत्ति की है। “संस्मात्सन्तु महात्माहो दुःस्मान्मनुष्यमगलं”
‘अस्यत्मा हि गतिदुःखं कृत्वा क्लेशाव्ययं’—त्यागि रूप में मरणान्त में वह कल्याण कि, संतोषी
मनुष्य कर्म होइ है— वह कहा कठिन है। यदि कर्म हुआ शिष्ट कार्य संकल्प बना रहा, तो उत्तम
मर्त्याग है—“सुरस्य वा। निगिता दुरत्ययं युग पथमम् कथया बहुम्”। माना कि कठिन में
आध्यात्मिक कर्मों की आवश्यकता स्वीकार की है और यदि कोई इन निष्ठा में मगल होवे तो हानि
नहीं है। परन्तु ऐसे स्थान मर्त्याग प्राप्ति की है। यही कर्महेतु की विधीरिक्ता उत्तम उत्तर अस्मदपुरण
है। प्रकृति में पा रहे काले उसे मूल बना लेने में यह मर भी जाना रहता है। नती बारह की आगे
कर्म हुए मरणान्त में कर्मत्यागप्रवृत्ति हानिहीन की भी अनुमान—यथा विश्व कर्म—नती स्थान में ‘ज्ञानबुद्धिभाग’
लक्षण ज्ञानिमात्रा स्थापित किया जोकि ज्ञानयोग का ही नशापित रूप है। निष्ठाओं के मूल स्वरूप
में वही मरणान्त पर्याप्त था। वह संतोषजनक बना ही है किन्तु के कर्मबुद्धि में निरोधकि कि निरोध करना।

वचनैः तयाकथितं ब्रह्मज्ञ योग एवं अव्यक्तं ज्ञानं (संस्पृष्टं) निष्ठाओं के अनुगमन की समी में धर्मता नहीं रहती। यही आचारकर्म इन दोनों लोकनिष्ठाओं के संयोजन का प्रमुख कारण बना। एव ही तत्त्व-समग्रत्व के आधार पर हमें यह भी मान लेना पड़ा कि भौती (वैश्वामित्रता) निष्ठाओं की मूर्ति मयारी निष्ठाओं की सबसे निम्नलिखित अतएव 'वैश्वामित्रकल्पेण अनुगमनीया' भी है।

८३-लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर भगवान् के द्वारा प्रहार—

मन्वेन तुभ्यम् । परन्तु हम देखते हैं कि, भगवान् ने लोकनिष्ठा पर भी पर्याप्त प्रहार किया है। एव कर्ममार्ग की भी निन्दा की है। इसी आधार पर हमें यह निश्चय करना पड़ता है कि यह निन्दा मूलनिष्ठाओं की निन्दा नहीं है। अपितु निष्ठानुयायी मनुष्यों की लोकनिष्ठाओं की ही निन्दा है। उन्होंने अपने बुद्धिदोष से मूलनिष्ठाओं का स्वरूप बिगाड़ कर उन्हें भ्रान्त बना दिया है। मनुष्यों ने क्या भ्रान्ति कर डाली? वेद निष्ठाओं को कैसे लोकनिष्ठा बना डाली? इसका उत्तर भी गीता से ही गतार्थ है।

८४-वेद के ब्राह्मणमाग से अनुप्रासिता कर्मनिष्ठा की गुणात्मकता पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के ब्राह्मणमाग से विद्युत् एवं स्वयम्भू मनु के द्वारा उपरहिता यज्ञ-उपी-दान-व्रतका कर्मनिष्ठा का स्वरूप कुछ समय पर्यन्त तो अक्षय्य बना रहा। इन का एकमात्र लक्ष्य लोकात्म्य ही बना रहा। परन्तु आगे जाकर लोकात्म्यार्थ से स्वार्थ की ही वस्तु बना डाला। विविध वैयर्थकृत योगशक्तियों के लिए यज्ञकर्मों का अनुष्ठान होने लगा। इसी दृष्टिकोण से पड़कर निष्ठानुयायी भ्रान्त वर्गने अमिनिवेशपूर्वक वह पोस्या करती कि केवल यह कर्ममाग ही हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त है। हमें अत्युत्थ के लिए किसी अन्य मार्ग की कोई अपेक्षा नहीं है। आध्यात्मिक वह ज्ञानयोग निरर्थक है। जिससे कि योगैश्वर्य से हमें बहिष्ठ होना पड़ता है। इसप्रकार इन लोकनिष्ठों की कृपा से वेदप्रका कर्मनिष्ठा आत्म-निष्ठकर्म से दूरी हो गई। इसी दृष्टि निष्ठा को लक्ष्य में रखकर 'कर्मयोगेन योगिनाम्' यह कहा गया है। भगवान् ने इसी कर्मनिष्ठता की निम्नलिखित शब्दों में प्रचण्ड मर्तन्दा निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपरिचिता ॥

वेदवाद्गता पाथ ! नान्यदस्तीति वादिन ॥१॥

कामात्मानं स्वर्गपरां अन्य-कर्मफलप्रदाम् ॥

क्रियानिशेषबहुलां माँगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२॥

योगैश्वर्यप्रमदानां तयापहृतचेतनाम् ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिं समाधा न विधीयते ॥३॥

यावानर्थं उपापनं मर्षत सप्लुतोदके ॥

तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानत ॥४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो महातुर्न ॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसच्चस्यो नियोगश्चैव आत्मवान् ॥५॥

८५—गुणात्मक कर्मयोग की निर्गुणता—सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् सशोधन—

संशोधन भगवान् ने नहीं किया कि, वेदोक्त कर्ममार्ग उत्तम है, अथवा ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए, परन्तु स्वायत्त बुद्धि ब्रह्मज्ञान । कल्याणमायुक्ति का परिस्वाग कर । बुद्धियोग से मुक्त नहीं वेदोक्त कर्ममार्ग इष्टमनुक भी बन बाधगा और कल्याण भी न होगा । वही सरोचितस्व 'चर्मबुद्धियोग' कहलाता । निम्नलिखित वचन इसीके समर्थक हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः—योग त्विमा भणु ॥

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यमि ॥१॥

कर्मण्यपवाधिकारस्ते मा कलुषं कदाचन ॥

मा कर्मफलहेतुर्भूमतिं सज्जोऽस्त्यकर्मणि ॥२॥

योगस्यः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा जनञ्जय ! ।

सिद्धयमिदृषो समो भूत्वा समर्थं योग उच्यते ॥३॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥

जन्म बन्ध-विनिमुक्ताः पदं गच्छन् यनामयम् ॥४॥

८६—भारतीयक—आत्मज्ञानता उपासना के व्याख्याताओं के दार्शनिक मक्तियोग पर गीता का प्रखण्ड प्रहार—

वेद के आरम्भकाल से उल्लिखित एवं विवरणमय के द्वारा उपबृंहित विविधविशेषनसम्बन्धी मक्तिनिष्ठा का रूप भी कुछ समय पर्यन्त ही अस्तुत्य बना रहा । आत्मविशेषन-वचक ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य बना था । परन्तु आगे जाकर सधनुबायी बनने से ही स्वार्थमाधना से रंग जाता । विविध प्रकार की अविद्या मदिमादि मित्रिणी के लिए, इन निक्षिपी से स्वायत्तबुद्धि करने के लिए ही इस मार्ग का उपयोग होने लगा । नास्तिक योगमार्ग ने तामस आत्मप्राप्त का आशय ग्रहण कर लिया । छिद्रिणी के प्रलोभन म पड़कर इन स्वार्थी योगियों ने दार्शनिकता और लोभमार्ग का ही आविष्कार कर वाला । ईश्वरार्चन का स्थान भूतिम लोभनम हीन गया । दृष्ट्यकार कर्मयोगक यह योगात्मक मक्तियोग भी आगे जाकर भूतमयक का ही अनुयायी बन गया । इसी दुर्गत निष्ठा की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहित धोर सप्यन्ते य तपोधना ॥
 दम्भाईधरसंयुक्ताः कामरागबलान्विता ॥ १ ॥
 कर्मपन्त शरीरस्थं भूतप्राममयेतसः ।
 मां चैवान्श'शरीरस्थं तान् विद्वद्यासुरनिश्चयान् ॥ २ ॥

८७-काममयी मक्ति का लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा संशोधन—

स्रोतभन भगवान् ने यह किना कि सिद्धि के द्वारा बिल ऐश्वर्य के लिए द्रुम योगात्मिक मक्ति को अयकलेशात्मिक बना रहे हो यह ऐश्वर्य को आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। विचित्रिणीवनान्तर यह तो स्वतः ही सविद्ध है। उस शारकत संविद्धि भी उषेचा कर इन क्षणिक सिद्धियों में ही रह जाना तो पुरुषार्थ नहीं है। द्रुमों छदा आत्मविशीरक बोग के द्वारा ईश्वरानन्तता-कलषा ऐश्वर्यविमृष्टि-सम्पत्ता बुद्धिमोगसम्पत्ता मक्ति का ही अनुगमन करना चाहिए। इससे द्रुमों ऐश्वर्य भी मिला जायगा और कचन भी न होगा। यही संशोधित रूप ऐश्वर्यबुद्धियोग कहलाया। निम्न लिखित वचन इसी संशोधन का समर्थन कर रहे हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
 ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १ ॥
 मदचमपि कर्माणि कुर्वन् निद्रिमवाप्स्यसि ॥ २ ॥
 ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्त्यस्य मत्परा ।
 अनन्यनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ३ ॥
 तेषामहं सद्बुद्धतां मुत्ससत्सारसागरात् ।
 मयामि नक्षिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ४ ॥
 मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेश्य ।
 निवसिष्यमि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ५ ॥

८८-आरण्यकोपनिषद्-भागानुगता सांख्यनिष्ठा के व्याख्याताओं के कल्पनिक-सांख्य निष्ठा पर गीता का प्रचण्ड-प्रहार—

आरण्यकोपनिषद्भाग काष्ठक के अन्तिम भाग से निष्ठा (किन्तु कल्पितमनुसार उपनिषद्भाग में निष्ठा) कल्प के द्वारा उपरुद्धा, शारीरक योगकाय-लक्षणा जीवोत्कर्षमुक्तिपुता ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्यन्त ही उपादेय बना रहा। परन्तु आगे जाकर यह निष्ठा भी लोकमनस की महाविगतिनी बन गई क्योंकि इसमें अत्यन्त लोभारिक कर्मों का आत्यधिक परिचाय था। यही नहीं, इन निष्ठा के व्याख में लोगों ने असौ जाकर मंगर को धोके में डालना आरम्भ कर दिया। दीर्घी कल्पानिर्वाहें अपने आपका तो पोष्य दिया ही, किन्तु साथ ही अपने अकर्मवचन से लंगर को भी कर्मशून्य बनाना आरम्भ कर दिया।

नैवसम्मान को दूज में रखने वाला यह कर्मसन्नास आगे जाकर संन्यसनास से मज्जित होगा हुआ प्राप्ति-
मार्ग से भी निवृत्त बना दिया गया। एक-द्विपक्षर कर्म का भी परिणाम होने लगा। इतमक्षर स्वाधियेन
सन्नाग्ननिष्ठा को सर्वथा ही दूषित बना डाला। इसी कर्मात्मा-सन्नाग्न-निष्ठा-सन्नातनिष्ठा के लिए समस्त
न— 'ज्ञानयोगान् योगिनाम्' यह कहा है। इसी के लिए अश्वि प्रकट करते हुए मगवान् कहते हैं—

न कर्मस्वामिनारम्भार्थं कर्म्यं पुरुषोऽनुते ।
न च संन्यसनादत्र सिद्धिं समधिगच्छति ॥ १ ॥
न हि करिषत् वसमपि वस्तु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्येणैव शक्यं कर्म सर्वः प्रकृतिर्जगुर्गो ॥ २ ॥
कर्मैर्निर्वाणैः संन्यस्य य आस्त धनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमृष्टात्मा मिष्याचार ॥ उच्यते ॥

८६—कर्मत्यागारिभिरासां सन्निष्ठा य मगवान् क द्वारा संशोधन —

संशोधन मगवान् ने वही किया कि जिस क्षेपणर से कुछ कर्म छोड़ना चाहते हो वह अब निष्कर्म-
कर्म के अभावसे से भी बुर होनकर है। ऐसा करने से तुम्हारा तो अमुक निरवत है ही तब ही
तुम्हारे लक्ष्य में लक्ष्यमय की भी रक्षा होजायेगी। बुद्धिबलपुत्र कर्मकृत तुम्हारे वह जानना सभी इन्द्रियों
में सामग्र ही सिद्ध होगा। वही संशोधन मगवान् 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया। इसी का समर्पण करते हुए
मगवान् कहते हैं—

कस्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
मयकर्मफलत्यागं प्राप्स्यस्यार्गं विचक्षणाः ॥ १ ॥
न हि देहमृता शक्यं त्यक्तुं कर्माभ्युपशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ २ ॥
अनाभित कर्मफलं काप्य कर्म करोति यः ।
॥ संन्यासी च योगी च न निरग्निबाह्वि ॥ ३ ॥

६० संशोधन का मूलाधारश्च वैराग्यबुद्धियोग —

तीनों क्षेपणियों का संशोधन तीनों की बुद्धियोग का स्वयं प्रदान करने वाला वह संशोधन
उपनिषद्-मात्रमय वही थीका "वैराग्यबुद्धियोग" है जिसका कि उक्त हवा पद्यमात्र भागवान् भीष्म के
हवा ही हुआ है। एवं जिसके लक्ष्य में ही 'गीताशास्त्र-बुद्धिबागशास्त्र' कहलाया है जिसके पद्य मागले
पद्यमात्र में देखेंगे।

६१-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना का संस्मरण—

यगतान् ने किन निष्ठाओं का संशोधन किया ? शास्त्रविद्वन् निष्ठाएँ सब निर्बान्त थीं तो उनका संशोधन करने की क्या आवश्यकता हुई ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही यह अष्टांश प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया । इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य था— 'देवयुगानुगता उपासना का स्वरूप प्रदर्शन । यह लक्ष्य भी उक्त प्रकरण के साथ ही गतार्थ है ।

६२-युगमेदनिबन्धना-उपासना का स्वरूप-समन्वय, एव चतुर्थ प्रकरणान्तर्गत प्रथम अध्यान्तर प्राप्ति की उपरति—

यद्यपि देवयुग और केतुयुग का पार्यपत्य नहीं है । कारण-केतुयुग के प्रवृत्त काल ने वेद के आचार पर ही देवयुगस्था व्यवस्थित की थी । फिर भी उपासना के सम्बन्ध से हमें उक्त एक ही युग के दो भेद मान लेने पड़ेंगे । कारणमें कुछ समय पर्यन्त समानप्रत्यवधारणा निर्गुणोपासना का ही आतिशय हुआ था । मानस-ज्ञान ही उस युग की मौलिक उपासना थी । किन्तु कुछ ही समय पीछे निर्गुणोपासना का स्थान श्रुति-पाठना में बिना प्रस्तापत्युपासना ने ग्रहण कर लिया । वैराग्य आगे के प्रकरण में विस्तार से बताया जानवाला है । सर्वे सन्निहं ब्रह्म' ही तत्त्व गानुगता उपासना का मूल धरास्तल था । वृत्त शब्दों में-यह भी कहने में कोई आपत्ति न होगी कि, उस युगान्तरकाल में 'ईश' नामक व्यापक निर्गुणब्रह्म की शान्तिमय उपासना ही प्रचलित थी । आगे जाकर "मी 'ईश' न 'ईश्वर' का आसन ग्रहण कर लिया । निर्गुण ही उपासना की विधि के लिए सगुण बन गया । और यह सगुणोपासना ही आत्यन्तकोपासना (बह्युगानुगता-उपासना) कहलाई ।

इति-"युगवर्मागुता-विधिउपासना" नामक चतुर्थप्रकरणे
 "देवयुगानुगता-निर्गुणोपासना"

नामक

प्रथम-अध्यान्तर-प्रकरण-उपरत

१

(२) ऋष्यानुगता-मनुष्योपासना सं अनुप्राप्तिष्ठ पारिवर्षिक-परिलेख—

श्रक्षरोपासना“ (पोदशी-प्रजापति -ईश्वर)

ज्ञानानुगत कर्म-एव-उपासना-प्राणात्मिका (ब्रह्म)

सगुणोपासना-ईश्वरापासना-कर्ममात्मिका

प्राणमयी-उपासना-क्रियात्मिका

माऽयं मनुष्याऽक्षर

{ पञ्चब्रह्मोऽप्ययोऽक्षरमूर्तिः—‘मन’-प्राण एव
 पञ्चब्रह्मोऽप्ययोऽक्षरमूर्तिः — प्राण — प्राण एव
 पञ्चब्रह्मोऽप्ययोऽक्षरमूर्तिः—‘वाक्’-प्राण एव
 महाधारो निराधारस्तुरीय — तत्—सर्वमव

{ नदिमक्षरविषयम्
 प्राणविषयमिव

म एव-कर्मसा-उपासितव्य

वेदव्य-मपम

“उपासनं नाम-ज्ञान-कर्मयोः समीप-प्राणरूपण-धारस्थानम्”

मया-क्रियात्मिका उपासन-मन्त्रिगम्यमिषारिणी

क्रियाया

२

(सो य वेदयुग द्वितीय-सत्ययुगात्मक)

ब्रह्म
 अक्षर
 क्रिया
 प्राण

{ नन्तत्मा-प्राण एव अक्षर एव मनुष्य
 गुणाभेदान-विदि प्रकृति-सम्भवन”
 (प्रकृतिहि-अक्षर)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग (चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण)

१

६३-अबछेदात्मक पाण्डित्य उदनुप्राप्ति निमित्त निर्धार्य, एव भारतीय

उपासनाकाण्ड—

‘अभ्यस्येदो हि पाण्डित्यम्’ इस लक्ष्य के अनुसार प्रत्येक विषय की विज्ञानदृष्टि से विभक्त कर उसे सुव्यवस्थित कर देना ही पाण्डित्य है। इधर कुछ शताब्दियों से हम यह देख रहे हैं कि पाण्डित्यमात्र उक्त पाण्डित्य से प्रायः वंचित ही हो रहा है। स्वबन्धुद्वारे के अभाव से आज का विद्वत्-वर्ग “इष्टमित्य भव” निर्धार करने में सर्वथा ही असमर्थ है। यही दशा हमारे इन उपासनाकारण की है। उपासना का मौलिक स्वरूप क्या है? उपासना के विविध स्वरूप क्यों बन गए? किस उपासना का कौनसा शास्त्र मूल है? उपासना का कौनसा अर्थ वृत्त है? इन सब प्रश्नों का वास्तविक समाधान तब तक असम्भव है जबतक कि मूलसन्ध्या से आरम्भ कर अन्तक की परीक्षिति का स्वबन्धुद्वारे से समन्वय न कर लिया जाय।

६४-निर्गुण-सगुणोपासना का तारतम्य-समन्वय, एवं शास्त्राधार की उपेक्षा स मन्मा
वित महान् स्थलन—

प्रस्तुत चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत पूर्व के प्रथम अवान्तर-प्रकरण में यह कृतवाया गया है कि ‘देवयुग में निर्गुणोपासना की ही प्रचलना थी। आगे जाकर इतना स्थान सगुणोपासना’ ने ग्रहण कर लिया एव वही केन्दुयुगानुगत उपासनामार्ग कहलाया। इसी के आधार पर आगे जाकर ‘पौराणिक भक्तिवाद’ का अभिर्भाव हुआ। एक पुराणमयस्यसिद्ध धर्मानुगत ने तत्त्वरूप से भक्तिमार्ग की व्यवस्था की। सर्वत्र में उक्त आगे ही प्रवर्तों के वास्तविक उपासना तब का स्थान प्रचलित भक्तिमार्ग ने अग्रगण्य कर लिया। यद्यपि यह ठीक है कि—‘रीति भजना या कीर्ति’ इन लोकप्रिय के अनुसार भक्ति का यह विकृतरूप भी आगे जाकर दुष्टिग्रही स्थित होता है। तदपि शास्त्रीय निकाय (कौटिली) पर परीक्षित करने से ज्ञान-वैराग्य-युक्तों से वञ्चिता प्रचलित माता भक्ति एक अद्वैत भक्ति ही का ठहरती है। अज्ञानपान अनुपासन के सुव्यवस्थित करने से ही अथवा उपचारक सिद्ध होता है। अभ्यवस्थित तो मोक्षन की कमी कमी हानिप्रवर्त ही बन जाता है। ‘तमो कोटि आरब्ध’ नहीं कि अविद्यवस्थित अराष्ट्रीय भक्तिमार्ग की अभ्युदय के स्थान में पतन का ही कारण बन जाय।

६५-विविध भेदभिन्न अस्तित्व-अवस्थित भक्तिवादों का युगधर्मानुसंध स पञ्चवा
वर्गीकरण—

जब से आर्यसम्प्रदाय का मूलस्रोत प्रचलित हुआ तब से आरम्भ कर आज की बीसवीं शताब्दी-पर्यन्त भक्तिमार्ग में कितने परिवर्तन हुए हैं, शीघ्र शास्त्र कर्पासिक गायणपठन वैष्णव आदि आदि मानव-

छात्रों के मंड से मक्ति के किन्ने रूप आविर्भूत एवं शिरोभूत हुए हैं, इन सब विचारों की यदि छोड़कर मक्ति मार्ग पर दृष्टि डाली जाती है तो स्वरूप में 'म' सम्बन्ध में हमारे सामने पाँच ही मार्ग उपरिपक्ष होते हैं। एवं 'न' पाँचों मार्गों को इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नामों से व्यवहृत कर सकते हैं—

- १—देवयुगानुगत-भक्तिमार्ग
- २—वेदयुगानुगत-भक्तिमार्ग
- ३—पुराणयुगानुगत-भक्तिमार्ग
- ४—दर्शनयुगानुगत-भक्तिमार्ग
- ५—वर्तमानयुगानुगत-भक्तिमार्ग



६६—महारम्म-शास्त्र में अनुप्राणित भक्तिमार्ग में शास्त्रैक्यशरयाता की ही अनन्यता—

कविके शास्त्रनिष्ठा ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है तो उक्त पाँचों महिमाओं के लिए भी हमें शास्त्र का ही आश्रय लेना पड़ेगा। महारम्मशास्त्र में प्रतिपादित भक्तिमार्ग का व्यवच्छेद करते हुए ही पाँचों मार्गों की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ेगी। किन्ता ऐसा किए पाँचों ही मार्ग केवल कल्पना की ही कल्पना रूपी और उक्त दृष्टा में 'म' भक्तिमार्ग का वही मूल रूप था जहाँ से भक्ति भक्तमानव में उत्पन्न होने वाले धर्म-कर्म-ज्ञान-अविद्या-आदि के निर्वाण के सम्बन्ध में केवल अपनी बुद्धि की बड़ प्रमाण मानने वाले कलाकलाशस्त्री में परिवर्तन चाहने वाले शास्त्रविरोधी व्यक्ति के द्वारा निर्णय किये गए हैं।

६७ भक्ति-मार्गानुबन्धी उपास्य-उपासक, एवं उपासना-साधन-धर्म का संस्मरण—

भक्ति के सम्बन्ध में वह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि, हम मार्ग में ही तत्त्व की ही प्रमाणता है। "उपास्य-उपासक-उपासनासाधन" इन तीन पक्षों के सम्बन्ध में ही "भक्ति" का स्वरूप निश्चय होता है। शास्त्रों का 'म' मूलरूप का अर्थ अर्थ निम्नलिखित निराला निराला सर्वभूतक आत्मसम्बन्ध उक्त तीनों पक्षों से विभूत होता हुआ सदा अनुप्राणित ही है। उपासक आत्मसम्बन्ध में उपास्य-उपासक का मेर कर्त्तव्य अनुप्राणित है। कलाकला आत्मसम्बन्ध में न कोई उपास्य है न कोई उपासक है एवं न उपासना का साधन ही है।

६८—ई तत्त्वनिर्वाचन भक्तिमार्ग—

'मनासमा की उपासना मानिए, अपने ही शङ्करपरिमाणानुसार समानप्रत्ययप्रवाह रूप 'भक्तिकर्म' की उपासना कहिए, उपासना 'म' योग के लिए ही तत्त्व की ही आधार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि,

ज्ञानयोगदृष्टि को प्रगट मानने वाले मगधतपाय श्रीशङ्कराचार्य ने ज्ञानदृष्टि से वहाँ 'अहं' और 'असौ' (जीम और ईश्वर) का अन्तर्भाव माना है वहाँ भक्तिमार्ग की दृष्टि से उद्धान् मी इन दोनों का भेद ही आवश्यक समझ है क्योंकि उनकी इस शक्ति से स्पष्ट है—

यद्यपि मेरापगमे नाथ ! तत्रार्हं, न मामकीनस्त्वम् ।

साधुद्रो हि तरङ्ग, कचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

६६-भक्तिमार्ग-निबन्धन द्वैतभाव की स्वरूप-मीमांसा तत् प्राशप्रतिष्ठाकृपा अद्वैत-निष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में आर्य-वचनों का सस्मरण—

भक्तिमार्गानुक्चो इस संस्कार का मूल रहस्य वही है कि, हमारा मन एक सुखि दोनों ही परिच्छिन्न है सीमा है परिमित है । इनका योग किसी परिच्छिन्न सीमा एक परिमित तत्त्व के साथ ही सम्भव है । उपर वह मायावीत अहङ्कारक अपरिच्छिन्न असीम एवं अपरिमित है । अतएव वहाँ न हमारा सीमित मन पूर्ण चकता एवं न सीमित बुद्धि का ही वही गमन सम्भव । इस हमारे मानस ज्ञान से विज्ञानज्ञान से एवं वाच्यो से जित आ मा के ज्ञान एवं वराज्ञान का अभिमान करते हैं वर मगुण-साक्षर-सावच्छिन्न मसीम एवं परिमित आत्मा ही है । निरुण-निराक्षर-अनवच्छिन्न तत्त्व वा हमारे विज्ञानज्ञान प्रज्ञानज्ञान-ओत्र-वाक् आदि सब परिग्रही से बहिर्मुख ही है । उसी की अनुपासना एवं अनिमित्तनीयता बल्लाते हुए निम्नलिखित ओत वचन हमारे सामने आते हैं—

१ "न तत्र चतुर्गुण्यति न वाग्गुण्यति, न मनः न विद्य", न विज्ञानीम, ययैतदनु-शिष्यात् । अन्यदेव तद्विदितात्, अयो अविदितादचि । इति श्रुत्यु म पीराणा ये न तद्व्याचचक्षिर" ।

२-यद्वाचानम्युदितं येन वागम्युद्यते ।

तदेव प्रकृ त्वं विद्धि नेत्र यद्विदमुपावते ॥

३-यन्यामत-तस्य मत, मत यस्य-न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानता, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

४-अविदन्ति न यं धन विष्णुर्भद न वा विधिः ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

१ ०-निराकार-साकार-भेद भिन्ना-आपासनीय की तत्त्वमय्याणा अनुपास्य निराक्षर एवं उपास्य सगुणाप्रज्ञापति का स्मरण—

'नतं यद्विदमुपावते' इस वचन ने 'क्षेत्र (नटरस्य लक्षण से क्षेत्र किन्तु स्वयंमत सर्वथा अपि शय) एवं 'इयास्य' शब्दों का सर्वथा पार्यस्व ही गिष्ट किया है । यही वचन यह निश्चय करने के लिए भी पर्याप्त

प्रमाण है कि निराकार सत्त्वा अनुपास्य ही है। हम जिन की उपासना करते हैं, वह उस स्थान निराकार से स्पर्शा मित्र ही तत्त्व है। फलतः श्री महाभारत में तन्मूला सगुणोपासना की उपासना करते हुए निराकार की उपासना का अभिमान करते हैं परन्तु पर निराकार-निराकार का स्वीकार करते हैं। शास्त्रमिद-सगुणोपासना पर आक्षेप करते हैं व वास्तविक अवस्था ही इस के पास है।

१०१-आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक उपास्य सगुणेश्वर का सम्मरण—

कर्मव्यवस्था यही है कि उपासना व्यापक निर्गुण की नहीं होती। होती है एकमात्र सगुण ब्रह्म की ही तन्मूलक संसारप्रवर्तक विश्वेश्वर प्रजापति की। आगे आकर तो पाठक स्व मी देखेंगे कि, वस्तुतः उपासना ईश्वर (सगुणेश्वर) की ही नहीं हो सकती। ईश्वरप्रजापति के आत्मा (सगुणेश्वर)-प्राण-पशु वे तीन विध हैं। इन तीनों में आत्मा 'ईश्वर' है। प्राण 'ईश्वर' की विभूति है यही 'व्यवस्था' है। एवं पशु 'भौतिक संसार' है। पशुव्यवस्था भौतिक संसार आर्वा-मान है, कर्मप्रधान है। आत्मव्यवस्था ईश्वर ज्ञानप्रधान है। एवं प्राणव्यवस्था व्यवस्था उच्चतर है।

१०२-अध्यात्म-अधिदेवत-अधिभूत-निबन्धन उपासक-उपास्य-उपासना-साधन-मात्रपरी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय —

यह कल्याण वाक्य है कि ज्ञानयोग ज्ञानप्रधान है, कर्मयोग कर्मप्रधान है एवं सम्मत्त भक्तिव्यवस्था में ज्ञान कर्म दोनों का समन्वय है। फलतः निम्न होना है कि ज्ञानयोग की आत्म-स्वतन्त्रता आत्मेश्वर है कर्मयोग की प्रवृत्ति भौतिक विरह है। एवं भक्तिप्रवृत्ति का अन्तर्गत आचार प्राणव्यवस्था है। ज्ञान ईश्वर का ही ज्ञान है कर्म संसार से ही सम्बन्ध रखता है, एवं उपासना किन्ना भक्ति सम्बन्ध व्यवस्था की ही होती है। सभी विधों का आगे के प्रकरणों में विस्तृत चर्चा करके दाने जाता है। प्रकरण में केवल यही व्यवस्था है कि आत्मतत्त्व के विश्व विरहप्रवृत्ति से दो विध है। इन में विश्वप्रवृत्ति सत्त्वा अनुपास्य है अधिदेवत है एवं विश्वप्रवृत्ति ही सगुणेश्वर बनता हुआ उपास्य बनता है। तथा सगुणेश्वर-आत्मतत्त्व में न केवल भगवत्पूज्य माध्यात्म्य समस्त ईश्वर है अपितु भगवत्पूज्य रामानुजाचार्य-समस्त ईश्वर-जीव-जगत् इत दिव्येश्वर की ही प्रधानता है। ईश्वर आधिदेविक तत्त्व है, जगत् आधिभौतिक तत्त्व है एवं जीव आध्यात्मिक तत्त्व है। आधिभौतिक जगत् उपासनासाधन है आधिदेविक ईश्वर उपास्य है, एवं आध्यात्मिक जीव उपासक है। इस के द्वारा यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है यही उपासनाशास्त्र है। ज्ञानयोग तात्त्व-साधनप्रेषण उपपत्ति यहाँ आधिदेविक है कर्मयोग तात्त्व-साधनप्रेषण उपपत्ति यहाँ आधिभौतिक है यही हमारे इन उपासनाशास्त्र में साध्य आधिदेविक है साधन आधिभौतिक है एवं साधक आध्यात्मिक (जीव, ई। अध्यात्म (जीव) अधिभूत-जगत्-साधनों व अधिदेवत (ईश्वर) का भाग बन जाय यही भक्तिविज्ञान का निष्कर्ष है ज्ञान कि आगे के परिच्छेदों में विस्तृत से बताया जाने जाता है।

१०३-देवयुगानुगत निगुणोपासना की ध्वनिप्रवृत्ता, एवं तत्सम्बन्ध में विप्रति-
पत्ति परम्पराएँ—

पूर्वप्रतिपत्ति देवयुगानुगत मक्तिमार्ग-परिच्छेदों में हमने यह कहा है कि, उस युग की उपासना
“निगुणोपासना” ही थी। परन्तु इन परिच्छेदों में यह कहा जा रहा है कि-निगुण की उपासना वन
ही नहीं सकती। यह पूर्णपर-विरोध है न? एक विप्रतिपत्ति। एक ही शास्त्र में म.स्त. के सम्बन्ध में
अनेक मार्ग किन्तु आचार पर अन्तर्भाव यह कि उपासना अन्तर्भाव एक ही होता है? दूसरी विप्रतिपत्ति।
मौलिक मक्तिमार्ग किन्तु अनेकों रूपों में परिणत हो गया है, तीसरी विप्रतिपत्ति। इसी कठिण विप्र-
तिपत्तियों के निराकरण के लिए निम्नलिखित छन्द उपबन्ध हो रहा है। अबबानपूर्वक इति-निर्लेपानुग्रह
से किसी भी विप्रतिपत्ति का प्रत्यक्ष शय नहीं रह जाता। फलतः शान्तिविरोध अब बचपूरे नमन्त्र्य हो जाता
है। संशयमय सभी अन्तर्भावों का निवृत्ति हो जाता है।

१०४ उपास्यतत्त्व का पावन सस्मरण, तदनुप्रायिता अर्द्धतनिष्ठा, एवं तत्समयक-
भ्रुतिमन्दर्भ—

उपासनाअर्थ के पाँच भागों के सम्बन्ध से पहिले हमें उपारकत्त्व का ही विचार करना पड़ेगा।
उपासक का स्वरूप ही इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का मूलधार माना जायगा। ईश्वर आत्मा-ब्रह्मा-
दिष्णु-अनु-वस्तु अग्नि मातरिका-महारा-दुर्गा-गणेश-सूर्य-चन्द्रमा-आहुतार-राम-कृष्ण-इत्यादि
एक से उपास्य देवताओं के अनेक नाम सुने जाते हैं एवं इस नाम-मेघ से ही उपासनामार्ग विभिन्न भी
हो रहे हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि “एक वा इदं वि धर्म्य सर्वम्” ॥ इत्यादि श्रुति-मन्त्र के अनु-
सार उक्त सभी उपास्य उस एक ही तत्त्व के अनेक विभव हैं। अतएव यह भी निर्विवाद है कि “एक उपास्यो
मे से किसी एक रूप की उपासना करता हुआ भी उपासक परम्परा उसी तत्त्व की उपासना कर रहा है
जैसा कि निम्नलिखित श्रुति-ध्यात-वचनों में स्पष्ट है—

१-स यथेमा नद्यः यन्दमाना समुद्राप्रस्था समुद्र प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, मिथेते
तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्राप्यते एवमेवाहं पश्चिन्दुरिमा पोद्भारस्ता पुरुष-
पराप्रस्था पुरुष प्राप्य अस्तं गच्छन्ति मिथेते तामां नामरूप, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।
स ण्योऽकस्तोऽमृतो भवति” (अश्वोपनिषत्)

२-यद्यन्यद्वतामक्षा यजन्त भक्षयान्त्रिता ।

तऽपि मामे कान्तेय ।। यद्यन्यविधिपूर्वकम् ॥ (गीतोपनिषत्)

३-एक एवाग्निबहुधा मयिद एकः सूर्यो विरयमनुप्रभृतः ।

एकैवोपाः सभमिद विमाति-“एकं वा इदं वि धर्म्य सर्वम्” ॥

—आर्यभट्टितायाम्

१०४-उपाभ्यदक्षता क विभिन्न विवक्ष—

अब हमारे सामने प्रमुख प्रश्न फैलत बही खोप रह जाता है कि, वह एक तत्त्व कीन है एवं देव है जिसके बिना अनेक उपास्य-विषय बन जाते हैं। "न तव प्रभो का सम्बन्ध ध्यान-सम्बन्ध-आत्म-सम्बन्ध आदि मूलिक द्वितीय त्रय-आत्मपरिष्ठापक-रूप से गता है। अतः यदि उन त्रय के पिछे-पिछे की बात आचर्यक्या नहीं रह जाती। प्रकृत-सत्त्व के लिए व। शब्दों में उन आत्म-स्वरूप का निर्देश-सूचना-मात्र ही कर लिया जाता है।

१०६-निर्गुण ब्रह्म की परिग्रहानुगता मगुस्यता का ममन्वय—

[illegible]

१०७-संगुणताप्रवर्णक पदविध (६) परिग्रहों का नाम-स्मरण--

परिमह ही उस निर्धनमक की मन्त्रचमोन्नति प्रमादित कर दित है। वे परिमह परममन्त्रों से परिमन्त्र (मिनि मिनाय) है एवं व ३ परिमह क्रमशः १-माया २-कला, ३-गुण ४-विकार ५-अज्ञान ६-आवरण इन नामों से प्रसिद्ध है। इन ३ परिमहों के सम्बन्ध से उस एक ही कर्मात्मी के प्रत्यक्ष (१) विश्वरूप हीमान् है। माया से कृत मायी तत्त्व ही 'अव्यय' कहलाता है। कला से कृत मायी अव्यय ही पाञ्चमीप्रजापति (पाञ्चरीपुत्र) कहलाता है। गुण से कृत मायीप्रजापति ही 'मन्त्र' प्रजापति [ब्रह्मन्त्यात्मक] कहलाता है। विकार से कृत कथ्यप्रजापति ही 'व्यसप्रजापति' [शुक्रमन्त्रक] कहलाता है। अज्ञान से कृत अज्ञप्रजापति ही 'मिराद्वयप्रजापति' [ब्रह्मन्त्यात्मक] कहलाता है। परमात्मन से कृत विद्यप्रजापति ही 'विराट' [पाञ्चमीविक्र, मन्त्रवित्तित्तरूप प्रत्यक्ष-त्रिलाङ्गीतप विरट] कहलाता है।

१०८-पट्टपरिग्रहम् स मनुष्यप्रज्ञापति क विभिन्न इ स्वल्प-

[illegible]

१. :- चत्पन्त त्रिलोचन-परिप्रदक्षिणित प्रजापति का आश्चर्यामय-समन्वय प्रपाम-

ये । गिनसक सम्पत्ति है वंसा अनर्जननीय सम्पत्ति है त्रिरक्त सम्पत्ति में महत्त्व
नष्ट महत्त्व है एक वृत्ति भी नहीं कह सकते । धारा भी कह सकते हैं एवं पान भी । क्या करें
वृत्ति कहने भी नहीं बनता विमा कह भी रहा नहीं जाता । कह करें कि यह हम गण मान धपपा
हम सब वृत्ति गण सब वृत्ति सम्पत्ति यह भी नहीं है ना यह भी नहीं है । न यह यह है
न यह यह है 'ना भी नहीं है 'हो भी नहीं है । न वह 'ना है न वह 'हो ही है 'यह 'ना भी है

१११-पट्विध-परिग्रह-समन्वय (परिलेखात्मक) —

१ १-माया		मायी-आम्भयः १		कृपयिग्रहयुक्त-सर्वधर्मोपपन्न आत्मन्वी				
१ २-माया	२ कला	उत्तम योद्धारी २		कविमुपासते				
१ ३-माया	२ कला	३ गुणा	उत्तम सत्त्वप्रजापतिः ३					
१ ४-माया	२ कला	३ गुणा	४ विकारा			उत्तम सत्त्वप्रजापतिः ४		
१ ५-माया	२ कला	३ गुणा	४ विकारा			५ अज्ञानानि	उत्तम सत्त्वप्रजापतिः ५	
१ ६-माया	२ कला	३ गुणा	४ विकारा			५ अज्ञानानि	६ आवरणानि	उत्तम सत्त्वप्रजापतिः ६

११२-अभिन्न-विद्युत्-समन्वय से सम्बन्धित मिश्र मिश्र तन्त्र एवं अभिन्न-आत्मतन्त्र से सम्बन्धित नानामेद-मिश्र प्राकृतिक विवरण —

एक ही विद्युत्-समन्वय परम्परा उससे सम्बन्धित अनेक कर्मों का। देखा तब तन्त्रीकोन बाबरनेस-
त्रैलीप्राप्ती रक्षिका आयुधान जलपान कोनोप्राप्त, पुस्तकीपर, अज्ञातार्थण आइट, मेस पमचकी
आदि आदि सभी तो उन एक ही विद्युत्-समन्वय से सम्बन्धित हैं। इन सभी विविध कर्मों का एकमात्र विद्युत्-
समन्वय ही तो मूलकारण है। उन एक ही पर तो वे नाना कर्म प्रतिष्ठित हैं। उक्त किसी कर्म का यदि
कार्यात्मक रहस्य जानने की इच्छा होती है तो इसकी सम्बन्ध पूर्ण के लिए पहिले उस विद्युत्-समन्वय का रहस्य
जान लेना आवश्यक ही बताया है। कारण—सभी कर्मों का मूल ही विद्युत्-समन्वय मूलस्रोत बना
हुआ है।

११३-सर्वाधारात्मक स्वाधारभूत निराधार आत्मतन्त्र की सर्वव्याप्ति, एवं सद्गुणा सर्गतन्त्रानुप्राणिता जिज्ञासा—

ठीक वही स्थिति विद्युत्-कन्ध-स्थानीय उस सर्वाधार (किन्तु स्वयं स्वाधार अतः स्व निराधार) एक आत्मा के, एवं इतर आधिष्ठातृ-स्थानीय इतर विश्वों के सम्बन्ध में समझिए। सर्वव्यापकव्यवस्थाम् "संस्थान्त के अनुसार वही उक्त व ची विकर्षों का मूलधार है। न केवल "ही का अणु—ज्ञान-कर्म-यज्ञ-सत्य-ज्ञान इष्ट-आपूर्ति-वृत्त-व्याप्ति बिन्दुने भी वैदिक-ज्योतिष-शास्त्रीय अराश्रीय प्रपञ्च है एवं का मूल आधार वही एक उक्त है। पञ्चत एत सर्वों से जिसकी भी स्वरूप-विज्ञाता होती प्रत्येक के आरम्भ में उसका विषय ज्ञान आचर्यकरूपेणैव सम्पन्नवीव होगा।

११४-प्रकान्त उपासनात्मक-मक्तियोग के अनुबन्ध से सर्वाधारभूत आत्मतन्त्र का अनिवार्य संस्मरण, एवं कान्पनिकों के कान्पनिक आपस का निरमन—

जब वह सत्के मूल में प्रतिष्ठित है, तो हमारा उपासनाकारण भी उससे कैसे वञ्चित रह सकता है ?। पञ्चत उपासना के पाँचों विकर्षों के मौलिक रहस्य के परिधान के लिए भी उही मूलतन्त्र के विस्तार का परिधान आवश्यक बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई यह आक्षेप करे कि—निकम्ब-निकम्बा (लोकक) 'पञ्च पञ्च पर छसी अक्षय-अक्षर-की गायी गाकर समय नष्ट कर रहा है' तो इस आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रह जाता। आप तो उपासना के लिए कहते हैं। हमारा वा यह भी विश्वास है कि यदि कोई यह विज्ञाता कर कि—'सूर्योदय से पहिले क्यों उठना चाहिए ? यक्षोपवीत क्यों धारण करना चाहिए ? सम्पत्ति क्यों करनी चाहिए ?' तो इन प्रश्नों के समाधान के लिए भी उही मूलतन्त्र का स्वरूप को आगे रचना पड़ेगा। यही कारण है कि पूज्यपदका में प्रत्येक विषय के साथ हमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से उही मूलतन्त्र का स्वरूप स्तलाना पड़ रहा है और आगे भी आचर्यकानुसार उतरा अचर्य ही आचर्य भिन्न आत्मा। वही मर्यादा प्रस्तुत उपासनाकारण में भी उहीके स्वरूपानुसार ही और हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

११५-एतत् रूप विश्व के आधारभूत तत् रूप विश्वात्मा की मन शया-वाग नियन्त्रणा ज्ञान क्रिया अर्थ-शक्तिश्रयी का पावन संस्मरण—

'उमे पहिचान के लिए 'हमे पहिचाना पड़गा एवं 'उसे पहिचाने के लिए 'उसे प्यन में रचना पड़ेगा। 'हमका अर्थ है 'विश्व' एवं 'हमका अर्थ है 'आत्मा'। यह कार्य है तो 'वह' कारण है। कार्यस्वरूप से कारणस्वरूप का अनुमान लगा लेना दार्शनिक-मध्यमार्थ का भी लक्ष्यमन्त मिश्रण है। कार्यरूप विश्व में हम ज्ञान-क्रिया-अर्थ 'न तीन विकर्षों का साक्षात्कार से अनुभव एवं प्रत्यक्ष कर रहे हैं। ज्ञान क्रिया का वा अनुभव होता है एवं अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। कार्यविश्व के इही अनुभूत दृष्ट-तीनों भागों के आधार पर हमें यह अनुमान लगा लेना पड़ता है कि अचर्य ही कारणरूप तत्त्व में ऐसी कोई तीन शक्तियाँ होंगी, जिनसे कि कार्यरूप विश्व की इन तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति हुई। 'विश्वज्ञान का आधार वही कारणार्थ 'मन' नाम से प्रसिद्ध है। 'विश्वक्रिया का आधार वही

कारणवर्ष 'प्राण' नाम से एवं 'विराधा' का आधार बही कारणवर्ष 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है। मनःप्राणवाह्मय कारणवर्ष ही ज्ञान-क्रिया-अर्थमय अम्यविराध की आधारभूमि है। वही रत विरध का प्रकृता है अम्यवि- सं वा मय आत्मा वाह्मय प्राणमयो मनोमय' इत्यपि श्रीगणेश विद्वन्त म ग्य है।

११६-विश्वस्तीत-निष्कल 'परात्परात्मा' की पत्परिग्रह-निबन्धना-मापानुगता 'सकृत्ता', एवं निष्कलता का संस्मरण—

वैश्वि कारण में कहा गया है विरधीत आत्मा निष्कल है। परन्तु स्वामिक ई कि, वह निष्कल निकल कैसे बन गया? उत्तर वे ही माया-कला-गुण-आदि ३ परिग्रह हैं। इन परिग्रहों में 'माया' नाम का परिग्रह ही सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट है। इसके उदय से ही वह अतीम अंशवत् मनीम बन कर 'अम्यवपुन्य' कहलाने लगता है। केवल मायामय, अथवा 'मत्त' (परिमित) वही तत्त्व सर्वथा 'अकल-किंवा निष्कल' 'अम्यवपुन्य' है।

११७-मायापरिग्रह-युक्त मायी अम्यव की सगुणारूपता का दिग्दर्शन, एवं तत्त्व दृष्ट्या मायी अम्यव की अनादित्वनिबन्धना निगुणता का समन्वय—

यदि माया को भी एकपक्ष का 'गुण' ही मान लिया जाता है तब तो वह 'मायी अम्यव' भी 'सगुण आत्मा' कहला सकता है। परन्तु बलुत 'गुण' तीमय परिग्रह है एवं इसका उदय 'वागमाय' मय' तीमो 'मत्यप्रज्ञापति' में ही होता है। 'वागत्रयी का भासिक रहस्य नामक द्वितीय प्रकरण में वह विचार से कलावा बाधुका है कि 'महामाया' का अक्षर सं मन्त्र्य है एवं योगमाया का अक्षर सं मन्त्र्य है। अम्यव का स्वरूप-मन्त्रादन करने वाली महामाया गुणतीता (किमुद सत्तामिना-विनिक कि आधार पर ही बलमी का गुडाई तसम्प्राप्त प्रसिद्धि है) है। एवं ब्रह्मिक धर्ममाय ही निगुणमाय की बनती बनती है 'यज-विराट के द्वारा विरम्भकय की स्यादिका बनती है। इस दृष्टि से हम केवल महा धामाविक्रम अम्यवपुन्य की (तीमाय से म्मुक्त होते हुए भी) गुणमय से वदिवृत्त बने रहने के कारण निगुण ही बरतो अम्यवि निम्न निमित्त बनने से ग्य है—

अनादिस्वाभिगुणात् परमात्मायमम्यवः।

शरीरस्योऽपि कान्तेय। न करोति न लिप्यते ॥

—गीता

११८-मवान्तरतम शोभनीयम-मना-मृति निगुण अम्यवात्मा की अक्षरप्रवृत्ति निबन्धना मन प्राणावाह मयता का संस्मरण—

मायावर्ति तीमाय के उदयकाल में ॥ तीमाय का नियमद्वारी 'दृश्यवत्त उदयुद तीमाय' है। दृश्यवर्तिन मायामय वही अम्यव 'अम' (शवावर्तीयम् मामक 'अम्यवमन' 'मवान्तरतममन') कहलाने लगता है। अथवा वाह्य दृश्यवत्त या अक्षरका 'अक्षरप्रवृत्ति' के आधार से वही मन प्राणावह्मय

नता हुआ त्रिकल बन जाता है। इसप्रकार केवल मायाबल ही अक्षर-क्षर के सहयोग में अकल मनोमय रूप 'अव्यय' को मन-प्राण-बाह्म-मय बना खलता है।

११६ प्रकृतिनिबन्धन अक्षरभाव के अनुबन्ध से अघ्यापत्मा की ही अव्यय अक्षर क्षर मेदनिबन्धता संस्थाप्रयी का क्रमानुगत-समन्वय—

इन तीनों में-प्रत्येक के तीन तीन विपक्ष होता है स्वयं अव्ययमन के ये तीनों विपक्ष आनन्द-विज्ञान-मन (अन्तस्मयन) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही मौलिक 'अव्ययात्मसंस्था' है, ये तीनों 'मनोमय अव्यय' के ही तीन विपक्ष हैं अतएव इसे हम- 'मन-संस्था' भी कह सकते हैं। इन्द्रजालात्मक पञ्चकल अमृता-प्रकृतिरूप अक्षर का प्राणविपक्ष से सम्बन्ध है। इस 'अक्षरप्राण' के तीनों विपक्ष 'मन (बहिर्मेतन्)-प्राण-वाक्' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही तृतीय 'अक्षररूपसंस्था' है। ये तीनों प्राण मय अक्षर के ही तीन विपक्ष हैं अतएव इसे हम 'प्राणसंस्था' कह सकते हैं। इन्द्रजालात्मक पञ्चकल मर्मा-प्रकृतिरूप आत्मक्षर का वाग्बिपक्ष से सम्बन्ध है। इस 'क्षरवाग्' के तीनों विपक्ष 'वाक्-आपा-अग्नि' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही तीसरी 'क्षरात्मसंस्था' है। तीनों बाह्मय क्षर के ही तीन विपक्ष हैं अतएव इसे हम 'बाह्मसंस्था' कह सकते हैं।

१२०-कामरेतोमय मनोमूर्ति अव्ययात्मा के त्रिविधभाषण-मन-प्राण-वाग्-विपक्षों का स्वरूप-समन्वय, एवं निष्कल-मायी की पञ्चकलोपतता का दिग्दर्शन—

तात्पर्य यही हुआ कि, आश्रय 'अव्ययमन' आश्रय में अक्षर के सम्बन्ध से होने वाली 'चिति' से प्राणमय कला हुआ 'द्विकल' बना एवं क्षर के सम्बन्ध से होने वाली 'चिति' से वाह मय कला हुआ 'त्रिकल' बना। आसी बाह्य प्रकृतिबन्ध त्रिविधभाव के कारण इसकी तीनों कलाएँ 'मन-प्राण-वाक्' इन तीन तीन भावों से युक्त बनती हुई ३ संख्या में परिणत होगी। इनमें त्रिकुन्मन स्वयं अव्ययस्युरूप रागा त्रिविधप्राण अक्षर रक्षा एवं त्रिविध-वाक् क्षर रही। त्रिविधमनामय अव्यय का मनोभाग आनन्द प्राणभाग विज्ञान एवं वाग्भाग मन कहलाया। इन बाह्ममय मन के गर्भ में कामना का आश्रय रहा ब्रह्म कि 'कामराज्यं समवर्णाधि मनसा रतं प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ७ मन्त्रबचन से स्पष्ट है। इसी कामना से बाह्ममय मन ने (अव्ययमन ने) अपने ऊपर 'बल' की 'बहिर्धिति' की। वह चिति प्राण वाक् इन दो भागों में विभक्त हुई। इसप्रकार आनन्द-विज्ञान-गमित कामनामय वाग्मय मन ही मन प्राण-वाग्मय में परिणत होना हुआ तीन के स्थान में 'पञ्चकल' बन गया।

७-कामन्दमो समवर्णाधि मनसो रतं प्रथमं यदासीत् ।

सतो पञ्चमसति निरविन्दनं हृदि प्रतीप्या कस्यो मनोपा ॥

—शुद्धसंहिता ।

१२१ आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-भेदेन पञ्चकोशात्मक अभ्ययात्मा, तन्नि-
बधना मुमुक्षा-सिमुक्षा, तदनुप्रायिता निवृत्ति-प्रवृत्ति, एवं सृष्टिसाक्षी, तथा
सृष्टिसाक्षी अभ्ययात्मा का संस्मरणा—

यही पञ्चकोश अभ्यन्त उपनिषदों में पञ्चकोशमय (आनन्दमय-विज्ञानमय-मनोमय प्रणवमय-वाक्मय-अक्षमय) कहा गया है। उनके पाँच बीज निवृत्तिकामना-प्रवृत्तिकामना के भेद से दो रूपों में परिवर्तित होतव्य हैं। काममय मन का निवृत्तिमात्र 'सृष्टिनिवृत्ति' (कल्पवृत्तिमुक्ति) का कारण बना एवं काममय मन का प्रवृत्तिमात्र 'सृष्टिप्रवृत्ति' [कल्पवृत्तिप्रवृत्ति] का कारण बना। आनन्द-विज्ञान-मनोमय वही अक्षय्य मुक्तिसाक्षी बनता हुआ मुमुक्षा का अस्तित्व बनता एवं मनःप्राणवाक्मय वही अभ्यन्त सृष्टिसाक्षी बनता हुआ 'सिमुक्षा' का अभिमान कहा गया। मुक्तिसाक्षी अभ्यन्त 'विद्यामूर्ति' अस्तित्व एवं सृष्टिसाक्षी अभ्यन्त 'कर्ममूर्ति' अभ्यन्त कहा गया। सर्वथा यह स्पष्ट रूप से ही बात है कि, अभ्यन्त के वे पाँचों रूप मनोमय बनते हुए आनन्दमान ही हैं। एवं इनके मन-प्राण-वाक् के तीनों सृष्टिसाक्षी रूप काममय मन के ही तीन विवर्त हैं। क्योंकि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

१२०—अभ्ययात्मसंस्थान-समन्वय-परिलेखात्मक —

- | | | |
|--|--------------------------------|-----------------------|
| १—१-मनोमय मन —आनन्दः (ओतिर्मयः)] | —मनोमय मन (आनन्द) (मनः) | } —“मनः”
(ज्ञानम्) |
| २—२-मनोमय प्राण —विज्ञानम् (विद्यारूपमयम्)] | —मनोमय प्राण (विज्ञानम्) (मनः) | |
| ३—{ ३-मनोमयी वाक्—मनः (निवृत्तिकाममयम्)] | } —मनोमयी वाक् (मन) (मनः) | |
| ४ वाक्मय मन—मनः (प्रवृत्तिकाममयम्) | | |
| ४—१-वाक्मय प्राणः—(उपोमयः) | | |
| ५—२-वाक्मयी वाक्—(अक्षमयी) | | |

१२१—अक्षरान्मार्गस्थान-समन्वय-परिलेखात्मक.—

यह ती लया मनःप्राण-वाक्-रूप (आनन्द-विज्ञान-मनोमय) मनोमय अभ्यन्तमात्र का संक्षिप्त निदर्शन है। अब कथमात्र प्राणमात्र अक्षर पर इति काशिए। अक्षर पर अभ्यन्त के निवृत्ति-प्राण का अनु-
भूत होता है। “न म प्राणमय मनः अनुभूत-अक्षर का अनुभूत कहना है प्राणमय प्राण अनुभूत-अक्षरान्मार्ग का अनुभूत कहना है एवं प्राणमयी वाक् अनुभूत अग्नि-सोमाक्षरों की अनुभूति कहती है। इस प्रकार पञ्चकोश अक्षर में निवृत्तिप्राण का उपयोग सिद्ध होता है।

१-ज्ञानस्थे प्रतिष्ठितः—ब्रह्माक्षरः]	—प्राणमय मनः (प्राणः) प्राणः	} —“प्राण” (क्रिया)
२-वित्ताने प्रतिष्ठितः—विष्णुरक्षरः]	—प्राणमयः प्राणः (प्राणः) प्राणः	
३-मनसि प्रतिष्ठितः—इन्द्राक्षरः]	—प्राणमयी वाक् (प्राणः) प्राणः	
४-माये प्रतिष्ठितः—सोमाक्षरः]	—प्राणमयी वाक् (प्राणः) प्राणः	
५-वाचि प्रतिष्ठितः—अग्न्यक्षरः]		

१२४-धरात्ममस्थान-समन्वय-परिलेखात्मकः—

अक्षर के अन्तर है वाङ्मय क्षर । इन आत्मक्षर पर अक्षय की विज्ञता वाक् का अनुग्रह होता है । इन में वाङ्मय मन मत्स्य ब्रह्माक्षर का अनुग्रह बनता है यही वाङ्मय प्राण मत्स्य इन्द्राक्षरों का अनुग्रह बनता है यही आपःशुक्ल है । वाङ्मयी वाक् मत्स्य अग्नि-सोमक्षरों की अनुग्रह बनती है । यही अग्निशुक्ल है । इसप्रकार पञ्चकल आत्मक्षर में विज्ञता वाक् का उपयोग निश्च हो जाता है ।

१-ज्ञानगमिन्ने ब्रह्माक्षरः प्रतिष्ठितः—ब्रह्मा क्षरः]	—वाङ्मय मनः (वाक्) वाक्	} —“वाक्” (अर्थः)
२-विज्ञानगमिन्ने-विष्णुक्षरः प्रतिष्ठितः—विष्णुः क्षरः]	—वाङ्मयः प्राण (आप) वाक्	
३-मनोगमिन्ने इन्द्राक्षरः प्रतिष्ठितः—इन्द्रा क्षरः]	—वाङ्मयी वाक् (अग्नि) वाक्	
४-प्राणगमिन्ने-सोमाक्षरः प्रतिष्ठितः—सोमः क्षरः]	—वाङ्मयी वाक् (अग्नि) वाक्	
५-वागमिन्ने-अग्न्यक्षरः प्रतिष्ठितः—अग्निः क्षरः]		

१२५ अक्षय अक्षर धरा-नुष-धी-कला-गुण विकार-परिग्रह-ममन्वय, एवं अक्षयपुरुष की प्रातिमिकी निष्कलता निर्विकारता तथा निर्गुणता का सम्मरण—

मापारिमह अक्षयवानुबन्धा है अक्षयपरिमह अक्षयानुष-धी है, एवं गुणपरिमह अक्षय करानुबन्धी है । यह विगुण मापामय अक्षय कलाप्रवृत्त का अक्षर एवं गुणप्रवृत्त धर के अक्षय के अक्षर वाक् पादराज्य बन जाता है । यही इसका पादराज्य कहा जाता है । धर गुणप्रवृत्त अक्षर है परन्तु इन का प्रमुख एवं पादराज्य पर नहीं इन पाता । प्रमुख होता है धर का आप के विचारधर पर धर के विचार के अक्षय अक्षर का अक्षय निष्कल होता है एवं विज्ञ कि इस अक्षर में ही ‘मगुण’

प्रजापति कहने वाले हैं। इस दृष्टि से वहाँ विष्णु का अर्थ भी इस निगु सात्मा कहते हैं वहाँ दूसरे पादों को भी निगुण (विष्णु चरदृष्ट्या गुणप्रसक्त एवं विषयप्रसक्त) ही कहेंगे। निजानभिज्ञान के अनुसार अर्थ्य वहाँ भावमृत्ति (मानसी मृत्ति) का प्रसक्त है वहाँ अक्षर, बीर आत्मस्वरूपा पर-अपर-प्रकृति का गुण एवं विषयमृत्ति की प्रतिकार्य कहलाती है। गुण तथा विषय की प्रकृति कति पादों की से ही होती है। परन्तु यह स्वयंशुद्ध अर्थ्यवत् निगुण एवं निर्दिष्ट ही है।

१२६-‘न करोति न लिप्यत मूलक विशुद्ध निगुण अव्यय एव—‘भूतभूतव भूत-स्थो ममात्मा भूतमावन’, मूलक मगुसाध्यममृत्ति पोडशीप्रजापति—

काव्य स्पष्ट है। गुण एवं विषय-भाषा का विरक्तमृत्ति से ही सम्बन्ध है। विरक्तमृत्ति का मूलोदय मगुण-अर्थ्यप्रजापति (चक्रमण) एवं सविचार-व्यापप्रजापति ही है। पोडशी तो निगुणमय-विरक्तमृत्ति निगुण-निर्दिष्ट आत्मा है। ‘न’ दृष्टि से यह भी कहा जानता है कि विष्णु निगुण-निष्कल अव्ययता न करता है न लिप्यत होता है। पादशीप्रजापति कर्ता अपरप दे परन्तु लिप्य नहीं होता। ‘न करोति न लिप्यते’ ये अक्षर वहाँ विष्णु का अर्थ के लक्ष्य हैं वहाँ—‘भूतभूत व भूतस्थो ममात्मा भूत मावन’ ये अक्षर पोडशीप्रजापति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

१२७-अव्यय निबन्धन ‘आत्मा शब्द एवं पोडशीप्रजापति निबन्धन ‘आत्मन्वी’ शब्द तथा आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक ‘प्रजापति का स्वरूप समन्वय—

एक बात और अव्यय केवल ‘आत्मा’ शब्द के-सम्बन्धन का ही अपेक्षित है। इसे ‘ईश्वर’ नहीं कहा जानता। ‘ईश्वर’ शब्द आत्मन्वी का वाचक है बीर वही ‘प्रजापति’ है। प्रजापति में आत्मा-प्राण-पशु ये तीन विषय हैं। निष्कल अव्यय में विरक्त अव्यय है। अव्यय न वह ‘ईश्वर’ कहा जा सकता न ‘प्रजापति’। प्रजापतियों में पहिला प्रजापति वही पोडशीपुरुष है। इसका पञ्चम अव्ययमता आत्मा है, पञ्चम अक्षरमात्र प्राण है एवं पञ्चम अक्षरमात्र पशु है। इन्हीं तीनों के समन्वय से यह ‘प्रजापति’ सम्बन्धन में युक्त है।

१२८-विशुद्ध अव्यय की ‘तत् रूपता, एवं पोडशीप्रजापति की अमृत-ब्रह्म-शुद्ध रूपता का समन्वय—

विशुद्ध अव्यय ‘तत्’ है एवं पोडशीपुरुष “अमृत-ब्रह्म-शुद्ध” है। ‘तत्’ ही ‘अमृत’ (पञ्चकल-अक्षरपुरुष) बना है ‘तत्’ ही ‘ब्रह्म’ (पञ्चकल अक्षरपुरुष किंवा अपरामृति) बना है एवं ‘तत्’ ही ‘शुद्ध’ (पञ्चकल अक्षरपुरुष किंवा अपरामृति) बना है। अतएव—‘तदेव शुद्धं तदुग्रं तदेवामृतमुच्यते’ इत्यादि औपनिषद् शिक्षा से स्पष्ट है।

१२९-अद्वैतात्मक निष्कल अव्यय, अक्षरात्मक पञ्चकल अव्यय उकारात्मक पञ्चकल अक्षर मकारात्मक पञ्चकल अक्षर, एवं प्रत्यक्षमृत्ति-पोडशी प्रजापति-सप्तमा-ईश्वर—

‘तत्’ तत्त्व (विशुद्ध चक्रमण) अक्षर एवं निर्लेप है। ‘अमृत’ तत्त्व (पञ्चकल अव्यय विषय का आत्मन्वय) है ‘ब्रह्म’ तत्त्व (अक्षर) विरक्तमृत्ति है एवं ‘शुद्ध’ तत्त्व (अक्षर) विरक्त का अपादान है। विरक्तोपादानरूप शुद्ध

(चर) मयं सृष्टमपञ्च (विरव) रूपा विरवावृत्ति से युक्त रहता हुआ 'मकार' है। विरवात्मनरूप अमृत (सकलअव्यय) निर्लेप रहता हुआ 'अकार' है। एव विरवनिमित्तव्यापकस्व ब्रह्म (अक्षर) मध्य य बनता हुआ 'उकार' है। चौथा ब्रह्मा है—वही विशुद्ध अव्यय निष्कल अव्यय। उसका भी उसमें समावेश इसी से इसकी संपादनी कला की पूर्ति होती है। वही द्वितीय पञ्च अक्षरमात्रा किंवा 'अमात्रा',। कवा 'मममात्रा' है। समष्टि ही ओङ्कार है। प्रणव ही हम योद्धा-ईश्वर का वाचक माना गया है—
'तस्य वाचक' प्रणवः (पातञ्जलयोगसूत्र)।

१३०—चतुर्पाद् ब्रह्म के ऊर्ध्वभाषानुगत तीन पाद, एवं चतुर्थ पाद की विश्वरूपता का समन्वय, तथा अमृत ब्रह्म-शुक्रात्मक-अक्षरणीयान्-महतीमहीयान् 'पूर्णापुरुष' रूप अक्षरत्वप्रजापति का माङ्गलिक-संस्मरण।

वही प्रलयमूर्ति योद्धा विरवामा विरव का (व्यापक) एक आत्मा है। इसे ही उपनिषद्गर्भ 'अक्षरत्व' कहा है। विशुद्ध अव्यय मकल अव्यय अक्षर ये तीन पाद अवति हैं। चौथे चरपाद से ही वह विरव में (विरवाभिमानरूप से) प्रविष्ट रहता है—'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोत्प्रेक्षा-भवत्युतः। विरव मे महतीमहीयान् भी वही अक्षरत्वपुरुष है एवं अक्षरणीयान् भी वही है। इसी योद्धापुरुष का दिग्दर्शन करती हुई मूर्ति कहती है—

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चिदस्मात्प्राणीयो न न्यायोऽस्ति कश्चित् ।

वृष इव न्तुघो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पृथा पुरुषा नर्बम् ॥

श्वेतश्वतोपनिषद् ३।६।

उर्ध्वम्भूलोऽव्याकशास्व एयोऽश्वतः सनातन ।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

तस्मिन्लोकः भिता सर्वे

तदु नात्येति कश्चन

“एतद्दे तत्”

कठापनिषद् २।६।

१३१—पराव्ययमूर्ति, ब्रह्माक्षरमूर्ति, एवं पराक्षराक्षरमूर्ति अतएव सर्वमूर्ति—मध्यम्य अक्षरत्वप्रजापति की प्रणवोद्धारता का स्वरूप-समन्वय—

प्यान रहे वह विशुद्ध अव्यय इस योद्धापुरुषसे सर्वथा भिन्न तत्त्व है। वही किञ्चन माया का वैद्यन है योद्धा में कलाग्रह का विकास है और इस कलाग्रह का प्रवर्तक एकमात्र अक्षर स्वयं ही 'कलावृत्ति' से पञ्चकला बना हुआ है। एवं अव्यय-अक्षर की भी इसी ने पञ्चकला बना रक्खा है। इतीतिह हन् इस योद्धा

को 'सकलप्रजापति' कहते हैं। एवं इसी रहस्य के आधार पर इस दूसरी संस्था को हम 'अक्षरमूर्ति' कहते हैं। इसीलिए ओमित्येकाक्षरम् इत्यादिरूप से ईश्वरवाचक (पौंडरीवाचक) को द्वार की "अक्षर" माना गया है। मन्त्ररूप अक्षर उस क्षीर की "परसम्पत्ति (अक्षय्यसम्पत्ति)" से युक्त होता हुआ "पर" (अक्षय्य) भी बन रहा है इस क्षीर की ब्रह्मसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति) से युक्त होता "ब्रह्म" भी बन रहा है एवं स्वरूप से "अक्षर" भी बन रहा है। पौंडरीपुरुष के स्वरूप-उत्पत्ति इसी अक्षरत्व की उत्पत्ति का दिग्दर्शन कराती हुई भूति कराती है—

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यत्सुमन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तपो पदं संग्रहेया ब्रवीमि ॥ १ ॥

एतद्व्यवाचर ब्रह्म (क्षरः), एतद्व्यवाचर परम् (अक्षय्यम्) ।

एतद्व्यवाचर ब्रह्मावा यो यदिच्छति तस्य तपः” ॥

—छन्दोगनिषत् १।२।१५, १६ ।

१३०—अमृत ब्रह्म-शुद्ध-मूर्ति-अक्षरत्वसंज्ञक पौंडरीप्रजापति के विद्वत्प्राधान्य तात्त्विक स्वरूप का समन्वय प्रयास—

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यही निष्पन्न कि, पराक्षर का प्रवेश मायपरिमह से युक्त बनकर 'अक्षय्यव्युत्पत्ति' करता है। वह उत्तीर्ण होता हुआ भी विद्युत् अवस्था अक्षय्य निरूप करता है। मन ही इसका प्रातिरिक्क रूप हुआ। आगे बाहर कलापरिमह से यही मनीमय [ज्ञानमय] अक्षय्य-मन-माय-वाग्व्य में परिणत होकर मनमायवाक्य के विद्वत्प्राधान्य से कर्मण-निर्गम्य बनता हुआ पौंडरीप्रजापति बन गया। यही 'पौंडरीप्रजापति' करता है। इस पौंडरी का विद्वत्प्राधान्य अक्षय्यमाय ज्ञान-अमृत-मन-पुरुष-आत्मन्वन-अक्षर आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विद्वत्प्राधान्य अक्षरमाय किन्तु ब्रह्म-प्राप्ति-परा-प्रकृति-निमित्त-‘अक्षर’ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विद्वत्प्राधान्य अक्षरमाय-अक्षर-शुद्ध-वाक्-अपराप्रकृति-उपायन-‘मक्षर’ आदि नामों से व्यवहृत हुआ। एवं अविच्छिन्नमहत् अक्षरत्वव्यवस्थात्मक विशुद्ध अक्षय्य अक्षय्यपरिणतीति-अक्षय्य-सर्वरूप-अमाय्य-अमन-शुद्ध-व्योतिर्वा करोति-अक्ष माय-अमाय-सर्वमाय-तुरीय आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विशुद्ध अक्षय्यवर्गित ज्ञानम्-विज्ञान-मनीमय 'मन' मन-माय-वाक् मय 'प्राण' वाक्-आय-अमिमी 'वाक्' ये ही तीनों कर्मण अक्षय्य-अक्षर क्षर अक्षरों के स्वरूप उत्पत्ति करने हुए पौंडरीप्रजापति के स्वरूप-उत्पत्ति को। कलापरिमहयुक्त एकल पौंडरी-प्रजापति का यही संक्षिप्त निदर्शन है। आगे की तात्त्विकता से उक्त स्वरूप वर्णनाना गद्यांश बन जाता है।

गीताभूमिका

- निष्कलोऽव्ययः-सुरीया-उत् — (मनः) ● ● ● ● अयं माता
- १-पञ्चकलोमेत — अव्यय-अमृतम् (ज्ञानम्-विज्ञानम्-मन) अक्षर
- २-पञ्चकलोमेत — अक्षर-ब्रह्म (मनः-प्राण-वाक्) उक्षर
- ३-पञ्चकलोमेत — चरा-शुक्लम् (वाक्-आप-अग्नि) मकार

— ईश्वरमहापति
(योद्धयी)
विश्वरूपा



स एव योद्धयीमहापति-सकला-विश्वरूपा

१-ज्ञानम्

२-विज्ञानम्

३-मनः

‘स वा एव आत्मा वाक्मयः प्राणमयो मनोमयः’

— १ मनः-ज्ञानम्-अमृतम्-अव्ययः

१-मनः

२-प्राणः

३-वाक्

— २ प्राणः-क्रिया-ब्रह्म-अक्षर

१-वाक्

२-आपः

३-अग्निः

— ३ वाक्-अय-शुक्लम्-चर

उत्-मनोमयोऽव्यय

‘तस्य वाचकः प्रणवः’

७-मरुतनिशिष्टमर्मुर्भिः-यात्पर

१-महाभायार्थव्युत्थो मायी, निगुणाः, अङ्गला, परमार्यायं व्यवपः-(अमनाः)

१-१२ (मरुतम्)	
१-चान १ (मरुतम्-मरुतम्-ज्ञानम्)]	—मनीषव मरुतः-ज्ञानम्-१-ज्ञानम्-मना-ज्ञानम्
२-विज्ञानम् (मरुतम्-मरुतम्-विज्ञानम्)]	—मनीषवः-विज्ञानम्-१-विज्ञानम्-मना-ज्ञानम्
३-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
४-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
५-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्

१-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
२-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
३-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
४-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
५-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्

१-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
२-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
३-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
४-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्
५-मनीषव (मरुतम्-मनीषव-मनीषव)]	—मनीषवः-मनीषव-१-मनीषव-मना-ज्ञानम्

१३३-‘सत्यप्रज्ञापति’ का स्वरूप-संस्मरण, तन्मिबन्धन परिग्रहों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं अक्षरानुबन्धी गुणभाव की सगुणरूपता का स्वरूपोपलब्ध—

मूलतत्त्व के ९ विधियों में से निष्कल किन्तु मायी ‘अभ्यस्य एवं योग्याकल योग्याप्रज्ञापति’ इन दो विधियों का सिद्धान्त कर दिया गया है। अब क्रमपात तीसरा ‘सत्यप्रज्ञापति’ नामक तीसरा विधार्त्त हमारे सामने आता है। पूर्व में यह कहा गया है कि ‘माया-कला-गुण-विधर, इन चारों परिग्रहों का क्रमशः निष्कल अभ्यस्य पञ्चकल अभ्यस्य अक्षर, आत्मक्षर से सम्बन्ध है। क्योंकि योग्या में अन्वयानुबन्धी मायामात्र अक्षरानुबन्धी कलामात्र अक्षरानुबन्धी गुणभाव एवं अक्षरानुबन्धी विधरभाव इन चारों का सम्बन्ध है। अतएव इस दृष्टि से हमें वृत्त योग्याप्रज्ञापति को ‘कल’ के साथ-साथ सगुण-एवं सविधर भी कहना चाहिए। परन्तु जैसा कि ब्रह्मी स्पष्ट कर दिया गया है योग्या के अक्षरभाव से अक्षर ही गुणप्रवृत्ति एवं आत्मक्षरभाव से अक्षर ही विधरप्रवृत्ति होती है। परन्तु स्वयं अक्षर और क्षर में गुण विधरों का लोपरूप विकास नहीं होता। गुण का विधर होता है विधरप्रवृत्ति में एवं विधर का विधर होता है वैधरिण प्रवृत्ति में। अतएव योग्या को हम निर्विधर ही कहेंगे। हाँ अक्षरानुबन्धी गुणप्रवृत्ति से यह अक्षर ही युक्त रहता है। एवं इसी दृष्टि से इसे हम अक्षर ही सगुण कह सकते हैं। विद्युत् अभ्यस्य ब्रह्म के मायानुबन्ध से निगुण है योग्या का अभ्यस्य ब्रह्म कलात्मकत्व से सगुण है वहाँ स्वयं योग्या अक्षरानुबन्धी गुणभाव से सगुण भी माना जा सकता है।

१३४-पञ्चविध-विधरक्षरों का संस्मरण, तन्मिबन्धन परिग्रहों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं आत्मक्षरानुबन्धी विधरभावों की सविधररूपता का स्वरूपोपलब्ध और सद्गुणप्राप्ति-सत्य-यज्ञात्मिका त्रयीविधा —

अध्वबालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षर से क्षर के द्वारा तर्कप्रथम प्राण-आपा-वाक् अथ अस्मात् के पाँच विधरक्षर उत्पन्न होते हैं। विज्ञानमाया में जो ब्रह्म विधर कहा गया है परन्तु प्राणानि-परिमाणा के अनुसार वे ही ‘गुणभूत’ हैं। इन पाँचों में प्राण प्रधान है। प्राण ही वेत्तत्व (यज्ञ-अस्मात्) है। वेद ही स्वयं है। योग्याकल के निष्ठाभूत इन तत्त्वों से युक्त क्षर ही योग्या ‘सत्यप्रज्ञापति’ बन जाता है। यह ही मायात् गुणप्रवृत्ति है जैसा कि त्रैगुण्यविषया ब्रह्म ‘त्यागि’ गीताभिज्ञान से स्पष्ट है। वेदात्मक गुणभाव ही ‘तद्यत्तत् सत्य-त्रयी सा विधा’ इस श्रुति के अनुसार स्वयं है। गुणात्मक वेदस्वयं से युक्त वही योग्या सत्यप्रज्ञापति है। वेदराश्वेय्य महादी पृथक् संस्धारण निम्नलिखित मानवभिज्ञान के अनुसार योग्या क्षरक्षर के द्वारा ही विधरनिर्माण में लभ्य होता है। अतएव क्षर को वेदमूर्ति कहा गया है।

१३५-‘यज्ञ’ के द्वारा ‘सत्य’ का महिमात्मक विज्ञान, एवं प्रज्ञापति का चतुर्थ-निर्वाण—

“यज्ञ कृत्वा सत्यं तत्तत्तमम्” इस विज्ञान के अनुसार ‘सत्यमवे’ के आधार पर प्राणो अक्षर पञ्चविध होता है। अक्षरमक अस्मीत्योम का सम्बन्ध ही यज्ञ है। अग्नि की प्रतिष्ठा त्रयीविध है एक सोम की प्रतिष्ठा अथर्वविध है। ‘यज्ञा त्रयीविधायका’ के अनुसार अथर्व-यामिता त्रयीविधा का ही विधरूप ही ‘यज्ञ’ है। विधरक्षर की पञ्चकलात्मकता ही यज्ञ है। गुण का विधरभाव ही यज्ञ है। इस यज्ञ से युक्त वही अक्षरप्रज्ञापति अक्षरप्रज्ञापति कहलाने लगता है और वही उक्तता बीया विधार्त्त है।

१३६-अग्निरामय अग्नि एव भृगुमय सोम क अवस्था-निबन्धन पट्विष महिमा विवश
उदनुवन्धी पृक्कल 'सुप्रज्ञ', उदनुप्राखित कलान्तुएयात्मक- 'प्रज्ञ', एव प्रज्ञ-
सुप्रज्ञ-समष्ट्यात्मक इशकस्त-विराट्प्रजापति—

अग्नि अद्विष्ट है (अद्विष्टं १।११।१०) एसे सोम यगु है । अद्विष्टोऽग्नि की अग्नि कम-आहित
य तीन अवस्था हैं भृगुसोम की आपा-वासु-सोमः ये तीन अवस्था हैं । यही पञ्चमयमक सुप्रज्ञ
है । अद्विष्ट-सोम-अद्विष्ट-सोम का ही समष्टि अष्टात्मक (वेदात्मक) प्रज्ञ है । प्रज्ञ यदुक्कल है सुप्र
पृक्कल है । यदुक्कल प्रज्ञ अष्टात्मकपति है एसे पटवन् सुप्रज्ञ बहुप्रजापति है । दोनों का सम्बन्ध रूप ही इत
का 'विराट्प्रजापति' है । अब और एक से युक्त होकर यही एक 'विराट्प्रजापति' बन जाता है । विष्ट में
कम-यज्ञ दोनों का सम्बन्ध है । यह का रूप के साथ यज्ञन होने से ही अष्टात्मकपति विष्टपुरुष का प्रत्यक्ष
होता है अर्थात्—'यज्ञेन अष्टात्मकसन्तुष्टेः' अर्थात् यज्ञवर्धन से स्पष्ट है । वह उलका पौर्वा विवश है ।
अञ्जुन (यज्ञात्मा) ही यह का स्वल्प-सम्पादक बनता है । अतएव "ये इम साञ्जुन-प्रजापति" मन
करते हैं ।

१३७-अत्मसन्तान की विभाममूमि सावरक्षमाव-निबन्धन पृष्ठ-प्राजापत्य-विवर्त—

यही अञ्जुनमाव आगे आकर हम के अवरक्ष से विवर्त का स्वरूप-समर्पक बनता है । यही पृष्ठ-
विभाममूमि का (आवरक्ष के सम्पाद से) पूर्ण विभाम होता है । सगुण मीतिक पार्थ ही प्रकृत में 'विवर्त'
शब्द से दर्शित है । विवर्तका ही इत अष्टात्मकपति भूतमा का उगादान करता है अर्थात्— सहा यज्ञ
प्रजा सृष्ट्या पुरावाच प्रजापति इत्यादि से स्पष्ट है । यही उमकी व टी बनता है । और यही अष्टा-
त्मन की विभाममूमि है ।

१३८-मत्स्य-यज्ञ विराट्-विष्ट-मासानुवर्धी प्राजापत्य-विवर्तों का समष्ट्यात्मक-
सम्पाद—

रूप यह-विगाट् विवर्त इन आगे विवर्तों का जो स्वल्प स्वरूप गता वह स्तोत्रयवह नहीं मत्स्य
जातकता । अतएव व आगे ही विवर्त कुछ विष्टा पृष्ठोदरका की अवेका रूप रहे हैं । "आरम्भ में नेति नेति
रहने वाला आगे आकर प्राजापतिवर्ध से मनोमय बनने वाला अष्टात्मकपति से मन-प्राप्त-आरम्भ करने
वाला ही अष्टात्मक ही विवर्त का आगमा है । यही ईश्वरप्रजापति है अर्थात् का स्तोत्रयवह तो अष्टात्मक
है । विवर्त-सम्पाद से मत्स्य रहने वाले आगे के अष्टात्मकपति आगे विवर्त अष्टात्मक ही स्पष्ट मीमांसा की जा-
रहना का अनुभव कर रहे हैं । अतः मत्स्य ल बने मीमांसा पाठकी के सम्बन्ध उपस्थित हो रही है ।

० रामम्भ १ प्रथमो अग्निरा अष्टिर्देवो दधानाममवा शिवः सखा ।

तव मन कपयो विधनापनो जायन्त मरुतो आग्रष्टयः ॥

—अष्टमहिता

१३६-महिमामय प्रजापति से अनुप्राणित अविकृत परिखामवाद, एवं 'ब्रह्म' के नित्य-

महिमामय का स्वरूप समन्वय—

‘योऽशीषुदयः कः मनोमयः (निष्ठुमनोमयः) अन्वयः सः अमृतमाग विरक्तसृष्टि का आलम्बन कर्ता है प्राणमय (निष्ठुतप्राणमयः) अक्षरकर्म ब्रह्ममाग निमित्तकारण बनता है एवं वाक् मय (निष्ठुवाक् मयः) अक्षरकर्म शुक्लमाग उत्पत्तिकारण बनता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। इस स्थीकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि योऽशीषुदय के अन्वय-अक्षरमाग (विरक्त में रहते हुए भी) विरक्त के उभ ओर (विरक्तसृष्टि से बहिर्भूत) हैं अक्षरमाग मध्य में है एवं विरक्त इस ओर है। क्योंकि मन्त्रमय अक्षर उपादान है एवं उपादानकारण की सत्ता ही अन्वय की सत्ता कर्ता है इसी सत्ता-अन्वय में अन्वय अक्षर से नित्य युक्त रहता है अतएव इस उपादानकारणमय वाक् मय अक्षर को हम विरक्तमन्त्रमाग में अन्तर्भूत मानते हुए विरक्त-कोटि में भी मान सकते हैं। वाक् ही अक्षर का उपादानमात्र अविकृतपरिखामवादमय है। अक्षर से अन्तर्गत विरक्त अक्षरमय ही उत्पन्न होते रहते हैं। परन्तु अक्षर सत्ता अपने उभो रूप से द्रुपदित रहता है जैसेकि निष्ठुतप्राण से पहिले। यही इन अक्षरब्रह्म की अपूर्वमहिमा है जैनादि-‘मय नित्यो माहिमा ब्रह्मणो न कर्मण्या यद्धते नो कनीयान्’ इत्यादि श्रुति सिद्धान्त से स्पष्ट है।

१४०-अक्षर की आत्मरूपता, तथा विश्वरूपता का समन्वय एवं तन्निवचन अविकृत परिखाममात्र—

आत्मा का यही स्वस्वरूप है। यह न स्वस्वरूप से नष्ट होता न अधिक अपिष्ट सदा एकरस ही रहता है। अवि-कृतपरिखाममात्र के कारण अक्षर अक्षरशील होता हुआ भी अक्षरकर्म ब्रह्मणि ‘आत्मअक्षर’ कहा जाता है। अतएव यह योऽशीषु-विरक्तमाग का ही एक अन्तिम अवयव माना जाता गया है। इसप्रकार अविकृतपरिखाम-मात्र से आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ आत्मअक्षर विरक्तमाग भी बन रहा है एवं अक्षरकारकसत्त्व-सिद्धान्तानुगुणीमात्र के कारण विरक्त में प्रविष्ट (आत्मक) होता हुआ विश्वमन्त्रमाग से भी आत्मन्त हो-रहा है।

१४१-विश्वोद्देश्येन ब्रह्मापत्यात्मसत्त्वाभ्यो का विचार-समन्वय, एवं त्रिपुरुषात्मक-प्रजापति की कारकताप्रती का दिग्दर्शन—

यदि विरक्त को उद्देश्य मान कर आत्ममन्त्रमाग्री का विचार किया जायगा तो हमें अन्वय-अक्षर का एक विभाग मानना पड़ेगा एवं अक्षर, तथा अक्षरमय विरक्त का एक विभाग मानना पड़ेगा। मनोमय अन्वय तथा प्राणमय अक्षर, दोनों की समष्टि की विश्वारम्भा करना पड़ेगा एवं वाक् मय अक्षर, या अक्षरमय मीतिक प्रपञ्च दोनों के समुन्वय की विश्व करना पड़ेगा। विरक्तमाग क्योंकि अक्षर से अविनाशित है। अतएव उसे हम योऽशीषु कहते हुए भी सद्योक्त नहीं करेंगे। विरक्त में भी पञ्चकला अक्षर प्रविष्ट है अतः विरक्त को भी पञ्चकलात्मक करने में कोई आपत्ति नहीं करींगे। अक्षर की इसी विश्वकर्मता को अक्षर की इसी निमित्तता ने एवं अन्वय की इसी पारखारिमय आलम्बनता को लक्ष्य में रखकर मन्त्रब्रह्मनने कहा है—

अः सर्वाणि मूतानि (अक्षरः)

कून्त्योऽक्षर उन्वयते (अक्षरः)

विमर्त्यकय ईश्वरः (अक्षरमयः)

‘योऽशीषु’

१४०-विरवात्मा के धरात्मक एकाग्र स विस्वात्म, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति—

यद्यपि यह ठीक है कि षोडशीयुरूप इस धरात्मक पादवीतिक विरव का आत्मा है यह इसका धर्म है यह उसका आत्मा बनता हुआ विरवात्मा है और इसीलिए दोनों के स्वरूप में कोई एक का अन्तर भी है तथापि धरदृष्ट्या हम उस विरव के साथ अभिन्न मानने के लिए समर्थ हैं। उस विरवात्मा का धर्म एकाग्र (धरणी) ही की विरव बना हुआ है “एकग्रहेण जगत् सर्वम्”। यही कारण है कि अग्नि विरवात्म रूप प्रजापति और उसकी विरवसृष्टि को अभिन्न मानते हुए यह कहा है कि-प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

प्रजापते ! न स्वदेवान्यन्यो विरवा रूपासि परि ता बभूव ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तथा अस्तु नय स्याम पतयो रयीषाम् ॥

—यजुसं ३३।६५।

१४३-विस्वानुषची ‘आत्मा’, एवं आरमप्रतिष्ठ-‘विरव’, तथा तन्निबन्धन ‘ब्रह्ममात्र’ का सम्मरस—

यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी वृद्धे शब्दी में षोडशी की विरवात्मा मानने हुए भी विरव को आरमप्रधान मानते हुए भी विरवदृष्ट्या हम आरमप्रधान को ही आत्मा कहेंगे जब ब्रह्मरूप मूर्तिक प्रपञ्च भी ही ‘विरव’ कहेंगे। अब एक सर्वथा स्वच्छ दृष्टि से विचार कीजिए। आरम की हमने मनीमूर्ति, आरम की मातृमूर्ति, आरम की बाह्यमूर्ति कहा है। एवं तीनों के विरवात्म से व्यपन्न दिक्क पदोद्गीर्णप्रजापति का स्वरूप निर्माणा ब्रह्मात्म्य है। इन में आरम की अमृत आरम को ब्रह्म एवं आरम को शुद्ध कहा गया है। तीनों की समष्टि को अमृत षोडशी प्रजापति कहा गया है। अब “न कम की बोझी वेर के लिए सर्वथा विलुप्त कर एक मनीम कम पर दृष्टि डालिए।

१४४-निगुण-षोडशी-सगुण-मबिकार-मात्रानुगत सत्य, यज्ञ का स्वरूप-समन्वय, एवं सबज्ञात्म्य सर्वशक्ति आरम, सर्ववित् आरम का स्वरूप दिग्दर्शन—

केवल आरम्य मायोपाधिक निगुण आरम्य है केवल आरम सत्य षोडशी है एवं केवल आरम सगुण मबिकार नव-यज्ञ प्रजापति है। विरवात्मा विरवप्रजापति है एका विचारिक वृत्तप्रपञ्च विरव है। केवल आरम्य से उत्पन्न है—आरम्य विज्ञान-मनीमूर्ति आरम्य विज्ञे रि पृथक् दृष्टि में हमने पञ्चरात्र आरम्य कहा था। पृथक् दृष्टि में निगुण आरम्य केवल मनीमय या किन्तु इस दृष्टि का निगुण आरम्य आरम्य-विज्ञान-मनमय है केवल आरम का व्यपन्न है—मन-मात्र-बाह्यमय आरम। मनीमय आरम आरम्य ॥ प्राग्मय आरम आरम है एका बाह्यमय आरम आरम है। निगुण आरम्य-विज्ञान मनीमय आरम्य मोहदा है। इस प्रकार निगुण व्यपन्नित मनीमय आरम्य यही आरम पञ्चरात्र आरम्य बनता हुआ (सर्वज्ञात्मक बन कर) विरव

अब आलम्बन बना हुआ है प्राणवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अक्षर बनता हुआ (सर्वशक्तिमान् बनकर) विश्व का निमित्तकारण है एवं वागवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अक्षर बनता हुआ (सर्वविद्—सर्वार्यमय बनकर) विश्व का उपादान बन रहा है ।

१४५—माया-कला-आदि परिग्रहों का सुष्ठ्वनुबन्धी तारतम्य-समन्वय, विभिन्न दृष्टियों से मपरिग्रह-प्रज्ञापति के विविध-विवरण एव तालिका-माध्यम से विवरण-सत्त्वों का स्वरूप-समन्वय—

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, पूर्वदृष्टि में हमने अक्षर को ही कलाप्रवर्तक बताया था । अब चतनरूप अक्षर ही निदध्वय को एवं अक्षर अक्षर को ५-५ कलाओं में विभक्त कर स्वयं भी पाँच कलाओं में परितो हो जाता है तो हम यह कहते हैं कि, वोडराकला विश्वात्मा का विश्वात्मस्व कैवल्य अक्षर ही है । स्वयं आत्मय पुरुष यह स्वीकार करते हैं कि—यद्यपि मैं अपने प्राक्सिक्क आत्मवरूप से “अक्षर (अकला)” हूँ । फिर भी अक्षर के द्वारा मुझे विश्वसम्भूति में अक्षर विश्वात्मा बनना पड़ता है क्योंकि “अज्ञोऽपि सन्” • इसादि से स्पष्ट है । अक्षर उस अपने रंग में रक्षित कर विश्वात्मा बना जाता है । ऐसी दशा में विश्वात्मा के आत्मय-अक्षर अक्षर इन तीनों विवरणों को हम अक्षरमय मानते हुए वोडरा-प्रज्ञापति को “अक्षरप्रज्ञापति” ही कह सकते हैं । इसप्रकार पूर्वदृष्टि का वोडरागर्भित आत्मय तो इसदृष्टि में निगुण आत्मय बन जाता है एवं केवल वोडरा का अक्षरभाग अपने त्रित्वाया मक मनः-प्राण-वाक् से वोडरापुरुष बन जाता है । यही वृत्ती अक्षरमयता है । वही वोडरा में ही आत्मय-अक्षर-अक्षर-य तीन संस्कारों की, यही कैवल्य अक्षर में ही मनो घटा आत्मय-अक्षर प्राणविया अक्षरसंस्था एवं वाग्विया अक्षरसंस्था का योग होता है । वही इस अक्षर आकाश-प्रज्ञापति की सर्वज्ञता (अम्बयवता) सर्वशक्तिमत्ता (अक्षरवता) एवं सर्वविद्या (अक्षरवता) है । “य सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप” + कला ब्रह्म यही अक्षरब्रह्म है जो कि सम्भव होने से उत ओर के मनोमय आत्मय को लेकर अक्षरमूर्ति इस ओर के वाङ्मय अक्षर को लेकर अक्षरमूर्ति एवं स्वात्मसंस्था प्राण के सम्बन्ध से अक्षरमूर्ति अतएव वोडराकल बनता हुआ सर्वशक्तिमान्-सर्वविद् बन कर विश्व का आलम्बन-निमित्त एवं उपादान बन रहा है । यदि “वी दृष्टि से प्राणानिक शास्त्र विशुद्ध पुरुष (आत्मय) को निर्लेप एवं अक्षय्य प्रकृति (अक्षर) को ही विश्वजननी मानता है तो वाङ्मयनिदान में क्या विप्रतिपत्ति है ?—“तृणामेको गन्ध । पूर्वदृष्टि से सम्बन्ध

• अज्ञोऽपि सन्नज्यपात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृति स्त्वां (अक्षर) अभिष्टाय सम्मवाप्त्यत्ममायया ॥

—गीता ४।५।

—यः सङ्गः सञ्चित्, यस्य ज्ञानमय तप ।

तस्मादतत्-ब्रह्म, नामरूप-मन्नश्च आपते ॥

—गुरुकोपनिषद् १।१।६।

रक्षने वाली तासिकाओं को लक्ष्य में रखते हुए निम्न लिखित तासिकाओं पर दृष्टि आशिए, दोनों का निर्मि-
रोधात्मक पाठकब मस्तीमोति गतार्थ होनायगा।

- | | | |
|-----------------------|---|--------------------------------------|
| १-आनन्दः (मनोमयः) | } | मनः-आनन्द-मायोतथिकी निगु क- 'अध्ययः' |
| २-विज्ञानम् (मनोमयम्) | | |
| ३-मनः (मनोमयम्) | | |



- | | | |
|---|---|---------------|
| १-(१) निगु क अध्ययः-मायोतथिक (मनः) | } | अक्षर (पोडशी) |
| २-(५) आनन्द विज्ञान मनः प्राक् बाह्मन् पञ्चकतोऽक्षरोऽक्षरात्मकः-प्राक्मन्-मनः | | |
| ३-(५) बाह्मन् विम्वरान्निरोममयः पञ्चकतोऽक्षरोऽक्षरात्मकः-प्राक्मन्-प्राक् | | |
| ४-(५) बाह्मन् विम्वरान्निरोममयः पञ्चकतोऽक्षरोऽक्षरात्मकः-प्राक्मन्-बाह्मन् | | |



- | |
|--|
| (१) १-आनन्द-विज्ञान-मनोमूर्तिमनोमयः-निगु क अध्ययः (एकलः)-मावी |
| (५) २-प्राक्मूर्तिरक्षरो मनोमयः-पञ्चकतामिच्छीऽक्षरात्मकः-अक्षर (अक्षरमूर्तिः) |
| (५) ३-प्राक्मूर्तिरक्षर, प्राक्मन्-पञ्चकतामिच्छीऽक्षरात्मकः-अक्षर (अक्षरमूर्तिः) |
| (५) ४-प्राक्मूर्तिरक्षरो बाह्मन्-पञ्चकतामिच्छीः क्षरात्मकः-अक्षर (अक्षरमूर्तिः) |



॥ एष पोडशीप्रज्ञापवि सकल



१४६-तालिका-प्रदर्शित विवर्णमार्गों का यथापूर्ण समन्वय-प्रयाम—

पूर्व-तालिकाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि बोद्धरीप्रभापति के सम्बन्धमानने (पञ्चकल-अथवा पञ्चकल सम्बन्धमानने) यहाँ आकर निगुण-मायिक सम्बन्ध का आसन ग्रहण कर लिया एवं बोद्धरी के निहत्-माकभूति अथवा मन-प्राण-वाक् भूति अथवा नीहरी का आसन ग्रहण कर लिया। अब बच गया बोद्धरी का निहत्-वाक्-मन अथवा अस्मत्प्रमाण। यही अस्मत्प्रमाण अपने विकारमय की लेकर आगे आकर एक एव ब्रह्म रूप में परिणत होता है।

१४७-पञ्चविध 'गुणभूतों' का स्वरूप-विस्तार एवं उदाधारेण वाक्-आप-अग्नि-रूपा शुक्रत्रयी की अभिव्यक्ति—

अस्तव वाक्-मय है वह कहा जा चुका है। यही वाक्मय अक्षर की पाँच कलाओं के समन्वय से अस्तव में (पञ्चकल-मय में) परिणत होता हुआ अस्तवः प्राण-आप-वाक् अस्त-अस्तव इन पाँच 'गुणभूतों' का बनक बनता है। वाक्-मय अस्तव अस्तव से प्राण का वाक्-मय अस्तव अस्तव से आप का वाक्-मय अस्तव अस्तव से वाक् का वाक्-मय अस्तव अस्तव से अस्त का, एवं वाक्-मय अस्तव अस्तव से अस्त का अस्तव अस्तव होता है। वे पाँच ही 'विकारचर' वाक्-मय अस्तव में अस्तव होते हुए अस्तव ही कहलाते हैं। अस्तवकार अस्तव का मन निहत् है अक्षर का प्राण निहत् है अस्तव यह अस्तवकार वाक् भी निहत् ही मानी गई है। वाक्-मय मन वाक्-मय प्राण वाक्-मयी वाक् वे ही तीन अस्तवः वाक्-आप-अग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

१४८-शुक्रत्रयी का पञ्चविध चरों के साथ सम्बन्ध-समन्वय—

वाक्-मय वाक्-मय मन है इस का अस्तव अस्तव प्राण-विकार के साथ सम्बन्ध है। आप-मय वाक्-मय प्राण है इस का अस्तव अस्तव-अस्तव आप-वाक् के साथ सम्बन्ध है। अग्नि-मय वाक्-मयी वाक् है (अग्नि-मय वाक्) एवं इस का अस्तव अस्तव अस्तव अस्तव के साथ सम्बन्ध है। अस्तवकार अस्तव का पाँचों चरों में उपयोग होता है अस्तव अस्तव अस्तव अस्तव से स्पष्ट है—

१-प्राण (वाक्)	} — वाक्-मय मन (वाक्-मयिता — 'वाक्')	} — 'चर'
२-आप (अस्तव)		
३-वाक् (अस्तव)		
४-अस्तव (अस्तव)		
५-अस्तव (अस्तव)	} — वाक्-मय प्राण (वाक्-मयिता — 'आप')	}
६-अस्तव (अस्तव)		
७-अस्तव (अस्तव)		
८-अस्तव (अस्तव)		
९-अस्तव (अस्तव)	} — वाक्-मयी वाक् (वाक्-मयिता — 'अग्नि')	}
१०-अस्तव (अस्तव)		
११-अस्तव (अस्तव)		
१२-अस्तव (अस्तव)		

१४६ मन-मान-वाक् के त्रिपुत्रभाव का मासिक रहस्य, एवं त्रिपुत्रभाव के विविध प्रक्रम-अविक्रम—

[illegible]

११०-शिवदूतमाधुषी विस्तार त अनुप्राणिता प्राप्तापयन्त्यार्था के १-३-६
शब्दापुराण विस्तार—

[illegible]

१११-त्रिगुणावनिर्वापन अर्थात् अथर्, एत गुणा व ताभिरु मदिमामाव—

[illegible]

तीनों भाव ज्ञानप्रधान हैं मनःप्रधान हैं। अक्षर के तीनों भाव क्रियाप्रधान हैं, प्राणप्रधान हैं। एवं चर के तीनों भाव अर्थप्रधान हैं, वाक्प्रधान हैं। इसी से यह भी मान लेना पड़ा कि, ज्ञानप्रधान अर्थवस्तु के गर्भमें रहने वाले तीनों अव्ययरूप हैं। क्रियाप्रधान अक्षरवस्तु के गर्भ में रहनेवाले तीनों अक्षररूप हैं। एवं अर्थप्रधान चरवस्तु के गर्भमें रहने वाले तीनों चररूप हैं।

१५०-अव्यय की अक्षररूपता, एवं अक्षर की चररूपता का समन्वय—

अब ही यह भी स्मरण रखिए कि अक्षरार्थमें केवल मनोमय रहने वाला अव्यय ही त्रिहृत्-प्राणमय अक्षररूप में परिणत हुआ। एवं त्रिहृत्-अक्षर का वागुपाग ही त्रिहृत्-चररूप में परिणत होमा। अब यह भी देख लीजिए कि, वे त्रिहृत्-रूप किन किन नामों से व्यञ्जित हुए।

१५३-मायापरिग्रहात्मक त्रिहृद्भावापन्न मनोमय अव्ययत्मा, एवं तस्मिन्मना 'अव्ययत्मा'—

मनोमय अव्यय का मनोमय मन आनन्द कलाया मनोमय प्राण विज्ञान^१ कलाया एवं मनोमयी वाक् 'मन' कलाया। यही पहिली त्रिगुण-अव्यय-संस्था कलाई। परिग्रही में वहाँ केवल कर्मादिमूढ मायापरिग्रह का विकास हुआ।

१५४-त्रिहृद्भावापन्न प्राणमय अक्षरात्मा—

मनोमयी वाक् जिसे कि प्राण अव्ययमन कहा जाएगा आगे आकर अक्षरविवर्त के विकास का कारण बनी। मन ही प्राणमय क्रियाप्राण में परिणत होता हुआ अक्षर का अनुपादक बना। इसी से अक्षर प्राणमय कलाया। प्राणमय अक्षर का प्राणमय मन मन कलाया प्राणमय अक्षर का प्राणमय प्राण प्राण कलाया एवं प्राणमय अक्षर की प्राणमयी वाक् 'वाक्' कलाई। इस प्रकार केवल त्रिहृत्-प्राणमूर्ति अक्षर मन-प्राण-वाक्-एन तीन रूपों में परिणत होमा।

१५५-कलापरिग्रहात्मिक-अक्षरसंस्था—

यही प्राणमय अक्षरमन किंवा मनोमय अक्षर पञ्चकला अव्यय बना यही प्राणमय अक्षरप्राण किंवा प्राणमय अक्षर पञ्चकला अक्षर बना एवं यही प्राणमय अक्षरवाक् किंवा वाक्मय अक्षर पञ्चकला चर बना। त्रिहृत्-प्राणमूर्ति अक्षर की इसी १५ कलाधीन उक्त मनोमय त्रिगुण-अव्यय की मूलाधार बनाने हुए पाञ्चरीप्रज्ञापति नाम चरण किया। यही दूसरी सफला-अक्षरसंस्था कलाई। परिग्रही में वहाँ 'कलापरिग्रह' की प्रधानता रहती। कलाविकार ॥ ही अक्षर 'पाञ्चरी' बन गया।

१५६-त्रिहृद्भावापन्न वाक्मय चरात्मा—

अक्षर के तीनों विनोदों में से तीतय वाग् विनोद हमारे सामने आया। प्राणमयी चर वाक् जिसे कि मन हम अक्षरप्राण कहेंगे आगे आकर अक्षरविवर्त के विकास का कारण बनी। इसी के समन्वय से चर-

वाङ्मय प्राप्त बागविक्रय अथवाच में परिकृत होता हुआ चरका अनुपादक बना । इसी से चर वाङ्मय कहलाता । वाङ्मय चर का वाङ्मय मन वाक् कहलाता वाङ्मय चर का वाङ्मय प्राप्त अथवा कहलाता एव वाङ्मय चर का वाक् भाग अग्नि कहलाता । "उपचर केवच निरुपचर मृति चर वाक् तन्वा वाक्-आय-अग्नि-एन तीन रूपोंमें परिकृत होमाया ।

१५७-प्रकृतिमातृनिष्पन्न-परिग्रहो ऋ विविध-समाश्रय, एषां त्रिषुऋष्युल्यानुबन्धो र्त्तान् विदधौ ऋ आदिमात्र—

यही वागात्मक वाङ्मय (मनोमय) घर प्राप स [ब्रह्मरूपिणी पहिली प्राप कथा से] लक्ष्म
 र वेदव्यास से प्रकृत हुआ वैश्वि- "अनादिनिबना निस्वा ब्रह्ममग्न्या स्वबन्धुषा "आग्निहोत्र
 ब्रह्म" इत्यादि से स्पष्ट है । वाङ् का यही गुणात्मक रूप "मन्त्र" कहलाता है। वैश्वि पूर्व में स्पष्ट कि
 जाना है । आगे आकर यही वागात्मक आध्यात्म (प्राणमय) घर प्राप से [ब्रह्मरूपिणी द्वितीया प्राप
 कथा से] लक्ष्मण बन आहुतिहोत्र (होम) बना एवं यही वागात्मक अग्निमय (वाङ्मय) घर प्राप से
 [ब्रह्मरूपिणी तृतीया प्राप कथा से] लक्ष्मण प्राप्त कर आहुतिहोत्र (अग्नि) रूप से प्रकृत हुआ ।
 "न तीर्त्तों के सम्बन्ध से लक्ष्मण का विधान हुआ । इसप्रकार घर के वाङ् प्राप-अग्नि (मन)
 प्राण-प्राङ् । इन तीनों में कमरा प्राण-प्राप-वाङ् "न तीर्त्तों के कमरे लक्ष्मण से कमरा : "वाङ्मयब्रह्म
 मन्त्रम्" "आध्यात्मिक - (आध्यात्मिक) आहुतिहोत्रम्" - "अग्निमय-आहुतिहोत्रम्" (वेद-सोम-अग्नि)
 नामक तीन विध में अग्निमय अग्निहोत्र है ।

१५८—विश्वनाथजी की समष्टिरूप सन्धेवद, एवं शिष्टश्रुतिभाषाभा 'दरात्मसंस्था' का स्वरूप समझप—

उक्त टीनों की समष्टिकर 'सम्बन्ध' का स्वरूप विभाग रहा यही परिघों में है 'गुणपरिग्रह' की ये चतुर्भूमि बना। इहाँ के आधा पर [क्षेत्रों के आधार पर] जावेस्य साथ होम एवं राष्ट्र अग्नि 'न' दोनों का सम्बन्ध हुआ। इहाँ टीनों का समन्वितरूप 'वज्र' कहा गया। यही आन्तर परिघों में है 'विच्छेद' नाम के बीच पाँचह का विभाग हुआ। इसकारे व्यक्त ही बाह्य-आन्तर-अग्नि के तात्पर्य है गुण-विच्छेद परिघों में युक्त होता हुआ पहिले सम्ब-प्रज्ञापति बना यही सगुणप्रज्ञापति कहा गया, एवं पीछे यह है युक्त होकर स्वयन्विच्छेद परिघ के अगुणरूप का 'वज्र-प्रज्ञापति' का गया यही स्वविच्छेदप्रज्ञापति कहा गया। "न" टीनों संस्थाओं का मूलाधार केवल 'चरतन्त्र' [बाह्यसक चरतन्त्र] ही बना अन्तर्य इन यही प्रज्ञापति-संस्थाओं का हम 'चरमस्वार्थ' नाम की एक ही संस्था करीये।

१५६-अमृत-महा-शुक्र-मारों का दृष्टिकोसमेदनिबन्धन विमिश्र समन्वय—

पात्रों की समझ है कि पूर्वज में हमने पौधों के विकास किंवा वनस्पत सम्बन्ध को 'अमृत' कहा था। अक्षरों की 'अक्ष' कहा था, एम. अक्षरों की 'शुद्ध' कहा था। वस्तु वाचक वह कम भी रहता था। इस निर्गुण विकास अध्ययन समुक्त कक्षाएँ सज्जन [पाठ्यक्रम] अक्षरों में कक्षाएँ,

एवं पञ्चकल किया त्रिकल चर शुक कहाएगा। वहाँ के अमृत में पञ्चकल अभ्यस था वहाँ के अमृत में त्रिकल किया त्रिकल अभ्यस है। वहाँ के त्रय में पञ्चकल अक्षर था वहाँ के त्रय में पञ्चकल अमृताभ्यस-पञ्चकल त्रयाक्षर-पञ्चकल शुकचर, इन तीनों का समन्वय है। वहाँ के तीनों वहाँ केवल त्रय मन रह हैं। वहाँ के शुक में पञ्चकल पोडरी वाला लकल चर था एवं वहाँ के शुक में गुण विक्षर-मुक्त त्रिकल चर है।

१६०-ज्ञान किया अर्ध-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थाश्रयी, एवं विभिन्न-ताक्षिक्यों के माध्यम से तत्स्वरूप-समन्वय--

इत्यकार केवल त्रिह्रमाश की कृपा से वह एक ही तत्त्व माया-कला-गुण-विक्षर इन चार परिमही के क्रमिक सम्बन्ध से निर्गुण-पोडरी-सत्य-यज्ञ "न चार स्वर्णों में परिणत हो जाता है। चारों में निर्गुण मनोमय अभ्यस है पोडरी प्राणमय अक्षर है सत्य-यज्ञ की छपति वाङ्मय चर है। इत्यकार सत्ययज्ञ के समन्वय से चार के तीन ही वर्ग शेर रह जाते हैं। अव्ययस्मसंस्था ज्ञानप्रधाना है अक्षरस्मसंस्था क्रियाप्रधाना है, एवं चरस्मसंस्था अर्थप्रधाना है। अव्यय आत्मा है अक्षर पोडरी आत्मन्वी है एवं चर सत्य-यज्ञात्मक आत्मन्वी है। किन्तु पांडा दुःख है अतः आगे की ताक्षिक्यों से इस दुःखता का समाप्त बनावक्रम व्यवच्छेद कर लेना चाहिए।

ॐ-‘मनः’ ~ ‘ज्ञानम्’ -- ‘तत्रैव सर्वं परिसमाप्यते’

| (‘सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते’)

१ (ॐ-‘मनः’ -) मनः-प्राण-वाक् त्रिह्रमाश

१-मनः	[१	१-मन (ज्ञानम् -मन)	[१-मन (मन -प्राण)	
		२	१-प्राणः (विज्ञानम्-मन)		२-प्राण (प्राणः प्राण)	
		३	१-वाक् (मन -मन)		३-वाक् (वाक्-प्राण)	
२-प्राणः	[१	
१-वाक्		१-मन (वाक्-वाक्)	
					२	
					२-प्राण (आत्मा वाक्)	
१-वाक्	[३	
					१-वाक् (अग्नि वाक्)	
					१	

७—प्रकरणान्तरया—

१ ज्ञानम्—	<div style="border: 1px solid black; padding: 5px; display: inline-block;"> १-ज्ञानम् २-क्रिया ३-अर्थः </div>	—	[१-ज्ञानम् २-क्रिया ३-अर्थः	—	ज्ञानार्थमिति—ज्ञानप्रधानं—ज्ञानक्रियार्थम्—त्रिषुतः—'ज्ञानम्'
२-क्रिया—	—	—	—	—	—	ज्ञानार्थमिति—क्रियाप्रधाना—ज्ञानक्रियार्थम्—त्रिषुतः—'क्रिया'
३-अर्थः—	—	—	—	—	—	ज्ञानक्रियार्थम्—अर्थप्रधानं—ज्ञान- क्रियार्थम्—त्रिषुतः—'अर्थः'



१	१—मनीषया—अध्यय—अभ्युत्थम् २—मानस्य—अध्यास—अध्यास ३—वाट मय—अध्यास—अध्यास	—	—	—	—	“तद्विदं—सर्वम्”
७	१—ज्ञानमया—अध्यय—अभ्युत्थम् २—क्रियामय—अध्यास—अध्यास ३—अध्यास—अध्यास—अध्यास	—	—	—	—	“तद्विदं—सर्वम्”

१-अभ्यधाचरधराणां-मनःप्राप्तिवाङ्मयानां त्रिवृत्त्यावः—

१-अभ्ययः	१-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)		
	२-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)		
	३-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)		
२-अभ्ययः		१-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)	
		२-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)	
		३-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)	
३-अभ्ययः			१-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)
			२-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)
			३-अभ्ययः (अभ्ययः-मन्त्रः)

२-अभ्यय-मन्त्र-शुद्धाणां-अभ्यधाचरधराणां त्रिवृत्त्यावः—

१-अभ्ययम्	१-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)		
	२-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)		
	३-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)		
२-अभ्ययम्		१-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)	
		२-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)	
		३-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)	
३-अभ्ययम्			१-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)
			२-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)
			३-अभ्ययम् (अभ्ययः-मन्त्रम्)

१-निर्गुणायामसंस्था-‘मायापरिग्रहोपेता’-‘अव्यय’ अमृततामा-

- १०
- १-ज्ञानन् [मनोमय मन -ज्ञानम्-अव्ययः अमृतम्]-[मन ज्ञानं अव्ययं अमृतम्]
- २-विज्ञानम् [मनोमयः प्राणः क्रिया-अक्षरः ब्रह्म]-[मन ज्ञानं अव्ययं अमृतम्]
- ३-मन [मनोमयी-वाक्-अर्थः चरः शुक्लम्]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययं अमृतम्]
- आत्मा

२-अक्षरात्मसंस्था-‘कलापरिग्रहोपेता’-‘अक्षर’ षोडशी’ ब्रह्मात्मा-

१-मायोपेता -मनोमयो-ज्ञानमयोऽमृतमय -अव्ययः (निर्गुणः, -तुरीयः)

- १
- पोडशीप्रज्ञापति
- २-ज्ञानन्द-विज्ञान-मनः -प्राण -वाक् मयः पञ्चकसोऽक्षरः -मन [अमृतम्]
- ३-ब्रह्म -न्द -विध्यव -मि-सोममयः पञ्चकसोऽक्षरः -प्राण [ब्रह्म]
- ४-ब्रह्म -न्द -विध्यव -मि-सोममयः पञ्चकसोऽक्षरः -वाक् [शुक्लम्]
- ब्रह्म

(२) प्रकारान्तरेण- (अक्षरात्मसंस्था-‘षोडशीप्रज्ञापतिः ब्रह्मात्मा’ अक्षरात्मकः)

१-मनोमयोऽव्ययः [तम्]

- (२) षोडशी प्रज्ञापति
- १-मन [प्राणामयः -मन -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतम्]-[प्राण -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]
- २-प्राण [प्राणामयः -प्राणः क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -मयः]
- ३-वाक् [प्राणामयी-वाक्-अर्थः -चरः-शुक्लः]-प्राण -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]
- ब्रह्म

४-समष्टिपरिच्छेदः—(परात्पर-अवयव पोहंशी-सत्य-यज्ञ-प्रदर्शक) ।

● मन्त्रवक्षसिदिशिष्टममूर्तिः अक्षयः निरञ्जनः निराभर नित्यनिर्गुण विरवादीष परात्पर

(१)

● आनन्दः
● विज्ञानम्
● मनः ●

निर्गुण अवयवः

[२]

● आनन्दमयः आनन्दः (मन-मनः) ---	---	---	“आनन्दम्”	लि
(१) ● विज्ञानमयं विज्ञानम् (प्राक्)-मनः] ---	---	---	“विज्ञानम्”	
● मनोमयं मनः ● (वाक्-मनः ●)-मनः] ---	---	---	“मनः”	
(२) १-आनन्दमयः “आनन्दः” ● (मनः ●)	} --- मन	}	“मनः”	प
(३) २-विज्ञानमयः “विज्ञानम्” ● (प्राक्)				
(४) ३-मनोमयः “मनः” ● (वाक्-मनः ●)				
(५) ४-मनोमयः “प्राक्” ● (प्राक्)	} --- मन	}	“मनः”	जा
(६) ५-मनोमयः “वाक्” ● (वाक्-मनः ●)				
(७) ६-आनन्दमयः “अक्षरमयः” (मनः ●)				
(८) ७-विज्ञानमयः “अक्षरविष्णु” (प्राक्)	} --- प्राक्	}	“प्राक्”	प्र
(९) ८-मनोमयः “अक्षरम्” (वाक्-मनः ●)				
(१०) ९-आनन्दमयः “अक्षरमयः” (प्राक्)				
(११) १०-आनन्दमयः “अक्षरमयः” (वाक्-मनः ●)	} --- प्राक्	}	“प्राक्”	शी
(१२) ११-आनन्दमयः “अक्षरमयः” (मनः ●)				
(१३) १२-विज्ञानमयः “अक्षरविष्णु” (प्राक्)				
(१४) १३-मनः-अक्षरमयः “अक्षरम्” (वाक्-मनः ●)	} --- प्राक्	}	“प्राक्”	उ
(१५) १४-विज्ञानमयः “अक्षरमयः” (प्राक्)				
(१६) १५-आनन्दमयः “अक्षरमयः” (मनः ●)				

[३]

आनन्दमयः-अक्षरमयः-“प्राक्” मनः ●	--- विज्ञान	}	“प्राक्”	मन्त्र-यज्ञ-प्रकारिणि
विज्ञानमयः-अक्षरमयः-“आनन्द” प्राक्	---			
१ मनः-अक्षरमयः-“अक्षरम्” (वाक्-मनः ●)	---			
२ प्राक्-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (प्राक्)	---	}	“अक्षरम्”	
३ मनः-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (मनः ●)	---			
४ प्राक्-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (प्राक्)	---			
५ मनः-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (मनः ●)	---	}	“अक्षरम्”	
६ प्राक्-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (प्राक्)	---			
७ मनः-अक्षरमयः-“अक्षरमयः” (मनः ●)	---			

४—समष्टिपरिलेख —

* सर्वबलविशिष्टरसमूर्तिः—“परात्परा” (विश्वासीतः) ।

- आनन्द
- विज्ञानम्
- मनः

● मनः

- आनन्दमय—आनन्द—मन (मन) आनन्द
- विज्ञानमय—विज्ञानम्—प्राण (मन) विज्ञानम्
- मनोमय—मन—वाक् (मन) मन ३

- १—आनन्दगमित—आनन्द—मन ● }—मनः
- २—विज्ञानगमित—विज्ञानम्—प्राण }—मन
- ३—मनोगमित—मन—वाक् (मन) ● }—मन १
- ४—मनोगमित—प्राण—प्राण }—मन
- ५—मनोगमित—वाक्—वाक् (मन) ● }—मन

- १—आनन्दगमित—अक्षरब्रह्मा—मन ● }—प्राण
- २—विज्ञानगमित—अक्षरविष्णु—प्राण }—प्राण
- ३—मनोगमित—अक्षरेन्द्र—वाक् (मन) ● }—प्राण
- ४—प्राणगमित—अक्षरसोम—प्राण }—प्राण
- ५—वाक्गमित—अक्षरोऽग्नि—वाक् (मन) ● }—प्राण

- १—आनन्द—अक्षरब्रह्मगमित—ब्रह्म—मन ● }—वाक्
- २—विज्ञान—अक्षरविष्णुगमित—विष्णु—प्राण }—वाक्
- ३—मन—अक्षरेन्द्रगमित—इन्द्र—वाक् (मन) ● }—वाक्
- ४—प्राण—अक्षरसोमगमित—सोम—प्राण }—वाक्
- ५—वाक्—अक्षरोऽग्निगमित—अग्नि—वाक् (मन) ● }—वाक्

- १—आनन्द—अक्षरब्रह्मा—अक्षरविष्णुगमित—प्राण—मन ● }—विचार }—वाक्
- २—विज्ञान—अक्षरविष्णु—अक्षरविष्णुगमित—प्राण—प्राण }—विचार }—प्राण
- ३—मन—अक्षरेन्द्र—अक्षरेन्द्रगमित—वाक्वाक् (मन) ● }—विचार }—वाक्
- ४—प्राण—अक्षरसोम—अक्षरसोमगमित—प्राण—प्राण }—विचार }—प्राण
- ५—वाक्—अक्षरोऽग्नि—अक्षरोऽग्निगमित—वाक्वाक्—वाक् }—विचार }—अग्नि

[४] प्रकारान्तरेण—[समष्टिपरिलेख] ।

अमृतम्—१—निगु शास्त्रसंस्थामयी मात्री— 'अमृतम्' १७— पञ्चपा (अमृतमात्रा) १ ।
 ब्रह्म— २—संज्ञात्मकसंस्थामयी लक्ष्मी— पोद्दरीप्रजापति १—आत्मन्वी (अमृतमात्रा) १ ।
 शुक्लम्— १—
 • लक्ष्मीसंस्थामयी लक्ष्मी— "सत्यप्रजापति" १७—आत्मन्वी
 • अविष्कारसंस्थामयी लक्ष्मी— "अमृतप्रजापति" १७—आत्मन्वी
 (अमृतमात्रा) १ ।

१६१—आत्मसंस्थाधारी का स्वरूप—संस्मरण—

उक्त तीनों आत्मसंस्थाधारी में से २ के सम्बन्ध में तो सब कोई विशेष बतलाने नहीं रहा । ईह तीनों आत्मसंस्थाधारी का स्वरूप ही अभी और भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रह रही है । इसी अपेक्षा की पूर्ति कर वह 'परिष्कारप्रकरण' समाप्त किया जाता है ।

६२—विचारप्रपञ्चानुगता विज्ञाननिबन्धना विश्वसृष्ट, पञ्चजन, पुरज्जन-पत्री, एवं दर्शननिबन्धना गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप—समस्तुलन—

'अमृतसंस्था धारक' है, एवं वह उस विषयमय के कारण वाक्-आप अग्नि इन तीन नामों में विभक्त है । वाक् ही इन तीनों की समष्टि 'शुक्ल' नाम से प्रसिद्ध है । यह स्पष्टीकरण तो पूर्व प्रकरण से गतार्थ है । इसे लक्ष्मी में स्पष्ट रूप ही आगे का विचार करना है । वाक्-मय चर की ब्रह्मादि पाँच कलाओं से अमृत 'मात्रा-आप-वाक्-अणु-अणु' के पाँच विचार उत्पन्न हुए । इन पाँचों के पञ्चीकरण से इसी नामों से शुद्ध पाँच पञ्चीकृत-मात्रादि का विकास हुआ । इन पञ्चीकृत पाँचों मात्रादि के सम्बन्ध से पञ्च-पञ्चीकृत मात्रादि विकसित हुए । इसप्रकार ब्रह्मनिबन्धना इसी पञ्चीकरणमय से आत्मचर की ब्रह्मादि कलाओं से उत्पन्न मात्रादि विकासधारी के विशुद्ध विकारचर, पञ्चीकृत विकारचर, पञ्चपञ्चीकृत विकारचर, व तीन विभागा होगे । विकासप्रपञ्च के ये ही तीनों विभागा विज्ञानमाया में अमृत विश्वसृष्ट-पञ्चजन-पुरज्जन इन नामों से स्पष्टकृत हुए । दर्शनमाया में ये ही अमृतः गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत इन नामों से प्रसिद्ध हुए ।

१६३—गुणभूतात्मक 'विश्वसृष्ट' तथा अणुभूतात्मक 'पञ्चजन' का तात्कालिक पञ्चीकरण एवं रेणुभूतात्मक 'पुरज्जन' की स्पष्ट अगिम्यक्ति, तथा तन्निबन्धन पुरमावात्मक विश्व का संस्मरण—

इन तीनों विश्वों के सम्बन्ध में वह भी बतलाना चाहिए कि, विश्व में—गुणभूतरूप विश्वसृष्ट, (विकारचर) पञ्च अणुभूतरूप पञ्चजन (पञ्चीकृत विकारचर) कभी स्वतन्त्र नहीं मिलेंगे । चर की कलाओं से अति कमय विश्वसृष्ट मात्रादि विचार का विकास होता है । अतस्त इनका पञ्चीकरण होना है ।

विरपक्षट् पञ्चजनरूप में परिणत होजाते हैं । पञ्चजन अन्वयवहितोत्तरकाल में ही 'पुरञ्जन' रूप में परिणत होजाते हैं । इसपक्षर तीनों में अन्त का पुरञ्जनरूप ही शेष रह जाता है । विकार-प्राण पञ्चीकृत-प्राण बना यही आगे बाकर चक्षुःत्मक-पुरञ्जन बना । विकार-आपः पञ्चीकृत-आपः बना यही आगे बाकर श्रोत्र-त्मक-पुरञ्जन बना । विकार-वाक् पञ्चीकृत-वाक् बनी यही आगे बाकर देवात्मक-पुरञ्जन बना । विकार-अन्न पञ्चीकृत-अन्न बना यही आगे बाकर परमात्मक-पुरञ्जन बना । विकार-अम्ल पञ्चीकृत-अम्ल बना यही आगे बाकर मूलात्मक-पुरञ्जन बना । तात्पर्य्य इसका यह निकला कि प्राण-आप-वाक्-अन्न-अम्ल ये पाँच विकारश्चर पञ्चीकृत 'सत्य' प्राणादि रूप में परिणत होते हुए अन्त में वेद-श्रोत्र-देव-पशु-मृत इन कर्तों में परिणत होमाए । इनमें वेदपुरञ्जन वाक्शुद्ध कहलाया लोक-देव-पुरञ्जन आपशुद्ध कहलाया एव पशु मृत पुरञ्जन 'अग्निशुद्ध' कहलाया । २१२ में वृष्ट की अमक्षिप्रवर्णनार्थिमाय ताक्षिका के वर्णन की विकारकुर्यात्मिका ताक्षिका का इत दृष्टि से निम्नलिखित स्वरूप हमारे सामने आया—

१६४—विरवतीत 'परात्परप्रज्ञा' जुगत रस-प्रल के अनुग्रह से पदविष-प्राज्ञापत्य—
विवर्तों में 'अमृत' 'मृत्यु' भावों का अपेक्षामेद—निबन्धन-समन्वय—

अमृत-प्रज्ञा-शुद्ध इन उक्त तीनों संस्थाओं के अनेक विवरण बताए गए। उन सब विवरणों का पर्याप्त-विवरण उसी 'रस-प्रज्ञा' तथा पर माना गया है। रस अमृत है, प्रज्ञा मृत्यु है। दोनों के सम्बन्ध-व्यवस्थित से उस एक ही के अनेक रूप हो जाते हैं। विषयों अमृत की प्रधानता रहती है वह अमृतसंस्था कहलाती है। एवं विषयों मृत्यु की प्रधानता रहती है वह मृत्युसंस्था कहलाती है। पूर्व-पूर्व के आत्मविषयों में उत्तर-उत्तर के आत्मविषयों की अपेक्षा अमृत (रस) की प्रधानता है एवं पुरुषसंस्थापेक्षया उत्तरसंस्था में मृत्यु (प्रज्ञा) की प्रधानता है। इस दृष्टि से विषय-सम्बन्धी ६ विषयों में से आद्यस्थ के निम्न (निर्गुण आत्मविषय एवं निर्गुणभावमय विषय) का अमृत एवं मृत्यु प्रधान ही है। परम मध्य के चार विषय (पोद्गरी-सत्त्व-रज-विराट्) अपेक्षया अमृत ही है मर्त्य ही है।

१६५—'अव्ययसंस्था' की निष्कैल्या—'अमृतरूपता', तथा 'विरवसंस्था' की विशुद्धा—
'मृत्युरूपता' का समन्वय—

इसी दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अव्ययसंस्था अमृत है एवं अव्ययसंस्था अव्यय की दृष्टि से मर्त्या है। चर की दृष्टि से अव्ययसंस्था अमृता है एवं अव्यय की दृष्टि से पूर्वतास्त्रिका प्रवर्तित वाक्—आत्म-अग्नि-मयी चरसंस्था मर्त्या है। परन्तु आगे की विषयसंस्था की अपेक्षा यही चरसंस्था अमृता बनी हुई है एवं इस स्वयं-व्यक्तिगत चरसंस्था की अपेक्षा वह विराट्संस्था मर्त्या बनी हुई है। विरवसंस्था यही विषयसंस्था अमृता बनी हुई है एवं विराट्संस्था विरवसंस्था मर्त्य बन रही है।

१६६—अमृतनिबन्धन अव्यय, और—'आत्मा', अमृत-मृत्यु-निबन्धन-पोद्गरी मृत्यु,
यज्ञ विराट और आत्मन्वी', तथा मृत्युनिबन्धन विषय—

निष्कर्ष यही निकला कि आत्मसंस्था अव्यय विशुद्ध अमृतरूप है आत्मसंस्थासंस्था विश्व विशुद्ध मृत्युमय है एवं सम्बन्ध पोद्गरीप्रज्ञापति सत्त्वप्रज्ञापति रजप्रज्ञापति विराट्प्रज्ञापति ये चारों प्रज्ञापति / जिन्हें कि हमने 'आत्मन्वी' कहा है) अपेक्षया अमृत-मृत्युमय बनते हुए अव्ययमय बनते हुए हैं।

१६७—'प्रज्ञापति: प्रज्ञा सरराज' मूलक 'प्रज्ञापति' रूप 'आत्मा' तथा प्रज्ञा रूप
'विश्व' का स्वरूप-समन्वय एवं आत्म-विरव-सम्प्रदायात्मक—'आत्मन्वी'—

यही कारण है कि प्रज्ञापति का स्वरूप बतलाते हुए श्रुति ने इस प्रज्ञापतिमय की ॥ ॥ अव्ययमय बतलाया है जेवा कि—“अथ ह वै प्रज्ञापतेरहमनो मर्त्यमासीदथ ममृतम्” (शतपथब्रा० १ अ० १) इत्यादि वाक्यभूति से स्पष्टतम है। न आत्मा प्रज्ञापति है न विश्व प्रज्ञापति है। अपितु विश्व और आत्मा दोनों का समुच्चय ही प्रज्ञापति है। और यह ही तत्त्व न अव्ययात्मा में विकसित है न विश्व में विकसित है। अस्तु मध्य के चार आत्मविषयों में ही विकसित है। पोद्गरीप्रज्ञापति का पञ्चम अव्यय

आमा है पञ्चम अक्षर पञ्चम अक्षर इसकी प्रकृति विरह है। अथवा मनापद समूह है तो अक्षर-मनापद
यही माय भी है। ११-विभिन्न ल-प्रकारों का लय भाग समूह है एवं यत्र भाग प्रकारों की संख्या बराबर
है। १२-विभिन्न ल-प्रकारों का यत्र भाग बराबर है एवं विभिन्न भाग इन की संख्या बराबर है। १३-विभिन्न ल-प्रकारों का यत्र भाग
बराबर है एवं विभिन्न भाग इन की संख्या बराबर है। १४-विभिन्न ल-प्रकारों का यत्र भाग बराबर है एवं विभिन्न भाग इन की संख्या बराबर है।
सम्यक्-प्रकार इन बीजों का सम्बन्ध निम्न प्रकार है। प्रकारों प्रत्यक्ष वर्तमान " ही प्रकारों का भाग
लक्षण माना गया है।

१-विभिन्न ल-प्रकार	अमनम् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा
१-विभिन्न ल-प्रकार	मन् (अमनम्)	आमा

(१) — १ — निर्गुण-अव्ययः (आत्मा अमृतम्) आत्मा (अमृतम्)

(२) — १ — षोडशीप्रजापति —

१ — पञ्चभोऽयम् आत्मा (अमृतम्)

२ — पञ्चभिराः पञ्च शरीरम् (मृत्युः)

} षोडशीप्रजापतिः (आमन्वी)

(३) — २ — सत्यप्रजापति —

१ — सत्यवेदत्रयी आत्मा (अमृतम्)

२ — सत्योऽग्निहोमवः शरीरम् (मृत्युः)

} सत्यप्रजापतिः (आमन्वी)

(४) — ३ — यज्ञप्रजापति —

१ — यज्ञोऽग्निहोममयः आत्मा (अमृतम्)

२ — विराट्प्रजापतिः शरीरम् (मृत्युः)

} यज्ञप्रजापतिः (आमन्वी)

[४] — ४ — विराट्-प्रजापति —

१ — विराट्-साजनम् — आत्मा (अमृतम्)

२ — विश्व-सावरणम् — शरीरम् (मृत्युः)

} विराट्प्रजापतिः (आमन्वी)

[६] — १ — विश्व-सावरणम् — शरीरम् — (मृत्यु) ।

१६८-अमृत-मृत्यु-विवेक-निबन्धना तृतीया 'शुक्रसंस्था सं अनुप्राणित पञ्चपुरञ्जनात्मक विवधमात्रों का संस्मरण, एवं शुक्रत्रयी की पटशुक्ररूप में परिणति—

उक्त अमृतमृत्युविवेक से प्रकृत में हमें बड़ी बतलाना है कि, जिस बाह्यमयी तीसरी शुक्रसंस्था का पूर्व में निरूपण किया गया है जिसे कि सत्य-यज्ञ की सम्राट् बतलाया गया है जिस के कि बाह्य-आप-अग्निः व तीन विवध बतलाए गए हैं जिसे कि वेद-सौक-बृह-यजु मूल मेरु सं पञ्चपुरञ्जनात्मक स्थि किया गया है उस शुक्रसंस्था में भी अमृत-मृत्यु नामक दोनों भागों का समन्वय है । 'बाह्य-आप'-अग्नि शुक्रसंस्था के व तीनों ही पूर्व अमृत-मृत्यु भिन्न मे दो दो भागों में विभक्त होकर तीन के रवान में रूप कारण कर लेते हैं । और यों शुक्रत्रयी शुक्रपटशुक्ररूप में परिणत होजाती है ।

१६९-सत्य-यज्ञ-प्रजापति से अनुगत अमृता शुक्रत्रयी, विराट्-प्रजापत्यनुगत मर्त्या शुक्रत्रयी एवं विष्णु-परिव्रजहस्तमक 'यज्ञप्रजापति' का संस्मरण—

इन १ शुक्रों में से १ अमृतशुक्रों का तो स्वयं सत्य-यज्ञ-प्रजापति में ही मोग होता है शेष तीन मर्त्यशुक्रों से विराट्-प्रजापति की स्वकर्म-निष्पत्ति होती है । अमृतशुक्रत्रयी भस्त्वब्रह्मसंस्था है एवं मर्त्यशुक्रत्रयी विराट्संस्था है । उक्त को हमने शुक्रपरिव्रज से उक्त बतलाया है एवं यह को विष्णुपरिव्रज से समन्वित किया है । अमृतशुक्रत्रयी का वागमाग ही शुक्रपरिव्रज से उक्त होकर वेदरूप में परिणत होकर स्वप्रजापति बनता है एवं अमृत आप-अग्नि इन दो शुक्रों की स्रष्टि ही विष्णुपरिव्रज से उक्त होकर यह प्रजापति बनती है ।

१७ —'अञ्जन' परिव्रजानुगत सप्तविध (७) यज्ञपाप्माओं का नाम-स्मर्शन-समन्वय—

इस सप्तविध शुक्रत्रयी में आगे बाह्य 'अञ्जन' परिव्रज का योग होता है । यह अञ्जन ही विज्ञानमत्ता में 'यज्ञपाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है एवं ये अञ्जनात्मक यज्ञपाप्मा क्रमशः १-पर्व्याय, २-ऊर्मि ३-आश्रय ४-अवस्था ५-कर्म ६-विपाक ७-अविद्या इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यदि इन के अन्तर मागा का उक्तन किया जाता है तो कुल ३१ यज्ञपाप्मा होजाते हैं भिन्न कि मूकभाष्यअवस्था-मार्ग [१]-बुद्धियाग को कर्मपरिस्थाग नहीं करना चाहिए प्रथमा राजर्षिबिद्या को इस तीसरी उपमिक्त के (१) 'यज्ञात्मकम अद्वयन है, अतः इस का परिस्थाग नहीं करना चाहिए' इस तृतीय उपप्रेर में ["यज्ञात्मकम कर्मरुद्राज्यत्र १।८ से आरम्भ कर 'एवं प्रवर्तितं यज्ञम् १।१९ महावक के अन्तर्गम प्रकरण में] विस्तार में निरूपण किया जाने जाता है । यज्ञपाप्माओं से उक्त यह यज्ञपापति ही विराट् रूप में परिणत होता है ।

१७१-'आवरण' परिव्रजानुगत-यज्ञपाप्माओं सं समन्विता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं तद्वारा विश्व के स्वरूप की अभिष्पत्ति—

सर्वांत में 'आवरण' नाम के १ ठे परिव्रज से उक्त होकर यही प्रजापति विश्व [प्रजापति] रूप में परिणत होजाते हैं क्योंकि अनुपद में ही स्थ होने जाता है । करना यही है कि

अमृतशुक्रप्रयी जहाँ मत्स्यगर्भित यज्ञप्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है वहाँ मत्स्यशुक्रप्रयी यज्ञपाप्माओं से युक्त होकर विराट्प्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है ।

१७२-अमृता-शुक्रप्रयी के तीन पर्वा से अमृता-देवप्रयी-का आविर्भाव, तन्निष्पन्नता एका मूर्ति', एवं सगुणसत्प्राप्तुगत-यज्ञप्रजापति का स्वरूप समन्वय—

अमृतशुक्रप्रयी का वेदमय भागमाग ही आगे जाकर 'स्वयम्भू' रूप में परिणत होता है । इस का लोकात्म्य आधोभाग ही "परमेष्ठी" रूप में परिणत होता है एवं देवमय अग्निभाग ही 'सूर्य' रूप में परिणत होता है । स्वयम्भू ब्रह्मा है परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य महादेव है । तीनों मिलकर 'एकमूर्ति' हैं । तीनों का समन्वितरूप एक शुक्ररूपा है । यही तीसरी उत्पत्तिकालिका शुक्ररूपा है । इन में ब्रह्मा सत्य-प्रजापति है, विष्णुशिव-अमृतमय यज्ञप्रजापति है । उत्पत्तिप्रजापति ब्रह्मा सगुणप्रजापति है एवं यज्ञप्रजापतिस्त्व विष्णु-शिव-अमृत यज्ञप्रजापति है । स्वयं ही इन की प्रतिष्ठा है वैयकि 'ब्रह्म वै सवस्य प्रतिष्ठा'—'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम् — 'ब्रह्मा देवानां प्रथम' सम्बन्ध इत्यादि बचनो से प्रमाणित है ।

१७३-पोतशीपुरुषरश्मि के शुक्रात्मक 'धर' की विविध-सोपानपरम्पराएँ, तन्निष्पन्न सृष्टिविषय', एवं प पर्वा शुक्रधरात्मा से पञ्चपर्वा विरव की स्वरूपामिव्यक्ति—

अब हम यह कह सकते हैं कि जो धर आत्मन में प्राणादिक्रम में परिणत हुआ आगे जाकर वा पञ्चैतत्त्वप्राणादिक्रम में परिणत हुआ आगे जाकर जो पञ्चकनात्मक वेद-लोकादिक्रम में परिणत होता हुआ वाक्-आप-अग्नि इन तीन शुक्रकवी में परिणत हुआ आगे जाकर यज्ञपाप्माओं के समन्वय से धित के ये तीन रूप ३ भागों में परिणत होकर आगे जाकर ३ में से धित के तीन अमृतमय क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य रूप में परिणत हुए यही मत्स्य-यज्ञप्रजापति-मूर्ति अमृत-वाक्-आप-अग्नि-मूर्ति स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्यमूर्ति असृष्टशुक्रात्मा तीसरा धरात्मविषय कहलाया । इसप्रकार पूर्व की तान्त्रिकों में अमृत-ब्रह्म शुक्र भाषी का वैष्ठा स्वरूप-समन्वय हुआ था • यह सब यहाँ आकर आगे की तान्त्रिकों के रूप में परिणत होकरा किन "न निर्दिष्ट-तान्त्रिकों को अब हम निर्गुणात्मिका-तान्त्रिक मान सकते हैं स्व-बुद्धि-म्यामोहन की उपरान्ति-मात्र के लिए ही ।

• देखिए पुष्प पञ्चा २ ए, २१ २११ एवं २१४ में शुक्र की तान्त्रिकएँ

१७४-क्रममिद्धा 'विराट्प्रजापति'-रूपा पञ्चमी-संस्था, एवं विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा दश-कलाओं का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रजी के साथ अथ सत्य-यज्ञप्रजापति नाम की तीसरी तथा चौथी चरित्र-संस्था का निरूपण भी गतार्थ हुआ। अब क्रममात्र पाँचवीं विराट्प्रजापति-संस्था हमारे सामने आई। यज्ञप्रजापति के साथ अज्जन का समावेश होने से ही इस पाँचवीं संस्था का आविर्भाव हुआ है। अज्जन से अमृतशुक्रजी मर्त्यमात्र में परिणत हुई। इस मर्त्यपाक-शुक्र से सूर्य का विकास हुआ। मर्त्य आपः शुक्र से चन्द्रमा का विकास हुआ, एवं मर्त्य अग्नि शुक्र से त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा स्तीम्हा महापृथिवी का विकास हुआ। इनमें सौरपाकशुक्र यज्ञपरिमाणुसार आहवनीय अग्नि कहलाता आन्त (आन्तरिक्य) आपः शुक्र बिष्पवारिण कहलाता एवं पार्थिव अग्निशुक्र गार्हपत्यग्नि कहलाता।

१७५-एककल गार्हपत्य, अष्टविध बिष्पत्य, एककल आहवनीय मंदनिबन्धन वैश्वानर हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्ति दशाधय विराट्प्रजापति, एवं उस की 'देवमत्यरूपता'-का दिग्दर्शन—

इनमें आहवनीय और गार्हपत्य तो एक एक कलायुक्त हैं। रहा। परन्तु मध्यस्थ आन्तरिक्य बिष्पत्याग्नि अष्टविध नास्तिक सर्पाग्नि के सम्मिश्रण से अष्टकल बन गया। इसक्रम से ६ के स्थान में १ कला होगी। एककल वैश्वदेव्य आहवनीय 'मर्त्य कहलाता अष्टकल आन्तरिक्य बिष्पत्य 'हिरण्यगर्भ' कहलाता एवं एककल पार्थिव गार्हपत्य (नूतनगाहपत्य) 'वैश्वानर' कहलाता। अग्निशुक्रमय एककल अर्धमूर्ति पार्थिव वैश्वानर आपःशुक्रमय अष्टकल क्रियामूर्ति आन्तरिक्य हिरण्यगर्भ एवं वाक्शुक्रमय एककल ज्ञानमूर्ति दिव्यलोकात्म्य सर्वज्ञ इन तीनों की समष्टि ही देवमत्यरूपक "विराट् प्रजापति" कहलाता। इस संस्था के सम्मिश्रण से ही यह 'विराट्' नाम से सम्पन्न हुआ। एवं यही पाँचवीं साज्जनसंस्था कहलाई।

१७६-सूर्य के द्वैधीभाव के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति तन्निराकरण, और साबरय विरह के सुप्रसिद्ध तीन 'धाम', एवं तत्र मन्त्रमति का सम्मिश्रण—

अमृतशुक्रजी के तीसरे अमृतानिशुक्र की भी हमने सूर्य का स्वरूप-सम्पर्क कलाया है एवं मर्त्यशुक्रजी के पहिले मर्यादाशुक्र की भी सूर्य का स्वरूप-सम्पादक कलाया है। तो क्या नास्तिकदर्शन के अनुसार कलाप्रमाणक वैदिक-विज्ञान भी तो सूर्य मानता है? नहीं। सूर्य तो एक ही है। इस एक ही सूर्य में अमृतानि का भी समावेश है एवं मर्यादा का भी समावेश है। मध्यस्थ सूर्य से ऊपर के पारमेष्ठ्य महाकल में अमृतमात्र आपःशुक्र की परमेष्ठी से ऊपर के स्वायम्भुव महाकल में अमृतमात्र वाक्शुक्र की प्रधानता है। इसी दोनों अमृतधामी की समष्टि "परमधाम" कहलाती है। एवं मर्त्य सूर्य से नीचे के आन्तरिक्य बालप्रमहल में मृत्युप्रधान आपःशुक्र की प्रधानता है एवं चन्द्रमा से नीचे के पार्थिवमहल में मृत्युप्रधान वाक्शुक्र की प्रधानता है। इसी दोनों मृत्युधामी की समष्टि 'अधमधाम' नाम से प्रसिद्ध है। मध्यस्थ सूर्य इस और के पहिले मर्त्यानिशुक्र का लेकर प्रभं

अमृतधामों का भी व्यर्थमात्र बन रहा है एवं उस ओर क हीरै अमृतानिशुक्त को लेकर अमृतधामों का भी व्यर्थमात्र बन रहा है। अतः—“निबन्धनममृतं मयं च” * इत्यादि मन्त्रवाक्य से स्पष्ट है।
* श्री रामचन्द्र का दिग्दर्शन करता हुआ मन्त्रधृति कहती है—

या से चामानि परमाणि यावमा या मध्यमा निर्यकर्मसंसेमा ।

शिवा सखिभ्यो हविषि स्मृताः स्वयं यजस्व तन्म धृषान् ॥

—यजुःस० १६।१ ।

१७७—अमृतसूर्य के द्वारा “धर्म-ज्ञान-वैराग्य-परमार्थ”-मात्रों का तथा मर्त्यसूर्य के द्वारा “अभिनिवेश-अविद्या-आमक्ति-अस्मिता”-मात्रों की क्रमिक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन—

निष्कर्ष नहीं हुआ कि सूर्य से नीचे नीचे मर्त्य आकाश (चन्द्रमा) एवं मर्त्य आकाश (महिमा-पृथ्वी) की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में सूर्य से नीचे नीचे विशुद्ध मृत्यु का लक्षण है—“उत्साह-विज्ञान-वीर्य-महिमा-सर्व-तन्म-धृषान्” [यजुःस० १ का] सूर्य से ऊपर ऊपर अमृत आकाश, एवं अमृत आकाश की प्रधानता है एवं मध्यम अमृतानिशुक्त, एवं मर्त्यानिशुक्त दोनों के सम्भव से सूर्य सम्भवति है। अमृतरूप से वही सूर्य हमारी बुद्धि में धर्म-ज्ञान-वैराग्य-परमार्थ इन चार ‘विद्या-मात्रों’ का विकास करता है एवं मृत्युरूप से वही सूर्य बुद्धि को अभिनिवेश-अविद्या-आमक्ति-अस्मिता, इन चार ‘अविद्या-मात्रों’ से युक्त करता है। यद्यप्य नहीं है कि एक ही सूर्य में दोनों अभि-शुक्तों का मेल हो रहा है। इसी दृष्टि से हमने अमृतशुक्तों में भी सूर्य का सम्भव कठना दिया है एवं मर्त्यशुक्तों में भी सूर्य का सम्भव मान लिया है।

१७८—विराट्प्रजापति की ‘रुद्र’ रूपता, तन्मि-बना रुद्रपत्नी-रूपा रोदसी त्रिलोकी, एवं तात्त्विकारूपण विराट्प्रजापति का चतुर्धा संस्मरण—

रुद्र शुक्रविमृति से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि अमृतशुक्तों को सत्ययज्ञात्मक चरमजापति की स्वरूप-समर्पिका है एवं मर्त्यशुक्तों की विराट्प्रजापति की स्वरूप-समर्पिका है। वही विराट् प्रजापति मृत्युप्रधान बना हुआ ‘रुद्र’ नाम से प्रसिद्ध है। रुद्र के सम्बन्ध से सूर्य-चन्द्र-पृथिव्यादि त्रिलोकी ‘रोदसी-त्रिलोकी’ कहलाती है—“रोदसी रुद्रपत्नी”। पौर्वर्ष विराट्प्रजापति का वही संक्षिप्त स्वरूप-निरास है, अतः कि आगे की तात्त्विकार्थों से स्पष्ट है।

* आकृष्टेन रजसा वशमानो निवेशयममृतं मय्यग्न

हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति सुवनानि परमन् ॥

—यजुःस० ३१।१

१—मृगुमर	अग्निमुष्म	म पमू [११]	मुख्य चन्द्र-शुद्धिपद्मको विराट्प्रजापति-
२—मृगुमर	आरमुष्म	ममा [१२]	
३—मृगुमर	पाशमुष्म	ममाशुषी [१३]	

१—मृगुमर	आरमुष्म	उपवम [१]	आद्यनील शिखर-मादपत्यमम वृगुमर विराट् प्रजापति:
२—मृगुमर	आरमुष्म	आरवम [२]	
३—मृगुमर	आरमुष्म	उपवम [३]	

१—आद्यनील	शिखर	(११)	आरवम	आरवम-आरवम-आरवम विराट्प्रजापति
२—आरवम	शिखर	(१२)	आरवम	
३—आरवम	शिखर	(१३)	आरवम	

१—आरवम	आरवम	आरवम	महत्-हिरण्यम-वैश्वानर-आत्मका विराट्प्रजापति:
२—आरवम	आरवम	आरवम	
३—आरवम	आरवम	आरवम	

१३८—शुद्धमस्यानुगत चरतश्च किं द्वारा मत्प-यज्ञ विराट्-मात्रों की स्वरूप-शिखा—

यही शुद्धनिरूपण हमें यह भी सिखा दे रहा है कि शरात्मिका शुद्धनी ही अमृत-मृत्यु के मर में पड़ना वही ही अमृत-मृत्यु-विराट् इन तीन संस्थाओं के विराट् का वाक्य बन रही है। अर-मृत्यु के मर में ही तीन प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। और वही वृद्धि से इन तीन संस्थाओं का हम शरत्स्थिति भी कर सकते हैं। यही लक्ष्य लक्ष्य है। अमृत-मृत्यु-विराट् इन तीन के अतिरिक्त और ही भी क्या लक्ष्य है ? आती के परिलोभों से शरात्मिका ही तीन संस्थाओं का स्वरूप लक्ष्य बना गया है।

- १ प्राण [वेदा] वाक् [ज्ञाना स्वयम् वाङ्मय]]-मत्प्रजापतिः (१)
- २ आप [सोमा] आप [विष्णु परमेष्ठी आपोमय] } यज्ञप्रजापतिः (४)
- ३ वाक् [इन्द्रा] अग्नि [शिव सूर्य अग्निमय] }
- १ वाक् [देवा] अग्नि [वाक् सूर्य अग्निमय] }
- २ अक्षम् [पराश्व] आप [अक्षम् अन्नमा आपोमय] } विराट्प्रजापतिः (५)
- ३ अक्षम् [भूमिनि] वाक् [अक्षम् पृथिवी वाङ्मयी] }

वाक् स्वयम्	[प्राणमय]	}	अमृतशुक्लबी	}	धरसंस्था (शुक्लम्)		
आप परमेष्ठी	[आपोमय]						
अग्नि सूर्य	[वाङ्मय]						
अग्नि सूर्य	[वाङ्मय]	}	मिराट्				
आप अन्नमा	[अक्षमय]						
वाक् पृथिवी	[अक्षमयी]						

- अमृतशुक्लम् — १ — स्वयम् — मत्प्रजापतिः [ज्ञाना]
- अमृतपरमेष्ठी — २ — परमेष्ठी } यज्ञप्रजापतिः [विष्णु]
- अमृतसूर्य } — ३ — सूर्य — }
- मत्प्रसूर्य }
- मार्दवन्नमा — ४ — अन्नमा } विराट्प्रजापतिः [महाश्व]
- मर्तापृथिवी — ५ — पृथिवी }

१८०—‘साञ्जनविराट्प्रजापति’ के आधार पर ‘मावराष्ट्र विस्त’ की स्वरूपामिष्यति, अग्नीषोमात्मिका विश्वस्वरूप-परिभाषा, एवं अग्नि के त्रिविध-महिमा विवरणों का वर्गीकरण—

अथ कमप्राप्त ६ टा विचरत्सु हमारे सामने सामन आया। साहान-विराट्प्रजापति के मध्य जब हम-प्रधान आचरणापरिमह का सम्बन्ध हुआ तो साधारणभिरव का प्रादुर्भाव हुआ एवं मही उस 'तत्' का ६ टा परिमह कहलाया। इस विरव के सम्बन्ध में एक महीती विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। विरव का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति का— अग्नीषोमसमक जगत् बह वचन हमारे सामने आता है। अतः और सोम दोनों के समन्वितरूप का ही नाम जगत्, किंवा विरव है। यह अग्नितत्त्व वैश्वानर अहिरोऽग्नि^१ अक्षाग्नि^२ वेद से तीन भागों में विभक्त है। केनाग्नि ही मस्याग्नि धागाग्नि प्रात्याग्नि ब्रह्माग्नि साध्यायुपाग्नि इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। अहिरोऽग्नि ही सावित्राग्नि वैश्वानर पुण्याग्नि ब्रह्माग्नि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं तीसरा अक्षाग्नि ही गायत्राग्नि मूवाग्नि उष्याग्नि सूर्याग्नि जितनिध्याग्नि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

१८१ विश्वनिघन्तुन सोम के द्विविध-महिमा विवरों का नाम-संस्मरण—

वृषभ सोमस्तत्र त्रिज्योमो मास्वरमोम येदं स ऽ विष्णवे माना गवा इ । इमं पशुमा
त्रिज्योम आप ऋषयस्वसि पशित्रित्वादि नामीं स प्रथिजिह्वे । एवं वृषभ मास्वरमोम सोम चन्द्रमा
अरमा, इन्द्र अपोषि हत्वादि नामीं स प्रथिजिह्वे । इन्द्रप्रभार विश्वस्वस्वप-सम्पात्रक अग्नि एवं सोम ३-२
क इमं स ५ भागीं में विभक्त होया है ।

१८० त्रिविध अग्नि विवर्त्तो, तथा द्विविध सोम विवर्त्तो से समन्वित पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा सावरण विश्व की स्वरूप निष्पत्ति—

इन पाँचों का जब हम अध्ययन करने चलते हैं तो पूर्वोक्त चरमस्था की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। अथवा ही चरमस्था का अस्वच्छमयम् ही प्रकाशित है, आपातम परमस्त्री ही विक्रमाम है। इनके लिए—“एनीमस्यो नै उता विधि माम आनीत” यह कहा जाता है। अग्निमय सूर्य ही अक्षिराडगिन है आपातमय अन्तमा ही आस्परमोम है एवं याद मयी प्रविष्टी हा अज्ञातगिन है। नदी का मय प्रवर्णों मोतिक विरह है। विश्व ही आपमा का घाम है। अतएव पूर्व में स्वकम् अग्नि की परम अद्यम-अध्यम-वाम कहना भी अगिताय हो जाता है। इनप्रकार विश्व नामका विरह अरमस्या से बर्ध प्रवर्ण पलाय मित्र नदी होता * ।

● लक्ष्मणगुप्तकामक—“भारतीय हिन्दू मानव चार उम की भावुकता नामक पाँच सदस-
त्यत्मक निष्पन्न है। प्रियत्वस्वल्पमीमांसा नामक प्रथमग्रन्थ में प्रिय वा सुप्रियर बेहर्मिक सम्पन्न
पयात हुआ है।

- (वाक्)—१-स्वप्नम् (अवाग्नि)—प्राणमय—आग्नि
 (आप)—२-परमेश्वरी (विष्णोमय)—आपोमय—साम
 (अग्नि)—३-सूर्य्य (अक्षिराशि)—वायुमय—अग्नि
 (आर)—४-अन्तर्यामि (आत्ममय)—अन्तर्यामि—साम
 (वाक्)—५-पृथिवी (अन्नाग्नि)—अन्नाग्निमयी—अग्नि

अग्नीषोमन्त्रक
 अग्न

१८३-अध्यायपर का 'आत्मन्त्र', एवं पर का 'विष्णव', तमिष-चन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप-समन्वय तथा तात्त्विक-माध्यम से पञ्चभूतात्मक-शुद्धा मन्त्र-विरण का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक दृष्टी दृष्टि से भी अन्तर्यामि का विश्वकाम्य सिद्ध हो जाता है। पाठकी की स्मरण हुआ कि हमने मनोमय निगुण अन्तर्यामि एवं प्राणमय मन्त्रक अन्तर (पाठकी) इन दोनों को तो 'आत्मा' कहा था एवं वायुमय पर की विस्व कहा था (विष्णु पञ्चमहाभूत १६५)। आत्मन्त्र-विष्णु-मनोमयी निगुण-अन्तर्यामि मन है। अन्तर्यामि मनोमय अन्तर्यामि अन्तर्यामि प्राणमय अन्तर, वायुमय अन्तर, पृथिवी की समस्त रूप मन—प्राण-वायुमयी अन्तर्यामि प्राण है। मनोमय अन्तर्यामि एवं प्राणमय अन्तर, दोनों का समन्वित रूप ही आत्मा है। इसी मन-प्राणमय आत्मा से (प्राणमय के वायुमय अन्तर मन से) उपनिषद्कारने क्रमशः आत्मा-वायु-तैज-जल-पृथिवी इन पाँच भूतों को उत्पत्ति मानी है जैसा कि—“तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमय आत्मा सन्मृत आत्माद्वायुं वायोरग्निं अग्नेरायं अयं पृथिवी” इत्यादि तैत्तिरीय-वचन से स्पष्ट है। अन्तर्यामि आत्मा स्वप्नम् है वायुमय परमेश्वरी है तैजोपत सूर्य्य है आपोमय अन्तर्यामि है अन्तर्यामि में वही पूर्वोक्त पृथिवी है। पञ्चमहाभूतों की समष्टि का ही नाम विष्णु है, यम वह विष्णु अन्तर्यामि के रूप-वच-रूप स्वप्नम् आदि से शुद्ध नहीं है। इस दृष्टी दृष्टि से भी हम अन्तर्यामि के लक्षणरूप शुद्धभाग की ही विस्व कर सकते हैं।

- (वाक्) १ आत्मा—स्वप्नम्—प्राणमय
 (आप) २-वायु—परमेश्वरी—आपोमय
 (अग्नि) ३-तैज—सूर्य्य—वायुमय
 (आप) ४-जल—अन्तर्यामि—अन्तर्यामि
 (वाक्) ५-पृथिवी—पृथिवी—अन्नाग्निमयी

पञ्चभूतात्मक शुद्धात्मक वा विष्णु

१८४-मौलिक विरव का मौलिक-उपादान-द्रव्यात्मक-‘वाक्’ तत्त्व, तत्प्रद्यंत आपोमय भृग्वाजिरा, तदनुप्राणित वराहवायु, पर्वं सद्गुहारा ‘सूर्य’ की स्वरूपामिव्यक्ति—

एक तीवरी दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होखी है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार मौलिक विरव का उपादान वाक् तत्त्व ही माना गया है। वाक् से स्वप्रथम पानी [अपतत्त्व] उत्पन्न होता है— ‘मोऽपोऽपुञ्जव वाक् एव लोकात् । वह अपतत्त्व ‘आपो भृग्वाजिरोरुपमापो भृग्वाजिरोमयम्’ इस अवर्ण सिद्धान्त के अनुसार सृगु एव अजिरोमय है। सृगु सोमरूप आपा है एव अजिरा अग्निरूप आपा है। यही श्रुतान्त वराहवायु की नोदना से आगे आकर संघातमात्र में परिणत होता हुआ सूर्यरूप में परिणत होता है। आपा के गम में ही वह ‘अग्नि’ नामक अग्निमय सूर्य प्रकट हुआ है। पृथिवी इसी सूर्य का उपग्रह है। एव वज्रमा इसी पृथिवी का अग्निमात्रात्मक उपग्रह माना गया है।

१८५-विरवमूलाभूत वाक्तत्त्व के-‘सत्या-आम्बुशी-वहती अनुष्टुप्-सुप्रज्ञपया’ नामक पौंच महिमा-विबर्ध एव तत्त्वित्वान्न पञ्चवागात्मक विरव का तालिका-भाष्यम से स्वरूप-समन्वय—

इतमक्षर वह वाक्तत्त्व ही क्रमशः आपा-सूर्य-पृथिवी-वज्रमा इन चार रूपों में परिवर्तित होता हुआ पञ्चात्मक विरवरूप में परिणत हो रहा है। स्वयम्भू की प्राथमयी वाक् सत्यमात् कहलाती है परमेष्ठी की आपातयी वाक् ‘आम्बुशीवाक्’ कहलाती है सूर्य की वाक् मयी वाक् ‘वृहतीवाक्’ कहलाती है इसे ही गौरीबीता किंवा गौरीविध मो कहा गया है। वज्रमा की अन्नमयी वाक् ‘सुप्रज्ञपया’ नाम से प्रसिद्ध है। एवं अन्नादमयी पार्थिवी वाक् अनुष्टुप् नाम से प्रसिद्ध है—‘अनुष्टुभमनु चर्चूयमाय मिन्द्र निचिक्यु कवयो मनीषा’। वाक् की इसी सर्वव्याप्ति का लक्ष्य में रख कर— बाचीमा विश्वा-भुवनाम्यर्पिता—‘अथा वागवेदं सवम्’ वह कहा जाता है। यह भी विश्व पद्यों को निहित ही है कि, वाक् मय वह ही वाक् आपा-अग्नि अग्नि आपा-वाक् इन शुक्लरूपों में परिवर्तित होता हुआ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि [स्वयं-वज्र-सत्याशी] का तत्त्वक-उपगमक बना है। इस दृष्टि से भी हम जगत्स्वात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्लमात्र को ही विरव कहेंगे।

वाक्	१	वाक्	स्वयम्भू (स-सत्यात्)	प्राथमयी	} पञ्चवागात्मक शुक्लात्मक वा विरवम्
आप	२	सृगु	परमेष्ठा (आम्बुशीवाक्)	आपोमयी	
अग्नि	३	अजिरा	सूर्य (वृहतीवाक्)	वाक्मयी	
पृथ्वी	४	पृथिवी	पृथिवी (अनुष्टुप् वाक्)	अन्नादमयी	
वज्र	५	वज्रमा	वज्रमा (सुप्रज्ञपयावाक्)	अन्नमयी	

१८६-स्मार्त्ती-शब्द से अनुप्राणित विश्व की मह्य-यज्ञा नुगता शुकात्मकता का समन्वय—

एक कीपी स्मार्ती दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन हो रहा है। मूलप्रपञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है। जीव मगधान् मे स्पष्ट शब्दों में 'सुर' सर्वाणि भूतानि यह बतते हुए मूलप्रपञ्च विश्व को चरमय ही सिद्ध किया है। चरम वाह्यम चर मे लम्बन करने वाले शुक्राण्य से ही स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सत्यमय विष्णो का प्रादुर्भाव सिद्ध किया गया है। इस भगवद्दृष्टि से भी हम सुरसंस्थात्मक सत्य-प्राकृत्य शाकभागा को ही विश्व कहेंगे।

१=७-सत्य-यज्ञ-विराट् शयी की ममष्टि से अनुश्रुति विरच, एवं तन्मन्त्र में यत्
संस्वाल्गता मही विप्रचिपति—

हम अनेक दृष्टियों से शुक्लाग का ही दूसरे शब्दों में मत्स्य-यज्ञ-विराट्-प्रजापतियों का ही समष्टिरूप विरह बन जाता है तो प्रश्न स्वाभाविक है कि, 'आवरण' परिग्रह में लम्बवत् रत्न को इत 'विरह' नाम के इ ठ विरह का क्या स्वरूप है ? एवं वह विरह कौनसा है ? विलगी कपेक्षा से हमें ५ के स्थान में ३ विचर्य मानने पड़े । और फिर देखें जोरें शीत प्रमाण भी तो नहीं है किन्तु अगार पर परब्रह्मसाधुत्वमक विरह से अतिरिक्त [किन्ता कि मत्स्य-यज्ञ-विराट्मूर्ति शुक्लाग में ही अन्तर्मय है] 'विरह' नामक पदार्थ की क्या स्थिति थी आरुके ।

१८८-पञ्चपर्यात्मक विरह, एवं सत्य-यज्ञ-विराट-सूरि शुक्रात्मक चर की अभिप्रेता, तमिष-पना अमर-यज्ञ-शुक्र-त्रयी का स्वरूप-मन्त्र, तथा अश्वत्थप्रवापति से अनप्रापित स्नाक' का संस्मरण —

विमलितपि वषाथ है । अथर्व ही पञ्चपञ्चोक्त विषय एवं मत्स्य-ब्रह्म-विराट् सूरि शुक्लमन्त्र
 चार दोनों एक ही बन्धुत्व है । फिर भी हमें "विराट्" नाम की एक स्वतन्त्र १ टी वस्था मान ही लेनी
 पड़ती है । और तर्हिस्त्रोक्ता भिताः सर्वे यह भूति ही एता मनने के लिए हमें विचार कर
 रही है । मनोमय मिश्रण अन्वयात्मा "अमृतम्" है मात्मन स्वका बोधोपपत्ति [अमृतप्रजापति]
 'ब्रह्म' है । एव एवमनानुसार वेदभ्रमा स्वस्वरूप मन्त्रप्रजापति [वाक्शुक्ल] आकात्मक परदेही एवं
 देवात्मक अमृतमूर्तरूप यज्ञप्रजापति [आप-अग्निशुक्ल] तथा देवात्मन-मत्स्यमूर्तरूप सर्वज्ञ [मत्स्य-
 शुक्ल], परमात्मक मत्स्य चन्द्ररूप द्विग्वर्ग्ये मर्त्य आपा [शुक्ल] मूलात्मक धृतिवीर्य वैश्वानर [मर्त्य वाक्
 शुक्ल] इन तीनों की लक्ष्मिरूप विराट्प्रजापति की लक्ष्मि ही वाक्मय लक्ष्मि-अविचार-अज्ञान 'शुक्लम्'
 है । "अमृत - ब्रह्म अन्वय - अमृत" आत्मा है 'शुक्ल' उभ आत्मा का शरीर है । एव वही शरीर
 मागध-उभ-पञ्चानुर मण्डितितिकापामक "विराट्" है । इसके अतिरिक्त उस "तत्" के विस्तार में
 'विराट्' नाम का कर्म आपा पन्थे रोप नहीं रह जाता । परन्तु अति कठिनी है कि अमृत-ब्रह्म-शुक्लमन्त्र उस
 प्रजापति [विराट् प्रजापति] में लक्ष्मी "लोक" अधिष्ठित रहती है ।

‘तद्वच शुकं-तन् मया-तद्वामृतमुच्यते ।

तमिषाकोका भिनाः सर्वे

१८६-शब्दप्रति का 'लोका' शब्द, त्रैलोक्य निवासिनी 'प्रजा' का 'लोकमात्र' एवं साकारत्मक 'विश्व' शब्द—

विचारणीय यह है कि भूति का यह 'लोका' कान है। यह 'लोका' पञ्चपर्व विरच तो हो-
नही सकता। क्योंकि विरच तो 'तत्' के बाद मय तीसरे शुरुविषय में ही गतार्थ है। ऐसी दशा में मानना
पड़ेगा कि यह 'लोका' किसी अन्य यस्तु का ही वाचक है और उन्ही अन्य वस्तु का हमने विरचम
कहा है। 'लोकस्तु सुपन जन के अनु १७ लोकशब्द जहाँ सुपनप्रत्यय विरच का वाचक है यहाँ
जन का भी संवाहक है। पद्य प्रजा म्याम मन्तली जन के अनुसार प्रजावर्ग [त्रैलोक्य में रहने वाली
जीवामिका प्रजा] ही जन है। "प्रजा ये जनकत्वा [दे जा १।१२] इत्यादि भूति मी इसी पद्य का
समर्थन कर रही है। त्रैलोक्य में रहने वाली इसी प्रजा के लिए दूसरे शब्दों में इसी जीववृत्ति
के लिए हमने विरचम कहा है।

१८०-यहाँ विरच मर्ग तत्-निगम मूलक विश्व शब्द की सगरूपता, तन्नुषधी-

'विश्वानि दृष मन्त्रिषु भूतानि परामुष', एवं 'विश्व' शब्द का स्वरूप-समन्वय—

अब प्रश्न कबल यही बन रहता है कि हमें 'प्रजा' 'जन' 'लोका' आदि शब्दों में से किमी
एक शब्द में व्यक्तित्व न कर विरच शब्द में ही समाहित करी दिया गया है। ऊपर यही है कि 'विरच
शब्द केवल पञ्चतया विरच का ही वाचक नहीं है। अतः विश्वलीन विरच इन दो महत्तामहीपात्र
विमाणी के अनुसार पद्य-पद्य का 'विश्वलीन' कहा जाता है। पद्य आगे के वाचकावयव विरच विश्व
नाम में व्यक्तित्व किए जासकते हैं। भूति न भी "यद्य विश्वं मय तन् (शत १।१।१२) यह कहते
हुए विरच को सर्वप्रथम का ही वाचक माना है। समूह-अथ गुणामक प्रजापति की मत्ता प्रजावृत्ति पर ही
समर्थ होती है। यह यही आचार मय बनता है। अतएव इन प्रजापति के उचित विरच की मय
कह सकते हैं। विश्वानि दृष मन्त्रिषु भूतानि परामुष' इत्यादि मय तन्नुषधी 'मय के धान
में 'विरच शब्द प्रयुक्त होता दृष्टा गया है। केवल मी दृष्टि का लक्ष्य में रखते हुए हमने इन प्रजा
विषय का विरच कह दिया है।

१६१-'प्रजा' रूप विरच के मत्ता रजस्तमो-गुण निषेधन त्रिविध महिमा-विषय, एवं

विष्णुप्रजानुगता मन्त्रप्राप्ति की विधानां -

इन प्रजापति ११। की अभिप्रायिक मय-व्यवस्थित गद्य मय विष्णुप्रजापति में ही होती है। यह का
लाग्य सामुदाय है। १।१ के अथवा-द्विरलम्बमभयानर व तीन विरच बननाए गए हैं। इन्हीं तीनों में
ममग मन्त्रविशाल मन्त्रविशाल मन्त्रविशाल नाम के अथवा-विशेष मन्त्रों का विशाल प्रकाश है
अन्त्रि पूर्व प्रकाशों में प्रकाश-मन्त्र ११। में विष्णु मय बननाया आनुका है। अन्त्रि चयनजीय प्राप्त-
प्रधान चयन रूप विष्णु की मन्त्रकत्वा पर प्रतिष्ठित है। अन्त्रि मत्ता अथ चयन जीय मन्त्रप्रधान
चयन रूप उमरी द्विरलम्बमभयानर पर प्रतिष्ठित है। एवं अन्त्रि अथ चयन जीय पाथिय पाथिय-
अन्त्रि-मन्त्र मन्त्रविशाल चयन रूप उमरी मन्त्रविशाल पर प्रतिष्ठित है। इन तीनों में १।
१।१ म 'अथमन्त्रप्राप्ति' के ही अन्वय है। यही प्रकाश प्रकाश है। यही आचार मन्त्रविशाल विष्णु
मन्त्र का मन्त्रप्रधान विधान है।

१८६-स्मार्ती-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की मत्स्य-यज्ञ-नुगता शुक्रात्मकता का समन्वय—

एक चासी स्मार्ती दृष्टि में भी एक सिद्धांत का ही समर्थन हो रहा है। भगवत्पञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है। श्रीर महायान ने स्पष्ट शब्दों में "सुर मर्षाणि भूतानि" यह कहते हुए भूतात्मक विश्व का धारण ही सिद्ध किया है। उपर बाद्मय कर म मन्त्रक रत्न कले शुक्रात्मे ही स्वयम् परमेश्वरी आदि मन्त्रक विश्वों का प्राप्ति सिद्ध सिद्ध गया है। इस महायज्ञदृष्टि से भी इस सुरसंस्थानक मत्स्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे।

१८७-मत्स्य-यज्ञ-विराट्-श्रयी की समष्टि से अनुप्राणित विश्व, एवं तन्मन्त्र में पठ संस्थानुगता महती विप्रचिपति—

बन जानेक दृष्टि से शुक्रभाग का ही इसी शब्दों में मत्स्य-यज्ञ-विराट्-प्रजापतियों का ही समष्टिकर विश्व बन जाता है। गो प्रश्न स्वाभाविक है कि "आवरण" परिग्रह में मन्त्रक रत्न के होते हुए "विश्व" नाम के ६ ठ निवृत्त का क्या स्वभाव है? एवं वह विश्व कीनता है? जिनकी आवेक्षा में इन ७ के स्थान में ६ विश्व मानने पड़ें? श्रीर विर ऐक्य-श्री भीत प्रमाण भी तो नहीं है जिनके आधार पर पञ्चमहाभूतात्मक विश्व में आनितिक [जिनका कि मन्त्र-यज्ञ-विराट्-मूर्ति शुक्रभाग में ही अन्तर्भाव है] "विश्व" नामक पदार्थ की तथा सिद्ध की जायक।

१८८-पञ्चपर्वतमक विश्व, एवं मत्स्य-यज्ञ-विराट्-मूर्ति शुक्रात्मक सुर की अभिकता, तन्मन्त्रना भमत-ब्रह्म-शुक्र-श्रयी का मन्त्रमन्त्रमन्त्र, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनुप्राणित 'लोक' का मन्त्रमन्त्र—

विप्रचिपति क्या है। अथवा ही पञ्चपर्वतमक विश्व एवं मत्स्य-यज्ञ-विराट् मूर्ति शुक्रात्मक सुर दोनों एक ही बन्तु तत्त्व हैं। फिर भी इनमें "विश्व" नाम की एक स्वतन्त्र ६ ठी सम्पा मान ही लेनी पड़ती है। श्रीर तस्मिन्नाद्य भिन्ना सर्वे" यह श्रुति ही एका मनन के लिए इन विश्व का रही है। समग्र निगुण अस्वभावता "असुप्त" है प्राणमय लक्ष्य प्राणायामादि [अश्वत्थप्रजापति] "ब्रह्म" है। एवं पञ्चपर्वतानुसार कात्यायन स्वयम्भूत मन्त्रप्रजापति [बाह्यशुक्र], कात्यायन परमेश्वरी, एवं वैश्वानर अमृतमन्त्रक यज्ञप्रजापति [आन्तरिकशुक्र] तथा वैश्वानर-मन्त्रमन्त्रक लक्ष्य [मत्स्यशुक्र] परब्रह्मक मन्त्र अथवा विरचयार्थ "मन्त्रं वाप" शुक्र] भूतात्मक धृतिवीर्य वैश्वानर [मन्त्रं वाप शुक्र] इन तीनों की समष्टिकर विराट्-प्रजापति की स्वष्टि ही बाद्मय मन्त्र-वैश्वानर-मन्त्र "शुक्रम" है। "असुप्त" — "ब्रह्म" अथवा-अश्वत्थ] आत्मा है, "शुक्र" इस आत्मा का शरीर है। एम वही शरीर मातृक-मन्त्रायानुसार मन्त्रवितरितकामात्मक "विश्व" है। मन्त्रे अतिरिक्त उस "तत्" के विचार में "विश्व" नाम का का अर्थ पदार्थ शय नहीं रह जाता। परन्तु जति कहती है कि, असुप्त-ब्रह्म-शुक्रात्मक उत प्रजापति [अश्वत्थप्रजापति] में मन्त्र "लोक" आभिन रहत हैं।

तद्वद शुक्र-तद् ब्रह्म-तद्वदामृतमुच्यते।

तन्मिन्द्रोका भिन्नाः सर्वे

१-त्रय सृष्टिकल्पः—

- १-स्वयम्भूतिकल्पः—अध्वयकल्पः [मनीमय]—भास्वसृष्टिः
 २-मायाकल्पः—अक्षरकल्पः [प्राणमय]—गुणविक्षरसृष्टिः
 ३-विक्षरकल्पः—क्षरकल्पः [वाङ्मय]—तैयुनीसृष्टिः
- } त्रि । त्रयम्

- १-अध्वय } स्वयम्भूतिकल्पः [अध्वयसृष्टिः]
 २-धोमणी }
 ३-उद्य } मायाकल्पः [अक्षरसृष्टिः]
 ४-यक्ष }
 ५-विपद् }
 ६-विश्वम् } विक्षरकल्पः [क्षरसृष्टिः]
- } 'त्रिषु सर्वम्'

२-प्रकृति-पुरुषकल्पः—

- माया—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—सहस्रमाया—तत्—अस्त्वबोधः ।
 कक्षा—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—योगमाया—तत्—कलौषः ।
 गुण—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—वैवीमाया—तत्—त्रैगुण्योदयः ।
 विक्षर—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—सहस्रमाया—तत्—मानोदयः ।
 अक्षर—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—आधुरीमाया—तत्—आप्पोदयः ।
 अक्षरयुक्—परिग्रहयोगात्—प्रकृति—जीवमाया—तत्—विरवोदयः ।



१८२—साम्यम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प, मेद से सृष्टिकल्पों के त्रिगुण महिमा-
मिर्गर्भ—

एक दुसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। वैज्ञानिकों ने सृष्टिकल्प [सृष्टिविषयम्भूत]
के तीन विभाग माने हैं। वे तीनों कल्प क्रमशः स्वयम्भूतिकल्प, मायाकल्प विकारकल्प इन नामों से
बत कर इतिहास-पुराणाग्र्यों में प्रसिद्ध हैं। मायाकल्पापेक्षिण मनोमय अस्मय 'स्वयम्भूतिकल्प' है,
वही 'पुरुषकल्प' है। षोडशी-सत्त्व-यज्ञ-विराट् यं चारों 'मायाकल्प' हैं एवं मेघुनीसृष्टि में
समन्वय रखने वाला मूलसर्ग ही तीसरा 'विकारकल्प' है।

१८३—महामाया योगमाया, ईशमाया, महन्माया, आसुरीमाया, जीवमाया, मेदमिष
प्रकृतितत्त्व के पट्परिग्रह-निश्चयन पद्धति महिमा-मिर्गर्भ

एक तीसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। "प्रकृति पुरुष चैव विदुषनादी उभा-
वपि" इस विद्वान् के अनुसार सपूर्ण उत्पत्ति का 'पुरुष' 'प्रकृति' इन ही भागों में विभक्त किया जा
सकता है। 'तत्त्वमस्ययान्' इस शरीरक-विद्वान् के अनुसार प्रकृति-पुरुष के समन्वय से ही उक्त ९
विषयों का विकास हुआ है। माया-कल्पा-गुण-विकार-अज्ञान आवरण इन ९ परिपूरक उपाधियों से ही
उक्त ब्रह्ममिष पद्धति ६ के ९ रूप होजाते हैं। इन परिपूरकों से पुनः होकर वह अनादि-महती व्यक्तियों
में परिणत होती हुई ९ रूप धारण कर लेती है। मायापरिमहोपेता वही प्रकृति महन्माया
है, कल्पापरिमहोपेता वही प्रकृति 'योगमाया' है, गुणपरिमहोपेता वही प्रकृति 'ईशमाया'
है, विकारपरिमहोपेता वही प्रकृति 'महन्माया' है, अज्ञानपरिमहोपेता वही प्रकृति 'आसुरी-
माया' है एवं आवरणपरिमहोपेता वही पद्धति 'जीवमाया' है।

१८४—पद्धति-परिग्रहों से समन्वित पद्धति मायागिणियों के अनुबन्ध से पद्धति
उपाय-पुरुषों का स्वरूप-संस्मरण—

पुरुष के लय महामाया के समन्वय से 'निगुण अस्मय' का विकास होता। अस्मय के लय
योगमाया के समन्वय से सकल-षोडशी ९ प्रजापति का प्रावर्माण होता है। षोडशी के लय ईशमाया के
समन्वय से 'मगुण' सत्यप्रजापति का प्रावर्माण होता है। लय के लय महन्माया के समन्वय से
'मविकार' यज्ञप्रजापति का प्रावर्माण होता है। लय के लय आसुरीमाया के समन्वय से 'साञ्जन'
विराट् प्रजापति की उत्पत्ति होती है। एवं विराट् के लय जीवमाया के समन्वय से 'विराट्पुत्र' अतुरा
विष 'मूलमग' की उत्पत्ति होती है। एतद्वत् परिग्रहोपेता पद्धतिमाया प्रकृति ही पुरुष के लय समन्वित
होती हुई ९ विषय भाग का धारण करती है। निश्चायक में बात एक ही है केवल ब्रह्ममिष दृष्टि में
ही विवेक है वैज्ञानिक परिवर्तनों से स्पष्ट है।

६-विद्वान्-मनास से प्रकृति और माया की एक वस्तु समझा जा रहा है। परन्तु विद्वान् दृष्टि से
शरीर त व अर्थात् पुरुष वृत्त है। परात्पर का बसगर्भित अनादिरस पुरुष है एवं रमगर्भित अनादि
बल प्रकृति है। यही ब्रह्ममिष पद्धति योगमाया में आवरण 'माया' धारण करती है। मायागिणियों की प्रकृति
मादि ६ मायमय पुरुष भी मादि ६ एवं मायाधरागुण्य प्रकृति-पुरुष-अनादि है।

१६८-‘उपासना’ और ‘भक्ति’ के तारतम्य की स्वरूप-मीमांसा—

आगे बाहर बिन अस्वयं मार्गों का विचार हुआ है उन सब का उक्त तीनों में से किसी एक में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ज्ञानात्मिका उपासना ज्ञानयोग—रूपा है भिन्नात्मिका उपासना भक्तियोगरूपा है एवं अर्थात्मिका उपासना कर्मयोगरूपा है। ज्ञानयोगरूपा अस्वयं की भक्ति ‘उपासना’ कहलाएगी। कर्मयोग—रूपा बाहर की भक्ति मध्यस्थिता पनती हुई ‘भक्ति’ कहलाएगी एवं कर्मयोगरूपा बाहर की उपासना ‘कर्म’ कहलाएगी जैसा कि पूर्व के ‘उपासना और भक्ति में तारतम्य’ नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

३-१-त्रिकलभक्तिमार्ग —

- | | | |
|------------------|---|----------------------------|
| १-ज्ञानम् (मन) | } | अस्वयंस्वरूपा मायामयी (मन) |
| २-विज्ञानम् (मन) | | |
| ३-मन (मन) | | |

- | | | |
|------------------------------|---|--------------------------|
| १-मन (अस्वयंस्वरूपा मायामयी) | } | बाहरस्वरूपा कलामयी (माय) |
| २-माय (बाहरस्वरूपा मायामयी) | | |
| ३-बाह् (बाहरस्वरूपा मायामयी) | | |

- | | | |
|-------------------------------------|---|---------------------------|
| १-बाह् (मन्त्र स्वरूपम्) | } | अस्वयंस्वरूपा बाह्-उपासना |
| २-आय (वक्त्र स्वरूपम्) | | |
| ३-अग्नि (यज्ञ धिया-विष्णु स्वरूपम्) | | |
| ४-आय (विष्णु स्वरूपम्) | } | विष्णुस्वरूपा बाह्-उपासना |
| ५-बाह् (विष्णु स्वरूपम्) | | |
| ६-बाह् (सर्वविद्यालयम्) | | |
| ७-आय (सर्वविद्यालयम्) | } | विष्णुस्वरूपा बाह्-उपासना |
| ८-अग्नि (सर्वविद्यालयम्) | | |

१६५-उपास्य-तन्त्रानुबन्धी मक्तियोग', मक्तियोगनिबन्धन उपास्यतन्त्र की परिग्रह
रूपता, एवं तन्त्रनिबन्धना अनिवार्यरूपका उपादेया पद्धति-परिग्रहमीमांसा—

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि उक्त परिग्रहकारक पाठकों की नीरक्षीयविषेक्षी दृष्टि में
आलोच्य ही बन रहा होगा। यहाँ 'मक्तिपरीक्षा' में इस परिग्रहकारक की क्या आवश्यकता है। यह तन्त्र
अनुसार करते हुए भी हम अपने पाठकों की यह विश्वास दिलाते हैं कि, बिना इस परिग्रह-परिग्रह
के मक्तिमार्ग की वृत्त शब्दों में आरम्भ में बतलाए गए, 'मक्ति' के पाँच मार्गों की परीक्षा ही सम्भव नहीं
है। परिग्रह ही एकमात्र ऐसी कड़ी है जिस को मूल में रखते हुए मक्तिमार्गों का हम सम्भव कर सकते हैं।
मक्ति पाँच रूपों में परिचित होगी। आगे आकर पाँच के पचासी रूप होंगे, इसमें न मक्ति का कोई अणु
है एवं न मक्ति की ही कोई शक्ति है। अतः जिस उपास्य की उपासक मक्ति करता है वह उत्पन्नवेत्ता ही
स्वयं पाँच मार्गों में विभक्त है। और यह भी निश्चित है कि, बसक उपास्य-वेत्ता के परिग्रह-निबन्धन उन
पाँचों रूपों का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं कर सिया जाता तबक 'मक्तिपरीक्षा' वर्षका अध्याय ही यह बली
है। एकमात्र इसी भय को लक्ष्य में रखते हुए, पाठकों की दृष्टि में अप्रासंगिक बन हुए, किन्तु मक्तिमार्ग की
दृष्टि से न केवल प्रासंगिक ही अपितु नितान्त आवश्यक बने हुए, परिग्रहयुक्त पाँचों उपास्यों का स्वरूप ज्ञा-
ताना अनिवार्य मान लिया गया।

१६६-मक्तियोगानुबन्धी उपास्यतन्त्र का '३ ६ ४-५' क्रम से चतुर्धा वर्गीकरण—

यद्यपि उक्त परिग्रहविषय के सम्बन्ध में केवल यही कथन होना चाहता है कि, पाँचों के हाथ
रूप उन पाँचों उपास्यों का स्वरूप संग्रहक से पाठकों सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय। निम्न
दृष्टिों से सम्बन्ध रखते हुए हम उन उपास्यक्यों को—[३]—[६]—[४]—[५] इन चार भागों में विभक्त कर
करेंगे।

१६७ 'त्रिकला-उपास्य' में सम्बन्ध रखन वाली 'त्रिकला-मक्ति', एवं त्रिकला मक्ति
के त्रिहृत्मादानुबन्धी 'ज्ञान-मक्ति-कर्म' मार्गों का विस्तार समन्वय—

[१]-पंडित त्रिकला-विभाग को ही लीजिए। निम्न का अर्थ अर्थव्यवस्था है तन्त्र-
योगीश्वरपति 'अकारकत्वा' है एवं तन्त्र-अर्थव्यवस्था तन्त्रिकारकपञ्चापति, आञ्जनविशेषज्ञपति
तथा स्वयंशक्ति इन चारों की सम्पत्ति अकारकत्वा है। वहीनी संज्ञा में मन्त्र 'आत्मन् विज्ञान
मनामयी - मन प्राण-वायुमयी - वायु-आप अग्निमयी - इन चारों में परिणत होती हुई
मन्त्र मनामयी-प्राणमयी- वायुमयी है। मनीमय अर्थव्यवस्था किन्तु ज्ञानमय है अतएव तन्त्राभिषा
त्यात्म। 'ज्ञानाभिषा' कहलाएगी। प्राणमय अकार [योगीश्वरी] क्योंकि विज्ञानमय है अतएव तन्त्राभिषा
उपलब्ध 'विज्ञानाभिषा' कहलाएगी। एवं स्वयं मन्त्र-विज्ञान की सम्पत्ति मन्त्रमय अकारकत्वा
अर्थव्यवस्था है अतएव तन्त्राभिषा उपात्म। 'अर्थमयी' कहलाएगी। यही त्रिकला उपास्य में सम्बन्ध रखन
वाली त्रिकला मक्ति है।

- २ १-अध्यात्मना मनीषया—ज्ञानात्मक उपास्य—ज्ञानात्मिका भक्ति [ज्ञानयोगमयी 'उपासना'
२-अक्षरात्मना प्राथम्य—कर्मरहिता उपास्य—किंवाश्रमिका भक्ति [भक्तियोगमयी "भक्ति"
३ धरात्मना वाक्-भूय—अर्थात्मिका उपास्य—अर्थात्मिका भक्ति [कर्मयोगमयी 'कर्म']

३ { • परापर-आदि माना—
१-अध्यात्म-अर्था—[“परिष्कृतो ब्रह्मपर्यवस्यति—उपासना]
२-अक्षर-उपास्य—[“उपपत्तिं लक्ष्मिं च ब्रह्मन्त—भक्ति]
३-धरा-भक्ति—[“सर्वे वेदा अप्रमत्तमनसि—कर्म] } —एतां पर्व संमोहं
ब्रवीमि”

१

१८६-पदसुविभागात्मक द्वितीय उपास्य-तन्त्र का संस्मरण एवं तनिबन्धन पदविच-उपासनापर्याय का नाम-समन्वय—

[२]-दूसरा पदसुविभागा है । निगुण-आत्म्य [१]-‘अध्यात्मना’ है उपास्य-योगशीलवापति [२]-इन्द्रात्मना है उपास्य-उपास्यवापति, [३]-वेदात्मना है उपास्य-अक्षरवापति [४]-अक्षरात्मना है उपास्य-निगुणवापति [५]-मर्त्यमृतांतरात्मना [इन्द्रात्मना देवत्व] है एवं उपास्य-विषय [६]-मृतात्मना [जीवसन्तुष्टी दृष्टमत्त्व] है । “न ६ उपास्यो से उपास्य रूपने वाली उपासना मी कर्मरा ” मनीषयी “प्रास्यमयी ” वाक्-मयी विष्णुमयी, दृष्टमयी मृतमयी इन ६ भागों में ही विभक्त है । (१)-निगुण-आत्म्य का मानस चिन्तन मनमयी उपासना है । (२)-जीवन क कर्म को इन्द्रात्मिक कर देना प्रास्यमयी उपासना है । (३)-वेदस्वात्मिक एवं अध्यापन वाक्-मयी उपासना है । (४)-अक्षर-कर्म विष्णुमयी उपासना है । अक्षातिरिक्त (५)-प्राकृतिक प्राणदृष्टताओं की उपासना दृष्टमयी है । एवं (६) प्रतिमापूजन मृतमयी उपासना है । इन ६ भा में कति की उपासना तन्त्रशास्त्रिका बनती हुई मानयोग-रचनीका “उपासना” है । अन्त की उपासना अर्थात्मिका बनती हुई कर्मयोग-स्थानीय “कर्म” है । एवं मन्त्र की चारी उपासनाएँ किंवाश्रमिका बनती हुई भक्तियोग-स्थानीय “भक्ति” है । [३] एहि से उपासनाकारक ६ भागों में विभक्त होकर है । वेदादि आगे के परितोनों से स्पष्ट है ।

पञ्चममक्तिमार्ग — ६ —

(१) — आचार्य [मन]

१-विज्ञानम [मन]

— निगुलस्यस्य

— अथवापिमा उपाय

२-मनः [मन]

१-मनः [अथवापिमा उपाय] — मानः

२-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव नव नव — उपाय

३-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

४-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

५-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

६-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

१-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

२-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

३-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

४-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

५-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

६-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

— नव नव — उपाय

(२) — १-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

२-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

३-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

४-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

५-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

६-मान [अथवापिमा उपाय] — मान

२००-चतुष्कलोपथा 'मक्ति' क आत्मा पद, पुन पदं व्यशीति रूप चार विषय,
एवं तदनुशासिता मक्ति क चार-विभिन्न-विषयों का स्वरूप-सुमन्त्र—

[१]-तीमरा चतुष्कल मक्ति-विभाग है। निगुण ब्रह्मण्य 'आत्मा' है एकल दोहरी "प्रज्ञात्मि" है।
गुण-वितरार एक-सममक्ति 'महिमा' है एवं साक्षन-नाशक विद्य-विश्व की समष्टि "सर्वम्" है।
आत्मा विभनमाया में [१]-आत्मा ही चक्षुषाता है प्रज्ञापति को [२]-"पदम्" कहा बाप है
महिमाकन [१]-"पुनपदम्" नाम से प्रसिद्ध है एवं सर्वकष [४]-"व्यशीति" नाम से प्रसिद्ध है।
उन चार उपलब्धों में समस्त रचने वाली उपलब्धता ही क्रमशः आत्मोपासना प्रज्ञापत्युपासना महिमा-
पासना, मर्षापासना इन चार मातों में विभक्त है। आत्ममन्त्रित आत्मोपासना है, ईश्वरनुद्धवा अनुशील-
मान ज्ञान-क्रिया-अथ प्रज्ञापत्युपासना है स्वगणपत्य चतुष्ठीयमान महिमा-सम्प्राप्त
'यत्कर्म' 'महिमापासना' है। एवं साक्षदेव-प्रत्यक्ष अनुशीलमान विविध रूप भूतापासना
सर्वोपासना है। चारों में आदि की उपलब्धता ज्ञानाभिध बनती हुई ज्ञानवास-स्थानीय "उद्यमता" है।
अन्त की उपलब्धता अथाभिध बनती हुई कर्मयोग-स्थानीय "कर्म" है एवं मध्य की दोनों उपलब्धता
क्रियाभिध बनती हुई मक्तियोग-स्थानीय 'मक्ति' है जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों में स्पष्ट है।

१-आत्म [मन]	{	मायी ब्रह्मण्य	आत्मा-उपासना
२-ज्ञानम् [मन]			
३-मन [मन]			

१-मन [आत्मपाद-द्विधाऽक्षर [शब्द]	{	एकल दोहरी	प्रज्ञापति-उपासना
२-वाच [अक्षराद्विधाऽक्षर [शब्द]			
३-वाच [अक्षराद्विधाऽक्षर [शब्द]			

१-वाच [म. व. स्वपादम्] [वाच]	{	म. व. लघु	महिमा-उपासना
२-वाच [म. व. स्वपादम्] [वाच]			
३-वाच [म. व. स्वपादम्] [वाच]			

२०२-विभिन्न परिग्रहों से समन्वित परिग्रहात्मक पञ्चविध उपास्य-देवताओं का स्वरूप समन्वय —

उक्त पाँचों विभागों में पहिले अथर्व-विभाग का मन से दूसरे अक्षर-विभाग का प्रथम से तीसरे आत्मक्षर-विभाग का अक्षरतमयी शुक्लवाक् से चौथे एवं पाँचवें का विकार एवं वैभक्तिकार मरय वाक्शुक्ल एवं यथावाक् से सम्बन्ध है। पहिली मनोमयी अम्भबर्गया 'निगु'य-आम्भवासा है, दूसरी प्राक्मयी अक्षरतमया अगुणप्रजापति है तीसरी अमृतवाक्शुक्लमयी अक्षरक्षरतमया 'सर्वधर्मोपहित प्रजापति है एवं चौथी मरय वाक्शुक्लमयी संस्था सर्वधर्मोपहितप्रजापति है तथा पाँचवीं मूलाक्षमयी संस्था 'सर्वधर्मोपहितप्रजापति है। पाँचों में क्रमशः 'माय-कला 'गुण'-विकार अञ्जन-आत्मरूप इस क्रम से ६ को परिग्रहों का मोक्ष होता है।

२०३-महिषयोग-समन्वय-निबन्धन पञ्चविध-उपास्यों की अनिद्वार्यरूपण अपक्षिता लक्षणाद्वया—

इस क्रम में यह ध्यान रखना चाहिए कि गुणरिपुष्यात्मक कल्पप्रजापति का हमने दोहरी में ही अन्तर्मात्र मान लिया है। इसी आधार पर 'उ मरया के दोहरी की हमने 'सगुणप्रजापति' यह लिखा है। इसी गुणात्मक कल्पप्रजापति के लक्षणों से दोहरी हैस्वर 'विद्यमूर्ति'—'वैदेकबध' इत्यादि शक्तों के प्रसिद्ध हुआ है। एवं एकमात्र 'एकी आधार पर केवल को [ईश्वर से अमित्र मानते हुए] हैस्वर का [दोहरी का] निरुक्त मान लिया गया है वैश्वकि उपनिषद्ब्रह्मसामान्यभूमिध्व-लगाते वेदप्रकरण से गद्य है। इन पाठकों से लगभग निश्चय करने के लिए कि, महिष के इन पाँच भागों का मौलिक रहस्य हृदयस्थ करने के लिए वे इन पाँचों उपास्यों के अन्वयेष्टों की व्यवधानों से ही ज्ञान में आकर रहने का अनुग्रह करेंगे।

२०४-निगुंख, सगुंख सर्वधर्मोपहित, सर्वधर्मोपपन्न, सर्वधर्मोपशिष्ट पञ्चविध-

उपास्य-उपलब्धों का परिग्रहात्मक-समन्वय—

मत्स्यप्रसिद्ध से कुछ निगुंख अथर्व निगुंखालम्बा है यह मनोमय कला हुआ ज्ञानप्रधान है एवं इसकी उपासना 'निगुं पद्यामना' है। कला एवं गुणपरिग्रह से कुछ कलात्मकित सगुंख अक्षर 'सगुंख-प्रजापति' है यह प्राक्मय कला हुआ 'विद्याप्रधान' है एवं 'एकी उपासना 'सगुंखोपासना' है। विकारपरिग्रह से कुछ अक्षर आत्मक्षर 'सर्वधर्मोपहितप्रजापति' है यह अमृतवाक्शुक्लमय कला हुआ 'अर्थप्रधान' है एवं इसकी उपासना 'विकारोपासना' है। अञ्जनपरिग्रह से कुछ अञ्जन विकार अक्षर 'सर्वधर्मोपहितप्रजापति' है यह मरयवाक्शुक्लमय कला हुआ 'वैदिकप्रधान' है एवं इस की उपासना 'वैदिकोपासना' है। एवं आत्मरूपपरिग्रह से कुछ आत्मरूप-वैश्वकि अक्षर प्रजापति 'सर्वधर्मोपहितप्रजापति' है यह मूलाक्षमय कला हुआ 'मूलाप्रधान' है एवं इस की उपासना 'मूलापासना' है।

२०५-आम्भापामना-ईश्वरोपासना-विकारोपासना, देवोपासना, मूलापासना-मेदिनि बचन पञ्चविधोपास ।—

आत्मोपासना अथर्व की उपासना है ईश्वरोपासना (पोहरीसर्वधर्मप्रजापतिमूर्ति) अक्षर की उपासना है विकारोपासना आत्मक्षर की उपासना है वैदिकोपासना विकारक्षर की उपासना है एवं मूलापासना वैभक्तिकक्षर की उपासना है। पहिली अमृतवाक्शुक्लमय है दूसरी अक्षरवाक्शुक्लमय है तीसरी मरय वाक्शुक्लमय है एवं पाँचवीं मूलाक्षमय है। अन्त में परीक्षण ही शरीकरण के लिए बर्णित है।

(१)-प्रदाननसिद्धा (गजानना)

(२)	१—निगु वायमा	मनोमयः	(आत्मयः—उपास्यः) ।
	२—सुगुप्रजापतिः	प्राणमयः	(अक्षरः—उपास्यः) ।
	३—सर्वधर्म्मोद्दिष्टप्रजापतिः	अमृतवाक्शुक्रमयः	(आत्मवृत्—उपास्यः) ।
	४—सर्वधर्म्मोपलब्धप्रजापतिः	महर्षवाक्शुक्रमयः	(विकारवृत्—उपास्यः) ।
	५—सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापतिः	भूतवाक्शुक्रमयः	(वैश्वरिक्वृत्—उपास्यः) ।

(३)	१—निगु यः	ज्ञानप्रधानः	(आत्मयः—मायी — उपास्यः) ।
	२—सुगुः	क्रियाप्रधानः	(अक्षरः — लक्ष्मी सुगुदयः उपास्यः ।
	३—सर्वधर्म्मोद्दिष्ट	अर्थप्रधानः	(आत्मवृत्—विविक्त — उपास्यः) ।
	४—सर्वधर्म्मोपलब्ध	वैद्यप्रधानः	(विकारवृत्—संज्ञान — उपास्यः) ।
	५—सर्वधर्म्मविशिष्टः	भूतप्रधानः	(वै वृत्—अक्षर — उपास्यः) ।

(४)	१—आत्मवैद्यात्मना	आत्मोपात्मना	(अमृतवैद्यात्मना)	निगु वा ।
	२—अक्षरवैद्यात्मना	ईश्वरवैद्यात्मना	(वैद्यात्मना)	सुगु वा ।
	३—आत्मवृत्तवैद्यात्मना	विकारवैद्यात्मना	(अमृतशुक्रवैद्यात्मना)	विविक्तवैद्यात्मना ।
	४—विकारवृत्तवैद्यात्मना	वैद्यवैद्यात्मना	(महर्षशुक्रवैद्यात्मना)	संज्ञानवैद्यात्मना ।
	५—वैश्वरिक्वैद्यात्मना	भूतवैद्यात्मना	(भूतशुक्रवैद्यात्मना)	अक्षरवैद्यात्मना ।

२०६-‘तत्’ के विवर्धित पञ्चविध उपास्य, तन्निबन्धन पञ्चविध उपासनापथ, तदनु-
प्राप्तिता उपयोगिता, एवं पञ्चोपासना विधियों का उपासनाश्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त पाँचों ही उपास्यदेव उस एक ही ‘तत्’ के पाँच महिमा-विधत हैं। अतः पाँचों में से किसी एक की भी उपासना करता हुआ उपासक आत्मा के अमुदयपूर्वक निश्चयत् साधन कर सकता है। इसी लिए शास्त्रोंने अधिकारी की योग्यता के भेद से पुनः पुनः पाँच उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाले पाँचों ही उपासनापथों का समाहर कर लिया है। हाँ इन पाँचों के सम्बन्ध में यह ध्यान आवश्यक रखना चाहिए कि पहिला मार्ग शिशुद आत्मा की ओर मुखा हुआ है वृद्ध मार्ग मध्यस्थ बना हुआ है एवं आने के तीन मार्ग विरव की ओर मुके हुए हैं। अन्त के तीनों मार्ग क्योंकि ‘शुद्ध’ से सम्बन्ध रखते हैं एवं शुद्ध ही विरव का बीज है। जैसा कि ईशाम्यान्तर्गत ‘म पर्यगाप्युद्धम्’ इत्यादि मन्त्रमाध्य में किन्तार से निरूपित है। अतएव शुद्धस्मिन्ना उपासनाश्रयी को इस ‘विरवारिमका’ कह सकते हैं। विरव कर्म-प्रधान है आत्मा ज्ञानप्रधान है मध्यस्थ अक्षररूप पोडरी कमयमूर्ति है। इसी आधार पर प्रथम मार्ग ज्ञानप्रधान उपासनामार्ग कहलाया है मध्यमार्ग कमयमूर्ति भक्तिमार्ग कहलाया है, एवं अन्त के तीनों उपासनामार्ग कर्मप्रधान उपासनामार्ग कहलाए हैं। जैसा कि पाँचों प्रकारों के शीर्षको से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पाँच मार्गों के तीन ही मार्ग शेष रह जाते हैं।

२०७-आत्मकाममूला, निष्काममाधान्विता, एवं सकाममाधानुबन्धिनी उपासनाश्रयी का तारतम्य, तथा उपासनालुगता उपासना-भक्ति-कर्म श्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों मार्गों की प्रतिष्ठा क्रमशः आत्मकाम निष्काम कर्म के तीन विधत हैं। अल्पकमूला ज्ञानप्रधाना मनोमयी अमृतोपासना का ‘आत्मकाम’ से सम्बन्ध है। अक्षरमूला (पोडरीमूला) कमयप्रधाना प्राणमयी ब्रह्मोपासना का ‘निष्कामभाव’ से सम्बन्ध है। एवं आत्मक्षर-विकार-क्षर-वैकारिकक्षरमूला कर्मप्रधाना बाह्यमयी शुद्धोपासना का ‘सकामभाव’ से सम्बन्ध है। अममयी शुद्धोपासना में संसारबन्धन है निष्काममयी ब्रह्मोपासना में बन्धनविमोक्त है एवं आत्मक्षरमयी अमृतोपासना में समस्तदुःखदुःख विवर्धित है। शुद्धविषयतन का एकमात्र उपास्य मध्यस्था निष्काममयी अक्षरोपासना ही है। जैसा कि— ‘उपासते पुरुषं (पोडरीपुरुषात्मकमक्षरपुरुषं) ये इक्ष्मा-स्ते शुद्धमवस्थितिश्च न्ति धीराः’ इत्यादि उपनिष्कृति से स्पष्ट है। इसप्रकार निष्कामरूप से आगे बाहर उपासना के तीन ही मार्ग शेष रह जाते हैं। जैसा कि परिलोक से स्पष्ट है।

१ अल्पोपासना—मनोमयी]—अमृतोपासना—आत्मकामप्रधाना—“उपासना” १

२ अक्षरोपासना—प्राणमयी]—ब्रह्मोपासना—निष्काममाधप्रधाना—“भक्ति” २

३-आत्मक्षरुपासना—बाह्यमयी

४-विकारक्षरुपासना—बाह्यमयी

५-वैकारिकक्षरुपासना—बाह्यमयी

शुद्धोपासना—सकाममाधप्रधाना—“कर्म” ३

२०८—आत्मा, ईश्वर, उपरेश्वर, एवं विराट्माथानानुगत उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय-

अथर्व आत्मवृत्ता है अथर्व सत्यव्यापक ईश्वर है, आत्मवृत्त उपरेश्वर है, विचारवृत्त मर्म-
मूलान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध वृत्तमयमूर्ति विराट्पुरुष है। इन चारों की उपासकरूपता में तो कोई
छेद नहीं है। परन्तु चौथे वैचारिकवृत्त उपासक के सम्बन्ध में छेद उपस्थित होता है। इस विषय
का हमने जीववृत्ति से सम्बन्ध कलनाया है। जीववृत्ता तो उपासक बनता है न कि उपास्य। फिर जीव-
वृत्तिरूप वैचारिक वृत्त को उपास्य ऐसे कहनाया गया है, नहीं उक्त छेद का जीव है। प्रसङ्गोपात् इस
छेद का भी निराकरण कर ही लेना चाहिए।

२६—‘विश्व’—माथानुबन्धी पञ्चविध (६) जीवसर्गों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

जीव विवर्त (१)—आधिपत्य रक्त अचतनजीव (२)—आधिभारिक अचतनजीव (३)—आधि-
कारिक अचतनजीव (४)—आध्यात्मिक अचतनजीव (५)—आध्यात्मिक अचतनजीव, ज्य
[६]—आध्यात्मिक अचतनजीव में से ५ मार्गों में विभक्त माने जा सकते हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि से
सूक्ष्म-चन्द्रमान-चन्द्र-मह-पृथिवी आदि विषय उपरेश्वर हैं परन्तु निरव्यापक पोटरीपुरुष की दृष्टि से
वे सब विरवापक ‘जीव’ ही कहलायेंगे। इन जीवों को ही हम ‘आधिभारिक अचतनजीव’ कहेंगे।
‘आध्यात्मिक अचतनजीव’ [आध्यात्मिक] इस आध्यात्मिक विद्या के अनुसर
अर्थात् आत्मवृत्त निरव्यापकमूर्ति अथर्व अचतन [अचतनार्थित] यह जीवार्थ [सर्व चन्द्रमार्थ] कर्म
मार्गों के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अतः ईश्वरता [पोटरीपुरुष की भाँति] से वे जीव वृत्ति-कर्म
के उच्छादन का निश्चय समय के लिए आधिभारिक प्राप्त करके ही पकट हुए हैं। यह वृत्ति-कर्म की अवधि
समाप्त हो जाती है तो वे आधिभारिक अचतनजीव त्वाधिकृत कर्म से उपरत बनते हुए उन्हीं स्-
मन्व ईश्वरव्यापक में विलीन हो जाते हैं। ऐसे जीव ईश्वरीय कर्म से निवृत्त रहते हैं। अतः यह
मध्यम बनाकर भी उपासना के द्वारा वह कर्म प्राप्त किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त गहन अनुसंधान
स्मृति सरसू आदि दिव्य नदियों की इसी कर्म में अन्तर्भूत हैं।

२७—आधिभारिक-अचतन जीवों से अनुप्रायिता उपासना का तात्त्विक-स्वरूप-
समन्वय —

इसका विमल आधिभारिक अचतन जीवों का है। परमेश्वर के उपरान्त के लिए समस्त कर्म पर
ईश्वरता (पोटरीपुरुषता) भोगमात्र की भाँति कर राम-कृष्ण-परशुराम-कृष्ण-ब्रह्म-मत्स्य-
वामन आदि शरीर वाग्य कर इस कल्याण पर मानवशरीर से अवतीर्ण हुआ करता है। वे भी अविनाश
होकर ही प्राप्ति होते हैं। इन का शारीरिक कर्म मार्ग प्रवृत्त नहीं होता अतः ईश्वरव्यापक आधिभारिक
मात्र से मुक्त बनता हुआ यह कर्म भी उत्पन्न करता हुआ अवश्य ही उपास्य बन जाता है। परमेश्वर के
शान्त होने पर वे ‘अवतारपुरुष’ अपने आधिभारिक कर्मों से उपरत होते हुए लीलावलय कर अपने
उन्हीं परमेश्वर में विलीन हो जाते हैं। यह मध्यम बना कर भी आत्मवृत्त की उपासना की जा
सकती है।

२११-आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवों से अनुप्राणिता उपासना का स्मरण—

तीसरा विभाग आधिकारिक अर्द्धचेतन जीवों का है। अश्वत्थ बट विस्व तुलसी केस आदि कतिपय वनस्पतियाँ सोमबल्ली ब्राह्मी आदि कतिपय ओषधियाँ ही आधिकारिक अर्द्धचेतन-जीव हैं। इन में तत्काले वपानों की अधिकाररूप से प्रतिष्ठा रहती है। इनका आधिर्भाव शोभोपासना के लिए ही हुआ है। इनके मध्यस्थ बना कर भी देवप्राणीपासना के द्वारा आत्मोपासना की जा सकती है।

२१२-आश्वत्थिक-अचेतन जीवों का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय—

चौथा वर्ग आश्वत्थिक अचेतन जीवों का है। पाराण खोस आदि पार्थिव बड़ पत्तयें उपयोग में आने वाले ओर प्राण बड़पदार्थ अचेतन जीव हैं। कर्मपाप्मा के अतिराग आचरण से इनका बिद्वश सर्वथा अभिमत रहता है। अतएव आत्मकता रहने पर भी वे बड़ बन गए हैं। (हृं उपनिषत्)। ऐसे निरिन्द्रिय अचेतन जीव न ज्ञान के अधिकारी हैं न उपासना के। यद्यपि इन का उद्धार सर्वथा अवगम्य बन जाता है। प्रतिगच्छाक्रम की अन्तिम सीमा ही इन के उद्धार का एकमात्र उपाय है।

२१३-आश्वत्थिक त्रयोदशविध (१३) चेतन-जीवों का स्वस्वपेतिवृत्त-समन्वय—

पाँचवाँ वर्ग आश्वत्थिक चेतन जीवों का है। वे जीव ब्रह्मा-इन्द्र प्रजापति पितर-गन्धर्व-बृहत् राक्षस-पिराच मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि इन षेरह भागों में विभक्त हैं। कर्मतात्पर्य से ही उन्हें तत्त्वोक्तिर्ना प्राप्त हुई है। इनमें उत्तर उत्तर जीवबन्ध पूर्व पूर्व की अपेक्षा अस्पर्शकियुत है। पूर्व पूर्व जीववर्ग उत्तर उत्तर के जीववर्ग की अपेक्षा विशेष शक्तिशाली हैं। इन तैरहों में ब्रह्मादि पिराचास्त आठ जीववर्ग “सत्त्वविराजितबन्धोनि” नाम से प्रसिद्ध हैं एवं मनुष्यादि इन्द्रन्त पाँच जीववर्ग “रजोविराजित तिर्यग्बन्धोनि” नाम से प्रसिद्ध हैं।

२१४-आश्वत्थिक-चेतन-जीवों की उपास्यता का समर्पण—

इस पाँचवीं वर्गों में से पशु-पक्षी-कीट-कृमि इन चारों का तो न उपासना का अधिकार है एक न ज्ञान का। शेष मनुष्यवर्ग ही उपासना का अधिकार रखता हुआ आत्माभ्युदय-निर्वाणम् करमकता है। आत्मकता दर्शय कर्मभंगान से बच बनते हुए आश्वत्थिक जीव बन रहे हैं। तत्त्वानि स्थानानि आठ मिथियाँ एवं ६ गुह्यो मे बड़ वर्ग निधि-गुह्य शुभ किन्तु निधि गुह्य कायुक्त मनुष्य का उपास्य भी बन जाता है।

२१५-आश्वत्थिक-अर्द्धचेतन जीव तद्विषयन प्राणद्वयता एवं तन्नुगता उपासना का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

६ वाँ वर्ग आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीवों का है। मधुर्गा वनस्पतियाँ मधुर्गा आश्वत्थियाँ ही अर्द्धचेतन जीव हैं प्रतीति—“अथ मंता भवनन्यसं सुख्युः स्वमन्त्रिणा” इत्यादि ध्याननिदान्त से स्पष्ट है। वे भी ज्ञान उपासना ईर्ष्या भावों से बधित रहते हुए ‘तद्विषयवन्धितो वनस्पतः’ को अतिरिक्त कर गे हैं। इनप्रकार मधुर्ग जीववर्ग ६ भागों में विभक्त होजाता है।

- १-१-आधिकारिक अचेतनजीव—(सूर्य-चन्द्र-आग्नि-पवन-मह-नक्षत्र-गंगा-जमुना-आदि)
- १-२-आधिकारिक चेतनजीव—(राम कृष्ण कृष्ण मत्स्य बराह वामन आदि)
- १-३-आधिकारिक अज्ञ-चेतनजीव—(आरक्ष्य कठ दुर्लभ विस्मय योग आदि)
- ४-१-आश्चर्यिक अचेतनजीव—(पाल्पा लोन्टा विड मीठिक पदार्थ)
- ४-२-आश्चर्यिक अचेतनजीव—[अहविष वेदोनि पञ्चविष तिर्यग्योनि]
- ४-३-आश्चर्यिक अज्ञ-चेतनजीव—[ओन्वि-कनस्पति-वर्ग]

२१६-पञ्चविष (६) जीववशा से अनुप्राप्तिता उपासना से अनुप्राप्तिता नीर-वीरविषेक—

अब यह विचार कीजिए कि, इन ६ वर्गों में से कौन कौन उपास्य है ? एवं पूर्वोक्त, उपास्य वर्गों में से किसे उपास्यता में किन कीलवर्गों का अन्तर्भाव है ? यदि उपासनाकारक को बीड़ी देर के लिए एक ओर रख कर उपास्य की विज्ञानदृष्टि से मीमांसा की जाती है तो ६ वर्गों ही वर्ग हमारे लिए उपास्य बन जाते हैं । आधिकारिक-अचेतनजीव आधिकारिक-चेतनजीव आधिकारिक-अज्ञ-चेतन एवं आश्चर्यिक चेतनजीवों में अप्रविष्ट देवसर्ग (देवयोगिनियों) इनकी कक्षा में तो कोई छन्देह ही नहीं है । रोष रहते हैं—आश्चर्यिक पञ्चविष तिर्यग्योनी आश्चर्यिक अज्ञ-चेतनजीव एवं आश्चर्यिक अचेतन जीव । पहिले आश्चर्यिक पञ्चविष वर्ग का ही कीजिए ।

२१७-‘मानवोपासना का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय (मनुष्य की मनुष्य के द्वारा उपासना —

मनुष्यों में वे मनुष्य, जो वैश्वरात्र-सम्पन्न हैं शान्तशुद्धिमान भक्ति-कर्मों का अनुष्ठान करते हैं भगवद्भक्तिपरायण हैं लोकापहर ही भिन्ने जीवन का मूलमन्त्र हैं पीढ़ियों के दुःखों से भिन्न होकर रोपड़ता है राग-द्वेष से जो बाहिर निकल चुके हैं ऐसे ज्ञानी भक्त महात्मा, कम्मठ, बागी बीतराग, आचार्य्य सन्त गुन उपदेशक, आदि महापुरुष अलमबादि काबारक मनुष्यों के लिए अवश्य ही उपास्य हैं । हम इन की उपासना से इन के संसार से इनके उपदेश से अवश्य ही अपना आत्मापुरुष साधन कर सकते हैं । और हम तो इन सम्बन्ध में यह भी आवश्यक समझते हैं कि, मनुष्य के मनुष्यत्व की कति जित महापुरुषत्वता मनुष्योपासना पर ही निर्भर है ।

२१८-उपासना से अनुप्राणित प्रथम-सोपान तदनुप्राणित 'लौकिकब्रह्म', एवं तदनु- बन्धिनी उपयोगिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय—

यही उपासना का प्रथम सोपान है। बिना गुरूपदेश के हम [मानव] की र पशु समानचरित्त पर ही प्रतिष्ठित हैं। आब विष ज्ञान-भक्ति-कर्म-व्यस्य का हम वयोपान कर रहे हैं वह इस मानवोपासना का ही सुपरिणाम है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार भुक्ति मी ब्रह्मवत्ता इन महापुरुषों को साक्षात् 'ब्रह्म' ही कर रही है। 'ब्रह्म लौकिकम्'— कहती हुई स्मृति भी सुसंस्कृत विचारों का "लौकिकब्रह्म" मान रही है। यही कारण है कि, आर्य्यसन्तान अपने उपदेशक गुरु को 'साक्षात् भगवान्' मान कर ही उसकी उपासना करने में सर्वात्मनैव व्यमुद्य नि-र्भयम् की संविद्धि मानती आ रही है। सम्मुख ईश्वरवत्प्रत्यय-रूप उपासना से पाहोते हमें इन महापुरुषों की ही अनन्तोपासना करनी पड़ेगी, ईश्वरत् इन की ही सेवा करनी पड़ेगी—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परेऽन्येनैव संभवा'। ये ही ज्ञाननिष्-कृतवेगा हमारी उपासना से सन्तुष्ट होते हुए हमें व्यत्ययो कर देंगे—'उपदेश्यन्ति तं ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्ववर्तिनः'। भगवान् मी ज्ञानी पुरुष को अपना आत्मा कलाते हुए उसकी उपासना ही निर कर रहे हैं—'ज्ञानी त्याज्यैव मे मतम्'। इन महापुरुषों की चरचर का स्वरूप अगम्य गहर विवने मातृक मानवी का उद्धार होना यह ऐतिहासिक चरित्रों से स्पष्ट है। इनप्रकार आर्य्यवर्तिक कोटि का यह पहिला अनुप्यवर्ग (प्रकलकण) मी हमारा ज्ञात्य बन जाय है।

२१९-देवप्राणनिबचन पशुओं की उपासना का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

वृत्त विभाग पशुओं का है। पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अक्षर्य ही ज्ञानमात्रा की न्यूनता है यह मी मानत हैं। इन्हें ज्ञान एवं उपासना का अधिकार नहीं है वह मी विज्ञान-निष्ठ है। परन्तु वैज्ञानिक मह रिषों की दृष्टि से तो ये मी उपास्य ही बने हुए हैं। वस्तु इन उपासना का है—'प्राणवृत्ता'। तत्त्वपशुओं

—१-स्वाध्यायेन त्रै, होमै स्वैश्रिधेने ज्यया शुभैः।

महापद्मेय यज्ञैश्च—'प्राज्ञी-य क्रियते तनः ॥ (हारीत)।

२-गामाहोमैवातकर्मचौदमांजी-निबन्धनै ।

वैदिकं गार्मिकं चना द्विबानामपमृन्वते ॥ (मनुः)।

१ २ ३ ४ ५ ६
३-श्रुति-समा-दया-शांभ-मनायासोऽनुवृत्तितम् ।

अस्पृहत्वा-मकामर्षं-प्राप्तयानाममी गुणाः ॥

४-संस्कारैः संभृतः पूष रुतैरपि संस्कृतः ।

नित्यमष्टगुरुं युक्तो प्राप्तो—'ब्रह्म-लौकिकम्' ।

प्राप्त पदमवाप्नोति यस्मात्तु रूपवत पुनः ॥ (शङ्ख)।

में तत्प्राप्त-देवताका भी प्रबलता रहती है । "त पशु उपामना" से पशुपतीसमस्त तत्प्राप्तदेवता का हमारे मूलात्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है एवं मूलात्मा देवतायुति से मुक्त होकर परम्परा हमारे अन्तर्मुख का गन्त बन जाता है ।

२२० महद्भूतात्मक आराध्य गौपशु का औपासनिक समन्वय—

उदाहरण के लिए अरबपशु को ही लीजिए । अरब में 'रेबन्त नावत्रिक्रमाय' उल्लेख है । अरबनामनि के परिग्रह के लिए आर्यरात्रा विजयशर्मा का अरब का पूजन करते हैं (ध) । अरबनामनि अरब का भूति ने अस्मत् पवित्र एवं उपास्य माना है । गजपशु साक्षात् गणपति की प्रतिमा है । मूषकपशु साक्षात् गणपति-प्राणमय है । हमारी गौपशु-निबन्धना उपासना तो सर्वज्ञाकर्षिता ही है । स्वर्ण भूतिन माता संशय दुहिता वसुता रससाधित्यानामभूतस्य नामि" कहते हुए गार्ग्य के प्रति अपनी श्रद्धाशक्ति का अर्पण की है । सत्यकाम आवासान इमी गोतत्वोपामना के वस्त्र पर ब्रह्म का साक्षात्कार किया था (ब्राम्हण्य-उपनिषत्) । सुप्रसिद्ध सूर्यवंशी सम्राट् द्वितीय न इसी उपामना से रघुवंश सुदृष्टित रक्ता था ।

२२१-बुद्धियोगनिष्ठा-प्रवर्त्तिक महती उपामना, एवं तदाधारभूत महतोमहीयान् दिव्य-प्राणमूर्ति गौपशु—

हमें तो इस महद्भूतात्मक गौपशु की उपासना के सम्बन्ध में यह कहते भी मन्त्रोच नहीं हो रहा कि जिसे आपमज्ञान प्राप्त करना हो जिस वस्त्र का भौतिक रहस्य जानना हो जिसे अस्मा का अविचारण होना हो जिस अपनी बुद्धि का विकास करना हो एवं सर्वान्त में जिसे गीतात्म्य बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करनी हो उसे अनन्यभाष से गाम्पता की ही सेवात्मिका उपासना करनी ही चाहिए । निरत्यप्रति नियमनः गोमूत्र का पान करना ही चाहिए, गोप्यन के पवित्र मन्त्रविराधक बलावरण में रहना ही चाहिए, गोस्पर्श से अपने पाप्मा शरीर को बन्ध बनाते ही रहना चाहिए गोव्रतन में अपने आप का कुलहरण ही ममम्भना चाहिए । इसी सर्वोत्कृष्टा उपासना के प्रसार के लिए हमारे अरिनाशक, सर्वरक्षण (भगवान् कृष्ण) गोव्रतण गामवाहृति को भी अपने जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बनाकर हमें मन्त्र किया कि यदि तुम बुद्धियागनिष्ठा प्राप्त करना चाहते हो तो पहिले अपनी बुद्धि को निष्कल बनाओ एवं इसके लिए गौपशु की ही अनन्य भाष से आराधना करा ।

२२२ मार दिव्य-इन्द्र-प्राणात्मिक गा एवं तदुपामना का समन्वय—

मुझे स्मरण रहना चाहिए कि इस पशु का विकास आपमघन मूत्र्य किया मार इन्द्रप्राण से ही हुआ है 'भार्य गाः प्रिनरकमीन' । उचर "मूत्र्य आपमा जगत्प्रत्युपध" के अनुसार मुख्य मावान् आपमरूपी है एवं किया या म प्रचाइयान्" के अनुसार यही मार इन्द्रप्राण मुखरी बुद्धि का स्वरूप-ममन्त्र है । यही वराल में बुद्धिपन मूत्र्य-मज्जनीय गौपशु की उपामना के अनिर्दिष्ट और

कोई उत्कृष्ट साधन बुद्धि को निमग्न बनाने वाला नहीं है। और यह भी निश्चित है कि, बिना इस उपासना के तुम मेरी बुद्धियोगनिष्ठा के भी अधिकारी नहीं हो *।

२२३-विभिन्नप्राणात्मक विभिन्न भस्व-गज भूपक-आदि प्राणियों की उपासना का संस्मरण—

इसीप्रकार संहारप्राणात्मक सिंह भी शालों के लिए कम उपास्य नहीं है। 'रघु' एवं 'रावण' नामक-रघुनाथप्रणो से कृतात्मा रघुनाथ (कृता) भी प्रेतकर्म-निवर्धन-वर्षा प्रयोग की दृष्टि से आद्यादि कर्मों में उपास्य बना हुआ है। शीतलाप्राणात्मक-कपालक्षिप्टरमप्राणात्मक रामम (गधा) भी शीतलारति-बाह्यनरवेक उपास्य बना हुआ है। निर्दशनमात्र है। मानदेवता को मूल में रखते हुए सभी पशु हमारे उपास्य बने हुए हैं।

२२४-दिव्यप्राणनिबन्धन पक्षी, कृमि आदि की उपासना का संस्मरण—

वीर्य विभाग पक्षियों का है। राममप्राणात्मक शिवप्राणात्मक नीलकण्ठपक्षी ब्रह्मप्राणात्मक ईश प्रेतमात्रात्मक काक, आदि पक्षी भी लक्ष्मणानी में उपास्य ही माने गए हैं। कृमिपर्व की सपञ्चादि की उपासना भी प्रसिद्ध ही है। नागपूजन से सम्बन्ध रखनेवाली 'नागपञ्चमी' भी स्वविनिष्ठा ही है।

२२५-आश्चर्यपूर्ण-अच्युत जीवानुबन्धिनी प्रतिमोपासना (मूर्तिपूजन), एवं शास्त्र सिद्धा मूर्तिपूजना के सम्बन्ध में वेदमन्त्रों का व्यापार—

इसके अतिरिक्त आश्चर्यपूर्ण अच्युत जीववर्ग की प्रतिमा रूप में उपासना की लोकप्रचलित है। कभी तो मगधदेश है फिर इत दृष्टि से कौन यह माग उपासनामर्मांश से बाहर निकल सकता है! "ममैवाँशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। इसी आधार पर मगधदेश के अशु अशु की मगवान् का आच-वार कलाया है। 'निर्वोप हि मम ब्रह्म' के अनुसार 'मगधदेश' सर्वत्र सर्वत्र समष्टि स्वरूप से व्याप्त है। "मम में उसे देखना, सबको धर्म में देखना ही" उपासना का मूलमन्त्र है। मन्त्र में नहीं आता वैदिक भी स्वामी दयानन्दजी ने लोकप्रचलित प्रतिमोपासना (अर्चोपासना) का किस आधार पर विरोध कर आर्च्यवर्ष की स्नातन अर्थात् पर आधारित करते हुए लोकमार्गक बुद्धिमान का मं करवाता बर्षा—मूर्तेषु मूर्तेषु निश्चित्य प्रीता प्रेरयामास्तोकाप्रयुता भवन्ति—इत्यादि अति मूर्तोपासना का भी सर्वदेव उपादेय बताया गयी है। यह निरर्थक नहीं है कि—आश्चर्यपूर्ण विविध जीववर्ग की आचर्य ही हमारा [उपास्य मनु-ष्य वर्ग का] उपास्य बन सकता है। और इसी आधार पर हमने वैचारिक आचर्य इत पाँचों आश्चर्यपूर्ण-जीववर्ग को भी उपास्य बताया है। फलतः कन्देहवीर्य की अङ्गुलि होने का बत आचर्य नहीं मिल सकता।

* इत गीता का विचार वैज्ञानिक विषयन भीहृष्टातस्ववैज्ञानिकत "मानुषात्मकप्यारहन्व" मगध में देवता बाह्य है।

२२६-आधिकारिक-अधेयन-उपास्य-जीवों से अनुप्राप्तिता उपासना, एवं उपासनावस-
निबन्धन पञ्चविध विवक्ष-भार्यों का तात्त्विक-मध्यम से समन्वय प्रयास—

पञ्चविध जीव वर्गों में उपास्य कीन कीन है ? इन का सम्पादन हुआ । अब वह प्रश्न सामने उपस्थित
हुआ कि, किम वर्ग का किस संख्या में अन्तर्भाव है ? आधिकारिक सूर्य-चन्द्र-गङ्गादिस्तब्ध अथवा
उपास्य जीवों का विचारम्भवा में अन्तर्भाव है और कीपी संख्या मानी गई है जिसे कि हमने 'उपास्य' कहा है ।
अन्यथास्तब्ध आधिकारिक जीवों का तीव्री आत्मस्वरम्भवा में अन्तर्भाव है । पक्षियों को उपा-
स्य होना कि, इसी संख्या को हमने 'अध्वममापति' कहा है । एवं इत्यन्तरों में वह भी स्पष्ट किम आनुष-
ङ्गिक ही किण्व है एवं जिसने जो अन्तर [२४] मुने करते हैं वे विष्णुसत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं ।
आधिकारिक अस्वरम्भवा अथवा 'चेतन उपास्य' का एवं आत्मस्वरम्भवा विविध उपास्य जीवों का पाँचवीं वैश्व-
रिक्तस्वरम्भवा में ही अन्तर्भाव है इसी का हमने 'मूलोपासना' कहा है । अथवा 'समूह-मूल-मोटादि की,
महासूर्य की पशु पक्षी-सर्पादि की स्वप्रतिमाओं की उपासनाओं का भी इसी पाँचवीं संख्या में
अन्तर्भाव है जैसा कि निम्नलिखित परिचय से स्पष्ट है ।

१-निगुणात्मकतमोपासना (आत्मोपासना)] — आत्मस्वरम्भवा-उपास्य (आत्म)

२-सगुणस्वरम्भवा (ईश्वरोपासना)] — आत्मस्वरम्भवा-उपास्य (ईश्वर)

३-आधिकारिक-चेतन-अधेयन-जीवोपासना (अन्तरात्मोपासना)] — आत्मस्वरम्भवा-उपास्य (अन्तरात्म)

४-आधिकारिक-अधेयन-जीवोपासना } (आधेयनोपासना)] — आत्मस्वरम्भवा-उपास्य (आत्म)
(आधेयनोपासना)

५-आधिकारिक-अधेयन-जीवोपासना- (श्री कनकमुपासना)

६-आत्मस्वरम्भवा-चेतन-जीवोपासना- (देवकीनि-विष्णुचेतनमुपासना)

७-आत्मस्वरम्भवा-अधेयन-जीवोपासना- (धीमहि-कनकमुपासना)

८-आत्मस्वरम्भवा-अधेयन-जीवोपासना- (प्रसिद्धोपासना)

— वैश्वरिक्त-उपास्य (अन्तरात्म)

२२७-पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना, जीवोपासना, अगदुपासना, इषी का
स्वरूप-समन्वय—

इसी उपासना-विषय को हम ईश्वरोपासना-जीवोपासना-अगदुपासना इन तीन दृष्टियों से भी
देख सकते हैं । निगुण निगुण आत्मस्वरम्भवा एवं सगुणोपासनी दोनों के सम्मिश्रण को 'ईश्वर' माना

कामना है। मनु के आधिकारिक चमनपत्र (अथर्वार) का "जीव कदा मासकम्" है। एव आगे के ५५ व
रेनी शिरो का "जगन् कदा मासकम्" है। इनप्रकार ५ उपास्य-मै-याओं का इन तीन उपास्यों में ही चम-
न हो जाता है। ईश्वरपामना ज्ञानयागात्मिका है जीवपामना भक्तियागात्मिका है गुरुशिरो-
पामना कर्मयागात्मिका है। उपासक जीव शिरो का उपासना का आपना बनाता हुआ जीवार्त्त की उपासना
करता हुआ तत्त्वार्त्त ईश्वरमात्र प्राप्त करने में समर्थ होता है। शिरोपामना उपासना का प्रथम मासान
है जीवोपामना इस का द्वितीय मासान है गुरु ईश्वरपामना उपासक का तृतीय मासान
है और यही उपासक की पूजकृत्या है।

१-मिथुनात्मना } ईश्वर (ईश्वरात्मना) — उपात्मना (उपमत्तोत्तमम्)
२-जगत्प्रेषितात्मना }

२ १-आदिश्रविक-पतन-वीशारावना (१)]—जीव [वीशारावना]—भक्ति [मध्यमभारानम्]

६ साधिवारिह-अधेवन-त्रीरामना [२]

३ ५-६-आध्यात्मिक अर्थदेयता की इंगितना ३]

रु-पारस धव-पञ्चम बी. गान्धः [४] —अगम (परिवर्तमाना) —वर्ष (अगम गान्धः)

॥-पारस' बह चन्द्र'भजन श्रीरागभना [५

ए-आरबी बह दधनन बीव-गना ५

२२= मंडिता प्राद्वण आरपय उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र स अनुप्रागित प्रमाण
यगतो ५। उपरम—

[illegible]

२२६-[१]-“वेदमहितामूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व”-

१-निर्गुण-अव्ययात्मा (अव्यय)-

१-“परिकोश मधुसूत-“मध्यय” वार अर्पति ।

अमि बार्साशुषीणां सप्त नूपत” ॥

—अक्षरं ६।१ ३।१।

२-“अज्ञो” न सां दाधार पृथिवीं तस्तस्मै धाम मन्त्रमि सत्यै ।

प्रिया पदानि पञ्चो नि पाहि विरवायुस्मे गुहा गुहं गा ॥”

—अक्षरं १।१०।३ ।

३-एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।

एकरोपा सर्वमिन् विमाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

—अक्षरं ८।१८।२ ।

४-अचिकित्वाश्चिकितुपरिवदन्न कवीन् धृष्ट्यामि विद्यते न विद्वान् ।

वि यन्तरतस्मै पठिमा रक्षास्पञ्जस्य रूप किमपि सिद्धकम् ॥

—अक्षरं १।१६।६।

—•••••

२-पुण्य-योङ्गीप्रजापति (अक्षर)-

१-“प्रजापते न त्वदमान्यन्यो विरवा जातानि परि ता बभूव ।

यनद्यामान जुहूमन्मघो अस्तु बयं स्पाम पयसो रयीणाम् ॥”

—अक्षरं १।१२।१४।

२-“प्रजापतिमघमता रराणो विरवर्देव पितृमि संविद्वान् ।

जिज्ञा मनीत्य मो गाप्समारण्माणां बयं प्रजया मयदम ॥

—अक्षरं ०।१६।१४।

३-अम्पा ममता अघिबिद्वरन्ति मन जीयन्ति प्रमिद्धतम ।

तत्र चरन्त्यर्च नदिरमपजीरति ॥

—अक्षरं १।१६।१४।

३—“यस्मात्त ज्ञात परो अन्यो अस्ति य आनिवेश मुक्थनानि विरत्रा ।
प्रज्ञापति प्रजया संरराणस्यीणि ज्योतींषि सचते स ‘पोहशी’ ॥

—यजुसं० ८३६।

४—“यस्माज्जार्त न पुरा किंच नैव य आ बभूव सुवनानि विरत्रा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्यीणि ज्योतींषि सचते स ‘पोहशी’ ॥

—यजुसं० ३२५।

३-सविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मक्षर —]—

१—“यज्ञो” देवानां प्रत्येति सुम्नमादिस्थातो मवता मृद्वपन्त ।

आतोऽवाची सुमतिर्ष्वत्त्याद्दोषिषा वरिशोत्रिचरामत् ॥

—श्रुत्सं० १।१०५।१।

२—“इयं वदि परो अन्त पृथिव्या अयं “यज्ञो” सुवनस्य नामि ।

अयं सोमो पृथ्वी अश्वस्य रेतो ब्रह्मार्थं वाचः परमं व्योम ॥

श्रुत्सं० १।१६४।५५

३—यज्ञं पृथ्व्याम्यवमं स तद्भूतो वि बोधति ।

एव श्रुत पूर्णं गतं कस्तूभिर्मर्षि मृतन ॥

—श्रुत्सं० १।१०४।१।

४—“यज्ञेन ‘यज्ञ’ मयमन्त देवास्तानि धम्माणि प्रथमान्यामन् ।

ते ह नार्कं महिमान सचन्त यत्र पूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥

यजुसं ३।१।१६।

४-माझनो विराट् पूजापति [विकारक्षर ॐ]—

१—तस्मा “विराट् ज्ञायत, विराजो अक्षिपूरुष ।

स ज्ञातो अस्यरिन्त्यत पश्चात्सुभिमयो पुर ॥

—श्रुत्सं० १० ३०।५।

—पगिहो अश्वमश्वविश्वोमदिन्दो हिरण्यगात् । ‘वरा’ महभिषीरिप ।

—श्रुत्सं० ६।११।३।

०-ममाववतिं विष्ठितो त्रिणीपुर्विन्वेपा क्षमधरताममाभूत् ।

गरवा अपो “विहृत्” हिन्प्यागादनु धर्तं सभितुदैव्यस्य ॥

श्रुत्सं० ७।३८।६।

२—“विराट्”—मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्म त्रिष्टुबिह मागो ब्रह्मः ।
 विश्वान् द्वाभ्यामगत्या विवेश तेन चाकृत्य मृषयो मनुष्या ॥

—अक्षरं ० १०।१३।१४

३—अपिमना य अपिकृतस्वर्पा सहस्रसीय पदवी फलीनाम् ।
 तृतीयं घाम महिषः सिपासन्त्सोमो “विराज” मनु राजति ष्टुप् ॥

—अक्षरं ० ३।६५।१८

४—‘अपम या समानानां सपत्नानां विपासहिम् ।
 हन्तार शत्रूणां कृचि विराजं ‘गोपति’ गवाम् ॥

—अक्षरं १०।१६५।१

५-मावर्णा विश्वपूजापति, [वैकारिकचर]—

१ त्वं नो ब्रह्मे पित्रोऽस्य आ देवो देवेष्वनवद्य आशुभिः ।
 तनुकृदोषि प्रमितिस्त्य कारणे त्वं कल्प्याय वसु ‘विरव’ मापिये ॥

—अक्षरं १।१।६

२-ऊर्वा न पाम हसो नि केतुना “विरव” समत्रिषं बह ।
 कृची न ऊर्वाञ्चरषाय जीवसे बिदा देवेषु नो दुषः ॥

—अक्षरं १।१६१।४

३-यद्वो वर्षं प्रमिनाम वगानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
 अद्रिष्ट-‘विश्रमा’ वृषाति विश्वान्नेमिर्देवा अतुमि कल्पयाति ॥

—अक्षरं १।१२।४

४-व्यस्तन्नाम्रोदेसी मित्रो ब्रह्मसुतोऽन्तर्वाक्दकुण्डोन्जोसिपा समः ।
 वि चर्मसीव पिपशो अकपोयर्वा श्वानरो “विरव” मयत्त वृष्ययम् ॥

—अक्षरं ० ५।१२।१

२३०-[२]-ब्राह्मण-मूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१-निर्गुण-अव्ययात्मा [अव्यय]—

१-सर्वं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वाणि च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद्व्ययम् ॥

—गी० भा० पृ० १।२६।

२-“सर्वं रूपमात्मा (अव्ययः) [शत० भा० ४।२।२।१] ।

३- ‘यथायमव्यात्म शरीर-स्वेष्टोमयोऽमृतमयः पुरुष , अयमेव स -योऽयमात्मा ।

इदममृत, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् [शत० १।४।५।१।१] ।

४- ‘असङ्गो ह्ययं पुरुष [शत० १।४।५।१।१।१] ।

२-सगुण पोद्दशीप्रजापति [अक्षर ❀]—

१-पोद्दशकस्तं वै ब्रह्म [गी० उ० भा० १।३।५।३] ।

२-पोद्दशकस्तः प्रजापतिः [शत० भा० ५।२।१।१] ।

३-स (प्रजापतिः) “पोद्दशकाऽऽत्मानं व्यकुल” (जै० उ० भा० १।४।६।२) ।

४-विबुधं (मन प्राण बलमयः) ❀ पोद्दशी (श्री० भा० १।५।३]



३-सविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मक्षर]—

१-एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापति (शत० भा० ४।३।४।३) ।

२-यज्ञ उ वै प्रजापति (श्री० भा० १०।१) ।

३-स वै यज्ञ एव प्रजापतिः (शत० १।५।४।४) ।

४-विष्णुर्धर्म यज्ञः [ये० भा० १।१५] ।



❀ यद्देवाक्षरं-नाधीयत-तदस्मादक्षयम् । अक्षय इ वै नामैतत्-तदक्षरमिति परोक्षमाश्रयते ।

—जै० उ० भा० १।२।५।२।

४-साञ्जनां विराट् प्रजापति (विकारचर)—

- १-विराट् सृष्टा प्रजापतिः, योनिरम्न प्रतिष्ठिति [तं आ० १२२२२५] ।
- २-विराट् वाऽअग्निप्योम (अग्नि-वायव्यन्त्रप्योम) [तं आ० १२३] ।
- ३ वैराजो वं पुण्य [तं आ० २४५] ।
- ४-वामै विराट् [तं आ० १२३१२४] ।



५-मावरणा विश्वप्रजापति (वैकारिकचर)—

- १-यद्वं विद्वं सर्वं तत् [तं आ० १२३१२१] ।
- २-इमं वं लोका विश्वा सवृमानि [तं आ० १२३१२०] ।
- ३-“वाचीमा विश्वा सुवनान्यपिता” [तं आ० १२३१२३] ।
- ४-यो मागार सुवनपु विश्वा [तं आ० १२३१२२] ।

२



०३१-३-आरण्यकमूलक पञ्चधा विभक्त उपास्यतत्त्व—

१-निर्गुण अव्ययात्मा-(अयय)—

- १-तस्मात् पुरुष पुरुषप्रत्यादित्वो मवति [तं आ० १२३१२] ।
- २-आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तं आ० १२३१२] ।
- ३ विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् ”
- ४-मनो ब्रह्मेति व्यजानात् ”
- ५-स एष पुरुष महत् [तं आ० १२३१२] ।



२-मगुण पाङ्गीपूजापति [अचर]—

- १-अम्मस्य पार सुवनस्य मध्य नाकस्य पुण्य महतो महीपान् ।
शुक्लेश न्योतीषि समभ्युपविष्टः प्रजापतिरचरति गर्भेऽन्तः ॥
(तं आ० १२३१२) ।

२—यस्मिच्छि स च वि चैति सव यस्मिन् देवा अघि विश्वे निपेदु ।

तदेव भूतं तदु मय्यमा इद तदक्षरे परमे व्योमन् ॥ (तै० आ० १।१।)

३—प्रजापति र्वा इद पुरुषमुदञ्चत ॥ (शां० आ० ११ अ० १) ।

४—तदेवर्षा तदु सत्यमाहुस्तदेव द्रष्टा परम कर्मीनाम् ।

इन्द्राण्य बहुधा ज्ञातं जायमान विश्व विमर्शि भूषनस्य नामि ॥

(तै० आ० १०।१) ।

३—मविकारो यज्ञप्रजापति (आत्मचर) —

१—स एष वाचभित्तस्योचरोचरि क्रमो यत् 'यज्ञः' (ऐ० आ २।१।३) ।

२—एष वै यज्ञे यज्ञोऽन्यद्देवेषु देवोऽप्यूढो यदेकस्मिद्दुक्यम्

(ऐ० आ० २।३।४) ।

३—मखाप त्वा, मखस्य शीर्ष्णे (तै० आ० ४।२।) ।

४—प्रसतेन वै यज्ञ न देवा स्वर्ग लोकापयत् (तै० आ २।६।१) ।

४—माझनो विराट् प्रजापति [विकारचर] —

१—अयातो विद्वत्स्ता विराजो भवन्ति तन्मात्पुल्य (ऐ० आ १।४।१) ।

२—विराज्य श्रमति । अन्नं वै विराज्यः (ऐ० आ १।४।२) ।

३—तन्नद्वित्रियां विराज्यमाप्नोति (शां० आ २।१६) ।

४—विराद्व्यां पुल्य प्रतिष्ठितः (ऐ० आ १।४।२) ।

५—सावरणो विश्वप्रजापति [वैकारिकचर] —

१—विश्वो ह्यन्यो अरिश्रज्जगाम (शां० आ २।४।) ।

२—देवानां कनिमानि विश्वा (ऐ० आ २।४।१) ।

३—विश्वतो दाबन्-विश्वतो न आभर (ऐ० आ २।२।२) ।

४—स इदं विश्वं भूषनं विशष्टे (ऐ० आ २।१।१) ।

४-माझना विराट् प्रजापति (विकारचर)—

- १-विराट् सृष्टा प्रजापति, योनिरग्न प्रतिष्ठिति [तै० भा १।२।२।५] ।
- २-विराट् वाऽअग्निष्म (अग्नि-वाय्वन्त्रष्म) [को० भा० १।५] ।
- ३-वैराजो वै पुरुषः [ता० भा २।७।५] ।
- ४-वाय्वै विराट् [रा० ३।५।१।३४] ।

—•—

५-मावरणो विश्वप्रजापति (वैकारिकचर)—

- १-यद्वै विश्वं सर्वं तत् [ग्ल० भा० ३।१।२।११] ।
- २-इमं वै लोका विश्वा सञ्जमानि [रा० १।७।१।१] ।
- ३-“वाधीमा विश्वा भुवनान्यपिता” [तै० ब्राह्मण ३] ।
- ४-यो जागार भुवनेषु विश्वा (ग्ल० भा १।१।१।१८] ।

२

—•—

२३१-३-आरग्यकमूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्यतत्त्व—

१-निर्गुण अचयात्मा-(अव्यय)—

- १-तस्मात् पुरुषं पुरुषप्रत्यादित्यो मवति [य० भा १।१२] ।
- २-आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [त० भा १।१।५] ।
- ३-विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् ”
- ४-मनो ब्रह्मेति व्यजानात् ”
- ५-स एष पुरुष सद्ब्रह्म [त० भा २।१।१२] ।

—•—

२-मगुण पाङ्कशीपूजापति [अचर]—

- १-अम्मम्य पार भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीपाल ।
- शुभेष व्योतीषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः ॥

(त० भा १।१) ।

३-मविकारो यज्ञप्रजापति [आत्मचर]—

- १-अनेजदेक मनसो जवीपो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमरत् ।
तद्वावतोऽप्यान्यस्येति सिष्ठतस्मिन्नपो मातरिषा दधाति ॥
—ईरोपनिषत् ४।
- २-स पर्यागाच्छुक्रमकायमग्र्यामस्नाविर शुद्धमपावविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्यायातभ्यतोऽप्यान्यदद्याच्छास्वतीम्य ममास्य ॥
—ईरोपनिषत् ८।
- ३-य सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तप
तस्मादतश्च ब्रह्म-नामरूप-ममन्व ज्ञायते ॥
—सुरङ्गकोपनिषत् १।१।६।
- ४-यत्तदब्रह्ममग्राह्यमगोत्रमवर्णमशब्दं भोत्रं तदपाशिपादम् ।
नित्यं विद्म सर्वगतं सुखकमं तदक्षयं तद्भूतवानि परिपश्यन्ति धीरा ॥
—सुरङ्गकोपनिषत् १।१।६।

४-माज्ञनो विराट्प्रजापति (विकारचर)—

- १-एकैकं ज्ञातं बहुधा विद्वन्मस्मि चतुः सत्त्वरत्नय देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयन्तवशः सर्वाधिपत्यं कुरुत महात्मा (महानात्मः पारमहन्स्य) ।
—रथेतास्वरोपनिषत् ५।१।
- २-गुणान्वयो यः क्लृप्तकर्मकर्षा कृतस्य तस्यैव न शोपमोक्षः ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सत्त्वरति स्वकर्मभिः ॥
—रथेता ५।१।
- ३-अनाद्यमन्तं कमलस्य मध्ये विश्वस्य सत्त्वरमनंकरूपम् ।
धिरवस्यैकं परिवर्तितारं प्राणात् त्वं मुच्यते सधर्षणम् ॥
—रथेता ५।१।१।
- ४-एको ह्येव सत्त्वंभूतेषु गूढः मगम्यापी मगमृतान्तरात्मा ।
कर्मार्णवश्च मर्षामृताधिवासः साक्षी चेता केवलो निगुणश्च ॥
—रथेता ५।१।१।

२३२-४-उपनिषन्मूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्य तत्त्व—

१-निर्गुण-अव्ययात्मा [अव्यय]—

१—दिव्योऽमूर्तः पुरुषः स बाह्यान्तरोद्भवः ।

अप्राज्ञो ज्ञाना ह्यप्रो ज्ञावरात् परतः पर ॥

—सुरबकोपनिषत् २।१।२।

२—यताः कक्षा पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कम्पाच्च विद्वानययश्च आन्या परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति ॥

—सुरबकोपनिषत् ३।२।७।

३—एतदाक्षम्भर्न भेषमेत्वाक्षम्भर्न परम् ।

पतदाक्षम्भर्न ज्ञात्वा ब्रह्मलोकं गहीयते ॥

—कठोपनिषत् १।३।१७।

४—यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽर्जं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वद्भ्यामरूपादिमुक्तः परास्पर पुरुषद्वयैति दिव्यम् ॥

—सुरबकोपनिषत् १।२।८।

—•••—

२ सगुण षोडशीपूजापति (अक्षर)—

१—सर्वे वेदा मत्पदमात्रमनन्ति तपोसि सर्वाणि च यद्वदन्ति

यदिच्छन्तो ब्रह्मकर्म्यं चरन्ति तथा परं संग्रहेण ब्रवीमि—“ओम्” इत्येवम् ॥

—कठोपनिषत् १।२।१५।

२ ऊर्ध्वमूलोऽक्राशास्त्र एषोऽक्षरस्यः मनाक्षरः ।

तद्वच शुक्ल-वस्त्रं ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते ॥

—कठोपनिषत् २।४।१।

३—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि (शरीरे) तिष्ठति ।

ईशानो मृतमम्यस्य न ततो विभुगुप्सवे ॥

—कठोपनिषत् ३।४।१५।

४—पश्यान्नुविचः प्रतिबुद्ध आत्माऽऽत्मन्तदेव गहने प्रविष्टः ।

स विरचकृत्, स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोका, स उ लोकोऽयम् ॥

—इश्वरस्यकोपनिषत् ४।४।१५।

—•••—

४-त्रिमिगुणमयैर्मावैरेभिः सर्वमिदं तत्तम् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् (गुणातीतम्) ॥

—गीता ७।१३।

२-सगुण-योद्धशीपूजापति —

१-मत्त परतरं नान्यत्-किञ्चिदस्ति घनञ्चय ! ।

मयि सर्वमिदं प्रोक्तं श्रेष्ठे मणिगणा ॥

—गीता ७।७।

२-यं चैव सान्त्विका मावा, राजसा, तामसाच्च ये ।

मत्त एवेति तान्निदि नन्द्यं तेषु ते मयि ॥

—गीता ७।१०।

३-अभिभूतं दरा मावाः पुरुषमाधिदैवतम् ।

अधियक्षोऽहमेवात्र वेहे देहमृतांवर ! ॥

—गीता ७।१४।

४-द्वरं सबाण्डि भूतानि, कूटस्थोऽद्वरं तप्यत ।

यो लोकत्रयमाविश्य विमर्त्यम्यय ईश्वरः (योद्धशी) ॥

—गीता १५।१६-१७

३-सविकारो यज्ञपूजापति —

१-मोक्षारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां क्षात्रा मां शान्तिमुच्यते ॥

—गीता १८।२।

२-सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रभापति ।

अनेन प्रसविष्यन्मयेयं योऽस्त्विष्टकामयुक् ॥

—गीता ३।१०।

३-कर्म ब्रह्मोन्मर्षं विद्धि ब्रह्माचरसमुन्मवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—गीता ३।१३।

५-सावरणो विश्वप्रजापति (वैकारिकचर)

१-तदेवाग्रिस्तदादित्यास्तन्वायुस्तदु चन्द्रमा ।

तदेव शुक्रं तश्मस तदापस्तत् प्रजापतिः ॥

—रवेता० ४५० ४१२।

२-त्वं श्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं दीर्घो द्यौर्देन वज्रसि त्वं मातो ममयि निरवतोद्बुधः ।

—रवेता० ४१३।

३-स बिस्वकृद्विस्वविदात्मयोनिर्हः कासकस्तो गुहो सर्वविदुषः ।

प्रधानचेत्रद्वपतिर्गुहेशः संसारमोक्षस्थितिष्वन्वहेतुः ॥

—रवेता ४१४।

४-स तन्मयो ह्यमृत ईशसंख्यो हः सर्वगो सुवनस्यास्य गोप्ता ।

स ईशोऽस्य भगवो निस्त्वमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥

—रवेता ४१५।

४



२३३ ५-गीताशास्त्रमूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१ निर्गुण-अव्ययात्मा (अव्यय) —

१-अनादिश्चाभिगुह्यत्वात्-परात्मायमव्ययः ।

शरीरस्मोऽपि कान्तेय ! न करोति, न क्षिप्यते ॥

—गीता १३।३१

२-ग त-मर्षा-प्रभु-साधी निवासः-शरणा-सुहृद् ।

प्रमद-प्रसन्न-स्थानं-निधानं-बीज-मध्यमम् ॥ (आधिदैविकः-ईश्वारात्म्य

—गीता ४।१५।

३-उपद्रष्टा-नुमन्ता च-महा-भोक्ता-महेश्वरः ।

परमात्मसि आप्युक्तो ब्रह्मन्मिन् पुरुष 'पर' ॥ (आध्यात्मिकः-ओशात्म्य)

—गीता १३।२२।

४-मया प्रममेन तत्रानुनेन रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं निखमनन्तमाद्य यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

—गीता ११।४५।

४

२३४-‘यस्मिन् प्रायः पञ्चधा संविशेश’ मूलक-पाठक विरचयमानुषन्धी पञ्चापयद-
उपास्य-विषयों का संस्मरण—

पाठक इससे यह कल्पना न करेगा कि, पाँच उपास्य-विभागों को किञ्चित् मान बैठाना शेषक की कल्पना है। यद्यपि यह ठीक है कि ३ ४-६ किंवा अन्त्य उपास्य सभी शास्त्रादि हैं। परन्तु इन सबका आत्मा के अन्त्य-अक्षर [पोषण]—‘अक्षर’—[यज्ञप्रजापति] ५ यिज्ञरक्षर [विराट्प्रजापति]—‘यैक्षरिक्क्षर [विश्वप्रजापति] पाँच विषयों में ही अन्तर्भाव है। पाँचों उपास्य एक ही के पाँच विषय हैं। एवं ‘यस्मिन् पञ्च पञ्चजना’—‘यक्षरं पञ्चयिषं यमेति’—‘यस्मिन्प्रायः पञ्चधा संविशेश’ ‘पाञ्चके वै यज्ञ’ इत्यादि अर्थों में ही उपास्यविषयों का ही किञ्चित् रूप में समर्पण कर री है। इसी आधार पर हम उपास्यदेव के इन पाँच विषयों को ही किञ्चित्काटि में प्रविष्ट मानते हैं।

२३५-पञ्चर्वात्मक महारम्म आर्पणशास्त्र में उपरिष्ठित पञ्चोपास्य विषय—

यद्यपि पञ्चपदा [महिता-आद्ययज्ञ-आद्ययज्ञ-उपनिषत्-गीता] शास्त्र-में [प्रत्येक में] पाँच पाँच उपास्यविषयों का विवेचन हुआ है। तो इसी आधार पर हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि अक्षर ही पाँचो शास्त्रपदों में [प्रत्येक में] पाँचों उपास्यविषयों की उपासना का भी निरूपण हुआ होगा। विस्तारमय से शास्त्र के चार पदों का तो हम छोड़ते हैं केवल गीताशास्त्र में प्रतिपादित उन पाँचों उपास्यविषयों की ओर ही बिना बाधों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। पाँचों में से पहिले क्रमशः निगुण अक्षर्य की उपासना का ही गीता में अन्वयण काजिग।

१-निगुण-अक्षर्योपासना-समर्थक गीतावचन-[द्वयुगानुगता-
उपासना]—

२३६-गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिवचना निगु शास्त्रयमूला निगु उपासना का
स्वरूप-समन्वय प्रयास—

जैसा कि पूर्व कहा गया है अक्षर्योपासना का मत तो निरुपासना के समर्थक है। परन्तु न कामभाव है। यद्यपि यही केवल ‘आत्मकामना’ से ही सम्भव है। अक्षर्यपुरुष विद्या-कर्ममय है। जानना और करना इन अक्षर्य का स्वाभाविक धर्म है। यही उपास्यविषय अक्षर्यपुरुष प्रत्यगात्मा [आत्म्यात्मिक हरभर] की प्रतिभाभूमि बना हुआ है। जो बहुत बुद्धियोग के द्वारा यह अक्षर्यनिष्ठा प्राप्त कर लेता है उसके

४-यज्ञावत्कर्मस्योऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गं समाचर ॥

—गीता ३।४।

४-माञ्जनो विराट्पूजापति —

१-इहैकस्य जगत्-कृत्स्नं परमाद्य सचराचरम् ।

मम इह गुडाकेश ! यवान्यद्रूपद्रुमिष्यमि ॥

—गीता ११।५।

२-धावापृथिव्योरिवमन्तर हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वो ।

द्रूपद्रुमत रूपमुग्रं तदमे लोकत्रयं प्रप्यधितं महात्मन् ॥

—गीता ११।६।

३-कसोऽस्मि लोकत्रयकृत्-प्रवृद्धो लोकान्तमद्भुतं मिह प्रवृत्त ।

श्रुतेऽपि त्वां न मविध्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

—गीता ११।७।

४-त्वमादिदेवः पुरुषः पुरावास्त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च ज्ञाय त्वया कृतं विश्वमनन्तरूप । ॥

—गीता ११।८।

५-सावरणो विश्वपूजापति —

१-मया कृतमिदं सर्गं अनश्म्यकमूर्तिना ।

मत्स्थानि सम्भूतानि नचाहं तेष्वावस्थितः ॥

—गीता १।४।

२-न च मत्स्थानि भूतानि, परमं न योगमैश्वरम् ।

भूतसृष्टं च भूतस्थो ममात्मा भूतमाधन ॥

—गीता १।५।

३-मयाप्यचेष्ट प्रकृतिः कृतं स चराचरम् ।

हेतुनानन कौन्तेय ! अगाधपरिवर्धते ॥

—गीता ३।१ ।

२३६-अर्घ्यपोषासनानुगत निर्गुणभाष, एवं तत्समर्थकगीतावचन—

अर्घ्यपोषासनानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार-प्रचार का एकमात्र श्रेय भगवान् को ही है। अतएव इसे हम 'भवगर्भनिष्ठा' करते हैं। विद्वत्वाङ्ग, अमकादि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए विद्वद् कहलाए हैं तथा ही वह भी प्यान एषिय कि, इस का मूल प्रधानरूप से उपनिषत् शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अर्घ्यपोषासना इसी निर्गुणोपासना का स्वीकृत्य करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

- १- येषां स्वन्तस्त पाप बन्धनां पुण्यकर्मणाम् ।
ते ब्रह्मोहनिर्मुक्त्य भवन्ते मां दृष्ट्वाः ॥ (अ२८) ।
- २- अरामरणमोक्षाय मां मामित्य वदन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमर्घ्यस्य कर्म चास्मिन् ॥ (अ२९) ।
- ३- साधिमृतामिदेष 'मां' साधियन्तं च ये विदुः ।
प्रयासकालेऽपि च "मां" ते विदुः पुनश्चेतसा ॥ (अ३०) ।
- ४- तेषां ज्ञानी नित्यशुद्ध एकमस्मिन्निशिप्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्घमहं स च मम प्रियः ॥ (अ३१) ।
- ५- उदारान् सर्वे पश्येते ज्ञानी त्वास्मैव मे भवतु ।
आश्रित्य स हि शुद्धत्वा मामेवानुष्मां गच्छिष्ये ॥ (अ३२) ।
- ६- ब्राह्मदेव, सर्वमिति स महत्मा सुबुद्धेयः ॥ (अ३३) ।
- ७- मन्मथः (अर्घ्यमन्मथः) यान्ति मामपि ॥ (अ३४) ।
- ८- योगिनामपि सर्वेषां मद्गतो नान्तरात्मना ।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्मते चो मां सु मे युक्ततमो मतः ॥ (अ३५) ।
- ९- पुरुषः स परः पार्ष्णि 'मत्स्या लज्ज्यस्त्वनन्यथा ।
वर्षान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (अ३६) ।
- १०- समोऽहं सर्वमूर्तेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रिया ।
ये मयस्मि तु मां मत्स्या मयि ते तेषु आप्यहम् ॥ (अ३७) ।

सकाम एवं निष्काम दोनों माय उन्मिष्य होजाते हैं। फलतः इच्छा वह उपासनामार्ग विगुह्य अज्ञानान्न बनता हुआ आत्मानुगामी बन जाता है। और यों यह उपासना अर्धैतमूला ही बन जाती है। काम-माय में तो ईद है ही परन्तु ईश्वरानन्वतासकाम निष्काममाय भी ईदमय्याह। ई प्रथम नहीं है। श्री अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता अपितु ईश्वर की इच्छा ही सबकुछ कर रही है। श्री निष्काममाय है। वृत्ते शब्दों में 'अपनी कामना' इत्यंकर उसके स्थान में 'ईश्वरकामना' को प्रतिष्ठित कर देना ही निष्काममाय है। इसमें निश्चयेन ईशान्य अस्तुत्य है। इस उक्त की और हमारी कामना प्रथम कर रहे हैं। ईश्वर अत्यन्तपासक तो ज्ञान के द्वारा नहीं बन जाता है। इस प्राप्तीस्थिति में न तो इस उपासक को 'मैं करता हूँ, मैं और वह एक हूँ' यह अभिनव करने की ही कोई आवश्यकता रह जाती एवं न मैं नहीं करता उस की इच्छा से ही सबकुछ हो रहा है" यह करने की ही कोई आवश्यकता रह जाती। यहाँ तो केवल अर्धैतमूला आत्मकामना का ही सम्भाव है किन्तु कि बाकी के द्वारा अभिनव कर्माय प्रवृत्त है। कौन करता है किसी प्रेरणा है किसी इच्छा है इन इन भावों को यहाँ प्रवेश करने का भी अवसर नहीं मिल सकता। यहाँ तो अधिक से अधिक "बोऽस्मि सोऽस्मि बवानिमुन्नेऽस्मि तथा करोमि" केवल इसी लक्ष-आत्मसिद्धि आत्मवर्द्धि की प्रवृत्त रहती है।

२३७-आत्मकाममयी अम्बयोपासना की स्वरूप-मीमांसा—

अस्तुत्य तथाकरोमि' कहने का मी [अथ निगुलीपासनावाय] अवसर नहीं मिलता। कारण स्वहृत्। अम्बय न ज्ञानमय है न कर्ममय है। ज्ञानमय अतएव कहलाता है कर्ममय कर्मवान् कहलाता है। अतएव ज्ञान-कर्ममूर्ति है 'वान्' नहीं है। 'वान्' को ही यह करने का अवसर मिलता है कि, मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ। जो तब ज्ञान-कर्ममूर्ति बन गया उसे ज्ञान-कर्मानुष्ठान के अतिरिक्त इसके लिए तब ही कौनका बच रहता है किन्तु कि यह "मैं करता हूँ" यह करे। निष्कर्मज्ञान का कदापि अभिनव नहीं हुआ करता। निष्काममाय-सम्बन्धी अचरानुक्त की ज्ञानकर्मों का एवं सकाममाय-सम्बन्धी करानुक्त की ज्ञान-कर्मों का ही अभिनव सम्भव है। इस प्रतिष्ठित मोक्षन न्यानादि निष्कर्म करते हैं। परन्तु देखते हैं कि इनका अभिनव नहीं होता। आत्मनेच्छा से ही सबकुछ [अज्ञानावाय ही] बचाव हीना रहता है। यही आत्मकाममयी अम्बयोपासना है।

२३८ निगुलीपासनामय की व पस्तिता का विश्लेषण—

सामान्य लौकिक बनी की दृष्टि में तो ऐसा उपासक एक प्रकार से नष्टिक ही बना रहता है। कारण न वह कमी माया लेकर बच ही करता न उच्छ्वस्वर से कमी नामलेखीचन ही करता न ऐसे उक्तरी में वह अमिनिवेशपूर्वक कीर्त माग ही लेता न उच्छ्वस्वर ईश्वरवत्त्व का ही प्रचार करता। उसे इन कार्यों के लिए अवसर ही नहीं है। वह निर्यमिष्ट, निरकृत्य योगी धन्यमाय से अपने कष्ट स्वकर्म पर ही आकृष्ट रहता है। संसार क्या कर रहा है? क्या कर रहा है? इतनी मीमांसा का यहाँ क्वचिद् न भी अवसर ही नहीं है। वह सबमें खूना हुआ भी सब कुछ करता हुआ भी सबम प्रथम है एवं कुछ नहीं कर रहा। संसार इसे नहीं जानता न यह जानता चलाता। प्यति का वह महान् शत्रु है। जिसके कर्मात्म पर स्तुति से भी किसी ने अँगुली छटायी वह भी इस मार्ग में गिर गया।

२३६-अभ्ययोपासनानुगत निर्गुणमाध, एवं तत्समर्थकगीतावधन—

अभ्ययज्ञानकर्मसिद्धिः प्रत्यगात्मानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यसङ्गता बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार-प्रचार का एकमात्र श्रेष्ठ मगवान् को ही है। अतएव इसे हम “भवगमिनिष्ठ” करते हैं। बिबस्वार, इन्द्राक्ष, असकवि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए विवेक कहलाए है। क्षय ही यह भी प्थान रक्षिए कि, इस का मूल प्रधानरूप से उपनिषत् शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगसिद्धिः अध्यययमूला इसी निर्गुणोपासना का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१-येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते ब्रह्मोहनिर्मुक्त्य भजन्ते मां ददमताः ॥ (अ२८) ।

२-अशमरणमोक्षाय ‘मां’ माश्रित्य यतश्च ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमभ्यत्म कर्म चासिक्तम् ॥ (अ७६) ।

३-साधिमृताधिवेष ‘मां’ साधियः च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च “मां” ते विदुर्ब्रह्मचेतसः ॥ (अ३०) ।

४-तेषां ज्ञानी नित्यमुक्त एकमक्षिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (अ१७) ।

५-उद्यारां सर्वं एवेते ज्ञानी स्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तत्वा मामवानुत्तमां गविर्म् ॥ (१७।१८) ।

६-आमुदेव सर्वमिति म मक्षस्या मुबुद्धम् ॥ (अ१६) ।

७-मद्भक्त्य (अभ्ययभक्त्य) यान्ति मामपि ॥ (अ७३) ।

८-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

मद्यायान् भजते यो मां सु मे युक्तमो मतः ॥ (६।१७) ।

९-सुखं स परं पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथा ।

अयान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।१०) ।

१०-समोऽहं सर्वभूतेषु म म द्वेषोऽस्मि न प्रिय ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु आप्यहम् ॥ (९।२६) ।

अध्यात्म के ज्ञान धर्म से ज्ञानवान् एवं कर्मवान्, बनता हुए सब में प्रकट हो रहा है। इसी की इच्छा से सब का उद्धार हो रहा है— 'आत्मयन् सचमृतानि यन्त्रारुढानि मायया ।

२४३—मुकुलितवृत्तिरूपा अस्मिता की निवर्तिका ऐश्वर्यप्रदात्री मक्ति, एवं उस की सगुणरूपता का समर्थन—

जीवात्मा इसी का भंरा है। भंरी की इच्छा ही अंशोच्छा है। जीवात्मा का यह कच ध्य होता चाहिए कि वह कर्म का ईश्वर-ज्ञा से ही नियन्त्रित समके। अपनी धमना की हटा कर उस के स्थान में उस ऊन्हासी की इच्छा का ही समारोह करदे। यही निष्कामभाव (ईश्वरकामभाव) मूला अक्षरोपासना कहलायगी। 'ओङ्कार ही इस उपासना का मूल धरातल बनगा। इस अनुष्ठान में यह उस का 'भाग' (भंरा) बन जायगा 'कनक' भक्तियोगनिष्ठा प्राप्त होजायगी। यद्यपि 'भाग यह भाव भी बना हुआ है परन्तु अविद्यावरण से यह उस के ऐश्वर्यभाव में वक्षित हो रहा है। परिणामतः वह अपने कच ध्य-निवास में पद पद पर कुण्ठित ही होता गया है। सत्यरूप-विमीषिकाओं से व्याकुलमना ही बना रहता है। सब प्रयत्न-भान के द्वारा वह अविद्यावरण हटा देता है। तो उस ईश्वर की ईश्वरता की किंवा विश्वमहासुखा ऐश्वर्य की इस में स्वतः ही अभिप्रायिक होजाती है। मुकुलितवृत्ति (अस्मिता) जाती रहती है, ऐश्वर्यलक्षणा बुक्तियोगनिष्ठा प्राप्त होजाती है।

२४४—काशिराज प्रह्लादनादि मारसीय-नृपतिवरों की परम्परा में प्रचलित ऐश्वर्य बुद्धियोगात्मिक-मक्ति—

काशिराज प्रह्लाद के कच, सब प्राजादित्य आदि वर्णमाला इसी मक्ति से ऐश्वर्यवाली होगी है। यही निष्कामभावमूला ईश्वरानन्यता-सत्त्वता गीता की (राजविद्यानुगता) 'ऐश्वर्यबुद्धियोगनिष्ठा' है। मैं कुछ नहीं करता बही सब कुछ करता है। यही इस की मूलप्रतिष्ठा है। यही गीता का मक्ति-योग है जिस का कि, विशेषण परोक्षप्रकरण के अन्त में होने वाला है। इस मक्तिसत्त्वता उपासना से ज्ञानवान् बना हुआ यह भक्त कलांतर में (प्रयासकला में) उस पूर्वजित 'माम् [अभ्यस] की प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

२४५—राजविद्यानुगता पोटशीपुरुषनिबन्धना-ईश्वरानन्यता-सत्त्वता मक्ति, एवं सगुण पोटशीप्रजापत्युपासना-समर्थक-गीतावचन—

अध्यात्ममक्ति इसी अर्थ में "म" प्राप्ति का कारण बनती हुई विश्वव्यापक का कारण बनती है एक पोटशीपुत्र का अक्षरमक्ति अन्तर्गत में बहिः कुछ विषय आगए, तो अनेक कन्नी के पीछे [कलाभाष के अन्तर्गतिक निवास होने पर] अध्यात्ममूलक निवेदभाव प्राप्त होता है। दोनों उपासनाओं में पटी अन्तर है। तब ही यह भी ध्यान रहिए कि इसका प्रधानरूप से आर्यवक्त्र ही मूल बना हुआ है। इस राजविद्यानुगता पोटशी-प्रजापति-निबन्धना ओङ्कारात्मिक निष्कामभावमूला ईश्वरानन्यता-सत्त्वता ऐश्वर्यबुद्धियोगोपनिष्ठा मक्तिरूपा उपासना का लक्ष्यकरण करते हुए ही आत्मे के वचन हमारे समुच्च आते हैं।

- १—कश्चि पुराणमनुशासितारः॥मखाख्यीयांसममुस्मरेथ ।
सबन्ध पाधारमचिन्त्यरूपमाविस्ववर्ण्य — तमस परस्तात् ॥ (८११) ।
- २—प्रयाणकाले मनसाचलन मक्त्वा युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोमध्ये प्राणमावेश सम्पृक्ष स पर पुरुषमुपैति विष्णुम् ॥ (८१२) ।
- ३—यत्पुनर वेदविदो वदन्ति विदन्ति यद्यन्यो वीतराग ।
यद्विद्वान्तो ब्रह्मचर्यं वदन्ति तेष पद सप्रहण प्रवचने ॥ (८१३) ।
- ४—ओमित्येकाग्रं ब्रह्म ब्रह्मन् मामुत्तरन् ।
य प्रयाति त्यजन् वह स पाति परमा गतिम् ॥ (८१४) ।
- ५—अनन्यचेताः सतत यो मां स्मरति नित्यम् ।
तस्याह मुक्तम पार्थ ! नित्यमुक्तस्य योगिन ॥ (८१५) ।
- ६—महात्मानस्तु मां पाथ । ऐशं प्रकृतिमाश्रित ।
मज्जन्त्यनन्त्यमन्तो क्षात्वा मूलादिमन्त्रयम् ॥ (८१६) ।
- ७—सतत कीर्तयन्तो मां सततश्च हृदप्रदा ।
नमस्तन्त्रय मां मक्त्वा नित्यमुक्ता उपासने ॥ (८१७) ।
- ८—अह सर्वस्य प्रमथो मत्त सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥ (१ । ८) ।
- ९—तथा सक्तयुक्तानां मज्जतां प्रीतिपूर्वकम् ।
वदामि × बुद्धिबोग व वेग मासुपयान्ति ते ॥ (१ । ९) ।
- १ —वृत्तां जम्भनामन्त क्षाम्बान् मां प्रपद्यते ।
“समुदेकः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥ (७।९) ।

२

*—शान्ता—अक्षर—“अक्षरस्य प्रशंसने गार्गि ।” ।

—आदित्य सूर्य है, एवं इसी में अक्षर की अभिप्रायित हुई है ।

× अक्षरमवश्यं निगुंशाम्यपमूलक—बुद्धियोगावाप्तिरिति सिद्धान्तित प्राग्व ।

३—मविकारयज्ञपूजापत्युपासनामर्मयक गीतावचन—

२४६—विकारानुबन्धी सत्यप्रतिष्ठ यज्ञप्रजापति, एवं तदनुगता उपासना—

यह लोकप्रचलित प्रवृत्ति-मूलक ठीकी कर्मयोग का संशोधित रूप है। इसे कि कतिपय राष्ट्रवादीयोंने गीता का मुख्य शिव्य मानने की प्रार्थना करती है। योद्धाशिरूप के अनन्तर अमृतवाक् आपा-अग्नि-सय यज्ञप्रजापति का ही स्थान है। वाक्-मत्स्य मंदतरण है। आपा सोम है, एवं अग्नि अग्नि है और दोनों का समन्वितरूप ही यज्ञप्रजापति है एवं यागात्मक (वैवस्वत्मक) सत्यप्रजापति ही इसकी प्रतिष्ठा है। वैदिक पूर्वप्रकरण में किम्बदन्त से बतलाया जा चुका है।

२४७—‘तानि चर्माणि प्रथमान्यासन्’ मूलक यज्ञात्मक कर्म, एवं तत्तत्त्वा मक्ति—

हमारे तत्पूर्व कर्म इस प्रजापति को अनन्य अनाते हुए ही सम्पन्न हैं। यही हीन कर्मात्मक मक्तिमात्र है। ‘तानि चर्माणि प्रथमान्यासन्’ के अनुसार यह चर्मरूप प्रजापति ही उस पूर्वोक्त अक्षरब्रह्म की प्रतिष्ठाभूमि है— तस्मान् सचरात् ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।

२४८—यज्ञप्रजापति के अर्चनोपासन से अनुपाशिता त्रिगुणात्मिका मक्ति—

इस यज्ञप्रजापति की निमित्त बनाकर यज्ञ-तप-दान करना हुए— आपा-दान करना और और भी ब्राह्म-संसाहक ब्राह्मभ्युत्थकमूलक किन्तु विश्वरान्ति के समर्थक-कर्म करना यज्ञाय (यज्ञप्रजापति के लिए किन्तु हुए कर्म) कर्म कहा जावेगा। इस कर्म से यज्ञप्रजापति का अर्चन होगा यह परम्परा योद्धा-प्रजापति की प्राप्ति का कारण बनेगा योद्धा-प्रजापति परम्परा अमृतवापति का कारण बन जायेगा। इस प्रकार अपने कर्मों से यज्ञप्रजापति का अर्चन करता हुआ यह कर्मात्मक भक्त परम्परा मित्रि प्राप्त करने में समर्थ होसकेगा—“स्वकर्मसंग्रहोत्तमस्य सिद्धिं विन्दति मानसम् ।

२४९—कर्ममय-मक्तिमार्ग की त्रिगुणात्मकता के प्रचण्डनिरोधी गीताचार्य—

प्राप्त रहे इन मार्ग में हरवरात्मक अक्षर किंवा प्रणम लक्ष्य नहीं है। अस्ति कर्ममय ही लक्ष्य है—“कर्मैति मीमांसकाः । कर्म को ही हरवरा समझ कर निष्कर्ममय से इसकी आपा-धना करना कर्ममय मक्तिमार्ग है। कर्मका अग्रमक्षर से लक्ष्य है अतएव इसके द्वारा लक्ष्य परम्परा-सिद्धि ॥ प्राप्त होती है। यदि लक्ष्यमय है तो पुनरावर्तन है। और प्रवृत्तिमूलक यही काम योग त्रिगुणात्मक बनता हुआ। योगैवर्धन-गतिप्रधान बनता हुआ अक्षरवत् स्वयंभूत का उन्मूलक बनता हुआ मगधान की दृष्टि में सर्वधर्म “इयं है — निम्नैरुक्तया भयाजुम् ।”

२५० गीता क द्वारा अशोधित गुणात्मक-मक्तिमार्ग का ‘धर्म्यपुद्गलयोगात्मक’ स्वरूप—

निष्कामभाव में लोभमोह दृष्टिमात्र में बिना हुआ यह कर्मानुष्ठान दृष्टकामधुक् बनता हुआ परम्परा मुक्ति-लक्षणा सिद्धि का ही कारण बन जाता है और यही गीता का संशोधित कर्ममुक्तियोग-मक्षय कर्मयोग किंवा कर्मनिष्ठ है। आर्षाधियानुगत यही मार्ग अक्षरी का “योग” है—“कर्म योगन योगिनाम् ।

२५१-आद्यसुमागनिबन्धन धम्मसुद्धियोगपथ—

इसमें राज्यों में जो गन्तव्य है, वहाँ कर्म ही उपास्यव्यवस्था है। अतएव इसे हम कर्माभिप्राय भक्ति भी कह सकते हैं। जो सर्वव्यापक ईश्वर की आज्ञावला में समर्थ है वे अपने कर्मों का निरन्तर मानते हुए भी (निष्कामभाव की दृष्टि से) अम्युद्ध-तापन करते हैं—‘नहि कल्याणकृत् कर्मसुदुर्गतिताः। गच्छति’। इस उपासना का मूल प्रधानरूप से ‘आद्यसुमाग ही है यह भी अभिरामजी हैं।

२५२-अवतारोपासनासिद्धि सविहारोपासना, एवं उस के विविध विवरण—

अवतारोपासना का भी इसी ‘सविहारोपासना’ में अन्तर्भाव है। आधिकारिक-वेतन-दीक्षा-स्मृति-अपनारपुत्रों को अपने कर्मों का लक्ष्य बनाता हुआ भी उपासक भक्तिवश के द्वारा अम्युद्ध-तापन कर सकता है। इनके आधिकारिक सूर्य-चन्द्र-शुक्ली-रात्रि आदि आधिकारिक अपनारपुत्रों को सम्पन्न बनाता हुआ भी उपासक अम्युद्ध-तापन कर सकता है। इन दृष्टि में इन कर्माभिप्राय की तीन समस्तपान ही हैं।

२५३-सोकात्मक-विरवधर्म से अनुप्राणित धम्मसमक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

१—साक्षात्कर्मक विरवधर्म की मुख्यवर्तिका के लिए निष्कामभाव से सर्वोपकारार्थानुसार स्वयं कर्म में प्रवृत्त रहना, हमारे राज्यों में कर्ममय विषय का (धर्मात्मक विरवध का) करव बनाकर वक्ष्य (तन्ममदाय) निष्कामभाव से कर्म करना ही धर्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५४-अवतारचरित्रनिबन्धन-धर्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

२—सामान्यतया अवतारपुत्रों के निष्कामभावमूलक उपासक साक्षात्कार के परिणामों को प्राप्त बनाता हुए उपासक अमानव विषय शरीरों का सम्पन्न करत हुए अपने आपको कर्म कर्माभिप्राय एवं कर्माभिप्रायों सम्पन्न हुए निष्कामभाव से कर्तव्यकर्म में प्रवृत्त रहना ही धर्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५५-आधिकारिक-अपनार-सूर्यचन्द्रादि बीजनिबन्धन-धर्मात्मक भक्तिमार्ग का समन्वय—

३—त्रिमप्रकार सूर्यचन्द्रादि आधिकारिक-अपनार जीव ईश्वरात्मिक अविकारभाव (उत्तराधिकार) से मुक्त होकर ‘विश्वरूपारम्भ’ में समग्रभाव में किंवा निष्कामभाव से मुक्त-प्रवृत्त हैं जबकि इनके आदि का अर्थ में रखकर हमें भी अविकारबुद्धि का कर्म में निष्कामभाव से ही प्रवृत्त रहना चाहिए यही धर्मात्मक भक्तिमार्ग है।

१६-भक्तिमार्ग के प्रथम, मध्यम, उत्तम आनन्दनिबन्धन तीन विभिन्न मोपान—

उत्तम मोपान में भी ‘अधिकारिभक्त’ अविकार विषय मानना है। प्रथममार्ग प्रथमाधिकारि (१०) में ही भक्तिमार्ग अर्थात् अविकारियों का एवं तृतीय मार्ग प्रथमाधिकारियों में सम्पन्न रहना

है। शास्त्र ने जिन यज्ञादि कर्मों का विधान किया है शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखते हुए कर्माभ्यासकार अधिष्ठाता से 'यज्ञप्रजापति' रूप 'उपेश्वर' के निमित्त निष्कामभाव से कर्म करना ही कर्मात्मिक-मार्ग का उत्तममार्ग है।

२५७-ईश्वरसत्ता से तटस्थ मानवों के अभ्युदय से अनुप्राणित मक्तिमार्ग की रूपरेखा-

कुछ एक ऐसे व्यक्ति भी हैं जोकि ईश्वरसत्ता किंवा उपेश्वरसत्ता पर विश्वास नहीं रखते। रामकृष्णानि शिष्यवर्गों को वे महापुरुष ही समझते हैं। कोई हानि-नहीं। महापुरुषों का आश्रय भी तो हमारा अभ्युदय कर सकता है। हमें यह ही मान ही लेना पड़ेगा कि ये महापुरुष लोकान्मुक्त्यार्थ ही कर्म में प्रवृत्त रहते हैं। इनके आश्रय को सम्युक्त रखते हुए निष्कामभाव से हमें उनके वतलाए हुए किशानों के अनुसार ही कर्माभ्यास में प्रवृत्त रहना चाहिए। जो कालिक बीच उन्हें मायाव ईश्वर मान कर उनका संस्मरण करते हुए कर्म में प्रवृत्त रहते हैं वे तो पूर्वोक्त उत्तम मार्ग के ही अनुयायी कहलाएँगे।

२५८-केवल प्रकृतिपरायणा प्राकृत-मानवों का चरित्र चित्रण एवं उद्वेगप्रपञ्च-संस्मरण—

कुछ एक दुस्प्रियायी ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि में अवधारणायों का महापुरुषत्व एवं उन का आदर्श केवल लक्ष्य है। कितने एक परिचामी एवं अनुयायी भारतीय तो इन के चरित्रों में दोष निश्चलने में भी लम्बा का अनुभव नहीं करते। इन की वह दुस्प्रिय-विचारधारा भी आज विह्वल हो मानी जा रही है। मत्स्य दाय में 'नेचर' का समावेश करना ही इन का परम पुरुषार्थ है। कार्मिक मगधत्न करते हैं कोई हानि नहीं। हम ईश्वरसत्ता पर भी विश्वास मत करो अवधारणों का महापुरुष भी मत समझो उनके आदर्श का भी अनुगमन मत करो केवल प्रकृति के ही अनुगामी बन रहो।

२५९ प्रकृतिसिद्ध-लोकसंप्राप्त-कल्मषानुष्ठानानुगत मदाचरणा, एवं तन्निबन्धन पार-स्मरिक अभ्युदय—

सूर्य-चन्द्रमा-वायु-अग्नि आदि प्रकृति के ही तो अवयव हैं। तुर्ष मानना पड़ेगा कि, वे सभी प्राकृतिक ब्रह्मण्य हैं ठीक-ठीक से निष्कामपूर्वक लोकलता के पालक बने हुए हैं। किसी से राग द्वेष न रखते हुए, अपने किसी वैयक्तिक स्वार्थ को सिद्ध न करते हुए उपकार अपकार-श्रेय-द्वेष आदि हितमायों से विमुक्त रहते हुए अपने कर्तव्य पर अनन्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित हैं। इनके "ही आधिभारिक कर्तव्य" से हमारी किंवा विश्व की स्वरूप-रक्षा हो रही है। हम इन्हीं के आदर्श को लक्ष्य में रखकर अपने उन कर्तव्य-कर्मों पर निष्कामभाव से रामद्वेष-परिहाय-पूर्वक काटत रहो, जिनसे कि लोकान्मुक्त्यर्थ इत्यादि विश्व के मानवसमाज में शान्ति-श्रेय तथा खेदादि बना रहे। ऐसा करने से प्रकृति का हम पर अनुग्रह होगा। परोक्षरूप से तुम्हारा भूतल्व ब्रह्मप्रजापति का मूक (भाग) बन जायगा। यह के द्वारा ईश्वरनिष्ठा प्राप्त होजायगी। उदाहरण वही भिक्षु तुम्हें भी मिल जायगी जोकि रजोयुक्त महापुरुषापासकों का मत्स्ययुक्त अवधारणायुक्तो पापकर्म को त्रीगुणातीत यज्ञकर्मोपासकों को धर्म सार्वांगीत ईश्वरपासकों का परमपरा प्राप्त होजाती है।

२६० प्रचक्षित कर्मज्ञान-योग-निष्ठाओं का भगवान् के द्वारा संशोधन—

उक्त तीन कर्ममार्गों के अतिरिक्त एक चौथा कर्ममार्ग और बखर रहा है जिसे कि प्रचक्षित निष्ठाओं की परीक्षा में 'ज्ञानयोग' कहा जा सकता है। गीता के शब्दों में 'सिद्धिचिन्ता'-मुक्त यही 'ज्ञानबुद्धि-योग' है। प्राचीनर्षेय (कपिलादिने) कर्मसम्पन्न ही इन योग का मुख्य चरक माना था। परन्तु भगवान् ने इसका विशेष किया और निष्ठामार्ग को अगे करते हुए इस में का मोक्षक कर्मसम्पन्न कर्मों का उपावेश किया।

२६१ ज्ञान-कर्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वय-पात्मक-स्वरूप—

वेदा कि पूर्व के निष्ठामार्गों का प्रकरण में किस्वर से चलाया गया है। वेदोंक प्रत्यक्ष कर्म ही कर्म योग है जन्म बंधोक निष्ठामार्ग ही ज्ञानयोग है। दोनों का चरक एक ही है। प्रकृतिकर्ममार्गक कर्मयोग एवं निष्ठामार्गक ज्ञानयोग दोनों में निष्काममाकर्मक निष्ठामार्ग है। इतिहास निष्ठामार्ग-कर्मक ज्ञानयोग [कर्म] कर्मयोग बन रहा है एवं निष्काममाकर्मक प्रकृतिकर्म योग [योग] ज्ञानयोग [कर्म] बन रहा है— 'जन्म स्वर्ग्यं च योग्यम्'। दोनों में कर्म है इस दृष्टि से दोनों कर्मयोग है। कर्मयोगात्मक कर्म में बहादि कर्मों का लोकावह-दृष्टि से संग्रह है। इतिहास वह कर्मयोगक बुद्धियोग बन रहा है। ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग में लोकावह कर्मों का संग्रह है इतिहास [ज्ञानात्मक कर्म का अनुगामी कला हुआ] यह ज्ञानयोग बन रहा है।

२६२-कर्मसं बुद्धियोग' के सम्बन्ध में लोकनृषिओं का व्यामोहन, एवं तद्विराकरण-प्रयास—

इत्यन्तर इस बन्धक कर्मसंश्लेष मक्ति में ही कर्मसंश्लेषयोगक कर्मसंश्लेष एवं ज्ञान-बुद्धियोगक कर्मसंश्लेष ज्ञानमक्ति, इन दोनों का उपावेश होता है। किन्तु कहा करते हैं कि गीता में ही क्या सभी शब्दों में ज्ञान-मक्ति कर्मों के अतिरिक्त कोई चौथा कर्म हो ही नहीं सकता। ज्ञाना प्रेमा कि-धर्म व 'ब्रह्मसं एव ब्रह्मसं वेत्तु रूपम्' के ही उपावेश बन हुए हैं। यदि वे प्रवचनपूर्वक गीता के अन्तरी पर दृष्टि डालते तो स्वयं गीता ही उन्हें इन तीनों से दृष्टि उत नीचे 'बुद्धियोग' का दर्शन करा-देती, जो कि गीता का मुख्य उद्देश्य है।

२६३-उपमात्मिक उपासना का स्वरूप दिग्दर्शन—

अन्वयोपासना ही बुद्धियोगात्मिक किंवा ज्ञानात्मिक उपासना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा-चुका है। 'ज्ञानात्मिक उपासना' का तात्पर्य है—अन्वयोपासनाक बुद्धियोगोपासना। अन्वय का कर्म अतद्भावा के कारण ज्ञानात्मिक है अतएव यही ज्ञान-कर्म का ही नहीं होने पाता—'निष्ठामो-नित्यसत्त्वस्थ'। केवल यही स्थिति करने के लिए हमने इस प्रवचनोपासना को ज्ञानात्मिक उपासना कहा है। कर्मसं वह ही उपमात्मिक उपासना है।

२६४-ज्ञानसमावीयता से अनुप्राणित कर्म और उस का ज्ञानमयत्व—

इसे ज्ञानात्मिक उपासना कहने का एक रहस्य और भी है। सभी की तीनों मस्तिष्कों में जित कर्म का अनुष्ठान होता है उससे उन्मत्त उन्मत्त होता है। निष्काममात्र से उन्मत्तमात्र का कर्म अन्वय ही नहीं

इति परन्तु अक्षर-क्षर-सम्बन्धी कर्म संस्कार उत्पन्न किए बिना नहीं रहते। इधर अभ्यपानुगत कर्म संस्कार का भी बनक नहीं बनता। जैसे अभ्यपानुगत ज्ञान स्वतः रूप से अक्षर रहता है तथैव अभ्यपानुगत कर्म भी 'न सञ्जते न व्यथते न रिप्यति' के अनुसार संस्कारोपासति से अवस्थित रहता हुआ अक्षर ही बना रहता है। इसी ज्ञानसत्ताकीयता से अभ्यपानुगत कर्म ने ज्ञान का आत्मन प्रवेश कर रक्खा है।

२६५—बुद्धियोगात्मिका उपासना, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-‘योग’ शब्द—

इसीलिए हमने बुद्धियोगात्मिका नियुग्गाध्ययोपासना को अभ्यात्मिका होने पर भी ज्ञानात्मिका कहा है। एवं यह योगात्मक बुद्धियोग अक्षरानुगत भक्तिमार्ग, आत्मव्यनुगत कर्म एवं ज्ञानमार्ग तीनों से युक्त रहता हुआ सर्वथा ही विलक्षण है। यही बुद्धियोगात्मिका उपासना को भगवान् ने केवल “योग” शब्द से एवं तदनुवाची नियुक्तात्मिका की ‘योगी’ शब्द से व्यवहृत किया है।

२६६—बुद्धियोगनिबन्धन योग, और युक्त-भाव—

और आगे बलिय। इस वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के योग के किंवा तदनुवाची योगी के भी दो विध हैं। दो प्रकार की नियुक्त-अभ्ययोपासना [योग] है एवं दो ही प्रकार के नियुक्तात्मक [योगी] हैं। योगी की गीता-परिभाषा में “युक्त” कहा गया है। इन दृष्टि से वे हीनो योग क्रमशः योग-योगात्मक कहलाएंगे एवं दोनों योगी क्रमशः युक्त-युक्ततम कहलाएंगे।

२६७—द्विविध योगी, एवं उन का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रपात—

यह उपासक ‘युक्तयोगी’ कहलाएगा या ‘उदासीनवदासीन’ इस दृष्टि में प्रतिष्ठित रहता हुआ लोचनार्द्र में प्रवृत्त रहेगा। बड़े से बड़ा हर्ष-ते विनी भी अक्षरों में ‘अहो-हो’ का अनुगामी नहीं बना लगेगा एवं न बड़े से बड़ा शोक इसे ‘हाय-हाय’ का अनुगामी बना लगेगा। तब में महामय रहनेगा। ऐन्द्र-लौकिक बना रहेगा यानी वह सर्वमना नश्वरी ही है। परन्तु वह शान्तभाव से युक्त रहगा। ऐसा योग कहलाएगा एवं ऐसा योगी ‘युक्त’ कहलाएगा।

२६८—उदासीनवदासीन-युक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरण प्रिय समाज का शुधिन्य, एवं बाह्यचरखालुपत-संस्कार—

भगवान् करते हैं—आमी थोड़ी सी मुक्ति यह वह। याज्ञा कीज आगे बढ़ी। धनकीदिए-यदि समाज में अधिक संख्या इन उदासीन-योगियों की हो दीक्षा तो लोचनार्द्र अक्षरमेव बहुत में यह सत्य है। समाज के लक्षणों में स्थित तो इन युक्त के अनुगमन में आसना हटते नेतृत्व उत्पन्न उदासीन योगियों के हाथ में रहेगा। परिणामतः समाज का सामाजिक हाथ-विनीत जाता रहेगा उदासीनता का बाह्यचरखालुपत होजाएगा परिणामतः कालान्तर में समाज में शिवमिता आजायेगी। यह ध्यान लेना कि इन शिष्टयोगी का अनुगमन करना न लगे परिपूर्ण है। अनुवाचीवर्ग तो— “यद्यप्यक्षरनिबद्ध” के अनुसार इनकी अपेक्षितों का ही अनुसरण करने लग पड़ेगा। परिणामतः एक समाज का सामाजिक शिष्टता उन्नी-प्रकाश अभिवृद्ध होजाएगा जैसेकि उदासीन-योगी की शान्त बाह्यचरखालुपत उद्बुल्लस ही बनी रहती है

(मुह लटकाए रहती है)। हम देखते हैं कि कुम्भिकों को हँसते देख कर नहीं मई बातचीत भी हो सकती है एवं ऐसे देख कर उदास होबस्ते हैं। और इस बाधावरण की बाधा के अन्तर्गत में अन्ध रूप भग जाती है अन्तर्गत तथा मफ ही नहीं बनता रहता है।

२६६-लोकाग्रदनिष्ठ भगवान् के द्वारा उदासीनयोगी के युक्त-योग में वृत्तिविनिर्मुक्त—

उक्त अक्षय बुद्धियोगी लोकाग्रदनिष्ठ में वर्तमान रहता नहीं होसकेगा। उक्त विमुक्त बुद्धियोगी मनो-योग की ओर मुझे हुए संसारियों की प्रथम तो उदासी का कारण ही बन बैठेगा। अथवा तो विरोध का अनुसरण करत हुए वे इसे वृत्तिवृत्त ही करवेंगे। उदासीनता में उन का विकास कहेगा वृत्तिवृत्त में उदास का उन्मार्ग—यद्यपि कोई न रहेगा। लोकाग्रदनिष्ठ के अनन्त पक्षपाती भगवान् वही देखकर इन 'युक्तपद्धति' में जोड़ा ना संशोधन और आह्वान है।

२७०-युक्त-योगी के वैदिक-उदासीनचक्र में मानस-अज्ञान-का समावेश, एवं तद्विनाश—

युक्त-योगी की रुढ़ता का निराकरण—

वे कहते हैं कि, बुद्धि के साथ मानस-अज्ञान का योग और करवें। हम मानते हैं कि, हम में ही भ्रम है। मन का भी वृत्तिवृत्त है। परन्तु उदास यह मानसभाव (अज्ञान) का भी विमुक्त अन्तर्गत (आत्मगत) बनता हुआ प्रकट हो बन रहा है। इस संसारिक कर्मों में भी पूर्ण योग है रहे हैं। परन्तु उदास मानस कर्म ही बोग से हटा हुआ है। अमनस्क रूप ही तुम्हारा सहयोग है। हम अपने मानस-भाव की जोड़ा हथर भी मुक्त रही। लोकाग्रदनिष्ठ के साथ खच लोकी मनुष्यों के कर्मों में अज्ञान भी प्रकट करत आगे। ऐसा न करने से उक्त दोषों के अतिरिक्त उनमें बुद्धिमान की भी आघात से पीड़ा न हटेगा। करो क्या है, तुमो।

२७१-अज्ञान से समन्वित 'योगी' का युक्ततमन्त्र एवं तद्विनिर्मुक्त-लोकाग्रदनिष्ठ—

यदि किसी को बुद्धि देखो तो उन में भी अज्ञान प्रकट करे। स्वयं बुद्धि का अन्तर्गत करत हुए [यदि तत्त्वतः हम बुद्धि से दूर हो] उसे लोकाग्रदनिष्ठ प्रदान करे। यदि किसी की हर्ष होया है तो हम भी उक्त के हान्य-नरेश्वर में स्नान करे। हान्य-विनोद-गान्धारी-गोष्ठी-आदि में ऐसे करने लगे। ऐसे युक्ततमन्त्र बाधा हैने एक समान्त्र संगरी। तभी तुम उन संसारियों के अतिरिक्त पदार्थत हुए उनका आरम्भविरोधन करमकांग। और इस अवस्था में—अज्ञानयुक्त तुम्हारा यह बोग योगतम बन जायगा, हमारे राज्यों में युक्ततमन्त्र युक्ततमन्त्र में परिवर्तित हो जायगा।

२७२-युक्त, और 'युक्ततम' शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा अविनिर्मुक्त का संस्थापन—

उक्त दोन्नी मार्गों में से भगवान् का अन्तिम भुक्तान किम और है। वे उदासीनचक्र विरक्ततमन्त्र अज्ञानविरोधन योग एवं युक्तयोगी की अन्तिम मानते हैं। अथवा विनाशक विरक्ततमन्त्र अज्ञानयुक्त

योगतम एवं युक्तमयोगी को ।। उधर मगवान् के जीवन से ही मिल जाता है । हय एवं शोक से परे रहने वाले बुद्धियोगी भगवान् ने अपना जीवन कैसा हास्यपूर्ण बनाए रखा इस सम्बन्ध में विशेष बाल्य नहीं है । बाल्योला-सम्बन्धी मगवान् का नन्दनन्दन रूप तो इस युक्तमयोग से अथ से इति पर्यन्त युक्तम है ही परन्तु हम दबते हैं कि ईश्वरीय लोला-सम्बन्धी मगवान् का वासुदेवरूप भी इस युक्तमभाष से गूँथ नहीं है ।

२७३-सर्वमूर्ति आलोक्य मगवान् वासुदेव कृष्ण के 'युक्तमय' का स्वरूप-सम्पन्न, एवं तन्निबन्धन गीता का रहस्ययोग'—

अध्याय के बचावर से पूरा अञ्जुन के किलाप पर मगवान् रोपते हैं । श्रौषी के हृद पर उगाईल इति से उसे वैष्णवदान कर रहे हैं । मरु के किलाप पर उनका अन्तर्गत व्याकुलता दिखाई देता है । कर्ण के द्वारा है ही गत—'एकपुरुषपाविनीराकि' से अब एक अन्तर्हिनी सेना का पूर्ण करवा हुआ हिहिमापुष पदेकक बराबारी हो जाता है तो मगवान् शौनवाय के साथ अञ्जुन को गले लगाकर रव पर ही दत्त करने लग पड़ते हैं । मोन को बुद्धियोगी का विरह चर्मा मानते हुए भी स्वयं मगवान् कदरुम बारण कर वितामह पर बक प्रहार के लिए दीक्ष पड़ते हैं । क्या कोई मरु यह रीति करेगा । अतमम । यह तो मगवान् का लोचनमहात्मक प्रदर्शनमात्र ही था । धीर नहीं मगवान् का योगतम यो । था एवं इत्येति मगवान् युक्तम योगी थे । यही गीता का रहस्ययोग है ।

२७४ गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमाविषय', उभयविषयामिका सुप्रसिद्धा बुद्धियोगनिष्ठा, एवं तन्निबन्धना निगुणात्म्यवोपामना का स्वरूप-समन्वय—

इत्येक निगुणात्म्यवोपामना इस योग के विद्युत् सुस्पन्दगत योगरूप योग एवं बाल-भ्रमभिनयरूप भ्रमनुगम योगतमरूप योग के दो विषय होता है । दोनों को हम 'बुद्धियोग' इस एक नाम से ही स्वयं कहेंगे । एवं यही प्रकलित ज्ञान-कर्म-भक्ति इन तीनों निष्ठाओं से सर्वथा स्वयं उभयामिका किंवा ज्ञानात्मिका अथवावोपामना कहलाएगी । साथ ही यह भी सिद्ध ही है कि इस उपाय में मनोमय आनन्द मनोमय विज्ञान एवं मनोमय मनोरूप निगु ख अथवा ही उपर्य है ।

२७५-ईश्वरोपासना-सप्तम एष्वर्थादुद्धियोग' की 'भक्ति' रूपता, तदनुवर्त्ता नृपति-भेष्ट, एवं गीता से अनुप्राणित 'तपः' शब्द का स्वरूप-समन्वय, और गीता का पारिभाषिक तपस्वी —

यह अन्तर बहुत ही योगशीलरूपोपासना कहलाएगा है । इसे ही हमने ईश्वरोपासनासप्तम एष्वर्थादुद्धियोग कहा है एवं कर्म-प्रवृत्ति भावि भागीय रागाधी में ही हमने प्रिय प्रचार कहा है । साथ ही पूर्व में इसके लक्ष्य में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि विद्वत् आत्मप्राप्त ही हम उपा-मना का मुख्य ध्येय है । योगशीलरूपोपासना अथवावोपामना अथवा भाग्यप्रधान ही सिद्ध विद्या गया है ।

उपर- 'तप ईदृशं तप इत्याद्यर्थान् स्वं वदति' के अनुसार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर देना ही तपस्वी 'तप' है। अति ने "म तपोऽनप्यत" के अनुसार प्राणव्यापार को ही तप माना है। इसी आधार पर हम दूसरी उपायना को हम तप कह सकते हैं एवं इसके अनुयायी भक्तों को 'तपस्वी' कह सकते हैं। गीता का आधारणीय 'तपस्वी' योगप्रतिपाद्यों का अनुयायी कामकलेश में रत तपस्वी नहीं है अपितु आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का अनुयायी ही गीतानुभाषित तपस्वी है।

२७६-गीताशास्त्रनिबन्धन- योगी'-तपस्वी'-कर्म'-ज्ञानी'-विभागों का स्वरूप समन्वय—

तत्त्व स्पष्ट अक्षप्रजापत्युपायना का उल्लास गवा है। इसका वास्तव्य दूर (आत्मकर) के समान रहता गवा है। एवं 'मी के निहितकर्मलक्षण ज्ञानयोग धर्मात्मकलक्षण कर्मयोग के दो प्रकार बताया गया है। यही गीता की मांसय एवं योग-निष्कारण हैं। योगनिष्ठानुयायी 'कर्म' कहलाता है। एवं ज्ञानी ज्ञानबुद्धिवाग का अनुयायी है। इसका गीता में आत्म-प्राप्ति-अक्षप्रजापति इन दोनों उपायों के आधार पर कर्म 'वैराग्यबुद्धिवाग' ऐश्वर्यबुद्धिवाग 'कर्मबुद्धिवाग-ज्ञानबुद्धिवाग' के आधार पर बताया है। ए इन पाठ के अनुयायियों को कर्मयोगी तपस्वी कर्म ज्ञानी इन सभी से संबद्ध किता है।

२७७ राजर्षि, पुण्यकर्म आश्रय, तथा ऐश्वर्यवाही राजाओं के द्वारा गीता के अनुविध-बुद्धियों का अनुगमन—

जिसे इन पाठों ओषियों को राजर्षि अक्ष-आश्रय 'न तीन वर्गों में विभक्त मना है। वैराग्यबुद्धिवागमिष उपायना का अनुयायी राजर्षि हैं। ऐश्वर्यबुद्धिवागमिष अक्ष के अनुयायी राजा 'अक्ष' हैं। एवं कर्मबुद्धिवागमिष कर्ममयी, ज्ञानबुद्धिवागमिष ज्ञानमयी उपायना का अनुयायी भारतीय पुण्यकर्म आश्रय हैं। ए निष्कारणों का अनुगमन विराग्य-आश्रय का न किता है अक्षनिष्ठ का अनुगमन है। ज्ञानों न एवं बुद्धिवागमिष का अनुगमन जनपदि राजर्षियों ने ही किता है। [गी. २।२१]।

२७८-वैराग्यबुद्धिवागमिष-योग की सर्वभेदता का स्वरूप-समन्वय—

उक्त पाठों मलों में से वैराग्यबुद्धिवागमिष योग, इन में ही पूर्णव्यवहार मानसभ्रमनाश के मुक्त बना है। तपश्चर्य एवं सर्वभेद है। इसी वर्गीकरण का स्वीकरण करते हुए मायान्तर है -

तपस्विन्योऽधिको योगी ।

ज्ञानिन्योऽपि ततोऽधिकः ॥

कर्मिण्यपि चाधिको योगी ।

तस्माद्योगा महाशु न ॥ (६।४६) ।

योगिनामपि सर्वेषां मङ्गलतनान्तरात्मना ।

भक्षान्न भक्षत पो मां स मे युक्ततमा मतः । (६।४७) ।

- १-राजविद्यानुगत-वैराग्यबुद्धियोग-ज्ञानात्मिका उपासना-मनोमयी
 २-राजविद्यानुगत-वैराग्यबुद्धियोग-क्रियात्मिका भक्ति-प्रायश्चित्तमयी
 ३-सिद्धविद्यानुगत-ज्ञानबुद्धियोग-निवृत्तिकर्मात्मिका भक्ति-वाङ्मयी
 ४-आर्याविद्यानुगत-धर्मबुद्धियोग-प्रवृत्तिकर्मात्मिका भक्ति-वाङ्मयी

- १-बुद्धियोग (मनोमय)-योग-छन्दुपायी-योगी } - 'राजपथ'
 २-भक्तियोग (प्रायश्चित्तमय)-तप-छन्दुपायी-तपस्वी } - 'मध्य'
 ३-कर्मयोग (वाङ्मय)-कर्म-छन्दुपायी-कर्मि } - 'वाङ्मय'
 ४-ज्ञानयोग (वाङ्मय)-ज्ञान-छन्दुपायी-ज्ञानी }

- १-आत्मन बुद्धियोगाभिज्ञता } - आत्मनोपासना
 २-योगेश्वर-भक्तियोगाभिज्ञता } - आत्मनोपासना
 ३-योगेश्वर-कर्मयोगाभिज्ञता } - आत्मनोपासना
 ४-योगेश्वर-ज्ञानयोगाभिज्ञता }

७७६-कर्मनिबन्धना शुद्धात्मिका-वाङ्मयी-भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विवर्त, एवं तत्त्वबन्धन सर्वोत्तम, उत्तम मध्यम प्रथम माध्यान्तकी भेदविभाग—

आत्मनोपासना-यज्ञप्रनापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्मात्मिका वाङ्मयी भक्ति के पूर्व बन्धनानुसार चार विवर्त होता है । यज्ञादिकर्म पहिला विवर्त आत्मोपपन्न आस्थाप्यानादिसङ्घस्य ज्ञान गुण विवर्त आधिकारिक वेतनबीज-सङ्घस्य अथवातोपासना तीसरा विवर्त एवं आधिकारिक अवेतनबीज सङ्घस्य सूर्य-यन्त्रादि की उपासना चौथा विवर्त । चारों में निष्कर्मकर्मसङ्घना यज्ञकर्मोत्तिष्ठ उपासना (कर्मयोग) सर्वोत्तम निष्कर्मकर्मसङ्घना-आत्मोपपन्न-कर्मोत्तिष्ठ उपासना (ज्ञानयोग) उत्तम अथवातोपासना मध्यम एवं सूर्ययन्त्राद्युपासना प्रथम भेदादि परिलोक से स्पष्ट है—

१-यज्ञकर्मार्थिका-उपासना	अथोपासनासु-सर्वोत्तमा
२-आत्मोपनिषद्कर्मार्थिका-उपासना	उत्तमा
३-अवतारोपासना	मध्यमा
४-प्रकृतिस्वोपासना	प्रथमा

अथ इतः सम्बन्ध में गीताप्रमाण उद्धृत कर प्रकृत्य लीले विवरण की उपरत किया गया है। उक्त चारों ही प्रकार साधकसमूह समस्तान् अर्थिकारी-वेद से उपास्य माने हैं। वेदकिं निम्न शिथिल वर्णों से रहते हैं।

७८०-[१]-यज्ञकर्मार्थिका उपासना सर्वोत्तमा-(कर्मयोगा-योगिनाम्)-भगवत्-सम्मत —

१-यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं क्षप्यमेवतत् ।

यज्ञा दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५१)

२-एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कुर्याद्व्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मत्सुखमम् ॥ (१८।६१)

३-सहस्रं कर्म कौन्तेय ! सदोपमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषाश्च येनान्निविशन्तः ॥ (१८।४८) ।

४-त्रैगुण्यावयवा वेदा निस्त्रैगुण्यो महाशुभः ।

निद्रा न्द्रो नित्यसंख्यस्यो नियोगश्चम आत्मवान् ॥ (२।४५१) ।

५-संन्यास कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराभुमौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगा विशिष्यते ॥ (५।१२) ।

१

२८१-[२]-आत्मकर्मार्थिका उपासना उत्तमा (ज्ञानयोगो माह्व्या नाम्) भगवत्-सम्मत (किन्तु अरुचिकर)

१-ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकमेव एषकृत्स्नं बहुधा विस्वतोमुखम् ॥ (६।१५१) ।

- २—ये त्वच्चरमनिर्द्देश्यमध्यक्त पथ्युपासते ।
सर्वप्रगमयिन्त्यं च कूटस्थमर्षं ध्रुवम् ॥ (१०।३१) ।
- ३—संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र सममुदयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१०।३४) ।
- ४—क्लेशोऽपिक्लेशरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखदेहबन्धिरवाप्यते ॥ (१०।३५) ।
- ५—अध्यात्मज्ञाननित्यं तच्च ज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१०।३६) ।

२

२८२-[३]-अवतारपुरोपासना (कर्मयोग) भगवत्-सम्मत,
किन्तु अरुचिकर —

- १—कामैस्तैस्तैर्दृष्टानां प्रपद्यन्तेऽन्यद्वताम् ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियतां स्वया ॥ (७।१०) ।
- २—यो यो यां यां तनुं भक्त भद्रयाचितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचला भद्रा तामेव विदमाम्यहम् ॥ (७।११) ।
- ३—स तथा भद्रया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
समतः च ततः कामान् मयैव विदितान् हितान् ॥ (७।१२) ।
- ४—अन्तर्बधुं फलं तेषां तद्भवत्यन्यमवसाम् ।
देवान् देवपुत्रोऽपि यान्ति ॥ (७।१३) ।
- ५—अन्यर्क्षोऽप्यस्मिन्मापसं मन्यते माममुदयः ।
परं भावमजानन्तो भ्रमाप्ययमनुत्तमम् ॥ (७।१४) ।

३

२८३-[४]-प्रकृत्यवयवोपासना [कर्मयोग]—

- १—ये ऽप्यन्य दक्षता — मक्ता यजन्ते भद्रयान्विता ।
तेऽपि मामेष कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (६।२३।) ।
- २—न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति तं ॥ (६।२४।)
- ३—यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽक्षितम् ।
यद्यन्त्रममि यच्चान्नौ तपोजो विद्धि मामकम् ॥ (६।२५।)
- ४—गामाविश्य च भूतानि चारयाम्यहमोजमा ।
पुष्ट्यामि चापधीः सर्वा सोमो भूषा गसात्मकः ॥ (६।२६।)
- ५—एतैर्विसृक्त कौन्तेय ! तमोद्धारैश्चिर्मिन्नरः ।
आचरत्पात्मन भो यस्ततो याति परां गतिम् ॥ (६।२७।)

४



४-साञ्जनविगट्प्रजापत्युपासनासमर्थक-गीतावचन—

२८४-अञ्जनपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आचरणपरिग्रहात्मिका विश्वरूपोपासना
न अन्तुप्राप्ति पूर्वपर विरोध एवं तन्निराकरण प्रयास—

अब बोया उपर-विषय हमारे सामने आया । वही 'देवमत्सोपासना' कहानी है । पूर्व में हमने
माञ्जना विगट्प्रजापत्या का एक मात्राया विष्णोपासना को दोनों की विष्णोपासना कहा है ।
द्वि ६ प्रकरण के बोया का पूर्व में विष्णु-पूजन करना गया है उनमें से प्रथम आधिकारिक अतनवीधौ
(अचतनपुरुषो) का मीमं यज्ञप्रजापति विष्णु से सम्बन्ध माना है । एवं पूर्व आधिकारिक मूष्य-
चक्रादि अचतनवीधौ का विराट्पुरुष से सम्बन्ध बताया है । इससे पूर्वप्रतिपादित ब्रह्मोपासना में
अचतनवीधौ के साथ साथ तृमं-चक्रादि-सदृश अचतनवीधौ का भी समावेश ठीक किया है । इससे
प्रायःविरोध प्रतीत होता है । तब विगट्प्रजापत्या को अचतनवीधौपासना भिन्न करना पूर्व की
ब्रह्मोपासना में भी अचतनवीधौपासना का सम्बन्ध करना अवश्य ही पूर्वपरविरोध है । यन्तु प्रसंग
में विचार करने पर यह विरोध का कुछ मूल्य नहीं रह जाता ।

—प्राशङ्गिकता

२८५—अमृतशुक्रानुबन्धी विराट्प्रजापति के साथ मत्स्यशुक्रानुबन्धी विश्वमूर्ति का सह समन्वय, एवं पूर्वापरविरोध-निराकरण—

पाठकों को स्मरण होगा कि वाक्- (वाह्मय स्वयम्भू) आपः (आपोमय-परमेष्ठी) अग्नि (अग्निमय सूर्य) इन तीनों के समुच्चय को हमने यज्ञप्रजापति कहा था एवं अग्निः (सूर्य) वाक् (पृथिवी) की ममष्टि को विराट्प्रजापति कहा था। मध्यस्थ अमृत सूर्य को यज्ञप्रजापति का अन्तिमपद कलावा था एवं मध्यस्थ उड़ी सूर्य को (मत्स्यामिशुक्रादि से) विराट्प्रजापति का पहिला पद माना था। क्योंकि सूर्यसंज्ञा का दोनों ओर सम्बन्ध है अतएव इसी से सम्बन्ध रखने वाली अच्युतनबीजापासना का हमने यज्ञप्रजापति के साथ भी सम्बन्ध कलाया है एवं आज इस विराट्प्रजापति के साथ भी सम्बन्ध कला रहे हैं।

२८६—यज्ञप्रजापति-निबन्धना निष्कामोपासना एवं विराट्प्रजापति निबन्धना-सकामोपासना का सम्मिश्रण—

दोनों में यह विरोध अवश्य कर लेना चाहिए कि यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अच्युतनबीजापासना, किंवा प्राणदेवोपासना का निष्कामभाव से सम्बन्ध है एवं विराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अच्युतनबीजापासना का सकामभाव से सम्बन्ध है।

२८७—यज्ञियदेवतामयी काम्यकर्ममयी, त्रिगुणमावात्मिका, विराट्पामना का गीता के द्वारा संग्रह, एवं तत्र संग्रोधन—

यहाँ की उपासना लक्षणग्रह की मूल बनाती हुई स्थावयुक्त परमात्मभाव पर प्रतिष्ठित है एवं यहाँ की उपासना लोकमंद की उपासना करती हुई स्वार्थभाव पर ही प्रतिष्ठित है। विराट्पामना ११ यज्ञिय-देवताओं की उपासना है विचारक देवताओं की उपासना है। एवम यज्ञसम्बन्धनी देवतात्मना विरवेदेवों की उपासना है प्रकृतिवर्तों की उपासना है। यज्ञप्रक्रिया के द्वारा विराट् सर्वज्ञात्मक इन्द्ररूप आहूयनीय हिरण्यगर्भात्मक बामुरुप इक्षिणाग्नि एवं वैश्वानरात्मक अग्निरूप गाहपत्याग्नि से सम्बन्ध रखने वाले १२ आदित्य ११ रुद्र ८ वसु, प्रजापति वषट्कार ८० ११ यज्ञिय-देवताओं का तब-काम्य यज्ञ के द्वारा अपने मानुष भूतत्वा से आपान करते हुए इस यज्ञिय-सर्वज्ञात्मक यज्ञ म (जो कि निष्काम-“देवता” नाम से प्रसिद्ध है) शरीरत्यागानन्तर-नाचिकेत्यवश से प्रतिष्ठित होवाना ही ८० प्राणदेवोपासना का मध्य पल है। यही यज्ञियदेवतामयी काम्यकर्ममयी, त्रिगुणमावात्मिका यज्ञयज्ञमयी उपासना विराट्पामना है। गीताने इसका यहाँ संग्रह किया है यहाँ निन्दा भी पर्याप्त की है। इस उपासना की क्या प्रतिपाद्यता है क्या फल है ? यह निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

२८३-[४]-प्रकृत्यवयवोपामना [कर्मयोग]—

- १—यऽप्यन्य दक्षता — मक्ता यजन्ते भद्रयान्विता ।
तेऽपि मामेष कान्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (६।२३।) ।
- २—न तु मामभिजानन्ति तत्खनामश्क्यवन्ति तं ॥ (६।२४।)
- ३—यदात्तिपगत तेजो जगत्मासपतेऽलिलम् ।
यश्चन्द्रमसि यन्बाह्या तपोजो बिद्धि मामकम् ॥ (१४।१२।)
- ४—गामाविरप च मृतानि धारयाम्यहमोज्जमा ।
पुष्पामि चापही सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१४।१३।)
- ५—एतं विमुक्त कान्तेय ! तमोद्धारं श्चिन्तनम् ।
आचरत्यात्मन भवेत्ततो याति परं गतिम् ॥ (१६।२०।)

४

४-माञ्जनविगट्प्रजापत्युपामनासमर्थक-गीतावचन—

२८४ भञ्जनपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आचरन्परिग्रहात्मिका विरवरूपोपासना
म अनुप्रास्थित पूजापर विरोध एवं तभिराकरणा प्रयास—

अब चौथा उपान्त-विषय हमारे सामने आया । यही 'वैवस्वतोपासना' कहानी है । पूर्व में हमने
माञ्जना विगट्प्रजापत्या का एक माचरणा विद्यापामना की, दोनों को विद्यापामना कहा है ।
जिन ५ प्रकृत का बीजा का दूध में विगट्प्रजन करवा गया है उनमें से प्रथम आधिकारिक यजनबीजों
(अचतस्रपुण्या) का तीन यज्ञप्रजापति विपत्त से सम्बन्ध माना है । एवं दूसरे आधिकारिक मूर्त्य-
चन्द्रादि अचतस्रबीजों का विराट्प्रजापति से सम्बन्ध बताया है । इससे पूर्वप्रतिपादना ब्रह्मात्मना में
अचतस्रबीजों के माच माच मूर्त्य-चन्द्रादि-लक्षणा अचतस्रबीजों का भी समावेश सिद्ध किया है । हमने
पुनरागमिष प्रणीत किया है । एक विगट्प्रजापत्या की अचतस्रबीजात्मना मित्र करना पूर्व की
ब्रह्मात्मना में भी अचतस्रबीजात्मना का सम्बन्ध करना अचरन् ही पूर्वावधिरेष है । परन्तु अचतस्र
म विचार करने पर यह विरोध का बीज मूर्त्य नहीं रह जाता ।

५-मात्रणविश्वप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२८८-आधिकारिक, तथा आस्थितिक-जीवधनानुबन्धी विविध उपासना-भाग, एवं सत्समन्वितरूपा 'विश्वोपासना' का सस्मरण—

(१) आधिकारिक अद्वैतचतुर्विध [आस्थित्य-अ-शुद्धी आदि कतिपय भौतिक आशय वनस्पति वर्ग] (२)-आस्थितिक चतुर्विध [अष्टविध देवदेवता आवाय-सन्त-ज्ञानी-भक्त आदि महापुरुष-लक्षणायामक मनुष्य गौ आदि पक्षि पशु नीचजन्मादि पक्षि पशु सर्पादि दिव्य जन्मिणी] (३) आस्थितिक अद्वैतचतुर्विध (ओषधि-वनस्पति-वर्ग) (४) एवं आस्थितिक अद्वैतचतुर्विध [राजप्रामाणिका अन्य भगवत्-प्रतिपत्ति] इन चारों की उपासना ही विश्वोपासना है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यही उपासना भूतोपासना है। धर्ममात्र में यह शारवत अम्बुदय से वञ्चित है एवं निष्कर्ममात्र में यही विराट् के द्वारा स्वीकारा जाती हुई परम्परा आत्मा की अम्बुदय-निर्भर-मन्त्रिका बन जाती है। आगे के गीतावचन इसी 'विश्वोपासना' का समर्थन कर रहे हैं।

महर्षि से बिना किसी शलाकाका के यज्ञ-दान-उपासना यतोपासना। 'न स्यात्तु धर्म्यमेव तत्' ब्रह्मे रूप भगवान् न केवल इसमें अपनी सम्पत्ति ही प्रकट की है अपितु 'न प्रथमं देवोपासनात्मक यज्ञकर्म' का आशयक भी माना है, जैसा कि- 'सहस्रधा' इत्यादि रत्नोक्त्यात्मक स्पष्ट होने वाला है।

भूमी देवोपासना आदर्शमूला है। सूर्य-चन्द्रादि प्रकृति के प्राणदेवताओं के कृपाशायिनी को लक्ष्य में रखकर जीवजन्तुमूलक कर्म करी रहना ही भूमी उपासना है। प्रथमोपासना गीता की सुप्र-निष्ठा दीर्घनिष्ठा (कर्मनिष्ठा) है। भूमी देवोपासना आध्यात्मिक अचलन जीवजन्तु है। दोनों का निष्कर्ममात्र के लक्षण में तीसरी दक्षप्रज्ञा-उपासना में ही अन्तर्भाव है। तीसरी उपासना कामनामय यज्ञकर्म से सम्पन्नता है। इसका भी आध्यात्मिक अचलन जीवजन्तु विश्वायामक ३३ वीं विध देवताओं से ही सम्बन्ध है। गीता इसी की निष्ठा की है। कामना का लक्षण ही इस निष्ठा का मूल है। यदि कामना का परिचाय कर दिया जाय तो वह विराट्शक्तता की ब्रह्मशक्त्युपासना में परिणित होती हुई शारवत अम्बुदय का (परम्परा) ही आशय बन जाती है।

[सप्रह]-१-त्रैविद्या मां सोमपा पृतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गातिं प्राचयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरन्त्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् निवि हेबभोगान् ॥
—गीता ६।२०।

२-ते तं मुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विवशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
—गीता ६।२१।

३-अहं हि सर्वपद्मानां मोक्षा च प्रभुरेव च ॥
—गीता ६।२४।

[विरोध]-१-ननु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातस्त्ववन्ति ते ॥'
—गीता ६।२४।

२-वामिनां पुण्यतां वार्षं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवाद्गताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२।)

३-कामारमनः स्वर्गपरा अन्मकर्म-फलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भौमैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३।)

४-भौमैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिं समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४।)

५-याज्ञानार्थं उपपाने सर्वतः सर्वभूतोद्दे ।
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विद्वानत ॥ (२।४६।)

६-त्रैगुण्यविषया वेदाः • निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ॥ (२।४५।)

४

• यत्र त्रयं श्री भगवत्पूज्यं कृतं त्रयं पाठ्यं चो यद् व्यक्तं चैव कर ही लोना चार्थि च, हेबभोगानां हे
मोक्षान ने लोक प्रसार कलाए है । गीता पकार है-ब्राह्मणवैदिकपद्धति के अनुशार दिव्यमन्त्र से लोक

प्रवाह में ही प्रवाहित रहना पड़ता है, जैसा कि—‘पुनरावर्त्तिनोऽप्यु न ! से स्पष्ट है। और लोक-सिद्धि-
भक्तिकार—सूक्ष्मा—आरवत्तिक—चेतनजीयोपासनात्मिका—चतुर्दशविधा—भूतोपासना का
यही विशेषत्व है, जिसका एवंकलेख बर्गीकरणत्मक सम्भव भी सम्भव है—उसी गीताशास्त्र के
आधार पर।

२६१—अष्टविध-देवयोनिवगानुगता लौकिक-उपासना के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का
संगोफरस—

चौदह-प्रकार के भूतमर्गों में ब्रह्म प्रजापति इन्द्र पितर यज्ञ गन्धर्व राक्षस पिशाच नामक
अष्टविध सत्त्वविशाक्त-अपावधर्मा-२८- अठारह) इन्द्रियसमन्वित वैश्वयोगमग माना गता है। मगवान्ते
इन भागों का ही स्वक्यान्तर से संग्रह कर लिया है। ब्रह्म और प्रजापति दोनों का एक ही—‘ब्रह्मवर्ग’
है। ‘इन्द्र’ सर्वा देवता के अनुसार इन्द्रवर्ग ॥ देववर्ग है। पितृवर्ग स्वतन्त्र है ही। यज्ञ और
राक्षस वे दोनों भी स्वतन्त्र हैं। परकावधेराधर्मा गन्धर्व ही-‘प्रेत’ है। ‘पिशाच’ ही-‘भूतगण’ है।
इत्येकपर निम्नलिखित-कलेख आठा की ही उतावना गीता के साथ संग्रहीत है—

१—ब्रह्म }
२—प्रजापति } ‘आत्मब्रह्मनास्तोत्रः (निष्कैवल्य-सात्त्विका)

३—इन्द्र } ‘यजन्ते सात्त्विका देवान् यान्ति देवप्रता वृक्षान् (सत्स्वरजोमया)

४—पितर } पितृ न यान्ति-पितृप्रता (सत्स्वरजोमया)

५—गन्धर्वा } प्रताव (रजस्तमोमया)

६—पिशाचा } ‘भूतगणान्तरान्ये-भूतानि यान्ति भूमभ्या (तमोमया)

७—यक्षा }
८—रक्षसा } ‘यक्षरक्षसि-राजसाः (रजस्तमोमया)

२६४—[४]—आश्वत्थिक-अर्द्धचेतनजीवोपासना—

[अश्वस्थ सर्गब्रह्मात्म' (गीता १० अध्याय)]



२६५—[५]—आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना [योगरूपा प्रतिमोपासना]

१—पत्रं पुष्प फलं तोयं यो मे भक्षया प्रयच्छति ।

तदहं भक्ष्युपहतमश्नामि प्रपतान्मनः

—गीता ६।२६।

२—यत्करोषि, यदश्नासि, यन्जुहोषि, इहासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

—गीता ६।२७।

३—यद्यापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥

न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया 'भूत' खगचरम् ॥

—गीता १०।३६।

२६६—मर्त्यवाङ्मय 'विराट्' एवं मर्त्यभूतशुक्रमय 'विश्व' का स्वस्व-रास्मरश, तथा तन्निबन्धना उपासनाओं के उद्घाटन तारतम्य, और प्रासङ्गिक राजर्पण, 'पुण्या', मक्का शब्दों का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में कश्चित् तथ्यों का स्पष्टीकरण कर इस प्रमाण-व्यकरण की उपरस किया जा रहा है ।
उक्त प्रकरण पाँच उपासनों के आचार पर पाँच मार्ग हमारे सामने रखता है वह सर्वथा प्रमाणित कर देता है ।
इन पाँच मार्गों में से प्रत्येक मार्ग का शक्तिशाली के साथ वृत्ति बन का प्रतीति के साथ एवं हीमने वर्ग की कथकर्म-
मिका उपासना का ब्राह्मणिक के साथ सम्बन्ध बतलाया है एवं 'ली' में ज्ञान-धर्म-निष्ठाओं का समन्वय किया
गया है । विराट्वाङ्मय (आत्मवक्त्रमोपासनात्मक) बीजे वर्ग की एवं विश्वोपासनात्मक पाँचवें वर्ग
की गीता किता नाम से व्यवहृत करती है ? यह प्रश्न अभी तोप रह जाता है । इन प्रश्न का उत्तर है
'पुण्या' शब्द । आत्म के हीन वर्ग पुण्या-पापि इन्हीं से (निष्कामभाव के कारण) बहिर्भूत हैं ।
पुण्या-पाप-वृत्त मृग्यमान है वृत्त मर्त्यवाङ्मय शुक्रमय विराट् एवं मर्त्यभूतशुक्रमय विश्व दोनों में इन्द्रिय
का सम्बन्ध है । वृत्त शब्दों में—उत्पन्न का पाप-पुण्य का मीमांसन 'ली' अन्त की दोनों संस्थाओं में
सम्बन्ध है और इन्हीं दृष्टि के इन दोनों उपासनों को 'पुण्या' (पुण्या-न्यायशुक्र) कहा जा सकता है । यज्ञ
पापों का निष्कामवक्त्रमयिक सम्बन्धोपासनों की, एवं निष्काम-आत्मवक्त्रमयिक-आत्मवक्त्रपापों की
"आद्यात्म्य" कहा जा सकता है ईश्वरवक्त्रों की "धर्मता" कहा जा सकता है एवं आत्मवक्त्रों की
"राजर्पण" कहा जा सकता है ।

२६२—[२]—आश्वत्थिक-चेतन-मानवजीवोपायना-प्रणिपात
परिप्रश्न-सेवात्मिका—❀

(कर्मभोगवदमानवस्यास्मच्छाश्वत्थस्य-तत्त्वनिष्ठ-आचारपरायण-मानवभेद-प्रत्या
रमसम्पद्यम्)

१-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्ननं सेवया ।
उपदक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

—गीता ४।१५।

२-यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तद्वैतरो ज्ञनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुत, लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

—गीता ३।२१।

२६३—[३]—आश्वत्थिक-पशु-पक्षि-कृम्यादि-सर्व-एषाना-चेतन-
जीवानामुपा-सना-विभूतिरूपा—

१-उच्चैःश्वरममरवानां विद्धिमाशुतोद्भवम् ।
परावर्तं गजेन्द्राणां भृगाणाञ्च भृगुन्द्रोऽयम् ॥
२-सर्पाणां मकरश्चामि वेनूनामस्मि कमलपुङ्ख ।
वनतपश्च पक्षिणां सर्पाणामस्मि बभ्रुकिः ॥

(अश्वः, गजः, सिंहः, मकरः, गरुडः सर्पः) —

—गीता १।३५।

❀-शुद्धचतुष्टयः-प्रणिपातधर्मः

मनो-शुद्धः-परिप्रश्नधर्मः (कृतकर्मसुतः प्रश्नः प्रश्नः, सुकृतकर्मसुतो विद्यासाधकः
प्रश्न एव-परिप्रश्नः-अधिमापाया 'सम्प्रश्नः')

शरीरशुद्धः-सेवाधर्मः

मानवानुगता-उपासना विविधैः । नान्यः पन्था विद्यते ।

अभ्युपासका—बुद्धियोगिनो युक्ता—योगिन—	राजर्षय—
ईश्वरोपासका—भक्तियोगिनो युञ्जाना—	भक्ता—
कामोपपासका—ज्ञान-कर्मयोगिनो—आचरन्त्य—कर्मिणो ज्ञानिनश्च—	ब्राह्मणा—
शिराडुपासका—काम्यकर्मयोगिनः क्षमपरायणा—	} पुण्याः—
किरवोपासका—काम्यकर्मोपासका—कामोपयोगपरमा—	

२६६—‘ज्ञानी’, ‘जिज्ञासु’, ‘अर्थार्थी’, ‘आर्षा’, मानसों से अनुप्राणित सकिमार्ग के चार प्रसिद्ध विवर्णों का स्वरूप-समन्वय—

गीता ने उपासकवर्ग को आर्षा जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी इन चार भागों में विभक्त किया है। प्रत्येकीपास यह भी विचार कर लेना चाहिए कि, उक्त पाँचों वर्गों में किस का किस उपासक भेष्टि में अन्तर्भाव है। विचारकृष्ण के अन्तिम बराकल पर पहुँचने से यह मान लेना पड़ेगा कि—‘ज्ञानी’ उपासक बुद्धियोगी (युक्तयोगी किंवा युक्ततत्त्वयोगी) होगा। ईश्वरोपासक एवं शङ्कराचार्यउपासक (देववर्ण्यबुद्धियोगी कर्म-बुद्धियोगी ज्ञानबुद्धियोगी तीनों) जिज्ञासु भेष्टि में माना जायगा। शिराडुपासक (योगेश्वरकर्म की इच्छा से काम्यकर्म-कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला काष्ठक) अर्थार्थी उपासक माना जायगा। एवं किरवोपासक को आर्षा उपासक कहा जायगा। दुःखी प्रमुष्य ही भूषणोपासि को मनाता किया है वही कष्टरभाव से ‘शिराप्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम’ यह कहता है। वही देवप्रतिमाओं के सम्मुख कल्याणमयी प्रार्थना किया करता है। आर्षों में कौन सर्वश्रेष्ठ? पाण्ड कह उन्हे—ज्ञानी बुद्धियोगी युक्तयोगी। इत्यप्रकार गीताभिद्वान्त अपने आप स्पष्ट हो जाता है। देखिए—

१—वसुकिंवा मज्जन्ते मां जना सुकृतिनोर्जुन ! ।

आर्षो जिज्ञासु, रथार्थी, ज्ञानी च भरतर्षम ! ॥

२—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकमक्तिर्बिशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

३—उदारा सर्व एषंत ज्ञानी स्वात्मैव म मतम् ।

आभ्यस्त म हि युक्तस्मा मामवानुष्ठमां गतिम् ॥

—गीता ७।१६।१७।१८

२६७-इन्द्रातीठा उपासना, एवं इन्द्रात्मिका उपासना का तारतम्य-प्रदर्शन, तथा तामसी-उपासना का मीपक्ष परिणामों का दिग्दर्शन—

‘पुण्याः वे ही महत्कार्यो यो विरा’ एवं विश्व के उपासक होमें। अतएव यह विवेक ना कर ही लेना पड़ेगा कि आधिकारिक अचरन जीव (विराट्पञ्च) के मास्त्रिक उपासक, आरव-त्त्विक अचरन ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र इन तीन स्वयानियों के मास्त्रिक उपासक, महापुरुषसङ्ग आस्त्रत्त्विक अचरन जीवों के सास्त्रिक उपासक, या आदि पवित्र पशुरूप आरवत्त्विक अचरन जीवों के मास्त्रिक उपासक, अरवत्त्व-नुबमी इटादिरूप आरवत्त्विक अस्त्रअचरन जीवों के सास्त्रिक उपासक, एवं प्रतिमात्मसङ्ग आरवत्त्विक अचरन जीवों के मास्त्रिक उपासक का ‘पुण्या’ कहसार्हेगे। एवं मूल-अंतादि आस्त्रत्त्विक अचरन जीवों के राजसतामस किंच तामस उपासक ‘पाप’ कोटि में माने जायेंगे। अरव इन ‘आसुरी-उपासना’ से आत्मासुख की सम्पत्ति भी नहीं है। तामसी उपासना अन्तर्दोषात्मा अरवअचरन का ही अरव अन्ती है किन्तु निम्न लिखित बर्णों से स्पष्ट है—

१-मोषाया मोषककर्मणो मोषदाना विषतसः ।

रावसीमामुरी चैव प्रकृतिं मोहिनीं भिताः ॥

२-न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

मायपापइतज्ञाना आसुर भावमाधिता ॥

३ पद्यन्मगुणवृत्तिस्था आधगण्ड्वानी तामसाः ॥

२६८-अभ्ययोपासक-ईश्वरोपासक-यज्ञोपासक-विराट्पञ्च, एवं विश्वोपासक-मदन उपासकों के भेदविभागों का तात्त्विक-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इह प्रकार “ब्रह्म-राजस-गन्धर्व-पिराच इन चारी आरवत्त्विक अचरन-जीवों की उपासना की श्रोत्रकर भिन्नतात्मा के शेष-बर्णों का उपासक वर्ग ही “पुण्या” का अधिकारी सिद्ध होता है। तीनों विगड्पानक की पुत्रकता में ती कोट अन्वेष्ट ही नहीं है। स्वर्ग मगधार्त्न ही-“ते पुत्रप्रमायां सुदेव-साधन करते हुए रहें” “पुण्याः (पुण्यात्मान)” माना है। रही अत चारी नाम-स्वरहारी का पक्ष बर्णों में अन्तर्भाव करते हुए मगधार्त्न करते हैं—

कि पुनर्ब्रह्मणाः पुण्याः, मत्तः, राजपयस्तया ।

अनि यमसुखं शोकमिर्म प्राप्य भजस्व माम् ॥

—गीता २।१३ ।

का उपास्य देवता बना। यहाँ आशिक्षण से हेतुमान का शिक्षण हुआ। 'बाई, भोर सोम् का पापस्य कमन्ते हुए ही अनन्यता स्थापित हुई। यही मन्त्रिरूपा उपासना 'बन्धुगानुगत भक्तिमार्ग' कहलाया गीताने इसे ही 'प्रेमधर्मबुद्धियोग' नाम से व्यक्तित्व किया। बद्धा आरम्भकभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

३०४-आत्मबन्धमूला प्रतापयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आगे बाहर पुराणयुग का सम्बन्ध हुआ। इस युगमें अक्षरारोपामना के साथ साथ निष्कर्म-यज्ञकर्म एवं निष्कर्म आत्मोपयुक्त आत्मीयकर्म, इन तीन मार्गों का शिक्षण हुआ। यज्ञकर्म योग-निष्ठा (कर्मनिष्ठा) कहलाई आत्मीयकर्म मार्गनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) कहलाई। लोकस्व के भेद से ही इन प्रवृत्ति-निष्ठास्वरूप दो-विभिन्न निष्ठाओं का विकास हुआ। यही गीता का संशोधन प्राप्त कर आगे बाहर (क्रमशः) 'धर्मबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग' इन नामों से व्यक्तित्व हुई। इस उपासना का उपास्यदेवता माना गया स्वधिकार अमृतवाक्कृतकर्म-पञ्चप्रज्ञापति। एवं वेद का (प्रवृत्ति-निष्ठा-कर्मप्रतिपादक-कर्म-ज्ञाननिष्ठा-प्रतिपादक) आद्यभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

३०५-तत्त्वदर्शनविज्ञानमार्गमूला-दर्शनयुगानुगता-उपासना का स्वरूप समन्वय—

आगे बाहर दर्शनकर्म का आगमन हुआ। समाज दार्शनिक दृष्टि से उत्पत्तियोग में प्रवृत्त हुआ। विज्ञानसिद्ध वैदिकतत्त्व विस्तृत होगया, एवं इन का स्थान मत्तवाक्मूलक, अतएव कलहमूलक दर्शनवाद् न छीन लिया। पनियामत — पूर्वप्रचलित मन्त्रिमार्गों का वास्तविक स्वरूप विस्तृत होगया और उनके स्थान तत्त्ववाद्मता विराट्-उपासना का आविर्भाव हुआ। विराट् के ज्ञानप्रधान स्वव्यवस्थित के आधार पर प्रचलित वेदान्तनिष्ठान कर्म लिया विराट् के ज्ञानप्रधान विरय्यमार्गवत्त्व के आधार पर प्रचलित मार्गनिष्ठ का आविर्भाव हुआ एवं विराट् के अर्थप्रधान वेदान्तवत्त्व के आधार पर कणाद् के द्वारा प्रचलित कर्म निष्ठा का आन्विष्टर हुआ।

३६ कर्मासक्तिमूला दार्शनिक-भक्ति दर्शनभक्तिनिबन्धना लोकनिष्ठार्थ, एवं मगनान् के द्वारा उन का संशोधनात्मक-समन्वय—

दर्शनप्रत्यक्ष ही इस कर्मात्मका भक्ति की मूलप्रतिष्ठा की। महाभारतकाल में ही यह मार्ग परम्परा-सीमा पर ही पहुँच चुका था। देवयुगारम्भ में मगनपुषिका बुद्धिवागनिष्ठा विस्तृत होचुकी थी ईश्वरानन्दतत्त्वज्ञाना अक्षरारोपना यी अतएव बन चुकी थी अक्षरमार्गिका कर्मनिष्ठा से एवं आत्मकर्मात्मिका मार्गनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली अक्षरारोपना के प्राक्कर्ममार्गों काय-प्रवृत्ति का आठव प्रवृत्त कर लिया या निष्ठाकर्ममार्ग पर अक्षर अक्षरारोपना कर्मत्यागसत्त्व लम्बान ने अक्षरारोपना-पति कर लिया था। इसी मीरमता का समन करने की लिए महाभारतयुग में उची प्रपयोगेन्द्रा को पुन बाहुदेवशरीर से अक्षरारोपना करना पड़ा। और उनके अर्जुन की निमित्त बना कर पुनः निष्ठियोग में परिणत करों निष्ठाओं का संशोधन कर सर्वोपरि बुद्धियोगनिष्ठा स्थापित की।

आध्यत्मयोगः	—	ज्ञानी	}	चतुर्विधा भजन्ते माम्— “पूयच्छ्रवणं”
ईश्वरोपासकः	}	विष्णुः		
ब्रह्मेश्वरोपासकः				
विष्णुपासकः]	अर्वाभी		
शिवोपासकः]	आर्वा		



३ युगधर्ममदनिबन्धन-उपासना यशों का संस्मरण—

उपास्य तत्त्व के सम्बन्ध में प्रवृत्त भक्तिप्रकरण के अनुरोध से ही कुछ कहना या वह परिभाषा है। अब इस सम्बन्ध में केवल यही इतना स्पष्ट रूप से बताया जाता है कि इन पाँचों उपासकों की पाँचों उपासनाओं का क्रम देवयुग—वैद्ययुग—पुराणयुग—दशानयुग—वर्त्तमानयुग इन युगों के साथ सम्बन्ध कर दिया जाय। और वर्तमान में भक्तिक्रम के मुख्य विषय ‘वैद्ययुगानुगत भक्तिमार्ग’ का ही उन्हीं में उपदेश कर उस धर्म को स्थापित किया जाय।

३.१—वैद्ययुगानुगता ‘उपासना’ लक्षणा ‘भक्ति’ का संस्मरण—

अब वह स्पष्ट करने की कोश आकरवक्तृता नहीं रह गई है कि, वैद्ययुगानुगता में ही—मन्वान् युग के द्वारा (अन्वयस्वरूप में) विष्णु के प्रति सर्वप्रथम इस निगुण धर्म्यकृता चतुर्विधानुगता वैष्णव-दुष्टियोक्तृत्वा मनोमयी किंवा हानमयी (अध्यात्मज्ञानधर्ममयी) ‘उपासना’ नाम की ‘भक्ति’ का उपदेश हो चुका था। इसीलिए वह भी निर्विवाद है कि, वैद्ययुगानुगता उपासना ‘निर्गुणधर्म्य-उपासना’ ही थी।

३.२—वदन्तीपनिषन्मृता वैद्ययुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

प्रकरण के आरम्भ में इस उपासना के सम्बन्ध में वह विप्रतिपक्ष उद्गार गए थे कि उपासना का इतना ही सम्बन्ध है सीमित उपास्य से सम्बन्ध है। “अथ निगुण आत्मा आनीम है। प्रकृतः तम की उपासना असम्भव है। कदा न होय कि उक्त निगुण धर्म्य-स्वरूप-परिज्ञान के अनन्तर इस विप्रतिपक्ष का कोई महत्त्व होर नहीं रह सके।” अध्यात्म-ज्ञानी भी है निगुण भी है परन्तु मायापरिग्रह से युक्त हीन दुःख विरवलीला के भीतर भी है। मायाप्रेत निराकार परात्परब्रह्म अवश्य ही अपरिचितवत् बनता हुआ अनुपास्य है। परन्तु मायी अध्यात्म के सम्बन्ध में समानप्रत्ययप्रवाहमूला अद्वैतकृपा उपासना अवश्य ही बन सकती है अगर यही उपासना सर्वोत्कृष्टा उपासना है। वैद्यका उपनिषद् साक्षात् ही इसकी-प्रतिष्ठा है।

३.३—आरण्यकप्रथमोक्ता वैद्ययुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

कुछ समय पीछे ही विशुद्ध प्रजापति की उपासना का विचार हुआ। यही उपासना वैद्ययुग आनीम उपासना कहलाई। आचार्यमूर्ति प्रणाम्य किंवा कृपाप्रय पोषणीमजायति ही इस उपासना

निर्गुण-ब्रह्मपोषासनाकाश है चक्षुष्यात्मक मत्स्ययुग अक्षरमूर्ति अक्षर्य इन्द्रमूर्ति अक्षर्य सत्त्वमूर्ति पोद्दशी-प्रज्ञापरपुषासनाकाश है, पुराणयुगात्मक प्रतायुग • यज्ञप्रज्ञापत्युषासनाकाश है वराहयुगात्मक ह्यपरयुग विराट्प्रज्ञापत्युषासनाकाश है अर्थ ब्रह्मानन्दयुगात्मक कक्षियुग विश्व-प्रज्ञापत्युषासनाकाश है। इसी विज्ञानमिति के आधार पर हमने इस तीसरे प्रकृत प्रकरण के पाँच अक्षान्तर प्रकरण मान लिए हैं किनकी कि मौलिकता सिद्ध करने के लिए 'यत्परममुक्तं यथापाम्य-विषयं' का गवाधान करना आवश्यक हुआ।

अन्यत्र चर्मात्—	१-देवयुगः—आश्विनयुगः (दीहोतनित्कालः) —निगुणायुषोपामना-विवस्वम्
	२-मत्स्ययुगः—वैतयुगः (आयुष्यकालः) —सगुणप्रज्ञापरपुषासना-विवस्वम्
मोक्षयुग	३-वराहयुगः—पुराणयुगः (पुराण-मास्यकालः) —उविषारयज्ञेश्वरप्रज्ञापत्युषासना-विवस्वम्
अन्य	४-ह्यपरयुगः—इष्टानयुगः (यज्ञकालः) —माहान्विराट्प्रज्ञापत्युषासना-विवस्वम्
रक्षात चर्मात्	५-कक्षियुगः—वत् मानयुगः (मर्कटकालः रमासकालः) —उविषारयज्ञेश्वरप्रज्ञापत्युषासना-विवस्वम्

प्रकारान्तरण—

देवयुगासना—ज्ञानमयी-मनोमयी—“अमृतोरासना”—अमृतम्

मत्स्ययुगासना—क्रियामयी-आयुष्यमयी—“महोपासना”—मह

वराहयुगासना—अद्यमयी-अमृतकालः शुक्रमयी-“शुक्रोपासना”

ह्यपरयुगासना—अद्यमयी-मर्कटकालः शुक्रमयी-देवोरासना(शुक्रम)

कक्षियुगासना—अद्यमयी-भूतराष्ट्रमयी—“भूतोरासना(शुक्रम)

शुक्रम

• “प्रेतायां वक्ष्याम्यनानि (श्रुताप्रियव्रतयुगक विज्ञानपत्रकाश)।

३०७—कास्तुपातुगता योगविशुद्धि, एवं व्याख्याताओं के द्वारा योगचतुष्टयी के मौलिक-स्वरूपों का अभिप्राय—

अथर्वण ही कुछ उदात्तियो पर्यन्त 'गीता का बुद्धियोग एवं तदनुमाशित बुद्धियोगात्मक इतर तीनों योग व्यवस्थित ही रहे होंगे। परन्तु कास्तुपा से आगे आकर पुनः इन चारों का ही स्वरूप निहा होना और विश्वोपासना में इनका स्थान भीन सिद्धा। यही प्रचलित भक्तिमार्ग कहलाया। अन्त्या-ताओं के व्याख्यातमय ही इसकी मूलप्रविष्टा बनें जैसाकि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है।

३०८—सर्वयुगातुगता सर्वोपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं भूतोपासनात्मक 'प्रतिमा पूजन का अनादित्व—

उक्त कथन का वह तात्पर्य नहीं है कि पाँची युगों में [प्रत्येक में] केवल तत्तुपासनाओं का ही प्रचार था। वास्तव्य से वैष्णव में ही पाँची का विकास होतुका था। और तो और, सिद्ध प्रतिमापूजन का इसमें वर्तमान युग का भक्तिमार्ग माना है। उक्त विचार भी उही युग में होतुका का विशेष हम वैष्णव करते हैं एवं जो विज्ञान दृष्टि से 'उपनिषत्' पुनः ही माना जासकता है। हम देखते हैं कि आद्य 'प्रतिमापूजन (जो कि उपासनादिभिः ० का एक उत्तम मार्ग है) पर अनेक प्रकार के आक्षेप हो रहे हैं। जो मायवीर वैदमति की अनन्त्या घोषित करते हुए भी अज्ञानवश केरिद्धा प्रतिमापूजना पर आक्षेप करते हैं उक्त तो हमारी कोई बुराई नहीं है। कारण व हमारे कन्टु हैं भ्रान्तिवश उन्होंने वह भूल कर रखा है। और हमारा विश्वास है कि, आत्मक-उपमापूजन से हम किसी भी समय उनकी भ्रान्ति का परिमार्जन कर सकेंगे निश्चयेन कर ही देंगे। परन्तु विज्ञानगर्वित पश्चिमी विद्वान् भी इस सम्बन्ध में भ्रान्ति कर रहे हैं। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमने विश्वोपासनात्मक प्रचलित भक्तिमार्ग नाम के पाँचवें प्रकरण में 'प्रतिमापूजन और उपासना' नाम के वैज्ञानिक प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा है जैसाकि पाठक तत् प्रकरण में देखेंगे। वहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही अर्थ है कि, सभी युगों में सभी उपासनामार्ग प्रचलित रहे हैं परन्तु तत्तुपासनाओं की प्रचलना से हमने तत्तुपासनाओं का तत्तुपासनाओं से ही मुक्त मान लिया है।

३०९—सौक-धर्म-वैद-प्रज्ञा-चतुष्टयी के आदिव्यवस्थापक भगवान् मौन-मानुष-ब्रह्मा के द्वारा चतुष्टु गद्यवस्था, एवं तत्तुगानुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप समन्वय—

एक बात और। वैष्णवगात्रीन ज्ञाता के द्वारा सौक-धर्म-वैद-प्रज्ञा-की व्यवस्था के लक्ष्य अथ चतुष्टु की ही व्यवस्था हुई थी। वैष्णव के आम्बवदितोत्तरकाल में ही अपनी दिशि रहते करते वैष्णव की 'सत्ययुग' माना जासकता है पुराणयुग की 'त्रेतायुग' कहा जासकता है। द्वापरयुग की 'द्वार' माना जासकता है एवं वर्तमान कलहमूलक युग का 'कलियुग' कहा जासकता है। वैष्णव बुद्धियोगात्मिका

० अवि-त्यम्भानमपस्य निगु शस्य गुणात्मनः ।

उपामस्यनां मिथयथ ब्रह्मो रूपकम्पना ॥

२१२-परमेश्वरमूलक-‘उद्गीयोद्धार’ का पावन-संस्मरण—

वेदमुगानुगता आरण्यकभागमूला उपासना का मूलधार है—‘उद्गीयोद्धार’ को कि उपनिषद् में ‘परमेश्वर’ नाम से भी प्रसिद्ध है। जिस पोद्गी-प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन किया गया है उसे ही ‘उद्गीयोद्धार’ भी कहा जा सकता है एवं उसी को ‘ईश्वर’ भी माना जा सकता है। फलतः उसी की उपासना ‘ईश्वरपूजा’ कहला सकती है। इस नियम का माण्डूक्योपनिषत् में विस्तार से स्पष्टीकरण दिया जाना है। अतएव पिछले निरर्थक है। उपासना के समन्वय के लिए वहाँ दो शब्दों में उत्तरमरणमात्र ही कर दिया जाता है।

२११-आत्मप्रजापति के तीन संस्थाविधियाँ, तदनुप्राणित विश्व, एवं ‘आत्मा’, तथा ‘विश्व’ की समष्टिरूप ‘आत्मन्वी’ का संस्मरण—

निर्गुण-अव्ययमात्मा, सगुण-पोद्गी-प्रजापति एवं त्रिकार-यज्ञप्रजापति इन तीनों आत्मसंस्थाओं की मन-प्राण-वाक्मयी मानते हुए क्रमशः अव्यय अक्षर अक्षर-प्रधान ब्रह्मात्मन् माना है। एवं अन्त की साञ्जनविराट्-प्रजापति एवं मातरणविश्वप्रजापति इन दो संस्थाओं का क्रमशः सत्यवक्त्रात्मन् तथा मूतवाक्त्रात्मन् बतलाते हुए विश्वरक्षर तथा वैकारिकक्षर-रूप माना गया है। इसी दृष्टि से इन पाँच संस्थाओं की आगे जाकर तीन ही स्वरूपों से रह जाती है। अक्षर-विश्वरक्षर-वैकारिकक्षर, तीनों अक्षरवत् हैं। यज्ञप्रजापति विश्व है। पाठकों को यह भी ध्यान होगा कि इसी आधार पर हमने अव्यय-अक्षर इन दो को दो-‘आत्मा’ कहा है एवं अक्षर-विश्वरक्षर-वैकारिक इन तीनों को ‘विश्व’ कहा है—[वेदिक पृष्ठ १६९]।

२१२-अतीतलक्षण अव्ययमात्मा, वर्तमानलक्षण अक्षरात्मा, भविष्यलक्षण अक्षरात्मा का साक्षात् परात्पर, एवं चारों की समष्टिरूप-पोद्गी-प्रजापति का संस्मरण—

अव्ययान विरम अक्षिक बनता हुआ ‘नास्तित्व’ शब्द का प्रयोग इस अक्षिक अक्षरों के लिए नहीं किया जा सकता। यह तदा भविष्य की मर्यादा से ही आक्रान्त रहता है। अतीत-लक्षण अव्ययमात्मा वर्तमानलक्षण अव्यय दोनों से युक्त भविष्यलक्षण अक्षर ही विश्व है। अतीत किंवा मूत-मर्यादा से आक्रान्त अव्यय वर्तमान मर्यादा से आक्रान्त अक्षर एवं भविष्यलक्षण मर्यादा से युक्त अक्षर तीनों की सम्मिश्रिती ही पोद्गी-प्रजापति है।

२१३-‘प्रसवोद्धार’-लक्षण प्रथमा ओद्धारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इस पोद्गी-प्रजापति का चरित्रलक्षण भविष्यवत् ही आगे जाकर यज्ञ विराट्-विश्व-रूप में परिणत होता है। इन तीनों में भी अपेक्षा हम यज्ञ का मूत विराट् को वर्तमान एवं विश्व को भविष्यवत् कह सकते हैं। एवं पोद्गी को त्रिकलसाक्षी कहा जा सकता है। और इसी दृष्टि से केवल भविष्यवत् रूप अक्षरप्रजापति भी त्रिकलमर्यादा से युक्त होता हुआ ‘ओद्धार’ बन जाता है। यही पहिली ‘ओद्धारसंस्था’ है। इसी की हम ‘माखोद्धार’ कह सकते हैं। प्रस्ताव को ही स्तुति करते हैं। उपक्रम ही प्रस्ताव है। मौक्तिक विश्व ही आत्मा की प्रस्तावमूर्ति है। अतएव प्रस्तुत पात्रात् इस का ओद्धार को अक्षर ही ‘प्रसव’ कहा जा सकता है।

३१६-सर्वोद्धारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

पहिले कर्मप्राप्त निगुणान्वयसङ्गण त्रिकासातीत, सर्वकलरूप सर्वोद्धार को ही स्वीकृत । परन्तु इस की चतुःमात्रा है ज्ञानान्वयमात्रा अकारमात्रा है विज्ञानमात्रा अकारमात्रा है एवं पादरी-यज्ञ-विचार विषय इन बातों को अपने गम में रखने आत्मा कर्ममय मनोमात्रा अकारमात्रा है तथा समष्टि सर्वोद्धार है ।

३२०-उद्गीषोद्धारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

दूसरा अक्षरमूर्ति सगुण शोभरी-प्रजापति है । त्रिकासातीत साक्षरार्थों निगुण अव्यय-अक्षरमात्रा है पञ्चकल भूतलक्षण अक्षरमूर्ति-अव्यय अक्षर है, पञ्चकल वर्तमानलक्षण अक्षर मूर्ति अक्षर अक्षर है । यज्ञ-विराट्-विश्वगर्भित भविष्यलक्षण अक्षरमूर्ति अक्षर अक्षर है । एवं समष्टि उद्गीषोद्धार है ।

३२१-प्रथमोद्धारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा अक्षरमूर्ति सविकार पञ्चप्रजापति है । त्रैलोक्यिक शोभरी अक्षरमात्रा है यज्ञेश्वर पिप्पल अक्षर है, विकारमूर्ति विकार अक्षर है आक्षरमूर्ति विश्व अक्षर है एवं समष्टि प्रथमोद्धार है । यह दो दुष्मा ओद्धार का स्वरूप विस्तार । यदि इस कालान्तर प्रस्थापों का विचार किया जाता है तो अगुण अगुण में अनुष्मा ओद्धार की उपा विज्ञ ही होती है जिसके कि कुछ एक उदाहरण कदविज्ञानमात्र में उदाहरण है ।

३२२-ज्ञानयोगानुगत सर्वोद्धार भक्तियोगानुगत उद्गीषोद्धार, तथा कर्मयोगानुगत प्रथमोद्धार का स्थितिमेवमूलक समन्वय—

निष्कर्ष करी दुष्मा कि व्यवहारमात्र के लिए भूतलक्षणिक अक्षर अक्षरमात्रा-निगुण अव्यय सर्वोद्धार अक्षरमात्रा । वर्तमानलक्षण अक्षरमूर्ति शोभरी उद्गीषोद्धार अक्षरमात्रा एवं भविष्य-लक्षण अक्षरमूर्ति यज्ञप्रजापति प्रथमोद्धार अक्षरमात्रा । सर्वोद्धार विशेषकोटि में आता दुष्मा ज्ञाना-त्मिका बुद्धियोगलक्षणा उपासना का प्रतिष्ठा बना । उद्गीषोद्धार व्यासकोटि में आता दुष्मा क्रिया-त्मिका भक्तियोगलक्षणा उपासना की प्रतिष्ठा बना । एवं प्रथमोद्धार व्यवहारकोटि में आता दुष्मा अर्थमिका कर्मयोगलक्षणा उपासना का आधार बना ।

३३-ज्ञानात्मिका उपासना भक्त्यात्मिका उपासना एवं कर्मात्मिका उपासना भेदमिका उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय—

इस से यह भी विज्ञ ही होता कि ज्ञानात्मिका उपासना भक्त्यात्मिका उपासना कर्मात्मिका उपासना तीनों का आरम्भ किया मूल लक्षण 'ओद्धार' ही होता चाहिए । इन तीनों में से गीता ने न ओद्धारों का ही प्रधान रूप से विशेषण करना आवश्यक समझा है । कारण स्पष्ट है । अव्ययमात्रलक्षण सर्वो-

३१४-‘उद्गीषोद्धार’ सप्तमा तृतीया ओद्धारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

मन्थिपर्व के अनन्तर वत्त मानसंस्था प्राप्तमय अक्षर आता है। निष्कल अक्षय-गमित पञ्चकल अक्षयमूर्ति अक्षर ही मूल है पञ्चकल अक्षरमूर्ति अक्षर ही वत्त मान है एवं च-विराट् विश्वगमित पञ्चकल आत्मक्षरमूर्ति अक्षर ही मन्थिपर्व है। इत इति से वर्तमानसंस्था पोडरी प्रजापति भी त्रिष्वसमर्थ्यां से जुक्त होता हुआ ‘ओद्धार’ बन जाता है। यही दूसरी ओद्धार संस्था है। ‘वी’ को ‘उद्गीषोद्धार’ कहा जाता है।

३१५-‘उद्गीषोद्धार’ जुगल-उत्-गी-यम्’ पर्वों का आत्मनिर्बन्धन स्वरूप-समन्वय—

‘उत्-गी-यम्’ की समष्टि ही ‘उद्गीषयम्’ है। ‘उत्’ ‘असृतमाध’ का स्वक है ‘यम्’ ‘यसुमाध’ का स्वक है ‘गी’ दोनों का संघात है। निर्गुण अक्षय असृतप्रधान बनता हुआ ‘अत्’ है, यत्-विराट्-विरवरूप क्षर-स्युप्रधान बनता हुआ ‘यम्’ है। मध्यस्थ पोडरी दोनों से जुक्त होकर पोडरी बनता हुआ ‘गी’ बन कर उद्गीषयम् है। पोडरी अक्षयप्रध्या ‘उत्’ बना हुआ है अक्षर-इच्छा ‘गी’ बना हुआ है एवं क्षर की दृष्टि से ‘यम्’ बना हुआ है। अतएव इसे अनवरत ही ‘उद्गीष’ कहा जा सकता है।

३१६-छान्दोग्य-सम्मत ‘उद्गीषोद्धार’, एवं तदनुप्रासित ‘परावरमक्ष’ का सम्मेलन—

छान्दोग्यमन्त्र अक्षर को ही प्रधानरूप से उद्गीष मानता है। और एव मन्त्रान्त्रिज ही है। काण्ड मध्य अक्षर ही उत्तम क्षेत्र के उत्-लक्ष्य अक्षय से एवं इस क्षेत्र के ‘यम्’ लक्ष्य क्षर से जुक्त होता हुआ ‘उद्गीषयम्’ बन जाता है। ‘उत्’ लक्ष्य अक्षय ‘पर’ है। ‘यम्’ लक्ष्य क्षर ‘मवर’ है। एवं दोनों से जुक्त ‘गी’ लक्ष्य अक्षय बनता हुआ अक्षर ‘परावर’ है। यही ‘परावरोद्धार’ त्रैशक्ति उद्गीष अक्षर है।

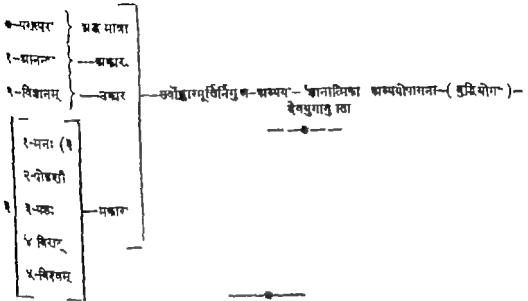
३१७-‘सर्वोद्धार’ सप्तमा तृतीया ओद्धारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब वह तीसरी निर्गुण-अक्षय-संस्था बन रही है जोकि विष्णुसंज्ञा है। एवं त्रिण के इमे आत्मन्-विज्ञान-मन से विवक्षित मान कहाए हैं। यही ‘तत्’ ‘सर्व’ बना हुआ है। इत के आत्मन्माय को ‘अक्षर’ माना जा सकता है विज्ञानमाय को ‘उक्षर’ कहा जा सकता है ‘सर्वगमित’ मनोमाय को ‘मक्षर’ कहा जा सकता है एवं व्यापक परावर को ‘अक्ष माया’ माना जा सकता है। यही तीसरी ‘ओद्धारसंस्था’ है। ‘मे’ ही ‘मर्वोद्धार’ भी कहा जा सकता है। यही मूलोद्धार स्वरूप में परिणत हुआ है—‘तत्’ मानवेति विज्ञान।

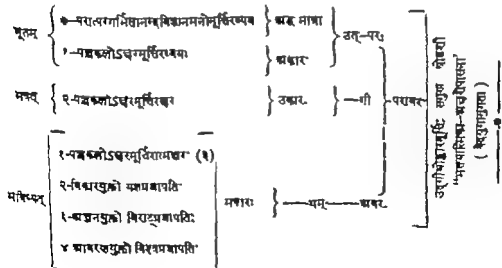
३१८-ओद्धारानुगता अक्ष माया एवं तत्र प्रतिष्ठिता अक्षर उक्षर, मक्षर-त्रयी—

ओद्धार में ‘अक्षमाया’, अक्षर, उक्षर, मक्षर’ के चार भागों देवी हैं। इन मायाओं के तट रव से ही उक्त तीनी आत्मलक्ष्याधी की कथना सर्वोद्धार उद्गीषोद्धार प्रसवोद्धार अभिधाओं से समन्वित मान लिख गया है। अब देखना यही है कि इन तीनी संस्थाओं में कित कय से चारों पर्वों का योग हो रहा है।

१-सर्वोद्धार - (परब्रह्मोपासना-परोक्ष्यय) (भूत-काशासीतम्)



२-उद्गीयोद्धारः- (परावरब्रह्मोपासना-परावरोक्ष्ययः) (भवत्)



हृत् तो गीता का प्रतिपाद्य विषय ही है। इस के लिए ही भगवानने पद ५ पर "नाम" "मम" "अहम्"—'मम' यही कहना पर्याप्त समझ है। योग पोहरी प्रजापति-लक्षण अक्षरमूर्ति अक्षरीय को मक्षिरूप उपासना का एवं अक्षरप्रजापति-लक्षण अक्षरमूर्ति प्रणव का कर्मरूप उपासना का यह शब्दों में उपक्रम माना है। वैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

उगृहीथोद्धार —१-आमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ } —योगी

—गीता ८।१३

प्रवणोद्धार —२-तस्मादोमित्युवाहृत्य यद्व-दान तप- क्रिया ।
प्रवचन्ते विधानोक्ता सतत ब्रह्मवादिनाम् ॥ } —यज्ञः

—गीता १५७४

३२४-विद्येय अम्यवात्मा, उपास्य अक्षरात्मा, एवं व्यवहार्य चरात्मा-निबन्धना
मार्गत्रयी का स्वरूप समन्वय, तथा तात्त्विक-माध्यमेन तत्पट्टीकरण-प्रयास—

अब यह स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई है कि, अव्ययोपासना वास्तव में उपासना नहीं है अपितु एकप्रकार का ज्ञानयोग ही है। चरात्मासना भी उपासना न होकर एकप्रकार का कर्मयोग ही है। 'उपासना' किये कि हम "मक्ति" का लक्ष्य है वह तो अक्षरोपासना ही है। यही कारण है कि, उपासनाशब्द के सम्बन्ध में कतल मुस्लिमी में 'अक्षर' का ही मूल लक्ष्य मा। गया है। अम्य को 'बिह्व' माना है अक्षर की 'व्यवहार्य' माना है। इत्यकार मक्षिमम्या की दृष्टि से आरवक-कमला बद्गुगानुता अक्षरोपासना ही प्रचलन बनी रह आयी है।

नात्मना ममपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नान्तरम् । तदा अव्येतत्-अतिच्छन्दः
(असीमम्), अपहतपात्मा (परिग्रहशून्यम्), अमयं (परात्परमयम्) रूपमशोका-
न्तरम् । अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोका, इवा अदेवाः, वेदा
अवेदाः यज्ञा अपज्ञा । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, अशूरा अभूयशा, पौष्करोऽपौष्कस्त,
रवाण्डालोऽवाण्डाल, अमणोऽममणस्तापमोऽतापसो, जन्वागत पुण्येन, अन्वागतः
पापेन तीर्थो भवति, हि तदा सर्वान्छोकान् हृदयस्य भवति ।

यद्वैतस्य पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न
स्पृशति न विज्ञानाति परयन्-जिघ्रन्-विज्ञानन्-वदन्-शृण्वन्-मन्वानो-विज्ञानन्-
द्रष्टव्यं-घ्रातव्यं-रस-वक्षस्य-भातव्य-मन्तव्य-स्पर्ष्टव्यं-विश्लेषं न पश्यति, न जिघ्रति,
न रसयति० । न हि दृष्टे, घ्रातस्य० विपरिलोप । न तु तद्दृष्टनीयमस्ति, ततोऽन्यद्विमक्त
यन् पश्येत्, यजिघ्रेत्० । नल्लिख्यं एको द्रष्टा अद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोक सप्तात् !
इति हैन (विवेकचन्द्रक) उवाच (याज्ञवल्क्यः) । एषाम्य परमा मम्यत् । एषोऽस्य
परमां लोकाः । एषोऽस्य परम आनन्दः । एतत्पैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रास्तु
पवजीवन्ति' × × × × × । अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दा, स एको ब्रह्मलोक
आनन्दः । पश्च ओत्रियोऽशृजिनोऽक्षमहत, एष ब्रह्मलोकः सप्तात् ! इति हैनमनुश-
शाम । एतदमृतम्' । ७ ।

३२६-ओत्रिय, अशृजिन, एवं अक्षम पुरुषानुबन्धिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय—

निगुण उपामना का क्या स्वरूप है ? उपास्य कौन है ? इसका अधिकारी कौन है ? एवं
इसका परिणाम क्या है ? ऊक्त भूमि से इन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है । अमृतत्वसाये
अम्यवज्ज ही यहाँ उपास्य है । सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए द्रष्टृभावना का सर्वथा परित्याग करते
हुए कर्मात्म कर्मों से अमग्नभाव से प्रभूत रहना ही उपासना का प्रकार है । ओत्रिय अशृजिन
एवं अक्षम स्वति ही उन उपासना का अधिकारी है ।

३२७ कर्मस्यागानुगामी व्याख्याताओं की आन्ति का निराकरण—

यह बड़े ही गेद का विषय है कि व्याख्याताओं ने इन उपासना की कर्म बाग-लक्षणा मानते हुए
कर्मत्व का स्मरण ही कर दिया है । कहना न होगा कि ऐसे व्याख्याता एवं उनके ऐसे व्याख्यान
कर्मों का अन्तःकरण वर से ही घण्टा है । अन्ति-“अशृजिन” कहा है । प्रष्टुम् का नाम कर्म-
संग्राह माना गया है । भूमि कहती है—जो कर्ममग्नताम से कर कर्म से अक्षमभाव से प्रभूत

३-प्राणभोहार-(अवरमसोपामना अवर घर) (मविप्यत्)

मृत्म्	{ १-प्राणभोहारिणि }	{ अवर माया }	— 'गर्वाद्वाग्मूर्तिः मविप्यत् मविप्यत्प्राणि-कर्मविप्य- उपायना (सकरोम)-प्राणु अनुमता'
मरुत्	{ १-अवरमायाः २-विप्यत्प्राणि }	{ अवरः उपायः }	
मविप्यत्	{ १-विप्यत्प्राणि }	{ मरुतः }	

३२१-भोहारस्वरूप-विश्लेषक-भूतिसन्दर्भ-

इसी भोहार-प्राण का रहस्य बतलाती भूति कहती है-

“भोमित्यतद्वचरमिदं सर्वं, तस्योपम्यारूपान-भूत, मवद्भु, मविप्यदिति सर्व-
भोहार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीत तद्व्याहार एव । तत्र यत्तु ब्रह्म अपमाम्ना
ब्रह्म । सोऽपमाम्ना बहुप्यात्” (भावहृत्पापनिपण ०) :

१- ‘बुद्धियोगात्मिका उपासना का तात्पर्य है-अपन आत्मका अन्वयस्वरूप मानने हुए आत्म
कर्ममात्र न शास्त्रीय ज्ञान-कर्म-अप-मर्माँ में आत्मकर्मपूर्वक प्रवृत्त रहना । यहाँ न इश्वर का
स्मरण है, न मज्जन है, न पूजन है, न आत्मिक्य है न मात्मिक्य है, न आहिंसा है, न क्षमा
है न पाप है, न पुण्य है न सत है, न अमन है । कुछ नहीं है सब कुछ है । इन्द्राणीना बरी
उपासना मगल-सम्पत्ता है । यही ‘निर्गुरबा मवात्तु न । बली निर्गु व्यापसना है, इसी
मर्माँ उपासना का रहस्य बतलाती हुई कपनिपट्ति कहती है-

“तदा अस्पैतत्-आत्मकम आत्माकम अकम रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया
सम्परिष्पको न बाह्य किञ्चन वद, नान्तरं एवमवार्थं शारीर आत्मा (भूतात्मा) प्राप्ते-

×[१] सो जान लेहि वहि अनार्ह ।

जानत तुमै तुमहि होय नार्ह (तुलसी) ॥

[२] वह मैं था-तब हरि नहीं, अब हरि-मैं नार्ह ।

प्रेमगली अति सौकरि तामें दो न समाहि ॥

[३] वह अगर चौर कोई हो तो मुझ याद रह ।

मैं अगर चौर कोई हूँ तो वो भी मुझ भूले ॥

३३१-‘संज्ञान’ को प्रतिमूर्ति अद्वैतानन्दनिष्ठ महामानव, एवं ‘न बाह्य मिथुन वेद नान्तरम्’ का समन्वय—

‘न बाहिर का ज्ञान रहता न भीतर का ज्ञान रहता इसका तात्पर्य है—‘बाहिर-भीतर का सब दृढ़ खाता है’ भव ज्ञान एवं तन्मूलक भवान्त्र (ममज्ञानम्—विषयान्त्र) नहीं रहता। मन्त्र आत्मज्ञान की प्रसार होजाता है। इन्द्रियस्थ आत्मा एवं धृष्टि स्थित विश्व दोनों आत्मसम्पत् बन जाते हैं। इस आत्मसम्पत् के अनुगामी बुद्धियोगी ही तो ‘आनिनस्तत्त्वदर्शन’ करलाते हैं। सब पूछा जान तो यही बाहिर-भीतर के मौलिक रहस्य को समझते भी हैं। हम सामान्य मनुष्य क्या जाने कि बाहिर क्या है, और भीतर क्या है ? उनमें संशय नहीं है अपितु वे तो संज्ञा की प्रतिमूर्ति हैं।

३३२ विषयलोभुओं के विषयमूल का अनुभवक्षेत्र एवं स्वानुभवैक्याम्य अद्वैतानन्द—

यह ठीक है कि अन्नादि विषयलोभुओं की भाँति उन्हें ‘आनन्द’ का अनुभव नहीं होता। और होना भी नहीं चाहिए। अनुभव का तो आनन्द का ज्ञान से ही सम्बन्ध है। हमें आनन्द का अनुभव होता है। इसका सीधा सा अर्थ है—जब भी हम दुःखी हैं। दुःखी को ही तो सुख का अनुभव होता है। मूल मनुष्य को ही मोक्ष से सुख का अनुभव होता है। बिन्ने बुद्धियोग के द्वारा तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करने हुए, बाहिर भीतर का भेद समझते हुए, मेरुनाम का परिष्कार कर शारदा ज्ञानन्द प्राप्त कर लिया है वृत्तों शरीरों में जो स्वयं आनन्दमूर्ति बन गया है उसे अनुभव क्यों होने लगा ? क्यों उसकी शान्त्युत्ति उत्तेजित होने लगी ? और क्यों नास्तिक लोग उसकी इस चरमा निपटि का रहस्य समझने लगे ? इति सर्वमेव समन्वितम् ।

३३३-अद्वैतानन्दप्रवर्धिका ‘सर्वोद्धारोपायना’ का मस्मरण—

ज्ञाप्य वही हुआ कि, आत्मकर्ममूलक किंवा अकर्ममूलक अद्वैतधरानानुगत द्वैतयथ ना-नुगत अधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्मन्यासाक्षरण बुद्धियागारमक मग ही निगु ख—अन्वयोपायना बदलाती है। एवं इसे ही हमन ‘सर्वोद्धारोपायना’ कहा है।

३३४-‘समदर्शिन’, और-‘विषयवर्चिन’ का स्वरूप-समन्वय—

उस स्थिति पर पहुँचने के अनन्तर ज्ञातव्य अज्ञातव्य होजाता है। इसका तात्पर्य वही है कि—ज्ञातव्य का अविमान नहीं रहता। आत्मदृष्ट्या सब एक परात्म पर आश्रित है। यही कारण है कि, वहाँ वहाँ मगनात् न ह्मातीत इस योग का उपदेश दिया है वहाँ वहाँ—“दर्शिता समदर्शिन” (न तु समदर्शिन) —‘सम परम धि मन्त्र (मनु परीयन्) —‘नरपदर्शिनः इत्यादि रूप से अन्वयानुमात्र के अन्तर का ही स्पष्टीकरण दिया है।

३३५-व्यावहारिक, प्रकृतिसिद्ध मदनाद का स्वरूप-समन्वय—

परमार्थतोषी को जाने दीजिए। व्यवहार में भी सर्वत्र एक का मा लभजन हुए भी हमें प्रियापुत्र भ्राता-स्त्री-कन्या-भ्राता-सेवक-आदि का विमानना ही पड़ता है। एवं नर के साथ मित्र मित्र ही व्यवहार

रहता है, यही इसका अधिकारी है। इससे अधिक कर्म का समर्थन और क्या हो सकता है? "सर्व-कर्मोपनि सदा कुर्वन्ता मद्बन्धनाय" का भी यही रहस्य है।

३०८-समदर्शनानुगत विषमवर्तन का मासिक रहस्य, एवं मद्सहिष्णु-अमदभूतक तात्त्विक अर्थ-सिद्धान्त का स्वरूप-समन्वय—

कुछ एक मरानुभाव यह भी अनुमान करते होते हैं, "मूर्ति के बिना अर्द्धमार्ग का उपदेश दिया है उस मार्ग का अनुगामी आध्यात्मिक संस्कार के उपयोग की कल्पना नहीं रहती। कुछ एक कल्पना-रहित भी कल्पना करते होते हैं। इस योग के अनुभावी के लिए बर्णानुसंगिक का तन्मूलक बाह्यतादि सौ की कोश महत्त्व नहीं है। पशु का स्थितिरूप को देखते हुए व यही अनुमान स्वात्मना ही व्यक्त है। अर्द्धतमावना का उपदेश देते हुए लाभ लाभ ही व्यवहारमार्ग की रक्षा भी स्वात्मन ही की है। इसीलिए हम अधिकारी को आश्रित करा है। शक्ति से 'रात्मन्' अभिप्रेत है। शान्तीय-मार्गता का पूर्णत्व से प्राप्त करने का उपाय ब्रह्माधिपति कर्म करता हुआ उपाय ही इस मार्ग का अधिकारी है। चाहे वह किन्हीं कर्म का हो। सर्वत्र समदर्शन करते हुए, अपने अनिश्चितक प्रशंसि, प्रशंसि शक्तिमादि सेवादि इच्छा में प्रवृत्त रहने वाले आत्म-शक्ति-वैर-गुरु सभी इस मार्ग से अनुसर-निर्धनमान्य बन सकते हैं।

३१६-आत्मपुरुषानुबन्धी-समदर्शन तथा विश्वप्रकृत्यनुबन्धी 'विषमवर्तन' का लोकाव

गत स्वरूप-समन्वय, एवं तत्त्व-व्यवस्था अर्द्धतमूला-निर्गुणोपासना का संस्मरण—

'समदर्शन' को 'समवर्तन' का स्थान देते हुए यही की 'बुद्धिबला' मान लेना की किसी भी दृष्टि से सुवर्ण नहीं बन सकता। समवर्तन जहाँ महत्प्रसिद्ध [प्रकृतिमिथ] है, वहाँ समदर्शन प्रपास साध्य है। शत्रु-आश्रय शक्ति तथा बर्तन [व्यवहार-कर्म-आचरण] समान होना और यही का नाम आत्मिक ज्ञान हो, ही समवर्तन के अनुगामी पशु की भी तत्त्वज्ञानी ही मान लेना चाहिए। महत्प्रसिद्ध आचरण ही तो पशु का आध्यात्मिक बन्ध है। यही जीवन्मुक्ति को बिना प्रयास के ही प्राप्त है, आर हो सकती है। मानना होगा कि गीता का बुद्धिवेगात्मक ज्ञान बिना उक्त बुद्धि का अभिव्यक्ति हस्तमूलक ही है, व्यवहारमूलक नहीं। समग्र अर्थों से अमर किन्तु व्यवहार में महत्प्रसिद्ध का अनुमान करो वही वास्तविक अर्द्धतमाग है। मद्सहिष्णु अमर ही नका अर्द्धतमाग है, और यही सही बुद्धियोग-निष्ठा, किंवा निर्गुण-उपासना है।

३३०-आत्मानन्द पर नास्तिकों का आरोप एवं तत्पराकरण—

'न बाह्य किञ्चन वेद नास्ति वेद' का तात्पर्य भी यह नहीं है कि, बाह्य नास्तिक लोग क्या करते हैं। शास्त्र अर्द्धतान्त्रिक ज्ञान-विशेषमात्र का परिहास करते हुए अमरक कहा करते हैं कि, 'उक्त आत्मनन्द को लेकर हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, जिसमें न भीतर का कुछ बोध है न बाहर का। संसारार्थ अर्थत्वन ज्ञान को नसा पुराण है'। कहना न होगा कि, वे मन्त्र-बुद्धि की मूर्ति के आध्यात्मिक तात्पर्य से वञ्चित हो रहे हैं।

प्रक्रिया के द्वारा कायशुद्धि-पूषक धारणा-स्थान समाधि तीनों का एकत्र समय करते हुए अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर प्रत्यगात्मसंस्तुत्य ईश्वर में खोने कर देना एक प्रवृत्ति की योगात्मक भक्ति है। मन्त्र-हठ-लय योग के ये तीन अङ्ग इसी भक्ति में अन्तर्भूत हैं।

३४१—‘राजयोगात्मिका’ भक्ति का सात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इसका मार्ग है—‘कायश्लेशात्मक’ किसी योगमार्ग का अनुगमन न करते हुए अपनी बुद्धि मन इन्द्रियबर्गों सबको अपने जीवात्मा की कामना से प्रयुक्त समझने हुए ईश्वरकामना से इनका सम्बन्धन मानते हुए कर्तव्यकर्मों में प्रवृत्त रहना। यही राजयोगात्मक राजपथ (सर्वसमार्ग) है। यहाँ का ईश्वर ज्योतीश्वरानुभूति-संक्षण है। निम्न लिखित गीतास्थानों से दोनों मार्गों का समबल गतार्थ बन जाता है—

३४२—(१)—मन्त्र-हठ-लय योगात्मक भक्तिमार्ग (योगमार्ग)—

१—योगी युञ्जीत यततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एककी यतचित्तात्मा निराशीरपरिमह ॥

—गीता ६।१०।

२—उर्ध्वकाय मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।

उपविश्यासने पुञ्जायोगमात्मविशुद्धये ॥

—गीता ६।११।

३—समं कायशिरोघ्रीर्न धारयन्मचल धिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिक्याम् स्म दिशमानवसोऽकम्पन ॥

४—प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचरिष्यते स्थितः ।

मन संयम्य मश्चितो युक्त आसीत मत्पर ॥

५—युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्तस्यामधिगच्छति ॥

—गीता ६।१२ १४ १५।

किए जाते हैं। प्रकृति के रहस्यपूर्ण निहान्तों में सर्वोच्च पराङ्मुख अतएव बन्धनिरमूलक वर्तनमें के अन्ततम शून्यो से हम पहुँचते हैं कि क्या आप इस मेरुव्यवहार को हट्य लकौ ?। बरि हाँ तो कोई नेता, कोई सामान्य मध्य यह भीर क्यों ?। बीजिए न लकौ समान आत्मन ?।

३३६-एन्द्रियक-व्यापार मेन्द्रनिबधन व्यावहारिक-मद् का समन्वय—

हम देखते हैं कि आत्म-आन-नाक-मुक्त नर में यह एक ही आत्मप्रत्यय काम कर रहा है। परन्तु क्या आत्म का काम आन से आन का नाक से नाक का मुख से निष्ठा आनकता है ?। आपकी मानता पड़ेगा कि समस्तान्मूलक मेन्द्रन ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। बीर यही आत्मनिष्ठा दुर्मिर्ष-निष्ठा है।

३३७-अर्द्धतनिष्ठ मगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा प्रकृतिमन्द्रनिबधन मद्म्यवहारों का अनुगमन—

रही बात उन अर्द्धतवादिनों की जो इस मार्ग को कर्मकाण्डपरक मानने का दुःसाहस करते हैं। उनके समाधान के लिए 'कृष्णवर्णन' ही पर्याप्त है। मगवान् कृष्ण अर्द्धतत्त्व के अन्ततम उपाक के। वास्तव अर्द्धत की प्रतिमा है। आत्मकाम में आनकाम के। परन्तु—'सततप्रममवाचक्यं बर्षं एव च कम्मसिद्धि' यही उनका लक्ष्य था। अर्द्धत के इस महान् शिक्षण के विद्युत्कार अविचारविम्व कर्म का स्वयं नी पालन किता एवं वृत्तों को जो उन आर प्रेरित किया, "त तन्मय में कुछ भी कलम्य रोप नहीं है।

३३८ क्रियायोगात्मिका भक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

"क्रियायोगात्मिका भक्ति" का तात्पर्य है-आपने आप की अक्षरमूर्ति वोहरती ईश्वर का अर्द्ध मानते हुए बोली का अनेक समकने हुए, 'याऽहं सोऽमी वोऽसी सोऽहम्' यह भावना रक्त हुए अपनी (अंशरूप जीवत्मा की शरीरक-आत्मा की) कल्पना को ईश्वरकल्पना के लय कल्पित करते हुए विषयान्मय से अविचारविम्व कर्म में मग्न रहना।

३३९-कलम्यनिष्ठात्मिका वास्तविक-भक्ति, एवं नामसंस्मरणपथ की आपत्तरमचीयता—

इस भक्तिरूपा समुखापामना में अक्षरमूर्ति ईश्वर का अक्षरविद्या नित्य स्मरण (नित्यकथन) अपेक्षित है। मक्त का यह कथन हीना कि आपने प्रत्येक कर्म के उपक्रम में यह उक्त ईश्वरपथ का, ईशकामना का ईशमेरका का ही अनुमन करे। यहाँ स्मरण से 'हरे राम हरे कृष्ण' यह नाम स्मरण अपेक्षित नहीं है। कलम्यनिष्ठा के लिए तो कर्म ही तात्त्विक ईश्वर है। यह ईश्वरानुमूर्ति के द्वारा अक्षर को लक्ष्य बनाता हुआ कथा अपनी कलम्यनिष्ठा पर ही आस्था-अज्ञा-पूर्वक प्रतिष्ठित रहेगा।

३४ - योगात्मिका भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इस ईश्वरानुमूर्ति के दो मार्ग हैं। एक मार्ग लोकसंग्रह का विरोधी है, एवं दूसरा मार्ग लोकसंग्रह का अनुगामी है। अविचारीभक्त से मगवान् ने दोनों का ही समर्थन निष्ठा है। योग-

३—स वा अयमात्मा ब्रह्म * । विज्ञानमयो मनोमयो वाक् मयः—प्राणमपरचक्षु-
-मय आश्रयमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमय क्रोधमयोऽक्रोध
मयो हयमयोऽहयमयो घर्ममयोऽघर्ममयः सर्वमयः । तद्यदेदमयोऽहोमय इति यथाकारी,
यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुभवति, पापकारी पापो-भवति । पुण्य पुण्येन
कर्मणा भवति, पाप पापेन । अथो खन्नाहुः-काममय एषाय पुत्र्य इति तदेव श्लोको
भवति —

४—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समस्तुते ॥
यदेकदनु पर्यति आत्मानं देवमजसा ।
ईशानं" भूतमप्यस्य न तदा विचिकित्सति ॥
यस्मिन् पञ्च पञ्चब्रह्मणा आकाशश्च प्रतिष्ठित ।
तमेव मन्येऽआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥
विराज पर आकाशादय आत्मा महा ध्रुवः ।
तमेव भीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्याति ब्राह्मण ॥

५—तस्माद्भवितुं शान्तो दान्त उपगतस्तिष्ठति ब्रह्मान्वितो भूत्वात्मान्येवात्मानं परयेत् ।
मर्मेन परयति । सर्वाऽस्यात्मा भवति, सर्वस्यात्मा भवति, सर्वे पाप्मानं तरति,
नैनं पाप्मा तरति सर्व पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति । विपापो विजरो विद्वि-
घत्सोऽपिपासो ब्राह्मणा भवति ए एवं वेद" । —

इति "युगधर्मानुगता-विनिधोपामना" नामकं चतुर्थप्रकरणं

"वेद्युगानुगता-सगुणोपामना"

नामकं

द्वितीय-अवान्तर-प्रकरणं उपरत

?

* अयमयम्—'यतश्चक्षुः' (५ आ उप) अयमा भूत्या अयमयम् । योऽहोपुण्यस्तु 'अयम् ।
+ अमृत-प्रकरण मे प्रतिपादित उपाननामी का प्रतिकृतिवा से भी सम्बन्ध माना जा सकता है । ब्रह्म प्रतिकृति
विना का प्रक्रियागपरिष्ठा-उत्तरप्रत्यक्षान्तर्गत 'उपामनाभेदनिषेध' नामक प्रकरण के प्रतिपादित
नामक प्रतिवेद मे प्रतिपादन हुआ है ।

३४३—(२)—राजयोगात्मक भक्तिमार्ग (भक्तिमार्ग)—

- १—यन्मनामह ममूक्तो मयाज्ञा मां नमस्कृत ।
मायैष्यसि युक्तस्त्वेवमात्मानं भक्त-परायणा ॥
—गीता १८।१४।
- २—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तं सर्वं प्रवर्षते ।
इति मत्वा भजन्तं मां युष्मा भाषसमन्विताः ॥
—गीता ९।२८
- ३—तेषां सततपुक्तानां भजतां प्रीतिर्गच्छते ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १०।११।
- ४—संतुष्टं सततं योगी यतात्मा हृदिनिर्भर्य ।
मय्यर्पित-मनोबुद्धियो मे भक्त स मे प्रिय ॥
—गीता ९।१४।
- ५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणै सह ।
सर्वथा बलमानोऽपि न स भूयोऽभिप्रायते ॥
—गीता १५।१३।

२

३४४—बृहदारण्यकापनिषन्मूला उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन-

१—‘स वा अयमात्मा (पोटेशी) सर्वेषां भूतानामधिपति, सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनामा च अयनमां चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्मात्मनि सर्वे प्राणा, सर्वे लोकाः, सर्वे दशाः, भवाणि भूतानि, सर्वेऽण्डाः, सर्वेऽक्षरानि समर्पिताः ॥’

२—“पुरश्चक्रे विषदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ॥ पुरं तां पथी भूत्वा पुरः पुरुष आसि शतं-इति । स वाऽहमयं पुरुषः सदासु पथं पुनिशयः । नैनं किं जनानास्तुतम्, ननेन किं जनानास्तुतम् ॥”

(३)-पुराणयुगानुगत-सविकारोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक परिलेख—

“विकारक्षरोपासना”-(यज्ञप्रजापति --उपेश्वर)

कर्मानुगत-कर्म-एव-उपासना-क्रियात्मिका (शुक्रम्)

सविकारोपासना-उपेश्वरोपासना-अर्थात्मिका

वाङ्मयी-उपासना अर्थात्मिका

सौष्ठवं विकार-चर { १-वाक्-सत्यः
२-आपः-
३-अग्नि } यज्ञ-आत्मचरः-सदिदं-चरविवचम्-
वाग्बिवचमव

स एव अर्थात्मिकैः-कर्मणा अन्वेष्टव्य

अन्वेष्टव्यं-नाम-शुक्रस्वरूपमीमांसनम्

तत्पण्यालोचनं वा

सैषा अर्थात्मिका-उपासना-कर्मैव

तृतीया

३

(सौष्ठवं-पुराणयुग-तृतीय-त्रेतायुगात्मक)

१-शुक्रम्

२-आत्मचर

३-अर्थ

४-वाङ्(अमृतशुक्रमयी

तदेतत्सर्वं-वाग्वै, आत्मचर-एव सविकार
“विकाराश्च विद्धि प्रकृतिमम्भवान्”
(विकृतिर्हि आत्मचर)

(३)-पुराणयुगानुगत-सविकारोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक परिलेख—

“विकारक्षरोपासना”-(यज्ञप्रजापति --उपेश्वर)

कर्मानुगत-कर्म-एव-उपासना-क्रियात्मिका (शुक्रम्)

सविकारोपासना-उपेश्वरोपासना-अर्थात्मिका

वाङ्मयी-उपासना अर्थात्मिका

सोऽयं विकार-चर { १-वाक्-सत्यः
२-आपः-
३-अग्नि } यज्ञ-आत्मचर-सदिद-चरविषयम्-
वाङ्मयिषयम्

स एव अर्थात्मकेन-कर्मणा अन्वेष्टव्य

अन्वेष्टव्य-नाम-शुक्लस्वरूपमीमांसनम्

सत्यव्यासोचनं वा

सैषा अर्थात्मिका-उपासना-कर्म-व

तृतीया

३

(सोऽयं--पुराणयुग --तृतीय --त्रेतायुगात्मक)

१-शुक्रम्

२-आत्मचर

३-अर्थ

४-वाक्(अमृतशुक्रमयी

-तदेतत्सर्वं-वागेव, आत्मचर-एव सविकार
“विकाराश्च विद्धि प्रकृतिमम्भवान्”
(विकृतिर्हि आत्मचर)

पुराणायुगानुगत-सविकारोपासनामार्ग चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-तृतीय-अवान्तर-प्रकरण

३

३४४-‘नर्मदाकङ्करात्मक-शाङ्कर’-न्यायानुबन्धों भक्तिपथ की सर्गध्यापकता एवं
उपासनात्मिक भक्ति के चार-विधों का संस्मरण—

‘नर्मदा के ममी कङ्कर शाङ्कर’ इस लोकाभि के अनुसार पोटशी-प्रजापति के ममी पर्व तत्त्वरूप
अवस्था उपास्य इस विद्वत्त्व में कोई विपत्तिपति नहीं की जानकती । पूर्वप्रकरण में पुराणयुगानुगता
उपासना के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आत्मधार से सम्बन्ध रखने वाली वह उपासना कर्म-
रूपा किंवा कर्मयोगात्मिका ही है । एवं वहीं वह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ॥ उपासनाकाण्ड के
निष्कर्मयज्ञकर्मोपासना निष्कर्मयज्ञकर्मोपासना आधिकारिक-चेतनजीयोपासना (अध्वरोपासना)
आधिकारिक-अचेतनजायोपासना (सूच्य-अन्नादि-प्रकृतिपूर्वोपासना) के चार विध हैं । इनमें
पहली में-कर्मप्रधान आत्मधारपूर्विक विकार-परिच्छेद-युक्त अक्षप्रजापति की उपासना चार प्रकार से
हो सकती है ।

३४५-परमप्रजापत्युपासनात्मिक प्रखबोद्धारमूला उपासना एवं प्रजापति के बन्दात्मक
स्वरूप का संस्मरण—

“न उपासना का मूल अथवा ‘प्रखबोद्धार’ है जिसके पूर्वप्रकरण के उल्लेख में स्पष्ट किया
जा चुका है । विज्ञानरूप के अनुसार इस उपासना को ‘परमप्रजापत्युपासना’ भी कहा जा सकता है ।
पोटशीपुराण की हमने अर्थवचन कहा है । इस अर्थवचन का ही ‘मायी हरबर’ कहा जाता है । “न
की एकदम कल्या मानी गई है । वही प्राजापत्यकथा पञ्चपुण्डरीक कहलाती है । इसकी एक एक
कथा में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूच्य-युक्तिनी-चन्द्रमा के पाँच पाँच पुण्डरी (पथ) हैं । इन दृष्टि से
उन से उद्गीचोद्धारमूर्ति हरबर प्रजापति के शरीर में ऐसी पञ्चपुण्डरीकमूर्ति सहस्र लम्बाई होजाती है ।

३४६-सहस्रवन्द्येश्वरानुगता पोटशीपुरुषोपासना एवं पञ्चवन्द्येश्वरानुगता यज्ञपुरुषो
पासना—

महाम-वन्द्यात्मक अक्षरवन्द्येश्वर की उपासना पोटशी प्रजापति की उपासना कहलाएगी एवं
पञ्चपुण्डरीकमक यन्त्राप्रजापति की उपासना यज्ञप्रजापति की उपासना कहलाएगी । सम्पूर्ण अक्षरपथ

एवं अरुण की एक शाखा बड़ी मेढ़ इन दोनों उपासनाओं का मौलिक भेद। इस दृष्टि से महाभाष्यमय अरुणधरपर महाश्वर कदासापगा, योगमायायमय बहुरोरधर उपश्वर कदासापगा एवं उपश्वरोपासना ही यथोपासना कदासापगी।

३४८-सप्तवितस्तिष्कायात्मक-एकबहुरोरधरात्मक-उपेनरप्रजापति से अनुप्राप्तिता पारा
गिष्ठी उपासना—

बड़ी उपेनर पुराणी में 'सप्तवितस्तिष्काय' नाम से प्रसिद्ध है। यही एक ब्रह्मावत है। अरुण-
त्वरधर से ऐसे ऐसे नवस ब्रह्मावत किंवा नवस उपेनर हैं—(आ क रोम क्योति ब्रह्मावत)। भुक्ति में
मिन "न ब्रह्मावतों का स्वरूप से निकल्य हुआ है। पुराणों में बड़े विस्तार के साथ इन का स्वरूप-विवरण
किया है। पुण्य का लक्ष्मण प्रधानरूप से अव्यक्त स्वयम्भू से ही आरम्भ होता है। इसीप्रकार
इन उपासना को हमने मौल्यगिक उपासना कहा है।

३४९-पञ्चकर्मोपासना, आत्मकर्मोपासना अवतारोपासना, प्रकृतिपर्वोपासना-चतुष्टयी
का संस्मरण—

इस का यह वास्तव्य नहीं है कि, भुक्ति में यथप्रजापति की उपासना का विधान न ही है। है और
और अवश्य है जैसाकि पूर्व पञ्चरथ में विस्तार से स्पष्ट किया था। ये का माध्यम्यता ही इस
यथोपासना का अन्वय है। साथ ही स्वयं वेद में भी यथोपासना के उक्त चारों विधियों का मनीमोहि स्पष्टी-
करण कर दिया है। पञ्चकर्म-आत्मकर्म-अवतारोपासना-प्रकृतिपर्वोपासना चारों का ही यहाँ
विरचरूप में निरूपण हुआ है। "न चारों में अवतारोपासना में बोधि विरोध है।

३५०-प्राकृतिक, मानुष एवं उभय-विध अवतारों का नाम-स्मरण—

अवतार प्राकृतिक, एवं मानव भेद से दो भागों में विभक्त हैं। एवं कुछ अवतार ऐसे भी
हैं जो प्राकृतिक भी हैं तथा मानुष भी हैं। कृष्ण-बलराम-वामनादि अवतारों का स्वयं का में बड़े विस्तार
के साथ निरूपण हुआ है। एवं इन के मानुषमयी का तथा यमकथादि विस्तृत मानुष अवतारों का
पुराण में उपरूपाय हुआ है। हाँ तो पहिले हमें यह देखना है। कि, केने इन चारों उपासनाओं का मिन
राश्री में सम्मिलन किया है।

३५१-पुराणानुगत आचरण, और तथिराकरण-प्रणय—

वीरगिक चारों एवं उपरिष्ठ हैं। एवं उत्तर पुराण ही इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त हैं।
आज्ञेय है पुराण की प्रामाणिकता पर। इसीप्रकार "त पञ्चरथ में प्रधानरूप से जब आज्ञेयों का विवरण
कर पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध कर देना ही मुख्य निरूपणार्थ माना जायगा।

३५२-विश्व की अव्यक्ताकस्या गदनुप्राप्तिता प्रथमा स्थिति, एवं अव्यक्त स्वयम्भू-प्रभा
पति के काम-तप-भय से 'सुबदान्मक स्वयं-वेद' का आधिर्भाव—

इस कथन में कुछ न था अवतारों केवल कुछ न था तो उक्त उभय विध का अन्वय स्वयम्भू ही
विद्यमान था। उक्त देखा कि आपन प्रकाश का अन्वय नहीं कर सकते। इस उभयविध के लिए आपन अन्वय है।

ही कोई दूसरा और उत्पन्न करें। इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ने तप एवं भ्रम किया। इस परिणाम और भ्रम से प्रजापति के लालाट पर पसीने निकल आया। यही पसीना आगे जाकर स्वयम्भू कहलाता हुआ 'सुवेदवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही यन्त्रविरोधमय आपोलोक कहलाया।

३५३-आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित आया-धारा-आप-बन्धुषयी की अभिव्यक्ति—

आगे जाकर प्रजापति की कामना से इस द्वितीयरूप आपोमय परमेष्ठी में आया-धारा-आप इन तीन बलों का विकास हुआ। 'आयावत्स' से परमेष्ठी प्रजापति सब के 'जनक' बने। 'धारा-वत्स' से सब को 'पारण' करने वाले बने। एवं 'आगेवत्स' से सर्वत्र 'आप्त' (व्याप्त) होगा। (गोपम भा पू १।१।)।

३५४-स्वयम्भू की द्वितीया प्रसिमा, इरामय 'सरिर' तत्त्व की सलिलता, एवं रघेतवराड के द्वारा हिरण्यमायवत् का आविर्भाव—

परमेष्ठी के अहिरामाग से आगे जाकर हिरण्यमायवत् का विकास हुआ। यही हिरण्यमायवत् पुत्रीकृत अवस्था में आकर कालांतर में 'सूर्य' बनने प्रकट हिरण्यमायवत् हुआ। यही उस स्वयम्भू प्रजापति की दूसरी प्रसिमा कहलाता। यही सूर्य विश्वामयकार की निरुद्ध करने वाला प्रमाणित हुआ—'प्रादु-रामीतमोनुदः'। आपोमय परमेष्ठी के गर्म में बुद्बुदरूप से उत्पन्न सूर्य का अद्वितीयनि आरम्भ में श्रुतरूप होने से 'इरामय' बनता हुआ 'सरिर' किंवा 'सलिल' रूप ही था। परन्तु रघेतवराड्यासु के नैवरण से क्रमशः धन मात्र को प्राप्त होने हुए ये श्रुताग्निकण अथवाकर में परिणत होगा। यही हिरण्य-पायवत्सलक्ष्य सौरवत्समायवत् किंवा सौर जगत् कहलाता। विज्ञानमार्ग में इसे ही 'मन्त्रस्मर' कहा गया। मन्त्रस्मरण के कारण ही यह उत्पन्न कहलाता।

३५५-बभुपानकोशात्मक दहरोररमम्ब स समन्वित पञ्चोपश्वरमूर्ति एकवन्द्योत्पर प्रजापति का तात्त्विक ध्यरूप-समन्वय—

इस मन्वत्सररमक सौर प्रजापति के क्रम-तप-भ्रम में आगे जाकर अन्तवत्सलक्ष्य पृथिवी का विकास हुआ। गायत्रावाग्निमयी यही पृथिवी उस स्वयम्भू प्रजापति की तीसरी प्रसिमा कहलाई। आगे जाकर पार्थिव मन्वत्सर के प्रवर्धरूप आत्रयमाग से यराड्गवत्स आन्त्रमवत्स का विकास हुआ। यही उस की चार्थी प्रसिमा कहलाई। इनकार प्राणवत्सलक्ष्य स्वयम्भू प्रजापति के ही मोलक काम तरा भ्रम से क्रमशः आपोमय परमेष्ठी बाह्यमय सूर्य आत्रादमयी पृथिवी अन्तमय अन्त्रमा रूपे गच्छी में परमेष्ठी इन्द्र-अग्नि-साम व आर प्रसिमाप्रजापति उपम होगा। इन पाँचों प्रजापतियों का परस्पर बभुपानकारात्मक दहरोररमम्ब गथापित हुआ। आपान स्वयम्भू की महिमा में परमेष्ठी भ्रम की महिमा में सूर्य, भ्रम की महिमा में पृथिवी एवं पार्थिव महिमामवत्स में समद्विमा अन्त्रमा प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों के ये महिमामवत्स विज्ञानमार्ग में क्रमशः परमावत्स (स्वाय-म्भुव) महामसुर (पारमसुव) मन्वत्सर (सौर) आन्त्र (पार्थिव) नक्षत्र (आन्त्र) इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

३५६-स्वयम्भू-प्रजापति की चार प्रतिमाएँ, तदनुगत विरवसम्पत्तिसमाहक--'सबहुतपत्र',
एवं स्वयम्भू-प्रजापति की निर्लेपता—

स्वयम्भूने चार प्रतिमाएँ उत्पन्न कीं कर लीं। परन्तु अभी उन्हें उत्पन्न नहीं हुआ। अभी वे पूर्णमास को प्राप्त नहीं हो सके। इस पूर्णमास की प्राप्ति के लिए उन्होंने "सर्वमेध" नामक "विश्वविधि" यज्ञ आचरनक समझ, जो कि यह आगे बाहर 'सबहुत' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने पहिले अपने आप को इन चारों पक्षों में आहुत कर दिया। इस आत्माहुति का परिणाम यह हुआ कि वे चारों इतने में आश्रित होगे। इस पारम्परिकी र्त्वाहुति से जो एक स्वरूप आर्ष 'विश्वमेध' प्रकट हुआ, वही "सर्वमेध" - "विश्वविधि" - "सबहुत" कहलाया। एवं इसी यज्ञ के प्रमाण से स्वयम्भू स्व का आत्मा बन गया एवं स्व स्व के आत्मा बन गए। इसी पारम्परिक सम्मान से यज्ञमूर्ति बने हुए स्वयम्भूने वह विश्ववैभव प्राप्त कर लिया। क्योंकि स्वयम्भूने आत्मसमर्पण-पूर्वक ही वह विश्वविष्णु प्राप्त की है। इसमें उन का वैयक्तिक स्वार्थ नहीं है। अतएव इन्के मोक्षा बनते हुए ही स्वयम्भू निर्लेप हैं।

३५७-निष्कममात्ममूला आत्मसमर्पणस्मिका यज्ञक्रिया तद्विबन्धन अवन्धन-कर्म,
एवं यज्ञोपासना का एकामधुक्थ—

उही आदिप्रजापति की ओर से उन्हें भूत हमें वह आदेश प्राप्त हुआ कि यदि तुम विश्ववैभव प्राप्त करना चाहते हो, तबही निर्लेप भी रहना चाहते हो अपने वैयक्तिक स्वार्थ को छोड़ते हुए लोकसर्व की निधि के लिए (सबहुतविधियों को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए) निष्कममात्र से ही अपने आत्मोत्साहप्रति में आहुत करो। इसीसे इस आत्माहुति से जो एक तुममें आहुत होवाँकी। विश्ववैभव प्राप्त होवाँगा। "मन्त्रकार निष्कममात्ममूला-आत्मसमर्पणस्मिका मरी वह यज्ञप्रक्रिया तुमारे लिए "इन्द्र-मधुक्" बन बाकी। और यही उपासना यज्ञोपासना की लक्ष्य उपासना कहलाएगी। तुम्हें चाहिए कि वैयक्तिक स्वार्थ का भी समर्पणमात्र से अनुष्ठान करो। "ही शीत आदेश का लक्ष्योपासना करते हुए मगवान् करते हैं—

सह यज्ञा यज्ञा सुष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनन प्रयत्नस्यध्वमेपयोऽस्तिष्टस्मधुक् ॥

—गीता

३५८-सर्वहुतपत्रमूर्ति परमप्रजापति से अनुप्राणिता यज्ञोपासना एवं यज्ञकर्मों का प्रधानत्व—

पत्रों को प्राप्त होगा कि प्रजापति से सम्बन्ध करने वाली इन चार उपासनाओं में से हमें यज्ञोपासना की ही लक्ष्योपासना करना चाहिए। कारण इस का यही है कि इस उपासना का प्रधान लक्ष्य सर्वहुतपत्रमूर्ति वह परमप्रजापति है जिसे कि परमात्मरूपक महिमाभरकाल में परमेश्वर आदि-प्राणि प्रतिमाप्रजापति प्रतिष्ठित है। परमात्मोपासना ही "ल" का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में विश्ववैभव ही

इस उपासना का मूल अर्थ है और यही इसकी सर्वोत्तमता है। इस उपासना में और पूर्व की ईश्वरोपासना में जोड़ा ही अन्तर यह जाता है। वहाँ ब्रह्मकर्म में अभिनिवेश नहीं है वहाँ सभी कर्म महात्मक है। परन्तु इस उपासना में वेदोक्त (ब्राह्मणेक) यज्ञकर्म ही प्रधान लक्ष्य है।

३५६-मक्त नृपतियों की यज्ञोत्प्रेषणा, एवं कर्ममठ-ब्राह्मणों यज्ञकर्मनुगति का सम तुलन, एवं तन्निबन्धना विभिन्ना उपामना—

इसीलिए उसके प्रधान अनुवादी मक्त नृपतिगण बनते हैं एवं इनके प्रधान-अनुवादी कर्ममठ ब्राह्मण बनते हैं। मन्त्रोपासना कलिवेधवेय तर्पण स्वाध्याय आदि अन्तर्गत विभिन्न भी यज्ञ है वे सब इसी यज्ञोपासना में अन्तर्भूत हैं। इन सब अन्तर्गत वहाँ की उपासना का मौलिक रहस्य गीतासाम्य में स्पष्ट होने जाता है। इस उपासना के सम्बन्ध में यह तो कहा लक्ष्य में श्रवण ही चाहिए कि, यदि निष्कर्मभाव है तो यज्ञोपासना है सभी सर्वशुद्धि का निधि है। यदि सकर्मभाव है तो वह उपासना यज्ञोपासना न यह कर मूलोपासना बन जाती है और वह काममयी यज्ञोपासना विगुणादिमय बनती हुई इन्द्रमूलक शोक का ही अरुण बन जाती है। साथ ही मगवान् भी इसे निरुद्ध ही समझते हैं—“निर्द्वैतगुणो भवानुन”।

३५७-कामवनिता वृद्धि का सन्वाता प्रणवोद्धार, एवं ओद्धारमूला-उपामना का स्वरूप समन्वय—

निष्कर्मभाव भी यद्यपि निर्द्वैतगुण का प्राप्ति के लिए एक लक्षण है। परन्तु केवल इसी लक्षण से काम नहीं चल सकता। निर्द्वैत भूतत्वा में कामभाव का समावेश सर्वथा रोक दिया जाय वह अतन्मय-प्राप्त ही है। इसके लिए हमें अक्षय ही किसी अन्य ‘अविच्छेद’ का ही आश्रय लेना पड़ेगा और वह कामवृद्धि ज्ञेया वही प्रणवोद्धार। प्रणवोद्धार को मूल में रखते हुए निष्कर्मभाव से यज्ञकर्म में प्रवृत्त होने वाला यदि स्वाभाविक कामाक्षय से कभी कामभाव का अनुगामी बन भी जायगा तो पूर्ण ओद्धार इस वृद्धि की हीमात्र होगा जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। (देखिए कर्मयोगपरिभाषाएक पृष्ठ नं० २६८ से ३४ पर्यन्त)।

३५८-अविच्छिन्न-प्रणवचरासल के द्वारा यज्ञविच्छेद का सन्धान, एवं विरिष्टसन्वाता प्रणवोद्धारप्रसापति—

अविच्छिन्न प्रणवचरासल पर प्रतिष्ठित कर्म कागमवेद से सिद्ध बना हुआ भी अक्षय ही अविच्छिन्न बन जाता है। इसीलिए ओद्धाररूप परमप्रसापति का लक्षण अनुष्ण करते हुए, उपक्रमोपासना में प्रणवोद्धारण करके ही वशादि कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। यही हीन प्रणवोद्धारोपासना यज्ञोपासना किंवा उपश्रमापासना कहलाएगी। प्रणवचर ही शोकमात्रविमुक्ति के कारण बनने के लिए निम्नलिखित गणधर्मादि में स्पष्ट है—

‘वतुणा वदानामानुपूर्वेण—‘ओं—मूर्ध्नि’ स्थ” इति श्रुतिरुक्तम् । अयमीदं-प्रवृद्धिर्नाम भूयन्त्यं + + + । तस्मादयं यजुः सामान्यपक्रान्ततर्जास्यासन् । तत्र महर्षयः

परिवेष्टयाम्भुजैः—महच्छोकमयं प्राप्ताम्य । न वैतन् सत्र सममिहितम् । ते व्य
मगन्तमनोपचाराय । सर्वेषामय शुर्म मवान् । इति । ते सप्त्युक्त्वा तृष्णीमतिप्त्र ।
+ + + । स एष्य उमनीय प्रोवाच—मामिकामत्र व्याहृतिमादित, आदित कृणुष्वम् ।
× × × । तथाह तथाह मगन्तिप्रति प्रवेदिरे । आप्याययन्ते तथा वीतशोकमया बभूवुः ।
स्मान् ब्रह्मवादिन आह्वारमादित कुर्वन्ति * ।

—भाष्यभाष्येण सूत्र० १२८१

३६२-प्रसन्नोद्धारप्रज्ञापति की तीन महाभ्यासतियों का संस्मरण, एवं प्रज्ञा का प्रसन्नता-

अब इस सम्बन्ध में ध्यान यह होय रह जाता है कि, विषयकार सर्वमूलक ज्ञानम्-विज्ञान-मनोमेय अव्ययोह्वर को सर्वोह्वर कहा जाता है उन्-गी-यम्-रूप वाचस्पत्य दोहराप्रकाशति को उद्गीम्पोह्वर कहा जाता है कैसे अव्ययह्वरमूर्ति यज्यवापति को (उपेक्षर को-प्रतिम्यवापति गर्मित मन्त्रुत यज्युर्ति परमवापति-कक्षण स्वकन्मूयवापति को) किन्तु हेतु ॥ 'प्रययोह्वर' कहा जाता है ?। उपर-पूर्वोक्त व्याप्ति से ही स्पष्ट है । व्याप्ति का स्वकम् है—कों मु मुव स्वः ।

३६३—महाभ्यासविप्रपीडूलक विप्रमाशापन्न-नवलोक्यात्मक-त्रैलोक्य का स्वरूप-
समन्वय—

सम्भा से परिचित शिवादि पाठक यह जानते हैं कि 'मू-मुष-स्व-मह-जन-तप-सत्सम्' इन छह शब्दों की प्रभावति भी सप्त व्याप्ति (न्याम) माना जाता है। एवं स्वर्ग प्रभावति इस छन्द के अपि (मूलाकार मस्य) माने गए हैं (सर्वव्याप्तिना-प्रभावतिश्च पि)। त्रैलोक्य-त्रिलोकी-विशाल के अनुसार वे छह शब्द मू-मुष-स्व इन तीन महाम्याप्तियों में ही अन्तर्भूत हैं। 'त्रयो वा इमे त्रिभुवो साक्षाः' इस ब्राह्मसूक्ति के अनुसार वे तीन ही लोक विद्यमान के कारण तीन तीन मध्ये विभक्त हैं। इसी दृष्टि से तीन माता (पृथिवी-मू) तीन पिता (द्यौ-स्व) होता है वैदिक 'निषो मातृ-सोमं पितृम्' इत्यादि मन्त्रपञ्च से स्पष्ट है। एवं 'द्यौपितृ' पृथिवि मातृगुणने भानर्त्तत्रयो मुञ्जान + के अनुसार पृथिवी को माता कहा जाता है, एवं द्यु पिता नाम से प्रसिद्ध है।

• तस्मादोमित्युक्तस्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्चन्ते निधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

—गीता ५२५।

— पापितः पृथिवि मातरश्च ग्ने आतर्बसवो मृदता न ।

विश्व आदिस्था आदित सत्राया अस्मभ्यं शुभं वास वि यन्त ॥

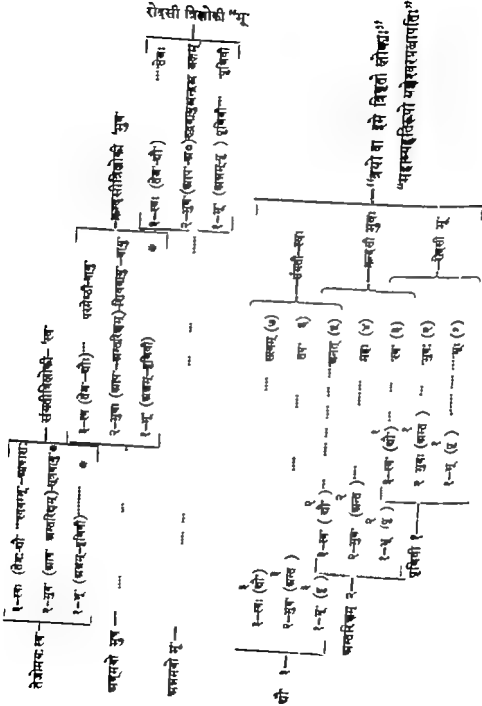
—आफस ६१२१५५

३६४ त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूपा सयसी ऋन्द्सी, रोदसी-नाम की महात्रिलोकी का सस्मरण—

त्रिम पर हम प्रतिष्ठित हैं वह 'मू' है सूर्य स्व है मध्यमदेरा मुख है, ये ही ऋषयः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः हैं। यही पहिली रोदसी त्रिलोकी है। पृथिवी-पान्द्र-अन्तरिक्षगर्भित सौम मरुबल मू है परमेष्ठी स्व है मध्यमदेरा मुख है यही दूसरी ऋन्द्सी त्रिलोकी है। पृथिवी-पान्द्र-सूर्य-अन्तरिक्ष गर्भित परमेष्ठी मू है स्वयम्भू स्व है, मध्यमदेरा मुख है। यही तीसरी संयती-त्रिलोकी है।

३६५-नवलोकांनुगता मण्डलोक्तविभूति का साक्षिक-माध्यम से स्वरूप-ममन्वय—

हम दृष्टि से यद्यपि तीनों त्रिलोकीयों के ९ लोक होने कादिर्घे थे। परन्तु ऋन्मी का मूलोक रोदसी बन जाता है संयती का मूलोक ऋन्द्सी बन जाता है। अतः ९ के स्थान में कात ही लोक रहते हैं। यही मण्डलितस्तिकयत्नक स्वयम्भू प्रजापति किंवा यज्ञेश्वरप्रजापति किंवा उपश्वरप्रजापति है। परिशेष से इन लोकविभूति का मणीमति स्पष्टीकरण होजाता है।



३६६—सप्तविंशतिकायात्मक-पञ्चोपेश्वरमूर्ति-एकत्रयेश्वर सर्वहुतयज्ञात्मक परम-
प्रजापति के त्रेताग्नि का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं महर्षि दीघंतमा के द्वारा
तत्संस्तुति—

सप्तविंशतिकायात्मक स्वर्ण प्रजापति इस सर्वहुत यज्ञ के यजमान हैं स्वर्ण ही वे आहुतिद्रव्य हैं
स्वर्ण ही यज्ञवेदि हैं स्वर्ण ही भू-भुव-स्व रूप से यज्ञिय त्रेताग्नि हैं । उल्लू की रोहड़ी-त्रिलोकीरूप
'भू' पर्व गार्हपत्याग्नि है अन्वली-त्रिलोकीरूप 'भुवः' पर्व बिष्ट्याग्नि किंवा अपस्याग्नि है एवं
उपली-त्रिलोकीरूप 'स्वः' पर्व आहवनीयाग्नि है । त्रेतायज्ञ के विरिष्ट का संचान बर्षामृत्ति ठीकी
पद्मप्रजापति-चरुलक्ष (प्रचक्षराचल) से होता रहता है । इसी संचान को यज्ञपरिमाणा में यज्ञविष्ट
संचान" कहा जाता है । सप्तलोकात्मक यह विश्वयज्ञ उली परमप्रजापति में अर्पित है और वह इस में
अर्पित है । इन का मार उस में उस का मार इस में इस समनुष्ठान प्रक्रिया से वह नित्य भ्रम करता हुआ
भी इस सप्तलोकात्मक विश्व का बहान करता हुआ भी (विश्वभ्रम करता हुआ भी) क्लान्त नहीं होता ।
महर्षि दीघंतमाने इसी स्थिति का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

१—त्रिलो मातृप्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तथौ नेमष ग्लाप्यन्ति ।

मन्त्रयन्ते दिवो अक्षुष्य पृष्ठे विश्वविद् वाचमविश्वमित्राम् ॥

२—पञ्चारे षष्ठे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्युर्ध्वनानि विश्वा ।

तस्य नाक्षस्तप्यते धूरिमार सनादेव न शीर्यत सनामि ॥

३—अवः परेषा पितर यो अस्यानवेद पर एनावरेण ।

क्षीयमान क इह प्रबोधर्णे मनः कुतो अचि प्रजातम् ॥

४—ये अर्वाक्षन्तो उ पराव आहुयेपराक्षन्तो उ अर्वाव आहु ।

इन्द्रस्य या अक्रयुः सोम तानि घृता न युक्ता रघसो वहन्ति ॥

५—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो सुवनन्य नामिः ।

अयं सोमो बभ्यो अस्वस्य रतो ब्रह्मार्थं वाचः परम व्योम ॥

—अष्टसंहिता १।१६।१० १३, १८ १६ ३२ बौ मन्त्र

३६७ इष्टिमावनिषन्धना पृथिवी मूला-सृष्टिविद्या स अनुवाचित प्रख्योद्धार का
तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इष्टिमूलप्रधाना 'पृथिवीमूला सृष्टिविद्या' के अनुसार भू उपक्रम में है स्था उपस्कार में है ।
(देखिए शब्द १।१।१।१।) । 'भू' ओंकार का प्रस्ताव-स्थानीय पहिला 'अ'-कार पद है । 'भुवः'
'ऊँकार' स्थानीय दूसरा पद है । 'स्व' 'अकार' स्थानीय तीसरा पद है । तीनों मृत्युमय पदों
उसी अक्ष मात्रारूप अकारपातीय स्वयम्भू प्रजापति पर प्रविष्टित हैं । क्योंकि 'अ' ओंकार का

प्रत्यक्ष-रूपानीय भू मे उत्पन्न है अतएव इसे 'प्रत्यक्षाङ्कार' कहा जाता है। इस क्षण में राम कर निष्काममात्र स यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना ही गीता का निष्काम-कर्मयोग है। चार की यज्ञ रक्षोपासना का पहिला चर्चा है।

३६८-प्रत्यक्षाङ्कार से समन्वित-'आत्ममैपन्ययज्ञ' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

आङ्कार के लक्षण से किममाण यह आधिभौतिक यज्ञ 'आत्ममैपन्यय' यज्ञ कनता हुआ आध्यात्मिक यज्ञ बन जाता है। यही यथार्थकर्म कहलाता है। इसी को मगवान ने 'अध्वगन्धनकर्म' कहा है। एवं भुक्ति ने भी 'यज्ञी पक्ष का समर्पण किया है—

'अध्यात्ममात्ममैपन्ययमात्मकैव न्यमोङ्कार । आत्मानं निरुप्य अङ्गममात्री भूतत्वं चिन्तां चिन्तयत् । अतिक्रम्य बहस्यः सुगणमाध्यात्मफलं प्राप्नोतीत्यर्थः । सत्तिकां ज्ञानमपम । इत्यतः प्रज्ञेन प्रतिदक्षनैश्च यथार्थं पद्मनविचिन्त्य प्रकटयद्वा हि प्रबलो विपरी स्यात्' ।

—गोपब्रजभाषण पृ० १।३ ।

३६९ गोपय के द्वारा प्रणय की प्रशक्ता का समन्वय—

अन्त में उक्त लक्षण से यज्ञ की प्रशक्ता का स्पष्टीकरण करते हुए वेदमगवान् करते हैं—

"स यद्वैपुवान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते आमगमिषादेते क्रतव एत एवास्य मर्मेषु लोकेषु, मर्मेषु देवेषु सर्मेषु ब्रह्मेषु, सर्मेषु भूतेषु सर्मेषु सत्त्वेषु कामधारे' अमविमोक्षं भवति, अद्वै च न प्रमीयत—य एव वेद" ।

—गोपब्रजभाषण पृ० १।३।५।

१

—००—

२-वैदिक-आध्यात्मिक यज्ञ कर्मोपासना (परमप्रजापत्यनुपासना) (ज्ञानयोगात्मिका-आत्मनि श्रेयसप्रवर्तिका)

३७०-वस्तुतत्त्वानुगता 'आदिति' की 'आहुति'-रूपता का समन्वय, एवं यज्ञप्रक्रिया-नुष्ठान-की समष्टि-व्यवस्थात्मक वा विभिन्न दृष्टिकोण—

किसी एक कर्तु की कर्म कर्तु के उद्देश में 'आहुति' कर देना, आचना मिली कर्तु का काम कर्तु में 'आहुति' होना ही "आहुति" है एवं "स आहुति का ही नाम यज्ञ है। इही आहुति-(आधान)-

सबसे बड़कर्म के दो स्वतन्त्र इष्टिकोण हैं। समष्टि की व्यक्ति समझ कर उस समष्टिकृपा व्यक्ति की परम-प्रज्ञापति में आहुति दे डालना (आत्मसमर्पण कर डालना) यह भी एक प्रक्रिया है। एवं केवल अपने व्यक्ति की (उसे समष्टि से वृत्तमानते हुए) उस परमप्रज्ञापति में आहुति दे डालना एक विभिन्न मार्ग है।

३७१-आध्यात्मिक-वैयक्तिक-राष्ट्र के स्वरूप-संस्थासकों का पारस्परिक-समन्वय- त्मक सहयोग, एवं तन्निष्ठान्धना आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपस्थिति—

हम एक व्यक्ति हैं। इस हमारे व्यक्तिगत राष्ट्र का (आध्यात्मबन्धु का) सञ्चालन हमारा शारीरिक आत्मा (आध्यात्मिक परमप्रज्ञापति) है। जन्तु-भोजन-नामा-घ्राण-इन्द्र-पात्र-उदर-इन्द्रिय-नाभि-आदि सभी अवयव नाम-रूप कर्म में परस्पर सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इन अवयवरूप अनेक व्यक्तियों के समुदाय से "आहमस्मि" यह एक व्यक्तित्व सम्पन्न हुआ है। ये सभी अवयव परस्पर स्वतन्त्र रहते हुए भी स्वतन्त्र कर्म करते हुए भी उस व्यक्तबन्धिताय आत्मा की स्वस्वरक्षा में ही प्रवृत्त रहते हैं। समूर्ण इन्द्रियकर्म "न भूतात्मनः की रक्षा में ही संलग्न है। किसी भी इन्द्रिय को यह अभिमान नहीं है कि—'मैं अमुक काम करती हूँ'। देखती आँख है परन्तु 'मैं' (भूतात्मा) देखता हूँ' यही अभिनय होता है। इस प्रकार व्यक्तित्वान्धनीय सभी इन्द्रियाँ उस एक की विधि के लिए कामिन्न बनती हैं। भूतात्मन की व्यवस्था का कारण कदाही हुई ही अपनी स्वस्वरक्षा का भी कारण बन रही है।

३७२-विरहपद्मालुबन्धी पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग तन्निष्ठान्धना आधिर्मातृक यज्ञ की स्वरूप-स्थिति, एवं भूमात्मक स्वरूप-समन्वय—

संसार में बितन भी मनुष्य है। वे सब उस पद्मपत्र परमप्रज्ञापति के अवयव हैं। अधिकांशतः स प्रत्येक के नाम-रूप-कर्म भिन्न हैं। सब परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। नरका कर्म भी परस्पर भिन्न हैं। समझने के लिए भी भी कहा जासकता है कि कार्य मनुष्य उसकी आँख है काह नाक तो काह कान। इन्द्रिय-स्थानीय इन व्यक्तियों का कर्तव्य यही होता चाहिए कि वे अपने अपने प्रातिष्ठिक आत्मव्यक्तित्व को संरक्षते हुए, अपने आपकी उस प्रज्ञापति की इन्द्रियाँ समझते हुए अपनी समूर्ण भूमि का एक उली का आत्मा समझकर उसी की स्वस्वरक्षाय के लिए (विरहपद्म की व्यक्तियों के लिए) अधिकांशतः भिन्न कर्मों में हैं। प्रवृत्त रहे। समूर्ण मानवसमाज अपने आपकी एक व्यक्ति मानता हुआ उनमें अपनी आहुति दे दे। यही यज्ञ की स्तोत्र पद्धति है। यह की अवस्था में परिणति हुई इन व्यक्तियों का मानव-रस्य है और इस मानव रस्य का फल है—'भूमात्मक'।

३७३-सर्व तनिष्ठा-सत्ताधिका सर्वदुत्तयप्रक्रिया—

नगर नर अवस्थाओं में व्यापक प्रज्ञापति की भावना बन हुए विरहपद्म की रति में कर्मों में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्तित्व का या या नीमामार से निरन्तर हुआ जाने जाने भूमात्मक का मान दासपणा। नरान्तर में 'मैं नृ-सह-बद्ध' का भी जाना रहने नर नर आत्मक में परिणत दासपणा—'यद्य-न्यस्य मयमात्रमाभूत्' लक्षणा आई तनिष्ठा प्राप्त दासपणा।

३७४-अवधान यज्ञोपासना से अनुप्राणित-उपास्य, उपासक, उपासनासाधन-त्रयी का स्वरूप समन्वय, एवं आधिदैविकपरमप्रज्ञापति-उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

इस यज्ञकर्म में कर्मगत किसी मौक्तिक परिग्रह का न्यास न होगा अश्वि सत्त्व संग्रह ही होगा। कर्म का आत्यन्तिक संग्रह परन्तु यज्ञेश्वर के हाथ से। कर्म में आत्यन्तिक प्रवृत्ति परन्तु निष्कर्मभाव से। इसमें आधिदैविकपरमप्रज्ञापति उपास्य बनेगा आध्यात्मिक भूतत्मा उपासक बनेगा सम्पूर्ण निष्कर्म उपासना के साधक बनेगा। फल मित्रेण ममकर्मफलदया 'परामुक्ति' जितक कि—'न तस्य प्राणा वनकर्मणि इहैव समवलीकते' इन शब्दों में अभिनव किया गया है। यही पहिली 'आधिदैविकपरमप्रज्ञापत्युपासना' कहा जाएगी। वेदशास्त्रसिद्ध आधिभौतिक—यज्ञ ही इच्छाजनक होगा। और यही गीताशास्त्र की कर्मयोगनिष्ठा कहा जाएगी। इसमें अपनापन कुछ न रहेगा। लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। प्रधान क्या रहेगा विद्युत् लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। कारण लोक का आत्मा, और उसका वैय्यक्तिक आत्मा, इन दो भावों के पार्श्वक का नहीं अवसर ही नहीं है। यज्ञोपासकर्म इसी यज्ञकर्म की प्रतिष्ठामूर्ति माना जाएगा।

३७५-आधिदैविक-भौतिक आत्मिक-यज्ञत्रयी से अनुप्राणित यज्ञोपासना का स्वरूप तारतम्य-समन्वय एवं दृष्टिकोणमेवनिमन्वन समष्टि-व्यष्टिरूप-भूमोदक, तथा श्रीमोदक का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कति प्रज्ञापरिग्रह इत यज्ञकर्म में प्रवृत्त होने वाला अवभाव का अनुगामी नहीं बनेगा। दानसि मार्ये सधारण नहीं है। कर्मना का आत्यन्तिक विमोच कर देना विरक्षणिक अन्त्याल-व्यपेक्ष ही है। इसी लिए ऐसे अधिकारियों के (जोकि आधिभौतिक यज्ञकर्मों में अवसर से-दूर भागते हैं) शिव के लिए ही वह दृष्टी यज्ञप्रक्रिया है। वह आधिभौतिक यज्ञकर्मों का ही न्यास करने एवं आध्यात्मिक यज्ञकर्मों का निष्कर्मभाव से परिग्रह करने। यहाँ का यज्ञ व्यक्तित्वजनक ही ही अपना मूल स्वरूप। अपने शारीरिक आत्मा का आधिदैविक यज्ञ में आधिभौतिक यज्ञ के द्वारा समर्पित करना पहिला यज्ञ का। एवं अपने शारीरिक आत्मा को आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा आध्यात्मिक परमप्रज्ञापति में [शान्तात्मा में] समाहित करना वह दूसरा यज्ञ कर्म कहावेता। यहाँ सम्पूर्ण यज्ञपरिग्रहों का संग्रह या यहाँ सम्पूर्ण यज्ञपरिग्रहों का त्याग है। विरह से तटस्थता ग्रहण की लोक से दृष्टि हटाई जित-लोक-पुत्रेयका का परिष्कार किया इन्द्रियों का मन में मन का बुद्धि में बुद्धि महान में महान का आध्यात्मिक परमप्रज्ञापतिरूप व्यक्तित्वत्मा में [शान्तात्मा में] समाहित करते हम विद्वत् आत्मरूप में परिणत होकर अन्ततः समबलबलमान प्राप्त कर सिद्धा यही इस यज्ञकर्म का स्वरूपकल्प होगा। श्रीयोग ही यहाँ प्रधान उद्देश है। यहाँ 'भूमोदक' या यहाँ 'श्रीमोदक' है। यहाँ विद्युत् लोकामुख या यहाँ आत्मानि-वेयस् है।

३७६-मक्तिमागालुबन्धी सय-ठठ-म-प्रादि विभिन्न योग, उन्निबन्धना हिरण्यगर्भ निष्ठा तथा कपिलनिष्ठा एवं 'क्लेशवृत्तिरवाप्यत' का समन्वय—

पाठों को स्मरण होगा कि पूर्वप्रकरणानुसार में मक्तियोग को उपरत करते हुए हमने मक्ति के मी सय-ठठ-मन्त्र-योगात्मक योगमाग राजयोगात्मक योगमाग से दो विभाग बंटाए थे। इनमें योगा-त्मक योगमाग हिरण्यगर्भनिष्ठा है, पाण्डुरसयोग इसी का रूपान्तर है। एवं यज्ञकर्म का वह चौथो वर्कमक यज्ञयोगमाग उसी योग से मिलता जुलता है। इस निष्ठा के बापि प्रत्येक महर्षि कपिल हैं वही माक्यनिष्ठा किंवा ज्ञाननिष्ठा है। योगात्मक भक्तिमाग तथा यज्ञात्मक ज्ञानमाग दोनों का समाधान ने संग्रह करके दिया है। परन्तु है मगवान की इन के सम्बन्ध में अश्वि ही, जैसाकि पूर्व में वन तत्र स्पष्ट किया बापुका है। इस अश्वि का एकमात्र कारण है-लोकात्म्य का समाव। न तो वेहे भक्तिमाग में ही लोकात्म्य एवं न ऐसे ज्ञानमाग में ही लोकात्म्य का समाव। कल्प वैष्णविक सम्पुरन नि-भैष्ण्व ही प्रधान बना रहता है सो मी बड़ी कठिनता से ही- 'क्लेशवृत्तिरवाप्यत'।

३७७-अपचांमेद निबन्धन-मर्षोत्तम' एवं 'उत्तम' भक्तिपथ का संस्मरण—

वचन 'एकमप्यस्थित मय्यगुमयोर्विन्दत फलम्' इन मगवद्विष्टि के अनुसार-भूमीदक्षज्ज्ञान श्रोत्रमृदुयामक यज्ञकर्म एवं शीखावृत्तकण आत्मनि शेषम् समावक यज्ञकर्म इन दोनों का 'परामुक्तिरूप फल समान है। परन्तु 'तयाऽऽतु कर्ममन्यामान कर्मयोगो विशिष्यत' के अनुसार वहि कर्ममन्यामलक्षण यज्ञकर्म (मावयनिष्ठा) की अपवा वहि कर्मपरिमहलक्षण यज्ञ-कर्म ही लक्ष्य माना गया है और वही कारण है कि हम हमने 'मर्षोत्तम' कहा है एवं उस 'उत्तम' कहा है।

३७८-'उपामना निबन्धना गता श्री योगचतुष्टयी तत्र स्वरूप दिग्दर्शन, एवं सर्वश्रेष्ठ 'वैरा ययुदियोग—

आधिदैविह-क्लेशलक्षण बन्धनात्मना जैस गीता का निष्ठाप्रारम्भयोग है एवंम आध्यात्मिक-क्ल-लक्षणा वह उपामना गीता का जै कर्म ज्ञानयोग है। ईश्वरी के स्वरूप का यदि विचार किया जाता है तो कर्मयोग का आत्म नीचा मानना पड़ता है एवं ज्ञानयोग का ऊँचा। कवीहि कर्मयोग चरयमान है एवं ज्ञानयोग शम्भु चरु की प्राप्तिद्वारा से मुक्त है। परन्तु कर्मदृष्टि से कर्मयोग ज्ञानयोग का अपेक्षा बड़ी उन्नतमिति में प्रतिष्ठित, शब्दयोगात्मक भक्तियोग स्वरूप फलतः कर्मयोग से मी श्रेष्ठ है। एवं शरीर के बुद्धिमान का तो कहना ही क्या है।

३७९-चतुर्विधा योगात्मिका उपामना क लोकानुपपी-लोकधृष्ट एवं उपामना-चतु-ष्टयी का वर्गीकरण समक-समन्वय—

बुद्धिवैभक्तिमिका दक्षगुणगुणा उपर-यन्तुला अभ्यसापामना भक्तिवैभक्तिमिका आर-यन्तुला वेदगुणगुणा सर्वेश्वरपामना (प्राज्ञाप्रज्ञापनि उपामना) कर्मयोगात्मिका आर-यन्तुला एवं ज्ञानयोगात्मिका आर-यन्तुला पुण्यगुणगुणा यज्ञधरापामना से व्या ही उपामना क प्रधान बाट है। पामी ही उ-यन्तुला मया है। आग का बाइय-म-दर्म आदिशब्द से इस भक्तिमाग का दूर कर जाता है—

- (१) १-‘न हम हम हैं न वह वह है, जो है सो है’—‘बुद्धियोग’
 (‘तू तू न रहे, मैं मैं न रहूँ हम तुम दोनों मिलजाएँ’)
 २-‘मैं नहीं, तू ही तू’ मक्तियोग’
 ३-‘हम सब तुम्ह में तू हम सब में’ ‘कर्मयोग’
 ४-‘तू मेरा, मैं तारा’, ‘ज्ञानयोग’



- २—१-कृष्णानन्यता (बुद्धियोग)—अन्ययोपास्या
 २-ईश्वरानन्यता (मक्तियोग)—अस्वयेश्वरापास्या
 ३-कम्मानन्यता (कर्मयोग)—अन्येश्वरोपास्या
 ४-आत्मानन्यता (ज्ञानयोग)—अन्यगात्रोपास्या



- ३—१-नोदकमात्र (बुद्धियोग)—न मुक्तिर्न अन्यथा
 २-अपरोक्षः (मक्तियोग)—अपरामुक्तिः
 ३-भूमोदकः (कर्मयोग)—परामुक्तिः
 ४-चोखोदकः (ज्ञानयोग)—परामुक्तिः



- ४—१-मवमग्रह, असग्रहो वा (बुद्धियोग)—सहस्रस्वरूपसिद्धिः
 २-आत्ममग्रहपूर्वको लोकसंग्रह (मक्तियोग)—आत्म-लोकस्वरूपव्यवस्थिति
 ३-विशुद्धो लोकसंग्रह (कर्मयोग)—लोकस्युद्भवसिद्धिः (परमात्ममात्रं)
 ४-विशुद्ध-आत्मसंग्रह (ज्ञानयोग)—आत्मनिःश्रयसिद्धिः (स्वार्थमात्रं)



३८०-अन्योन्य-पूजनादि नामसंकीर्तनादि अङ्गमात्रों से अर्थस्पृष्टा बहुविधा तत्त्वोपासना का सम्मिश्रण—

यह भी समान रूपन की बात है कि तत्प्राप्ति के लिये उक्तमात्रों से अर्थजन्य पूजन आदर्शिक पूरा होने पर उपर्युक्त विधिप्रमाण आशय की अपेक्षा नहीं है। अतएव नाममय अर्थ भी बहाल है

से ही प्रणम्य है। चारों ही मौलिक वैशिष्ट्य उपासनामार्ग हैं। यह स्पष्ट करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि आब का मातृकार्य इन चारों मार्गों में से किसी एक का भी अनुयायी नहीं है। प्रचलित भक्ति-मार्ग का केवल वैचारिक-धरोपासना में यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव करते हुए लोचनार्थ की रक्षा की जा सकती है बल्कि उलप्रचरण में ही स्पष्ट होजायगा।

३८१-यद्येवरोपासनात्मिका आध्यात्मिक-यद्योपासना, एव तत्समर्थक उपनिषद्बोधन—

प्रकृत में करना केवल यही है कि, यद्येवरो की उपासना का बसुरा प्रचर आध्यात्मिक यत्नलक्षण नैष्कर्म्य-ज्ञानयोग ही है। इसी में 'प्रयुक्त्या' की प्रबानता है बल्कि निम्न लिखित उपनिषद्बोधनों से स्पष्ट है—

१—स वाऽध्यामात्मा सर्वस्य वशी, सर्वस्येशान सर्वस्याधिपति, सर्वमिदं प्रशक्ति यदिदं किञ्च । (ब० आ० उ० ५।६।१।) । तमर्तं वेदानुवचनेन प्राप्तया विविदिपन्ति, यत्नेन, दानेन, तपसा-अनाशकन । एतमेव विदित्वा मुनिर्मवति । एतमेव प्रवाञ्जिनो लोकमिच्छन्तः प्रवजन्ति * ।

२—एतद् एव वै तत्पूर्वे विद्वांस प्रज्ञां न कामयन्ते-किं प्रश्नया करिष्याम, येषां नाऽय मात्मा, अयं लोक इति । ते इस्म पुत्रपण्यायाश्च, वित्तपण्यायाश्च, लोकपण्यायाश्च पुरुषाय, अयं मिवाचर्य धरन्ति — ।

३-कश्चिद्गीर प्रत्यगात्मानमैदं दृष्ट्वा च चरन्मृतत्वं मिच्छन् ।

यथाशकं हृद्दे शुद्धमामिक्तं तारुण्यं भवति ।

एवं मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गीतम् ।।

नै दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहादितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमनं देवं मत्वा धीरो हर्षशोका बहति ॥

यच्छुद्धाङ्ग मनोमी प्राप्नोत्यच्छुद्धान् आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति निषिद्धयच्छुद्धान्त आत्मनि ॥

यथा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

पुद्गिरश्च न विधेयन्त तामाहुः परमां गमिषु ॥

० आधिदैविक्यज्ञानुयायिन — कर्मयोगिनस्तु — अद्विजिन — अस्यागिन — नष्टिज्ञानान्वभेष्टा, इत्यवधयम् ।

— ५ आ उ० ५।६।१।

+ यद्यु न कर्ममार्गः

तो योगमिति मन्यन्त स्मिगमिन्त्रियधारणाम् ।
 अग्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रमथाप्यर्थो ॥
 मनगतीत्थार्पणपदं महाम्नां शूरं वा पामा निशितं मन्धपीत ।
 आपम्भ सङ्मात्रगतन यतसा लक्ष्यं तदेवाचरं विद्धि ॥
 प्रसन्नो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तप्तलक्ष्यमुच्यते ।
 अग्रमत्तन वेदार्थं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
 चरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गा पथस्तन् कवयो वदन्ति ॥
 — उपनिषदि

—२—

३-वैदिक-आधिकारिक-अचेतन-जीवापासना-[प्रतिमाप्रजापत्य- पासना]-

३८०-पद्मेश्वरविद्यानुगता वेदसम्मता-तात्त्विक उपासनाक पञ्चविध प्रकारों का समन्वय-

“न तीर्थे श्वेतेश्वरविष्णु मे ॥ आधिकारिक-अचेतन-जीवी की उपासना का अन्तर्भाव है । निगूण आत्म्य पर दृष्टि रखना पहिला प्रकार है । स्वस्वकल्याणक श्वेतेश्वर पर दृष्टि रखना दूसरा प्रकार है । श्वेतेश्वर से निस्सुख योगसाधकान्द्रिय पञ्चगुणहीनताक आधितैजस श्वेतेश्वर पर दृष्टि रखना तीसरा प्रकार है । आत्म्यात्मिक कर्णेश्वर पर दृष्टि रखना चौथा प्रकार है । एवं आधिकारिक परमप्रजापति-लक्ष्य स्ववस्तु प्रजापति (जिसे कि आमुप्रजापति परारका आदि नामों से भी सम्बोधन किया जाता है) के धर्म में रहने वाले पद्मेष्टी-सर्व-शिवकी चन्द्रमा आदि प्रतिमाप्रजापतियों में से किसी एक पर दृष्टि रखना पाँचवाँ प्रकार है ।

३८३-महेश्वरानुगतरानुगता, एवं प्रतिमेश्वरानुगता (पञ्चवक्त्रेश्वरानुगता) तात्त्विक-

उपासना का स्वरूप-समन्वय—

उक्त पाँचों प्रकारों में से पाँचवाँ प्रकार ही आधिकारिक अचेतन जीवापासना कहाएगी । जो व्यक्ति निगूण-आत्म्य पर दृष्टि नहीं रख सके व सगुण सहस्रवक्त्रात्मूर्ति श्वेतेश्वर पर (पादरीप्रजापति पर) दृष्टि रखे । जो “न पर भी दृष्टि न रख सके व कर्णेश्वर परमप्रजापति पर दृष्टि रखें । जो “न मे भी आत्म्य ही व कल्याण के एक एक पक्ष पर दृष्टि रखें । मूर्ध्न्य चन्द्र-सुविही आदि में से किसी एक प्रकृति के अक्षय की लक्ष्य बना कर आधिकारिकभाव में वक्तव्यधर्म में प्रवृत्त रहना ही तीसरी महेश्वरानुगता कहाएगी ।

३८४-उपासनातत्त्वनिबन्धन-पूनापरविरोध—

पूर्व प्रकार में हमने इन आधिकारिक अचेतन जीवापासना की जीवी उपासना मानते हुए इसे प्रथमा कहा है एवं आधिकारिक अचेतनजीवापासना (अक्षयगीवापासना) को तीसरी उपासना मानते हुए “ते मन्त्रा कहा है । परन्तु यहाँ अचेतनजीवापासना का तीसरी उपासना कल्याणकारक है । वह पूर्वपरविरोध क्यों ? ।

३=१-पूर्वापरविरोध-निराकरणप्रपाम, एवं पदङ्ग ईश्वरानुरोपासना प्रमापतिमहितोपासना आदित्योद्गीथोपासना, गायत्र्यस्त्रयापामना, आदि विविध उपासना प्रकारों का संस्मरण—

समाधान यही है कि विद्युत्कार सर्वैश्वरोपासना-लक्षण शक्तिरूपा उपासना के मन्त्र-संयुक्त नामात्मिक अर्थमयकामात्मिक योगमार्ग रात्रयोगात्मिक योगमार्ग य दो मार्ग हैं अत्र्यश्वरात्मना के आधिपत्यिक यशस्विक यशमाग (कर्मयोग) आध्यात्मिक यशस्विक यशमार्ग (ज्ञानयोग) य दो मार्ग हैं एवमेव अक्षरतन श्रीकृष्णात्मना के भी आधिकारीयद स दो मार्ग होजाते हैं । प्रवृत्तियों में उनी उद्गीथोद्धारमूर्ति तर्जुनर की भावना करत हुए कत व्यक्त्य में पर हस्ति रहना एक प्रकार है । वर उपासना समष्टिरूपमय श्रीशुद्ध की उपासना तो नहीं है परन्तु व्यक्तिकर से अक्षर ही श्रीशुद्धरीपासना है । अतएव इस उपासना का अधिकारी ईश्वर तथा में विराजित रहने वाला एक आत्मिक ही बन सकता है । वर आदित्य (सूर्य) को लक्ष्य में रखनेगा परन्तु उद्गीथोद्धारमय से पृथिवी का लक्ष्य में रखनेगा परन्तु उद्गीथहस्ति में । यही उपासनामाग पदङ्ग ईश्वरानुरोपासना प्रमापतिमहित पामना आदित्योद्गीथोपासना गायत्र्यस्त्रयापामना इत्यादि रूप में अनन्य भागी में विभक्त है ।

३=६-उद्गीथमात्रनिश्चयना आधिपत्यिक उपासना एवं आध्यात्मिक-उपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निश्चयन भूमोदक-वीथोदक-मात्र—

इस उद्गीथमात्रनिश्चयना उपासना के भी आधिपत्यिक-आध्यात्मिक मर में आगे बाहर १। में हो-जाते हैं । प्राकृतिक आतिर्याद की लक्ष्य में गन्ते हुए आनिर्मितिक यशस्विक में प्रवृत्त रहना पहिला प्रकार है और इसकी पूर्णत आधिपत्यिक यशस्विक यशस्विक (कर्मयोग) के व्यय गुणना की बाधनी है । अपने आपात्मबल में प्रतिष्ठित मुख्यशक्त्यप ध्यानात्मिक उद्गीथ की लक्ष्य में गन्ते हुए द्वितीया आध्यात्मिक पदङ्ग ईश्वरानर का लक्ष्य में गन्ते हुए आध्यात्मिक यशस्विक में प्रवृत्त रहना दूसरा प्रकार है और इस की पूर्णत आध्यात्मिक यशस्विक (ज्ञानयोग) के भाव गुणना की बाधनी है । पूर्ववत् य । भी पहिले भाग में भाष्यमय के द्वारा आत्मनि अर्थ है पूर्ण भाग में विगुह आत्मनिर्धन है । दूसरे शब्दों में-पहिला मार्ग भूमोदक है एवं दूसरा मार्ग वीथोदक है । निर्मान-लक्ष्य आनन्दन इही वही मार्गों का शरीरानुरूप य २६ है ।

१-आधिपत्यिक-उपासना—

१—“अपाधिपत्यम-य एवासा तपति तमुद्गीथमुरामीत । उपान् वा, एष प्रमाप्य उद्गीथपति । उद्य एतमोमयमपहन्ति । अपहन्ता व मयस्य तममा य एवं वद” ।

२—“आत्मिवा प्रत्यग्यात्” ।

३—“एवं ईश्वरानुरोपासना यन्मयानुरोपासना” ।

२—आध्यात्मिक-उपासना—

१—“अथ सप्त ध्यानमेवेष्टुं यः श्रुताः । यद्वा प्राप्तिं न प्राप्नुयः, यद्वानिति सोऽ-
यानः । अथ यः प्राज्ञापातयोः सन्धिः स ध्यानः ।

२—‘तस्य वा एतस्यात्मनो गैस्वानरस्य मूढः स सुतेजाः चक्षुरिदं रूपं प्राप्नु-
वर्त्मा, आत्मा सन्दहो-बहुलाः, वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव-पादा उर एव वेदिः
लोमानि बर्हिः, हृदयं गाहपत्यं, मनोऽन्वाहार्प्यवचनः, आस्यमाहवनीय ।

३८७—आध्यात्मिक आधिदैविक-अचेतनबीजोपासनानिषेधन-उपासनातत्त्व का स्वरूप-
समन्वय —

इसके अतिरिक्त त्रिविध पञ्चविध सप्तविध मामोपासना स्वरोपासना आदि मेद से एक
एक पर्वों की उपासनाओं के विचने भी आधिदैविक प्रकार कृष्णोष्णदि में उक्तवर्तित हैं वे सब आधिदैविक
आधिकारिक अचेतन-बीजोपासना में ही अन्तमृत हैं । एकमेव मूलमोपासना महानापासना विज्ञानो-
पासना सत्त्वोपासना आदि मेद से उपवर्तित आध्यात्मिक उपासना-प्रकार आधिकारिक आध्यात्मिक अचे-
तनबीजोपासना में अन्तमृत हैं ।

३८८—वैदिक-उपासनाकाण्ड के स्पृष्ट पर्व, तत्त्व-धना वैदिक-प्रतिमोपासना, एव,
प्रचक्षित प्रतिमोपासना, एव प्रचक्षित-प्रतिमोपासना का वेदार्थस्पृष्टत्व—

वित्तप्रकार अमल्य उपासना-सिद्धि के लिए आरम्भ में स्वयं को लक्ष्य बनाया जाता है एवमेव
वैदिक उपासनाकाण्ड में भी सर्व-वैश्वानर, आदि आधिदैविक स्पृष्ट पर्वों का प्रधान-विधानादि
आध्यात्मिक स्वरूपों को लक्ष्य बनाते हुए अन्त में—‘तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद्विश्वमुपासते य-
थावेद्यं मिच्छत्य है । यदि हम से कोई स्नातनवर्ग यह प्रश्न करे कि, वेद में-प्रतिमोपासना का विधान है
अथवा नहीं, तो उत्तर में हम उसके समाने परमप्रजापति की प्रतिमाके आदिस्वादि की उपासना ही रक्खेंगे ।
वैदिक प्रतिमोपासना प्राकृतिक पर्वोपासना ही है । प्रतिमोपासना का वचमानरूप मत्तत्त्व से भले ही
वेद में उपलब्ध ही, परन्तु वहाँ इसके मूलरूप का तो अभाव ही है । अथ न-रूप-बीजादि-लक्षणा अङ्गोपा-
सना का तो वेद शास्त्र में अभाव ही मानना पड़ेगा ।

३८९—उपासनोपनिषत्-अनुगत-आत्ममात्र तन्निपन्थन त्रिविध ‘ओङ्कार’, एव ओङ्कार
निबन्धना उपासनात्रयी का स्वरूप-समन्वय—

उपासनातत्त्व का मौलिक रहस्य है—“आत्मा” । कोई भी उपासना ही, सब में किसी न किसी
रूप से आत्ममात्रता की ही मुख्य बनाता पड़ेगा । इस भावना की प्राप्ति के लिए ओङ्कार का आश्रय लेना
आवश्यक होगा—“आमित्येषं ध्यायन् आत्मानम्” । कथं व्यक्तमर्थमिह अन्तर्मोपासना में सर्वो-
ङ्कार के द्वारा आत्मसंमह है । ईश्वरानन्तरिमिका सर्वस्वरोपासना में अङ्गीओङ्कार के द्वारा आत्मा

का परिग्रहण है कर्मानन्त्यात्मिका आधिदैविक्यक्षेत्रोपासना में, एवं आत्मानन्त्यात्मिका आध्यात्मिक क्षेत्रोपासना में प्रणवोद्धार के द्वारा आत्ममार्ग है ।

३६०—सर्व-उद्गीय-ग्रन्थ-ओद्धारनिबन्धना त्रिविधा उपासना से अनुप्राणित अभिधारी मेद भिन्न त्रिविध मार्गों का स्वरूप समन्वय—

कर्मानन्त्यात्मिका (आधिदैविक्यत्वात्मिका) प्रथमोपासना में प्रणवोद्धार के पर्वरूप उद्गीमात्मक-आध्यात्मिक प्रवचनमक वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है । एवं आत्मानन्त्यात्मिका (आध्यात्मिक्यत्वात्मिका) प्रथमोपासना में प्रणवोद्धारपर्वरूप उद्गीय ध्यान ब्रह्म वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है । इसप्रकार इन सभी उपासना प्रकारों में समग्रध्यात्मक-सर्व-उद्गीय-प्रणवोद्धारों के द्वारा एवं व्यवस्थित प्रणवोद्धार के द्वारा आत्मा का समावेश होता है । परम्परा एवं साक्षात्, आत्मा की ही उपासना होती है और ओद्धारमूला यही उपासना किंवा उपासना के वे ही प्रकार वेदशास्त्र-सम्मत हैं । जिस उपासना में (अभ्य-कर्म्म-अभ्यनामयी-भक्ति-आदि में) आत्मलक्षण ओद्धार का अभाव है वेदशास्त्र की दृष्टि से वह कभी उपासना नहीं है बल्कि निम्नलिखित भौमछन्म से स्थ है —

१— ‘अथात आत्मादेश एव-आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्ठात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा इदित्यतः, आत्मोत्तरतः आत्मैवेद सर्वमिति । स वा एष एव पश्यन्, एवं मन्वान, एवं विजानन्-आत्मरतिरात्मकीं आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराद् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामधारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुः-अन्यरात्रानन्ते दृश्यल्लोका भवन्ति’ ।

—आध्यात्मोपनिषत् ७ अ० २५ सूत्र ।

२—‘य एते ब्रह्मलोक । तं वा एत देवा आत्माननुपासते । तस्मादोपां सर्वे च लोक आत्मा, सर्वे च कामाः । सर्वाश्च लोकानानुपेति, सर्वाश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविध विजानाति, इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ।

—ई० ७० अ० १२।१

वेदसम्भता-उपासना आत्ममयी-ओङ्कारमयी वा—

वेदमुपासना (अपवित्रमूला) { १-मिथुन-सप्तमयोगसप्त (योगसप्त-द्वितीयमात्र) वैदिक-धर्मान्वय-सत्यवाचिभक्त-उपसक्त-कर्तव्यपूजा। एवं } सत्य-

वेदमुपासना (आरस्यमूला) { १-(क) कुरु-सर्व-उपासना। (यथोपासना मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। २-(घ) कुरु-सर्व-उपासना। (मन्त्र-वैदिक-आदि-उपासना-मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। } सत्य-

मुपासनामुपासना (आरस्यमूला) { १-(क) कुरु-सर्व-उपासना (सत्यमन्त्रिभार्य-मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। २-(घ) कुरु-सर्व-उपासना (सत्यमन्त्रिभार्य-मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। } सत्य-

५-(क) कुरु-सर्व-उपासना (सत्यमन्त्रिभार्य-मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। ६-(घ) कुरु-सर्व-उपासना (सत्यमन्त्रिभार्य-मन्त्रिभार्य) वैदिक-आदि-वैदिक-उपासना-मन्त्रिभार्य-उपासना-आदि-वैदिक-मन्त्रिभार्यपूजा। } सत्य-

सर्वात्मकः- सर्वेश्वरः

१-सर्वोद्धार

१-निगूण-अव्ययः
(युक्तमार्गाधिष्ठाता)



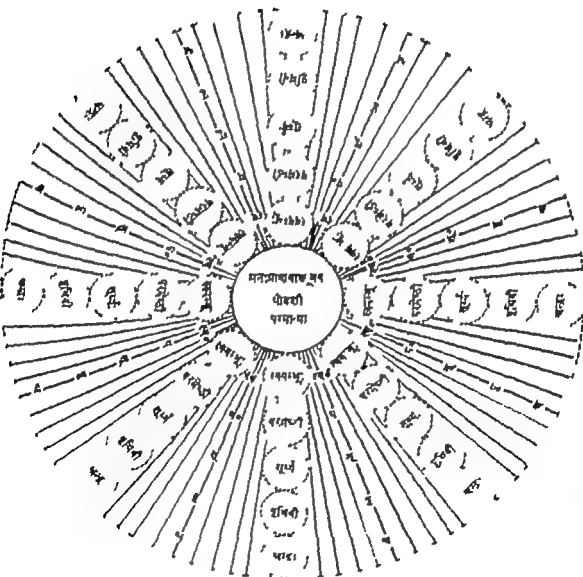
१-उद्गीषोक्तार

आधिदैविक - सर्वेश्वर'

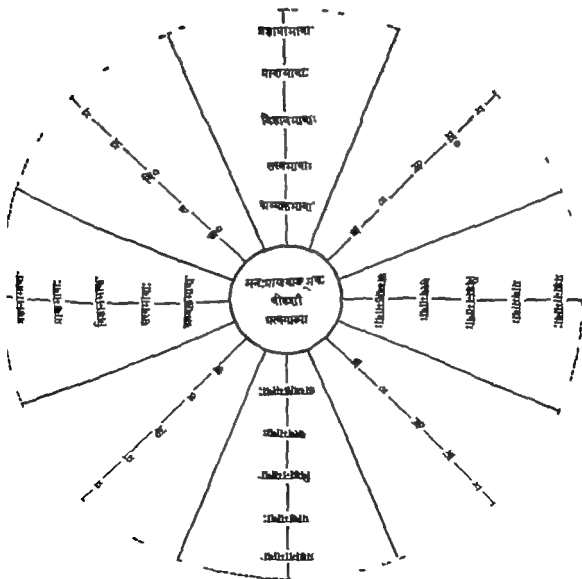
१-सगुणः षोडशीप्रजापतिः परमात्मा

साहस्यकल्येश्वरः (अक्षरः)

(मक्तिमार्गाधिष्ठाता)



२-श्रीयोगद्वारः आध्यात्मिक- सर्वेश्वर १-सगुणः पञ्चश्रीप्रजापतिः प्रत्यगात्मा
सहस्रमावात्मकः (अक्षर)
(योगमागाधिष्ठाता)



१-अष्टवोश्वरः

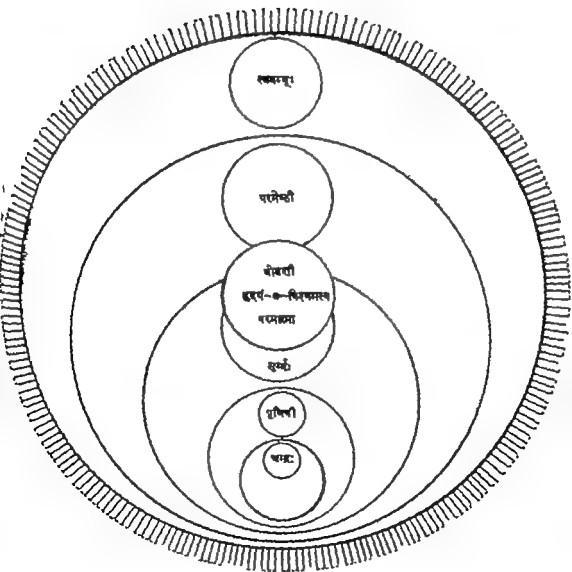
आधिदैविक- बलेश्वर

१-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः

पूर्णन्द्रि-
यः

पञ्चपुण्ड्रीकात्मक (आत्मक्षर)

(कर्मयोगाधिष्ठाता)



गीताविज्ञानमाध्यमिकायां

१-पञ्चगव्य • आपिरेविक-प्रतिमेस्वर •

१-श्रीशरणे बहमूर्तिः प्रदिशामवापतिः [अमलहरः]

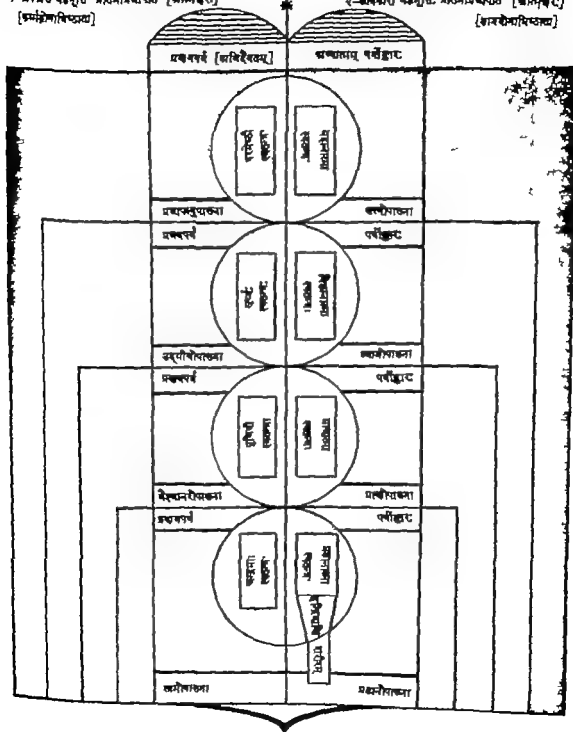
[कर्मयोगविषयस्य]

पूर्वस्रष्टात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा

२-पर्वोत्तरा • व्याख्यासिद्ध-प्रतिमेखरा •

२-अविग्रहो यजमूर्तिः प्रतिमाप्रत्ययति [आत्मबुद्ध]

[आयुर्वेद-विज्ञान]



प्रकारान्तरेण—

उपनिषद् { १-मुक्तमात्रं—कर्मादिमन्त्रोऽन्वयिनाम्—कर्मादिद्वयमन्त्रोऽन्वयिनाम्—कर्मादिद्वयमन्त्रोऽन्वयिनाम्—कर्मादिद्वयमन्त्रोऽन्वयिनाम्—

(सर्वादिमन्त्र—कर्मादिमन्त्रान्तरेण) ————— कर्मादिमन्त्र (कर्मादिमन्त्र) } आध्यात्म

आरम्भक { १-मन्त्रान्तरेण—आदिदेविक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण
२-मन्त्रान्तरेण—आध्यात्मिक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण

(आदिदेविकमन्त्रान्तरेण—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण) ————— कर्मादिमन्त्र (कर्मादिमन्त्र) } आध्यात्मिक

आरम्भक { १-मन्त्रान्तरेण—आदिदेविक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण
२-मन्त्रान्तरेण—आध्यात्मिक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण

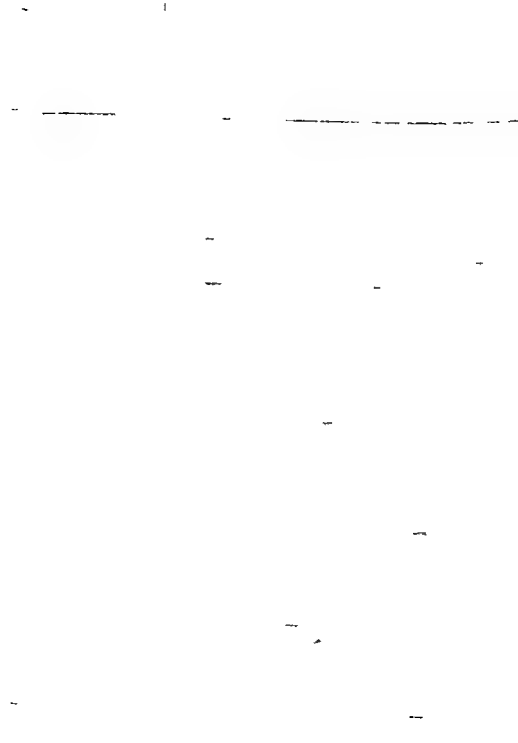
(आदिदेविकमन्त्रान्तरेण—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण) ————— कर्मादिमन्त्र (कर्मादिमन्त्र) } आध्यात्मिक

आरम्भक

यज्ञमन्त्रान्तरेण

१-मन्त्रान्तरेण—आदिदेविक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण
२-मन्त्रान्तरेण—आध्यात्मिक—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण

(आदिदेविकमन्त्रान्तरेण—विष्णुदत्तोक्तमन्त्रान्तरेण) ————— कर्मादिमन्त्र (कर्मादिमन्त्र) } आध्यात्मिक



३६१-‘बुद्धि-मक्ति-कर्म-ज्ञान’ चतुष्टयी से अनुप्राणित उपासनाप्रकार एवं तदनुगत उपासनास्वरूप-समन्वय—

बुद्धि-मक्ति-कर्म-ज्ञान प्रधानरूप से चार ही विषय हैं। इन चारों का क्रमशः अध्ययन पौष्टिकी यष्टप्रमापति इन तीन आत्मसंस्थाओं से सम्बन्ध है। अध्ययनमूलक बुद्धियोग का अन्तिम रूप एक ही प्रकार प्रकट हो गया है। तदपि वैताकि पूव परीक्षा प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसकी मुख्य-मुक्तता मेर से हो माग होजाते हैं।

३६२-ज्ञान-कर्म-मय ‘उपास्य’ के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण—

उक्तान्त में पहले की ओर बात नहीं है। किन्तु मोक्ष दुस्त अवरण है। किन्तु मोक्ष से अन्तर्धान से सनी का सम्बन्ध होजाता है। “न तीनों उपास्यों के आधारपर ही चतुर्विध उपासनामार्गों के आगे जाकर अन्त विवर्त होजाते हैं। रात विवर्तों का तो पूर्व के परिकल्पों से स्वीकरण ही ही चुका है। अन्त हीमें अध्ययन-तन्मयगत मुक्तता बुद्धियोग का समावेश और कर दीजिए। अन्त मार्ग होजाये। इन अन्तों मार्गों की उपनिष्ठा (मूलप्रतिष्ठा) है—“ज्ञानकर्ममय-आस्था”। क्योंकि परिकल्पों के सम्बन्ध-तन्मय से अन्तर्मान-उपास्य के अन्त विवर्त होजाते हैं। अन्त उपासना के ही आन्त मार्ग होजाते हैं।

३६३-विद्यासाधन, विद्यानिरपण, लोकसाधन-सत्कर्मों से अनुप्राणित ‘कर्ममार्ग’ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन अन्तों ही उपासनाओं के ज्ञान एवं कर्मों का परमावर्त स्वरूप एक ही है। केवल लक्ष्य-मूल उपास्य के स्वरूपों में मेर है। अन्त उपासना के एक विविध होजाते हैं। शास्त्रमित्र यज्ञ-उपो-दान-लक्षण विद्यासमुच्चि कर्म ह्य-आपूत-वृत्त-लक्षण—विद्यानिरपण सत्कर्म शिष्टजनसम्मत लोकसंसाधन कर्म दुस्तद्वैतानुबन्धी मुक्तकर्म लोकसाधन देशाचार आस्थाचारमूलक लोक-वैरा-जाति कर्म इन सब स्वरूपों की लक्ष्य ही कर्ममार्ग है।

३६४-वैदिक-संप्रदायानुगत कर्ममार्ग, एवं अन्तर्मुख संप्रदायानुगत ज्ञानमार्ग—

शास्त्रमित्र योगधारण नैष्कर्म्यलक्षण आत्मनिर्गन्त ही कर्ममार्ग है। वैदिक संप्रदाय कर्ममार्ग है एवं अन्तर्मुख संप्रदाय ज्ञानमार्ग है। दोनों ही माग अन्तर्मुख निष्कर्म के लक्षण हैं।

३६५-बुद्धियोगात्मिक उपासना के अध्ययन-निःशेष-संसाधक सर्वथा विमक्त दो पथ—

यदि आत्मभ्रम विद्या अध्ययनमार्ग से उक्त ज्ञानकर्मों में मनुष्य (केवल वयःव्युत्पत्ति) प्रवृत्त पथा है तो यह उपासना “बुद्धियोगोपासना” कहलाती है। इस मार्ग में यदि अन्तर्मुखी अन्तर्मुख लक्षण है तो तो इसे मुक्तमार्ग किंवा मुक्तपामना (मुक्तबुद्धियोग) कहा जायगा और यदि मार्ग बुद्धि-गात्र-वैरा-मानसता कहलायगा। यदि मानस-लक्षणपूर्वक लक्षण है तो इसे मुक्तमार्ग किंवा मुक्त-तमापामना (मुक्तम बुद्धियोग) कहा जायगा और बुद्धियोगानुबन्धी यही मुक्त माग ‘कर्ममार्ग’

कहाएगा। इसप्रकार केवल बुद्धिमेय से बुद्धियोगात्मिका निगुण-उपासना के ज्ञानात्मक मुक्तमार्ग एवं कर्ममार्गक मुक्तमार्गों के दो भेद होबाँके।

३८६-मक्तिपथानुबन्धी कर्ममार्ग एवं योगपथानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप समन्वय, एवं तदनुप्राणित निष्कामभाव—

इसका आरम्भकथन योगप्रज्ञापति (ईश्वर उद्भव ज्योतिरवर) है। कर्म-ज्ञान के ही हैं जो पूर्व में कहाए गए हैं। यदि आधिदैविक ईश्वरानुबन्धता-पूर्वक कर्ममार्ग का परिग्रहण है तो यह वह कर्मयोग ईश्वरोपासनात्मक भक्तियोग है। यदि आध्यात्मिक ईश्वरानुबन्धता-पूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है तो मन-शब्द-इष्ट-योगात्मक यह योग आत्मोपासनात्मक योग है और यही इस भक्तिपथ का ज्ञानयोग है। भक्तिमार्ग कर्ममार्ग है योगमार्ग ज्ञानमार्ग है। यही दोनों ही में निष्कामभाव नितान्त अपेक्षित है।

३८७-यज्ञोपासनात्मक ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

हीमन्त आरम्भकथन यज्ञप्रज्ञापति (ज्योतिरवर-एकज्योतिरवर) है। कर्म-ज्ञान के के वे ही हैं। यदि आधिदैविक ज्योतिरवरानुबन्धता-पूर्वक कर्ममार्ग का परिग्रहण है तो यह यज्ञोपासनात्मक कर्ममार्ग है। यदि आध्यात्मिक ज्योतिरवरानुबन्धतापूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है तो यह यज्ञोपासनात्मक ज्ञानमार्ग है।

३८८-यज्ञप्रतिमोपासनात्मक कर्ममार्ग का स्वरूप-समन्वय—

हीमन्त यज्ञप्रज्ञापति के गर्भ में (उद्भव ही) बार प्रतिमाप्रज्ञापति और प्रतिष्ठित है। "न चारों के ही आधिदैविक-आध्यात्मिक भेद से दो दो रूप हैं जैसाकि पूर्वपरिचोनों में से भवन्त के परिचोण से स्पष्ट है। कर्म-ज्ञान-के के वे ही रहेंगे। यदि आधिदैविक प्रतिमेश्वरी में से किसी एक की (उद्गीय की साम की बैरवानर की गायत्र की किसी भी एक की) अनुव्यता से पुनः होकर उपासक कर्म में प्रवृत्त रहता है तो यज्ञप्रतिमेश्वरोपासनात्मक यह भाग कर्ममार्ग कहाएगा एवं यही आधिकारिक आधिदैविक अचेतन-जीवोपासना (सूर्य-चन्द्रादि प्रकृतिवर्णोपासना) कहाएगी।

३८९-अष्टविध उपास्यव्यवस्था, अष्टविध-उपासनामाध्यम, एवं तन्निश्चयन अष्टविध उपासकवर्ग का तात्त्विक माध्यम से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

यदि आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरी में से किसी एक की (ध्यान की स्वर की पञ्चबैरवानर की प्रधान की विज्ञान की महाज्ञ की किसी भी एक की) अनुव्यता से पुनः होकर उपासक ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त रहता है तो तत्प्रतिमेश्वरोपासनात्मक यह भाग ज्ञानमार्ग कहाएगा एवं यही आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतन जीवोपासना (ध्यान-स्वर-भैरवानर-प्रधान आदि वर्णोपासना) कहाएगी। उन वर्ग केवल उद्गीय की अनुव्यता महापुनः अष्टविध आधिदैविक महापञ्चभैरवर, आध्यात्मिक महापञ्चभैरवर आधिदैविक भैरवर आध्यात्मिक भैरवर आधिदैविक भैरवर आधिदैविक भैरवर

आध्यात्मिक प्रतिमेष्टर 'न आत्' उपायों को शब्द में रखने वाले आत्मकर्म अथवा 'निष्कर्म ईश्वरकाम प्रवृत्तिकाम' 'निवृत्तिकाम' कर्मकाम ज्ञानकाम इन भाषों से कुछ उपायनामों के मागों में विभक्त हो जाते हैं ।

४००-अष्टविध उपायनामों से अनुप्रासित ज्ञान-कर्म-भाषों का समानानुबन्धन, एवं 'उपासना' का स्वरूप-समन्वय—

इन आठों में कर्ममार्ग विशेष है । ज्ञानमार्ग सामान्य है । कारण-सभी कर्ममार्गों में लोत्तय है एवं सभी ज्ञानमार्गों में लोत्तय का अभाव है । उत्तर-ज्ञान-कर्म-भाषों से उत्तर-आत्मनामों की सम्यक् स्वरूप प्राप्त हो जाती है । इस आत्मनाम-प्राप्ति का ही नाम उपासना है । और उपासना के पारमार्थिक से ही आठ मार्ग बन जाते हैं ।

वेदसिद्धा—उपासनामार्ग —

कर्मका	{ १-१ अज्ञातज्ञान-अध्यय-अकाम-अज्ञानमार्ग-विशेषः (अज्ञानमार्ग)	} बुद्धियोगा (उपनिषद्)
(ज्ञानम)	{ २-२ उदासीन-अध्यय-आत्मकाम-अज्ञानमार्ग-अभावः (बोली)	
(अध्यय)		

योद्धा	{ १-३ आधिदैविक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-विशेषः (महत्)	} महत्योगा (आत्मकर्म)
(महि)	{ २-४ आध्यात्मिक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-अभावः (महत्)	
(अज्ञान)		

ज्ञान	{ १-५ आधिदैविक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-विशेषः (उपनिषद्)	} ज्ञानकर्मयोगा (आत्मकर्म)
(कर्म)	{ २-६ आध्यात्मिक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-अभावः (बोली)	
(अध्यय)	{ १-७ आधिदैविक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-विशेषः (उपनिषद्)	
	{ २-८ आध्यात्मिक-अज्ञानमार्ग-अज्ञानमार्ग-अभावः (बोली)	

४०१-परमप्रजापति से अनुप्राणित 'ब्रह्मसत्य' तत्त्व, एवं तन्निबन्धना 'ब्रह्मसत्योपासना'

का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

उक्त आठो विकल्पों में से प्रकृत में अन्त के चार विकल्पों का यज्ञेश्वरप्रजापति से ही विज्ञानमाया के अनुसार ब्रह्मसत्येश्वर से ही सम्बन्ध है। इस यज्ञप्रजापति के ही ब्रह्मसत्य देशसत्य, वे दो रूप हैं जैसा कि 'यदस्य त्वं यदस्य च वेदेषु (केनोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राणमय स्वयम्भू आप्तोमय परमेष्ठी ब्राह्मण्य सूर्य्य अन्नमय चन्द्रमा अन्नादमयी पृथिवी पौधों की समष्टि ही 'ब्रह्मसत्य' है। परमप्रजापतिरूप सत्यवितस्तिअयत्नक पञ्चपर्वी यज्ञप्रजापति ही ब्रह्मसत्य है।

४०२-प्रतिमाप्रजापति से अनुप्राणित 'देवमत्य', एवं तन्निबन्धना-देवसत्योपासना'

का संस्मरण—

इस ब्रह्मसत्य के पार्थिव पर्व से सर्वव्यापि इन्द्र हिरण्यकर्ममूर्ति वायु, वैश्वानरमूर्ति अग्नि इन तीनों देवताओं की समष्टिकर प्रतिमाप्रजापति हैं। देवसत्य है जिस की कि उपासना का आगे के "वरानयुगान्तरात्-उपासनामार्ग" प्रकरण में स्वीकरण होने वाला है।

४०३-आधिदैविक-आध्यात्मिक-परमप्रजापति, एवं प्रतिमाप्रजापति-निबन्धना उपासना

चतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

आधिदैविक पञ्चपर्वी परमप्रजापति तो ब्रह्मसत्य है ही साथ ही इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला आध्यात्मिक पञ्चपर्वी परमप्रजापति भी ब्रह्मसत्य ही है। परन्तु आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति तो ब्रह्मसत्य का त्वं होने से ब्रह्मसत्य है ही साथ ही आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भी व्दरूप ही माने जायेंगे। इस प्रकार-आधिदैविक परमप्रजापति आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति आध्यात्मिक परमप्रजापति आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति मद स ब्रह्मसत्यात्मक परमप्रजापति के चार विवरण हो जाते हैं।

४०४-पर्वोद्धारात्मिका-आधिकारिक-अचेतनजीवोपासना-द्वयी का स्वरूप-समन्वय—

इन चारों में आधिदैविक परमप्रजापति की एवं आध्यात्मिक परमप्रजापति की उपासना तो यज्ञप्रजापत्युपासना कहलाएगी एवं आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति की तथा आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति की उपासना आधिकारिक अचेतनजीवोपासना कहलाएगी। आदि की दोनों उपासनाओं की मूलप्रतिष्ठा प्रजापति द्वारा कनेगा। और यह पर्वोद्धारात्मिका आधिकारिक-अचेतनजीवोपासनाद्वयी प्रकृतप्रतिष्ठा आधिकारिक-अचेतनजीवोपासना (अश्वत्थोपासना) की अपेक्षा भीष्ट कहलाएगी।

४०५-अश्वत्थोपासना, तथा पर्वोपासना के पार्श्वपर्यायनिबन्धन-स्थानभेदों का प्रासङ्गिक-समन्वय—

पाठों की मर्याद देना कि पूर्व में हममें यह विप्रतिपत्ति उठाई च कि- प्रकृतमायाका उपासना प्रकृत वा उपरहा करते हुए अश्वत्थोपासना की तीव्र स्थान दिया गया था एवं अचेतनजीवोपासना की भीथा।

परम सदा उत्तम योग्या का तीसरा एवं अन्तर्गततम ही योगी श्वाभ विवा मन् देम वदे । इति
विनिर्दिष्ट के विगठन के अन्तर्गत म् एतद्वत्ता उत्तमता के ए विवा परम ही के अन्तर्गत इति
मन् । इति म् २१ म् इति म् विनिर्दिष्ट पर परम ही सर्वोद्धारमिका अन्तर्गततमतामना अन्तर्गत
ही अन्तर्गत म् एतद्वत्ता ही अन्तर्गत ही तीसरा श्वाभ विवा मन् देम वदे । इति
योगी श्वाभ ।

४०६-प्रपञ्चोद्धारशून्या, प्रकृतिमात्रनिवर्धना-साक्षिणी-प्रादुर्भूति आदशाग्निश्च उदायना
का स्वरूप-समन्वयः—

अपत्यवर्धनशाला का दूसरा प्रकार है जीवाणुजनित । यह हम जगत्का वह अत्यन्त-बड़ा जीवोत्पत्ति है । अतिशुद्ध उदाहरण के रूप में आदर्शगृहा है । जो जीविक ईश्वरशाला का आवास है वह केवल प्रकृति की ही मूर्तमान्यता है । यह प्रकृति के वरुण आदिशक्ति के मूर्त-प्रमाण प्रकृतिक जीवों के आवास का नाम है । यह ठीक वही है जो वे प्रकृतिक जीवों के प्रकृतिवर्धन प्रकृतिक जीवों का केवल आवासप्रकृतिक (ईश्वरशाला) ही कहते हैं । आदर्शगृहा आदिशक्तिवर्धनशाला ही उदाहरण-अपत्यवर्धनशाला का दूसरा प्रकार कहलाता है । यह ही वे हमारे अपत्यवर्धनशाला की अपेक्षा बड़ा मान्यता है ।

४७-आदर्शमूर्ता लाङ्किर तपामना क लोहपाशों का लाङ्कनिर्दशन उपपत्ती-अनुप
पात्ती-दण्डिका—

इन आदिग्रन्थों के ज्ञान के भी ज्ञान कर्म में से ही प्राप्त होना चाहिये। जो लौकिक प्रभु मानवमात्र के सम्मुख का लक्ष्य में करने हुए सभी जातीय वैज्ञानिक आकाशवाणी के विज्ञान में लगे रहने हैं वे ज्ञानयन्त्र कहलाएंगे। जहाँ इन ज्ञानियों के (वैज्ञानिकों के) द्वारा आदिग्रन्थ अर्थव्यवस्था का लोकसम्मुख की दृष्टि में ज्ञान से प्रसार उपभाग करने वाले कर्मयोगी बनवाएंगे। इन आदिग्रन्थ के ज्ञानियों पराप्रसारक कर्मजनों का प्रत्येक देश में प्रत्येक स्थान में प्रत्येक जगत् में प्रत्येक आदिग्रन्थ और प्रसार लोकसम्मुख (विश्वव्याप्ति) के ज्ञान में बड़ी विश्वव्याप्ति ही प्रतीत है। हमारे आदिग्रन्थ दुष्टों का वधन करें कल्याण पर प्रतिकूल लगवें विश्वव्याप्ति में उपरुक्त बनें बड़ी लौकिक जनकर्मजनों आदिग्रन्थ-अर्थव्यवस्था-ज्ञानियों कहलाएंगे। और इसी परमाश्रय से वे लौकिक ज्ञानी (वैज्ञानिक) पराप्रसार भी परम्परा कायम के द्वारा विश्वव्याप्ति के पराप्रसार के ज्ञान से बनें हुए बनें न कुछ ही जाईगी—“साक्षात्परमाश्रयि मन्त्रयम कदा भूहि ।

४ अ-प्रकृतिविषय प्राकृत नष्टपना मानसो का स्वरूपतिष्ठत—

[illegible]

लोकांशु भन्ते हुए अक्षय ही प्रकृति के भी शत्रु हैं। प्रकृति का नाममात्र लेने वाले किन्तु प्रकृति के विरुद्धान्तिमूलक आदर्श से सवथा ही वञ्चित ये अमकामी अपना क्षणिक परितोष करते हुए अन्त में अपना लम्हा नारा ही कर बैठते हैं। विद्रि नष्टनचेतस । प्रकरण-सम्पन्न की इक्षि से बड़ा इसे उस धम्मक प्र दिया है। वस्तुतः इस का स्थान श्रीभी अवतारोपासना के अनन्तर ही समझना चाहिए।

४०६- 'वैदिक-प्रतिमोपासना' का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकृत प्रवृत्ति से बहुरूप कैवल्य बड़ी था कि-आध्यात्मिक पर्वोद्धारमूलक कर्मात्मक (आध्यात्मिक आध्यात्मिक) उपासनामार्ग आध्यात्मिक पर्वोद्धारमूलक ज्ञानात्मक (आध्यात्मिक बहुरूपमूलक) पौरोहित्य इन दो विधाओं को अपने गर्भ में रखने वाली उपासना ही वैदिक आधि-कारिक अचेतनजीवोपासना" (जिसे कि विज्ञानभाषा में हम वैदिक-प्रतिमोपासना कहेंगे) है। श्री अनेकप्रभापति की उपासना का प्रकारावलीयमक तीसरा प्रकार है।

—३—

४-आधिकारिक चेतनजोवोपासना [अवतारोपासना]— [विशुद्ध-पौराणिकी]

४१०-सर्वोच्चराज्यात्मिक बुद्धियोगात्मिक उपासना का स्वरूप-संस्मरण—

विशुद्ध अस्मयनिष्ठा से सम्पन्न रहने वाली बुद्धियोगात्मिक उपासना का चरित्रण सब से ऊँचा है। यहाँ अनुगमन करते हुए तो शास्त्रीय-अशास्त्रीय सब प्रकार के ज्ञान कर्मों का अनुगमन करता हुआ उपासक विवेकशुद्ध है। हम उपासना में शास्त्रमर्यादा पर विशेष बल नहीं है यहाँ तो केवल अस्मयान-यथा ही अपेक्षित है यदि वह है तो-“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को नियमः” और भगवान् ने अनुन के प्रति “निस्त्रैगुण्यो भवाजु न। ‘योगः कर्मसु कौशलम् —“स मे युक्तमो-मवाः —तस्माद्योगाय युज्यस्व” —“तस्माद्योगी भवाजु न। इत्यादिकम् स इति विद्वान् को ध्यानं रक्ता।

४१ बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का समन्वय, एवं उदाहरण की स्वयं-शास्त्रीयता, तथा तदनुषंधी रहस्यात्मक गुण-लोकशिवश—

गीता के उक्त सर्वोच्च विद्वान्त पर बलि गौरव बह आक्षेप करे कि अब शास्त्रविरुद्ध ज्ञान-कर्म प्रकृति के विरुद्ध हैं एवं प्रकृति के विरुद्ध जाना कभी अशुभ्य का कारण नहीं बन सकता तो इत लक्ष्य में हमें करना पड़ेगा कि अभी उन्हीं भगवद्विषया का मम नहीं समझ। 'बुद्धियोगी के लिए शास्त्रीय-अशास्त्रीय सब ज्ञान कर्म एक चरित्रण पर प्रतिष्ठित हैं। हमका तात्पर्य यही है कि ऐसा योगी स्वयं ही शास्त्र बन जाता है स्वयं ही प्रकृति बन जाता है। शम्भुसमाहारिका परिच्छिदा शास्त्रमय दा मे विमुक्त बगद्विचर का प्रत्येक ज्ञान-कर्म विलम्बकार लोभम्युरवका ही विद्रि होता है एवमेव बुद्धियोगी

की प्रत्येक चर्या से मृतमात्र का अभ्युदय ही होता है। यदि वह मरणपान करता है तो इतरों की कोई गुल लीन-
शिष्यता द्वारा कुछ है। यदि वह वह यदि कुछाचार करता है तो उसमें भी कोई आदेश ही प्रतिष्ठित है।
दूर जाने की वन्य आनन्दपकता है। तब ही बुद्धिबीजावर्धन श्रीहृम्भ की लीलाओं से ही तब कुछ तब
हो जाता है।

४१२—मगवान् कृष्ण की रहस्यपूजा सीलाप—

कृष्णजीलाओं में सुप्रसिद्ध “वीरहरखलीसा” — “रासलीला” इन ही लीलाओं पर आधारित है। लम्हामिनी पश्चिमोत्तर-पूर्व मोड़ी भारतीय समाज जग-मो-विरोधी करता है और बड़े सम्मान के साथ कहा जाता है कि, “कृष्णने कभी उक्त लीलाएँ नहीं कीं। मया जिस योगेश्वर ने गीता जैसे अमर ग्रन्थ में विश्व को बन्धना दिया वह किसी को बन्धन नही देगा एवं किसी के लय नही देगा वह ब्रह्म बुद्धिमान् माने जायेगा।” अर्थात् ही यह पुण्य की वीरलीलाभाव है।”

४१३-मगधान की मातुपी तनु, और तनुद्वारा स्त्री-शुद्ध-वैरपादि का अभ्युदय—

अतः, इन सभी लीलाखण्डों का विवेचन 'भीष्मखण्डविवेचन' नामक द्वितीय भाग में पठक हेतु है। यहाँ इस सम्बन्ध में बड़ी बुराई होना पर्याप्त होता है। मगधान् का अक्षर 'केवल' अर्थ—अर्थात् केवलभीष्म की बर्णना के अन्तर्गत के लिए ही नहीं होता। सम्भव है वे गीता के आदेश पर बहुत कुछ अन्तर्गत कर लें। परन्तु वास्तव में, शूद्र वर्ण पर आदि किन चीजों में शास्त्रनिष्ठा की अपेक्षा नहीं है। उन लक्षणों में अन्तर्गत अर्थात् है मगधान् की। 'अनुमहाय मगधान् मानुषी ब्रह्माक्षित' ही अक्षर का मुख्य तात्पर्य है। और इसी लक्षण की विधि के लिए मगधान् को बड़ी सर्वोच्च गीतायोग वस्तुमाना अर्थात् एक ही भाषा है बड़ी अन्तर्निष्ठा की बर्णना के लिए अन्तर्गत लीलाखण्डों में जो ग्रन्थ होना पड़ा है— 'मज्झिम निकाय' अर्थात् वास्तव में अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत'।

४१४-बीरहरण, रामचिहार आदि का स्वरूप-सुहेत-

समुदायप्रभु के निजानी श्रीपुण्यवर्मा प्रायः नम्र होकर समुदाय इवान करते थे। वह समुदायप्रभु श्रीवर्मा ने विद्विष्य मे प्रचलित थी। इस दुरित प्रवृत्ति के संशोधन के लिए ही चरितरत्नलीला हुई है। इस एक ही शिक्षा का समाप्त पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आगे के लिए वह बुरी प्रथा लुप्त हो गई। इसीप्रकार रामलीला "अमरनिमगृहिवास" के विषय प्रवृत्त हुई है—“अमरनिमगृहिवास” ।

४१५-परमहंस-बीजराग-योगियों के तमसाचारों का समन्वय—

मातृत्व कहन का बड़ी दुष्वा कि पहिले तो बुद्धियो से कीज आध्यात्मिक-बोधधरोत्री काव्य होय ही नही बरि उनसे धरे काव्य होय जान है। यो हमें मानना चाहिए कि आध्यात्म ही हमने भी कर्म पुत्र रह्य है। पुत्र आदेश है। स्वयं बंध न देखे परमहन्ताधिसी के अनुमत्याचार की लीलाधनुष-मूक मानते हुए उनका समर्थन ही किया है। दार्ष्ट—

(१) 'अथ परमहंसा नाम सर्वगत-आत्मनि-व्यक्तु-चङ्गरत-दृष्टान्तोप-गुरु-बामदेव
हारितक-समूहयोऽत्रा प्राप्ताभिरन्ता पागमार्गे (बुद्धियोग) भाषयन् प्रार्थयन्त ।

इदमूले, शू पगृहे, रमशानवासिनो वा, साम्बरा वा दिगम्बरा वा न तेषां
धम्माधर्मो, ज्ञानाज्ञानो, शुद्धाशुद्धौ, द्वैतवर्जिताः, समलोपारमकाश्च ना, सवश्रत्मे
वेति परयन्ति”

—मिथुकोपनिषत्

(२)—तत्र परमहसा नाम संवर्षक-आरुणि-श्वेतकेतु-दुर्वास-श्वश्रु-निदाव-जडमरत-
दक्षप्रियै रैवतक प्रभृतय अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताकारा, अनुन्मत्ता, उन्मत्तवदा
चरन्त, त्रिदण्डं, कमण्डलु शिख्यं पात्र, लक्षपत्रि, शिखां, यज्ञोपवीतं च- इत्येत-
त्सर्वं ‘भूस्वाहा’ इत्यप्यु परिस्फुर्य आत्मानमन्विच्छेत् ।

—आबालोपनिषत्

४१६-ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगात्मिका शास्त्रीय-योगत्रयी से अनुपाखित ‘अधिकारीवर्गों’
का स्वरूप-समन्वय, एवं समानाधिकार-मूला गीता की बुद्धियोगनिष्ठा का
संस्मरण—

शास्त्रीयमार्ग (शास्त्रीय आद्यरोपात्मिका राक्षयोगात्मक-भक्तिमार्ग मन्त्र-सह-इत्ययोगात्मक भक्ति-
मार्ग यज्ञानतपोव्रतस्य कर्ममार्ग नैऋत्यकाण्ड कर्ममार्ग) अधिकारमर्यादा की अपेक्षा रखते हैं । वर्या-
मनवर्मानुयायी द्विजातिवर्ग ही शास्त्रीय-योगत्रयी (भक्ति-कर्म-ज्ञान-योगत्रयी) का अधिकारी है ।
स्त्री-शूद्र-श्लेष्मादि को इन मार्गों में प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं है क्योंकि “कर्मयोगपरीक्षा” प्रकर
छान्दोग्य वराहमिहिरादिज्ञान में विस्तार से बताया जा चुका है । परन्तु अव्ययमूला बुद्धियोगनिष्ठा
का आद्य-अत्रि-वैश्य-शूद्र-स्त्री-श्लेष्मादि इतर पापयोनियों को समी को समानाधिकार है ।
इत लम्बव में भी शास्त्रनिष्ठ मगवान् की दृष्टि से यह संशोधन का ही लेना चाहिए कि अव्ययनिष्ठमूलक
शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगों का तो एकमात्र द्विजातिवर्ग का ही अधिकार है । अतएव इन्हें
अव्ययनिष्ठ का अनुगमन करते हुए भी वर्णोचित शास्त्रीय-निष्ठियों पर ही व्यवजीवन प्रतिष्ठित
रहना चाहिए ।

४१७-स्त्री-शूद्र-वैश्यादि-अनुगता प्रकृतिसिद्धा कर्मविधूति एवं सर्वद्वारा तद्वर्गों की
अभ्युदय-निधेयस-संमिद्धि—

इतर-शूद्र-स्त्री-पापयानि आदि के को प्रकृतिसिद्ध सेवा, गृहस्थपरिपालन वैराग्यकृतकर्म
मर्यादा निवर्तक कर्म हैं उनके अनुगमन से अव्ययानन्यता के द्वारा उद्धार मुक्त है । इन्हें इन्हीं अव्ययानन्यता
से बरी फल मिल जाता है जो कि फल शास्त्रनिष्ठ द्विजाति बुद्धियोगी को मिलता है । दोनों समानरूप से
“परामर्श” (अव्ययगति) के अधिकारी हैं । और इन्हीं दृष्टि से सर्वमूल्य या वह अव्ययनिष्ठ द्विजा
बुद्धियोगनिष्ठा तब के शिष्य उपकार प्रसिद्धा बन गयी है । इन्हीं मार्ग का गृहीकरण करते हुए मगवान्
करते हैं—

‘मां हि पार्थ ! व्यपाधित्य यऽपि स्यु पापयोनय ।
स्थियो वैरयास्तया शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्रह्मिण्या पुण्या मक्ता रात्रपयस्तथा’ ॥

४१८—बुद्धियोगनिष्ठ धर्मव्यापादि की प्रकृतिसिद्धा नियता कम्मलुगति, एवं क्लृप्ता महती संसिद्धि का संस्मरण—

धर्मव्यापादि शूद्रमहाभाग स्वधर्म में मिरत रहते हुए इसी बुद्धियोग के अनुग्रह से मुक्त हुए हैं। अनन्यनिष्ठ निपाद् सीसानी कुम्हा, मीठा कबीर सन्त मुम्हा, मल्लिकार्जुन आदि की बुद्धियोगानन्वय गुणमिष्ट ही है। ‘एवो भरतो, गार्गी आदि धर्मोपा-निबन्धों के नाम स्मरण से भी कीन अपने को बन्त नहीं मानता ?’ ‘उपधार गान्धीय दुस्तर, बहुचरित्र-अभिचार-मध्यमा के सर्वत्र निवर्तित ज्ञान-कर्म-यक्ति-योगों से सर्वथा स्वच्छ रह बुद्धियोग का अनुममन आश्रम-आश्रित्यन सदा की निवेद का लक्षण है। और इन सर्वोत्तम धर्मों के आश्रित-उपदेश का एकमात्र ज्ञान गतिवार्ध भगवान् ब्रह्मदेव जीहृष्य के गीताश्रित को ही मिला है। परन्तु...

४१९—युगप्रज्ञापत्यलुगता अवतारोपासना का समयन एवं युगधर्मनिवन्धन-आपात-निवृत्ति-मार्गों की लक्ष्यपुति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही परन्तु व्यपाधित्य से क्लृप्त से रहने वाली बीपी ‘अवतारोपासना’ का समयन है। जिस बुद्धियोग में न काममात्र ही, न निष्काममात्र ही, हो तो केवल लक्ष्यमात्र अधिक से अधिक धर्म-काममात्र वितर्क सम्कल्पानुष्ठान के लिए सर्वलुप्त निगुण अवस्थाया या परिज्ञान अवस्थित हो, सम्पूर्ण स्त्री-शूद्र-वैश्यों की कीन की, ज्ञानाविष्मय ब्राह्मण-जतिन का के लिए भी यह योग एक बलिष्ठ सम्पदा का लक्षण है। इसकी इतिवृत्त का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, वैष्णव से आरम्भ कर आज पर्यन्त परिगणित [रिने लिने] महापुरुष ही ‘न में उल्लास प्राप्त कर लगे हैं। वृत्त प्रमाण यही है कि, जनजातम में इस योग का प्रचार बहुत ही कम रहा है। महापुरुष जैसे विद्यावैभक्तता में भी यह योग किण्वत था। फिर आज के उत दुन की ही कथा ही की है, बर्हा शास्त्रानुमित मन्त्रमणि स्वायत्तवर्ण से व्यक्ति भी, जिन्हें वैदिक-जन्तु-प्रयोग-अ लकी का लेश भी परिज्ञान नहीं है निगुण उपासना का किमिदमर्थ्य करते हुए लब्धा का अनुभव नहीं कर रहे।

४२०—बुद्धियोग की अद्विष्टता का स्वरूपोद्घाटन सुगमतम भी बुद्धियोग की युगधर्म-व्यामोहनानुगता महती अद्विष्टता, एवं अवतारोपासना के माध्यम से तद्विराकरय प्रपाम—

इसका यह लक्ष्य ही नहीं है कि बुद्धियोग एक महाबलिष्ठ मार्ग है। अद्विष्ट-प्रवृत्ता काकरय है परन्तु मार्ग तो अद्विष्टाव सुख ही है। पाँच अन्तःसम्पत्त की अपेक्षा है। यदि वह दुस्तरमार्ग होना तो

इसके लिए अतद्विषय से भगवान् के मुख से—“येऽपि युः पापयोनयः—“अपि चत् सुदुराचारः
ये चरन् नही निकलते। बुद्धियोग अटिका पक्ष है अथवा सुगम ? ” उस प्रश्न की मीमांसा आगे आगे
वासे “बुद्धियोगपरीक्षा” प्रकरण में की जाने वाली है। अतः वहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो
हमें यही निवेदन करना है कि स्वस्वरूप से सुगमतम रहता हुआ भी बुद्धियोग सामयिक प्रवाह के द्वारा एवं
अवस्थित त्रिगुण-विस्तार के द्वारा भिन्नहृतम बना लिया जाता है। जैसे बिना आत्मस्वरूप के (उत्तम सुखम तत्त्व
के परिचय के भी) बुद्धियोगनिष्ठ प्राप्त की वासकरी है और अवश्य ही वासकरी है। फिर भी यह तो मानना
ही पड़ेगा कि मानवसमाज के बुद्धियोग से एक रहस्यमय बटिल समस्या बनता हुआ ही बुद्धियोग स्त्री-शूद्र
पापबैतियों को बन्धित रख देता है। द्विजातिवर्ग बिना भी बुद्धियोग के शास्त्रनिष्ठ मक्ति-ज्ञान-कर्म-योग में
निष्कामभाव से प्रवृत्त रहता हुआ परम्पराया बुद्धियोग प्राप्त करता हुआ (वहामि बुद्धियोगं तं येन मामु-
पयान्ति ते) मुक्त होसकता है। परन्तु जिन स्त्री-शूद्र-पापबैतियों को न तो सम्मन्वित परिस्थितियों से
बुद्धियोग का परिचय है एवं न ही शास्त्रनिष्ठ योग्यता के आचरण का ही अधिकार है इन के अन्य-
दय का भोजन का उपाय ? वह इसी प्रश्न का समाधान है—अवतारोपासना—“पौराणिक
मार्ग”।

४२१—“द्विजबन्धु” स्वरूप दिग्दर्शन, अनिपथ में अनधिकृत द्विज-धु-आदि वर्ग, एवं
तदभ्युदयानुगत पौराणिक-अवतारोपासना-पथ का संस्मरण—

ऐसे क्षत्रिय-भो जन्म से मूल रहे हैं ऐसे ब्राह्मण-भो विद्यारूप हैं ऐसे वैश्य-भो अर्धकुलजक में बन्ध
विषय बन कर आत्म-परमात्म-विवेक से बन्धित हैं “द्विजबन्धु” कहलाए हैं। ये द्विज नहीं हैं अपितु द्विजाति
के मार्ग बन्धु हैं अर्थात् नाममात्र के द्विजाति हैं। द्विजबन्धुताबल ऐसा द्विजातिवर्ग अविद्याधरा एवं
स्त्री-शूद्र-पापबैतियोग अनधिकृतधरा शास्त्रीय योग का अनुष्ठान करने में असमर्थ है। वृद्ध शब्दों में—
प्रतीकमत पूर्वक आठों शास्त्रीय उपासनामार्गों से अपरिचित है। इसी के अभ्युदय के लिए भगवान्
आत्मेव की अनुश्रुति से पुराण एवं उत्पत्तिपाथ अवतारोपासना का जन्म हुआ है जिसके कि तन्मय में
निम्न स्थित व्यक्ति मुप्रसिद्ध है—

“स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धुनां त्रयी न भुक्तिगोचरा”।

४२२—‘त्रयी न भुक्तिगोचरा’ का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं भुक्तिप्रमाणाधारण
प्रतिष्ठित पुराणशास्त्र के प्रामाणिक पथ का संस्मरण—

तत्त्वतः यह बड़े ही जोर का विषय है कि, हम अपनी मूर्खता से महर्षियों के उपधार के प्रति कृतज्ञता
प्रकट करने के स्थान में कृतघ्नता प्रकट करते हुए आज अपना जन्माश्रय ही क्या रहे हैं। मनोवृत्तियों मानुष
मनव कहा करता है कि क्या कैद ईश्वरीय ज्ञान है तो मनुष्यमात्र को उसका अधिकार क्यों नहीं ? क्यों स्त्री-
शूद्रों को वेदमार्ग से बन्धित रक्ता जाय ?। इस तन्मय में यही प्राणिक स्त्रीधरा पर्याप्त होगा कि
अधिकारी-भेद की मर्यादा के आचार पर ही प्रवृत्तिमय प्रतिष्ठित है। ईश्वरी-मननरूप वेदशास्त्र में केही
योग्यता का विधान हुआ है यदि हमला उन्हें योद्धा भी आमात्र हीमाना तो सम्भवतः वे “स्त्रीशूद्रों ना-

का एक महलोक, अमृत सूय इन तीनों की समष्टि ही कव्वसी त्रैलोक्य है एवं इस के अधिष्ठाता विष्णु है। मर्त्यसूयस्वर्ग स्वर्गलोक, चन्द्रात्मक सुखलोक पृथिव्यात्मक भूलोक तीनों की समष्टि ही रावसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता महेश किंवा महादेव है।

४२७-प्रकृतिदृष्टि एवं शुक्रदृष्टि-से अनुप्राणिता दृष्टिप्रयी, और तदनुगत ठमय-
दृष्टि-समन्वित त्रैलोक्य-त्रिलोकी के त्रिविध देवता, एवं त्रिनेत्र महोदेव' रूप
'महादेव' का सस्मरण—

ब्रह्मा प्रकृतिदृष्टि से प्राणमय है, शुक्रदृष्टि से वाह्मय है। विष्णु प्रकृतिदृष्टि से आपोमय है, शुक्र-
दृष्टि से वाक्-आपोमय है। इधर महेश्वरत्व प्रकृतिदृष्टि से वाक्-आप्त-आमायमय है एवं शुक्रदृष्टि से वाक्-
आप्त-अग्निमय है। इसी दृष्टि से ब्रह्मा विष्णु में वहाँ एक और दो कलार्थ हैं वहाँ महेश म तीन कलार्थ
हैं। इसी महेश से वे तीनों में 'महादेव' कहाते हैं। 'महोदेवां मर्त्या आभिवेशा' के अनुसार ह्यम
मूर्ति और इन्द्रप्रधान महेश्वर ही महादेव हैं। ब्रह्मा-चित्तपति है, विष्णु दृष्टपति है महादेव भूतपति
है। ब्रह्मा-विष्णु दोनों अव्यक्त हैं। इन दोनों अव्यक्तों का लिङ्ग (परिचायक) व्यक्त महेश्वर ही है।
व्यक्त ही तो अव्यक्त का लिङ्ग बनता है। इसी आधार पर महादेव की उपासना लिङ्गरूप से ही की जाती
है। मर्त्यसूय महादेव का एक नेत्र चन्द्रमा दूसरा नेत्र पृथ्वी अग्नि तीसरा नेत्र। यही त्रिनेत्र
महादेव है।

४२८-उत्पादन-पालन-मंहाराधिष्ठात्री देवताप्रयी त्रिगुणात्मिका देवताप्रयी, एवं
मदन्तुर्त्तमी-महाकाली-महासरस्वती-रूपा शक्तिप्रयी का पावन-सस्मरण—

वात्सल्य यही हुआ कि, ब्रह्मा एक स्वतन्त्र देवता है। विष्णु इन्द्र की समष्टि विष्णु है एवं इन्द्र-
अग्नि-साम की समष्टि महेश है। इसप्रकार वैदिक-पञ्चदेवता के आधार पर ही (उपासना की निधि के
लिए) पुराण का विवेकान्त रचाया हुआ है। पुराणक अनुसार ब्रह्मा विरचक उत्पादक है विष्णु-
पालक है महादेव संहारक है। "त्रयीमयात्र त्रिगुणात्मने नमः"। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान है, विष्णु
रजोगुण है शिव तमोगुण है। तीनों की महासरस्वती महास्तवसी महाकाली ये तीनों शक्तियाँ ही
ज्ञान-अर्थ-काम-बल का संस्थापन कर रही हैं। ब्रह्मा-काल में विष्णु ही महास्तवसी का साम्राज्य है।
शक्ति में ही ही महाकाली की सत्ता है। एवं अग्नि में ब्रह्मा ही महासरस्वती व्याप्त है।

संछी- { १-उक्तोक्तः शब्दचक्रमेव (नवमः)
 २-उक्तोक्तः-शब्दचक्रमेव (०)
 ३-उक्तोक्तः-शब्दचक्रमेव (नवमः) } ---महा

उक्तोक्तः { १-उक्तोक्तः (शब्द-शब्दमेव) (नवमः)
 २-उक्तोक्तः (शब्दचक्रमेव) (०)
 ३-उक्तोक्तः (शब्द-शब्दमेव) (नवमः) } ---विष्णुः

उक्तोक्तः { १-उक्तोक्तः (शब्द-शब्दमेव) (नवमः)
 २-उक्तोक्तः (शब्द-शब्दमेव) (नवमः)
 ३-उक्तोक्तः (शब्द-शब्दमेव) (नवमः) } ---महा

१-उक्तोक्तः-शब्दचक्रमेव (नवमः)
 २-उक्तोक्तः-शब्दचक्रमेव (नवमः)
 ३-उक्तोक्तः-शब्दचक्रमेव (नवमः) } ---महा

४२६-‘अवतार शब्द की त्रिधा व्याप्ति, एवं तन्निबन्धन-त्रिविध अवतारवर्गों का पावन संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासना-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अवतारविज्ञान के अनुसार हम अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार सामयिक मनुष्यविक अवतार समयविक अवतार इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। उक्त प्राकृतिक-तीनों देवताओं (ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर) को पञ्च कूर्म-वराह, गणपति शक्ति, आदि अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार कहा जायगा। वामन-कूर्म-वराह-शक्ति आदि अवतारों को समयविक अवतार कहा जायगा। नृसिंह-राम-कृष्ण-परशुराम-इन्द्रजित आदि अवतारों को सामयिक मनुष्यविक अवतार कहा जायगा एवं इन तीनों ही अवतारों को आधिभारिक चेतनजीव माना जायगा, और इन तीनों की ही उपासना पौराणिक उपासना कहा जायगी। तीनों में से नित्यप्राकृतिक अवतारों की तथा समयविक अवतारों की उपासना का प्रचार ही स्वयं के में ही यशस्व वरकर्म के ब्याप से निरूपित है। एवं तीनों मनुष्यविक अवतारों की उपासना का पञ्च-मोक्ष प्रसिद्ध पुराणशास्त्र एवं उदुत्तुगामी नारदपञ्चरात्र संहिसूत्र आदि ही हैं। इन अवतारोपासनाओं का क्या प्रकार है! यह वक्तु शास्त्रों से ही जानना चाहिए।

४३०-द्विधातिर्गालुबन्धिनी-अवतारोपासना, एवं स्त्री-शूद्र-वैश्य-वर्गालुबन्धिनी-अवतारोपासना का स्वरूप-समन्वय —

ही इस सम्बन्ध में एक विवेक अवश्य ही कर लेना चाहिए। द्विधबन्धुल्लङ्घ्य द्विधातिर्गालु स्त्री शूद्र प्रमुखत्वेन इन तीनों के आश्रय के लिए ही अवतारोपासना का निबन्ध हुआ है। इनमें नित्य-प्राकृतिक अवतारों की उपासना द्विधातिर्गालु से सम्बन्ध रखती है। आगमशास्त्रोक्त उपासना के विभिन्न मार्ग हैं शैव-शाक्त-स्मार्त-मन्त्रिक-तान्त्रिक-आदि विभिन्न भी प्रचार हैं उन सबका नित्य प्राकृतिक अवतारोपासना में ही अन्तर्भाव है। और इसका विशेष अधिकार द्विधबन्धुल्लङ्घ्य का ही है। यदि निष्काम भाव से वे इन उपासना में प्रवृत्त होते हैं तो तबही ब्रह्मविज्ञान के द्वारा तत्त्वबोधोक्त उच्च भिन्न भिन्न है अन्तः। पुनरुत्थन भी नहीं होता। तत्त्वमस्य में सिद्धिमात्र के कारण करते हुए वे ही उपासनामार्ग अपारम्परिक पद्धति के ही कारण बने हुए जाते हैं।

४३१-मनुष्यविक अवतारोपासना का अधिकारी वर्ग एवं इत्थंभूता सर्वसामान्यानुगता अवतारोपासना के नियन्त्रणासम्प्राप्त सामान्य पथों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्त्री और शूद्रवर्ग, समयविक अवतारोपासना के विशेष सामयिक मनुष्यविक अवतारोपासना के अधिकारी हैं। इस उपासना में निगमागमपद्धतियों का कोई निष्कर्ष नहीं है। पूर्वोक्ता अवतारोपासना में ही आगमीक्षा पद्धति का यथार्थ अनुगमन करने में ही लक्ष्यता भिन्न लक्ष्यता है। परन्तु इस दूसरे प्रकार में वेद निबन्धन नहीं है। केवल अवतारपुरुषों की लीलाओं का अभिनय (रामलीला-कृष्णलीला-नृसिंह लीला-पराशुराम-वामन लीला-मत्स्यनारायणलया-अवतार-नामसंकीर्तन-महाशरीरव्रत-पञ्चमीपूजन-अरिष्टनाशन-तीर्थगमन-इन्द्रजित-आदि रूप से) एवं अनुगमन ही इस उपासना का मुख्य प्रचार है। यथार्थमात्र में आत्ममुक्ति है, निष्कामभाव में आत्ममुक्ति है। इसी भाग का- यज्ञत वाटरो- श्रीका

या अस्मात् तन्परो मयम्' इन शब्दों में अभिनव हुआ है— न कहना न होगा कि अवतारोपासना का यह स्मरतम मार्ग भी हमारे दोष से आब सजपा ही निकल बन चुका है। इसी विह्वल होकर ही वीरशिरी उपासना से कुछ बन हुए एक * महानात्मा के एवंविध लक्ष्य उद्गार हैं कि—

धित्रमक्ति में जब तल्लक उपासना दुख पाती ।

तब तक बारी हाथ क्यों समय की आती ॥

झेलो की हा छपी रामलीलाएँ आती ।

साधुरीति का नाम नसाती सीधे हटाती ॥

—बालुवर्षविराजा

४३२—लौकिक अवतारोपासना से अनुशोषित तीर्थ-देवमन्दिरादि के अनाचार, और दुराचार, तथा वर्त्मशोधकों के द्वारा मूलनाश का प्रयास—

तीर्थों के अनाचार देवमन्दिरों के दुराचार एवं कर्त्तव्य से वञ्चित करने वाला, लाकसराज्यादिमूलक नामसंकोचन आदि विनीतिशास्त्रों से वञ्चित उपासनामार्गों की बेनी दुर्दशा कर डाली है उन्हे वीर भागीरथ दुःखी न होगा ।। जब ही अनाचार का नाश करने के लिए उद्यत उन तुषारों की कुबुद्धि भी कित के हृदय में दृढ़ उत्पन्न नहीं कर देगा बरेपी जो रंग के लक्ष रंगी के ही वर्त्मनाय के लिए भी वञ्चित होकर हैं । संशोधन अक्षय अपेक्षित है परन्तु मूल की रक्षा करते हुए ही ।

४३३—मूलसरसशास्त्रिका दोषनिवृत्ति-व्यति की ही समादरणीयता—एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन—

देवमन्दिरों के दुराचार बंद करना है परन्तु देवप्रतिमाओं की वञ्चन नहीं करना है । लोनाचरियों की रक्षा करते हुए, इन रक्षा के द्वारा लोकमार्ग की उपस्थित रखते हुए ही हमें विह्वल वीरशक्ति उपासनामार्ग का संशोधन करना है । और ऐसे मूलसरस तथाचन ही मास्कोरस का रक्षक है ।

४३४—लोकसुप्रदात्मक-परायसाधनामन्त्रित पौराणिक-उपासनापथ, तथा लोकसुप्रद शून्य-कैवल्य म्नायममाधक-पौराणिक भक्तिमार्ग—

उक्त तीनों अवतारोपासना-प्रकारों में से निष्काममात्रयुक्त द्विजातिभक्त सम्प्रदाय की आगमशास्त्राक्त नि य प्राकृतिक अन्ताराधनामक निष्कामभावयुक्त वैष पद्धति प्रकार लोकसुप्रदात्मक बनता हुआ निष्कामकर्मयोग है एवं उभयविध अवतारोपासनामार्ग एवं समुपविध अवतारोपासनामार्ग श्री गुरुबगानुबन्धी उपासनामार्ग लोकसुप्रदसं वञ्चित हुआ हुआ, अगम्य कथल स्थायमूलक बनता

सर्वसंग्रह —

१-उपनिषत्सिद्ध उपासनामार्ग (बुद्धियोग) — (अन्वयोपासना-निर्गुणा)

१-अद्वैतसिद्धि-उपासनामार्ग — बुद्धियोग (कर्मयोग) } देवयुगानुगता-उपासना
१-उपनिषत्सिद्धि-उपासनामार्ग — बुद्धियोग (बुद्धियोग) }

२-आचार्यसिद्धि-उपासनामार्ग (भक्तियोग-अक्षरोपासना-सगुणा-
बोधशीलप्रजापतिः)

१-आचार्यसिद्धि-उपासनामार्ग — भक्तियोग (कर्मयोग) } देवयुगानुगता-उपासना
२-आचार्यसिद्धि-उपासनामार्ग — भक्तियोग (भक्तियोग) }

३-आचार्यसिद्धि-उपासनामार्ग (कर्मयोग-ज्ञानमार्ग-आत्मबोधोपासना-
सविद्यारा-यज्ञप्रजापतिः)

अक्षरवैरोपासना	{ १-आचार्य अक्षरवैरोपासना-बुद्धियोग (कर्मयोग) २-आचार्य अक्षरवैरोपासना-बुद्धियोग (भक्तियोग) }	देवयुगानुगता-उपासना
आचार्यसिद्धि	{ १-आचार्य अक्षरवैरोपासना-कर्मयोग (कर्मयोग) २-आचार्य अक्षरवैरोपासना-ज्ञानयोग (ज्ञानयोग) }	
आचार्य वेदनवीरो	{ १-निर्वाणवैरोपासना-बुद्धियोग (कर्मयोग) २-निर्वाणवैरोपासना-भक्तियोग (भक्तियोग) }	देवयुगानुगता-उपासना
पुरुषपुत्रोपासना	{ १-वैद्यमार्ग-उपासनामार्ग ज्ञाननिष्ठविद्यामार्ग, विद्येवैरोपासना २-आचार्यसिद्धि-उपासनामार्ग अक्षर-विद्यामार्ग ३-वैद्यमार्ग-उपासनामार्ग-वैद्य-विद्यामार्ग-वैद्यमार्ग }	

इति-“युगपन्मानुगता-विधिपोपासना” नामके चतुष्टयप्रकरण
“पुराणयुगानुगता-विकारोपासना”
नामके
तृतीय-अध्याय-प्रकरण-उपरत

हृत्-“युगधर्मानुगता-विविधोपासना” नामके चतुर्थप्रकरणे
“पुराणायुगानुगता-विकारोपासना”

नामक
तृतीय-अध्याय-प्रकरण-उपरत

३

(४) दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना से अनुप्राणित-पारिवायिक-परिलेख—

“वैकारिकक्षरोपाना”-(विराट्प्रजापति-प्रतिमेश्वर)

अर्थानुगत-आराधनात्मक कर्म-एव-उपासना

अर्थात्मिका-मर्त्यशुक्रमयी

वैकारिकी-देवोपासना-प्रतिमेश्वरोपासना-स्वात्मात्मिका

मर्त्यवाङ् मयी-उपासना-आत्मपञ्चात्मिका

१-मर्त्यावाक्-विरचम्

२-मर्त्यापि

३-मर्त्याग्निः

विरवेदेवाः

‘विकारचर’-‘सदिदं’ विकारविषयम्-मर्त्यवाग्निविषयमेव

(सैषा अञ्जनोपासना-देवोपासना वा-अर्थात्मिका)

स एष-आराधनात्मकेन कर्मणा-अनुगमनीयः

‘अनुगमनं’ नाम-प्रणतमावेनात्मसमर्पणम्

तत्पञ्चानुसरणं वा

सैषा-स्वात्मात्मिका-उपासना-कर्मैव

चतुर्था

— ४ —

(सोऽय-दर्शनयुग-चतुर्थ-द्वापरयुगात्मक)

१-मर्त्यशुक्रात्मिका वाक्

२-विकारचर

३-अर्थ

४-वाक् (मर्त्यशुक्रमयी)

तदेतत्-सर्वं वागेव-विकारचर एव-वैकारिक

(विकारो हि-विकारचर)

दर्शनयुगानुगत-वैकारिकोपासनामार्ग चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण

४

२७-अज्ञान, विद्वद्ज्ञान, तथा अर्द्धज्ञानमूलक विवाद-पास्तखंड से सन्ध्यास्त्रों का अभिमिश्रण, एवं सन्देहनिवारक शास्त्रों की सन्देहशीलता का दिग्दर्शन—

“हरित भूमि वृक्ष संकुल समुद्रि परे नहि पन्थ विमि विवाद पास्तखंडें छुप्य भये सव्मन्त्र”
यह कलावी-चुकि के अनुसार अज्ञान विद्वद्ज्ञान अर्द्धज्ञानमूलक हमारे विवाद और पास्तखंड-दोष से सब सम्बन्ध विच्छिन्न होगा है किन्ता सम्बन्ध छलछद्म बन गए हैं । “इवमित्यमेव”-“य एवेव-मदि ज्ञातु” इस निश्चित मर्यादा से बहिष्कृत होते हुए वे सम्बन्ध संशयनिवृत्ति के स्थान में संशय के ही कारण न रहे हैं । ‘वा’ ‘वा’ [इव वा इव वा] भाषा मक इवी संशय ने महर्षियों की वाचाशुद्धा बौद्धिकी का बरस आब झिड़क कर दिया है । और इस का एकमात्र दोषी है ज्ञान का पित्र-ज्जाब । और इस के इस दोष का मूल कारण है-वैदिक साहित्य का तिरस्कार ।

४३८-असंदिग्ध-निर्धार्यक वेदशास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम, एवं व्यबच्छेद-दृष्टि का अभिमिश्रण—

वेदशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो हमें व्यबच्छेद के द्वारा निश्चित असंदिग्ध निर्धार्य पर पहुँचाने की क्षमता रखता है । यदि हम वैदिक विज्ञान की मूल में रख कर बौद्धिकी का विचार करते हैं, तो हमारे सभी अन्वेष्ट शब्दप्रवृत्ति विहीन होजाते हैं । व्यबच्छेददृष्टि हमें एकमात्र वेब से ही मिल सकती है । और इस दृष्टि को धाम्य करते हुए ही क्रमपाठ साधनविराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली विभ्राह्मरोपा-सना का संक्षिप्त स्वल्प उपासकों के सम्मुख रखना चाहिए है ।

४३९-आत्मशरीरनिबन्धना उपासना के साथ विकारशरीर-निबन्धना उपासना का समतुलन, एवं पौराणिक-उपासना-यथ से समतुलितता दार्शनिक-उपासना-नुगता विराट्प्रजापति का संस्मरण—

यही स्वल्प आत्मशरीरमक सबिकारशरीरप्रजापति की उपासना का है । साथ: यही स्वल्प इस विकार शरीरपासना, तथा विराट्प्रजापति का है । केवल नाममात्र में अन्तर है । ब्रह्मवापस्युपासना का

निष्कामभाव से सम्बन्ध है एवं इस विराट्प्रज्ञास्वभावा का "सकलमभाव" से सम्बन्ध है। यह उपाध्याय पौरोहित्य उपासना का ही रूपान्तर है। ऐसी वस्तु में कथि इसे भी "पुराखमुगानुगत उपासनामभा" ही कहना चाहिए था। परन्तु इन मार्ग में आगे जाकर "तत्त्वमसि" का भी व्यापार हो गया है एवं इस तत्त्वमसि का रहस्यमय से ही सम्बन्ध है अतएव इसे "हरानियुगानुगत-उपासनामभा"—इस अन्तिम से समन्वित मान लिया गया है।

४४०—विराट्प्रज्ञापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप स अनुप्रासित विराट् के पारिमासिक स्वरूप का पावन-संस्मरण—

यह विराट्प्रज्ञापति की विराट् है जिस का गीता में मगवान् के द्वारा साक्षात् रूप से प्रदर्शन हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस का त्रिगुणमात्रमयी विश्वानिमित्त प्रकाश संनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विराट् वह विराट् है जो तत्त्वज्ञान सहायक तत्त्वज्ञान रूप से मूर्ति पर प्रतिष्ठित हो गया है। यह विराट् वह विराट् है जिस के अग्नि-वायु-इन्द्र गणपत्य, चिच्छन्द, आह्वनीय, इस रूप से १-२-१० के विविध रूप हैं। यह विराट् वह विराट् है जिस का महापुरुष रूप ॥ तत्त्वतत्त्वक जैशोक्त में विस्तार हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस का स्वरूप "तत्त्वतत्त्वतत्त्व का पक्षी पुच्छमेक प्रतिष्ठा" रूप से तत्त्वतत्त्व-पुच्छमेक प्रजापति से सम्बन्ध हुआ है। यह विराट् वह विराट् है जिस की मूलमहिम्ना पूर्वोक्त तत्त्वतत्त्व का अन्तिम पर्यय धर्मवैतल्य का अन्तः नामक तत्त्वतत्त्व है।

४४१—विराट्प्रज्ञापति के विविध महिमामात्रों का पारिमासिक संस्मरण, एवं तत्त्वतत्त्व विराट्-प्रज्ञापति के नैगमिक-स्वरूप का दिग्दर्शनोपक्रम—

यह विराट् वह विराट् है जो मोक्षानुप्रास का निरासी साक्षी बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है जो अमर्त्यकार विश्वप्रकाश के वासि-वायु-मोक्ष-निर्वाण की व्यक्त्या बिना बना है। यह विराट् वह विराट् है जो हमारे शुभमम-गण-पुण्य-कर्मों का दर्शक (साक्षी) बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है जो वैदिकवेद से उक्तवैतल्य (तत्त्वतत्त्वजैशोक्त) में विराहित है। यह विराट् वह विराट् है जो पारिव प्रकाश की अमनार्थ पूर्ण किया करता है। यह विराट् वह विराट् है जो पापतमा पुत्रात्मा दोनों पर अमन अनुमद रहता हुआ पुत्रात्मा की पुत्रकर्मों के लिए, एवं पापतमा की पापकर्मों के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। यह विराट् वह विराट् है जोकि वैश्वमात्र के कारण अमन-निगम शाली में—'वैश्वतत्त्व' नाम से प्रसिद्ध है। मातृजन तत्त्वमसि-मूर्ति अमनपूर्वक अमनविश्रुता इसी विराट् प्रज्ञापति की उपासना विकारदोषासता है और महत्त्व प्रकरण इसी के दिग्दर्शन कराने के लिए महत्त्व होता है।

४४२—विश्ववस्तुकोनदृष्टि-निर्वाचन विराट्-स्वरूप-संस्मरण—

कथि पूर्व के पुराखमुगानुगत-उपासना-प्रकरण में जब यह विराट् प्रज्ञापति का दिग्दर्शन कर लिया गया है तथापि इस प्रधान प्रकरण में प्रकरण-वस्तु के लिए संक्षेप से पुनः तद्विषय का दिग्दर्शन करना है।

४४३-‘आत्मसत्य’ के-‘निर्गुणसत्य-अमृतसत्य-ब्रह्मसत्य-देवसत्य-भूतसत्य’ नामक पाँच महिमा-विषय, तत्त्वविषय-‘अव्ययात्मा-ईश्वरात्मा-यज्ञात्मा-सर्वभूता-न्तरात्मा-भूतात्मा’ नामक पाँच आत्मविषय, एवं तदनुप्राणित ‘देव-वै-पुराण दर्शन-वर्षमान-युगनिबन्धन पञ्चविध उपासना-पथ—

आत्मा ‘सत्य स्वरूप है। इत एव ही ‘सत्यात्मा’ के परिग्रह-तत्त्व से निर्गुणसत्य, अमृत-सत्य ब्रह्मसत्य देवसत्य भूतसत्य ये पाँच विषय हो जाते हैं। ये पाँचो स्वरूपना क्रमशः अव्ययात्मा, ईश्वरात्मा, यज्ञात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा भूतात्मा, इन नामों से व्युत्पन्न किए जा सकते हैं। अव्ययात्मा निर्गुण अव्यय है। ईश्वरात्मा पौंडरीप्रजापति है यज्ञात्मा यज्ञप्रजापति है सर्वभूतान्तरात्मा विराट्प्रजापति है एवं भूतात्मा बिम्बप्रजापति (महार्क) है। ये पाँच कर्त्तात्मविषय ही क्रमशः वैश्वयुग वैवयुग-पुराणयुग-वर्षमानयुग और वर्षमानयुग इन पाँच युगों के पाँच उपासना-मार्गों के मूलचरित्र कहेंगे हैं।

४४४-पञ्चविध आत्मविषयों के आचार पर राजर्षि मनु के द्वारा तीन आत्मविषयों का स्वरूप-समन्वय—

एवम् मगधन् मनु की तात्त्विकी दृष्टि से इन पाँच आत्मविषयों का परमात्मा^१-अन्तरात्मा^२-भूतात्मा^३ इन तीन आत्मविषयों में अन्तर्भाव किया जा सकता है। अव्यय-पौंडरी-यज्ञात्मा इन तीनों की छद्म परमात्मा है तथा सर्वभूतान्तरात्मा अन्तरात्मा है एवं भूतात्मा भूतात्मा है। भूतात्मा कर्मकर्त्ता है परमात्मा चेश्वर-कर्मविता है एवं अन्तरात्मा जीवरात्मा है जैसा कि निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है—

१—योऽस्यात्मनः कारयिता त चेश्वर प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतारभोच्यते पुनः ॥

२—जीवसन्नोऽन्तरात्मान्य स हजः सर्वदेहिनाम् ।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च अन्मसु ॥

—मनु १०।१२-१३।

४४५-सर्वभूतान्तरात्म-सचक्ष विराट्प्रजापति, तद्रूपा-विराट्पासना, तदनुबन्धी ‘देवसत्य’, एवं तात्त्विकामाध्यम से औपासनात्मक पञ्च महिमामार्गों का स्वरूप-समन्वय—

इन पाँचों आत्म-विषयों में से सर्वभूतान्तरात्मा-सचक्ष अन्तरात्मा ही प्रकृत प्रकरण का विराट् प्रजापति है, यही देवसत्यात्मा है, एवं यही कर्मभाव की भूताप्रतिष्ठा है। अतएव इत की उपासना

'अममयी उपासना' ब्रह्माती है। इसी उपासना के सम्बन्ध में 'तं यथा यथापासते तथैव भवति-
'तं' तामेव विद्धान्यहम्'-यो ब्रह्मसूत्र म एव सः—'तं यं कामयते-तं तमाप्नोति' इत्यादि सभी
प्रतिष्ठ हैं।

आत्मत्रयी-विवर-परिलेख —

१-निगुहसत्त्वः (अम्यपासना)	अम्यय ——— अम्यय	} परमात्मा
२ असूतसत्त्वः (ईश्वरात्मा)	योदशीप्रजापतिः अक्षरः	
३-ब्रह्मसत्त्वः (पञ्चात्मा)	यक्षप्रजापतिः—आत्मक्षरः	
४-देवसत्त्वः (सप्तभूतान्तरात्मा)	विराट्प्रजापतिः-विश्वक्षरः	} अन्तरात्मा
५ भूतसत्त्वः (भूतात्मा)	विश्वप्रजापतिः-वैश्वरिक्क्षरः	

४४६-निगमानुगत निष्कामोपासना के आधार पर उपर्युक्त अममयी विरहोपासना
की अभिव्यक्ति—

वेदपुगानुगत-उपासनाप्रकरण में उपासना के अक्षम निष्काम-काम में से तीन निर्य
कलाए गए हैं। एक नहीं बहू ही एक किया गया था कि, इन तीनों का ईश्वर-जीव-जगत इन तीन
निर्यो के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। अम्यय और पादरी इन दो को समष्टि ही 'ईश्वरमात्र' है एवं
इस के लक्ष 'अमममात्र' का सम्बन्ध है। यक्षप्रजापति ही जीवमात्र है, एवं इस का निष्काममात्र से
सम्बन्ध है। विराट् एवं विश्व की समष्टि ही जगत्मात्र है, और इसका अमममात्र से सम्बन्ध है। इसी
आधार पर इस विरहोपासना को हम अममयी उपासना ही कहेंगे।

४४७-अक्षर-ब्रह्मसत्त्व-प्रजापति की अन्तिम-शास्त्ररूपा अभाइमयी पृथिवी, एवं
सूत्रिभूति से अनुप्राणित विराट्प्रजापति—

अक्षर-ब्रह्म की एक कला (टनी) के अन्तिम और पर सप्तभूतान्तरमात्राएँ देवत्वभूति
विराट्प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। जोकि 'ईशानो भूतमम्यय - 'साही 'महासुपत्त' आदि नामों से प्रतिष्ठ हैं।
निगुह अम्यय को अपना प्रतिष्ठा-वरात्म बनाने वाला अक्षर-ब्रह्म योदशी-प्रजापति ही 'अक्षर-ब्रह्म'
है वही 'असूतसत्त्व' है। इस अक्षर-ब्रह्म अम्ययसत्त्व-ब्रह्म की एक टनी में स्वयम्-परमेष्ठी-सूर्य-
चन्द्रमा-पृथिवी के पाँच पुरबीर (पर्व) हैं। वही 'पञ्चपुरबीर प्रजापत्यवस्था' है। के पाँचों पर्व
ब्रह्मप्रकल्प हैं। पाँचों की लक्षि ही 'यक्षप्रजापतिरूप ब्रह्मसत्त्वात्मा' है। इस ब्रह्मसत्त्वका एक टनी

वर्षा बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रजावर्ग इन्हीं तीनों का विषय महोत्सव मनाता हुआ उस प्रजाविजय को मूल खा है जिस के बिना तीनों त्रैलोक्य-विषयी देवता प्रत्यक्षमान हैं। केनोपनिषत् ने बड़ी ही आश्चर्य-युक्ति से इस देवविजय को ब्रह्मविजय-परक बतलाते हुए उपासिका की उपासना के द्वारा प्रमान ब्रह्मसत्ता पर्याप्तुरोपासना का आदेश दिया है और कि केनोपनिषत् विज्ञानसाध्य में विस्तार से उपस्थित है।

४५२-देवताश्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्रकर्म का अनुष्ठान, एवं तानूनप्र के द्वारा देवताश्रयी की- विराट् स्वरूप में परिणति—

अथराशि के संज्ञात्मक विद्वत्-पार्ष्वि-अग्नि शिवाशक्ति के उक्त पञ्चदश-आन्तरिक्ष बायु, एवं ज्ञानराशि के प्रत्यक्ष एकविंश-आदित्य इन तीनों देवताओं ने उत्पत्त्यन्तर किया क्या है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर है—“अनेन प्रसविष्यन्मम”। इन के पिता यज्ञप्रजापति [ब्रह्म सत्त्व] ने अपने पार्ष्वि भाग से इन्हें उत्पन्न कर कार्यरूप बड़ी आदेश दिया कि जिस “यज्ञ” के मत से मैं आज ब्रह्मेश्वर बना हुआ हूँ, यदि तुम ब्रह्मेश्वर-में [पार्ष्वि त्रैलोक्य-में] अपना सम्मिश्रित एक-व्यक्त सत्त्वस्थ स्थापित करना चाहते हो, तो उसी वेदसंगमनक्य कथमाग का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अभी तुम्हारी शक्तियाँ वृषक्-वृषक् की हुई हैं। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे तीनों शक्तियों मिलकर तुम्हें—एक स्वरूप से विराटरूप में परिणत कर देनी। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। ध्यान रखनी, वृषक् वृषक् रहते हुए अमीतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति लक्ष्य ब्रह्मत्व की] प्रजा ही कौं हुए। अमीतक तुम अपनी पै-बक सम्पत्तिरूप प्रजापति लक्ष्य से वञ्चित हो। मेरी पूर्वाज्ञा यज्ञप्रजापति का अनुगमन करते हुए तुम तीनों—एक रूप में परिणत हो जाओगे। और उस समय तुम्हारा सर्व प्रजापत्य विधिमान हो जायगा और बन जाओगे मत्त्वमकच ही ‘विराट् प्रजापति’।

४५३-सयठनात्मिका तानूनप्रप्रक्रिया का संस्मरण—

पिता यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश की शिरीषाध्य कर उक्त तीनों पुत्रों ने उसी मुद्रास्था यज्ञप्रक्रिया का अध्ययन किया जो कि प्रक्रिया ब्रह्महृद्य-प्रतिपारक ब्राह्मणग्रन्थों में—‘तानूनप्र’ नाम से प्रसिद्ध हुई है। सयठनात्मिका प्रक्रिया ही तानूनप्र है। इसी से तनु की रक्षा होती है शरीर शिरने नहीं-पाते अथवा इसे ‘तानूनप्र’ कहा जाता है। [विधि-वातपयमास-१ अष्टा-४ अ। १ ब्रह्मणः]।

४५४-पार्ष्वि अग्नि का तानूनप्र, तनुगता त्रिवृत्स्वरूपा, एवं अग्नि के ‘पञ्चमान, पादक, घृष्टि, विरवा-माओं का संस्मरण—

जब से पहला अर्थप्रधान पार्ष्वि त्रिवृत्स्वरूप तो आदित्यीय बना और इन में क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष पञ्चदश बायु, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश आदित्य दोनों देवता आदित्यद्रव्य रूप से आदित्य हो गए। परिणाम इन का यह हुआ कि यह पार्ष्वि अग्नि अग्नि-बायु-आन्तरिक्ष [त्रिवृत् अग्निप्रधान अथवा अध्ययन] बन कर पृथिवी से घुलकर पर्यन्त व्याप्त हुआ हुआ “अन्धकार” नाम से प्रसिद्ध हो गया। तीनों विरवा-के नगों [नाभियों] के स्थान पर से ही यह ब्रह्मवत् ब्रह्मात्मा एवं ब्रह्मेश्वर में इन-की ध्यति हो गई—ब्रह्मवत्ता अपने सूर्यल आ यो यो माप्सुर्विधीय”] ब्रह्मवत् अग्नि के व ही तीनों एवं पञ्चमान में पञ्चमान पादक, घृष्टि इन नामों से व्यपद्यत हुए।

६। इत्यन्तर वह एक ही अमृतप्राप्तिमार्गद्वारा प्रजापतिवर्ति प्राणानि अग्नि वायु-आदित्य-रूप से वसु-रुद्र-आदित्य-अग्नि-रूप में परिणत होता हुआ हुआ १३ रूप-धारण कर लेता है। तब ही प्रसिद्धा 'अग्नि' ही है—“अग्निं सर्वा वेधता”।

४५०—अपस्विशुद्धदेवताओं के उपक्रम-उपमहार-रूप अग्नि, और विष्णु, तमिस्र-रूप अमनोमयवेष्टि, एवं महापि एतरप के द्वारा दीक्षणीयष्टि का स्वरूप-ममन-रूप—आठ वसुओं में पहिला वसु 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। १२ आदित्यों में से तृतीय का अग्नि 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध है। १३ भी यक्षि-देवताओं के उपक्रम में वसुवर्ति अग्नि प्रसिद्ध है देवता के अन्त में आदित्यवर्ति विष्णु प्रसिद्ध है एवं 'उर तमूर्त्त' (१३) देवता होने के मध्य में है। इति मेलित रत्न के आचार पर प्रकाश में दीक्षित होने काले ब्रह्म-की तमूर्त्त-रूप दीक्षणीयष्टि करनी पड़ती है। और उर में अमनोमयवेष्टि एकत्रारूपपालपुरोद्गारा करना पड़ता है। अग्नि और विष्णु के प्रसिद्ध से १३ वीं प्राक्देवता इत के मृत्युमा में अनुप्राप्य से प्रसिद्ध होता है। इत-यक्षि-रूप-रूप-रूप-रूप दीक्षाकर्म से इत के अग्निप्रकार प्राप्त होता है। इति रत्न की लक्षण में रत्न कर महर्षि देवता में वहां है—

“अग्निं देवानामवमा, विष्णुः परमः, तदन्तरं सर्वा अन्या देवता”।

—ए० ब० १।२१।

४५१—अग्नि-वायु-आदित्य-देवताओं की स्तोमानुगता पार्थिव-ब्रह्म-रूप-रूप, एवं गर्मिता त्रिविधा प्रजा-महिमाएँ, एवं ब्रह्मविजय के आचार पर विदेवताओं का ब्रह्म-विजय—

अब वसुवर्ति अमनोमयवेष्टि अग्नि महाप्राप्ति के विद्वत्-लोम-मरुत में व्याप्त है। एकरूप-मूर्ति एकरूप-मरुत वायु महाप्राप्ति के एकरूप-लोम-मरुत में व्याप्त है। एवं एकरूप-मूर्ति विद्वत्-लोम-मरुत आदित्य महाप्राप्ति के एकरूप-लोम-मरुत में व्याप्त है। विद्वत्-लोम-मरुत का एकरूप है एकरूप-मरुत विद्वत्-लोम-मरुत का एकरूप है एवं एकरूप-मरुत [इन्द्र] ज्ञान-रूप का एकरूप है। महा-प्राप्ति-लोम में प्रसिद्ध प्रजापति की [विद्वत्-लोम-रूप महाप्राप्ति के प्राप्ति-लोम में प्रसिद्ध ओपधि ब्रह्म-रूप कीट, पशु, पक्षी मनुष्य-विष पार्थिव प्रजा—एकरूप-लोम-रूप महाप्राप्ति के अमनोमयवेष्टि में प्रसिद्ध गन्धर्व-राक्षस-विषाण-विष आभार-रूप प्रजा—एकरूप-लोम-रूप महाप्राप्ति के एकरूप में प्रसिद्ध गिर-वेन्द्र प्राजापत्य-आद्य-विष विषाण की, ज्ञान-विषाण-रूप-रूप-रूप के एकरूप करते हुए, इत ० स्तोम-विद्वत्-लोम-रूप पार्थिव ब्रह्म-विजय के आभार-रूप-इन्द्र-वायु-अग्नि ही उन्हें

● अग्नि-ब्रह्म-विजय के अनुसार यह पार्थिव ब्रह्म-विजय संवत्-इन्द्र-सी-राक्षसी लीने से प्राप्त है। एकरूप-विजय का ही प्राप्ति-रूप मरुत है उर में रहने वाले प्राणानि के वितन से ही इत एकरूप-रूप-रूप-रूप-रूप का आभार-रूप होता है। इति ही 'अद्वितीय' इत्यादि-रूप से अद्वितीय-विजय की भी कहा गया है।

वर्षा बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रजापति इन्हीं तीनों का विषय महोत्सव मनाता हुआ उस ब्रह्मविजय को पूरा खा है जिस के बिना तीनों त्रैलोक्य-विजयी देवता प्रयत्नशाली हैं। केनोपनिषद् ने यही ही भावार्थ-पद्धति से ब्रह्मविजय-यज्ञ बतलाते हुए उमाताकि की उपासना के द्वारा प्रधान ब्रह्मज्ञान या परोक्षोपासना का आदेश दिया है जिस कि केनोपनिषद् विज्ञानमाध्य में विस्तार से उपर दित है।

४५२-देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्रकर्म का अनुष्ठान,

एवं तानूनप्र के द्वारा देवतात्रयी की-‘विराट्’ स्वरूप में परिणति—

अथर्ववेद के संज्ञात्मक त्रिष्टुप्-पार्ष्वि-अग्नि क्रियाप्रति के उत्पन्न पञ्चम-आन्तरिक्ष वायु एवं जलप्रधान दिव्य एकपिशा-आदित्य इन तीनों देवताओं में उत्पन्नन्तर किया क्या? यह प्रश्न उपरिष्ठ होता है। इस प्रश्न का उत्तर है—‘अनेन प्रसविष्यन्म’। इन के पिता यज्ञप्रजापति [ब्रह्म] स्वर्ग ने अपने पार्ष्वि भाग से इन्हें उत्पन्न कर अस्मत्कर्म यही आदेश दिया कि- जिस ‘यज्ञ’ के बल से मैं आज बनेरकर बना हुआ हूँ, यदि तुम त्रैलोक्य-में [पार्ष्वि त्रैलोक्य-लोक्य में] अपना समिन्तित एक-एक अग्रज्य स्थापित करना चाहते हो तो उसी देवत्वगमनकर्म ब्रह्ममात्र का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अग्नी तुष्टायी शक्ति का पुष्क-पुष्क बटी हुई-है। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे तीनों शक्तियाँ मिलकर तुम्हें—‘तत्त्वस्वरूप’ से विराटरूप में परिणत कर देगी। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। अग्नि एकसे पुष्क पुष्क रहते हुए असीतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति] लक्ष्य ब्रह्मत्व की प्रज्ञा ही बने हुए हो। असीतक तुम अपनी वैश्व सम्पत्ति का ‘प्रजापति’ स्पर्श-से ब्रह्म हो। मेरी पूर्णतः ब्रह्मप्रणाली का अनुगमन करते हुए तुम तीनों—एक रूप में परिणत हो जाओगे। और उस समय तुम्हारा सर्व प्रजापति विष्णु ही बनगा और बन जाओगे मत्त्वकर्म ही ‘विराट् प्रजापति’।

४५३-संघटनात्मक तानूनप्रक्रिया का संस्मरण—

जिस यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश का शिरोधार्य कर उक्त तीनों पुत्रों ने उसी उपरिष्ठा यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लिया, जो कि प्रक्रिया ब्रह्मरूप-प्रतिपादक ब्राह्मण्यत्वों में—‘तानूनप्र’ नाम से प्रसिद्ध हुई है। संघटनात्मक प्रक्रिया ही तानूनप्र है। इसी से धनु की रक्षा होती है धर्म गिरने नहीं-पड़ते अतएव इसे ‘तानूनप्र’ कहा जाता है। [विश्व-राजपञ्चम-१ अथर्व ४ अ १ ब्राह्मण]।

४५४-पार्ष्वि अग्नि का तानूनप्र, तदनुगता त्रिष्टुप्पुष्टा, एवं अग्नि के ‘पवमान, पादक, शुचि, विवर्ण-भाषों का संस्मरण—

यह से पहिला कार्यप्रधान पार्ष्वि त्रिष्टुप्पुष्टि तो आह्वनीय बना और इस में क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष पञ्चम वायु एवं जलप्रधान दिव्य एकपिशा आदित्य दोनों देवता आह्वनीय रूप से आहूत होगे। परिणाम इस का यह हुआ कि यह पार्ष्वि अग्नि-अग्नि-वायु-आदित्यपुष्टि [त्रिष्टुप् अग्निप्रधान अतएव अग्रज्यप्रधान] बन कर शुचि की से शुक्ल पर्वत अग्रज्य होता हुआ ‘अन्धानर’ नाम से प्रसिद्ध होगा। तीनों विवर्ण-के नदी [वायव्य] के सम्यक् से ही यह ब्रह्मानर ब्रह्माया एवं त्रैलोक्य में इत-ही स्थापित होगा—औरब्रह्मन्तो अपने सूर्यय का जो शी मात्तपृथिवीय [भ्रमणन अग्नि के ने ही तीनों एवं ब्रह्ममात्र में पञ्चमान पादक, शुचि इन नामों से अग्रज्य हुए।

४५५-आन्तरिक्य वायु का तामूनप्य, तनुगता-त्रिभुरूपता, एवं वायु के वात-मरु-
पवन'-मावों का संस्मरण—

अनन्तर क्रियाप्रधान आन्तरिक्य पञ्चदश वायु ती आहवनीय अग्नि बना और इन्में अर्धप्रधान पार्थिव त्रिभुरग्नि एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकदश आदित्य दोनों देवता आहुतिरूप से आहुत होगे। परिक्राम "नरा वह बुधा नि यह आन्तरिक्य-वायु भी वायु अग्नि आदित्यमूर्ति (किन्तु वायुप्रधान, अतएव अर्धप्रधान) बन कर अन्तरिक्य से इन जोर बुधनी पर्यन्त, अन्तरिक्य से ठीक जोर बुधनी पर्यन्त व्याप्त होता हुआ "हिरण्यगर्भ" नाम से प्रसिद्ध होगा। वैश्वदेवमूर्ति पार्थिव अन्तर ही हिरण्यगर्भ है। वह इनके गर्भ में व्याप्य अतएव इसे "हिरण्यगर्भ" कहा गया। वैश्वदेव-व्यापक वायुमूर्ति इसी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में—'वायुर्मे सर्वेषां ज्ञानमात्मना' (एत १५१/२५५)—"एव हीमांस्तोत्रमस्तवति" (ऐ जा ५१२) इत्यादि कथन प्रसिद्ध हैं। इस हिरण्यगर्भ यह के तीनों पर्व अमरा वात मरु-पवन इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

४५६-दिव्य-आदित्य का तामूनप्य तनुगता त्रिभुरूपता, एवं आदित्य के वासव-
मरुत्वान्-सधवा'-मावों का संस्मरण—

अनन्तर ज्ञानप्रधान दिव्य एकदश आदित्य ती आहवनीय अग्नि बना और इन्में अर्धप्रधान पार्थिव त्रिभुरग्नि एवं क्रियाप्रधान आन्तरिक्य पञ्चदश वायु के तीनों देवता आहुतिरूप से आहुत हुए। परिक्राम "न आहुतिवत् न वह बुधा नि यह दिव्य आदित्य भी अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति (किन्तु आदित्य-प्रधान अतएव ज्ञानप्रधान बन कर बुधनी से आरम्भ कर इस अग्नि के अन्तरिक्य-बुधनीपर्यन्त व्याप्त होता हुआ "सर्वज्ञ" नाम से प्रसिद्ध होगा। वैश्वदेव भी ज्ञानरूपि इस के गर्भ में व्याप्य अतएव इसे "सर्वज्ञ" कहा गया। वैश्वदेव-व्यापक इन्द्रमूर्ति इसी सर्वज्ञ के लिए "नेत्राहृत पवने धाम किञ्चन" यह प्रसिद्ध है। इस सर्वज्ञ इन्द्र के तीनों पर्व अमरा वासव मरुत्वान्-सधवा नाम से प्रसिद्ध हुए।

४५७-व्यात्मक अग्नि-वायु-आदित्य को गार्हपत्य चिप्य-आहवनीय-मूला वैश्वानर—

हिरण्यगर्भ-समष्टारिमका-दशकलापता विराटरूपता का तात्त्विकरूप-समन्वय—

विभुरूप (अग्नि-वायु-आदित्यात्मक) उक्त तीनों तामूनप्यदेवताओं (वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ देवताओं) में वैश्वानर देवता पार्थिव यज्ञ का गार्हपत्याग्नि कहलाया हिरण्यगर्भदेवता चिप्यवाग्नि कहलाया। अश्विना नाक्षत्रिक लपानि के सम्बन्ध से "स मध्यरात्र अपवाग्निक के अष्ट अवस्था होगे, जो कि कल्प में आगनीमीय-अश्विनाक्षत्रिक आगनीमीय अग्नि नामों से प्रसिद्ध हैं। चिप्यवाग्नि के सम्बन्ध से ही हिरण्यगर्भ चिप्यवाग्नि कहलाया भी। तीसरा सर्वज्ञ देवता पार्थिव यज्ञ का आहवनीय कहलाया। इस प्रकार—
—८— इस क्रम से तीन की १ कला होगी और एक-कला गार्हपत्याग्निमूर्ति वैश्वानर, अश्विन चिप्यवाग्निमूर्ति हिरण्यगर्भ एवं एक-कला आहवनीयमूर्ति सर्वज्ञ इन तीनों की कला ही दशकलामूर्ति "विराट् पञ्चमजापति" कहलाया।

• एवं ही हिरण्यगर्भ कहलाता है। "हिरण्यगर्भ समस्त वायु" से इसी का ग्रहण है। वायुप्रधान हिरण्यगर्भ की "स से पूर्य ही आत्मना आदित्य।

४४८-सम्बत्सरात्मक महासुपर्ण की विराटरूपता का सम्मरस्य—

विष्वक्पुत्र इस का आत्मा बना उत्तराखण्ड उत्तरपक्ष बना दक्षिणायन दक्षिणपक्ष बना भार बही सम्बत्सरात्मक विराट्-भूमि पक्षी-राज इस मय का आत्मा बना । इसी सुपर्ण का दिग्दर्शन भगवती हुई भूति करती है—

अथ ह वाऽप्य महासुपर्ण एव सम्बत्सरः । तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवत् पयमामानु पयन्ति, सोऽन्यतर पक्ष । अथ यान् पठुपरिहात् सोऽन्यतरः । आत्मा विषुवान्” ।

—राम० १२२३।४।

४४९-विराट्पद्मावति के सहस्ररीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-मायों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्मूला यजुःधृति—

सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर इस देवधरी के कारण वह विराट् पुरुष ‘त्रिकेन्द्र’ बनता हुआ सहस्ररीर्ष-सहस्राक्ष * सहस्रपात् बन गया । सर्वज्ञमयज्ञ हृदयमात्र के कारण चारों ओर वहस वहस हानरीमयी का प्रसार करता हुआ ‘सहस्ररीष’ बन गया । हिरण्यगर्भमयज्ञ हृदयमात्र के कारण चारों ओर वहस वहस क्षियाररिमयी का प्रसार करता हुआ सहस्राक्ष बन गया । एवं वैश्वानरमयज्ञ इसी हृदयमात्र के कारण चारों ओर वहस वहस अथररिमयी का प्रसार करता हुआ सहस्रपात् बन गया । इस त्रिकेन्द्र की समष्टि के कारण ही त्रिमाषायेत विरा (नम्बस्वर) वत् साहस न रह कर दीचवृत्तरूप में (अक्षररूप में) परिणत होगया । त्रिकेन्द्रहृत् ही दीर्घवत् कहलाया है । इसीलिए यह विराट् प्माति-मयज्ञ-निगमागमादि शालों में ‘ब्रह्मावत्’ (ब्रह्म-यज्ञमज्ञापति उम का अथर्व-दीर्घवृत्तरूप विराट् मज्ञापति) कहलाया । ब्रह्मक्षय का अन्तिम पर्यंरूप मय्य भुविपद् ही अमृता पृथ्वी के प्राणानि से कृतरूप इस विराट् की प्रतिष्ठा बना । इसी विराट् स्वरूप को लक्ष्य में रख कर मन्त्रमति कहती है—

सहस्ररीर्षः पुरुष, सहस्राक्षः, सहस्रपात् ।

स भूमि सर्वतः स्पृत्वाऽन्यतिष्ठिदृशाङ्गसम् ॥

—यजुःसंहितायाम्

विराट्—विभूति —

अति-प्रशस्त	अदित्य — आदित्या — दिव्या	(एकविंशतितोम)	अमृता-पृथिवी
	वायुः — वृद्धा — आन्तरिक्षा	(पञ्चशतितोम)	
	अग्नि — वसवः — पार्ष्णिवा	(चित्तुस्तोम)	

* यहाँ ‘सहस्राक्ष’ से मध्यम्य ‘हृदयस्थान ही अभिप्रेत है ।

अ—मिः—प्र—आ—प—ति

१

८२

१

वैश्वानरः

हिरण्यगर्भः

सर्वज्ञः

३-पृथिवी (अग्निः)

१-एकम् (बाहुः)

१-मपरा (इन्द्रः)—एकविंशत्यम्—वी

२-प्राणः (अग्निः)

२-मकरः (बाहुः)

२-मकरान् (इन्द्रः)—पञ्चदशत्यम्—अन्तर्निबन्धम्

१-एकमानः (अग्निः)

१-एकम् (बाहुः)

१-वासवः (इन्द्रः)—विहृत्स्वीम्—पृथिवी

सहस्रपाद्

महत्प्राण

सहस्रशीर्षः

अर्धप्रधानोऽग्निः

विश्वप्रधानो बाहुः

अन्यप्रधानः—आदित्यः

माह्वकः

विष्वक्

आह्वनीयः

एककलः

एककलः

एककलः

१

८२

१

एककलः—त्रिकलः—वा द्वाकलः वा विराट् प्रजापतिः
इत्यस्यो महासुपर्यः

स वै विश्वसूक्तं गर्भो ह्यकर्मन्मशक्तिमान् ।
निबन्धाप्रत्ययान्तरान्मेकधा—दशधा त्रिधा ॥
(मीमांसकाचार्ये ३/६/१००) ।



एवम्भ्यां भूमि
प्रतिष्ठित

४६०-नैगमिक विराट्पुरुष के प्रयत्न से गीताशास्त्र के विराट्पुरुष का सम्मरण, एवं दोनों के स्वरूप-सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

विराट्पुरुष के उक्त संक्षिप्त निदर्शन से वहाँ हमारे अनेक संदेह निवृत्त हो जाते हैं वहाँ अनेक भ्रम और संदेह उत्पन्न भी हो जाते हैं । गीताशास्त्र में जिस विराट् स्वरूप का प्रतिपादन किया है वह और पूर्व-प्रतिपादित विराट् दोनों में कुछ विषमता प्रतीत हो रही है । गीताने ब्रह्मा श्रुति सूर्य चन्द्रमा पाश्चात्पूर्वविषी आदि सभी का विराट् पुरुष में अन्तर्भाव मानते हुए इसे विश्वस्वरूप विरवेश्वर कहा है (११/१९) अर्थात् बाहर—

‘त्वमखर परम वेदितव्य त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम् ।

त्वमव्यय शारवतधर्मगोप्ता सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तशीर्यमनन्तबाहु शशिधूर्यनेत्रम् ।

परयामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वसेवसा विश्वमिदं तपन्त्वम् ॥ (गीता ११/१८, १९) ।

४६१-गीताशास्त्र का विराट्स्वरूप—

यह कहते हुए गीताने विराट् को अखर-अव्यय-परमेश्वरमूर्ति भी सिद्ध किया है । गीता में शास्वतधर्म शब्द परमेश्वर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है किन्तु पाठक “शास्वतस्य च धर्मस्य सुख-स्यैव अन्तिमस्य च” इत्यादि कोकमात्र में वेचेंगे ।

४६२-गीतानुमोदित विराट्स्वरूप के द्वायात्मक स्वरूप का सम्मरण-प्रपास—

इस अत्र प्रतिपादित विराट् को हमने केवल महापृथिवी में युक्त मानते हुए इसे अकारखरमूर्ति ही कहा है । अग्नि-वायु-इन्द्र-समष्टि की ही विराट् मानते हुए चन्द्रमा-सूर्य-परमेश्वरी-स्वयम्भू ब्रह्मा तक को वह विराट् स्वरूप से युक्त कर लिया है तो इन पञ्चवर्गों से युक्त अकारमूर्ति पौडरी-प्रजापति अर्जुन मूर्ति निर्गुण-आत्मा, शारवतधर्ममूर्ति-परमेश्वर का तो कहना ही क्या है । वे ही कुछ एक ऐसे विरोधी भाव हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, पूर्वप्रतिपादित विराट् स्वरूप गीताप्रतिपादित विराट्स्वरूपों के विरोध में बाधा हुआ अप्रामाणिक है । ऐसी दशा में अवश्यक ही जाता है कि गीतामित्र मार्गवर्ती की कहा की रक्षा के लिए इन विरोधी भावों का परिहार कर लिया जाय ।

४६३ उभयविध विराट्भावों के तात्त्विक समतुलन का समन्वय—

यदि हमारे गीताप्रेमी वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वोक्त विराट्-स्वरूप का भ्रमन करेंगे तो उन्हें मान लेना पड़ेगा कि, उस में और इस में कोई विरोध नहीं है । यह तो सर्वथा सत्य है कि, विराट् का स्वरूप पञ्चपुत्रहीन प्राणात्मकवस्था के अन्तिम पर्वरूप केवल पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित है । महापृथिवी ही उक्त प्रतिबिम्ब शरीर है । भूपरिवर्त चन्द्रमा सूर्य परमेश्वरी स्वयम्भू सहस्रबाह्याखर अकारमूर्ति शोडशी प्रजापति शारवतधर्मगोप्ता अर्जुन शारवतधर्मरूप परमेश्वर सभी विराट् स्वरूप से बहिर्भूत हैं । फिर गीता में इन बहिर्भूतों का अन्तर्भाव विराट् के स्वरूप में किस आधार पर मान लिया है, केवल यही विप्रतिपत्ति उभय पर जाती है । इसके समाधान के लिए निम्न लिखित पृथिवी-स्वरूप का ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा ।

४६४ 'यथाएते तथा पिएह' मूलक सर्वात्म्यप्राप्ति-समन्वय, तत्त्व-घन विरोध

परिहार, एव विज्ञानदृष्टिनिर्वाचन-विरोध-परिहार का दिग्दर्शनोपक्रम—

'यद्वह तदमुत्र-सहमुत्र तद्विह'—'पूर्णमव-पूर्वमिव पूर्णानि पूर्णमुदरकम्'—'रक्तवत्
तथा पिएह' इत्यादि वचनों के अनुसार चित्रवर्णन में प्रतिष्ठित एक एक कथा चित्ररूप है विररसर ।।
वो तब उस महामहिम महागौरीमान् चित्रेश्वर में हैं वं सभी तब एक परमात्मा में भी विद्यमान हैं । तब
आचार पर उस चित्रेश्वर के पञ्चावयवक रूप चित्र को भी यदि हम 'मर्केश्वर' कहें तो कोई आपत्ति नहीं । ऐसे
सम्भव है—गीता ने चित्रेश्वर की 'सी सर्वाप्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही तत्पञ्चावयवक रूप चित्र को भी सर्वोत्तम
कहा है । यदि एक अद्वैत आत्मिक के लिए यह समाधान पर्याप्त होनका है । तथापि निम्नलिखित
से सम्बन्धित चित्रावयवों अर्थात् का अनुयायी एक वैज्ञानिक रूप उसमें से कुछ नहीं होनका । उसे तो केवल
पृथिवी में ही सर्वप्रथम का विज्ञानदृष्टि से योग कलाते हुए विरोध का परिहार करना पड़ेगा । 'ही उदरे स्त्री
निद्रि के लिए उनके सम्मुख "आवृत्ति वे वेदितान्वयी पृथिवी"—'इव वदि' परोऽन्तः पृथिव्या' इत्यादि
अनुक्तों का रहस्यार्थ उपस्थित करना पड़ेगा । और इसके लिए हमें सर्वप्रथम निम्नलिखित दो श्लोकों को ध्यान
में लेना होगा—

धूम्र मिरलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ॥

धरा-धरित्री-धरणी-धोषी-ध्या-कास्पपी-धिति ॥१॥

सर्वसदा वसुमती वसुधोर्धी वसुधरा ॥

गोधा ह पृथिवी यमावनिर्मेदिनी मही । २॥

—अमरकोश-वितीकम्भट्ट भूमिका—२३।

४६५ पङ्क्ति-वार्त्तिक-शब्दों की विविधता, तथा अविविधता का समन्वय, एव
तत्त्वनिबन्धना पारिभाषिकी शब्दविविधता का हिन्दुर्शन, और पर्याय-शब्द-
सुगता आन्ति का निराकरण —

इस में तो कोई शक नहीं कि अमरकोश की भाषा से ली गई पृथिवी-वाचक शब्दों १ को नाम पार्विच विवर्ध
से ही सम्बन्ध रखते हैं और 'ही' दृष्टि से पार्विच नामों में इन का संग्रह करना स्वाभाविक ही बन जाता
है । अब जब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी निष्पत्तिगुरुपेक्षों यह भी कह देने में कोई शक
नहीं कि वाक्यादि २१ में शब्द एकमात्र पार्विच विवर्ध के वाचक बनत हुए भी परस्पर तत्त्वप्रकार
पर्याय नहीं बन सकते बल्कि कि इन्हीं अग्नि-वसु-मातरिणा आदि पञ्चमात्र नाम उली चले ही,
चित्रेश्वर के ही वाचक बनते हुए भी परस्पर पर्याय नहीं मान सकते । ईश्वरत्वेन यदि इन्हीं सभी
राज्य अग्नि हैं तथापि इन्द्रादेन-अग्निस्त्वन्-सभी परस्पर सर्वथा विभिन्न ही हैं । एवमेव पार्विच-विवर्ध
की दृष्टि से भू-भूमि अर्थात् आदि गौरी नाम यद्यपि अग्निवर्ध के ही वाचक हैं तथापि मूल-भूमि-विवर्ध
की दृष्टि से भू-भूमि आदि राज्य विभिन्न विभिन्न अर्थों के ही वाचक हैं । विभिन्नतत्त्वनिबन्धना इन विभिन्न
वाचकत्व के कारण-व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम हमें उस पार्विच विवर्ध के ही प्रवृत्ति

नैतिक-स्वरूप को अत्यन्त अवधानपूर्वक अपना लक्षण बनाना पड़ेगा जिसके यथावत् समन्वय से विभिन्न-
विभिन्न इस मिश्रता का मशीनीति समन्वय हो जाता है ।

४६६-अव्यय 'पृथिवी' मूला आपोमयी पार्थिवी सृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय,
एवं अन्-बाधु-तेजः-सयोगजनित आप, और फेनसर्ग—

'अव्ययः पृथिवी' इति श्रुति भिन्नान्त के अनुसार पानी से ही पृथिवी का स्वरूप-निर्माण हुआ है ।
कल्पना कर लीजिए कि, किसी समय विरचनाप्रारम्भ में पृथिवी की सत्ता नहीं थी । रीबली के अर्थात् समुद्र
में धूर्त्वरश्मियों के सपर्श से उत्पन्न 'मरीच' पानी की मूर्च्छितावस्थाका रूप 'मर' नाम का पानी ही सर्वत्र
व्याप्त हो रहा था । पानी में जब वायु का प्रवेश होता है तो बुद्बुद् उत्पन्न होता है यह नैसर्गिक अवस्था
जिसका सर्वप्रकार है । क्योंकि बुद्बुद् का ऊर्ध्व परावर्तन वर्तुल (गोलाकार) होता है अतएव बुद्बुदावच्छिन्न
पानी इधर उधर लुल्लुका जाता है । फलतः गर्भीभूत वायु मार्ग मिलने से बाहिर निकल जाता है ।
यदि ऊर्ध्व परावर्तन की विन्मुक्ति से पहिले ही बुद्बुद् पर पानी का और आक्रमण होता है तो इस आक्रमण
की निमित्त अवधि में बुद्बुदावच्छिन्न पानी और वायु दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं । इन दोनों के सम्मि-
श्रण से ही एक अपूर्व माप का उत्पन्न होता है । और वही अपूर्वमात्र आधिक बनता से कुछ होता हुआ
'फेन' (समुद्र-स्त्राग) नाम से प्रसिद्ध होता है ।

४६७-भूतसृष्टि के प्रवर्तक काम तपः-धर्म-मूर्ति-हृय-अन्तर्ध्यामी का समन्वय
एवं तत्त्वबन्धन योद्धशीप्रजापति का अक्षरप्रजापति-रूपश-संस्मरण—

काम ही इतना और स्पष्ट कर लीजिए कि पानी में वायु का प्रवेश करना उस वायु और पानी
दोनों को प्रतिमूर्च्छित बना डालना दोनों के मूर्च्छितरूप से फेन का आधिपत्य कर डालना ये सब क्वापार
बुद्बुद् के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणोत्पत्तिमान् उठी हृदयरूप अन्तर्ध्यामी योद्धशीप्रजापति-मूर्ति
अक्षरप्रजापति की कृपा के ही फल हैं जिसका कि, 'प्राकृतिक-योगप्रदी' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण
किया जा चुका है । इसी अक्षरप्रजापति को हमने पावशी प्रजापति कहा है । इसका आत्मन्त्र निरुक्त अव्यय
है । सर्वोच्च-निराकार शारदवर्त्म-लक्षण परात्पर है । परात्पर-अव्यय-गमित योद्धशीप्रजापति-मूर्ति
अक्षर ही हृदय (केन्द्र) रूप अन्तर्ध्यामी है । इसकी ऐतिहासिक प्रेरणा से ही अन्-बाधु के संयोग से फेन उत्पन्न
हुआ है ।

४६८-प्रजापति का सृष्टि में प्रवेश, एवं तत् सृष्ट्या तदेवातुप्राविशत् भुक्ति का तात्त्विक
समन्वय—

इसका वृत्त यह समान है कि, अपनी प्रेरणा से वह जो कुछ उत्पन्न करता है उस में आत्म-
प्रतिष्ठाका से प्रसिद्ध होता है—'तत् सृष्ट्या तदेवातुप्राविशत्' । अतएव अवतक की बुद्बुद् का आत्मा
बना हुआ या आज वही बुद्बुदावच्छिन्नरूप इस फेन का हृदय (अव्यय) बन गया है । इसी विन्त्रो
की विचार बलगाय, बाँकी सब ही हृय अक्षरप्रजापति की प्रेरणा से सम्पन्न रहनेगे । एवं 'तत् सृष्ट्या'
इस सामान्य नियम के अनुसार यह इन उधर-उधर-कर्मों में प्रविष्ट रहेगा और इस अक्षरप्रजापति की लक्ष्य में
एक कर ही हमें पार्थिव सुखिविगत का विचार करना होगा ।

४६६-अष्टमाशान्विता-पारिवशी सष्टि और अष्टावर-गायत्रीछन्द एवं वदनुप्रासिता
अष्टावया भूमि, और उत्तममर्थक भोतमुन्दम—

परिली अवरया आप (बुद्ध) है दूसरी 'फन' है। वही फन उरी बाहु के प्रकाश में
दीर्घाव-अव्ययी बनता हुआ बनता के म्पावेष्ट से बायीं जाकर 'भुज' नामों परित्यक्त होता है। काम्य
ही मृत् है। मृत् की दूसरी अवस्था सिक्ता (चिकनी मिट्टी) है। इसी उत्तरावस्था शक्ता
(बाधुरत) है इसकी उत्तरावस्था 'अरमा (पत्थर) है इस की उत्तरावस्था 'अव' (कच्चाभूत) है इस
इस की उत्तरावस्था 'हिरण्य' (धानुमान) अवस्था पर उत्तरत होती है। 'आपः' से काम्य से
'हिरण्य' पञ्चत आठ भागों में विभक्त भविष्यतः है। पृथिवी का शरीर है। जीवन्-काम्यविद्या इसके के-
लम है। अष्टाव्य होने से ही इसे गायत्री' कहा जाता है। आपसे अव्यय पर ही प्रतिष्ठाप्य वृक्षसे
अमिष्यत होता है। अतएव इसे 'मृ' कहा जाता है। इसी भूषण पर पारिव प्रका उत्पन्न होती है अतएव
इसे 'भूमि' कहा जाता है। इसी पारिव रचनाक्रम से स्वर्गीकरण करते हुए अति करते हैं—

‘उद्दिमकमव रूपं-‘आप’ एव । सोऽक्षमयत्-वृष एव म्यात्, प्रजायत-इति ।
सोऽभाम्यत् स तपोऽप्यत । स आन्तस्तेपान 'फलमसृजत' मन्शुष्कपद-
सिक्ता- शक्ता- मन्मान-‘मयो- हिरण्यं- (ओषधिवनस्पत्य) सृजत । तनयो
पृथिवी प्राञ्छादयत् । ता वा एता नव सृष्टयः । इयमसृज्यत । तस्मादाहुस्त्रिहृन्निरिति ।
इयं अग्निः, अस्य हि सर्वाऽर्धमनरधीयत । अपूर्वा इयं प्रतिष्ठति-तद्भूमिरमवत् । तव
प्रथम-सा पृथिव्यमवत् । सर्वं सवा कृत्स्ना मन्यमानागायत । यद्गायत्-तस्मादियं
गायत्री । अग्निगायत्रः ।’ (६।१।१) — ‘या मे सा गायत्रा आसीत्, इयं व सा पृथिवी
(भूमि) । भूरिति-अग्न्योऽधरत् सोऽयं लोकोऽभवत् । भूरिति वा अयं लोकः ।’ इयं
वा भूमि अस्या वा स भवति, यो भवति” ।

—रात० ७ २।१।

४७०-अग्नि-आप-वाग् रूपा शुक्रप्रयी से अनुप्रासिता ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-रूपा दश
प्रयी, वदनुप्रासिता वैद-लाङ्-भूत-रूपा महिषयी, एवं वपनकारमयइसात्मिक
माह्वी का संस्मरण—

उक्त अष्टाव्यव अतएव गायत्रीमूर्ति मूर्तिपट्ट किंवा भूमिपट्ट के मध्य में बायीं बाहु की
मानता गणय जाता है। अग्नि व भीम अग्नि की त्रिहुन कहा है। पार्वी को रमण दीप्त नि
इसने वदनुप्रासित-उपासना-प्रकरण में शुक्रविह्वि का निकलन करने हुए पृथिवी के मध्य मन्शुष्कप्रयी
१। मन्शुष्क अनाथा का । अग्नि-आप-वाक् इन तीनों की अग्नि ही अत्यशुक्रप्रयी है। पूर्वोक्त इष्टाव्य
२। ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र इन तीन वनाश्री के नाथ इन तीनों शुक्रों का भीम होता है। अग्नि का ब्रह्मा व

के साथ आपः का विष्णु के साथ एवं वाक् का इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। अग्निमय ब्रह्मा वेदसृष्टि के आपोमय विष्णु लोकसृष्टि के एवं वाक्स्य इन्द्र ववसृष्टि के द्वारा स्रष्टृकार मयद्वयरूप वाक् साहसी के अनन्त पठते हैं, जिसका अन्तर्गत में ही स्वीकृत होने वाला है।

४७१-भूकेन्द्र-भूमध्य-भू-ऊर्ध्व-अनुगता ब्रह्मा-विष्णु-शिव त्रयी का स्वरूप-
ममन्वय—

अग्निमय ब्रह्मा की वेदसृष्टि अक्ष-यज्ञ-साम-ये से किया विभक्ता है। इन तीनों से कमरा भू-भुव-स्व। इन तीन लोकमाहृति का प्रादुर्भाव होता है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है, स्वयं भूपिण्ड महाक है एवं मध्यप्रदेश भुवर्लोक है। स्वर्लोक में अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित है—‘ब्रह्मा वै सवस्व प्रतिष्ठा’—‘भूस्तो ब्रह्मरूपाय’। भुवर्लोक में अक्षमय विष्णु प्रतिष्ठित है—‘अम्भसो विष्णुरपिणे’। एवं स्वर्लोक में अग्निमोमाद्युगमित त्रिमय वाक्मय इन्द्र (शिव) प्रतिष्ठित है—‘अमृत शिवरूपाय’।

४७२-भूपिण्डानुगत भू-भुव-स्व-रूप-त्रैलोक्य का स्वरूप-विगदर्शन—

तत्पर्यं इति वही हुआ कि, इसी त्रैलोक्य की व्याख्या से उक्त अष्टपदी किंवा नवपदी भूपिण्ड का-भुव-भू-इन तीन भागों में परिणत होगी। भूकेन्द्र अग्निमय स्वर्लोक कहलाया भूमध्य भाग (मध्यभाग) आपोमय भुवर्लोक कहलाया एवं उपरिगत भूपिण्ड वाक्स्य भूकेन्द्र कहलाया। तीनों में कमरा ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र सहकारी अग्नि-आप-वाक् इन तीन सर्वशुद्धों का भाग हुआ। भा-‘सत्ता एकपद रहा भूमि तीनों पदों की समष्टि का नाम रहा।

४७३-ब्रह्मानुगता वेदसाहस्री, विष्ण्वनुगता लोकसाहस्री एवं इन्द्रानुगता वाक्साहस्री का तात्त्विक-संस्मरण—

सर्वप्रथम-लोकमयब्रह्म में प्रथम प्रथिव्यादि की प्री परस्पर समानार्थक माना जा रहा है। परन्तु उक्त विवेचन प्रमाणित रहा है कि भू-भुव-स्व-इत्येक है एवं प्रथिवी-अन्तरिक्ष-ग्री प्रथक वस्तुमात्र है जैसा कि वाक् का भी जाकर लेवेगी। सभी कबल भूपिण्ड का ही लक्ष्य में रहिए, और लक्ष्य में रहिए उक्त ब्रह्मगति की, जो कि स्वर्लोक-भानीय मयिद्वय के केन्द्र में सब की प्रतिष्ठा बनता हुआ प्रतिष्ठित हो रहा है। एक त्रिम प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वाक्स्य इन्द्र तथा आपोमय विष्णु वाक् वाक् वाक्साहस्री वदसाहस्री वाक्साहस्री इन तीन साहस्यों का विधान करने वाले हैं। और वाक् विद्विमान ही विराट्मय का निम्नोक्त बनने वाला है।

४७४-प्रथिवी के अचल-अनन्ता रसा विषममरा तथा स्थिरा-विषर्षा का तात्त्विक-
स्वरूप-ममन्वय एवं तन्मूलक हय-प्रजापति —

प्रजापति का निर्माण मयिद्वय हुआ प्रजापति की एक वाचना पुरी हुई। अब उन्नत मयिद्वय के आधार पर क्या मयीन हुआ की। एवं उन्मूलक तथा और अन के हाथ पर क्या म क्या बन गया। इन प्रश्नों का समाधान पुरी भूमि का ‘अमय हि सर्वोद्गतिप्रदायक’ यही वाक् है। रूप में बन प्रादुर्भाव

इ कि मूल में 'स्वर्गोष्णपिष्टात्ता' अवमूर्ति प्रकाशित प्रतीति है। यह अग्नितात्त्व प्राकारक प्रकाशित है। मूर्तिवत् इसी का सत्त्वगुणधुक्तात्मक चित्तिमात्र किंवा चिन्ता है। 'वी चिति से यह मूर्तिमूर्तिवत् चित्त्व कहलाता है। इस चित्त्व, किंवा मूर्ति के अधिक चिन्ता की प्रतीति यही केन्द्रम प्राकारम मूर्ति प्रकाशित है—'विष्णुमूर्ति विष्णुमूर्ति-अवकाश अनन्त-रसमूर्ति यही प्रकाशित है। इसी पारिष-प्रकाशित के अनुग्रह से श्रुति की अवकाश अनन्ता रसा विष्णुमूर्ति एवं स्थिरा कहलाई है।

४७५-चित्त्व-चित्तेनिधपारमक अग्नि की 'सर्व' रूपता का तात्त्विक-समन्वय—

आप-कन-मूल रत्नरूपि मूर्तिवत् के बाटी एवं चित्त्वामिमा है। पञ्चकृत होने से यह अविशेष मूल्य (चित्त्व) अग्नि 'सर्व' कहलाता है। इस सर्वोक्ति की चिति (चकन-वेद्य-चिन्ता) उक्त मूलरूप रूप प्रकाशित-लक्षण अवलम्बनों प्राकारमूर्ति रसाग्नि के आधार पर ही हुई है। इसी चित्त्व की लक्षण में रत्नरूप 'प्रत्ये हि सर्वोऽग्नि (चित्त्वोऽग्निरपुत्रिच) -अधीयते यह कहा गया है।

४७६-'पशु' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तनिवचन-'प्राशुकाग्नि, एवं उसकी अधिकसितावस्था का समन्वय—

चित्त्वमात्र में विद्यमान नहीं होता क्योंकि वैदिक-परिभाषानुसार चित्त्वमात्र 'पशु' है 'अना-त्म्य' है। पत्ताप-लोहादि का स्वरूप पञ्चकृत नहीं होता है। पशुओं की जानमात्रा विकसित नहीं होती है, इन प्रतीति का भी यही उतर है। यद्यपि वैदिक आरम्भक के अनुसार इनमें भी आत्मा अवकाश ही है। पशुओं में तो चेतनलक्षण आत्मा प्रकाश ही है। तथापि इनका आत्मा मूलमात्र के आरम्भ-चित्त्व से बर्धनमात्र से अविशेष ही रहता है। अतएव इसे विष्णु का अवकाश नहीं मिलता। पञ्चकृत चित्ता भी चित्त्वका है उनके स्वरूप में आती कोई विषय नहीं होता। यही कारण है कि, चित्त्वामिमा रूप [पशुमग्निस्त्व] मूर्तिवत् जैसे का वैरा ही रहा इसमें कोई विचार नहीं हुआ।

४७७-'एकोऽहं बहु स्वाम्' मूलक प्राकारम-निरुपधन महिमात्मक विकासभाव और अग्निनिबन्धन--'सर्व' -'कृत्स्न' -शब्द—

पशु इस चित्त्व मूर्तिवत् का लोचन किन्तु स्वयं निराधार आत्मलक्षण रसाग्नि (प्राकारम) किंवा प्रकाशित उक्त लक्षणित सीमा में म रत्नरूप बाहिर निकल पड़ा। 'एकोऽहं बहु स्वाम्' इस स्वात्मिकी कामना से रसाग्नि चित्त्वमिमा का ध्यान करता हुआ (मूर्तिवत् से बाहिर निकलता हुआ) महिमात्मक से मूर्तिवत् के बाटी और बाही दूर पर्वत मरुदलक्ष्य में परित्यक्त होम्वा और मरुदल की अग्निम सीमा पर पहुँच कर ही उठने अपने आप को 'सर्व' तथा 'कृत्स्न' माना।

४७८-प्रकाशित के अनिरुक्त-उद्गीय, एवं सर्व-रूपों का सस्मरण तथा अनिरुक्त-प्रकाशित से अनुप्राशिता अनिरुक्त-कम्पार व्याहृति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

प्रकाशित के अनिरुक्त-उद्गीय-सर्व-नामक तीन महिमात्मक स्वरूप माने गए हैं। इसका सर्वत्र अनिरुक्त रहता है। इस (वेद्यमिमा) का शब्द के द्वारा कोई निर्बन्ध नहीं किया जा सकता। इसी आधार

पर इस इत्यमूर्त प्राणान्नि-प्रजापति की "अनिरुक्तप्रजापति" कहा जाता है एवं- प्रजापतिरचरति-
गर्भेऽन्तरजायमानः इत्यादि श्रुति इसी हृद्य प्रजापति का यथोपार्जन कर रही है। लोकभ्यवहार में अनिरुक्त
प्रजापति के लिए 'क'कार - (क) का प्रयोग होता है। अक्षातरा में 'कीन' का प्रयोग
होता है। इसी उत्सव के आधार पर इस अनिरुक्त तत्त्व को 'क' नाम से व्यवहृत किया गया है जैसाकि-
'कस्मे द्वापय इषिया विजम्' - 'स ये प्रजापतिरग्रधीम् कोऽहमिति । यदेवैतद्बोधेऽन्यद्बोधिन्
ततो मे का नाम प्रजापतिरग्रधत् । को ये नाम प्रजापतिः (ऐ० वा ३।२।) इत्यादि बचनी से
स्पष्ट है। इसी 'क' प्रजापति के सम्बन्ध से पृथिवी अपने स्वरूप-प्रदर्शनरूप प्रजापति के यथोपार्जन करने से 'कु'
नाम से भी प्रसिद्ध हुए हैं।

४७६-ककारात्मक अनिरुक्तप्रजापति की 'स'-कारात्मिका सर्गरूपता का समन्वय, एवं
प्रजापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन—

इसका सर्व रूप है। जिन्यपिहृद्य मी "सी प्रजापति का सर्वमात्र है। महिमामयहल मी इसी प्राणान्नि
का विधान है। सन्तुष्ट अपने मय-प्रभुता मागो से यही बना हुआ है। सर्वात्मक सर्वमूर्ति इसी प्रजापति
को 'सप्तप्रजापति' कहा जाता है। अनिरुक्तमात्र में जो 'अजायमान' रहता है इस निरुक्त सर्वमात्र कि
इस से उत्पन्न होने वाला लक्ष कुल मी बही है जैसाकि— 'प्रजापते नस्वद्वैतान्यस्याः - 'मधुमु को वेद'
प्रजापति' प्रजापतिनिरुक्तसर्व मय यथिष्ट किञ्च इत्यादि बचनी से स्पष्ट है। अनिरुक्त की स्पष्ट-
'क'कार' का एव इस निरुक्त-तत्त्व की व्याप्ति 'मकार (स) है— 'सोऽहं यद् यदि वा न यद्' ।

४८०-ककार-सकार एवं तृतीय-प्रजापति-श्रुती का साङ्गलिक-सम्भरण एवं 'प्राणा-
ग्नय एवैतस्मिन् पुरे जायति'—

मूत्रेण में प्रजापति का ककारलक्षण अनिरुक्त रूप प्रवर्तित है महिमामयहल की परिच में सकार-
लाघव सर्वरूप प्रवर्तित है। एवं महिमामयहलान्तगत २१ त्रिशत्यमात्राधिकृत यज्ञियमात्रल के लक्ष्यरूप-
रूप केन्द्र में हीतव्य तृतीयरूप प्रवर्तित रहता है जिसे 'मयद्वैतप्रजापति' मी कहा जाता है। प्रजापति
के इन तीनों रूपों में से प्रकृत में सर्वप्रथम हृद्य अनिरुक्त प्राणान्निमूर्ति प्रजापति की ओर ही पटवो का
आन आकर्षित करते हैं— "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जायति (यदोनोनिष्क) ।

४८१-प्राणात्मक हृद्य प्रजापति के विधान का साध्यम मूल एवं मूल की साधनरूपता
का समन्वय—

इस प्रजापति प्राणा मा या किञ्चिन्म हीना हमका स्वाभाविक धर्म था। परन्तु बिना मूलधर्म का
साध्यम लिए वह स्वरूप का विधान मी कैसे कर सकता था। आनविषास के लिए हमें मी तो लक्षणरूप
से मय-स्थिति प्राप्ति मीनिक विश्व मागो का ही आशय होना पड़ता है। अफन शरीरपरीक्षित मूला मा
५) विरह्यापक ईश्वरमा में यथार्थ करने के लिए मी तो हमें प्रतिमात्रि योनिह पशवों को ही मय्यम्य बनाना
पड़ता है। प्रजापति के द्वारा विहित इन रसात्मिक लक्ष नियम का सर्व प्रजापति केमे उन्मेषन कर
सकत है।

शुक्लेश्वरविष्णु अग्निमय किंवा बैरवानर-पर्वमय पार्थिवभाग त्रिभुवप्रपिपीलोक कहलाया । यजुर्वेदविष्णुम
बाहुमय किंवा हिरण्यगर्भ-पर्वमय पार्थिवभाग पञ्चम अन्तरिक्षलोक कहलाया । एवं सामवेदविष्णु अग्नि-
मय किंवा सर्वज्ञ-पर्वमय पार्थिवभाग एतद्विंश च लोक कहलाया ।

४८६-विराट्प्रजापति का यज्ञसंस्थान ऋषिगर्वगं यजमान, और तदनुबन्धी-
'अकारबमय' -

त्रैलोक्यव्यापिनी प्रपिनी ही यज्ञमण्डल कहलाया । ऋग्वेदी अपि 'होता' को यजुर्वेदी बापु
अथर्ववेदी को सामवेदी अग्निमय उद्गाता को स्वयं एकमूर्ति समष्टिमूर्ति प्रजापति यजमान को । यह हुआ
'हो' से आगे जाकर सर्वोत्पत्तिमूल प्राणायामक यशोवैश्वरूप "अकारबमय" उत्पन्न हुआ ।

४८७-विराट् यज्ञप्रजापति के आचार पर अकारबमय की अभिव्यक्ति, तन्निबन्धना
त्रैलोक्यव्यापिनी प्राण्यग्निसृष्टि पर्व तन्त्रमयक अतिसन्दर्भ-

यह ब्राह्मणविद्वान् का निष्कर्ष यही निकला कि अथर्वम में सप्त पानी ही पानी था । प्रजापति
ने स्व-अमृतप-अम से पानी को शर (धन) बनाया शर पानी से प्रपियत् बनाया प्रपिभू के संघर्ष से तेजोवत्
का निष्कट किंवा तेजोवत् को अग्नि-बायु-आदिस्व मेव से तीन रसों में परिणत किया । तीनों के
मिश्रणमात्र से तन्त्रस्वरूप विरट् नाम की बूढ़ी प्रजापतिसंस्था का विकास किया । विरट् के आचार से
अकारबमय उत्पन्न किया । एवं तद्वत् स सब कुछ प्राप्त कर लिया । इत्यु अतिरक्त अग्निमूर्ति प्रजाप्रजापति की
इसी त्रिधा विमल-त्रैलोक्यव्यापिनी प्राण्यग्निसृष्टि का स्पष्टीकरण करती हुई मूर्ति करती है-

"नैवेह किञ्चनान्ने-आसीत्, अस्त्युनैवेदमाहृतमामीत् अशनायया । अशनाया
हि मृत्युः । तन्मनोऽकृत-आत्मन्वी स्यामिति । सोऽर्च्यश्चरत् । तन्पार्त्त आपोऽञ्जा
पन्त । तद्यदा शर आसीत्-तत् समहन्त्यत्, सा पृथिव्यमवत् । तस्यामध्मायत् ।
तस्य आन्तस्य तेजो रसो निरर्वात-अग्नि । स प्रधात्मनं व्यकुल-आदित्यं वृतीर्ष,
बायु वृतीपम् । स ण्य प्राणः (प्राण्यग्नि) त्रेधा विहित । धौ-पृष्ठ, अन्तरिक्ष
सुदर, इयसुर । स एष (त्रेधा विहित प्राण्यग्नि) अप्सु प्रतिष्ठित । सोऽक्षमयत्-
द्वितीयो मे-आत्मा आयेत-इति । स मनसा बाध मिधुनं समभवत् अशनाया । मृत्यु ।
तद्यद्रेत आसीत्, स मय्यस्तराऽभवत् । न ह पुरा ततः सम्प्रत्तर आस । सोऽक्षमयत्-
भूयसा यज्ञेन भूयो यज्ञेय इति" ।

—रामपञ्चाशत्

४८८-विराट् प्रजापति से ऊर्ध्वस्थित विष्णु विबर्णो, तथा आ-मविनर्चो मे अनुमालिता
गतालहचिनिबन्धना महती सुमस्या-

परीक्षा ही बात ठीक ठीक कर गई । पूर्व में वृत्ति दृष्टि से विष्णु की उत्पत्ति बनवाई
थी यही उन्नी का प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण होगा । अब आगे यही चन्त्रमा यही मूर्त्य यही परमेष्ठी

वही वयम्भु, अगर पाँचवी अक्षय-वरात्पर भी ब क ब ही। इहाँ विष्णुर्गम में देगे साथ साथ ६, सम्या तो वही समुच्च नहीं हुए थी। मोबा बा-बलोम्बक्या महापृथिवी का बह दूनरा प्रकाश हत सम्यक का नियन्त्रकालक-कामाधान कर देगा। परन्तु 'तत्रैवावसन्निवसो बलात्'।

ब्रह्माग्नि-विचराम्	१-अग्नि — पृथिवी — त्रिहृत् (श्रुग्नेदः — अग्निहोता) — वैरवानरः	} सम्बत्सरा विपद्
	२-वायु — अन्तरिक्षम् — पञ्चदश (पञ्चदेव — वायुराज्यम्) — हिरण्यगम	
	३-आदित्य — दी — एकविंशः (ताम्रवह — आदित्यकृत्याता) — सप्त	



४८६-सिंहावलोकनदृष्ट्या पार्थिव विराट् का संकलनात्मक सस्मरण, एवं तन्निबन्धना स्ताम्यत्रैलोक्य-रूपा महिमा पृथिवी—

“भूपितृ स संलग्न अग्निमय त्रिहृत् पृथिवीलोक, वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्षलोक, आदि स्वमय एकविंश यल्लोक, तीनों की समष्टिरूप महापृथिवीलोक, इस में सर्वज्ञ-हिरण्यगम-वैश्वानरमूर्ति विराट्-प्रजापति प्रविष्टित १ पर सब कुछ परि समाप्त अब पृथिवी क सत्त्वान्ध शोष क्या रहा” अथक के प्रकरण से हमने वही समझ और वही समझना न्यायमान था भी, अब कि अथक पृथिवी को पितृपृथिवी एवं महिमात्मक त्रैलोक्यात्मिका स्ताम्यपृथिवी के अतिरिक्त और कुछ विशेष कहलाना ही नहीं गया।

४८७-भूलोकचिच्छता ब्रह्मा स अनुप्राणित स्ताम्यत्रैलोक्य एवं सर्वलोकचिच्छता विष्णु, भूलोकचिच्छता इन्द्र से अनुप्राणित समस्त्यात्मक पार्थिव लोकों की स्वरूप-जिज्ञासा—

अथएव अब हमें अथक के तत्त्वप्रवृत्ति पार्थिवविपत्त ी लक्ष्य में रहते हुए पुनः लक्ष्यविमर्श में प्रवृत्त होना चाहिये। अग्नी दी पृथिवी, सिंहा पृथिवी के दी विपत्तों का स्पष्टीकरण और करना है। स्मरण कीजिए—उक्त भूपितृ का विधान भू-भुव-स्व नामक तीन स्तर कहलाते हुए उन में अमर अग्निमय ब्रह्मा आपोमय विष्णु, एवं वायुमय इन्द्र की प्रतिष्ठा कहलाई गई थी। साथ ही पाठक पूर्व के पार्थिव-विपत्त से वह भी मान गए होगी कि त्रैलोक्यरूप उक्त सम्मत्तरसम्बद्ध केवल अग्निमय ब्रह्मा का ही विपत्त है। अग्नी मुक्तोपाधिच्छता आपोमय विष्णु एवं भूलोकचिच्छता वायुमय इन्द्र वे ही हुए देवता कों के स्त्री बने हुए हैं। प्राणाग्निमूर्ति ब्रह्मान ही अपने प्राणाग्नि का तेजोरक्षण से विपत्त कर केन्द्रकी के का बार पर विराट्-रूपा सम्मत्तर-विक्रमों का मित्र बना कर दिया। विष्णु विपत्त और इन्द्र ने क्या किया, वह अग्नी अष्टाध्यायी में ही मिली है।

तेन आत्मना इव सर्वमसृजत । म यत्-यन्-एव-असृजत तत्तदक्षु मप्रियत, सब वा अक्षीति, अक्षु-दितरदितिष्वम् । सर्वस्याचा भवति, सर्वमस्यान्न भवति, य एवमवमदितरदितिष्व वेद" ।

४६३-वाक्परिमाणम्-छन्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय तदनुबन्धी 'छन्दोवेद', एव तद्द्वारा यज्ञमात्रिक-वेद की स्वरूपामिष्यति—

'वाक्परिमाण' क्या है ? इसका उत्तर है— 'वाक्परिमाणं छन्द' । वाक्-तत्त्व को सीमित करने वाला आच्छेद ही 'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है । यह छन्द भी स्वयं वाक्स्वरूप ही है । छन्द स्वयं कण्ट नहीं है अस्तु कण्ट की सुस्थिति रखने वाला एक बहिरावरणमात्र है । इस वाक्-परिमाण छन्द का भी एक स्वतन्त्र वेद माना जाता है जो कि वेद "छन्दोवेद" नाम से प्रसिद्ध है । स्वयं कण्टविरह एक कण्ट है । इस कण्टविरह में हमने कण्टमूर्ति ब्रह्मा का लक्षणम् बताया है । प्रमाण में ब्रह्मा का यह कण्ट छन्दोवेद ही है । इसी के आधार पर आगे आकर यज्ञमात्रिक वेद का विधान होगा है ।

४६४-हृदय-विष्कम्भ-परिणामात्मक-केन्द्र-व्यास-मयहस्तात्मक छन्दोवेद का स्वरूप समन्वय-एवं स्वरूप प्राप्तिमिद-मात्र—

विष्कम्भ हृदय (नाभि)-विष्कम्भ-परिणामात्मक व तीन भाग रहते हैं । केन्द्र-व्यास-भार, दोनों केन्द्र लक्षणों परार्थ नहीं हैं । केन्द्र ही ही विष्कम्भ प्राप्तिमिद परार्थ है । विष्कम्भ हृदय है विष्कम्भ व्यास है एवं विष्कम्भ परिणामात्मक है वही लक्षणमिद पत्राय है भार वही मतेरह है । "न हीनो ह्येनो मे मूर्ध्नि ह्यनित है आहत है सुस्थित है ।

४६५-पद्य-गद्य-गय-मात्रानुबन्धी श्रद्ध-यज्ञ-मात्र-तत्त्वों का स्वरूप-समन्वय, एव 'श्रद्धपूज मां गीपते'-'श्रद्धामां यजुरपीतः'-'त्रिधं मां' का रहस्यात्मक समन्वय—

इसमें हृदय-विष्कम्भ-परिणामात्मक बनना हुआ अमीमकोटि में आता हुआ यजुर्वेद है । विष्कम्भ हृदय श्रद्धा है । एवं परिणामात्मक सामावेद है । शष्पात्मिका धरणी के परिकला विष्कम्भ वद हो जानत ही है कि, यजुर्वेद गद्यात्मक बनता हुआ गीतामात्र से बहिराहत है । पद्यात्मक-श्रद्धात्मक गद्यात्मक सामावेद दोनों भीमिद है । वे वद भी जानते ही हैं कि पद्यकय श्रद्धात्मक ही गानतीमा में काय लाममन करणत है । इनमें शष्पां में-श्रद्ध को आधार बना कर ही श्रद्ध को बाह्य बनाकर ही लाममन होता है- 'श्रद्धपूज मां गीपते' । य वद भी जानते ही हैं कि तीन श्रद्धमन्त्री से एक लाममन का

* इस के निगमनकाल में विष्कम्भ-यज्ञात्मक-एकचित्त-रूप मयहस्तात्मिक की ही हमने "अदिति" श्रद्धा कहा है । एव इसी के गम में एककल विष्कम्भ श्रद्धा वदका विष्कम्भ पद्यात्मिक की लक्षण बताया है । प्रत्यक्ष श्रद्धा विगमनकाल ही श्रद्धा श्रद्धा वदका श्रद्धा वदका वद रही है ।

सकम सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् जिसने समय में पचास तक एक श्रद्धामन्त्र का उच्चारण होता है उससे विगुणित समय लगाकर यदि उसी श्रद्धामन्त्र का प्रयोग किया जायगा (बोला जायगा) तो वह श्रद्धामन्त्र श्रद्धामन्त्र न कहला कर सामान्य कहलाने लगेगा— त्रिंश साम । हाँ सम्पन्न वे यह नहीं जानते कि ये श्रद्धामन्त्र दोनों ही यज्ञ में वापसी रहते हैं (हूँ ब रहते हैं)।

५६६-तन्त्रा-मन्त्र-आपौरुषेय-वेद, एवं तन्त्रुबन्धिनी वेदप्रयी कः, स्वरूप-
संस्मरण-

विद्वानों की इस शठद्वन्द्वमूलक का आशय हम मयिष्य-स्वप्न-सर्पार्क इत तत्त्वार्थक सुन्दरवेद के साथ समन्वय करना चाहते हैं जोकि तत्त्वार्थक वेद अपौरुषेयब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। परिणाह की पूर्ण साम्यता है। मयिष्य का मत ल वेद ही परिणाह है। यह परिणाह मध्यास के आचार पर ही प्रविष्ट है। मध्यास की मूलप्रतिष्ठा बनाकर ही परिणाह विरत हुआ है— 'अथर्ववेद साम गीयते'। विष्णुमन्त्र है। विष्णुमन्त्र विष्णुमन्त्र ही परिणाह है। अर्थात् मध्यास का विधान परिणाह का परिमाण इस ल विगुणित होता है— 'त्रिंशे नाम'। परिणाह और विष्णुमन्त्र दोनों की प्रतिष्ठा हृदय-काम मनु है 'अथर्ववेद यजुर्गीतः'।

४१७ इन्द्रात्मक परिस्साह विष्ण्वात्मक विष्कम्भ एवं ब्रह्मात्मक हृदय, तथा छन्दावेद का त्रिदवात्मकी ममन्त्रय—

परिणाम अन्तिम सीमा है यही काष्ठमय इन्द्रदेवता प्रतिष्ठित है। अतएव परिणामरूप ताम्र की इस मूर्ति-सम्बन्धी कह सकते हैं। ताम्र मण्डलीमा है यही आर्यमय विष्णु प्रतिष्ठित है। अतएव विष्णु-रूपा शुक की विष्णु-सम्बन्धिता का वास्तव्य है। इदम् मूलसीमा है यही अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। अतएव इदम् रूप वरु की ब्रह्ममण्डली माना जा सकता है। शुक-ताम्र की योही देव के लिए छोड़ दीये, एव पहिले केवल वरु ही का विचार कीजिए।

४८-यदुर्ध्व के अनेत्र-एक-विधि-गति-समय-यत्-रूप-यद्-स्वरूप का तात्त्विक विश्लेषण-

यह क्षेत्र यमुनोद नदी है अथिष्ठ 'यमुन' क्षेत्र है। यह और ऊँची समझि ही यमुन है। 'यमुन' की ही परीक्षमाण में 'यमु' कहा जाता है। यमुन का 'यमु' भाग 'भाण' है 'मू' भाग 'पाण' है। शब्द 'भाकसा' है प्राण 'यामु' है। आकाश स्थितिरूप है यामु गणितरूप है। स्थिति 'अनन्य' है।

२० न जानने का कारण स्पष्ट है। 'अष्ट' के आधार पर नामगान होता है तीन अक्षरों का एक नाम होता है ये निश्चित ही दर्शनगम्य व उच्च हित होचुके हैं। शब्द "अष्टमास यमु-
रपीन यह धरत भूमि है। अतएव दर्शनगम्य शब्दों निश्चयन वन बानी दाखानक मांश की ठी जान
लिखा। व मु दूत अतिशय रहस्य की व नदी जानलके।

गति 'पञ्च' है। 'अनञ्ज-गञ्ज' की समष्टि ही बाङ्ग है यही ब्रह्मा है यही मूलप्रतिष्ठ है। आपोमय विष्णु और वाहनय इन्द्र य दोनों की एक दृष्टि से दृष्टी के विषय हैं। अन्तर्मय वा विद्या प्राप्ताभिन्त वाहमूर्ति ब्रह्मा से ही हुआ है—'माऽपाऽमृज्ज वाच एव लाङ्गल'—'वागव माऽमृग'। वाहनय वा विद्या य 'ही आपोमय माहण क गर्भ में [वीक्षण म] हुआ है।

४६६-वदमूर्ति ब्रह्मा की आदि-मध्य-अन्त-रूप स ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-स्वरूप में परिणति—

इसी दृष्टि से देखिए। 'यत्, चीर' में 'यत् रूप विनिर्माय तो बाह्यान् ब्रह्मा है। 'यत् गति है आगतिगति दोनों 'गति' हैं। आगति विष्णुधर्म है गति इन्द्रधर्म है। इन्द्रवार वदमूर्ति ब्रह्मा रूप में मूल में प्रतिष्ठित रहता है आगतिरूप वदमाग में विष्णुवार में परिणत हुआ मध्य में प्रतिष्ठित रहता है एवं गतिरूप 'यत्' भाग से इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ अन्त में प्रतिष्ठित रहता है। और यही तो इन अतिरूप की लक्ष्मी है।

५०-तत्त्वत्रयी का सामान्यारिह-सुमन्त्रय एवं तन्निर्वाचना-भागात्मिका बाह्यमूला वेदत्रयी शुक्रत्रयी, इन्द्रत्रयी, द्रव्यत्रयी, लाङ्गल्ययी, और 'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्मप्यः केषलात्मनः' का पावन-संस्मरण—

एक समतार और देखिए। इन्द्र की हमनी नाम कहाया वह कथन तो सुष्यसिक्त है। विष्णु का श्रुत से मन्त्रय कलावा वा एवं ब्रह्मा का वक्तु से। अब विषयि वक्तु गई है। बाङ्ग का रूप आपराय भाग केनत ब्रह्मा रह गया है रूप्य वायु विष्णु बन गया है। इसी दृष्टि से उरपरूप 'यत्' (ब्रह्मा) श्रुतेर बन गया है अकल्प यत् (विष्णु) यद्वैत बन गया है—'तत्मात्रपुरेय यत्' एवं इन्द्र लाभ रह गया है। 'तत्मात्र कृतेर' के इन उरपाक्यमाय से—'स्वर्लोकाध्यानीय अग्निशुक्रमय ब्रह्मा श्रुत्सूर्ति सुस्वर्लोकाध्यानीय आपा शुक्रमय विष्णु यद्वैत सूर्ति एवं मूलाध्यानीय वाक्शुक्रमय इन्द्र सामसूर्ति बन गए हैं। तीनों के उर एक ही 'भाण' का 'बाङ्ग' के तीन विषय हैं। आरम्भ में वाक् परिमायरूप को कृत् एक-रूप वा यही देवमेर से श्रुत्सु उरय इत्यदिभ्यः, यद्वैत अकविष्कम्भ एवं सामरूप विद्यान-परिणाह—रूप से तीन माली में विमल दीपय है। एक कृत् तीस कृत् बन गए, एक वेद तीस वद-बन गए, एक वेदता तीन वदता बन गए, एक ही अग्निशुक्र तीन शुक्र बन गए, एवं एक ही मूलोक्त सु-सुख-स्व मेव से त्रिपर्वा बन गया—'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् मृत्वे केषलात्मनः।

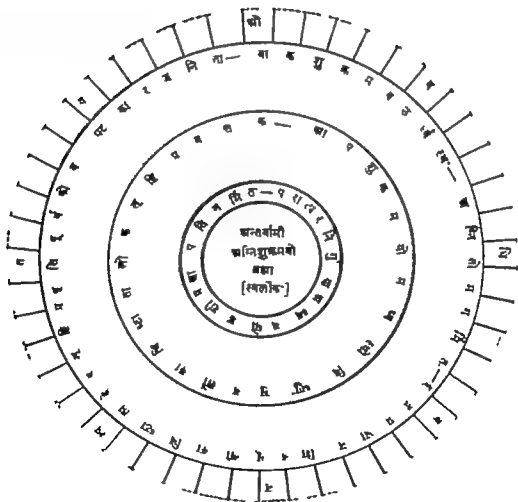
पक्ष प्रकारः—

- | | |
|---|----------|
| १-इत्ययम्—यत्—यद्वैत सूर्ति ब्रह्मा—अग्निमयो मूलरथ—स्वर्लोकाधिपता | } मृपिरव |
| २-विष्कम्भ—श्रुत्—श्रुत्सूर्तिविष्णु—आपामयो मध्यरथ—सुवर्लोकाधिपता | |
| ३-परिणाह—साम—सामसूर्तिरिन्द्र—वाक्मयो बहिरथ—मूलाकाधिपता | |

आप-केन-मुत् सिकता-सर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यात्मकः-

भूपिण्डपरिलेख -

(स्वमु यम् रात्मकोऽयमग्निगर्भो भूपिण्ड)



प्रमाणानि—

- १- 'एष प्रजापति (ब्रह्मा) यदृष्टव्यम्' (शत० १४।१।१) ।
- २- 'तस्माद्यच्च पि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि' (शत० ४।६।५।१४)
- ३- 'स प्रजापतिर्यदृष्टव्यं हिङ्गसमकरोत' (जै० भा० उ० १।२५।६) ।

अन्य प्रकार सैद्धान्तिक —

शुक्लम्—ब्रह्मा	अग्निमय—वृक्षम्—स्वः	}—भूपिण्ड
यजुरक्षम्—विष्णु	आपोमय—बिम्बम्—भुवः	
सामक्षम्—इन्द्र	वाक्मय—परिणाम—भूः	

—★—

५०१ शुक्ल-यजु साम-अनुगत-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-भारान्वित अग्नि-आप-वाग-माव,
पृथं तन्निबन्धन वाक्-गोधा-रूप-पार्थिवी-मनोतात्रयी का सस्मरण—

वाक्परिमाण की कृत्र बलवाता गया उस कृत्र के शुक्-यजु-साम से तीन पर्व बनवाए गए, तीनो का क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र के साथ सम्बन्ध बनवाया गया एवं तीनो देवताओं को क्रमशः अग्नि-आप-वाक्मय बनवाया गया। और यही भूविण्वात्मिका शिलाकी बनी। स्वर्लोकरूप विष्णुमावगिष्ठ शुक्ल अग्निमय ब्रह्मस्थान इस का पृथिवीलाक बना। भूतलोकरूप विष्णुमावगिष्ठ यजुमय आपमय विष्णुस्थान इस का अन्तरिक्षलाक बना। एवं भूतलोकरूप पार्थिवीलाक इन्द्र साममय वाक्मय इन्द्रस्थान इस भूमिभट का पृथलाक बना। इसी आधार पर मनोतात्रयिज्ञान के अनुसार भूपिण्ड के वाक्-गो-धा इन तीन मनोप्रपञ्चो का उक्त तीनो देवताओं के साथ मीम माना जाता है। वाक् अग्निमयी है इस का अग्निमय ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। गायत्रि आपोमय है इसका आपोमय विष्णु के साथ सम्बन्ध है एवं गोतत्र वाट मय है और इसका वाट मय इन्द्र के साथ सम्बन्ध है।

५०२-ब्राह्मी-गायत्री पृथिवी, वाक्पथी त्रिपुथी-पृथिवी एतन्नी जागतीपृथिवी, तन्म त्रिपृथि
व्याप्तिमका महापृथिवीरूपा विष्णुमरा का तात्त्विकम्बन्ध-समन्वय तथा तन्नि
बन्धना सादृशीतरी का सस्मरण—

वाक्मय अग्निमूर्ति ब्रह्मभानरूप पृथिवीलाक शुक्ल-यजु है। यही गायत्रीकृत्र है। साममय व्याप्ति-
मूर्ति विष्णुभानरूप अन्तरिक्षलाक यजु-कृत्र है। यही त्रिपुथीकृत्र है। एवं वाट मय वाट मूर्ति इन्द्रभान

रूप गुणाः सामान्यता है यही जगतीकृत्य है। इस दृष्टि से तीनों भीम जेना कमरा गायत्रीपृथिवी त्रिष्टुप् पृथिवी जगत्पृथिवी इन तीन विषयों की विज्ञानभूमि बनते हैं। गायत्री पृथिवी अग्निमयी बदलाती है यैष्ट्य-पृथिवी आयोमयी बदलाती है एवं वायव्य-पृथिवी वायुमयी बदलाती है। अग्निमयी पृथिवी से वेदसाहस्री का आयोमयी पृथिवी से ब्रह्मसाहस्री का एवं वायुमयी पृथिवी से वाक्साहस्री का विज्ञान होता है।

५ ३-कवच-गायत्री-पृथिवी से अनुप्रासिता गायत्री त्रिष्टुप्-जगती-रूपा छन्दस्त्रयी तन्निबन्धना गायत्ररूपा वेदत्रयी, एवं रात्रिर्षि मनु के द्वारा तत्स्वरूप-समन्वय—

इतना और ध्यान रखिए कि, भूमिच में कवि गायत्री त्रिष्टुप्-जगती-तीनों ही हैं परन्तु प्रधानता गायत्ररूप की ही है अतएव भू को गायत्री ही कहा जायगा। इस गायत्री के गर्भ में गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती ये तीनों छन्द प्रतिष्ठित हैं। इनमें गायत्री का विज्ञान स्वीयविशोदीक्य महापुष्कीक्य से होता है। ब्रह्माग्निमूर्ति गायत्री ही तेजोमय्य स बाहिर निकल कर अग्नी बन-नरक-विरक्त इन तीन अवस्थाओं में परिवर्त होकर त्रिष्टुप्-पञ्चदश-एकविंश इन तीन स्तरों में प्रतिष्ठित होकर नमस्वरूप में परिवर्त होती है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूकेश से आरम्भ कर २१ वें अक्षरा पर्यन्त गायत्ररूपा पार्थिव गायत्रानि (ब्रह्मानि) का ही विज्ञान है। गायत्रानि के तीनों पदों में यजुर्विद के लिए कमरा अग्निपद से श्रुत्यक्त वज्रपद से बहुषे एवं आदित्यपद से गायत्र का विज्ञान होता है जैसा कि निम्नलिखित मनु बचन से स्पष्ट है—

अग्निवायुरग्निस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यजुसिद्धयर्थमृग्यञ्च साम सचयम् ॥

—मनु

५ ४-छन्दस्त्रयीमयी गायत्री पृथिवी से अनुप्रासिता वेदत्रयी के स्तोमत्रयानुबन्धी गायत्र-स्तोक, तन्निबन्धना वेदत्रयी के वाक्-यजु-साम-समुद्र एवं अम्भृता इन्द्राविष्ट की रहस्यपूर्ण प्रतिस्पर्धा का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

यही पहिली वेदसाहस्री है। इस वेदसाहस्री के वाक्-यजु-विद्युत्-स्तोमावच्छिन्न गायत्र बनानिक्रम पार्थिव अग्नि का छन्द गायत्री है। यजुर्मय, पञ्चरास्तोमावच्छिन्न-गायत्र तरलाभिक्रम आन्तरिक्य वाङ् का छन्द त्रिष्टुप् है। एवं साममय एकविंशस्तोमावच्छिन्न गायत्र विरलाभिक्रम दिव्य आदित्य का छन्द जगती है। इस दृष्टि से त्रिष्टुप्-पञ्चदश-एकविंश पृथिवी-आन्तरिक्य-दी-में प्रतिष्ठित अग्नि-वाङ्-आदित्य-मूर्ति गायत्रब्रह्मानि के इन तीनों गायत्रपदों में भी गायत्री त्रिष्टुप्-जगती इन तीनों छन्दों का योग मिला हो जाता है। इनके साथ ही वह और स्मरण रखना चाहिये कि इस वेदसाहस्री का विज्ञान दुष्मा उनी इन्द्राविष्ट की रक्षा से है। आगतिधर्मा विष्टु, एवं गतिधर्मा इन्द्र के आश्रय-विर्ग से ही अग्नीर्गोत्रालम्बन के द्वारा वह ब्रह्मानि विज्ञान होकर २१ पर पशुंथ लम्बा है यहाँ पशुंथ कर ही यह विषय बन गया है

एवं त्रिपदा बन कर ही यह वेत्तवीर्य वेदसाहस्री (श्रुत्साहस्री यजुसाहस्री-सामसाहस्री किंवा यजुषां समुद्र, यजुषां समुद्र-सामन्तां समुद्र की विकसित करने में समर्थ होतछ है । और इन्द्राविष्णु की इस स्वर्दा का मूल प्रयत्न बना है-यही आपत्स विष के गर्भ में त्रिती के अंश से अष्टपदों के द्वारा मृषिद्व प्रसिद्धि रहता है-समुद्रममिह पितृमानम् । इन्द्राविष्णु यदपः सृष्टेयाम् का मही रहस्य है । मृषिद्व के चारों ओर अर्थात् समुद्र मरा हुआ है । इन्द्राविष्णु की नोना से पानी के प्रयत्न पर ही ब्रह्मा की इस गायत्र पृथिवी किंवा संकलनपृथिवी का विधान होता है । इसी रहस्य की लक्ष्य में रहकर पूर्व भूति ने उत्पन्न सम्पत्ति को भी ल प्रयोऽप्यु प्रतिष्ठित करते हुए इस आपोमय अर्थात् समुद्र में ही । प्रतिष्ठित करवाया है ।

- १-अग्नि-त्रिभुवरो-पृथिवी-श्रुत्ब-गायत्रोऽग्नि-गायत्रीदन्वा }
 २-वायु-यजुसाहस्री-अन्त-यजुर्वेद-गायत्रो वायु-त्रिष्टुपदन्वा } -गायत्री
 ३ आदित्य-यजुर्वेद-यौ-सामवेद-गायत्र्यादित्य-जगतीदन्वा } (अग्निः)

- १-गायत्री ३-अग्निर्गायत्रः-पृथिवी
 २-त्रिष्टुप् १५-वायुर्गायत्र-अन्त-
 ३-जगती २१-आदित्यः-गायत्र-यौ } -गायत्री पृथिवी (ब्रह्मा)-वेदसाहस्री

५०५-भुवर्लोकस्मरक-आपोमय-त्रैष्टुम-वैष्णवलोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय-

इसके अनन्तर मृषिद्व के भुवर्लोक में प्रतिष्ठित रहने वाले त्रिष्टुपदन्वा यजुर्वेद-आपोमय विष्णु का स्थान आका । इसी विष्णु से लौकसाहस्री का विधान हुआ । उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ११ वें पद-पृथिव्यन्त इस आपोमय विष्णु की व्याप्ति हुई । ११ पद्वन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना यही तेजी-मय (अग्निमय) जैन पानी कहालाया, जिस के कि अन्तर्भाग से धर्म पवित्र माने जाते हैं । ११ से २० पद्वन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना यही पवित्र पानी (पार्थिव आकर्षण से विमुक्त पानी) आत्बरसोम कहालाया । एवं २० से ३३ पद्वन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना । यही पानी 'विष्टोम' कहालाया ।

५०६-वैष्णव त्रैष्टुम-तीनों लोकों से अनुप्राणित अयस्त्रिंश-मज्जविंश एकविंश-स्तोमा नुगत गायत्र-त्रैष्टुम आगत-भाव, एवं वैष्णवी त्रिस्तोमी का तात्त्विक स्वरूप समन्वय-

२१ विंश स्तोमावन्विष्ट तेजोमय वैष्णव अष्टपद त्रैष्टुम पानी उक्त तेजोमय, एकविंशस्तोम-पद्वन्त व्याप्य रहने वाले त्रिष्टुम गायत्र अग्नि के लक्ष्य से 'गायत्री' कहालाया । विंश (२०) स्तोमावन्विष्ट

मात्स्वरसोममय वैष्णव त्रेष्टुम पानी 'त्रिष्टुप्' कहलाया एवं त्रयस्त्रिंश स्तोमान्वित्स दिक्सोममय वैष्णव त्रेष्टुम पानी 'जगती' कहलाया। "सप्तवार त्रिष्टुप्कृत्वा आपोमय" तस वैष्णव मयइत की भी २१-२७-३१-मेद स तीन स्रष्टार्द बन गई। एवं ये ही तीनों स्रष्टार्द आपामय (वेनमय) पृथिवीलाक, आपामय (मात्स्वरसोममय) वायुरिक्तालाक, आपोमय (दिक्सोममय) शुक्लो, इत्येकार तीन लोक कहलाय। तीनों ऋषयः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से आपोमय केवल त्रेष्टुप्रसौक में ही तीनों छन्दों का उपयोग बिछा होगा। यही वृत्ती लोकसाहस्री कहलार्द।

- १-वन — ऋषिरास्तामः—पृथिवी—आपः (त्रिष्टुप्-विष्णु—गायत्री)
 २-मात्स्वरसोम—त्रिष्टुप्सोम—अन्त—सामः ()-त्रिष्टुप् } त्रिष्टुप्
 ३-दिक्सोम—त्रयस्त्रिंशसोम—घौ—विष् (")-जगती } (आप)

- १-गायत्री—२१-वनत्रेष्टुम—पृथिवी
 २-त्रिष्टुप्—२७-मा सामस्रैष्टुम अन्त } त्रिष्टुप् पृथिवी विष्णु } लोकसाहसी
 ३-जगती—३१-वि सोमस्रैष्टुम-या

—:—

४ ७-भूलाकारमक-बाह् मय-जागत-एन्द्र-सोकानुबन्धी तीन लोकों का ताविक-ववमय समन्वय तदनुप्राणित बाह् मय ऋग्यजुर्-मयइत एवं तत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्ष-व्यञ्जन त्रयी—

विष्णु के अनन्तर भूमिपद के भूलोक में प्रतिष्ठित रहने वाले जगतीछन्दा ताम्मूर्ति, अग्निरोम-यमित ताम्मूर्ति बाह् मय इन्द्र का स्थान आता है। इसी ताम्मूर्ति "न्त्र से बाह्मइसी [कण्ठ्य] का अन्त होता है। अतएव इन्द्र के लिए 'इन्द्राय-बाह्' "यादि रूप से ऋग्यजुर्बक ही आहुति दी जाती है। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वे आहर्गण पर्यन्त इस बाह् मय इन्द्र की स्थापित हुई। २४ व्यन्त बाह् मय "न्त्र का बिना बाह् का एक स्वरान्न मयइत बना यही जागतमयइत कहलाया। जागत बाह् मयइत शब्द ब्रह्मविद्या के अनुसार "स्वरमयइत कहलाया जेष्टुम वा-मय"त 'वयुमयइत' कहलाया एवं वायव-बाह् मयइत "व्यञ्जनमयइत कहलाया।

५ ८-इन्द्रानुगत-विविधाकारकरणात्मक 'व्याकरय' का स्वरूप-निर्धनन एवं तद्विचार भूत अद्व माश्रमक प्फोटप्रकाश का मात्रात्मिक स्वरूप-संस्मरण—

वाग्वचर शब्दमय के व्यञ्जन वयां स्वर व तीन विषय माने गए हैं वेदकि कम्पपाग परीक्षान्तगत वगुनिरुक्तिव्यकरय में विचार से बलनाथ बाबुका है। "न्त्र ही वाग्वेदका जनक शब्दमय

को (स्कोटजस को) व्याकरण (एकस्य स्कोटजस्यो विविधकारकरणमेव व्याकरणम्) रूप में परिणत करते हैं । यह ऐन्द्र व्याकरण चतुर्विंश-चतुष्टयस्वारिंश-अष्टमस्वारिंश मेव से व्यञ्जन-व्यंज-स्वर मेव से तीन भागों में विभक्त हो जाता है । तीनों की मूलप्रतिष्ठत वही अभ्यवस्थानीय स्कोटजस है जो कि 'अर्द्धमात्रा' नाम से प्रसिद्ध है ।

१०६-ऐन्द्र-जागत-तीनों लोकों से अनप्राणित-अष्टावस्वारिंश-चतुष्टयस्वारिंश चतुर्विंश स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुम-जागत-भाव, एवं ऐन्द्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय —

चत्वारिंशस्तोमावन्निष्कृन् ऐन्द्र व्यञ्जनसङ्ख्या जागत वाक्स्व ताम्र अग्नि के सम्बन्ध से गायत्र कहलाया चतुष्टयस्वारिंश-स्तोमावन्निष्कृन् ऐन्द्र कण्ठसङ्ख्या जागत वाक्स्व त्रैष्टुम अप् के सम्बन्ध से त्रैष्टुम कहलाया एवं अष्टावस्वारिंश-स्तोमावन्निष्कृन् ऐन्द्र स्वरसङ्ख्या-जागत वाक्स्व अपने विशुद्ध जागतस्वरूप से जागत कहलाया । इसप्रकार जागतकृत्वा वाक्स्व इस ऐन्द्रमण्डल की मी २५-४४-४८ मेव से तीन संधार्य बन गईं । एवं व ही तीनों संधार्य वाक्स्व (व्यञ्जन वाक्स्व) पृथिवीलोक, वाक्स्व (व्यंज वाक्स्व) अन्तरिक्षलोक वाक्स्व [स्वरवाक्स्व] ध्रुवलोक, इसप्रकार तीन लोक कहलाए । तीनों पूर्व-परिमाणानुसार क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन तीन कण्ठों से युक्त बन गए । इसी दृष्टि से वाक्स्व केवल जागत लोक में मी तीनों कण्ठों का उपयोग सिद्ध हो गया । यही तीनों वाक्स्वाह्वी कहलाई । आगे की वाक्स्वाह्वी, एवं पञ्चोन्मी से उक्त विषय मञ्जीमति स्पष्ट हो जाता है ।

१-व्यञ्जनमण्डलम्-चतुर्विंश	०-पृथिवी-(व्यञ्जनानि-जगती-इन्द्र-गायत्री	} - जगती [पाक]
२-व्यंजमण्डलम्-चतुष्टय	-अन्त -(वर्णा)- " -त्रिष्टुप्	
३-स्वरमण्डलम्-अष्टाव	-धीः (स्वरः)- " -जगती	

१-गायत्री-२५-व्यञ्जन जागतम्-पृथिवी	} - जगती पृथिवी [इन्द्र] वाक्स्माह्वी
२-त्रिष्टुम्-४४-वर्णा जागतम्-अन्त	
३-जगती-४८-स्वरो जागतम्-धीः	

समष्टि —

- | | |
|-------------------------------------|-------------|
| १-ब्रह्मा-स्व-अग्निः-ब्रह्म-गायत्री | } मृषिपण्डः |
| २-विष्णुः-भुवः-आप-यजुः-त्रिष्टुप् | |
| ३-इन्द्र-भू-वाक्-साम-अगती | |

१-ब्राह्मणमण्डलम्—(स्वलोकैकात्मिका गायत्री-पृथिवी)—

- | | |
|--------------------------------------|---------------------|
| १-अग्निः-पृथिवी-ब्रह्म-गायत्री [६] | } अग्नि - "गायत्री" |
| २-वायु-अन्तः-जसुः-त्रिष्टुप् [१४] | |
| ३-आदित्य-द्यौः-साम-अगती [२१] | |
- "ब्रह्माह्वरी"

२-विष्णुमण्डलम्—(भुवलोकैकात्मिका त्रिष्टुप्-पृथिवी)

- | | |
|--------------------------------------|--------------------|
| १-वेन-पृथिवी-गायत्री [२१] | } आपः "त्रिष्टुप्" |
| २-मांसोम-अन्तरिक्ष-त्रिष्टुप् [२७] | |
| ३-दिक्मान-द्यौः-अगती [३३] | |
- "लोकसाह्वरी"

३-इन्द्रमण्डलम्—(भूलोकैकात्मिका अगती-पृथिवी)—

- | | |
|----------------------------------|---------------|
| १-स्वधुनम-पृथिवी-गायत्री (२४) | } वाक् "अगती" |
| २-बर्ह-अन्तरिक्ष-त्रिष्टुप् (४४) | |
| ३-स्वतः-द्यौः-अगती (४८) | |
- "वाक्साह्वरी"

५१०-वेद लोक वाक्-साहस्री त्रयीमूर्ति पार्थिव विराट्प्रजापति का तान्त्रिक स्वरूप-समन्वय-

उक्त तान्त्रिका एवं परितोषों से पाठकी को चिन्तित हुआ होगा कि, भूपिण्ड के ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र भवनों किया त्रयचरमूर्ति एकान्तर अग्निरुक्त प्रजापति से ही अग्निरुक्त वेदसाहस्री आपोमयी लोकसाहस्री वाक्मयी वाक्साहस्री इन तीन साहसियों में परिणत होता हुआ अग्निरुक्त पृथिवी आपोमयी पृथिवी वाक्मयी पृथिवी इन तीन पृथिवियों को अपने गर्भ में रक्ता हुआ सर्वाङ्ग मन्त्रप्रजापति बन गया है और इसी मन्त्रप्रजापति का नाम 'विराट् प्रजापति' है।

५११-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित अहर्गंगात्मक स्तोमों के गायत्रीछन्दोनिबन्धन

अष्टविध महिमाशिवर्णों का स्वरूप-समन्वय—

छन्दस्वरूप से यदि विराट् के स्तोमों की गणना की जाती है तो त्रिष्टुप् पञ्चदश एकविंश त्रिण्वक् त्रयस्विता चतुर्विंश पञ्चमस्तारिंश अष्टमस्तारिंश नवमस्तारिंश ये आठ स्तोम हो जाते हैं। यही अष्टमस्तारिंश गायत्री है। गायत्री अग्नि है अग्नि ब्रह्मा है गायत्री ब्रह्मा ही त्रिष्टुप् विष्णु वागन्-इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ आठ स्तोमों में विभक्त हो गया है। वृद्धे शब्दों में गायत्री ही त्रिष्टुप्-बगती रूप में परिणत होती हुई विष्टरूप में परिणत हो गयी है।

५१२-पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की सुपर्ण पक्षी' रूप में परिणति, तत्परूप के द्वारा तीसरे घुलोक से सोम का अपहरण, एवं 'चतुरचर छन्दों' का तान्त्रिक-स्वरूप दिग्दर्शन—

यह सुप्रसिद्ध है कि, आरम्भ में नमी कर्त्त चतुरचर ही थे- सर्वाणि च छन्दर्हि चतुरचरायवासन्' (वाचनमूर्ति)। भूपिण्डरूप आपोमय वेदसाहस्री को अपने आकाशभाव की रक्षा के लिए लोमावृत्ति की आवरणवृत्ता हुई। सोम भूपिण्ड से बड़ी वृत्तीले घुलोक में था— 'तृतीयस्था है इतो विवि सोम आसीत्'। उसके समीप बगतीछन्द पड़ता था। अतः सोमवेदसाहस्री परमेश्वर का पहिले चतुरचर बगती को ही सोम लाने के लिए भेजा। गन्धर्व सोम की रक्षा कर रहे थे। जब बगती बड़ी पहुँची तो रक्षक गन्धर्वों ने उसे मार मगाया। यही नहीं अपितु चतुष्पदा बगती के तीन पैर काट कर गन्धर्वों ने वहीं रख लिए, एक पैर से बगती बापल लीन आई। बगती के अनन्तर चतुरचर त्रिष्टुप् का स्थान आया। इसमें कुछ विशेष था या अतएव सोम न मिलने पर भी यह अपना शरीर अधिक क्षत न करावती। गन्धर्व इस का एक ही पैर काट सके, तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी बापल लीन आई। अब पृथिवी में रहनेवाली पति-प्रति' कक्षया चतुष्पदा गायत्री का स्थान आया। वेदसाहस्री ने ही सोम लाने के लिए प्रयत्न किया। गायत्री ब्रह्मका से उक्त वी ब्रह्मा की प्रतिष्ठा का इस में पूर्ण विकास था। इसी विशेषण से अतएव बगती हुई गायत्री पुनर्गौरव प्राप्त कर बड़े वेग से झमाटे के साथ सोमपर आक्रमण करने लग गयी— 'गायत्री धी सुपर्णो-मूर्त्ता सोममच्छात्पतत्'। परिणाम को कुछ हुआ सर्वविशित है।

५१३-त्रिष्टुप् के १ पैर, जगती का एक पैर, गायत्री के चार पैर, और समष्ट्यात्मिका गायत्री की अष्टाचररूपता का समन्वय—

गन्धर्वों की आत्मी में पूरा भौतिक कर गायत्री ने लोमावृत्तण तो किया ही। जब ही वह बगती के उस एक पैर, पञ्च त्रिष्टुप् के उन तीन पैरों को भी अपने साथ लेती आई था कि गन्धर्वों के द्वारा काट लिए गए

बन गायत्री स्वयं चतुरस्र परिलो भवती ही । अगती तथा त्रिष्टुप के १-६ पैरों से बाब मोमाहरण के वच साय गायत्री अष्टाक्षरा भी बन गई । तभी से गायत्री के सम्बन्ध में “अष्टाक्षरा वै गायत्री” यह नियम चल पड़ा ।

५१४-अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप, एवं द्वादशाक्षरा अगती के अक्षरसंख्या निश्चयन तात्त्विक स्वरूप का समन्वय, एवं गायत्री की सर्वरूपता—

यह त्रिष्टुप् और अगती ने यह सुना कि गायत्री ऊपर होकर नीचे आती है। अथ ही वह इनमें पैर भी तो आती है तो वह दोनों अपने अपने पैर मीनों के लिए गायत्री के समीप आई । गायत्री ने यह कहा कि पैर तुम्हें बाध नहीं मिल सकते । हाँ यदि तुम चाहो तो मुझ में मिल जाती हो । ऐसा ही हुआ । अतः त्रिष्टुप अष्टाक्षरा गायत्री में मिल गई । चतुर अष्टाक्षरा गायत्री एकादशाक्षरा बन गई । इसी एकादशाक्षरा गायत्री को ‘एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्’ कहा जाने लगा । एवमेव एकाक्षरा अगती भी गायत्री में मिल गई । इस से एकादशाक्षरा गायत्री द्वादशाक्षरा बन गयी । इसी द्वादशाक्षरा गायत्री को ‘द्वादशाक्षरा अगती’ कहा जाने लगा । इनप्रकार मोमादुष्टि के प्रभाव से अक्षरमन्त्रिणी गायत्री १-८-११-१२ मात्रों में परिवर्तित होकर गायत्री-त्रिष्टुप् अगती रूप में परिवर्तित होती हुई महासुखारूप प्राप्त कर त्रिष्टुप् रूप में परिवर्तित होगी । यही वैज्ञानिक आख्यान आध्यात्मियों में ‘पञ्च सौपर्याहमाख्यानमाख्यानविषय आचरते’ इत्यं कथं ‘सौपर्याहमाख्यान’ नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

५१५ आन्दाग्योपनिषत्सम्मतता ‘अक्षगायत्री’ की सर्वव्याप्ति का यशोगान—

इस आख्यान का भौतिक रहस्य क्या है ? यह अज्ञान का यही अक्षर नहीं है । इस से प्रकृत में होने बचाना केवल नहीं है कि, चतुरस्र किंवा अष्टाक्षरा गायत्री ही, गायत्र्यन्ता सूत्ररूप अक्षरवापति ही गायत्री-त्रिष्टुप्-अगती मूर्ति बनता हुआ ज्ञान-विद्युत्-इन्द्र मूर्ति बनता हुआ अग्नि-आप-बाह्म बनता हुआ उक्त तीन साक्षियों में परिणत होकर सर्वज्ञ बना है । अक्षगायत्री की इसी सर्वव्याप्ति का स्वीकरण करती हुई आन्दाग्योपनिषत् कहती है—

‘गायत्री वा इदं सर्वं मृतं यदिदं किञ्च । नामै गायत्री । बाग्वा इदं सर्वं मृतं गायति च प्रायते च । या वै सा गायत्री इयं वाग्वा अयेवं धृषिषी । अस्यां हीदं सर्वं मृतं प्रतिष्ठितम् । एतामेव नातिशीयते’

—आन्दाग्योपनिषत् ३।११।१

५१६-गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविध अष्टमस्तोत्र, एवं त्रिविध-युग्मस्तोमों का समन्वय तथा आयु स्वरूपरक्षक-एन्द्र-अन्तोमास्तोम-समन्वय—

गायत्र्यनुबन्धी उक्त आठ स्तोमों में कि पञ्च एक कि त्रय इन पाँच स्तोमों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है एवं चतुः अष्टम अष्टा इन तीन स्तोमों का एक स्वतन्त्र विभाग है । उन पाँचों को

‘अमुग्मस्तोम’ कहा जाता है इन तीनों को युग्मस्तोम कहा जाता है एवं वे ही मुष्मस्तोम छन्दोमास्तोम नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चतुर्विंशत्यक्षर गायत्रस्तोमा चतुश्चत्वारिंशदक्षर त्रैष्टुप् छन्दोमा अष्टाध्वारिण्यक्षर वाग्त छन्दोमा इन तीनों की (२४-४४-४८) अक्षरसंख्या का यदि संकलन किया जाता है तो ११६ अक्षर हो जाते हैं। इसी छन्दोमास्तोमविधान के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों ने एक छन्दोमय यज्ञ का आश्रित किया था। इस के अनुष्ठान से एक स्वस्वाम्यु विज्ञाति भी ११६ वर्ष पञ्चत जीवित रह सकता था।

५१७-वाङ्मय छन्दोमास्तोम की इन्द्ररूपता छन्दोमास्तोमों की अस्तोमरूपता, एवं स्तोमानुगत ३३ अर्हगणों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों वाङ्मय छन्दोमा स्तोमों का इन्द्र से सम्बन्ध है एवं ‘आमुषा इन्द्रः’ के अनुसार इहती वरुणसमक इन्द्रप्राण ही आयु का अविच्छिन्न माना गया है। इसी आधार पर छन्दोमा को आयुक्तक वयज्ञाया गया है। इन तीन का स्वरूप क्योंकि वाङ् से सम्बद्ध हुआ है अतएव स्तोमरूप रहने पर भी इन्हें स्तोममन्त्रांग से बाहर मान लिया गया है ‘अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमा (वा वा इति।१।)। विद्वान् विद्वन् स्तोम है वे सब इती वाङ् के वितान हैं। वाङ्मयी इन्द्रवाइसी ही अमुग्मरगमों की प्रविष्टा बनती है। इन्द्रवाइसी ही गौसाइसी है। मन-प्राणगमित वाग्वाच ही गौ है। रश्मिरूप ‘न तद्वत्स गौ-मावो का १-३ गौ के अनुपाल से पृथक् पृथक् संकलन होता है। ३ गौपाण की समष्टि को विज्ञानभाषा में ‘अहगण’ कहा जाता है। इस दृष्टि से ६६ गौपाणों के ३३ अहगण हो जाते हैं। १० अर्हगण योग पच जाते हैं यही इबारदी वाग्मयी किंवा कामधेनु कहलाती है।

५१८-वाङ्मय-एन्द्रस्तोमानुबन्धी पङ्क्तियों से अनप्राश्रित ‘वाक्’ के ६ महिमाविवर्ण, तदनुबन्धी वाक्पट्टकार, एवं तदनुप्राश्रित-वाक्पट्टकार’ रूप-‘वैपट्टकार’-के ‘वपट्टकार का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

इन ३३ अर्हगणों में से ३ अर्हगणों का योग ठा मूर्तिवरण इष्ट ब्रह्मा-विष्णु-‘न्द्र इन तीन देवताओं के साथ हो जाता है। योग ३ अर्हगण रहते हैं। केन्द्ररूप तीन (मूलप्रतिष्ठाकृत) अर्हगणों में १ के समावेश से त्रिहस्तोम का (६ का) त्रिहस्त में १ के समावेश से पञ्चस्तोम का (१४ का) पञ्चस्त में १ के समावेश से एकविंशस्तोम वा (२१ का) एकविंश में १ के समावेश से त्रिवाक्स्तोम का (२६ का) एवं त्रिवाक् में १ के समावेश से त्रयविंशस्तोम (३३) का स्वरूप निष्पन्न होता है। तदनुबन्धी ५ स्तोम हो जाते हैं। इन पाँचों स्तोमों का केन्द्र १० वाँ अहगण पड़ता है। यही ३ ठा सप्तवाँ अहगण उद्गीथप्रजापति-संज्ञक सप्तदशस्तोम कहलाता है। इसप्रकार ११ अर्हगणों के १-३-५-७-९-११-१३-१५-१७-१९-२१-२३-२५-२७-२९-३१-३३ में से १ स्तोम (यष्टि-हर) हो जाते हैं। ये १ वाँ उद्गीथ इन्द्रमयी वाङ्मयी पर प्रसिद्ध है। ठा एक ही वाङ् के ये १ स्तोम है वाङ् के पट्टकार का ही नाम वाक् पट्टकार है। वाक्पट्टकार ही परोक्ष मित्र देवताओं की परोक्षमाया के अनुसार ‘वपट्टकार’ किंवा ‘वापट्ट’ है। वपट्टकार सम्बन्धी व १ स्तोम ६-१४-इन्द्रान् विप्रमरीग के कारण अनुष्मस्तोम कहलाता है। एवं विज्ञानभाषा में इह ही-वृण्यमाम कहा जाता है। विप्रिय सुमरूप छन्दोमास्तोम ‘अभिप्यप’ नाम से प्रसिद्ध है।

५१६-स्तोमानुगत-मयह्लात्मक पृष्ठपस्तोम तथा रश्म्यात्मक अमिष्टपस्तोम, एवं तत्स्वरूप-संस्मरण—

भूपिण्ड की केन्द्र मान कर उठ के चारों ओर बस ल एक स्रक्ष हूत बना दीजिए एक एक हूत को एक एक गी समझिए । ऐसे गोप्य बसुल हूतों से जो छोटों का स्वरूप निष्पन्न होगा, वही "पृष्ठपस्तोम" किंवा "सुग्मस्तोम" कहलाएँगे । मृतयिक्त का इन्ही पृष्ठपस्तोम से सम्बन्ध रहेगा । भूकेन्द्र के चारों ओर रश्मियों का प्रसार कीजिए । ऐसी तरह रश्मियों को वाक्यवाहकी समझिए । वही अमिष्टपस्तोम कहलाएगा इसे ही सुग्मस्तोम किंवा छन्दोमास्तोम कहा जायगा एवं वही आयुर्विक्त की प्रतिष्ठा माना जायगा । इन्हीं से यह भी निश्च होगा कि ब्रह्मा-विष्णु का पृष्ठपस्तोम से सम्बन्ध है एवं इन्द्र का अमिष्टपस्तोम से सम्बन्ध है । अतएव तीनों में केवल इन्द्र की ही आयुर्विक्त का प्रयत्न क माना गया है ।

५२०-लोकत्रयी, अक्षरत्रयी, शुक्लत्रयी, छन्दस्त्रयी, मनोरात्रयी, एवं वेदत्रयी निवन्दन विविधमात्रापर विविधार्थमात्रों का स्वरूप-समन्वय—

अब निरूपक से अब वह अलमोति निश्च होचुका है कि, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित ब्रह्मात्मकी ही ब्रह्मसम्बन्धी बसुवैद्य के ३ मात्र से तत्समरूप अक्षरमात्र में परिणत होती हुई 'गायत्री' कहलाती है । ब्रह्म के अक्षरमात्र से बसुवैद्य किम्बदन्त में परिणत होती हुई 'त्रिष्टुप' कहलाने लगती है एवं ब्रह्म के गतिमात्र से नाममूर्ति इन्द्ररूप में परिणत होती हुई 'जगती' कहलाने लगती है । स्वलोक का विघटन ही 'स्व'-भुव-भू से तीन लोक हैं । ब्रह्मा का विघटन ही ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र के तीन ह्वाकर हैं । अग्नि का विघटन ही अग्नि-वायु-वाक् के तीन शुक्ल हैं । गायत्री का विघटन ही गायत्री-विष्णु-वक्त्री-के तीन छन्द हैं । वाक् का विघटन ही वाक्-गो-दो-के तीन मनोत्र हैं । बसु का विघटन ही बसु-बसु-जम-के तीन वेद [छन्दोवेद] हैं । इन लोक-ह्वाकर-शुक्ल-छन्द-मनोत्र-वेदत्रयी की समष्टि ही भूपिण्ड किंवा प्रतिष्ठास्थ 'भूमि' [अमिष्टपिण्ड] है ।

	लोक	अक्षरमात्र	शुक्लमात्र	छन्दमात्र	मनोत्र	वेद
५	भूमी	ब्रह्मा	अग्नि	गायत्री	वाक्	बसु
	भुव	विष्णु	वायु	विष्णु	गो	बसु
	भूमी	इन्द्र	वाक्	वक्त्री	दो	नाम

५२१-अपुग्मस्तोममयी-आग्नेयी-आद्री-गायत्रीरूपा, वेदसाक्षी मे ममविता-स्यर्लोका
स्मिका-‘आद्रीपृथिवी’ का स्वरूप-संस्मरण—

मृषियह के इसी प्रतीकित से पूर्वकथनानुसार आगे आकर स्वर्लोत्थमि ह्यपुत्र अग्निमम
 कार्मव सुद मय गायत्रीहृद। ब्रह्मा के अमृतलक्षण अग्निमम [तेजोरम] के ऊर्ध्व पितान मे अग्नि-वासु
 व्यष्टिमयी भृष्टिप्यस्तरिष्ठपुशोनामिका, गायत्री-विष्टपु-वगली हृदोमयी शुक्-युत-नाममयी गी-वी
 मनोमार्गिका कार्मनामयी यजमयी पृथ्वस्तोमामक शिष्ट-पञ्चरा-एवविश-नामक-अमुप्यस्तोममयी
 आग्नेयी ब्राह्मी पृथिवी का [वन्द्याह्वयी का] विधान हुआ ।

५२२-अयुग्मस्तोमस्यो आपोमयी वैष्णवी त्रिष्टुवरूपा लोक्ताद्वयी स ममन्विता
 भुवर्लोकान्मिमांसा वैष्णवी पृथिवी का स्वर्ग्य-संस्मरण—

मुक्तोऽर्मुर्दि विष्णुमयुक् आधेयस्य शीमस्य वसुधैव कुटुम्बकम् विष्णुः कृष्णः विष्णु के समूहमयम आधेय के ऊर्ग विमान से वन-साधनमय-विष्णुमयमयी वृषिधन्वनिचतुर्भुजमिषा गायत्री-विष्णु-कृष्ण-कृष्णमयी वाङ्ग शीमनामिता शीमनीमयमी कृष्णनाममयक कर्कश-विना-वर्कश नामक अतुल्यमयमयी आधेयमयी ऐश्वर्यी वृषिणी वा (शोकादयनी वा) विमान दृष्टा ।

५२३-पुग्मन्तोममयी, बाह्मयी, ण्द्री जगतास्वा बाह्माहर्मी । ममन्विता भूताका-
स्मिन् ण्द्री पृथिवी वा स्वल्प-ममरण—

भूलानमूर्ति पतिगान्धुन बाह मय दीमय लाममय अर्धलान्दा इष्ट के अष्टन-लपल बागन
के ऊर्ध्व पित्र मे अष्टन-पत्नी-अरमरी पुष्टिनिधि-शुल्लोर्ध्व मया गावरी-रिष्ट बागी-अष्टनी-
मरी बाग-गो मलोप गतिगो दी मनाममदी अमि-लपलान्ता मेक अष्टिष्ट अष्टन-पति अष्टन-पति-
पुन्यमममदी बाह मरी अष्टनी-पति बा (बाहनामरी बा) रिक्तन लान्ता ।

१०४-अपुनः पुनश्चाप्यनुगता प्रलोकप्रलोकस्मिन् महापृथिवी का मरुतनामक-
स्वरूप गन्धराजस्य पृथिवी क परिमित अन्तर्बेदि, तथा अपरिमित बहिर्बेदि
स्वरूपोका तावत्तत्त्वं स्वरूप-गमय -

[illegible]

परिमितं रूपं कल्पयेद्वि अथैव भूमाऽप्यपरिमितो यो वाह्वेद्वि (ये जा ८।५।) । • 'सिन्धो वा
इमा पृथिव्य-इवमहोष्ठा इमे आकाश परे' (शत ५।१।५।२१) ।

१-ब्राह्मी पृथिवी—(पृष्ठपस्तोमात्मिका) (वदसाहसी)

- १ { १-अग्निः—पृथिवी—गायत्री—शुक्—वाक्—विह्व
२-वाक्—अन्तरिक्षम्—त्रिष्टुप्—बहुः—गौ—यजुर्वेद
३-आग्निः—यौ—अगती—सम—यौ—यजुर्वेद } स्वर्गोक्तपृथिवी दण्डपुक्तोऽग्निमयो वाह्वेद्वि—
शुक्—मयी गायत्रीकृत्वा ब्रह्माभूताग्निरेतेनोर्ध्वं
गच्छन् सप्तमिमां गायत्रीकृत्वा पृथिवीं विवर्षति
‘सैषा गायत्री पृथिवी’

२-वैष्णवी पृथिवी—(पृष्ठपस्तोमात्मिका) (लोकसाहसी)

- २ { १-यनः—पृथिवी—गायत्री—शुक्—वाक्—यजुर्वेद
२-मात्सरसम्—अन्तः—त्रिष्टुप्—बहुः—गौ—यजुर्वेद
३-विह्वेद्वि—यौ—अगती—सम—यौ—यजुर्वेद } सुर्गोक्तपृथिवीकृत्वा ब्रह्माभूता
बहुर्गम्यति पृष्ठपुस्तकां विष्णुरमृतान्तरितोर्ध्वं
गच्छन् सप्तमिमां त्रिष्टुप्कृत्वा पृथिवीं विवर्षति—
‘सैषा—“त्रिष्टुप् पृथिवी’

३-ऐन्द्री पृथिवी—(अभिप्लवस्तोमात्मिका)—वाक्साहसी—

- ३ { १-अजन्तम्—पृथिवी—गायत्री—शुक्—वाक्
२-अहं—अन्तः—त्रिष्टुप्—बहुः—यजुर्वेद
३-स्वर्ग—यौ—अगती—सम—अहोम् } भूतोक्तपृथिवीः परिवाहपुक्तो वाक्—मयी श्रीमद्वि
सप्तममयी अगतीकृत्वा—इन्द्रोऽप्युत्पन्नतेनोर्ध्वं
गच्छन् सप्तमिमां अगतीकृत्वा पृथिवीं विवर्षति—
‘सैषा—“अगती पृथिवी’

५२५-महिमापृथिव्यनुगता सुवर्ध-रजत-सौह-पातुमयी तीन पुरियों का संस्मरण,
एवं अथर्वधृति—

सुवर्धल वही तीनी पृथिवी उपसंहितान के अनुसार हिरण्यमयीपुरी राजतीपुरी अक्षमयी-
पुरी इन मानी से स्थित हुई हैं। ऐन्द्री वागती सुवर्धपुरी है वही पुण्य का वैकुण्ठनाम है। वैष्णवी

• इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।

वातामपि त्वयो अहं मेपजं सप्त अग्रमम् ॥ (अथर्व)

—अथर्ववेदिका १०।१।

त्रैलोक्यी प्रथिनी राक्षसपुरी हे यही पुराण का श्वेतद्वीप हे। ब्राह्मी गायत्री प्रथिनी लोहपुरी हे बरी पुराण का भारवद्वीप हे। ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र ये तीन प्रिथ्वी हीं इस त्रिवेणपुरी के निर्माता हैं। अथर्ववेदिताने विष्णुशस्त्रों में 'त्रिपुरी' रूपा इस देवपुरी का निम्नालिखित शब्दों में यथोगान किया है—

१-दिवस्त्वा पातु हरितं, मध्यात् त्वा पात्यर्शु नम् ।

भूम्या अपस्मर्यं पातु प्रागात् देवपुरा अपम् ॥

२-इमास्त्रिस्तो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।

तास्त्वं विभ्रव् तर्षस्म्युचरो दिपता मय ॥

३-पुर देवानामसुतं हिरण्यं य आबध देवो अग्ने ।

तस्मै नमो वय प्राचीः कृणोम्यनु मन्यन्तां त्रिवृदावधेमे ॥



—अथर्वसंहिता ५१०८.१० ११ ।

५०६-देवपुरत्रयी की रहस्यपूर्णा 'त्रिमुपर्गरूपता' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की सोमापहरणमूला अस्मकता से अनुप्राणित त्रिब्रह्मावापक तीन पार्थिव लोकों के तीन सुपर्णों की समष्टि का स्वरूप-समन्वय—

ये ही तीनों देवपुर अथर्वसंहिता में 'त्रिमुपर्ग' नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। वैदिक पूर्व में स्वर्ग दिया जा चुका है अतएव गायत्री ही सुपर्ण बनकर सृतीय लोक से सोमापहरण करती हुई गायत्री-त्रिपु-बन्धी इन तीन रूपां में परिणत होती हुई उक्त तनों प्रथिवियों की स्वल्प-उपार्धिका बनती है। क्योंकि प्रबन्धी कर्ण है एवं इस सुपर्णगायत्री के ही ये तीन विलान हैं अतएव इन तीनों प्रथिवियों को हम 'त्रिमुपर्ग' कह सकते हैं। सूर्यवद्वत्ता गायत्री मृत्युशुक्रप्रधाना (अग्नि आप-वाह मयी-मृत्युशुक्रजबीरता पा० वि० बगतीमयी गायत्री) है एवं इन तीनों प्रथिवियों की गायत्रीरूपा अग्निशुक्रमयी गायत्री त्रिपु-रूपा अमृत आप-शुक्रमयी गायत्री बगतीरूपा अमृतवाक् शुक्रमयी गायत्री अमृतशुक्रप्रधाना है। तीनों सुपर्णों का विलान ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्ति त्र्यम्बरगमित एकाक्षरमूर्ति ह्य अक्षरक प्रधानति के आचार पर ही हुआ है—तीनों सुपर्णों में प्रत्येक सुपर्ण त्रिब्रह्म है अतएव स्वोम मे से प्रत्येक मे तीन तीन लोक होजाते हैं। अथर्वमंत्रि ने जिसो-अक्षरिका इसी त्रिमुपर्गरूपता का भी स्पष्टीकरण किया है—

१-त्रेधा ज्ञात जन्मनं हिरण्यमग्नेरक प्रियतमं प्रमृष सोमस्यैकं हिसितस्य परापतत् ।

अपायेकं वेधमा रत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्तापुष ॥

२-त्रयः सुपर्णास्त्रिभता यदायमकाक्षरमभिसम्भूय शुक्रा ।

प्रसोहन् मृत्यु-ममृतेन माक्रमन्वर्धमाना दृष्टितानि निश्वा ॥

—अथर्वसंहिता ५१०८.६५८

३-त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायु नाकस्य पृष्ठ अधि विष्टपि भिताः ।

स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इममृजं यजमानाय दुहाम् ॥

—अथर्वसंहिता १८१.१४।

१	$\left\{ \begin{array}{l} १५-गायत्री-यु म० \\ १५-विष्णु-अ विष्णु \\ २१-बगती-दी इन्द्र \end{array} \right\}$	गायत्री म०—गायत्रीको गायत्रीमुपनिषद्।	} - त्रिसुपत्ता गायत्री
२	$\left\{ \begin{array}{l} २१-गायत्री-यु म० \\ २७-विष्णु-अ वि \\ ३१-बगती-दी इन्द्र \end{array} \right\}$	विष्णु विष्णु—विष्णुको गायत्रीमुपनिषद्।	
३	$\left\{ \begin{array}{l} २४-गायत्री-यु म० \\ ४४-विष्णु-अ वि \\ ४८-बगती-दी इन्द्र \end{array} \right\}$	बगती इन्द्र—बगतीको गायत्रीमुपनिषद्।	

६२७-६ २१-२४-संख्याओं से मित तीन पृथिवीलोक, १५-२७ ४४-संख्यालुगत तीन अन्तरिक्षलोक, एवं २१-३१-४८ संख्यालुगत तीन द्युलोक—

यस तीन ही सुपत्तों की विहत् कलाया है। विहत् का अर्थ है—प्रत्येक सुपत्त पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-इन तीन तीन लोकों से युक्त। इन वक्रि से ६-२१-२४ के तीन पृथिवीलोक होमाते हैं, १५-२७-४४ के तीन अन्तरिक्षलोक होमाते हैं। एवं २१-३१ ४८ के तीन द्युलोक होमाते हैं।

५२८-समुद्र, एवं मत्सरिषा नामक पारिमापिक अन्तरिक्ष, तथा नाक, ब्रह्मस्य विष्टप-ध्वज्य-नामक पारिमापिक द्युलोक का स्वल्प-सयन्वय

वैदिक परिमाणानुसार ऋग्वेद अन्तरिक्ष को समुद्र एवं 'मत्सरिषा' कहा जाता है। ऋग्वेद द्युलोको 'नाक' 'ब्रह्मस्य विष्टप' एवं 'सुध्वज्य' इन नामों से व्यक्त किया जाता है। इत सामान्य परिमाण के अनुसार १५-२७-४४ के तीन अन्तरिक्ष समुद्र मत्सरिषा इन नामों से २१ ३१ ४८ के तीन द्युलोक नाक-ब्रह्मस्य विष्टप स्वर्ग इन नामों से भी व्यक्त किया जाते हैं। महाप्रपिनी की इसी विह्वलध्वि का विस्तृत चर्चा में दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रमूर्ति कहती है—

१—विष्टो दिवस्तिष्ठः पृथिवीस्तीक्ष्णान्तरिक्षाणि क्षुरः समुद्रान् ।

त्रिषत् स्तोम त्रिषत् आप ब्राह्मस्ताप्त्वा त्रिषत् त्रिषक्तिः ॥

२—ब्रह्माकर्षन् समुद्रांस्त्रिषत् ब्रह्मास्तीन् क्षप्यन् ।

ब्रिम् मातरिषवस्त्रीन् स्वर्यान् गोप्स्व नक्षत्र्याणि से ॥

(अथर्व सं० १।२।३।४।)

१-त्रिवृद्धिमूर्ति —

- १-त्रिवृद्धिमूर्ति (६) — ब्रह्म पृथिवीभोको गायत्र-पृथिवी
 २-एकविंशत्यमूर्ति (२१) — वैष्णव पृथिवीभोको गायत्र-पृथिवी
 ३-अनुष्टुप् (२४) — अन्तर पृथिवीभोको गायत्र पृथिवी

—●●●—

- २-त्रिवृद्धिमूर्ति (२५) — ब्रह्मोऽन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)
 ३-त्रिवृद्धिमूर्ति (२६) — वैष्णवोऽन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)
 ४-अनुष्टुप् (२४) — अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)

—●—

- ३-त्रिवृद्धिमूर्ति (२१) — ब्रह्मोऽन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)
 ४-अनुष्टुप् (२४) — अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)
 ५-अनुष्टुप् (२४) — अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा)

—●—

४२६-द्विरात्रिंशति को पूर्वमस्या स अनुप्राणित प्रात्रापस्य विरक्तो का सम्मरण —

विष्णु पञ्चम को धर्मो दस के लिए द्वात्रिंशति का विष्णु पञ्चम के पूर्व में विष्णु पञ्चमप्राणित (४-गणेश पञ्चमप्राणित अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है।

४३०-द्विरात्रिंशति क जन्मदाना पञ्चमप्राणित क यन्त्राव प्रित्ताक्षर्य मदियामय स्वयं का गमनवय —

इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है। अन्तरिक्षलोकाद्यैन्द्रम अन्तरिक्षम् (अनुष्टुप्-मातृशिक्षा) पर परात्मा (गणेश पञ्चम) इन दोनों का एक ही प्राणित है।

तीसरे पहर के में यह किता जाबुका है। बड़ेहर, किता बड़ेहर की तीसरी रोहरीमित्रीकी में भूविषयो की भूविषयो कहा है आन्तरिक को आन्तरिक कहा है एवं प्रत्यक्ष रूप की दृष्टि कहा है। इसप्रकार केवल मुख्य रोहरीमित्री में ५ अन्त की इन तीन लोगों का मोल बताया गया है।

५३१—यज्ञप्रजापति के महिमात्मक स्वरूप का अन्तिम-स्वर्णतमपर्व-भूश्लोक, एवं तद-द्वारा विराट्पुत्र की प्रवृत्ति, तथा तन्निवन्धना विराट्प्रजापति की विकारहररूपता का सम-इय—

अब सर्वान में प्रकाश रोहरी मित्रीकी का भूविषयक भूविषयोको हमारे सामने आया है जोकि अन्त-हरमूर्ति कोहरार का अन्तम पर्व कहा जानाया है। इसी अन्तिम पर्वक भूविषय से पूर्वोक्त तीन भूविषयो का विकास बताया गया है। तीनों भूविषयो भूविषय हैं अतएव इस भूविषयोकी को हम 'विकारहर-मरकत' कर सकते हैं। यही किता अन्तिम है अतएव विराट्प्रजापति को हमने- विकारहरमूर्ति कहा है।

५३२—पितापुत्रप्रजापति के स्वर्यांश से समुत्पन्न विराट्प्रजापति की महिमा का महतो महीयान् विस्तार, तद्द्वारा पुत्र विराट् की 'पितृपिठासह' रूप में परिचयि, तथा तन्निवन्धन विराट् का ही वैश्वोक्त्य में यशोगान—

क्योंकि विराट्प्रजापति उस कोहरारप्रजापति के अवसरक भूपूर्व का विचार है अतएव उसे इस का विचार कर सकते हैं इसे उक्त पुत्र कह सकते हैं। 'गुरु गुरु रहगाए-बेस शब्द बनगाए' किन्तु ही शब्द व्यवहार में शक्ति है। वहाँ भी ऐसा ही हुआ। पिता प्रजापति से पिता ही से पुत्र उत्पन्न विराट्पिता के भी पिता बन गए। पुत्र की महिमा पिता से भी बढ़ गई। उन्नी ही इहं 'विराट्' (बहुत बड़े) कहा गया। कभी महिमा बढ़ गई है, उक्त उक्त ही पिता से ही पुत्रता आये। कैसे बढ़ गई है, इस का व्याख्यान ब्रुति कर देती है। पिता प्रजापति यदि १०० प १०० अन्त भूविषयो वहाँ की कोहरार महान् विराट् प्रजापति से इस में कोई बढ़ाव नहीं है। पिता के कोश में बहुत लम्पि पहले से ही विद्यमान है उन्नी महान् की विराट् मह-त्व नहीं दिया जानाया। महान् ही उन्नी प्रजापति मानी जानगी जिसे पिता से पिता बहुत बड़ा पञ्च अपने उक्त कम से बितने पिताक लम्पि उत्तम करती। विराट् आरम्भ में क्या था, पिता कोहरार का एक छोटा सा भूपूर्व। उन्नी से आगे आकर १०० पर्वत विराट् होत हुए न केवल प्रजापति की महता प्राप्त की, किन्तु इन के साथ साथ हरकाहर के विमान से योहरी आचारप्रजापति (प्रजापति का पिता इत विराट् का पिता मह) निगुण अव्यय (योहरी का पिता प्रजापति का पितामह विराट् का पितामह) एवं शा ब परत्तर (अव्यय का पिता यो० का पितामह प्रजापति का पितामह एवं विराट् का इहप्रजापतिमह) इन की प्रतिमति कुछ हुआ अतएव विराट् नाम से प्रतिमि हीन हुआ वह 'पितृपिठासह' (अप का भी साथ) बन गया। आर बरात्तर-अव्यय-योहरी-बड़ा की कीर्ति मही जानता। सर्व विराट् का ही यशोगान होता है। अन्त लोगों की प्रजा की जाने दीये। कम से कम विराट्मिका पार्थिव प्रजा। (बहुतशक्ति भूतकी) के तो सर्वोत्तम विराट् प्रजापति ही की ग्य है।

४३३-विराट्प्रजापति के स्वरूप में यज्ञप्रजापतिस्वरूप के त्रैलोक्यात्मक विस्तार का अन्तर्भाव—

इस त्रिविध्याग्नि का पृथिवी से कृतरूप विराट् के केन्द्र में शाश्वतवर्त्मस्य ऋ-परस्परगमित अम्ययगृह दोषशील प्रसन्नगुणहीन आत्मब्रह्मविं इन्द्रविष्णुगमित अग्निमूर्ति मीम ब्रह्मा (यज्ञप्रजापति) तो प्रति-
ष्ठित है ही, इस के अतिरिक्त इन में संयती-अदती-रोदती तीनों त्रैलोक्यों का भी उपभोग होता है ।

४३४-गीताप्रतिपादित विराट्प्रजापति के विशेष भावों का निर्विरोध समन्वय एवं भुक्ति स्तुत्य पवर्णित विराट्प्रजापति के रहस्यात्मक स्वरूप का समष्ट्यात्मक-सकलान—

संयती का प्रवर्त्यमाण इस के अन्ती पृथिवी में अदती का प्रवर्त्यमाण इस की वैष्णवी पृथिवी में एवं रोदती का प्रवर्त्यमाण इसकी बाकी पृथिवी में प्रतिष्ठित है । स्तोमविष्णुगानुसार ४८वें स्तोम में स्वयम्भू का प्रवर्त्य माय प्रतिष्ठित है । ३१ वें स्तोम में यमोष्ठी का आप माय प्रतिष्ठित है । २७ में अन्नमा का प्रवर्त्यमाण प्रतिष्ठित है । २१ में सूर्य का प्रवर्त्यमाण प्रतिष्ठित है । विप्रतिपति तो यही न उठाई गई थी कि-अथ सूर्य-अन्न-परमेष्ठी-स्वयम्भू चारों यज्ञेश्वर के एवं है एवं विराट् का अथ केवल पार्थिव विस्तार से सम्बन्ध है तो गीता ने सूर्य-अन्नाग्नि का विराट्स्वरूप में किम आचार पर अन्तर्भाव मान लिया साथ ही किम आचार पर गीता ने विराट् की आत्म्य-आद्य-एवं शाश्वतवर्त्म (परस्पर) कह डाला । यही-
रूप, किम यज्ञेश्वर के चारों पक्ष मीमविराट् स्वरूप से सम्बन्धित है । अथवा ही परस्परव्यवहार चारों की भी स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं । अथवा अथवा ही विराट् को केवल पार्थिव ही माना जा सकता है और मानना चाहिए ।

४३५-विराट्प्रजापति के लोकात्मिक अष्टविध महिमाय स्तोमश्रुतों के द्वारा यज्ञ प्रजापति का महिमाय आठों दिग्गों का प्रवर्त्यमाण सग्रह, एवं तद्द्वारा विराट्की सर्वरूप में परिचय—

पद्वि अपने इन्द्रगृह अतिगृह पञ्चराश्र गृह पवर्णित गृह विष्णुगृह अतिगृह गृह अतिगृहगृह गृह इन गृहों में अम्यय परस्परगमित दोषशील अन्न के रोदती के मरधानीय विह्वलित के रोदती के पञ्चराश्र स्थानीय अन्तरिक्ष के, रोदती के एकविध स्थानीय सूर्य के अदती के अतिगृह (त्रिगुण) स्थानीय अन्नमा के अदती के अतिगृह स्थानीय आपोमय परमेष्ठी के एवं संयती के अतिगृहगृह स्थानीय अन्न के प्रवर्त्यमाणों को होता हुआ यह अपने केवल इतपार्थिवरूप से ही परस्पर-
अम्यय-आद्य-अग्नि-अन्तरिक्ष-सूर्य-अन्नमा परमेष्ठी (आप)-थी-इन सब का अतिगृह का रहा है । और इसी प्रवर्त्यमाण से गृह रहने के कारण ब्रह्मोदनरूप परस्परदि से गृह रहने पर भी इसे गीता ने परस्परव्यवहार कह दिया है जिस में कोई विप्रतिपति नहीं उठाई जा-
सकती । विराट् का इसगृह परस्परव्यवहाररूप है । विह्वलगृह (१) अग्निरूप है पञ्चराश्रगृह (२) अन्तरिक्षरूप है । एकविध (२१) गृह सूर्यरूप है । विष्णुगृह (२७) अन्नमा है अतिगृह गृह (३१) परमेष्ठी (आप) रूप है एवं अतिगृहगृहगृह स्वयम्भूरूप (वीर्य) है । ममी

कुछ ठीक इस में है। विराट्प्रजापति की इन्हीं पाँच-संज्ञाओं से सर्वव्यपि की स्वीकृत्य करती हुई अथर्व-मुक्ति करती है—

१-अग्नि सूर्य, अन्त्रमा, भूमि रापो धौ, रन्तरिक्षं, प्रदिशा दिशश्च ।

आर्चवा ऋतुमि संबिदाना अनन मा त्रिवृता पारमन्तु ॥

—अथर्वसं० ११८७१

५३६-पुराणपरिभाषानुसार अन्त्रमा का सूर्य से ऊँच-स्थिति-समान्य, एवं तन्निबन्धना पौराणिकी रहस्यात्मिका परिभाषा—

पुराण ने इन्हीं विराट्प्रजापति के संज्ञा से अन्त्रमा को सूर्य से ऊपर बतलाया है। प्रत्यक्ष इस सूर्य एवं विराट् के २१ स्तोम पर सूर्य का ही प्रथमरूप आदित्य नामक सूर्य मिल है। प्रत्यक्ष [ऐतरी के] सूर्यब्राह्मण में कहा अन्त्रमा नीचे है परन्तु सूर्यप्रथमरूप पार्थिव एकविंशत्य आदित्यनामक सूर्य की अपेक्षा-भूमि की तिस्रह स्थान में प्रतिष्ठित प्रत्यक्ष [अन्त्रमा का] (जो कि अन्त्रमा मास्वरतनमूर्ति है) प्रथममग्न, अतएव अन्त्रमा नाम से ही प्रतिष्ठित अन्त्रमा अथर्व ही [एकविंशत्य आदित्यरूप पार्थिव-वैद्य सूर्य की अपेक्षा] ऊपर [१० में] प्रतिष्ठित है। पुराण के इस धारणा को न मानने के कारण दिन पक्षिमी विज्ञानों में पुराण के वैद्यब्राह्मणों—“अन्त्रमा सूर्य से ऊपर है” इस विज्ञान का उपलब्ध किया है वे अथर्व ही अमरा का कारण भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में बन है।

१-वीः	[अत्रावत्वा संकीर्य प्र]	[१८] स्वयम्भूः	} संकीर्य विराट्
४-आनः	[अन्त्रिवाद्योमः-४० परमेष्ठिनः प्र]	[११] परमेष्ठी	
४-अन्त्रमा	[अन्त्रिवाद्योमः अन्त्रमा अन्त्रमा अन्त्रमा]	[२०] अन्त्रमा	} अन्त्रमा विराट्
१-सूर्य	[एकविंशत्योमः-ऐतरेया सूर्यस्य अन्त्रमा]	[२१] सूर्य	
२-अन्तरिक्षम्	[अन्त्रिवाद्योमः-ऐतरेया अन्त्रिवाद्योमः]	[१५] अन्तरिक्षम्	} ऐतरेया विराट्
१-अग्निः	[अन्त्रिवाद्योमः-ऐतरेया अग्निः]	[१] अग्निः	



५३७-विराट्प्रजापति का ‘कविपुत्रत्व’, एवं तन्निबन्धन ‘पितृपितासत्’ भाव—

विष्णु पञ्चमहापति का महत्त्व नैफली-अन्त्रली-ऐतरेयी इन तीन वैशेषिक-विशेषिकों ही पर ही विमान्य एवं वान्तु पुन विराट् प्रजापति का महत्त्व तो इस से भी बारीक कहा हुआ है। पञ्चमहापति की ऐतरेयी विशेषी

•—मूमा [विराट्-विष्णुविष्णु]

इस विराट् की ऐन्द्री पृथिवी है। यज्ञ की कन्दरी त्रिलोकी इस विराट् की वैष्णवी पृथिवी है। यज्ञ की रोदसी [भूमि-अन्तरिक्ष-सूर्यरूपा] विराट् की ब्राह्मी पृथिवी [त्रिष्टुप्-अन्तरिक्ष-एकमिन्द्रमा] है। यहाँ एक दो पिता पुत्र समान रहे। परन्तु विराट् का अविभाग तीनों त्रिलोकियों से अतिरिक्त मूषेष्ट पर खीर रहा। यहाँ तीनों में ही मायिष्ट का अन्तर्भाव या यहाँ मायिष्ट तीनों से प्रत्यक्ष है। कवि पुत्र के इसी महत्त्व का निर्वर्तन करते हुए श्रुति कहते हैं—

१-स्त्रिय सतीस्तां उ मे पुत्र आहुः पर्यदक्षयाम विवेतदन्धः।

कविर्यः पुत्र स इमाविकेत यस्ता राजानात् स पितृपितासत्

—शुक्ल० १।२६।१६।

५३८-यज्ञेश्वरप्रजापति की भू-भुवः-स्वः-रूपा तीनों महाप्याहृतियों का पुत्र विराट्-

प्रजापति के महिमाय स्वरूप के साथ समन्वयात्मक-समतुलन—

अब यह खीर देख लीजिए कि विराट् त्रिलोकी में यज्ञेश्वर की ऐन्द्री कन्दरी रोदसी का संग किन रूप से हुआ। विराट् प्रतिष्ठा रूप भूमि किन्ना मूषिष्ट को एक खीर रखते हुए महिमा रूप तीनों पृथिवियों का विचार कीजिए। परिमाणानुसार गायत्री पृथिवी का त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष का एवं बगली तुलोक का द्वन्द्व माना जाता है। किन्ना गायत्री पृथिवी, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष एवं बगली तुलोक माना जाता है। क्योंकि गायत्रोऽर्चं [भू-]लोकः [की० दा१]-‘गायत्री का इयं पृथिवी’ [रा० १।१।१।१]-‘त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः [की० दा१]-‘अन्तरिक्ष त्रिष्टुप् [जिं प्रा० उप० १।१।१।१]-‘बागलीऽग्रे तुलोक-[की० दा१]-‘असौ बगली’ [जे प्रा० उप० १।१।१।१] इत्यादि भीत निगमबचनों में स्पष्ट है।

५३९-यज्ञेश्वरप्रजापति की महाप्याहृतिपरी की प्रतिकृतिभावापका विराट्प्रजापति की

तीन महाप्याहृतियों का स्वरूप-समन्वय—

क्योंकि ब्राह्मी पृथिवी गायत्री द्वन्द्व प्रकाना है इसलिए इसे पृथिवी कहा जा सकता है। वैष्णवी पृथिवी त्रिष्टुप् द्वन्द्व प्रकाना है। अतः इसे अन्तरिक्ष कहा जा सकता है। एवं ऐन्द्री पृथिवी बगलीद्वन्द्व-प्रकाना है अतएव इसे तुलोक माना जा सकता है। यही तीनों पृथिवियों का रूप या भूतत्व रोदसी मुखरूप कन्दरी, एवं स्वः रूप उदसी, इन तीन [यज्ञप्रजापति की] महाप्याहृति की प्रतिरूप [प्रत्यय रूप प्रतिकृति] समन्वय।

५४०-यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भूतत्व रोदसी त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भूलोक के साथ समतुलन-समन्वय—

यहाँ तुलोगोत्रजिता महाप्याहृतिरूपा रोदसी में गायत्रीद्वन्द्वोक्त गायत्र अन्विमय भूलोक [मूषिष्ट] पृथिवी है त्रिष्टुप्द्वन्द्वोक्त गायत्र वायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्ष है एवं बगली तुलोगोत्रजिता गायत्र सूक्ष्म [प्रत्ययद्वन्द्व] स्वर्लोक तुलोक है। यहाँ की तुलोगोत्रजिता ब्राह्मी पृथिवी में त्रिष्टुप् माना किन्तु गायत्रीद्वन्द्वोक्त गायत्र अन्विमय भूलोक पृथिवीलोक है यज्ञशक्त्यामायिष्ट त्रिष्टुप् द्वन्द्व गायत्रवायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्षलोक है एवं एवं यज्ञशक्त्यामायिष्ट बगलीद्वन्द्वोक्त गायत्र का सूक्ष्म स्वर्लोक है। रोदसी की अन्तर्भाव गायत्री है।

५४१-यशस्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-सुष-रूप क-इसी-त्रैलोक्य का विराट्-प्रजापति के साक्षप्रयात्मक-सुषर्त्तोक के साथ समतुलन-समन्वय—

यशस्वर की महाम्नादिति का स्वरूप बतलाने हुए वह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंशही विषयी ही कन्दरी का प्रतीक बन जाती है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए विचार करना है। यहाँ की सुषो कोषतद्विषय महाम्नादितिबलया कन्दरी में गावर्षीकन्दरीयुक्त राघवन्तर वैष्टुम आग्निमय शरीरौ वैश्वानर विराट् शरीरौ च स्व स्थानीय भू-सुष को गम्य में रखन वाला स्वर्लोक्यात्मक स्वर्ष ही प्रविष्टी है। महाम्नादितिबल, विष्टुमन्दरीयुक्त वैष्टुम शिवकालु महर्त्तोक अन्तरिक्ष है। दिक्क्षाममय जगतीकन्दरीयुक्त वनस्तोक (परमेश्वरी) यलोक है। यहाँ की सुषो कोष लक्षित वैष्टुम में विष्टु-पञ्चरागमित प्रविष्टास्त्वामाविक्षिप्त गावर्षीकन्दरीयुक्त वैष्टुम वेनमय [स्वर्लोक्यात्मनीय] प्रदेश प्रविष्टीलोक है। विष्टुम स्वर्लोक्यात्मिका विष्टुम कन्दरीयुक्त, वैष्टुम मास्वर शेनमय [महर्त्तोक स्थानीय विष्टुम चन्द्रस्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं प्रविष्टास्त्वामाविक्षिप्त जगतीकन्दरीयुक्त वैष्टुम दिक्क्षीय [आगे] मय [वनस्तोकस्थानीय, विष्टुम परमेश्वरी-स्थानीय] प्रदेश यलोक है। कन्दरी की उमानवा ग्वाय है।

५४२-यशस्वरप्रजापति त्रैलोक्यात्मक स्वः रूप सपती त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के साक्षप्रयात्मक स्वर्त्तोक के साथ समतुलन-समन्वय—

उसी महाम्नादिति-प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, कन्दरी विराट् ही, [विष्टुम कन्दरी विषयी का वनस्तोक्यात्मक परमेश्वरीय यलोक ही] वपती च यलोक बनता है। इस मय की लक्ष्य में रखते हुए इस लक्ष्य विषय की मीमांसा कीजिए। यहाँ का स्वर्लोक्यात्मक महाम्नादितिबलया सपती गावर्षीकन्दरीयुक्त की बागल आग्नेय कन्दरीवैश्वानर [विष्टुम कन्दरी का स्वस्थानीय भू-सुष की मन में स्थाने बलता परमेश्वरी विष्टुम वनस्तोक] प्रविष्टीलोक है। विष्टुम कन्दरीयुक्त आगत वनस्तोक वनस्तोक अन्तरिक्ष है। यामय जगतीकन्दरीयुक्त आगत प्राक्मय स्वर्लोक [स्वस्थानीय] यलोक है। यहाँ की स्वर्लोक्यात्मिका विष्टुम वैष्टुम प्रविष्टी प्रविष्टी च विष्टुमप्रामाविक्षिप्त गावर्षीकन्दरीयुक्त आगत वनस्तोक (वनस्तोक स्थानीय) प्रदेश प्रविष्टीलोक है। चन्द्रस्थानीय स्वर्लोक्यात्मिका विष्टुम कन्दरीयुक्त आगत वनस्तोक [वनस्तोक स्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं महाम्नादितिबलया विष्टुम कन्दरीयुक्त आगत वनस्तोक (वनस्तोक स्थानीय) प्रदेश यलोक है। कन्दरी की उमानवा ग्वाय है।

५४३-सूर्यरूपस्थ पिता-यशस्वरप्रजापत्यपवयवायि विष्टुम मास्वरय विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का समन्वय—

इतमकम पिता यशस्वरप्रजापति की तीनों विलोकिनी का पुत्र विराट् प्रजापति तीनों विलोकिनी में भीम पित्र होबला है। एवं सूर्यरूप से विष्टुम बनता हुआ वह पुत्र पिता की अग्नेय मी विराट् बनता हुआ गीता के विष्टुम रूप का लक्ष्यना कथक बन रहा है। लक्ष्य ही अंश पार्थिव विष्टुम लक्ष्य का मी।




















































































१-महा गावर्षी—स्वा—महाग्नि विराट्

२-विष्टुम—वैष्टुम—सुष—परमेश्वरी—विष्टुम

३-वपती—आगत—यु—महर्त्तोक—विष्टुम

—सूर्यविष्टुम [पिता]

[१०] १. १००० २. १००० ३. १००० ४. १००० ५. १००० ६. १००० ७. १००० ८. १००० ९. १००० १०. १०००
 ११. १००० १२. १००० १३. १००० १४. १००० १५. १००० १६. १००० १७. १००० १८. १००० १९. १००० २०. १०००
 २१. १००० २२. १००० २३. १००० २४. १००० २५. १००० २६. १००० २७. १००० २८. १००० २९. १००० ३०. १०००
 ३१. १००० ३२. १००० ३३. १००० ३४. १००० ३५. १००० ३६. १००० ३७. १००० ३८. १००० ३९. १००० ४०. १०००
 ४१. १००० ४२. १००० ४३. १००० ४४. १००० ४५. १००० ४६. १००० ४७. १००० ४८. १००० ४९. १००० ५०. १०००
 ५१. १००० ५२. १००० ५३. १००० ५४. १००० ५५. १००० ५६. १००० ५७. १००० ५८. १००० ५९. १००० ६०. १०००
 ६१. १००० ६२. १००० ६३. १००० ६४. १००० ६५. १००० ६६. १००० ६७. १००० ६८. १००० ६९. १००० ७०. १०००
 ७१. १००० ७२. १००० ७३. १००० ७४. १००० ७५. १००० ७६. १००० ७७. १००० ७८. १००० ७९. १००० ८०. १०००
 ८१. १००० ८२. १००० ८३. १००० ८४. १००० ८५. १००० ८६. १००० ८७. १००० ८८. १००० ८९. १००० ९०. १०००
 ९१. १००० ९२. १००० ९३. १००० ९४. १००० ९५. १००० ९६. १००० ९७. १००० ९८. १००० ९९. १००० १००. १०००

<div>  </div>		<div>  </div>	
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>	<div>  </div>
<div>  </div>	<div> </div>		

$h = 1$	$h = 2$
$h = 3$	$h = 4$
$h = 5$	$h = 6$

$h = 1$	$h = 2$	$h = 3$	$h = 4$
$h = 5$	$h = 6$	$h = 7$	$h = 8$
$h = 9$	$h = 10$	$h = 11$	$h = 12$

$h = 1$	$h = 2$	$h = 3$	$h = 4$
$h = 5$	$h = 6$	$h = 7$	$h = 8$
$h = 9$	$h = 10$	$h = 11$	$h = 12$

$h = 1$	$h = 2$	$h = 3$	$h = 4$
$h = 5$	$h = 6$	$h = 7$	$h = 8$
$h = 9$	$h = 10$	$h = 11$	$h = 12$

५४४-यश्चैव प्रजापति के अमृत-मर्त्य-शुक्लपट् से समुत्पन्न पार्थिव-विराट्प्रजापति के महिमाभावात्मक शुक्ल की विशुक्लनाम्निका सर्वव्यापि का तात्त्विक समन्वय-

सम्भवतः पात्रक वह न भूते होंगे कि, यश्चैव प्रजापति की स्वरूपतया वहाँ हमने वाक् आप अग्नि इन तीन अमृतशुक्लों से बताया वी वहाँ इस विष्णुसृष्टि विराट् प्रजापति का स्वरूप-निर्मल अग्नि आप-वाक् इन तीन मत्स्यशुक्लों से बताया गया था। अन्तर्मुख ऐसा ही है। फलतः मृत-अमृत का पनिह सम्बन्ध है। विष्णुप्रकार अमृतशुक्लप्रधाना वह-संस्था में स्वयम्-परमेष्ठि-अमृतशुक्ल, इन तीनों में अमृत-आप-वाक्-आप-अग्नि-शुक्ल का एवं मर्त्यसर्व अन्तर्मा-भूमि इन तीनों में अमृत मर्त्य-अग्नि-आप-वाक् तीन शुक्लों का इत्यप्रकार अमृत-मर्त्य दोनों शुक्लों का योग सिद्ध होना है एवमेव मर्त्यशुक्लप्रधान इस विराट् प्रजापति में भी—“अन्तरं ब्रह्मोत्पत्तं मत्स्यावसुतमाश्रितम्—(शतपथब्रा०) ‘प्रत्वाहन् मत्स्युमसृतेन साक्षम्’ (अथर्व ५४८८) इत्यादि आदि सिद्धान्तों के अनुसार भूमिस्व एवं विपुषिबीजमिता महा पृथिवी के मत्स्यशुक्लप्रधान अमृतशुक्लप्रधान दोनों का योग सिद्ध होना है। इस-प्रजापति (ब्रह्मोन्निपत्तुमूर्ति) अर्थ—“अहं ह वै प्रजापतेरात्मतामस्यमासीत्क मसृत्म्” इस सिद्धान्त के अनुसार समझिए हैं। केन्द्र में अमृतप्रधान बने हुए इसी इत्यप्रजापति के अन्तर पर पड़ते मर्त्य-अग्नि आप-वाक् इन तीन मर्त्य शुक्लप्रधानों की जिति होती है। इसी मर्त्यशुक्लजिति से पूर्व सत्त्वय भूविषय का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। अग्नी वाक् इन दोनों इत्यप्रजापति के अन्तर पर अग्नि-आप-वाक् इन तीन अमृतशुक्लों का विकल होता है। वे ही तीनों अमृतशुक्ल अमृत-वाक्-वैश्वी-येन्द्री पृथिवी रूपों में परिकल हुए हैं। इनप्रकार विराट् भी वक्ष्यप्रजापतिस्त्वात् शुक्ल-मूर्ति का जाता है। यदि अंतर भी स्वयं इति से विचार किया जाता है तो पूर्व अथर्व अग्नि से प्रदर्शित तीन पृथिवी अग्निशुक्लप्रधान हैं तीनों अमृतप्रधान आप-शुक्लप्रधान हैं तीनों वृक्षोक्त वाक्शुक्लप्रधान हैं। और भी अधिक गहराई में जाने पर तो वह शुक्लप्रधान अमृत-अप-मर्त्य में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है जो कि यमय विराट्प्रधान-अग्निमा के द्वारा भी तुल्यमन्त्रित है।

१	(४८)—अगती—स्वरा—इन्द्र—वाक्	—सौ अगती—इन्द्र—वाक् (६)
	(४९)—विष्टुप्—वर्षा—विष्णु—आप	
	(२४)—गायत्री—मन्त्र—ब्रह्मा—अग्नि	

२	(११)—अगती—दिक्लो—इन्द्र—वाक्	—अन्तर्दिक् विष्टुप्—विष्णु—आप (५)
	(२०)—विष्टुप् मा लो—विष्णु—आप	
	(२१)—गायत्री—वैन—ब्रह्मा—अग्नि	

३	(२१)—अगती—आदित्य—इन्द्र—वाक्	—गुह्यी—गायत्री—ब्रह्मा—अग्नि (४)
	(१५)—विष्टुप्—वायु—विष्णु—आप	
	(९)—गायत्री—अग्नि—ब्रह्मा—अग्नि	

४	स्वर्गोक्तः—अगती—इन्द्र—वाक् (१)	—भूमिः—सर्वप्रधानि
	भुवर्गोक्तः—विष्टुप्—विष्णु—आप (२)	
	भूयोक्तः—गायत्री—ब्रह्मा—अग्नि (३)	

— ०० —

५४५—विश्वरूप—विश्वरूप, समयक आप—वचनो का सम्प्रसारण—

अथ यद् गन्तव्यं किञ्च होयुषा हे वि विश्व इति सर्वत्र हे यदिमाह्वयिती ही इत्यत्र गृहीत हे गन्तव्यं नमो प्रत्येक भागी का इत्येव अन्तर्भाव है । मूर्च्छा की अन्तर्भाव में अन्तर्भाव का अन्तर्भाव रूप है

समुद्र ही इच्छा गर्भाशय है । विराट् के इसी सर्वस्व स्वीकरण करते हुए कुछ एक बचन हमारे सम्मुख समुपस्थापित हैं—

- १—विराड्वाग् विराट्पृथिवी, विराडन्तरिक्षं, विराट् प्रजापतिः ।
विराट्पुत्रस्य माध्यानामविराजो बभूव, तस्य भूतं मध्यं वशं स म भूतं मय्यं वशं कुरुते ॥
—अथर्वसं ६।१।२४।
- २—इतस्तौ वातो अथ सो अथे कस्माच्छोकात् अथमस्याः पृथिव्याः ।
वत्सो विराज सल्लिसादुषेतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेषु दुग्धा ॥
- ३—यो अक्रन्दयत् सल्लिप्तं महिष्या योनिं कृत्वा त्रिसुखं श्रमान् ।
वत्सः क्षमदुषो विरज्ज स गुहा वक्त्रे तन्वाः पराचै ॥
- ४—यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं विद्युनक्ति वायम् ।
असौ तद् विधात् तपसा विपारिषद् यस्मिन्नेकं मुन्यत यस्मिन्नेकम् ॥
—अथर्वसं ०।८।१।२, १ ।

- १—“वान् विराट्” (शत० ३।४।१।३४।)—(“भूमि”) ।
२—“विराट् हीयम्” (शत २।२१।२०)—(वायवी पृथिवी) ।
३ “विराड् वै गौः” (शत ७।४।२।१६)—त्रिपुपृथिवी ।
४—“दशाक्षरा वै विराट्” (तां० ब्रा० ३।१३।३।) ।
५—“सहस्राक्षरा वै परमा विराट्” (तां० ब्रा० २।४।६।४।) ।
६—“सर्वदेवस्य वा एकच्छब्दो यद्विराट्” (शत० १३।४।१।) ।
७—स पुरुषमेवेनेष्ट्वा विराडिति नामाद्यत (गो० ब्रा पू० ५।८।) ।

१४६—आरम्भ के एकविंशस्तोमात्मक विराट्प्रजापति का अन्तर्लोकगता अष्टावश्वार्ति-
शतस्तोमालुगता महती व्याप्ति का यहिमाय-स्वरूप-समन्वय—

पूर्व में विराट्-तन्मूलक-वैश्वानर अग्नि पञ्चरात्र तादृश दिवस्वर्गमात्र, एवं एकविंश तादृश सर्वत्र व्याप्तिय की कमलि को एककल विकल द्वाकल विराट् कलाते हुए स्तौम्यचिन्तोलीक्य जाड़ी पृथिवी में ही विराट् स्वरूप का अन्तर्मात्र बलताया गया था । पञ्चत आर्य इसी विराट् का स्वस्व वृत्ता होमा ॥ । अब विराट् २१ पञ्चनेत्र ही व्याप्त न रहकर ४८ पञ्चनेत्र बला गया है । पहिले ब्रह्मा ही विराट् के परमा अथ ब्रह्मविष्णुगर्भित इन्द्र विराट् बनगए हैं । ब्रह्मानिकम्य जाड़ी पृथिवी अक्षतान् सक्षम वैश्वानर विराट्

है किन्तु-आपोरुपा वैष्णवी प्रविची महासाक्षरकृपा हिरण्यगर्भ विराट् है एवं इन्द्र-बाणरुपा ऐन्द्री प्रविची साक्षरार्णो मरुतविराट् है। वेदसाहस्री विराट् के महासाक्षर हैं लोकस्यहस्री इत के महासाक्षर हैं एव माहस्यहस्री इत के महासाक्षर हैं। प्रतापहस्री से कृतरूप विराट् उन्नी भूमिसिद्ध पर प्रतिष्ठित है। आर विराट् पुण्य का यदी मुष्टिदिश वैज्ञानिक स्वरूप है ओकि विकारधर के आपार पर प्रतिष्ठित है एवं जिसका कि स्वरूप परिलोक से स्पष्ट होजाता है।

पौराणिक विराट् पुरुष—

५४७-पुराणशास्त्र के प्रति भावुक वेदमूर्तों की अज्ञानता दृष्टि, लभिराकरण प्रयास, एवं पौराणिक-विराटस्वरूपोपक्रम—

वैज्ञानिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विराट् प्रज्ञापति का वैज्ञानिक स्वरूप प्राचीन के सम्मुख रक्खा गया। उचित था कि विराट् स्वरूप प्रकरण की बड़ी समीक्षा कर तदुपासना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाय। परन्तु ऐसा कि वर्तमान मनोवृत्ति से स्पष्ट है आज कुछ एक मूर्खी पुराणों की निरा गणोद्धार करने की वृत्ति कर रहे हैं। कहना न होगा कि वेदज्ञानकमिषा से भी बहिर विन्तु वेदामिमानों इन मूर्खों की यह वृत्ति सर्वथा अशुभ है। इस अपन में पाठकों की यह विरवाने शिलात हैं कि पुराणग्रन्थ के कीर्ति प्रति-स्थापन है। वे में किन वैज्ञानिक तत्त्वों का स्वरूप से निरूपण हुआ है आधुनिक व्यवहार के महान् अनुभव से उड़ी तत्त्वों का अस्माननाश्वानरूप से पुराण में बड़ा किम्बार से उपर हन हुआ है। इसी नादर्य की स्पष्ट करन के लिए दो शब्दों में पौराणिक विराट् प्रज्ञापति का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक समझा गया है।

१४८-दर्शनपुणालुगत अतुर्विशतितत्त्ववाद का पुराणशास्त्र क द्वारा त्रयोविंशतितत्त्वो पर पर्यवसान एवं पुरुष-प्रकृति विवृति-मूल-षोडशीप्रश्नापत्ति-यक्षप्रश्नापत्ति-विराट् प्रश्नापत्ति का समतलनात्मक समन्वय—

[illegible]

४४६ मृतप्राणप्रधान विराट्प्रजापति का धामशुभागत क. द्वारा यशस्विन—

पूर्वभक्तानुसारं विराट्प्रकाशं दत्तं यामकं । सर्वं एकधा विधा दत्ता विष्णुः । इती विराट् का ।
 विराट्प्रकाशं यामकं यामा मा वहा है । वद अशी है । अतुदवाशि कर्त्त इती क अश है । भूत्प्रायमयान

निरा ही उस वृत्रप्रभापति का प्रथमकथार है । निरा प्रभापति के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का स्पष्टीकरण कर्म हुआ पुराण करता है—

मृपिरुवाच १—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशम्य गतिरीश्वरः ॥

२—कस्यसंज्ञां तदा इती विभ्रम्यक्षितमुत्क्रमः ।

त्रयोविंशतितन्त्रानां गणं युगपदाविशत् ॥

३—सोऽनुप्रविष्टो मगधारषेष्टारूपं त गणम् ।

मिथ संयोजयामास सुतं कर्म प्रबोधयत् ॥

४—प्रबुद्धकर्मार् दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।

त्रेरितोऽश्नयत् स्वामिमिश्रामिरविपूरुषम् ॥

५—पदेवविश्रुता स्वस्मिन् मात्रया विस्वसुग्गन्धः ।

बुधोमान्योऽन्यमासाद्य यस्मिंस्तोऽक्षरचराचराः ॥

६—हिरण्यमय स पुरुष सङ्क्षपतिस्तरान् ।

आयङ्क्ष्वकोश उवासाप्सु सर्वसन्धोपबु हित ॥

७—स वै विस्वसुखां गर्भो देवकर्मस्मिन्शक्तिमान् ।

विश्वमार्गात्मनात्मानमेकया-दशधा-विधा ॥

८—एष क्षणेपसन्धानमाम्नांश्च परमात्मनः ।

आयोऽन्यतारो यत्रासी भूतधामो विमान्यते ॥

९—साध्यात्म साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।

चिराद् प्रायो दशविध एकया हृदयेन च ॥

१०—स्मरन् विष्णुसुखार्थी यो विष्ठापितमथोच्चरः ।

विराजमतपस्त्वेन तेजसीनां विहृतये ॥

११—अथ तम्याभितप्तस्य कति भायतानि ह ।

निरमिद्यन्त देवानां तानि मे गदतां शृणु ॥

(श्रीमद्भागवतपुराण-२ स्कन्ध ६ अ १ से ११ पर्यन्त)

४५०-आधिकारिक-अन्वेषण जीवोपासनात्मिका विराट्प्रजापति का आधारभूत पार्थिव विराट्-प्रजापति—

पाठकों का स्मरण होगा कि हमने विराट् उपासना को 'आधिकारिक अन्वेषण जीवोपासना' कहा है वही उपासना है। वही दर्शनमूर्ति है। विराट् प्रजापति में विचार मान की प्रधानता है। स्वप्नप्रधान है। अतएव इन्द्रा विद्मान आहुत हो रहा है हमारी दृष्टि से नहीं, अस्तित्व विदात्मलक्षण पोद्गरी एन एनलक्षण यज्ञप्रजापति की दृष्टि से।

४५१-विदात्मलक्षण पोद्गरीप्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति, एवं शारीरकात्मलक्षण विराट्प्रजापति का समन्वय, तथा प्रत्यगात्ममन्मथ—

उस एक ही आत्मतत्त्व के आत्म-वैश्या-भूत विंश पुरुष-प्रकृति-विकृति, विंश प्रकाश-प्रमाण-भूत विंश अमृत-ब्रह्म शुक्र मेघ से तीन विभक्त हो जाते हैं। इन तीनों आध्यात्मिक आत्मपदों को [ईश्वरीय पदों को] हम क्रमशः विदात्म-प्रत्यगात्म-शारीरक आत्मा इन नामों से व्यञ्जित कर सकते हैं। विश्वव्यापक विश्व-स्फोरक पोद्गरीप्रजापति विदात्म कहा जा सकता है। यज्ञप्रजापति विंश एकस्फोरक यज्ञप्रजापति को प्रत्यगात्म माना जा सकता है। एवं पार्थिवेश्वर विराट् प्रजापति का शारीरक आत्मा कहा जा सकता है। आध्यात्मिक आत्म-विषयों से परिचित पाठकों को यह विदित ही है कि, वैश्वानर-वैश्व-मान-लक्षण भूतत्मा ही आध्यात्मिक शारीरक आत्मा है इसे ही विदामात्र कहा जाया है। इस आधिकारिक आध्यात्मिक में प्रतिष्ठित वही विराट् प्रत्यगात्मा बनता है एवं व्यापक एवं विदात्मा कहलाता है।

४५२-ईश्वरशरीरालुगत सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-मूर्ति विराट्आत्मा, एवं यज्ञप्रजापत्य-पञ्चपा इत्यभूत विराट्आत्मा का जीवात्मक-समन्वय—

ईश्वरशरीर में वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-उर्ध्वमूर्ति विराट् भूतप्रधान सूत्रा मा है। यज्ञप्रजापतिस्व वैश्व-प्रधान आत्मा परमा मा है। भूतप्रधान इन्हीं परमा का एक अंशवत्तर है यज्ञप्रजापति का अंशरूप रूप ही 'स विराट्प्रधान की प्रतिष्ठा है। अतएव यज्ञेश्वर को प्रत्यगात्मलक्षण परमा-मा माना जा सकता है एवं विराट् को उही संस्था का जीवात्मा।

४५३-ममानशीलस्यमनिष्ठ आधिदैविक-जीवविराट्प्रजापति के माय-आध्यात्मिक-जीवविराट्प्रजापति का रहस्यपूर्ण मन्त्रीमन्त्र एवं पुरुष की प्रजापतिनिबन्धना नेदिष्टता का तात्त्विक-मन्त्र-समन्वय—

यह एक रहस्य की बात है कि—“ममानशीलस्यमनिष्ठ मन्त्री” के अनुष्ठान मित्रता का मन्त्र प्रमानता पर ही निर्भर है। परमा मा और जीवात्मा (हमारे) में बड़ा अन्तर है। अतएव मन्त्रवर्णन पर मा मा के माय जीवात्मा (हमारे) का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जीव की ममानशील-मन्त्र जीव के माय ही मित्रता सम्भव है। यह जीव वही 'विराट् प्रजापति' है। यज्ञप्रजापति लक्षण परमा मा के भूत-

प्रामाण्यमान का शास्त्रकार इस किमूर्ति विद्युत् को अन्तर्य ही 'ममैवांगरो जीवलोके' (गीता) इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ईश्वरीय विद्युत् का 'जीव' (शारीरक आत्मा) कहा जा सकता है। वही विद्युत्प्रवापति ठीक है। मोक्षा जीवमुपलब्धि की मित्रता "त वाही विद्युत्प्रवापति के साथ ही सम्मान है। दोनों समानगीत ध्यस्त हैं। अन्तर यही है कि, यह अन्तर्गत है यह सत्य है। हा सुपुष्पासमुज्ज्वला मन्त्राया" इत्यदि मन्त्र श्रुति ने भी विद्युत्प्रवापति की ही जीवमुपलब्धि के साथ मित्रता स्थापित है। यह हिरण्यगर्भ जीव है वह क्रामिक "रामाजीव" है। उसके यदि बि बि स तीन फल हैं तो इसके भी बि बि स तीन ही फल हैं। यह इत्यमर्माधिक सत्यम् जीवों का तो आत्मा है परन्तु उक्त परमात्मामुक्तता यज्ञेश्वर का अन्तर्गत है वैसाकि- एष ह्येष सत्त्वानामात्मा, अथाः परमात्मन आद्योपशरो यत्रासां मृतमानो विमा-म्यातं" इत्यदि पूर्वोक्त भागवतप्रमाण से स्पष्ट है। यह आपोमय अर्थात् सत्य के गर्भ में [अष्टमुद्रिष्ट-सत्त्वामानु] प्रतिष्ठित है तो वह भी इति नु पञ्चम्यामुदात्ताप-पुरुषवत्सो भवन्ति" इत्यादि पञ्चाभि विद्या-सिद्धान्त के अनुसार आपोमय, किंवा अर्पमान [अत्यन्तकत्वात् भूस्त्वान्] पाञ्चमीयक शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित है। यह यदि पार्थिव त्रिलोकी के आरोप कर्त्री का एक आत्मा है तो वह भी शरीरत्व आरोप कर्त्ता [जीवमुपलब्धि] का एक आत्मा है। उसमें यदि त्रैलोक्यमस्त्वा है तो "उत्तमं भी मूलमन्त्र से आरम्भ कर नामि पर्यन्त ब्राह्म पुत्रिलोक, नामि से इन्द्र पर्यन्त वैष्णव-अन्तरिक्षलोक, इन्द्र से ब्रह्म पर्यन्त ऐन्द्रलोक, ब्रह्म से ब्रह्मलोक पर्यन्त जीवा आपोलोक [अस्ति वे चतुर्विंशे लोकस्य आपः] इत्यन्तर लोक-लोक जीवों की स्त्री प्रतिष्ठित है। यह जीवपुरुष और वह जीवपुरुष दोनों नाम-रूप-गुण-कर्म स्वरूप आदि सभी इन्द्रियों से अन्तर्य ही समानगीतध्यस्त को हुए है। "टीक्ष्ण" से उसके मन्त्रिष्ठ [कर्मोपम] माना गया है "पुरुषो वे प्रजापतेर्नैविष्टम्"।

हां तो ब्रह्मन् वही था कि विद्युत्प्रवापति अन्तर्गत से आत्मा के विद्युत्प्रवापति-शरीरक आत्म के तीन विभाग होते हैं। एकमेव आन्तरिकविद्युत् से भी आत्मा के व तीन विभाग हो सकते हैं। पांडुरीपुरुष विद्युत्मा है अन्तर्गतविद्युत् परमात्मनस्तत् प्रकृतात्मा है एवं विद्युत्प्रवापति जीव जनक शरीरक आत्मा है।

१-अधितैवतम्

- | | | |
|---|---|-------|
| १-पांडुरीपुत्रावति पुरुष [आत्मा]-अमृतम्-विद्युत्मा [ज्ञानमा] | } | ईश्वर |
| २-अन्तर्गतविद्युत्-प्रवापति [आत्मक]-ब्रह्म-प्रत्यगात्मा [कर्मात्मा] | | |
| ३-विद्युत्प्रवापति-महति [विद्युत्प्रवापति]-शुद्ध-शरीरकमा [ज्ञानमा] | | |

२-अध्यात्मम्-

१-इष्टपोहरी—चिदम्मा अचित्त—ममलित

२-इष्टयज्ञ—परब्रह्मा—निर्लिप्ता

३-जीव—पारीरकाऽम्मा—देही

}—जीव

५५४-विराट्प्रजापति की 'आधिकारिक-चेतन-जीव' रूपता का समन्वय—

उक्त इष्टि के अनुसार हमें मानना पड़ेगा कि मूलप्रधान, किंवा विध्वंसप्रधान किंवा शुद्धमय पार्थिव भौतिक विरहप्रधान विराट् प्रजापति का चिदमात्र यज्ञ-योहरी की अपेक्षा अधिक ही महत्त्वायुक्त एवं बड़ा हम हमारी इष्टि से। आध्यात्मिक जीवइष्टि से। विराट् को चित्, किंवा चेतन कहेंगे वहाँ आध्यात्मिक यज्ञ-योहरी की इष्टि से विराट् को अधिक किंवा अचेतन ही माना जायगा। इसी अभिप्राय से हमने विराट् को 'आधिकारिक अचेतन जीव' कहना आवश्यक माना है।

५५५-'सर्वत्र विराजते' रूप विराट्प्रजापति की अपरस्पर्श से आवरसप्रवृत्ति, एवं आवरसमूलक-'अचेतन' भावानुपन्य से विराट्प्रजापति का 'अचेतनजीवत्व'-समन्वय—

अचित् तत्त्वा की अनधिक पार्थिव अचेतन प्रजापति से विराट् के द्वारा पूर्य स्वीय सम्पन्न उक्त लक्ष्य होने का निश्चय दृष्टक किंवा एकल विराट् की अपरस्पर्श ही अचेतन कहा जा सकता है। अचेतन परन्तु चेतन यज्ञप्रजापति की अपेक्षा है विशेष। जिस विशेषता से कि प्रजापति का गुण होता हुआ भी [सुप्त कर्म प्रबोधयन्] विराट् बना हुआ है एवं जिस विशेषता कि पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में मस्तीकरण किंवा अनुज्ञा है। निहति-लक्षण २१ तक की अनधिक यह विराट् लोकवितान करता हुआ यज्ञमूर्ति विष्णु की लक्षण प्रतीता बना हुआ [आत्मा से ज्ञायत पुत्र]। बाह्य की कारण से प्रधान नाम से प्रसिद्ध वागीश्वरी प्रवृत्ति, एवं मन्दक्य पारमेश्वर आपः से आहत होता हुआ 'सर्वत्र विराजते सर्वत्र विराजते'। विराट् के इसी तात्त्विक मन्त्र का मस्तीकरण करते हुए व्यासदेव करते हैं—

१—परस्य दृश्यते धर्मो अपरस्मिन् समन्वयात् ।

अतो ऽ विश्वो भावानां भूमावेशोपलक्ष्यत ॥

२—एतान् महन्त्य यन् महदादीनि सप्त वै ।

कालकर्मगुणोपता जगदादिरुपाविशत् ॥

• भूमिगत इस विशेषता से ही जो विराट्पुत्र विरहप्रधान बना है।

३—सप्तम्यन्तानु विद्देभ्यो युक्त म्योऽप्राप्तमचननम् ।

उत्थित पृथ्वी यस्माद्भूतिष्ठदसौ चिराद् ॥

४—एतद्वैद्य विशोपास्य कमवृद्ध दर्शोपरै ।

तोयादिमि परिपुत प्रधानेनायमैयहि ॥

यश्च लोकवितानोऽयं रूपमगच्छता हरः (यज्ञविष्णोः) ॥

५—हिरण्यमयादण्डकोशादुत्थाय मुल्लिलेगपान् ।

तमाविरय महाद्वो बहुधा निर्भिमेद खम् ॥

(शी० मा पु ३ सर्व० २६ अ० ४३ स ४३ पयला)

५५६ विराट् स्वरूपातुगत पार्थिव विमक्त नामों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय प्रपाठ—

विद्यार्थक-निकषण पार्षिक विस्त के उपक्रम में यह कल्पना गया था कि-आमरण न वृष्टि के शुद्धि-आदि की सम्पत्ति का भाव है वे पार्षिक विस्त की दृष्टि से समानार्थक करने हुए भी अपने प्रार्थनिकों से मित्र मित्र कर्षों के ही वाचक हैं- (देखिए पृ. सं. १२२) । शिष्ट निकषण के साथ ही पार्षिक विस्तों का स्वरूप भी गता है । उन विस्तों को लक्ष्य में रखने हुए ही पार्षिक-नामों का सम्पन्न प्रीति, पावन स्वरूप होना चाहिए ।

५५७-भू-भूमि अक्षला अनन्ता-नाम की शब्दचतुष्टयी का गहन्यात्मक-समन्वय—

[illegible]

५५८-रसा विश्वम्भरा-धिरा-नाम-विषाणो का रहस्यात्मक मन्त्राय —

भूमिगन्ध का अत्यन्त प्रमाण अतिरिक्तप्री (मज्झारमा निरवत्त तापिन) काशी शुषिरी, आगमयी देवकी शुषिरी, एक काष्ठमयी ऐन्द्री शुषिरी प्रतिष्ठित है। काष्ठमयी शुषिरी शिखरवृत्कार है अतएव इसे हम 'स्थिरा' कह सकते हैं। लौहवृत् का चित्र चित्र का आगम तत्त्वप्रमाण है। [आकाश द्रव्य प्रतिष्ठित]

अतएव आपोमयी वैष्णवी पृथिवी को 'विरवम्भरा' कहा जासकता है। यही विरवम्भरा पृथिवी विष्णु की स्त्री भी मानी गई है। एवं तेजोरश्मयी पृथिवी को 'रसा' कहा जासकता है। २१ विश्वोत्थानार्थं च आसीन्मिमी पृथिवी पृथिवी रसा है अमित्रास्तोमावन्विता वैष्णवी आपोमयी वृत्तौ पृथिवी विरवम्भरा है एव अष्टावत्वारिंशोत्थानावन्विता ऐन्द्री बाह मयी [वष्काररूपा] तीक्ष्ण पृथिवी स्थिरा है। इत्यकार अमरकार के पृथिवी नामनिरूपक दो शब्दों में से प्रथम शब्द का 'भूमि' भिरवत्त्वानन्ता रसा विरवम्भरा स्थिरा वह पूर्वोक्त वैशानिक चारों पार्थिव विषयों का समाह्वय बना हुआ है।

- १-१-१-मकैन्द्र [हृदयरूपा आसी पृथिवी-स्वर्लोका] — अनन्तापृथिवी — 'अनन्ता'
 २-२-२-ममप्य [विष्णुमरूपा वैष्णवी पृ सुस्वर्लोका] — अचलापृथिवी — 'अचला'
 ३-३-३-मन्तरा [परिणाहरूपा ऐन्द्री पृ० भूलोका] — भू-पृथिवी — 'भू'
 ४-१-४-समष्टि [ब्रह्माणी समष्टि] — भूमि-पृथिवी — 'भूमि'

- ५-१-आसी त्रिलोकी [अग्निमयकलाम् २१] — अ — म — पृथिवी आसी — 'रसा'
 ६-२-वैष्णवी त्रिलोकी [अक्षमयकलाम्-३३] — भुव — भुव — पृथिवी वैष्णवी — 'विरवम्भरा'
 ७-३-ऐन्द्री त्रिलोकी [बाह्मयकलाम्-४८] — स्व — स्व — पृथिवी ऐन्द्री — 'स्थिरा'

५५६-धरा-धरित्री-धरणी-नामविषयों का प्र व-ध्व्य चरुणानुष की तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-

उक्त निमित्त के अनन्तर पुन पहिला आकाशैलामयक पृथिवीलोक हमारे सम्मुख आता है जिसके कि निरूप-पञ्चदश-एकविंश नामक तीन स्तर बतलाए गए हैं एवं वहीं वही भी स्तर किया जायका है कि निरूप में वन अग्नि पञ्चदश में तरलवायु एवं एकविंश में विरल आप्तिय प्रसिद्धित है। निरुपाधिय स्वर अन्तमयी पृथिवी है पञ्चदश आधिवस्तर वायुमयी एव एकविंश पार्थिवस्तर आदिरश्मयी पृथिवी है। पन-तरल-विरल — इन तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः ध्रुव ध्वज-धन्वज एव प्रयुक्त हुए हैं। अग्निमयी पृथिवी ध्रुवा है वायुमयी वर्षा है आदि वमयी पदमा है। आसी पृथिवी के 'ही' तीनों स्तरों के निरूप क्रमशः धरा-धरित्री-धरणी-ने तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५६०-आसी पृथिवी क विष्णु-माया म अनुप्राणित विभिन्न शुद्ध एवं तदनुग-ची- 'चोरी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब हमी आसी पृथिवी के विशेष भावी का विचार कीजिए। धरा-धरित्री-धरणी की समष्टिक्रम-समस्तमिमा पृथिवी भूमिक को अपने केन्द्र में प्रति उन गन्तव्य हुए सत्य के चारों ओर परब्रह्मा लगाती है। यही नेरवन्तर-मण्डल की परिक्रमा है। विरव में का एक 'मौस मौस' शब्दप्रति मुना पढ़ी है

यह "सी बेरकानर" मध्यमप्रदेश की पूर्विशी के परिणाम का अनाहत नाद है। "सी बनिः" शब्द का नाम
की अपेक्षा से "त" ब्राह्मी पूर्विशी का हम "सोर्सि" ("दुर्गम" शब्द) कह सकते हैं।

५६१ अभादानात्मकत्वयोहानिप्रयत्नक प्राज्ञापत्यधर्म एष तन्निबन्धन 'न्या' शब्द य
तात्पर्य-स्वल्प-समन्वय—

सम्बन्ध-प्रभावित नहीं हमारी आत्मा का स्वरूप—स्वर्णक बनता है वहाँ यही शक्त में हमारी आत्मा के नाश का कारण भी बनता है—“या मा हवति ज्ञ इवेकमात्मन्”। सम्बन्ध के निरक्त अद्वैतत्व परीक्षा उसी सम्बन्ध में होने आत्मा और आत्मा स्वयं—स्वयं पार्थिव मोक्षार्थ उपलब्ध होने हैं एवं शक्त में नहीं हमारी बर्मादान का कारण बनता है। सम्बन्धस्वरूप आत्मा प्रियी को “उ नाशमात्र” के अवेद्या में “अज्ञा” (‘अज्ञ’ बयाहाना। अज्ञा जाक्या।

५६२-पार्थिव अम्बिरमात्मक-कूर्मप्रजापति-नामक करपप्रजापति का संस्मरण एवं तन्निबन्धन 'कारयपी' नाम का स्वरूप-सम्बन्ध—

तीर पार्ष्णि मयन्हा ही मीर मयन्हा है । श्री और मयन्हा को कूर्म कहा करता है । उक्त गायत्रिगणितमय पार्ष्णि मयन्हा १८ कर्पणमय तीर मयन्हा से अस्तिमान करता रहता है । दोनों धर्मों का पयन्हा मिश्रिताना ही अस्तिमान है । पार्ष्णि मयन्हा रम श्रवण नाम से स्व और कर्पण मयन्हा रम 'नीचम' नामसे प्रसिद्ध है । श्रवण नीचम मयन्हा से नीचम श्रवण मयन्हा में पक्षि रहता है । श्री मयन्हा रम अस्तिमान से पार्ष्णि मयन्हा रम कर्पणमय से (रमा से कूर्मः) पुरु होता हुआ अस्तिमान में पक्षि रहता है । कर्पण के मयन्हा से ही यह मयन्हा मयन्हा मयन्हा प्रथिनी (बेट में) अस्तिमान करता है । कर्पणमय मयन्हा मयन्हा उनी पार्ष्णि मयन्हा-प्रथिनी को 'कास्की' कहा जाता है ।

४६३-‘वित्ति’ शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

ब्राह्मी प्रविर्गी का विहङ्ग अन्तिमम भाग अक्षर से अन्तर्गत रहता है। मूत्रर का मूलमम प्रदेश इन्हीं से सम्पन्न रहता है। अन्तरिक्षमिति से शुक्र (विहङ्गभाग से शुक्र) अथ मूलमम मूलमम ही पार्विष मम के निवात एव ममन का भावन बनता है। इन इन्हीं से मूत्रर (मूलमम मूत्रर) शुक्रा ब्राह्मी प्रविर्गी के अन्तरिक्षमम विहङ्ग ममम मम पार्विष मम का विधि (वि-निवातमम) कहा जाकरा।

५६४- 'मर्न महा' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

अड-नडी-पडह-खोराबि-दरमदलि बागुवर्ग-मनुष्य-पशु-पक्षी-हृदि-कीट आदि प्राणि का मार करने वाला मृत्युदण्ड मन्मथगन्धिवृक्ष आसीदृषिरीगुह्य पार्थिव पुत्रिकीकप विषदृग्ग वध-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच इन चारो देवदामिनी का मार करने वाला आसीदृषिरी का अमरविषकप पञ्चदश भाग शिर-येष्ट माहात्म्य-ब्राह्म इन चार देवदामिनी का मार करने वाला आसीदृषिरी का व रूप एकविंशभाग इन तीनों की मर्मादि कृपा मृत्युदण्ड मन्मथगन्धिवृक्ष आसीदृषिरी ही "मन्मथदह" कहलाएगी ।

५६५-पार्थिव विराट् प्रज्ञापति की 'वसु' रूपता का वैज्ञानिक-स्वरूप दिग्दर्शन—

मभिषिख पाशुकाग्नि रूप है—(देखिए शत ६।२।१। १। पाशुकाग्नि क्या पाशुरूप मूमिगद की ही पार्थिव-भाषा में पुराणगार्हपत्य कहा जाता है। यही उस सम्बत्सरवज्ररूप लोमवज्र की मूलप्रतिष्ठा है। सम्बत्सरवज्र का त्रिशूलिनि (६) मूलन गार्हपत्य है। पञ्चदश बायुक्रम अग्नि निष्पापति है एवं एकविंश अक्षित आहवनीय है। इन तीन प्राकृतिकियों से अग्निमूर्ति सम्बत्सरवज्र का स्वरूप निष्पन्न होता है। मभिषिख रूप पाशुकाग्नि त्रिशूलिनि पञ्चदश बायु एकविंश सूर्य तीनों की समष्टिरूप वज्र जागें ही बाह्यी निकोत्प्री में रहते होते आग्नेय ३३ अक्षित देवताओं का अक्षतमूर्तिरूप प्रौक्तिक वज्र है यही देववित्त किंश देवतु है— यज्ञो वोऽस्य । इन्ही अक्षतमूर्ति के आधार पर देवताओं का जीवन प्रतिष्ठित है। अतएव इन चारों को ही हम 'वसु' कह सकते हैं। वैयक्तिक निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

१—'पशवो वै वसु' (शत० ब्रा० ७।१०।१७) ।

२—'स एषो (अग्नि)ऽत्र वसु' (शत० ६।१।२।११) ।

३—'बायुवै वसुन्तरिचसत् (शत० ६।७।३।११) ।

४—'एष वै (सूर्यः) वसुन्तरिचसत् (शत० ब्रा० ४।२०।१) ।

५—'पञ्चो (सम्बत्सर) वै वसु (शत० १।७।१।१) ।

५६६ वसुतत्त्वानुबन्धी वसुमयी, एवं वसुधा शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

मभिषिख-सम्बद्ध त्रिशूल पञ्चदश-एकविंश-स्तामसमूर्तिरूप वज्रवित्त काही पृथिवी ही वसुर्दाष्ट से वसुमयी कहायागती। मभिषिख ही त्रिशूल पृथिवी में रहते होते अक्षित वसुकाग्नि की प्रतिष्ठा है। वसु अग्नि किंवा वत्सामिन्द्रवज्र को मभिषिख ही कारण कह सकते हैं। अतएव 'वसु वसुति' इत निर्बचन से अक्षतमूर्तिरूप की आपदा मभिषिख को 'वसुधा' कहा जायगा।

५६७-एकत आधारभूत 'आधार', एवं सर्वत आधारभूत 'आश्रय' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

प्राकृतिक सम्बन्ध आधार-आश्रय भिन्ने ही भाषा में विभक्त माना गया है। एकत आधार की आधार कहा जाता है एवं सर्वत आधार की आश्रय कहा जाता है। यंत्र के ऊपर भगवत्पत्त पर रखी हुई पुस्तक का यंत्र आधार है। यंत्र की दशा में रखी हुई पुस्तक का यंत्र आधार है। इसी दृष्टि से दृष्टि । भूतल पर हमारा आधार है। पशु हम भगवत्पत्त पर रखे मान है हमारे चारों ओर भगवत्पत्त का वज्र नहीं है। अतएव यह एकत आधार आधार कहा जायगा। आधार ही हमारा आधार बना हुआ है— (योष बाम्यात् का प्राकृतिक यदय आधार आश्रय नहीं रखता) । पशु हम आधार के सम में है चारों ओर आधार व्याप्त है। सर्वत आधार-इत आधारआधार का 'आश्रय' कहा जायगा ।

५५८ 'दधानि' मूलक आपारतक्ष, एवं 'धारयति' मूलक आधपनतक्ष, एवं तन्निबन्धन
'धनुषरा' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

आधार के विषय 'दधानि' कहा जायगा आधपन के लिए 'धारयति' कहा जायगा। शिवप्रथम
मूर्तिविग्रह 'अस्मान् दधानि' है वेम ही उक्त शिवद्विगमि कल्पनि को धारण कर रक्ता है। शिवद्विगमि का
आधार (एकता) मूर्तिविग्रह ही तो है। इस आपारतक्षा प्रकृति की अपेक्षा से मूर्तिविग्रह को 'धनुषरा' कहा
जायगा। उपर शिवद्विगमिहलमपा शिवद्विगमि धृषिनी के गर्भ में अष्टविगमि कल्पनि प्रतिष्ठित है। इस कर्तव्य आधार-
रूप शिवद्विगमिनी को धारण कहा जायगा एवं 'धनुषरा धारयति' "तन्निबन्धन" से "तन्निबन्धन धृषिनी को
'धनुषरा' कहा जायगा।

५६८-अध्यात्ममुद्र में स्वरूप स व्याप्ता आप्याधृषिनी क विनाशनमाध स अनुपाशित
'उर्ध्वी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

द्विती लम्ब धृषिनी लम्बा अस्म्यल्लोकिता थी। न उक्त लम्ब धृषिनी का शिवरूप धृषिनी विनाशन
या न पञ्चदशरूप अन्तरिक विमान या एवं न एकविंशत्कप तु विनाश या। आधोमम अर्धतक्ष-मुद्र में वह
अध्यात्मरूप स "उत्पन्न" इत कही "तन्निबन्धन" लम्बोक्तप्रतिष्ठित म विनाश थी (देखिए श्रुत २।२।५११)। हुआ
कहा? बराबरानुन बगल की प्रकृति के लिए अपने अस्मितामिध लम्बरका कर्म से उक्त श्रुत पार्थिव रत्नों की एक
स्थान पर स्थित कर इसे "तन्ना" बड़ाकर "तन्ना" बाकि धृषिनीरूप प्रथमप्रथम से आध्यात्मिकी विनाशोक्त में
परिणत होना है। बराबरानुन की बड़ी लम्बलम्ब धृषिनी "उर्ध्वोपरपञ्चदशरूप" प्रतिष्ठामुद्र" इत्यादि लम्ब
कल्पन क अनुभूत बराबर कर्म से 'उर्ध्वी' कहाएगी। ('अध्यात्म धृषिनीरूपी प्रथममुद्र अस्मिन्'—श्रुत
२।२।५१२)।

५७०-पार्थिवस्वरूप-मरकट महीधरो' का स्वरूपविग्रह-समन्वय, एवं तन्निबन्धन
'गोत्र' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

पञ्चतन्त्रा मूर्तिविग्रहा एक प्रधान अङ्ग माना गया है। वह पञ्चतन्त्रा अस्मिन्नेति कहिये कि "तन्ने" से दो
मायी में विमुक्त है। मूर्ति में अग्नि प्रकटित होता है—"अध्यात्मिकता धृषिनी"। अग्नि स्वभावतः
विनाशकनयमा (तेजस्वला) है। आधोमम मध्यस्थ विष्णुदेवता आधोमम अधोमात्रेय से अधोमात्रेय
(पापक) का निर्माण कर "तन्ना" अग्नि का शक्ति विनाश न करदेत तो वह केन्द्रस्थ अग्नि मूर्तिविग्रह को अपने "तन्ना"
मूर्तिविग्रह विनाशकनयमा से विनिर्गुण ही करवायगा। मूर्ति में नीच (गम में) बड़े बड़े पापकलर केते हुए
हैं। "तन्ना" अग्नि मूर्ति में ही केन्द्रस्थ का कर्म स्थित बना हुआ है। बनी पापकलर विनिर्गुण हैं वही अग्नि
उन का भजन कर बाहिर निकलकर तन्निबन्धन मूर्ति का एवं तन्निबन्धन पापकलर का लम्ब-लम्बरूप में
प्रकटित कर ही तो चलाया है चेनाकि विनाशोपरपञ्चदशरूपी अस्मितामिधोपरपञ्चदशरूपी की बुराई से दूर है।
इत अध्यात्म पापकलरों ही मूर्तिविग्रह को स्वरूप से मुक्ति लम्ब रक्ता है अस्मिन्नेति "महीधरो"
कहा जाता है। अस्मिन्नेति नाम महाधृषिनी का है विनाश धृषिनी तो "म" विनाश मूर्ति ही कहायेगी कीर
नीच दृष्टि से पर्वती की भजन करना ही अग्नि लम्बोक्त होय। तन्ना मही की प्रतिष्ठामुद्र में म

५७२-विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के त्रैलोक्य-विस्तार का तात्त्विक-स्वरूप-समय—

विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के २१-२७-३३ के तीन रूप कलाए गए हैं। एकत्रिंशत्स्तोमाबन्धित वेन (चोष्टिर्गन्त्री चापः—च्योष्टिर्गन्त्रीमूलसो विमाने इममपां मङ्गमे (मङ्ग) प्रवेश ही इस पृथिवी का पृथिवी-लोक है एवं त्रिचोष्टिर्गन्त्री (आपामय) त्रयस्त्रिंशत्-स्तोमाबन्धित प्रवेश ही इस पृथिवी का सुलोक है।

५७३-मेघ-मेघ और मेघमात्रों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धन 'मेदिनी'

शब्द का स्वरूप समन्वय—

वामनविष्णु के निबन्धन से ही २१ विराट्पर्यन्त वैष्णवी पृथिवी का आकाश पर प्रचलन हुआ है। अतएव इस एक स्तम्भलक्षण प्रवेश को 'पृ' की नाम से व्यवहृत किया जायगा। त्रिशत मात्रासोम ही अग्निमयी इस पृथिवी का भी जीवन है एवं पार्थिव प्रजा का भी। जीवनरक्षा सोमावृत्ति पर ही निरतर है। पृथ्वी के अग्नि की रक्षा मात्रासोम से होती है। हमारे पार्थिव आन्तरिक शरीर की रक्षा उसी मात्रासोम के प्रवाह से आप्लावित होने वाले ओषधिसोम (अन्नसोम) से होती है। इसी रक्षामात्र के कारण त्रिचोष्टिर्गन्त्री अन्तरिक्षस्थानीया वैष्णवी पृथिवी के इस दूसरे रूप को 'अवन्ति' ('अव' रक्षणे) कहा जाता है। 'मेघा मे मेघ' (शत १॥२४॥१॥) के अनुसार मेघ ही मेघ है। समनमात्र का ही नाम मेघ-किया मेघ है। इसी मेघवृत्ति से पानी मेघ कहलाता है— 'मेघा वा आपः'। अवाऽप्रसिद्ध लोकों का संगमन इसी मेघ त्रयस्त्रिंशत्स्तोमाबन्धित त्रिचोष्टिर्गन्त्री आप से होता है। अतएव त्रयस्त्रिंशत् (वैष्णवी पृथिवी के इस लोक) रूप को अवन्ति ही मेदिनी' किंवा "मेदिनी" कहा जायगा है। इत्युक्तार वैष्णवी पृथिवी के २१ २७-३३ इन तीन विषयों के क्रमः। पृथिवी-अवन्ति-मेदिनी ये तीन वाचक बन जाते हैं।

५७४-'कु' 'कमा' 'मही' शब्दत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अवस्थित ऐन्द्री पृथिवी के २४-२५-२६, के तीन विषय हमारे सामने जाते हैं। एकत्रिंशत् स्तोमाबन्धित प्रवेश की हमने व्यवहृत नाम कलाया है मही शब्दवाचक है। इसी आकाश पर एकत्रिंशत् इस प्रवेश की 'कु' (कुशले) कहा जायगा है। हमने वर्णवाचक मव अक्षरवाचरिण प्रवेश अपने त्रिचोष्टिर्गन्त्री के कारण अवाऽप्रसिद्ध त्रयस्त्रिंशत् मात्रासोम का मारवाही बनता हुआ ('अनुष्टुभमनु अचूच्यमनुष्टुभमनु निबन्धित कवको मनीषा') 'कमा' ('कमु'—सहने) बन रहा है। एवं तीर्थ विमानलक्षण स्वरवाचक अवाऽप्रसिद्ध प्रवेश अपने वैमानिक-महिमावाचक से—'मही' नाम धारक किए हुए है। 'अवन्ति' ऐन्द्री पृथिवी के २४-२५-२६ इन तीन विषयों के क्रमः। कु-कमा-मही ये तीन शब्द वाचक बन रहे हैं। वेदा नि परिशेष से स्पष्ट है।

❀-विश्वम्भरा वैष्णवी, एव स्थिरा ऐन्द्री पृथिवी के अवा-
न्तर विवर्त—

● क्या ही उत्तम हो यदि कोई विद्वान् आभारवाचक की एक हजीयत की वैमानिक व्याख्या कर इन त्रयस्त्रिंशत् अक्षर ग का की रक्षा करे। वाम आक्षेप महाशय है तन्त्रु नाम ही आभारवाचक भी।

१-विश्वम्भरा वैष्णवी-वेन, मास्वर दिक् सोममयी पृथिवी

- १-एकविंशत्या — वनमयी प्रथमशीला वैष्णवी पृथिवी — 'पृथिवी' (२१)
 २-विष्वक्तो — मास्वरसोममयी-वैष्णवाधनभू व नन्त 'अयनि' (२२)
 ३-वपस्विता — स्वामययी-मध्यमाधनभू — मदिनी (२३)

२-म्यरा ऐन्द्री-अञ्जन-वर्ण-स्वर-मयी पृथिवी—

- १-चतुर्विंश अञ्जनमयी शम्भवा ऐन्द्री पृथिवी — 'कु' (२४)
 २-चतुर्वच वर्णमयी-अनशीलमन्त्र — अन्तरि — 'वमा' (२५)
 ३-अष्टा स्वामयी-मदिमराग्निनी-योग — 'मही' (२६)

५७५-प्रसङ्गोपात अन्य रहस्यपूर्ण भुक्तिमिद पार्थिव-नामविवर्त्तका तात्त्विक-स्वरूप मस्मरण—

प्रसङ्गोपात यह और जान लीजिए कि वैदिक-विद्वान्तनुसार विश्वपृथिवी (मित्र मित्र भावी की संज्ञा से) भू-भूमि-पूषा-सोम-सोमि-सामा-निर्ध्व-दि-ग्मा इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। इसी सम्बन्धपृथिवी इन्द्रप्रियाकी सम्बन्ध गायत्री पृथिवी पूषा पुष्करपर्ण सुपर्ण इत्यादि उर्वी अदिति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। वैष्णवी आपमयी पृथिवी गौ मातराम्भरा मरस्वती अदिति इत्यादि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एक ऐन्द्री वाट्मयी पृथिवी 'मही' "जगती वपस्विता देवता इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इनके नामों का मौलिक रूप बुद्धिबोधी विद्वानों के बुद्धिबोध पर छोड़ने हुए इस प्रकार के मुख्य उपासक रूप प्रकृत पार्थिव विद्वत् प्रजापति-प्रकरण की उपर्युक्त क्रिया जाता है।

उपामकविराट्—

५७६-उपामकविराट् के अग्रिम सखा उपासकविराट् (मानव) के समतुलनात्मक समान-धर्मों का स्वरूप-निर्दर्शन—

पूर्वोक्त उपासक विराट् की उपासना करने वाला उपासक भी कोई विराट् ही होना चाहिए, और उसकी उपासना एवं उपासना का आशय भी कोई विराट् ही होना चाहिए। उपासक उपासक, उपासना उपासना के माधन समी विराट् ही समी आनन्द है। अतः तो सबसे पहिले उपासक की विराट् विमूर्ति का ही विचार चाहिए। उपासक विराट् प्रजापति के नाम से प्रसिद्धि अद्विष्ट देवकीनित्य पञ्चविध विवेकीनित्य इन

तेजः सत्त्व जीवों में से मनुष्य नाम का डिम्बर्क्त्वा ही उत्पन्न है। इस मनुष्य में आत्मा शरीर, वे दो संस्थाएँ हैं। शरीर पञ्चमीतिक है पञ्चपर्वा है आत्मा त्रिपर्वा है इसी तीन-पाँच की विमूर्ष्ट से कुछ ईश्वरप्रकाशिता का संस्पृष्ट बनता हुआ यह भी तीन पाँच करने लगता है।

५७७-उपासक-विराट् के आत्मानुबन्धी अत्यन्त रहस्यपूर्ण अष्टादशविध-आत्ममहिमाभाव-

पञ्चपर्वा शरीर का स्वल्प प्रत्यक्ष है। आत्मा के तीन पर्व परमात्मा-अन्तरात्मा-मूलात्मा में से इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें परमात्मा त्रिपर्वा है। अन्तरात्मा पञ्चपर्वा है मूलात्मा द्विपर्वा है। सम्भव १ पर्व होता है। यही आध्यात्मिक विराट् प्रकाशिता है। यदि अन्तरात्मा के अन्तरात्मा पर्वों का विचार किया जाता है तो यह संख्या १८ पर विभक्त करती है। त्रिगुण-आध्यात्मिक-पञ्चकर्तृ आत्मयात्मा पञ्चकर्तृ आध्यात्मिका पञ्चकर्तृ आत्मा तीन की समष्टि परमात्मा है। यही आध्यात्मिक पञ्चकर्तृप्रकाशिता है। शान्तात्मा यज्ञात्मा विज्ञानात्मा महात्म्या प्राज्ञात्मा इन पाँच पर्वों की समष्टि अन्तरात्मा है यही आध्यात्मिक यज्ञप्रकाशिता है। इस आध्यात्मिक यज्ञप्रकाशिता का शान्तात्मा नामक प्रथम आत्मपर्व अन्त-धर्मि, क्षमा वेदात्मा विद्यात्मा मेघ से चार भागों में विभक्त है। तीव्र विज्ञानात्मा विज्ञानात्मा, वेदात्मा मेघ से दो भागों में विभक्त है। श्रीषा महानात्मा आह्वयिमाह्वान् प्रह्वयिमाह्वान्, आह्वयिमाह्वान् से तीन भागों में विभक्त है। हृत्पञ्च पञ्चपर्वा अन्तरात्मा (यज्ञप्रकाशिता) इन अन्तरात्मा पर्वों से ५ के के स्थान में द्वापर्व बन जाता है। तीव्र मूलात्मा के आह्वयिमाह्वान्-अन्तरात्मा वे दो प्रधानपर्व हैं। आह्वयिमाह्वान् एकविध है। अन्तरात्मा के अहंसात्मा-कर्मसात्मा वे दो विभक्त हैं। अहंसात्मा एकविध है कर्मसात्मा के ईश्वरानन्द-सौख्य-प्राप्त वे तीन विभक्त हैं। सम्भव मूलात्मा के पाँच पर्व होता है। यही आध्यात्मिक विराट् प्रकाशिता है।

५७८-अध्वरो-गायत्री से आत्मपर्वनिष्पत्ति, एवं पञ्चपर्वा-गायत्री से शरीरपर्वों की स्वरूप-निष्पत्ति—

परमात्मा अन्तरात्मा मूलात्मा वे तीन आत्मपर्व पञ्चपर्वा पाञ्चमीतिक शरीर, वह प्रसिद्धि दृष्टि है। इस दृष्टि में अध्वरो गायत्रीचन्द्र की प्रधानता है। यही आध्यात्मिक गायत्री है। गायत्री ही पञ्चपर्वा से शरीर की हुई है एवं गायत्री ही अध्वरो से आत्मा की हुई है।

त्रिकस्रो विराट्	१-परमात्मा	पञ्चाक्षर आत्मगायत्री (आत्मा)	(गायत्री-सूत्रा विराट्) -दशाक्षर आध्यात्मिकी गायत्री
	२-अन्तरात्मा		
	३-भूतात्मा		
मूर्तिः प्रतिष्ठा	१-आकाश	पञ्चाक्षर शरीरगायत्री (शरीरम्)	गायत्री का इहं सधम
	२-वायु		
	३-तेज		
	४-जलम्		
	५-मृत्		



१७६-दशधा त्रिधा-एकधा-विभक्त विराट्-प्रजापति का विभिन्न-दृष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

त्रिपर्वा परमात्म्या पञ्चपर्वा अन्तरात्मा द्विपर्वा भूतात्मा यह त्रुमरी आत्मदण्डि है। इस दृष्टि में केवल आत्मसम्बन्ध से दशाक्षर विराट् स्रन्द का मोल हो रहा है। दशापर्यवर्त्यनीय दशाक्षर के सम्बन्ध से ही इस पर्वा-मा को "विराट्" कहा जा सकता है। तीनों अवर्ध उस एक ही भूतात्मा के विकास है इस दृष्टि से यह विराट् एकल है। त्रिपर्वदण्डि से बड़ी विराट् त्रिकल भी कहा जा सकता है एवं दशपरवर्दण्डि से उसे दशाक्षर भी माना जा सकता है—'दशधा-एकधा-त्रिधा'। एककल त्रिकल त्रिधा दशकल आत्मपर्वों की सम्मिश्रण इस विराट् प्रजापति की प्रतिष्ठामयि बड़ी पञ्चपर्वा पञ्चमीयिक शरीर है। पञ्चपर्वा-मूर्ति प्रतिष्ठित के अनुसार यह आत्मलक्ष्य विराट् मूर्तिभूत इस शरीरपरिच्छा में ही प्रतिष्ठित है। यही विराट्-स्रन्द विराट् प्रजापति की दूसरी दृष्टि है जो कि परिच्छेद स्पष्ट है—

१-अध्वरमा	-विपत्ताः स्वसमावेष्टः प्राप्तप्रभापति	} विपत्ता परमात्मा (१)	दशकतो वेद्यो विद्यु- प्रभापति	
२-अध्वरमा				
३-आत्मध्वरमा				
१-शान्तात्मा (स्था)	-पञ्चकली कर्मोद्यतः कर्मप्रभापति	} पञ्चकली अन्तरात्मा (५)		
२-व्यात्मा (पा)				
३-विज्ञानात्मा (क्षी)				
४-महानात्मा (भा)				
५-मायात्मा (पा)				
१-अध्वरमा	-विपत्ता पार्ष्णि- विराट् प्रभापति	} विपत्ता मत्तत्मा (२)		
२-अन्तरात्मा				
* पाञ्चमौलिकं शरीरम् -			ममि प्रतिष्ठित	

५८०-त्रयोविंशतिपर्वात्मक विराट् प्रभापति का अन्य दृष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्राप्त—

अन्तरात्मा के अन्तिम पर्वकर्म प्राणात्मपर्व का मूलत्मा के अन्तरात्मकसमन्वय कर्मोत्पत्ति में अन्तर्भव होता है। इस दृष्टि से पञ्चकली के स्थान में अन्तरात्मा के चार ही पर्व शेष रहते हैं। इन चारों के अन्तर्गत पर्वों के संख्य से बड़ी कमी आकर दशपर्व बन जाता है। इसप्रकार विपत्ता परमात्मा दशपर्व अन्तरात्मा पञ्चकली मूलत्मा की अन्तिम अष्टादशपर्वस्थित तीसरी आत्मवर्ति होता है—“अष्टादशोक्त-मर्तुं कुरु कर्म”। पौनःपुन्य शरीर की सम्पूर्ण-आत्मा-शरीर की २५ कक्षाएँ ही जाती हैं। बड़ी कलात्मक ऊन गावरी (२५ अक्षर की निचुरगावरी *) है। किंवा गायत्रि विराट् है। यही निचुरगावरी अन्तरा विद्युत्प्रभापति की तीसरी दृष्टि है अथवा परिशेष से स्पष्ट है।

५८१—विराट्पासना के द्वारा उपासक की उपास्यरूप में, एवं उपास्य की उपासक के रूप में परिणति का रहस्यारमक दिग्दर्शन—

विराट् के उक्त आध्यात्मिक विस्तार—रूप की योही वेर के शिष्ट छोड़कर स्वस्वरमूर्ति विष्वा आत्म-विपरीत की प्रीतिमय कीर्ण। कहा जानुच है कि आध्यात्मिक परमात्मा अन्तरात्मा ही कमरा पाठरीय यज्ञ एवं विराट् प्रजापति है। यह आध्यात्मिक भूतारमलक्षण विराट् प्रजापति ही उस आधिदैविक पार्थिव-राज्य विराट् प्रजापति का उपासक बनता है। इस उपासना से उपासक उपास्य बन जाता है एवं उपास्य को उपासक बनना पड़ता है।

५८२—बृहद्विराट्-मूर्ति मानवीय कर्मात्मा की मोहनिवृत्तिरमका आधारामूला सुपुति, एवं तन्निबन्धन मृत्युमात्र का समन्वय—

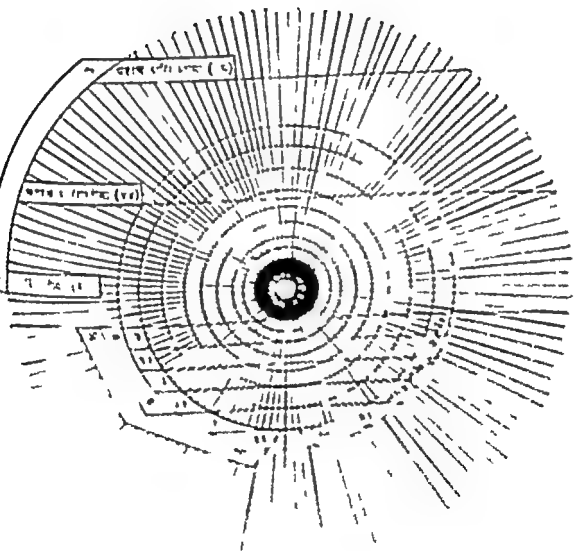
पूर्व में पार्थिव आधिदैविक विष विराट् प्रजापति का बीजात्मा के साथ सम्बन्ध बनताया गया है वह बीजात्मा उक्त तीन आध्यात्मिक आत्माओं में से पञ्चपर्व भूतत्मा का निपरी कर्मात्मा ही है जिसके कि पूर्व के अष्टादशारतन—परितोक्त में वैश्वानर—तैत्तिरीय—महात्मा के तीन पर्व अन्त्याए हैं। आधिदैविक विराट् के सर्व-पर्व का अर पात्रमामा है हिरण्यवर्म का अर ठैष्ठ है विराट् का अर वैश्वानर है। मृत्पिण्ड का अर पात्र-मौलिक शरीरपिण्ड है। आधिदैविक अर शरीरविराट् प्रजापति को यद्यपि ब्रह्म-बोद्धरी की अपेक्षा हमन अचनन कहा है परन्तु 'त' अर आत्मक आध्यात्मिक विराट् प्रजापति की अपेक्षा उसे बतन कईसे एवं इसे अचनन कई है। यही विराट् इस आरामक शरीरपिण्ड में आकर मनीषुक्त इन्द्रियवर्ग—आर अचनन मौलिक विरम अन्तरों से आहत होकर अपने उस व्यापक स्वरूप को छा बैठता है। यही उस बीर का यह सर्वमात्र है। यह वहाँ आकर अन्तरूप में परिणत होता हुआ अपने स्थानात्मिक विस्तार से बधित होता हुआ सर्व अन्तरों से परिनिबन्धन एवं आहत कण्य हुआ मृत्युमात्र का किना कम मृत्यु कृष्ण-पुष्प पुण्य-पापदि इन्द्रियवर्ग का अनुगामी बन जाता है। यही ब्रह्म की सुपुति है निवृत्तिरमका है।

५८३—बृहस्पत्य महाविराट् के द्वारा कर्मात्मविराट् को समये समये उर्वोचनप्रदाना—तुमह, एवं कर्मात्मविराट् की तत्प्रत्युपेक्षा—

आध्यात्मिक नमी प्राकवेकता हृत्पक्ष क्षेत्रज्ञात्मा अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति) एवं प्रत्यगन्तकक्षय (बोद्धरीप्रजापति) इन दोनों के सहयोग से आरामक शरीरपिण्ड में विषयपरस्परपुत्र में प्रमुक्त भूत-आत्मलक्षण है। वे प्राकमूर्ति इस विराट् को अगने का यद्यपि यथाशक्ति प्रयास करते रहते हैं, समन समन पर अन्तरात्मक की यह प्रतिबन्धि निवृत्ति करती है कि—'देखी हम अनुचित कर रहे हो, देखो हम फिर बाधे हो किन मौलिक विषयों में आकर्षितपूर्वक हम (विराट्-बीज) प्रहत हो रहे हो। वे तुम्हारे स्वा-मानिक विस्तार के अवरोधक हैं इन से बचने में ही तुम्हारा अस्त्युत्प है। परन्तु किनचित् प्रमुक्त विराट् की प्रवीर नहीं होता। यह विराट्प्रत्युक्त आकर्षण के प्रमाण से समन समन पर मिलने जाती इस अन्तरात्मा का कोई आदर न कर अधिकाधिक मृत्युपात्र का ही अनुगमन करता रहता है। बुरी राखी में इसे बेत नहीं होता नहीं होता।

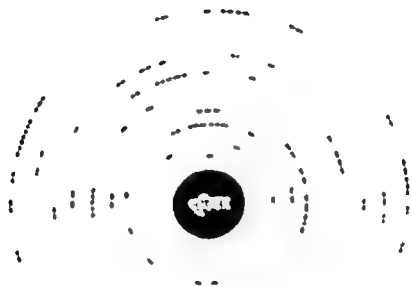
अभिप्लवपृष्ठ-समष्टि -

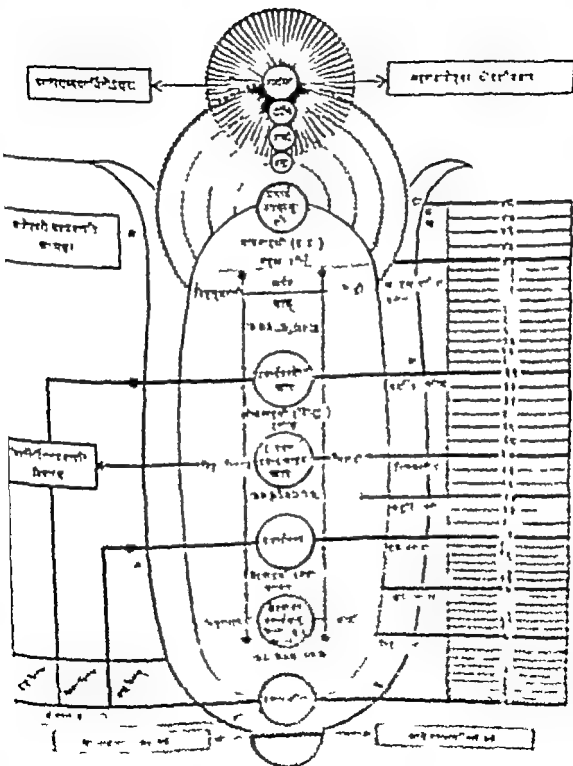
तदित् सर्वम्

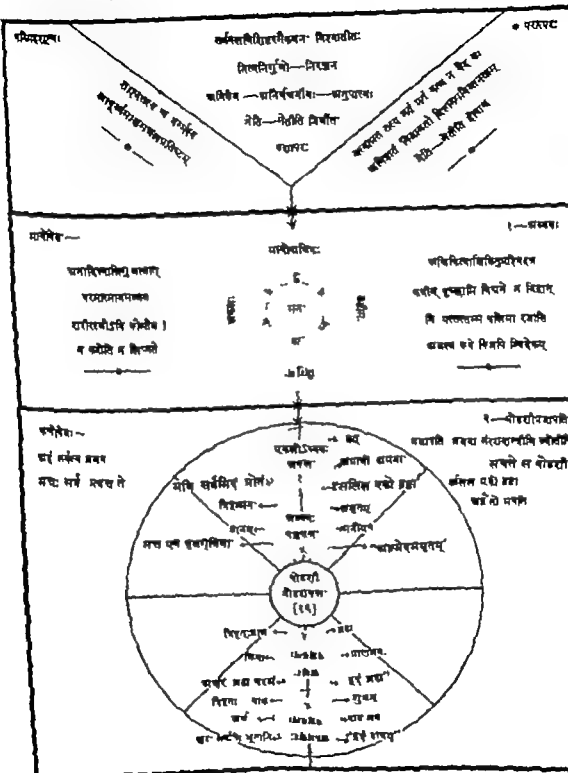


पृष्ठ्यस्तोमा --

भूतप्रतिष्ठारूपा
(शास्त्र-वैयर्थ्य)







५८७-‘क्षेत्रज्ञयोग’ का तात्त्विक स्वरूप-मन्त्रवय, तन्मित्र-चन गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण
‘बुद्धियोग’, एवं तत्स्वरूप क्षेत्रज्ञविराट् की उपासना से ही बुद्धिविराट् का
सम्भावित उद्बोधन—

यह अपनी निम्ना द्योतता कथ है अथवा उक्त मो-निम्ना से इच्छा पीछा का कैसे पूरा करता
है? इसका उत्तर वही गीताप्रतिपादित बुद्धियोग है जिसे कि पुराणने ‘क्षेत्रज्ञोपासना’ कहा है। कहा
गया है कि ‘यामात्मनश्च विराटप्रभापति का पिता पञ्चतवा अन्तरात्मनश्च ह्यन्यस्य यत्प्रभापति है। यह-
प्रभापति के शान्त-यज्ञ-विशानादि पाँचों पक्षों में विज्ञानात्मा मध्यस्थ बनता हुआ पाँचों का संसाहक बना
हुआ है। जैसे पञ्चतवा आधितैविक यज्ञप्रभापतिमहेश में मध्यस्थ सूर्य अपने केन्द्रमात्र के कारण सर्प-
संसाहक बना हुआ है एकमेव सूर्यारूप मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही यहाँ भी सर्वोन्मा बन रहा है।
अन्यत्र इसके प्रमाण से अन्तरात्मा का प्रमाण परिहार्य होता है। यही विज्ञानात्मा (अक्षरमूर्ति) ‘क्षेत्रज्ञ’
नाम से प्रसिद्ध है। विराट् अवलोक मन के चक्रान में कैमकर इन्द्रियों का आस बना रहता है तबतक इस
का उत्थान (निरा परिन्वाग) सम्भव नहीं। अब यह अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर उसका क्षेत्रज्ञ
(बुद्धि) लक्षण अन्तरात्मा के साथ योग करवा है तभी क्षेत्रज्ञयुक्त परमात्माम्बोनि का (अक्षयपम्बोति
का) इस पर अनुग्रह होता है। इसी अनुग्रह से मन का उत्थान होता है। निष्कप यही हुआ कि महाविराट्
का अक्षरूप आत्मनव शरीरपिण्ड में प्रसुप्त बीज नामक यह बुद्धिविराट् अपनी प्रसुप्ति को दूर करने के
लिए ब्रति क्षेत्रज्ञ का आश्रय लेता है तो इतना उत्थान अवश्यमाभी है। ‘यद्वा पश्य पश्यतं क्लम
वर्त्म’। क्लमवर्त्म (सूर्यारूप) क्षेत्रज्ञयोग [बुद्धियोग] है। इसी वापति का अनन्य साधन है।
यही बुद्धियोगलक्षणा वास्तविकी विराट् उपासना है। उपासक िराट् के प्रसन्न प्रबुद्ध नहीं दोनों भावा का स्पष्टी-
करण करना हुआ पुराणशास्त्र करता है—

१-हिरण्यगर्भाद्व्यष्टकोशादुत्थाय सलिलप्रशयात् ।

तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्विभङ्गं स्वम् ॥

२-उत्ते अम्युचिता दशा नैवास्योत्थापनऽशक्नु ।

पुनराविबिद्युः स्नानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥

३-बह्विर्बावा मुख मेगे नोदतिष्ठतदा विराट् ।

प्राप्तेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठतदा विराट् ॥

४-अचिखी वसुपादित्यो नोदतिष्ठतदा विराट् ।

भोत्रय कर्मा च दिशो नादतिष्ठतदा विराट् ॥

५-स्वयं रोममिरोपप्यो नोदतिष्ठतदा विराट् ।

रतता शिखनमापस्तु नोदतिष्ठतदा विराट् ॥

५८६-‘अधिकार भाव निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि विराडुपासना को हमने आधिकारिक अचेतन बीजोपासना कहा है एवं वज्रवक्त्रयुपासना को आधिकारिक चेतनबीजोपासना (अक्षतारोपासना) कहा है । साथ ही पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि द्विबन्धु-संक्षय द्विवातिवर्ग एवं स्त्री-शूद्रवर्ग के अभ्युदय के लिए ही अक्षतारोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामय का अधिकार शिवाजी को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अक्षतारोपासना का अधिकार है ।

५८७-यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, ए वत्प्राप्तिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य—

यदि मध्यममात्र है तो बड़ी उपासना विराडुपासना बन जाती है । उपासना में अचेतन विष्णु की उत्पत्ति-पूर्ववर्तिता प्राप्त होती है । इस सकाममूला विराडुपासना को हम यज्ञोपासना विष्णुपासना उपासना मेरु से तीन मार्गों में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमशः पारम्परिक अर्थवा से उत्तम-मध्यम-मध्यम मार्ग माने जायेंगे । पहिले यज्ञोपासना की ही स्वीकार । इसका अधिकारी-द्विवातिवर्ग रहेगा । जो श्राद्धन को क्षयित किया को वैश्य वक्त्राक्ष शास्त्राध्ययन का ब्राह्मणवृद्धि का आशय होना हुआ व्यक्ति-पुष्टि के लिए पारिवर्तन वैभव एवं स्वर्ग-पुत्र की कामना के लिए (कामसमनः स्वर्गपथ) आभ्यस्तन पूर्व में रहत होगा उसकी यह कामनामयी यज्ञोपासना उत्तमभेदों की विराडुपासना कहा जाएगी । उत्तम हमे इनके लिए कहा जायगा कि हमने विष्णु का पूर्णरूप में समर्पण रहेगा । हम पीरवक्त्रमण्डल में गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-आहवनीय से तीन अग्नि रहेंगे । वे तीनों अग्नि विराट् के धीरवानर-दिव्यवर्णम-मर्त्य-इन तीन पक्षों की ही प्रवृत्ति है ।

५८८-गार्हपत्य विष्णु-आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि वितान-स्वरूप दिग्दर्शन —

यज्ञरहस्यवताका को यह विदित है कि मेषवक्त्र के हविर्वेदि सोमवेदि मेरु स दो विभाग मान गए हैं । हविर्वेदि का मध्यवक्त्र स्वरूप होता है एवं सोमवेदि का मध्यवक्त्र स्वरूप होता है । हविर्वेदि के पश्चिम मार्ग में बलुन गार्हपत्यवक्त्र बनाया जाता है पूर्वमार्ग में अशुक्लीय आहवनीय एवं दक्षिणमार्ग में अक्ष वक्त्राक्षर दक्षिणवक्त्र बनाया जाता है । हमे वातिवर्गविभाग में “नूतन गार्हपत्य” कहा जाय है एवं हविर्वेदि का पश्चिममार्गमय गार्हपत्य “पुराण गार्हपत्य” कहा जाता है ।

५८९-हविर्वेदि पूर्व सोमवेदि, स समन्विता यज्ञवेदि तथा तत्पुष्करूपवितान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहवनीयमय विष्णु सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यमय अशुक्लीय के आगे (पूर्व मार्ग में) महाभारतवक्त्र रखा है । इस नूतनवक्त्र के मध्य में ६ अग्नि कुण्ड एवं उत्तर दिग में माहवनीय एवं आहवनीय व दो अग्नि कुण्ड लक्ष्य आगे (दक्षिण) अग्नि कुण्ड रहते हैं । इन आगों की स्मृति ही “विष्णु अग्नि” है । इनके आगे हविर्वेदिमण्डल है । हमें अक्षरों पर नामवन्ती रहनी रहनी है । हमने आगे नूतन वेदि है । उत्तरवक्त्र के मध्य में अशुक्लीय आहवनीय है । यही अशुक्लीय होती है । उत्तरवक्त्र के अग्र में नूतन है । यही हविर्वेदिमण्डल नामवन्ती का यही अधिकार स्वरूप है ।

- ६-गुहं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठतदा विराट् ।
 इस्तावित्रो बलेनैव नोदतिष्ठतदा विराट् ॥
 ७ विष्णुर्गर्ग्यैव शरणा नोदतिष्ठतदा विराट् ।
 नाडीनयो लोहितेन नोदतिष्ठतदा विराट् ॥
 ८ सुहृद्ब्रह्माम्बुदर सिधुर्नोदतिष्ठतदा विराट् ।
 हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठतदा विराट् ॥
 ९-पुदया ब्रह्मापि हृदय नोदतिष्ठतदा विराट् ।
 क्तोऽमिमत्या हृदयं नोदतिष्ठतदा विराट् ॥
 १०-चित्तेन हृदयं चैत्याः शेषतः प्राविशतदा ।
 विराट् तदैव पुरुष मलिलाद्भुदनिष्ठ ॥
 ११-यथा प्रसुप्त पुरुषं प्राशेन्द्रियमनोबिष ।
 प्रमथन्ति बिना येन नोत्थापयितुमोक्षसा ॥
 १२-समम्बिन् प्रत्यगात्मानं विद्या योगप्रवृत्तया ।
 मक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्य्यात्मनि चित्तयम् ॥

—श्रीमद्भागवत ३ स्कन्ध २६ अध्याये

५=५-शेषतःयोगात्मिका विराडुपासना एवं विष्णुशरोपासना का समतुल्यतात्मक-
 समन्वय—

य नक्षत्रो ही विराडुपासना है । शेषतःयोगात्मिका यह उपासना भी विराट् है उपासना के साधनमूल मन-
 कर्ममार्गिक तथा इन्द्रियधारणात्मक योग भी विराट् है उपासना पार्ष्विक प्रकाशति भी विराट् है एवं उपासक
 शारीरिक आत्मा भी विराट् है । यह उपासक यह उपास्य, यह उपासना एवं यह उपासना-साधन इन चारों
 भी समाधि का प्रकृत प्रकरण ही विराडुपासना से कोई सम्बन्ध नहीं है । योगात्मिका उपासना का ही कर्मयोग-
 भाष्य ब्रह्मसाधन ही उपासनाओं में ही आत्मार्थ मानना पड़ेगा वैसाकि पूर्व के पुराणमुद्रागुण-
 उपासनामात्र-प्रकरण में चिन्मय से निष्पन्न किया जा चुका है । अब प्रश्न हमारे अग्रिम यह क्या
 बाधा है कि “महत् प्रकरण ही विराडुपासना का कथ्यत्व है एवं इन उपासना का क्या फल है ?” प्रश्न
 का समाधान प्रकरण के आरम्भ में ही किया जा चुका है । वही कहा गया कि—“ही स्वयं का प्रत्यक्ष
 स्वरूप मन्त्रप्रदान ही उपासना है प्रायः वही स्वयं हम विष्णुशरोपासना, विद्या विराडुपासना का है ।
 केवल आत्मार्थ में आगत है” ।

५८६-‘अधिकार’ भाव निवृत्तिना उपासना के तत्त्वार्थ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पठकों की स्मरण होगा कि विराडुपासना की हमने आधिकारिक अचेतन बीबीपासना कहा है एवं अन्तर्भाव-उपासना की आधिकारिक चेतनबीबीपासना (अन्तरोपासना) कहा है । आप ही पूर्व प्रकरण का उपरहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जाना है कि द्विचक्षु-लाक्ष्य द्विवातिर्ग एवम् स्त्री-शूद्रवर्ग के समुदाय के लिए ही अन्तरोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामात्र का अधिकार द्विवाति को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अन्तरोपासना का अधिकार है ।

५८७-यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, ए वंशुप्रतिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य—

यन्त्रि नक्षत्रमात्र है तो बड़ी उपासना विराडुपासना बन जाती है । उक्तमात्र में अचेतन विराट् की उत्पत्ति-पूर्वविवृतिर्ग प्राप्त होती है । इस उक्तमात्रा विराडुपासना का हम यज्ञोपासना विराडुपासना वैवापासना भेद से तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमशः पारम्परिक अचेतना से उत्तम-सम्पन्न-प्रथम मार्ग माने जायेंगे । पहिले यज्ञोपासना की ही लीजिए । इसका अधिकारी-द्विवातिर्ग होगा । जो शास्त्र, जो ऋषि, किंवा जो वैश्य वशात् शास्त्रावयव कर शास्त्रप्रवृत्ति का आश्रय होना हुआ अग्नि-पुष्टि के लिए पार्ष्वि वैश्व एवम् स्वर्ग-भुव की कामना के लिए (कामात्मनः स्वर्गपर) काम्यकर्म पथ में प्रवृत्त होगा उसकी यह अन्तर्भावबीबीपासना उत्तमभोग की विराडुपासना कहा जाएगी । उत्तम होने इतना कि कहा जायगा कि इसने विराट् का पूर्वरूप से समावेश होगा । इस वैश्ववत्प्रवृत्ति में गार्हपत्य-दक्षिणाम्नि-आहवनीय ये तीन अग्नि रहेंगे । ये तीनों अग्नि विराट् के धीरवानर-दिरक्कगम-सर्ग-इन तीन पथों की ही प्रतिरूप हैं ।

५८८-गार्हपत्य विष्यप आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि वितान-स्वरूप विगर्हर्शन —

यत्रयद्वेवाद्यो को यह विदित है कि वैश्ववत्प्रवृत्ति के हविर्वेदि सोमवेदि भेद से दो विभाग माने गए हैं । हविर्वेदि का मन्त्रवत्प्रवृत्त होता है एवं सोमवेदि का मन्त्रवत्प्रवृत्त होता है । हविर्वेदि के पश्चिम भाग में वसुक्त गार्हपत्यकुण्ड बनाया जाता है पूर्वभाग में अनुपशब्द आहवनीय एवं दक्षिणभाग में अन्न चन्दाधर दक्षिणकुण्ड बनाया जाता है । इसे याज्ञिकपरिमाण में “नूतन गार्हपत्य” कहा जाय है एवं हविर्वेदि का पश्चिमभागस्थ गार्हपत्य “पुराण गार्हपत्य” कहा जाता है ।

५८९ हविर्वेदि एवं सोमवेदि, से समन्वित यज्ञवेदि तथा तत्त्वस्वरूपवितान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहवनीयस्थ किन्तु सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यस्थ अग्निकुण्ड के आगे (पूर्व भाग में) सप्तमन्त्रवत्प्रवृत्त रहता है । इस सप्तमन्त्रवत्प्रवृत्ति के मध्य में १ अग्नि कुण्ड एवं उत्तरदक्षिण में माहोनीय एवं आहोनीय के दो अग्निकुण्ड लगभग आठ (८) अग्निकुण्ड रहने हैं । इन आठों की समष्टि ८० अग्निवत्प्रवृत्त अग्नि है । इनके आगे हविर्वेदिमन्त्रवत्प्रवृत्त है । इनमें आठों पर सोमवेदनी रक्षणी रहती है । इनके आगे उत्तराधरि है । उत्तराधरि के मध्य में अनुपशब्द आहवनीय है । यही सोमवेदि ही है । उत्तराधरि के अन्त में पूष है । और हविर्वेदिमन्त्रित सोमवेदि का यही पश्चिमवत्प्रवृत्त है ।

५६०-स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यशविराडुपासना का कामनायय फलममन्त्रय—

इतिरिति मृगिण्ड की महतिहृति है सोमवेदि २१ स्तोमाकिल्लभा विराट् ब्राह्मी पृथिवी की प्रविष्टि है। सोमवेदि का गाहपत्य (छत्याग्निपुत्र) मण्डल विष्टु स्थानीय पृथिवीलोक ॥ यरी मेरवानर-मण्डल है। एवं चाहनीमण्डल एकविंश स्थानीय पृथिवीलोक है यही तत्त्व मण्डल है। "मन्त्रार नद मेव सोमयन्त्रितान उत विराट् प्रजापति की प्रतिहृति बना हुआ है। इसका यजन [सोमयन्त्र] ही विराट् का यजन है। यही यजन यशविराट् विराडुपासना है। स्वर्ग-कामना से की गई यह विराडुपासना स्वयं-प्राप्तिक्रम अथारवत पुनश्चल की प्राप्ति का ही कारण बनती है।

५६१-आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तत्त्वयजन कामभाव, तत्पूरक-यन्त्रकण्ड, एवं तदनुप्राप्तिता विराडुपासना, तथा विराडुपासना का प्रथम सोपान—

आदित्यमण्डल की ही स्वर्गलोक कहा जाता है एवं यह आदित्य-मण्डल "एकविंश वा इत आदित्य" के अनुसार मृगिण्ड से २१ वें अङ्गुल पर है। इसे ही दैनिक परिमाण में ताचिकेठ स्वर्ग कहा जाता है। कठ ने "सी का 'दग्ग्याग्नि' कहा है। वन के द्वारा मानुष भवतत्त्वयजन विराट् में उत दिव्य विराट् प्राप्त का आवाज दिया जाता है। इस आवाज संस्कार में सम्मिलित यह 'वराट्' आधुमोमानतर आक्यस वरा वही (स्वर्ग में) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक इस बीच विराट् में उत यशविराट् का पुरस्कृत संस्कार प्रतिष्ठित रहता है तबतक वह स्वर्ग सुख योग्यता है। संस्कारनिष्ठ पर पुन इन्ने इही सर्व भोग-वराजन पर बन्धन लेना पड़ता है—'क्षीयं पुरय मर्त्यलोका बन्धन्ति'। यही विराडुपासना का कामनामय यन्त्रकण्ड प्रकट है।

५६२-आगमिक-ज्ञानसुगता मिदिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं विराडुपासना का द्वितीय-सापान—

जो किंवाति वेदाध्वननविष्ट से यज्ञ करने में अभिमर्त्य हैं केवल विष्टु साधारण आगमिक-ज्ञान है वे विष्टुकरु कहलाते हैं। आगमोक्त वेदोपासना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके बाद कर तत्पूर विष्टुवा प्राप्त करना ही इनका काम पुरकार्य रह जाता है। यज्ञोपासना में विष्टु का सर्वोपाना प्रथम था परन्तु इस आगमिक-उपासना में स्वर्ग-गणपति-शिव-आदि विष्टु के एक-एक अवयव की उपासना है। अतएव इसे हम उत की उपेक्षा नीची शक्ति में मान सकते हैं। साथ ही यज्ञात्मिका विराडुपासना से विष्टु-मत्त्वकण्ड २१ विश्व स्थान मिलता है परन्तु विष्टुविष्टु इस विष्टु-पर्वोपासना से विष्टु सर्व में प्रतिष्ठित उत्तर बतलोक ही प्राप्त होते हैं। जबतक विष्टुतत्त्वकण्ड है तबतक तत्त्वलोक-स्थिति है। संस्थाप भाव में पुन' यही बन्ध-मृ-यु-महाह।

५६३-अवेदोपासनारिमका विराडुपासना से अनुप्राप्तिता अमृतारोपासना, तद्विष्टु-रि-रग, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

तीव्रत स्त्री-रुद्रवर्ग है। यज्ञात्मिका उपासना का इष्टु आधिकार नहीं, आगमात्मिका उपासना की अतिशय पद्धति का यज्ञात्मक अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं। यज्ञात्मक य आतिविष्टुतत्त्व स्वर्ग की अभ्युपगान

हते हैं। अकस्मात्पुरुषों की जीला का सधमभाव से अनुगमन करना इत्यादि मार्ग ही इनके लिए श्रेय बच गये हैं। परन्तु इस अर्थ पर विरुद्ध पर्वोपासना से भी आशिक रूप से पूर्वहस्कार इन में प्रतिष्ठित होता है। क्योंकि इस में विधि का अभाव है अतएव हमने इसे अन्तिम स्थान दिया है। अथवा ही अन्तिम भाग में आकर दोनों ही भाग आकर हैं परन्तु पुरुषजनक होने से इन्हें भी शाल्य में संश्लिष्ट कर लिया गया है।

५४४-विगडुपासना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप समन्वय—

उक्त तीनों ही विगडुपासना मार्ग (समष्टिरूप नैगमिक विगडुपासनामार्ग पूर्वक रूप आगमिक धर्म विगडुपासनामार्ग पर्व पूर्वक अथवा विगडुपासनामार्ग) तीनों ही बलि निष्कासनात्मक हैं तथा ही उपपासनाओं को यज्ञप्रमाण्युपासना कहा जायगा यदि काममूलक हैं तो इसे विगडुपासना कहा जायगा (दोनों उपपासनाओं में बड़ी अन्तर है। साथ ही यह भी विवेक कर लेना चाहिए कि—यहाँ की श्री-शारङ्ग-सम्प्रदायी उपपासना का विशेष मुख्य आधिकारिक क्षेत्रनवीनों (नरावतारी) की ओर है, एवं यहाँ की उपपासना का विशेष मुख्य आधिकारिक क्षेत्रनवीनों की ओर है। अन्तर्दर्शन करके मोक्ष करना स्वर्णरत्न करना आर्थिक स्थान करना इत्यादि क्षेत्रनवीनोपासना में ही अन्तर्भूत माने गए हैं। क्योंकि दोनों में पौराणिक भाव का समावेश है अतएव यज्ञप्रमाण्युपासनाका यह विरुद्ध प्रमाण्युपासना को भी यज्ञप्रमाण्य से पौराणिक [नैगमिक-आगमिक-पौराणिक] उपपासना मार्ग ही कह सकते हैं परन्तु इसी विरुद्ध के आधार पर आपेक्षिक तत्त्वप्रकाश दार्शनिकों की तत्त्वमयिका का विचार हुआ है अतएव हमने इसे 'दर्शनयुगाध्यक्षीन' उपासना मार्ग करना अधिक समीचीन समझा है क्योंकि यज्ञप्रमाण्यम में ही स्पष्ट कर दिया है।

५४५-दार्शनिक-विद्वानों की स्वतन्त्रा दर्शनतत्त्वमयिका, तत्त्वोपासना तत्त्वोपासना, पर्व तत्त्वोपासना ही निःश्रेयसाधिगम-संस्थापन प्रणाम—

दार्शनिकों का तत्त्ववाद, किंवा तत्त्वमयिका एक तत्त्वमयिका ही माग है। यद्यपि ये लोकाचारप्रतिष्ठित यज्ञप्रमाण्यों का भी अनुगमन करते थे परन्तु इन की प्रधान उपासना तत्त्वान्वेषण ही थी। और फिर यह भी एक स्पष्ट दृष्टा विद्यमान है कि जो व्यक्ति तत्त्वान्वेषण की ओर अपना मस्तिष्क मुका देता है वह राष्ट्रीय चित्ति निवेदों के बजाय अनुगमन करने में अतमर्षी होता है। तत्त्वान्वेषण ही उसके जीवन की प्रधान उपासना बन जाती है। वह तत्त्वान्वेषण को ही तत्त्वपरिचय की ही उसके प्रचार द्वारा लोकाचारप्रमाण्य परमाण्य में ही निःश्रेयसाधिगम के दर्शन करने लगता है।

५४६-गोतम-कपिल-कणादादि दार्शनिकों की तत्त्वोपासना का संस्मरण—

गोतम कपिल कणाद पतञ्जलि आदि का तत्त्वान्वेषण उनके आधार पर मुख्यतः न्याय तन्त्रिक वैशेषिक व्याकरण आदि ग्रन्थ ही इस तत्त्वमयिका के अन्तर्गत उदाहरण हैं। वैशेषिक तन्त्रिक परिचय को ही मत्तियोग मानते हैं "न्यायं सा लोकाचारप्रमाण्यमभिज्ञा राजपदप्रतिः" यही नहीं, महामन्त्रशास्त्र भाष्य का अन्तिम में ही एक शब्द के तत्त्वमय प्रमाण से ही स्वर्णरत्नाधिगमि मानी है (देखिए महामन्त्र)।

५६०-स्वर्गप्राप्त्युपायनिषेधना यन्मविराज्यमाना का कामनायय क्लममन्त्रय—

इति चेत् मरिचक की प्रकृतिरिति हे सोमवेदि । सोमाग्निसूत्रा विना साक्षाद् दृष्टिर्वा की प्रकृतिरिति । सोमवेदि का माहपत्य (छायाग्निवृत्त) मण्डल विभक्त स्थानीय बुधिसीलोक हे वही मरिचकानर-मण्डल हे । एव साहनीयमण्डल एव हि सा स्थानीय सुलोक हे वही मण्डल मण्डल हे । इत्यत आर वर येन सोमयज्ञविद्वान् उक्त विरुद्ध प्रमाणित की प्रतिपत्ति बना हुआ हे । इसका यजन [सोमयज्ञ] ही विरुद्ध का यजन है । वही यजन यज्ञात्मिका विराड्भूतात्मना हे । स्वर्ग-धामना स की गई वह विराड्भूतात्मना स्वर्ग-प्रतिपत्ति अद्यावत् पुनर्वक्त की प्राप्ति का ही कारण बनती है ।

३६१—आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तमिश्चन कामभाव, उत्तूरक-यमकण्ड, एवं तन्नुप्रायिता विराहपासना, तथा विराहपासना का प्रथम सोपान—

[illegible]

५६२-आगमिक-ज्ञानानुगता, सिद्धिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय,
पर्व विराडुपासना का द्वितीय-साधन—

श्री विद्यावि कथाध्यायनविद्य से बच करने में असमर्थ है केवल हिंदू साधारण आगमिन्-मान है वे
 द्विजकुल कहलत हैं । आगमिन्ना वेवाधना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके कल कर ललत सिद्धि
 प्राप्त करना ही इनका कर्म मुख्यार्थ रह बाया है । अथवाधना में विद्या का उल्लेखना प्रह्व था परन्तु इस
 आगमिन्-उपाधना में सूर्य-गणपति-शिव-आदि विद्या के एक-एक अवलोकन की उपाधना है । अतएव
 इसे हम उस की उपेक्षा नीची प्रवि में मान लयते हैं । अथ ही ब्रह्मात्मिका विद्याध्याना
 से विद्यत्-मस्तककप ११ विराट् स्थान मिलता है परन्तु सिद्धिकथा इस विद्या पूर्वोक्तान्ना से विद्यत् गर्भ में
 प्रतिष्ठित ललत-बल्लोच ही प्राप्त होते हैं । अथवाध विद्योत्तराधर है ललत लललोच-विद्य है । उत्तरा-
 भाष में पुन' लली लल-मु-व-प्रवाह ।

५६३-अथैवोपासनात्मिका विराडुपासना से अनुप्रासिता अथतारोपासना, तदधिकारी-
या, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

पौरुष स्त्री-व्यवस्था है। मर्यादित व्यवस्था का इहो अधिकार नहीं, आध्यात्मिक व्यवस्था की वरिष्ठ पद्धति का संपादन अनुष्ठान करने की शक्ति नहीं। फलतः ये अधिकारपूर्वक व्यक्त को अधिकारवान

७—अनिलोऽमि विकृतिष्वे नमसोरुपलान्वितः ।

ससत्त रूपतन्मात्र ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥

८—अनिलेनान्वित ज्योतिर्विकृषत् पररीक्षितम् ।

आधत्ताम्भो रसमय कालमायाशयोगत ॥

९—ज्योतिषाम्भोऽनुसप्त विकृषद्भ्रमणीक्षितम् ।

मर्ही गच्छगुणात्मावान् कालमायाशयोगत ॥

१०—भूतानां नम आदीनां यद्यङ्गव्यावरावरम् ।

तेषां परानुसमर्गा यथासक्यं गुणान्वितु ॥

११—इति तासां म्भश्चनीनां सतीनामसमेत्य स ।

प्रसुप्तलोफ्तन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥

१२—काष्ठमर्क्षं तदा देवीं विभ्रच्छक्तिरुत्कम् ।

अयोर्भिशतितत्त्वानां गवां युगपदाविशत् ॥

१३—हिरण्यमयः स पुष्पः सहस्रपरिवत्तरान् ।

आण्डकोश उवासाप्सु सद्यसस्थापपृष्ठित ॥

१४—एष दृश्येत् सत्त्वानामात्मांश्च परमात्मन ।

आयोऽवतारो यत्रासौ भूतमात्रा विमाप्यते ॥

१५—साध्यात्मः साधिदैव च साधिमृत इति त्रिधा ।

विराट्माया दशभिष एकधा हृदयेन च ॥

१६—स्मरन् विदधत्सूत्रामीशो विज्ञापितमधोघञः ।

विराजमतपत् स्वेन तेजर्मपां विवृतय ॥

—श्री मा० ३।३२-३।

५०० भारतवर्षीय तत्त्वोपामकत्वम् एवं उभय की तत्त्वोपामना त्रिधा विराट्पामना च
स्वरूप-ममन्वय—

अथर्व ही भारतवर्ष में एक ऐसा ही उपासक पण या विमल एकमात्र कार्य्य या दत्ता-देवता
तत्त्वोपाम एव उभय द्वारा लोकायुद्धम् । कर्षीक यत्त्वोपाम विज्ञापनी का पार्थिवविराट् प्रमाण के
राष्ट्र में ही अन्तर्भाव है अतएव इन तत्त्वोपामक दार्शनिकी की, एक तत्त्वोपामि दर्शनप्रमाण का ही
इस अथर्व ही विराट्पामक कह सकते हैं । इनप्रकार पूर्व के तीन मार्गों के अन्तर्गत ही विराट्
पामोपाम के अन्तर्गत आर माग ही माने हैं । इन मार्गों की अन्तर्गत का विचार करने पर इस इन विचार

५६७ दाशनिर्को की तत्त्वोपासनामिनिवेशरूपि से अनुप्राणित-‘तत्त्वज्ञानाभि भेदसाधि-
गमः’-छत्र—

इतीपकार कथन न मी-‘धर्मैश्वर्यप्रसूतात् इन्द्रियसङ्क्रमसामान्यविशेषममवाधानां पदावतौ
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानाभि भयमम् [१०० दशम १११४] इतिरूप से स्पष्टाची में
तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयसमात्र प्राप्ति का कारण माना है। इतीपकार कथन ने मो-‘अथातस्तत्त्व ममाम्’
[१११ ...] कहते हुए तत्त्व की ही प्रशंसा की है। तत्त्वसमात्र-सत्य के अनित्य संप्रत्यक्षनरहित
का अद्वैतमित्यवस्था भी प्रसिद्ध ही है। यहाँ मी प्रकृतितत्त्व, एवं पुरुषतत्त्व विवेक को ही कामि-भेद का
चरम साधक माना गया है। “तत्त्वज्ञानाभि भेदसाधिगम” कहते हुए महामुनि गौतम ने मी तत्त्वमैक ही
प्रकाश की है।

५६८ तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक विराट् के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण एवं मगवान्
व्यास के द्वारा तत्त्वमर्चन—

इन तत्त्वशब्दों के रूप-रस-गुण-रस-स्पर्श-गन्ध-पथिरी-बल-तेज-बाहु-आकार-कल्प-दिक्-
संज्ञा-गुदत्व-द्रवत्व-परिमाण-पुष्पत्व आदि आदि विभिन्न मी तत्त्व हैं उन सब का अन्तर्मात्र विष्णु
प्रकाश में होबाया है। विश्वान्द्रि से मी तत्त्वज्ञान आत्मा के निकारकरप्रपञ्च पर ही प्रतिष्ठापित है एवं मी
निकारतत्त्व विष्णुप्रकाश का स्वरूप-अर्थक बना हुआ है। वृत्ते शब्दों में-संस्कृत ११ तत्त्वों की कल्पि
ही विष्णु प्रकाश में वेदादि पूर्व के पीरमिक्त विराट् प्रकाश में स्पष्ट किया बाबुका है। विष्णु पुरुष की
इसी विमति का उत्सुक करत हुए व्यासदेव कहते हैं—

१—त वा षण् षट् द्रष्टा नापरपस्वरूपमेकराट् ।

मेनऽसन्तमिवात्मानं सुष्ठुशक्तिरसुष्ठुहृक् ॥

२—सोऽप्यशुशुकात्मा मगवान्द्रिगाधरः ।

आत्मानं व्याकरोद्वात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षवा ॥

३—महत्तत्त्वाधिकुवास्यावृत्तपदम्पवापत ।

कार्यकारकजात्मा मूलेन्द्रियमनामया ॥

४—वैकारिकमैजसम् तामसोऽस्यैव विधा ।

अहंत्वत्वाधिकुवार्णान्मनो वीकारिकदृष्टमू ॥

वैकारिकाय ये देवा अथ मिष्यज्जर्म यज ।

५—मैजसानीन्द्रियागयेव हानकर्ममयानि च ।

तामसा मृतमजमपिपतः स्व सिद्धमात्मनः ॥

६—कालमायाशयोगेन मगदीर्घितं मम ।

नमसोऽनुसृतं त्वं विदुर्बन्निम्ममऽनिहम् ॥

पर पहुँचते हैं कि तत्त्वानुसंधाना विराट्पासना में वक्ष्यि परविराट् ही उपास्य बनता है परन्तु इस उपासना में लोकसंग्रहसमक लोकानुदय प्रतिष्ठित है । अतः इसे हम चारों में सर्वश्रेष्ठ कह सकते हैं । दूसरी में वैयक्तिक आत्मद्वेष है अतएव नमस्तिविराट् से सम्बन्ध रखती हुई भी वह ब्रह्मसिद्धि का कामभी विराट्पासना उत्तरोपासना की अपेक्षा नीची में बि में प्रतिष्ठित है । तीसरी स्थितिमूला काममयी आत्मसम्मता विराट्पासना में व्यक्तिगुण सम्मान है विराट् का कार्य प्रदर्शित है । अतः वह हीन मार्ग दूसरे मार्ग से भी नीची स्थिति में प्रतिष्ठित है । चौथी स्थितिमूला काममयी अवैय उपासना में, और आत्मयोगसना में पर-काम-व्यक्ति-गुण की दृष्टि से तो समानता है परन्तु अवैयभाव के कारण वह तीसरे मार्ग से भी नीचे के चराकण में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी ।

६००—विराट्पासनानुगत-चतुर्विध उपासनामार्ग एवं 'दाशनिह युगानुगता-उपासना' का स्वरूप-विराम—

इन चारों मार्गों की उत्तरोपासना-मध्योपासना, आत्मयोगोपासना-अवैयोपासना क्रम से ही श्रेष्ठियों में भी विमल विद्या आनन्दता है । प्रथमविभाग परब्रह्ममार्ग कहलायगा एवं दूसरा विभाग अवर आनन्दमार्ग कहलाए । इस प्रकार इस उपासना मार्गों की मूर्ति इस विराट्पासनामार्ग में भी कर्म अन्त का मोग तुल्य बन जाता है क्योंकि निम्नलिखित परिचय से स्पष्ट है—

—उत्तरोपासना—उपासना—उत्तरोपासना—अविवर्गिकी दार्शनिका

२—वैयक्तिकसिद्धि—उपासना—पुनर्बोधपरिवर्तित्वो द्विचरितः शान्त्युपासना कामपरवर्त्तना—दाशनिह ।

३—निहितरूपा—उपासना—आत्मयोगानुगता द्विचरित्वो अविवर्गिकः

४—अवैय—उपासना—स्वीकृत्युपासना

१-उत्तरोपासना—लोकसंग्रहमूला—दार्शनिकी	}	—कर्मयोग—पर	}	—विराट्पासना— चतुर्विध		
२-वैयक्तिकसिद्धि—व्यक्तिगुणमूला नैयमित्तिका (वैयक्तिकी)						
३-निहितरूपपासना— " आत्मनिष्ठ (आगममयी)	}	—आनन्दयोग—अवर				
४-अवैयोपासना— " लक्षणा (पुराणमयी)						

इति—'युगसम्मानुगता-विराट्पासना'—नामके चतुर्थ-प्रकरणे

“दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना”

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

(५)-वर्तमानयुगानुगत-भूत-भौतिकी-उपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिच्छेद-

“आवरणोपासना”-(भूतोपासना-भूतभौतिकी)

भूतानुगत-मेवनात्मक-भौतिक-स्थूलकर्म-एव-उपासना

भूतात्मिका-आवरणशुक्रमयी

भौतिकी-भूतदेवोपासना-प्रतिमानोपासना-आत्मपचनात्मिका



१-भूतवाक्	}	‘भूतचर’-तदिदं-भूतभौतिकविषयम्-मर्त्यभूतविषयमेव
२-भूताप		
३-भूताग्निः		

(मैषा-आवरणोपासना-भूतोपासना वा-भूतात्मिका)

स एष उपास्यः-सेवनात्मकेन स्थूलकर्मणा-अनुकरणीयः



अनुकरत्वं नाम-सेवामात्रेण तत्पदानुगमनम्

तदनुसरणं वा

मैषा-आत्मपचनात्मिका-उपासना-कर्त्तव्यं

पञ्चमी

५



(सोऽय-वर्तमानयुग-पञ्चम-कलियुगात्मक)

१-भूतशुक्रात्मिका वाक्	}	-तदेतन्मवं-वागेव-भूताचर-एव-
२-भूतचर		
३-भूतार्थ		

“चर सवाणि भूतानि”

श्रीः

इति-‘युगधम्मानुगता-विविधापासना’ नामक चतुर्थ-प्रकरणे
“दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना”

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

४



(५) - चत्तमानयुगानुगता-भूत-मातृकी-उपासना से अनुश्रुति-पारिमापिक-परिलेख-

“आवरणोपासना”-(भूतोपासना--भूतमौतिकी)

भूतानुगत-सेवनात्मक-भौतिक-स्थूलकर्म-एव-उपासना

भूतात्मिका-आवरणशुक्रमयी

भौतिकी-भूतदेवोपासना-प्रतिमानोपासना-आत्मपचनात्मिका

—•—

१-भूतवाक्

२-भूताप

३-भूताग्निः

} — ‘भूतचर’ - तदिदं-भूतमौतिकविवक्षाम्-मर्त्यभूतनिवर्त्तमेव

(सैषा-आवरणोपासना-भूतोपासना वा-भूतात्मिका)

म पप उपास्यः-सेवनात्मकेन स्थूलकर्मणा अनुश्रुतीय

—•—

अनुश्रुत्य-नाम-सुखमावन तस्ययानुगमनम्

तदनुसरण वा

सैषा-आत्मपचनात्मिका-उपासना-कर्मिण

पञ्चमी

५.

—•—

(मोऽय-वर्त्तमानयुग -पञ्चम -कलियुगात्मक)

१-भूतशुक्रात्मिका वाक्

२-भूतचर

३-भूतार्थ

४-भूतवाक्

} — तदेतम्व-वागेव-भूताचर-एव-
“चर सर्वाणि भूतानि”

श्री

“वर्तमानयुगानुगत-भौतिकोपासनामार्ग”

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण

५

६०१-वर्तमानयुगानुगता उपासना-प्रसङ्ग से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-
उपासनापर्यो का समष्ट्यात्मक स्वरूप-संस्मरण—

शरीर मूल से सम्बन्ध रखने वाली निम्न छ सप्तविध उपासना विद्याना-सङ्घण्ड विद्याना मूल से सम्बन्ध
रखने वाली सगुण-योगी-प्रकाश-उपासना [आकाशोपासना महेश्वरशरीररक्षणाय सर्वोद्धारोपासना विद्याना-
सङ्घण्ड विद्याना मूल से सम्बन्ध रखने वाली सविष्णु-सहस्रनाभोपासना [आत्मबोधोपासना एकेश्वरशरीर
रक्षणाय उद्दीयोद्धारोपासना किंवा प्रणवोद्धारोपासना किंवा पञ्चोद्धारोपासना] आर्धाधीनमूल से सम्बन्ध
रखने वाली साङ्ख्य-विशुद्धि-प्रकाशोपासना इन चारो उपासनाओं का क्रमशः संक्षुभानुगत-उपासनामार्ग
वैयुग तथा पुराणयुग तथा वर्तमानयुग तथा “न चार प्रहरणी ये विष्णु से निकृपण किया
जायुका है।

६०२-दुःखार्थ मानव से अनुप्राणिता वर्तमानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-
दिग्दर्शन, एवं आर्धमानवानुबन्धी कतिपय-प्रश्न, तथा तत्समाधानोपक्रम—

अब एक उपासकबग बच रहा है और वह है “आत्मा दुःखी” मानसिक कलही से तंत्रित।
“अज्ञानानामृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” के अनुसार अज्ञानबलित मीर से इन का स्वाभाविक ज्ञान-
प्रकाश अभिमित रहता है। जब ज्ञान का उदय नहीं तो अज्ञानविद्या ज्ञानविद्या की कहीं अवसर। अथर्व
हो जम सुखजन आधिकार्य से आर्धाधीन बने रहते हैं। परन्तु मोहबुध से अभिप्रेत अभिमिति-नायक विद्या-
उपासनामार्ग में भी प्रवृत्त नहीं होकरते। परमार्थकी गर्भ में अज्ञान दुष्ठा स्वाभाविक तन्त्रमतिक्रम्य अज्ञानमात्र
स्वार्थनायक किन्तु तन्त्र-विद्याउपासनात्मक काममय बहुकर्म स्वार्थनायक किन्तु परमार्थोपासनात्मक वैय-
मिदिमात्र एक स्वार्थनायक परमार्थोपासनात्मक किन्तु अनेक शास्त्रिमात्र विद्याउपासना से सम्बन्ध रखने वाले
ये चारो ही मार्ग इन आत्मा-मुग्ध-अज्ञानी अन्तु नामधारी व्यक्ति के लिए एकप्रकार से अनन्तमय से ही बने
हुए हैं। इत के अन्वय का क्या उपाय ? आत्मा प्रत्यक्ष में किन उपासनामय विधिबोध का जन्म होता है ?
किन उपासना में उम इन आत्मा आकर्षित किया जायता है ? प्रवृत्त प्रवृत्त इतों कुछ एक प्रश्नों के समाधान
के लिए प्रवृत्त हुआ है।

पौरस्त्य स्वयं निगत होने से निगम है पार्थिवतत्त्व निगमसमक सुख से आगत होने के कारण आगम है । निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है । यह यज्ञविद्या है यह तन्त्रविद्या है । इति पशु खोम महायज्ञ अतिव्यक्त विरिञ्चन यज्ञविद्या के १ पर्व हैं । एतां पूर्वाभ्यां पश्चिमाभ्यां उत्तराभ्यां दक्षिणाभ्यां उन्वाभ्यां अथ-
रुम्बा ये ६ तन्त्रविद्या के पर्व हैं । याज्ञिकद्वयता सौरयोत्रय संवत्ता है तान्त्रिकदेवता पार्थिव अथर्वविद्येयता है । यज्ञिय देवताओं को आत्ममातृ करने का अधिकार केवल मारुतवर्णिय वनशास्त्रनिष्ठा अन्तर्मिद्विज्ञाति-
पुराणय को ही है । परन्तु अथर्वविद्येयता-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुज [दीक्षा-मह-
कालन्तर] कर सकता है । प्रत्येक माया में शाबर मन्त्र हैं । वे सभी पार्थिव देवताओं के संग्राहक हैं । इन तान्त्रिकमार्ग के आगे जाकर यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र प्राण्य वायव्य-माय्य मोहन-उत्थापन बशीकरण आदि अवान्तर
अमक मेद हाकते हैं । जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं उन सब का इन में नि सकोष परिग्रह कर
लिया गया है । क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है अतएव पार्थिव देवता में सम्बन्ध रखन वाली तान्त्रिक उपा-
ना मित्र भी शीघ्र ही होजाता है जहाँ इसका फल भी हमें यही उपलब्ध होजाता है । उधर भीर एकविंश
सप्तम स सम्बन्ध रखने वाली याज्ञिक उपासना में जो श भी अधिक है—[क्रियाविशेषबहुला] एवं फल भी इन
का अदृष्ट है । अतएव सामान्यजन इन में प्रवृत्त नहीं होते । जिन के शीघ्र में क्रम से भीर विज्ञातिव्यवप्रति-
ष्ठित होगा साथ ही शास्त्रीय बखस्यमानुसार जिनका वर्णोच्चत सं धर हुआ होगा वे ही इस अदृष्टफल
मुक्तिका यज्ञावसान में प्रवृत्त होंगे एवम वे ही इस मार्ग के अधिकारी मान जायेंगे । साथ ही यह तो प्रत्येक
दशा में मित्र ही है कि जो विज्ञातिव्यव इस याज्ञिक लो देवतासमना में एवं तान्त्रिक पार्थिव देवतासमना में
प्रवृत्त होगा वह काममाय के कारण स्वर्गयोग एवम विद्विप्रप्रापित का अभिलाषी बनता हुआ अर्वाचीनक ही
बहावाभ्या ।

६०८-निगमागामीय प्राणद्वयताओं के अत्यन्त जीवस्व के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता
महती विप्रतिपत्ति का उद्घाटन—

इस लक्ष्य में पात्रक यह प्रश्न कर सकते हैं कि जिन गृह-स्थापिनी मीठ-प्राणपत्ताओं का प्रयत्न-वृत्ति (अ-दुर्गा आदि पारिवर्गिक प्राणदेवताओं) का आधिकारिक अग्रगण्यता का क्या प्रमाण है? प्रमाण एक आगमना २० वं विभाग के साथ उक्त चरित्र मानने हुए म. विभागा निम्न किया है। और फिर आद्य का बाह्य भी अनात्मन्योरी यह वह सन्त एक लक्ष्य है कि उ. क. उपाधय म. नि-दुर्गा का के उपाध जिनक का न मान जान है जिनक शरीरी का पान किया जाता है या अग्न्य अग्न्य पर अग्र्य अग्रग्य मत्ता का प्रयत्न म. अग्न्य देव रहते हैं अग्रगण्य हैं। फिर आदेश ४-५५५ इस आधार पर उक्त अग्र्य ज. न. का मान किया गया।

६५-चनन अयनन-शब्दों की जाध्वीया परिभाषा के माध्यम म विप्रतिपत्ति निराकरण
प्रपाम—

मान गिर दे । ॥ नृ साहस साहस है । ॥ सागर का तिमिर न का सरोवर । समुद्र साहसियों का
मुग़ल साहस का दूर ध्वनि साहस का भी मुग़ल साहस ही सम्पन्न । सागर तो तिमिर के धारदार तल में है ।

६०३ समप्रिश्यष्ट्यामिह-विराहपासना म अनुप्राणित उपमना के चार प्रमुख विषय-

विग्राहपुष्पात्मा क उक्त चारी ही पत्रों में आधिकारिक अचनन जीवतज्ज्ञ विग्रही ही समिति द्वारा स्थितिरूप में उपस्थित होती है। परन्तु आधिकारिक स सम्बन्ध सम्बन्धी यहाँ लक्ष्यता विशेषताओं आधिकारिक प्रद श्रेष्ठतरीय आरम्भितक अचननजीव आरम्भितक अचननजीव आरम्भितक अचननजीव आरम्भितक अचननजीव इन बार विशेषपत्रों में सम्बन्ध रखती है। गीतराज्यने इन चारों का ही सम्बन्ध किया है और क पूर्ण प्रकाशनी में स्पष्ट किया जा चुका है।

६ ४-विश्वविद्यालयता उपायना का 'क्षीपण' से प्रयुक्त सम्बन्ध, एवं तदनुषन्धी
आस्यान्मिह-आधिभातिह-पर्य-

बहुमानुसृत उपामानार्थ का उपर दृष्ट करने हुए यह स्पष्ट किया जाना है कि भावा-सम्बन्धी अर्थवत् कलागुणसम्बन्धी यात्री रिकारसम्बन्धी वन आङ्गन-सम्बन्धी विराट् आङ्गनसम्बन्धी विराट् "न पौष आ मरिचको मे मे आङ्गन के वाग विराटो का ता आङ्गनिक प्रपञ्च मे सम्बन्ध है एक पौषमे विराट्-विराट् का आङ्गनिक अङ्गिमार्थिक "न दो विराटो मे सम्बन्ध है ।

६ ५-उपामनादुक्त 'विरष' शब्द का 'बीयात्मक' पारिभाषिक-समन्वय—

पूर्य के विरल स्वल्प म पातकी की यह विरिष्ठ हुआ हागा कि विरल में ईश्वरीय प्रपञ्च के शेष सभी पक्षों का समावेश है। स्वयम् आदि मयिब्रह्मण्य केशरवर का तो यत्रप्रकाशर्पण में अन्तर्भव था। शत्रु रहा था। भाही दुर्विभी भीलकी दुर्विभी एन्त्री शुक्लीकप पार्विकमहिमा-विषय इस का विरल में अन्तर्भाव हातुका। अब 'विरल' नामक का स्वच्छन उपलब्ध नहीं क्या किमकी उपलब्ध शत्रु रही है। इन्दी आचार पर हमने अन्तर्भवता के इस विरलपक्षकी 'अविषय' अथवा हुए कीर्तिपातना की ही 'विरलपातना' कहा है।

६ ६-विशङ्खुगता दधीपासना, एवं निगम अनुगम-मद्-मिन्न उपाह्य-उत्थो
 क्च नाम-संस्मरण—

विद्यारूपान्ता में भी वैशेषिकान्ता अन्तर्गत है। परन्तु यह वैशेषिकान्ता मैथिलिक आगमिक-प्राविकान्तिक आचरन कीनी में सम्मिलित नहीं है। आदि कीन स्वतन्त्र कीन न होने हुए विराट्-लक्षण महावीर के अवयवत्प है। ब्रह्मविद्यमन्त्रादि नृपकवन्ति सभी प्राणवैक्या विराट् के अवयव हैं। यत्कर्मलक्षणा यज्ञावन्ता से विराट् के द्वारा व नीर यज्ञिक आचरन प्राणवैक्या ही उपान्त है। एवं से ही मैथिलिक [मैथिलिक] ब्रह्मा है। गजपति-उत्पत्तिप्रमाण-पुनः। अन्य प्राणवैक्या आगमिक आचरन वैक्या है। व भी उसी विराट् के अवयव है। यत्कर्मलक्षणा विज्ञापवान्ता से विराट् के द्वारा व यज्ञिक आचरन प्राणवैक्या ही उपान्त है।

६०७—निगम आर आगम शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-मन्त्रायण सूत्र्यमूला निगमो-
पामना, तथा पृथिवी-मूला आगमोपामना क. अन्तर महिमाविषयों
का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निगम आगम शब्दों की उपनिष्ठा क्रमशः पूर्व एवं पृथिवी ही हैं। तीर्थाविद्या निगमविद्या है पार्थिवी तथा आगमविद्या है। जोर देकर ही प्रत्यक्ष रूप से पृथिवी में आधार पार्थिव देकर प्रकट है।

श्रेष्ठत्व स्वयं मिगत होने से निगम है पार्थिवतत्त्व निगमा मन्त्र सूर्य से आगत होने के कारण आगम है । निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है । यह यज्ञविद्या है यह तन्त्रविद्या है । इष्टि पशु सोम महायज्ञ अतिपञ्च गिर्यमन्त्र यहविद्याक वे ९ पर्व हैं । पर्वा पूर्वाम्नाय पश्चिमाम्नाय उत्तराम्नाय दक्षिणाम्नाय न्यर्धाम्नाय अक्ष-गम्नाय ये ९ तन्त्रविद्या के पर्व हैं । याज्ञिकदेवता सौरयज्ञिय देवता हैं तान्त्रिकदेवता पार्थिव अयज्ञियदेवता हैं । यज्ञिय देवताओं को आत्मसाग करने का अधिकार केवल भारतवर्षीय वदराम्नायनिष्ठा अन्तर्मिष्ट द्विधासि-पुण्यवर्ण का ही है । परन्तु अयज्ञिय-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुष्य [हीना-मह-सामन्तर] कर सकता है । प्रत्येक भाषा में शास्त्र मन्त्र हैं । वे सभी पार्थिव देवताओं के समान हैं । इस तान्त्रिकमार्ग के आगेबाकर यन्त्र-मन्त्र-उन्म वाटक बावण-मात्रण-मोहन-उत्थान-बहीकरण आदि अवान्तर अनेक ये होजाते हैं । जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं उन सब का इन में नि स्कोष परिग्रह कर लिया गया है । क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है अतएव पार्थिव देवता से सम्बन्ध रखने वाली तान्त्रिक उपा-सना सिद्ध भी शीघ्र ही होजाता है एवं इसका फल भी हमें बड़ी उपलब्ध होजाता है । उधर स्वर एकविंश सोम स मन्त्रक रखन वाली याज्ञिक उपासना में ऋषि भी अधिक है—[क्षिप्राविशेषवर्णा] एवं फल भी इस का अद्भुत है । अतएव सामान्यजन इन में प्रवृत्त नहीं होते । जिन के बीच में क्रम से और दिशतिवर्णप्रति-ष्ठित होना साथ ही साम्प्रतीय ब्रह्मचर्यानुसार जिनका बर्होक्त संस्कार हुआ होना वे ही इस अद्भुतफल मुक्तिका वशावाचना में प्रवृत्त होना एवं वे ही इस मार्ग के अधिकारी मान जायेंगे । साथ ही यह भी प्रत्येक ब्रह्मा में सिद्ध ही है कि जो दिशतिवर्ण इस याज्ञिक लीग द्बोवासना में एवं तान्त्रिक पार्थिव द्बोवासना में प्रवृत्त होना वह काममात्र के कारण भर्गयोग एवं निष्ठिप्राप्ति का अधिकारी बनता हुआ अन्धाधीमन्त्र ही ब्रह्मायाम्ना ।

६८-निगमागमीय प्राणदेवताओं के अच्युतन जीवन् के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

इस सम्बन्ध में पान्क यह प्रश्न कर सकते हैं कि जिन ब्रह्म-व्यादि लीर-प्राणदेवताओं का एक गण्यपति-पति । ब्र-दुर्गा आदि पार्थिव प्राणदेवताओं का आधिकारिक अच्युतनजीव अन्वासा गया है स्वयं निगम एक आगमशा उन बड़े विचार के साथ उहें चलन मानन हुए न दिशाया गिया । क्या है । और फिर आह का काश भी मनमान-वर्मी यह सब महन क सकता है कि उनका उपासक न न-गमा आदि ब वदना जिनका का न माने जान है जिनके मरीही का पान किया जाता है जो मगर अन्ध पर अच्युत अन्वय मन्त्रों का प्रयत्नकम से जैन नेत रहने हैं अच्युतन हैं । फिर आकरा ४-१२६६ जिन आसार पर रई अच्युत व न का ला न किया गया ।

६९-अच्युतन-अच्युतन-शब्दों की शास्त्रीया-परिभाषा व माध्यम म विप्रतिपत्ति निराकरण प्रयास—

जान लीक है । पान्क ला न । एक है । व शास्त्रवा शिष्टता म कर मकेम पान्क ला न का मरिपनरन्ता एव अच्युत आदत का जी नु एव अच्युत ही बसना । अच्युत शिष्ट के अन्तरम्प इन १२

पार्ष्विक देवताओं की करते हैं। हमने ही पूर्व-प्रकरण में स्वयं विराट् की भी आधिपारिक अचतन बात ही कहा है। चेतन-अचेतन की एक शास्त्रीय-निश्चित-परिभाषा है। एवं निश्चित-परिभाषा के आधार पर ही अचतन-चेतन का बर्गीकरण होता है। अधिक बुर माने की आवश्यकता नहीं है। आसु राज्य का 'मेन्द्रिब चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' वाक्य ही इस बर्गीकरण के लिए पर्याप्त है।

६१०-‘मर्षासीन्द्रियाणि अतोन्द्रियाणि’ परिभाषामूलक चेतन-अचेतन व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अच्छ-महान्-विकान-ग्रहान इन्द्रिययुक्त-मात्र ही चेतन कहालायगा। केवल एक एक पर्व ‘मर्षासीन्द्रियाणि-अतोन्द्रियाणि’ इस विद्वान्त के अनुसार अनिन्द्रियवैशि में आता हुआ अचतन ही माना जायगा। यथैश्वरप्रकाश में स्वयम् अच्युत है परमेष्ठी महान् है सूर्य विमान (बुद्धि) है चक्षुःमात्र प्रज्ञान (मन) है त्रिभुवि-विद्युत् प्राण-वेद्यत्मक इन्द्रियवर्ग है। अतएव इसे चेतन कहा अत्यय। परन्तु स्वयं स्वयम् परमेष्ठी-सूर्य आदि पर्व वृषट्त्वेन अनिन्द्रिय बनते हुए अचतन ही माने जायेंगे। यथावन्निष्ठ विराट् मेन्द्रिब बनता हुआ वहाँ चेतन कहालायगा वहाँ केवल विराट् अनिन्द्रियवैशि में आता हुआ अचतन कहालायगा। फिर विराट् के अवयवरूप सौर-पार्ष्विक देवताओं की अचेतनता का तो कहना ही क्या है।

६११-चेतनमात्रनिबन्धना अङ्गीरसि, एव अचतन भावनिबन्धना अङ्गिरसि एवं ठडुमद-निष-चतन-चेतन अचतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पर्व पर्वों से अमिश्र है। यह भी मिस्र विषय है कि-अचतन अङ्ग की उपासना उसी प्रकार चतन अङ्गी की उपासना (परम्परा) बन जाती है जैसे कि आध्यात्मिक वक्त्र गुह्यचरवैपातना गुह्यातना बन जाती है। यह भी ठीक ही है कि अचतन अङ्ग साक्षात्स्वभावोपपन्न चतन अङ्गी की रहस्यी के द्वारा अचतनम् अचेत्तु विमल धारण कर उपासक की बर परमन करता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मन्ते हुए भी विभु अङ्गिरसि की अब हम लक्ष्य बनावेंगे तो उसे हम अचेतन ही कहेंगे।

६१२-अङ्गीपामनामिका द्योपामना का अङ्गवेदन अचतनत्व समन्वय—

अग्नि-काल-नाक सुख-हाथ-वै आदि हमारे पर्व प्रातिरिक्तरूप से सर्वथा अचतन हैं। अङ्गी आत्मा का लेकर ही वे चतन माने जाते हैं। इन अचतनों की उपासना से चेतन उपासित ता होगा वरन् यह पर्वोपासना कहालायगी अचतनोपासना ही। शिखी भी दैनापासना है वे अङ्गीपासना हैं। अतएव वे सब विज्ञानरहि अचतनोपासना हैं।

६१३ कर्म से अर्मुस्पृष्टा उपानात्मिका अङ्गी-उपासना का चतनत्व-समन्वय—

यह एक और भी रहस्य का विषय है कि अचतनोपासना में ही वैश्विककर्म का मन्त्र बनता है। हमने राखी में-कर्मात्मिका उपासना अचतन की ही होकती है। इन वृत्ति से यथैश्वर्य की वस्तुमूर्ति उपासना भी अचतनोपासना ही आटहरणी है। कारण यह है। इस वाक्य-समन्वय से ही तो यही कर्म

य प्रयोग सम्भव बन जाता है। एकत पाणिपाद उपास्य अचेतन उपास्य है वही कर्म का सम्बन्ध है। एवं उर्ध्वतः पाणिपाद उपास्य (योद्धारी) ही एकमात्र चेतन उपास्य है। यहाँ की उपासना में कर्म का समावेश नहीं है। यह उपासना उमानाश्रयप्रवाहकता बनती हुई केवल ध्यानात्मिका है। अज्ञी में कर्मप्रवेश सम्भव ही नहीं है।

६१४-सौक्ष्म-उदाहरणविधा गुरूपामना के माध्यम से अज्ञीगुरु, और अज्ञगुरु-की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनत्व समन्वय—

उदाहरण के लिए गुरु को ही लीजिए। गुरु की उपासना अचेतन-चेतन-मिश्र से दो मार्गों में विभक्त मानी जा सकती है। समष्टिरूप गुरु का शरीर (आत्मगुरु अज्ञी शरीर) चेतनगुरु है एवं गुरु के हाथ-पैर-मस्तक आदि अवयव अचेतनगुरु हैं। यदि कोई उपासक शिष्य चेतनगुरु की एकलक्ष्य कर्मात्मिका उपासना करना चाहेगा तो यह सम्भव न होगा। चेतनोपासना का तो मोक्षिक अधिक कर्मशून्य आत्मन्तर ध्यान-कर्म से ही सम्भव रहेगा। एककलाकन्धेदेन शिष्य चेतनगुरु का (सम्पूर्ण शरीर का) ध्यान अवश्य कर लेगा परन्तु कर्मप्रयोग में वह असफल ही रहेगा। कर्मात्मिका उपासना के लिए इसे चेतनगुरु के (शरीर के) अवयवक रूप इत्यपवादिक अचेतन अवयवों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अतः इन सब विषयों का विराट् वैज्ञानिक विवेचन मक्तिपरीक्षा-उत्तरकण्ठ में विस्तार से होने चाहता है। अभी केवल यही ध्यान-लेना पर्याप्त होगा कि, ध्यानात्मिका उपासना ही चेतनोपासना अज्ञातद्वयी एवं कर्मात्मिका उपासना के पञ्चकाक्ष विचर अचेतन उपासकों से ही सम्भव सम्भवेगी।

६१५-ध्यानात्मिका उपासना की द्वैतमात्रनिबन्धनता, एवं अर्द्धोपास्य, द्वैतोपास्य, द्वैतभूयस्त्वोपास्य-मेदेन उपास्य' तत्त्व के तीन महिमामय विवरों का स्वरूप समन्वय—

एक बात धार। ध्यानात्मिका उपासना में एकाग्र-स्वयं के ही पर्यं हैं। अतएव इसे हम द्वैतोपासना कहेंगे। अभी एक उपासनामार्ग और बच जाता है। वह है ज्ञानात्मक मार्ग। यहाँ सेन्द्रिय चेतन-अनिन्द्रिय अचेतन दोनों ही माध नहीं हैं बल्कि शब्दों में दोनों ही—सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविपरिजितम्' हैं। द्वैतमात्रशून्य यही मूलतया निर्गुण अवस्था है। इस की उपासना अचेतनमात्रा ज्ञानोपासना है। ध्यानात्मिका द्वैतोपासना से भी इस का रसान् अन्धा है। इन दृष्टि से इन उपासनामार्गों के ज्ञान मया यह मतकृपा निर्गुणात्म्योपासना ध्यानात्मिका द्वैतकृपा योद्धारीप्रवाहकतुपासना कर्मात्मिका द्वैतकृपा परप्रकाश तुपासना के मेर में तीन विचर होजाते हैं। इन तीनों उपासकों के स्वरूप निम्न लिखित बचनों से स्पष्ट है—

पारिव दस्तावी की करते हैं। हमने तो पूर्व-प्रकरण में स्वयं विगत को भी आधिकारिक अचतन मान ही क्या है। चतन-अचतन की एक सामान्य-निमित्त-परिमाण है। एवं निमित्त-परिमाण का आधार पर ही अचतन-चतन का वर्गीकरण होता है। अधिक बुर खाने की आवश्यकता नहीं है। आनु शास्त्र का 'मन्त्रि' चतनद्रव्य निरिन्द्रियमचतनम् शब्द ही 'त वर्गीकरण के लिए पर्याप्त है।

६१०-‘मघाहीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि’ परिमापामूलक चेतन-अचेतन-व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त-महान-विज्ञान-प्रज्ञान इन्द्रियगुण-मात्र ही चतन कहा जाता है। केवल एक एक पक्ष मघाहीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि इस विज्ञान के अनुसार अनिन्द्रियबोधि में प्राप्त हुआ अचतन ही माना जाता है। यद्वैकराजपति में स्वप्नम् अव्यक्त है परमपटी महाम् है मूर्त्य विज्ञान (बुद्धि) है चन्द्रमा प्रज्ञान (मन) है विमूर्ति-विशुद्ध-मात्रदेवतात्मक इन्द्रियवर्ण है। अतएव हमें चेतन कहा जाता है। परन्तु स्वयं स्वप्नम् परमपटी-मूर्त्य आदि पक्ष वृषपत्न्येन अनिन्द्रिय बनते हुए अचतन ही माने जायें। यथाविद्वत् विगत-मेन्द्रिय बनता हुआ वहाँ चेतन कहा जाता है वहाँ कदा विगत अनिन्द्रियबोधि में जाता हुआ अचतन कहा जाता है। फिर विगत के अव्यक्तरूप और-पारिव देवताओं की अचेतनता का तो करना ही क्या है।

६११-चतनमात्रनिबन्धना अङ्गीरष्टि, एवं अचतन भावनिबन्धना अङ्गीरष्टि एवं तदुद्भूत-निबन्धन-चेतन अचतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पक्ष पक्षों में आसित हैं। यह भी ठीक विवर है कि-अचतन अङ्गीर उपासना उन्हीं प्रकार चतन अङ्गीर उपासना (परम्परा) बन जाती है जैसे कि आध्यात्मिक पक्षरूप गुणवर्णमात्रा गुणवर्णना बन जाती है। यह भी ठीक ही है कि, अचतन अङ्गीर उपासनामात्रा चतन अङ्गीर शक्ति के द्वारा अचतनम् अवेच्छ विद्वत् कारण बन उपासना को बन प्रदान करता है। यह वह कुछ ठीक-ठीक मानते हुए भी विगुह अङ्गीरष्टि की वह हम लक्ष्य बनाएंगे तो उसे हम अचेतन ही करेंगे।

६१२-अङ्गीरामनात्मिका उपासना का अङ्गीरवेन अचतनपर समन्वय—

आत्म-ज्ञान-नाक-गुण-हाथ-वे आदि हमारे पक्ष प्राप्तिविरूप से लक्ष्य अचतन है। अङ्गीर उपासना को लेकर ही व चतन माने जाते हैं। इन अचतनों की उपासना से चेतन उपासित तो होता परन्तु वह पक्षोपासना कहा जाता है अचतनोपासना ही। विपरीत भी उपासनायाँ हैं व अक्षोपासनायाँ हैं। अतएव व लक्ष्य विज्ञानरहित व अचतनोपासना है।

६१३ कर्म म अर्धस्पृष्टा उपासनात्मिका अङ्गीर-उपासना का चतनपर-समन्वय—

यह एक बात भी रहस्य का विवर है कि अचेतनोपासना में ही ऐन्द्रियवर्ण का लक्ष्य रहता है। हमारे शब्दों में-कर्मोपासना उपासना अचतन की ही हो सकती है। इन रूढ़ि से यथाव्यवस्था की यथाव्यवस्था उपासना भी अचतनोपासना ही जाना सकती है। कारण यह है। इस अचतन-लक्ष्य से ही तो वहाँ कर्म

६१७-सर्वसम्बन्धवत् क-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय अथेतेन तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में जो तीसरा बाह्य मय, अतएव कर्ममय कर्मात्मक उपासनामार्ग है परिग्रह के सम्बन्ध से आगे आकर उसके तीन विभक्त हो जाते हैं। विचारपरिग्रहयुक्त कथोरवरप्रजापति की ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अज्ञानपरिग्रह से युक्त होकर विचारमात्र में परिणत होता हुआ विचारमूर्ति किंवा १ तत्त्वमूर्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्ममूर्ति उस यज्ञप्रजापति का यही मूलप्रामाण्य प्रथम अवतार है—(आद्योऽथतरो यज्ञासी)। विचारव्यमूर्ति यही विराट्प्रजापति आवरण-परिग्रह से युक्त होकर वैचारिकमात्र में परिणत होता हुआ वैचारिक विश्वप्रजापति (पञ्च शक्ति-प्रवर्तक)—रूप में परिणत होता है। यही अन्तेन यज्ञप्रजापति का तीसरा विभक्त है। 'सर्वसम्बन्ध-प्रवर्तक' (विराट्)।

६१८-वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अन्तर्गत तीन महिमा-विभक्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति की वाङ्मय कलाया गया है। वह वाङ्मय ही अमृत वाङ्मय वाङ्-आप-अग्निशुक्ल, मर्त्यवाङ्मय वाङ्-आप अग्निशुक्ल मेद से १ किंवा दो मार्गों में विभक्त है। तीसरा रूप 'मृतवाङ्' है। इस प्रकार अमृतवाङ्शुक्लकी मर्त्यवाङ्शुक्लकी मृतवाङ्पञ्चमेद से उस वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विचारपरिग्रहेत अमृतवाङ्शुक्लमूर्ति यज्ञप्रजापति अज्ञानपरिग्रहेत मर्त्यवाङ्मूर्ति विराट्प्रजापति एवं आनन्दपरिग्रहेत मृतवाङ्मूर्ति विश्वप्रजापति-मेद से तीन विभक्त हो जाते हैं। वाङ् का कर्म से सम्बन्ध है अर्थ से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपासनों की हमने वाङ्मय कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्मात्मिक' उपासना कहा है क्योंकि तीनों प्रकारों के वर्णिक-रूपों से स्पष्ट है।

न चित्त-नाशित उदयं वा	{ १-अथातो ह्यमनोऽनुभूय, अक्षरान् पश्यतः पट- नर्गोऽस्ति प्रकृतामान-नर्गोऽस्ति वदित्विति }	{ निगुण अमयव (चतुर्थः) }
(अङ्गी) चयन	{ २-नयनं प्राप्तिपदार्थं कृत् नयनोऽस्ति चित्तं ननु नमः । कथं न सुखिप्रकृतौ नयनमाह्वयं तिष्ठति ॥ }	{ पादद्वयमिह नयनमाह्वयं (द्वैतप्रतीक) }
(अज्ञानि) अचेतनानि	{ १-अग्निम् कृत् अक्षरी चन्द्रमूर्त्यौ— तिष्ठत आये वागविहृताश्च यथा । यत्तु यत्नो हृदयं प्रियममय मूर्त्यौ शुचिषी योय नयनमृत्तमवतरमा }	{ यत्तु प्रजापति मृत्तममय (द्वैतप्रतीक) }

६१६-चेतनाचेतनातीता आत्मोपासना चेतनोपासना, अचेतनोपासना-रूपस्य उपासना के तीन विभिन्न पथों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय—

निगुण अमय के सम्बन्ध रखने वाली आत्मनिष्ठा मनोमयी उपासना 'उप-आसना' मय के द्वारा उपासनाकाक्षर 'उपासना' कही जायगी (वैश्व-उपासना और मूर्तिमय उपरम्भ) । पीछरी चेतनप्रकाश से सम्बन्ध रखने वाली आत्मनिष्ठा मायमयी उपासना 'माय' मय के द्वारा मूर्तिमयका 'उपासना' मानी जायगी । एवं अचेतन वस्तुप्रकाश से सम्बन्ध रखने वाली कर्मात्मिका बाह्यमयी उपासना 'कर्म' मय के द्वारा कर्मात्मिका उपासना कहा जायगी । एवं गीतापरिभाषा के अनुसार ये ही तीन उपासना-मार्ग ज्ञानयोग (उपासना) भक्तियोग (भक्ति) कर्मयोग (कर्म) कहा जायँगे ।

आत्मोपासना १-आत्मोपासना (मनोमयी)-आत्मनिष्ठा उपासना (चतुर्थः)	{ योगत्रयी }
चेतनोपासना २-यौ प्र-उपासना (मायमयी)-आत्मनिष्ठा भक्ति (मूर्तिमयः)	
अचेतनोपासना ३-कर्म उपासना (बाह्यमयी)-कर्मात्मिका कर्म (कर्मयोग)	

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय-अचेतन-तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में बातीमय वाङ्मय अतएव कर्ममय कर्मात्मक उपासनामार्ग है परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विभक्त हो जाते हैं। विचारपरिग्रहयुक्त वस्तुस्थितिप्रजापति को ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्यंक मूर्तिरूप अज्ञानपरिग्रह से युक्त हीन विचारमात्र में परिवर्तित होता हुआ विचारमूर्ति, किंवा १ तत्त्वमूर्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्राप्नुमत् होता है। कर्ममूर्ति उक्त यज्ञप्रजापति का यही मत्तन्मात्रमय प्रथम अवतार है—(आद्योऽवतारो यज्ञमी)। विचारमूर्ति यही विराट्प्रजापति आवरण-परिग्रह से युक्त हीन वैधर्मिकमात्र में परिवर्तित होता हुआ वैधर्मिक विरघ्नप्रजापति (कुरु शाश्वि-मत्तर्क्य)—रूप में परिवर्तित होता है। यही अचेतन यज्ञप्रजापति का तीरा विभक्त है। 'सर्वसत्त्व-प्रवर्तक' (विराट्)।

६१८-वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा-विभक्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति की वाङ्मय कल्पना का यह है। यह वाङ्मय ही अमृत वाङ्मय वाङ्-आप-अग्निशुक्ल, मत्तवाङ्मय वाङ्-आप-अग्निशुक्ल मेद से ३ किंवा दो भागों में विभक्त है। तीव्ररूप 'मत्तवाङ्' है। इस प्रकार अमृतवाङ् शुक्लबी मार्यवाङ् शुक्लबी मूतवाङ्पञ्चमेद से उक्त वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विचारपरिग्रहेत अमृतवाङ्शुक्लमूर्ति यज्ञप्रजापति अज्ञानपरिग्रहेत मत्तवाङ्मूर्ति विरघ्नप्रजापति एवं आवरणपरिग्रहेत मूतवाङ्मूर्ति विरघ्नप्रजापति-मेद से तीन विभक्त हो जाते हैं। वाङ् का कर्म से सम्बन्ध है अथ से सम्बन्ध है। इतिवृत्ति इन तीनों उपासनों की हमने वाङ्मय कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्मादिमय उपासना' कहा है जैसा कि तीनों प्रकारों के शीर्षक-दृष्टी से स्पष्ट है।

न विन्-नापिन इमं वं वा	{ १-अप्राप्ती इमनाः सुभ्रं अक्षरात् वरतः परः सर्वेन्द्रियगुणमात्र सर्वेन्द्रियवर्जितः }	{-निगु ल अम्भः (अहम्)
(आज्ञी) चेतन	{ २-सर्वतः पाणिपदं त्वं सर्वतोऽर्धशिरोऽधुनम् । सर्वतः सुनिपात्रांके सर्वमात्स्य तिष्ठति ॥ }	{-वाहरीमहस्यस्युपरः (ईश्वरवर्तक)
(अज्ञानि) अचेतमानि	{ १-अग्निम् पूर्वां चक्षुषीं चतुर्ध्रुवो- विद्यां भाने वागविहताश्च वंदा । वायुं मातो हृदयं विरक्तमस्य पुष्पां शुचिरीं चोप सर्वमृच्छन्तरात्मा }	{ अक्षप्रजापति एकवत्स्यम्भः (ईश्वर)

६१६-चेतनाचेतनहीना-आत्मोपासना चेतनोपासना, अचेतनोपासना-रूपेण उपासना के तीन विभिन्न पथों का योगाश्रय-माध्यम से समन्वय—

निगुंल अम्भ ने सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानात्मिका मनोमयी उपासना 'इप-आसना' मात्र के कारण उपलब्ध। 'उपासना' वही वाक्यी (वेदिय-उपासना और भक्तिश्च वारतम्) । वाहरी चेतनप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली ध्यानात्मिका मायमयी उपासना 'माग' मात्र के कारण भक्तिश्च 'उपासना' मानी जावपी । एवं अचेतन अक्षप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्मात्मिका वाक् मयी उपासना 'अर्ध' मात्र के कारण कर्मश्च 'उपासना' कहलाएगी । एवं गीतापरिच्छेद के अनुसार वे ही तीनों उपासना-मार्ग ज्ञानयोग (उपासना) भक्तियोग (भक्ति) कर्मयोग (कर्म) कहाएँगे ।

आत्मोपासना १-अग्नीषासना (मनोमयी)-ज्ञानात्मिका उपासना (ज्ञानयोग)

चेतनोपासना २-वा प्र उपासना (मायमयी)-ध्यानात्मिका भक्तिः (भक्तियोग)

अचेतनोपासना ३-अक्ष प्र उपासना (वाक् मयी)-कर्मात्मिका कर्म (कर्मयोग)

{-योगाश्रयी

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-बाह्म्य अचेतन तृतीय-उपासना पथ का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में की तीसरा बाह्म्य अतएव कर्ममय कर्मात्मक उपासनामार्ग है परिग्रह के लक्ष्य से आगे आकर उसके तीन विवरण दी जाते हैं। विष्णुपरिग्रहयुक्त वन्द्यप्रजापति को ही 'यज्ञ प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूमिपद अञ्जनपरिग्रह से युक्त होकर विष्णुमात्र में परिवर्तित होकर हुआ विष्णुमूर्ति किंवा ३ तत्त्वमूर्ति विराट्प्रजापति-कल्पेय प्रादुर्भूत होया है। कर्ममूर्ति उस यज्ञप्रजापति का यही मत्प्रामाण्य प्रथम अवतार है—(आपोऽवतारो यत्रामी)। विष्णुमूर्ति यही विष्णुप्रजापति आवरण-परिग्रह से युक्त होकर वैकारिकमात्र में परिणत होता हुआ वैश्विक विरजप्रजापति (अथ शक्ति मत्प्रामाण्य) रूप में परिणत होया है। यही अचेतन यज्ञप्रजापति का तीसरा विवरण है। 'सर्वसत्त्व-प्रवर्तक' (विराट्)।

६१८-बाह्म्य-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अन्तर्गत तीन मन्त्रिमा-विवरणों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को बाह्म्य कहा जाता गया है। यह बाह्म्य ही अमृत बाह्म्य बाह्म-आप-अग्निशुक्ल, सर्वबाह्म्य बाह्म-आप अग्निशुक्ल में से ३ किंवा ही मार्गों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतबाह्म' है। इस-प्रकार अमृतबाह्म शुक्लवर्णी सर्वबाह्मशुक्लवर्णी भूतबाह्मपञ्चमैर से इस बाह्म्य एक ही यज्ञप्रजापति के विरजपरिग्रहेत अमृतबाह्मशुक्लमूर्ति यज्ञप्रजापति अञ्जनपरिग्रहेत सर्वशुक्लमूर्ति विष्णुप्रजापति एवं आवरणपरिग्रहेत भूतबाह्ममूर्ति विरजप्रजापति-मेर में तीन विवरण दी जाते हैं। बाह्म का कर्म से लक्ष्य है अथ से लक्ष्य है। इसीलिए इन तीनों उपासनाओं को हमने बाह्म्य कहा है एवं तीनों की उपासना को 'कर्मात्मिक उपासना' कहा है क्योंकि तीनों प्रकारों के योग-पूजा से स्पष्ट है।

बाह्य-कर्मयज्ञप्रकापति
मूलात्मा

१-बाह्य (स्वयम्) २-बाह्य (परमजी) ३-बाह्य १-बाह्य २-बाह्य- (कर्ममा) ३-बाह्य (मूमि)	<p>१-येन्नीहिविषी (४८)-सर्वज्ञ }</p> <p>२-बैष्णवीहिविषी (११)-विरहवर्ग }</p> <p>३-बाह्यीहिविषी (२१)-वैष्णव }</p>	<p>माह</p> <p>वैष्णव</p> <p>वैष्णव</p>
--	---	--

अनुत्तमः मन्त्रः

कर्मयज्ञः

कर्ममा

अनुत्तमः मन्त्रः

विरहयज्ञः

कर्ममा

अनुत्तमः मन्त्रः

विरहयज्ञः

कर्ममा

६१६—पद्मोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेद से यज्ञप्रस्थापति निषेधना विरा-
दुपासना के तीन विभिन्न पथ, एवं तीनों के त्रिविध उपास्य-सम्बन्ध—

इस प्रकार बाग्येदीपहित-परिमह मेघ से अचेतन यज्ञप्रवाणति के तीन विभव हो जाते हैं। समग्र उपात्मामार्ग भी छीन कर रक्षण में पाँच मार्गों में नियुक्त हो जाता है। वे ही वैष-वेद्य-पुराण-वर्जित-वर्त्तमान-मुपलब्ध पाँच उपात्ममार्ग हैं। पाँच से अतिरिक्त और कोई छूटा मार्ग नहीं हो सकता। इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः १ आत्मोपासना २-ईश्वरोपासना ३-यक्षोपासना ४-देवोपासना -भूलोपासना इन नामों से भी व्यवहार कर सकते हैं। सभी वाक्य इनके जो अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं उन का लक्ष्य पट्टियों में स्पष्टीकरण दिया ही जाएगा है। बिना इस समग्र चक्रोपासना-देवोपासना प्रलोपासना—इन तीनों विभवों के सम्बन्ध में हे। निष्क्रमण-अर्थोपासना के अतिरिक्त ईश्वरप्रवाणति के तीन विभवों से सम्बन्ध रखने वाली आधिकारिक पञ्च-बीवीसाधना (आकाशोपासना) आधिष्ठानिक अचेतन बीवीसाधना (प्राणदेवोपासना) आधिकारिक अचेतन बीवीसाधना आश्वासिका चेतन बीवीसाधना आश्वासिका अचेतन बीवीसाधना आश्वासिका अचेतन बीवीसाधना इन विभवों में संप्रत्य प्रतिष्ठ होता है जिसे अपनी व्यक्तियोग्यता से निश्चय लेना ही उचित है।

६२०- 'आधिकारिक अध्येतन की' नामक उपास्य तत्व का पारिभाषिक-स्वरूप-मनन्य-

अतः स्तुतियों का एकमात्र महत्त्वशास्त्रिजगत् विष्णु से ही सम्बन्ध है। विष्णुसूक्त के अष्टाक्षर, किंवा पञ्चवक्षर मानवस्तुतारों योगमाया-विशुद्ध पार्थिव जीव— आधिष्ठातृ-चतुर्भुज कहलाते हैं। वही हिन्दू के ब्रह्मरूप है। अतएव इनकी उपासना का हम महत्त्वपूर्ण गुणवत्ता से ही अन्तर्भाव मानेंगे। वरपि महत्त्वशास्त्रि स्वयं अचेतन है परन्तु इस के महावतार इन्द्रियमात्र के वाक्य ध्यान बन जाते हैं। अतएव हम महावतारों को— आधिष्ठातृ-चतुर्भुज कहना सन्मत्त बन जाता है।

६०१—उपामनानुयन्त्री ह्यममम-वारिभाषिक तथ्यों के माध्यम से साङ्ख्य का निराकरण प्रयास, जय ध्वजन्धुदमुला ध्वजस्थिता-वारिभाषिकी दृष्टि—

[illegible]

मान ज्ञात है। स्त्री-श्रुति के सम्बन्ध में ललितासंमरगत्पादि विन अवतापिपासनादि वा पूर्व के दोनो उपासनामालों में यत्रतत्र अङ्कुर्य हुआ है यत्रतत्रापरत के विरुध से ही सम्बन्ध मान कर वह शङ्क्य दिय होना चाहिए।

६२२-क्रमप्राप्त-उपासनापञ्चालुषी चार दिवसों का स्वरूप-दिगाइशन—

[illegible]

६२३—लोकहृत्पथ उपासना का स्वरूप लक्ष्य समन्वय, एवं तन्मूल्य की सनातनता—

सबसे पहिले ही उपासक के स्वरूप का ही विचार कीजिए। जिस वस्तु से हम कुछ कदा प्राप्त कर लेंगे विल पदार्थ के लक्षणों से हमारे आत्मा में कोई आतिशय उत्पन्न होना, वह वस्तु वह हो, कबला केवल हमारा उपासक है वह है उपास्यवेषता का व्यापक लक्षण। सम्भव है एक अनुरागी अवैकान्तिक वचावात बालिश उपासक के उक्त लक्षण का सम्मन न सम्मन लके। परन्तु भारतीय महर्षियों की दृष्टि में ही उपासक का उक्त लक्षण ही सर्वोत्कर्ष बन रहा है। विद्वान्स्वरूप से ही नहीं, अपितु व्यवहाररूप से भी। देवबुद्ध-सुखबुद्धि सत्त्व बुद्धों में ही प्रकलित नहीं अपितु आश्रय के इस महामयावह युग में भी मातृकर्तृ की उक्त प्रसीध सम्पत्ति में उपास्यवेषता का उक्त लक्षण ही व्यवहार में प्रकलित रहा है। जो ६ पटा देव की विधाय अनुकम्पा से आश्रयक परिचयी सम्पत्ति के लक्षणों से बन्नी हुई है।

६२४—उपयोगानुगत यन्त्रयावत् भूत-मात्रिक बद्ध चतन-पदाओं की 'उपास्यरूपता' के सम्बन्ध में भारतीय महर्षियों की अर्द्धतमूला श्रद्धादृष्टि और तत्किन्त्यन सदा प्रस प्रकाश-संरक्षण—

[illegible]

उपधारक बन जाते हैं, सभी से हम अपने आसमानों का सिंहास चढ़ान कर सकते हैं तो आश्चर्य ही प्रकट होगा।
मुझ पर आश्चर्यमाय की हम “तपास्य” कह सकते हैं।

६१४-सुप्रसिद्ध-‘कलम-दवात-पूजन’ नामक लौकिक उदाहरण के माध्यम से भारतीय उपमनो-तत्त्व का स्वल्प-ममन्त्र-प्रपात---

इस्मी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। सर्वव्यापक इस उपास्यदेव के दर्शन के लिए भारतीय
 कब एक स्तूप ही पर्याप्त सिद्ध होगी। कर्ष में एक बार 'दायातपूजनेोस्तव' मनाया जाता है। जयपुरप्रान्त
 में तो यह उत्सव रात्रि-पञ्च सर्वत्र पड़े आयेगा के साथ मनाया जाता था। रात्रि में चुन्नी खड़ी थी। कलम-दायात
 एम कलमदान आदि की मंगलप्रतिमा की मूर्ति धूप-दीप-नैवेद्यादि से पूजन होता था जो आज के
 बर्मिरेलेकपुग में आज पवित्रमाप्तमाय है। शरण स्पष्ट है। कलम दायात जड़ पदार्थ हैं यह धारणीन-
 प्रत्यक्ष है। परन्तु उनके साथ ही यह भी लक्ष्यम्मत है कि, मनुष्य के राजनीतिक सामाजिक, एवं आध्यात्मिक
 विचार का बहुत कुछ भेद इसी की प्राप्त है। इन जड़ साधनों की धिरकालिक उपासना [व्यवहार] से
 मनुष्य वैष्णव के उच्च चरारण पर प्रतिष्ठित होता देखा गया है। प्रश्न यह होय रह जाता है कि यदि हम एक
 मिन इस का पूजन न करेंगे तो क्या यह काम न देंगी ? हँगी और प्रत्यक्ष देंगी। क्या दायातपूजन के नाम
 से भी अपरिचित पश्चिमी देश आध्यात्मिकतामिमानी आवश्यक के शिक्षक भारतीय लेखनकला में पारङ्गत
 नहीं होते ?। हुए हैं होते गये। फिर इस जड़पूजन के आखम्बर का क्या महत्त्व ?।

६२६-दिग्गजान्तों के आपातरमयीय 'सुन्दर' प्रश्नों के सम्बन्ध में किञ्चिन्वि भावे
दन निवेदन—

परन्तु वास्तव में सुन्दर है। और ऐसे ऐसे अवसर प्रशनों की इसी शायसम्पन्नता ने हमारी नीतिगतता का वर्णनाय भी किया है। परन्तु पर देवमात्रता का अनुभव करने वाले दिव्यमात्रमय मारतीय इसी सुन्दरता के प्रतीक में पड़ कर आज अपने उन शायरों विमलसंस्कारी की वनाञ्जलि समर्पित कर चुके हैं जिन संश्रुती की निष्पन्नता में सुविचारजनक अत्यन्त मौलिक आनिदारी के न रहने पर भी वे पूर्ण शायर के पूर्ण सुखी थे।

६२७-भारतीय वास्तव-पु क ब्रह्मानुगत उपास्य' तन्मानुषन्वी दिव्यसंस्कारो वा स्वरूप
दिगन्तः—

कर्म ने ही हमें यह शिक्षा मिलती थी कि—देखा। भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ भगवान् की विभूति है। उसकी प्रतिमा है। गुप्ताय सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन हमी मायना की मूल्य दे सकते हूँ आगे बढ़ना चाहिए। यही मानन संकल्प दुर्घ्न क्लमदान करेगा और हमी उपायनात्मक रूप है गुप्ताय सम्मुख होगा। कहना न होगा कि पर पर पर 'मनोविज्ञान की धारणा करने वाले विन्नु व्यव-
शायः हमने तर्पणा पराट मुक्त उन प्रश्नकर्त्ताओं की अपेक्षा मायगीय व्याप्तिक बानि हम मनोविज्ञान की विशेष मदरम दिया। ब्रह्मात्मा में जाकर देखिए। अप्पपट्ट पर भिन्न काला एक अवशेष शिशु की छतर सिक्के के पीछे उई' मित्रावर अपन मन्त्रक पर बागा होता है। जमने बनि आप यह पूछें कि हमन ऐसा

क्या किया ? इतर-आत्मा आदि के रहस्यमय स्वरूपों से सर्वथा नवित रहता हुआ वह असीम शिष्ट भी 'यह गणेश जी का प्रमाण है विद्यामाला है' यह उतर देता हुआ आपकी आस्तिक्य के सर्व को पूर्णित करेगा ।

६८-परमापहृत्या भगवत्सुखा की सर्वव्यापकता एवं तस्मिन्बना पदाधमाश्रानु
बन्धिनी-उपाध्मरूपता का स्वरूप-समन्वय—

परमार्थ में तो इस व्यापक-भगवत्सुखता का विरोध हो ही नहीं सकता । बौद्ध ऐसा पदार्थ है यदि फिर दावात हो, क्लम हो, लस्य हो, क्षेम कुछ हो, विषयों का-पन स्वीकृत्यैव आत्मवेदस्य प्रतिष्ठित न हो । और इस परमापहृत्यव्याप की दृष्टि से तो लक्ष्य बड़ी बड़ है । परन्तु अस्मत्-उपलब्धमान्य अधिकारियों की भी अस्मत् इस व्यापक वैकल्याण्य का बोध होना चय्य इसी साक्षाद्विषय-अवकाश से प्रेरित होकर उक्त बहूपहनसम्यक् लक्ष्युत्तमों का आनिवार हुआ है । पूजन-न करने पर भी दावात से काम उठना बाधनेवा परन्तु पूजन करने में बां दिव्यमात्र आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं उस काम के सामने एक वा प्रत्येक का क्या तस्मिन्निता प्रयत्नसाहसी की सुन्दरता भी कोई महत्व नहीं रखती । अस्तु जाने ईश्वर इस विषयपर का । प्रकृत विषय पर आदय । दुनिया-क्या समझती है क्या कर रही है फिर कपड़ी है, यदि आप इसी उपेक्षुन में लगे रहेंगे तो आप भी लक्ष्यभ्रष्ट होजायेंगे । आपकी, कार हमें दो कपी, क्या कैसे के नागकीय पय की उपेक्षा कर श्रुतियों के हाग अन्वत्ताता की कवारीकाओं से परीक्षित आदेशानुगमन की ही प्रचान लक्ष्य बनाए रखना चाहिए ।

६९-आधिकारिक-अवतन-उपाध्म-जीवों के तात्त्विक-स्वरूप का दिग्दर्शन, एवं
तत्र व्यासमृत्त का संस्मरण—

आधिकारिक जीव आध्यात्मिक जीव अंत में जीव-विभर्त । मार्गी में विच्छेद माना गया है । आधिकारिक जीव का सामान्य नाम 'अवतारजीव' है एवं आध्यात्मिक जीव का सामान्य नाम 'कर्म-जीव' है । अवतारजीव कर्म करते हैं कर्मजीवों से नहीं आधिकारिक कर्ममात्र में प्रवृत्त रहते हैं । परन्तु वे कर्म पर आश्रित रहते हैं । वे कर्म के नहीं हैं कर्म उनका है । कर्म उन पर कर्म प्रमाण स्थापित नहीं करसकता । 'कर्म' के कर्मजनित लक्ष्यानुकूल्यी इच्छावाची के [इच्छावाचों में रहते हुए भी] पाराक्रमन से विमुक्त रहते हैं । अविरतकर्म पर आश्रित वे आधिकारिक जीव विरक्तता की अवसरवाची की दूर करते रहते हैं । कक्षापी विरक्तकर की हृष्टता से अधिकार प्राप्त कर के छाते हैं और अधिकृतकर्म की कृपति पर तत्रैव विनिर्जित होजाते हैं— 'आध्यात्मिक-अवतारमभिधिराधिकारिक-अवतार' (ध्यासमृत्त) ।

६३०-'नित्य', तथा-'सामयिक' मद् म 'आधिकारिक-अवतन-जीवोपास्य' क दो विभिन्न

विभाग, एवं 'नित्य आधिकारिक-अवतनोपास्यजीव' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

वे आधिकारिक जीव (जिन्हें कि आप हम अवतार राज्य में सम्मर्षित करेंगे) नित्य सामयिक अंत में ही प्रचार के हैं । लुप्त के आरम्भ में अस्मत्क (प्रलम्बन) लक्ष्यत्रय से प्रतिष्ठित रहने वाले अवतारजीव निश्च कदाचित् ही एवं लुप्तिकाल में विरोध अवसरकलाओं की पूर्ति के लिए प्रिय लक्ष्यों में

अभिमत होने वाले अक्षरार्थीय 'सामयिक' कहलायेंगे। आगे जाकर प्रत्येक के चेतन-अचेतन-अचेतन-मे' से तीन तीन अवान्तर भेद होता है। पहिले क्रमप्राप्त नित्य निमित्त अक्षरार्थीयों की ही मीमांसा कीजिए। अष्टविध देवताओं में एक 'अमिमानी • देवता' नाम का स्वतन्त्र देवता है। यही अमिमानी देवता उपासना का मूल वस्तु बनता है। आप देवताओं के चित्तों में भी नाम सुनते हैं उन सब के अमिमानी भौतिक, दो दो रूप हैं। भौतिकरूप अचेतन है अमिमानीरूप चेतन है। अपने इसी अमिमानी रूपों से उपदेवता उपासकों पर अनुग्रह किया करते हैं। सूर्य-चन्द्रमा-विश्व-वह-इन्द्र-महा-वहवा-अग्नि-इन्द्र-इन सब भौतिक दत्तों के अपने अपने स्वतन्त्र-अमिमानी देवता हैं। इन्हीं के लिए- 'अमिमानीरूप देवता विरोधानुगतिरूपम्' यह कहा जाता है। य-चेतनदेवता नित्य है सुखसारम् में अधिष्ठित कर्मों को लेकर इनका आविर्भाव हुआ है एवं प्रत्यक्षक्रम में इन का विरोधाव होगा। अतएव इन्हें- नित्य आधिकारिक चेतन जीव' कहा जा सकता है।

६३१- 'आधिकारिक-नित्य अचेतन-उपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं चेतन अचेतन अवतारोपास्यों का स्वरूप-मस्मरण—

यद्यप्युपासित विराट्प्रजापति, उत्पन्नकर्म ३१ यज्यदेवता आदि आदि भौतिक प्राणदेवतावग अचेतन जीव माने जायें। वे अचेतन जीव अपने अमिमानी-लक्षण चेतन जीवों से नियत युक्त रहते हैं। परन्तु उपासना, कर्म मे' से इन की दो स्थिति होजाती है। उपासना में चेतन जीव सम्पन्न रहते हैं अचेतन जीव लपन रहते हैं। सूर्यादि प्राणदेवताओं की लक्षण बना कर ही अमिमानी देवताओं से उक्तिज्ञान लिया जाता है। यजकर्म में अचेतन जीव प्रधान बने रहते हैं। प्रत्यक्षरूप अग्नि आदि इन्हीं ही प्रधान माने जाते हैं परन्तु गौतमदि ने चेतनजीवों पर भी लक्षण अक्षर है। इधर विद्युत् भौतिक विज्ञानकारों में चेतन अमिमानी जीवों की उल्लेख उल्लेख है। केवल अचेतन अग्नि-वायु-इन्द्र (विश्व) आदि पदार्थों का ही वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक कर्म में उल्लेख है। बिना मे' विलिख अतएव अत्यन्त बड़ भौतिक विज्ञान वहाँ निरव को अतिशक्ति बड़ बनाता जाया है वहाँ विद्युत्प्रणाली विलिखनानामक यजकर्म किसी रूप में प्रतिपादित बना हुआ था यह तो नवीनविधि है ही। उत्तरार्थ कहने का यही हुआ कि चेतन अमिमानी पञ्चवक्त्रकर्म-कर्म-सामन-विराट् विराट्-विराट्प्रजापति-लक्षणात्मक गुरुकादि पञ्चात्मक देवता ही 'आधिकारिक अचेतन नित्य जीव' कहलायेंगे। पूर्ण के नित्य चेतन जीवों की (अमिमानी देवताओं की) यही चेतन अवतार कहा जायगा वहाँ इन अवतारों अचेतन जीवों को अचेतन अवतार माना जायगा।

• इन आगे देवताओं का विराट् वैज्ञानिक विचयन शतवध-माध्य प्रथमपञ्च में निबन्ध हुआ है। विशेष विराट् लक्षण वाली का यही प्रथम पदवना आदि। वहाँ विराट्प्रमय मे' इस प्रकार का दृष्टि का भाव है।

६३२-‘आधिकारिक-अष्ट-चेतन-उपास्य-जीव’ वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

ठीसरा विभाग आधिकारिक नित्य अष्ट-चेतन जीवों का है। कीर्तितक उपनिषद्-की पर्यवृत्ति या वेदित इच्छा का निरूपण हुआ है व नित्य अष्ट-चेतन आधिकारिक जीव माने जायेंगे। ब्रह्मलोक ७ में एने वाली अष्टभुजा की आधिदेवता द्वारा प्राप्त आदि का चेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा। स्वर्गम माहाद्य विरवानदी अस्मदी पर्यवृत्ति इन सब उपकरणों का अचेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा एवं वैदिक किम्बदन्त पौराणिक मन्वार-पारिवात-आदि स्वर्गीय वृक्ष निब अष्ट-चेतन जीव माने जायेंगे। ब्रह्मादि लोक शारवत है। उन की लुप्ति की क्षय से इति पर्यन्त लया रहेगी। अतएव इन स्वर्गीय इच्छात्मक अष्ट-चेतन जीवों को हम अक्षर्य ही ‘आधिकारिक अष्ट-चेतन नित्य’ जीव कहेंगे।

६३३-आधिदैविक-अष्ट-चेतन उपास्य जीवों के विभिन्न पारिमायिक-वर्गों का स्वरूप-समन्वय—

अधोवि कल्पति-वर्ग को ही अष्ट-चेतन जीव माना गया है। मनुष्यकृत भेषज में सोमवस्ती उदुम्बरवृक्ष पलाश जीपर्याय अर्धमर्ध अक्षर्य आदि को अधोवि वनस्पति का रूप में ही जानी है इन सब का मूल आधिदैविक उत्तर ईश्वरीय अक्षी में मूलरूप से प्रतिष्ठित है। सोमवस्ती का मूलरूप पृथ्वीय पुलकष्य पर्यवृत्ति में है। (एरीकस्य से इतो विवि मोम आसीत्)। पार्थिव मानवों के द्वारा ही वह ‘पर्य’ मृष्ट पर पार्थिव अभ्यवस्ती रूप में परिगत होता है। वही उदुम्बर का मूल है। वही अक्षर्य है—‘अक्षर्ये को नियतन पर्ये वा वसतिष्कृता। गोमात्र इत्किञ्चासन्न यत् सनयन पूर्यम्’ इत्यादि अर्धमर्धमने इती स्वर्गीय नित्यवृक्ष की महिमा का ज्ञान किया है। पलाशवृक्ष का मूल स्वान्मय ब्रह्म लोक माना गया है—‘पलाशो वै ब्रह्म’। इन सब मूलरूपों का ही कि ईश्वरीय-विभूतिमयज्ञ में लया प्रतिष्ठित रहते हैं नित्य अष्ट-चेतन जीव माना जायगा। नि य शब्द से प्रकृत में ईश्वरीय आधिदैविक मरकत ही अभिप्रेत है। एव सामयिक शब्द उन पञ्चवल्मी का वाचक है जो समय समय पर मृष्ट पर आते एवं बाटे रहते हैं।

६३४ नित्य-चेतन-उपास्य-जीवों के विभिन्न स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण—

अभिमानो यज्ञप्रवापति, यज्ञप्रवापति के अक्षयकरूप कूर्म-वामन वराहादि मितावतार, विराटप्रवापति, विराटप्रवापति के अक्षयकरूप शिख [सौर] अक्षिज्जगद्वस्थाधि देवता पार्थिव (महिमायुक्त पार्थिव) शिव-राशि-गव्यति-पक्षीयय आदि देवता इन सब का ईश्वरीय आधिदैविक मरकत से सम्बन्ध है अतएव इन्हें हम अक्षर्य ही नित्य चेतन जीव कह लयते हैं।

६३५ चेतन-अष्ट-चेतन अचेतन-भेद-निब-यन विविध उपास्यों का पारिमायिक-समन्वय—

भौतिक पिच्छात्मक पञ्चपक्षी (आधिकार्य से प्रत्यक्षवृष्ट) यज्ञप्रवापति यज्ञप्रवापति के अक्षयकरूप (आधिकार्य से प्रत्यक्षवृष्ट) वामन-वराह कूर्मादि आधिकार्य से प्रत्यक्षवृष्ट इत्येवम् का आत्मन

● इत विषय का लक्षित विवेचन आध्यात्मिकान्तर्गत आत्मगत-उपनिषद् में एवं विराट विवेचन कीर्तित-आत्मगत-उपनिषद्-आत्मगत में वेदना चाहिए।

का पार्थिव विराट्प्रजापति विराट्प्रजापति के अवयवरूप आधिकारिक से प्रत्यक्ष रूप मीतिक पार्थिव लक्षण इन्द्राग्नि-वायु-आदित्य दिग्देवता अग्नि-उषा-गायत्री आदि पार्थिव देवता (पार्थिव) इन सब का मी र्वरूप आधिदैविक मण्डल से ही सम्भव है। अतएव इन्हें मी रूप अवश्य ही नित्य अचेतन जीव कह सकते हैं। एतदेव इती दिव्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले उल्लसलक्षण मूलतमक तत्त्वलोकावस्थित दिव्य कोवि-कनस्पतिर्का को मी नित्य आधिकारिक अद्वैत जीव ही माना जायगा।

६३६-नित्य-आधिकारिक-अवताररूप-चेतनजीववर्ग (नित्याव-तारपरिलेखा) —

- | | |
|---|---|
| <div style="writing-mode: vertical-rl; transform: rotate(180deg);"> नित्यावतारवर्ग </div> | १-अमिमानीदेवता [यज्ञप्रजापति, विराट् प्र तदवतारवर्ग] — नित्यचेतनजीववर्ग |
| | २ तत्त्वदेवता [यज्ञ, विराट् अवतारवर्ग] — नित्य अचेतन-जीववर्ग |
| | ३-मूलदेवता [दिव्यलोकावस्थीयधिपनस्पतय] — नित्य अद्वैत जीववर्ग |

६३७-[१]-यज्ञप्रजापति — (चेतनो नित्य) । (एकत्रत्येश्वर) ।

१-वायुमुक् — अक्षा-अग्निप्राक्तप्रवृत्त क प्राप्तिमय वाह मूर्ति] अमिमानी चेतनः

२-पार्थिवेश्वर — विष्णु-विष्णुप्राक्तप्रवृत्त क-आवीमय [अक्षमूर्ति] अमिमानी चेतन

३-मीमांसा — इन्द्र — देवप्राक्तप्रवृत्त क-वाह मुक् [अग्निमूर्ति] अमिमानी चेतनः

४-वायु — सोम — प्रवृत्तप्राक्तप्रवृत्त क-अप्रमय [अक्षमूर्ति] अमिमानी चेतन

५-मीमांसा — अग्निः-अक्षुराक्तप्रवृत्त क-अक्षाप्रमय वाह मूर्ति अमिमानी चेतनः

यज्ञप्रजापति — यज्ञवर्ग

विष्णु इन्द्र-साम-अग्निगर्भित प्रजागुः कर्मा, विष्णुः अक्षुमी इन्द्राय अक्षुय वा इन्द्राग्निमासमकी राक्षसी इ यनपां भूमि क स्वरात्मवानां महाप्याहनिष्पागां प्रयाणां साहानां समस्तया मज्जितमिवापायमयः सप्तहृत्पञ्चमूर्तिः, वाह-वाह-अग्नि अग्नि-आय-वाह इ यनपां पटु-गुहाणामायामभूमि कक्षप्रवेशः सप्तहृत्पञ्चमूर्तिः पाहरीप्रजापतिरवतारवर्ग नित्यावतारः महापितामहकः समष्टिम् स्थापयन्मुषो अक्षा यक्षमूर्तिः-“यज्ञप्रजापति” । (मंथनी-प्रधाना गृह्यानीया अक्षा) ।

६३८ (२)-विराट् प्रजापति (चेतना नित्य) — (पाथिवेश्वर) ।

१-स्वरेन्द्र (१८) वा-जगती

२-वर्णेन्द्र (१९) अन्त-विष्णु

३-अजनेन्द्र (२०) वृषि०-गायत्री

वृषि
वृषि
वृषि
वृषि

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

८

नमो भगवते वासुदेवाय

१-विष्णुमाविष्णु (११) वी-अ

२-मा लोमेविष्णु (२०) अन्त०-वि

३-वेन-विष्णु (२१) वृ-मा

वृषि
वृषि
वृषि
वृषि

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

९

विराट् प्रजापति-अग्नि-वेद

१-आदित्य (१) वृषि०-अ

२-वायु (१५) अन्त लोक वि

३-अग्निः (६) वृषि लोक गा

वृषि
वृषि
वृषि
वृषि

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

१०

वैश्वानर-अग्नि-वेद

१-परिब्राह्म-इन्द्र-वृषि०-अ

२-विष्णुमाविष्णु-सुक्लो-वि

३-वृद्धम-अग्नि-स्वलो-गा

वृषि
वृषि
वृषि
वृषि

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

११

पावसानि-अ-वेद

१२

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपाणां (राजसीत्रिलोकीरूपाणां वा) वृषिष्यन्तरिक्ष्य परिसकाशं महावृषि-
भ्यां सहस्ररीर्यं सहस्राक्ष-सहस्रपादरूपेण प्रतिष्ठितः। पञ्चम्यां च भूमौ प्रतिष्ठितः वाक्साहसी-
(वपुष्मर) अन्तः क-सर्वज्ञेन्द्र-लोकसाहसी-अवर्तक-विराट् प्रजापति-वृषि-वेदसाहसी-अवर्तक-
वैश्वानर-अग्नि-वेद, वागापोऽग्निमया, इन्द्र-वासु-अग्नि-अग्नि-पाथिवेश्वर-पञ्चप्रजापरम्यन्तरूप-
मृषिब्रह्मविभक्तं भावतमकं पञ्चप्रजापति-अवर्तक-सर्वसत्त्वप्रवर्तक-सर्वमूलात्तरहमेति
निगदितः। पारमेष्ठ्यो विष्णु-आत्मर्तः-‘विराट् प्रजापतिः’ (अग्नीमीप्रधान-अन्तरिक्ष-
स्थानीयो विष्णु)।

६३६-(३)-कूर्मप्रजापति-(चेतनो नित्य)-(अवयवावतारी-दिव्य) ।

- | | |
|--|----------------|
| १-अन्तरो मयवा-(८-स्तोमात्मकेषु लोके प्रसिद्धि-वाङ्मय)-अभिमानि चेतन | कूर्मप्रजापतिः |
| २-अर्धेन्द्रो मयवान्-(४४ स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेऽप्रति -आपोमय) अभिमानि चेतनः | |
| ३-अपञ्चनेन्द्रो वातव-(२४-स्तोमात्मके पृथि प्रसिद्धि-अभिमानि चेतन | |

कूर्मप्रजापतिप्रवर्णकं बदे-“कश्यप-पश्यक कूर्म-आदित्य” ति प्रसिद्धः, पुराण-समये ‘कश्यपप्रजापति-इत्यस्मात्’-ति प्रथितं पार्ष्णिषद्वा (धनरसेन)-आन्तरीक्ष-पृथेन [तरङ्गरसेन]-विश्वमनुना (विरङ्गरमेन) अभ्यक्तं (अभिषिक्तं) द्वादशा-त्रयोदशा-वा-पञ्चकन्यामि कृत्स्नमिथुन द्वादशावा विभक्तं कश्यपीश्वरप्रवक्तृ क. रसत्रयमूर्तिः त्रिविधेन्द्रकृतरूपः विराट्प्रजापते शिरस्थानीये ४८-४४-२४ स्तोमात्मके-षु-अन्तरिक्ष-पृथिवीरूप स्वर-अणु-अपञ्चनमये त्रैलोक्यात्मके-येन्द्रपार्ष्णिषदाके वाङ्मये षट्स्थानीये प्रतिष्ठितं यज्ञप्रजापत्यवयव मृतायां रोदसीत्रिलोक्या षु लोके (सूर्ये) अन्तर्गमितार्थ-येन्द्री-त्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्वात्-यज्ञ प्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवमृते-येन्द्र-लोके प्रतिष्ठितत्वात् विराट्प्रजापतेरवयवः-“कूर्मप्रजापतिः” (अवयवावतारो- दिव्य) ।

६४०(४)वराहप्रजापति-(चेतनोनित्य)-(अवयवावतार-आन्तरीक्ष्य)

- १-दिक्त्वोमः—आदिबराह (१-स्तोमात्मकेषु लोके प्रतिष्ठित-बाह मयः) अग्निमानीचतनः
 २-मात्वरसोम-महाबराह (२७-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति —आपोमयः) अग्निमानीचतनः
 ३-वेनः—यक्षबराहः (३१-स्तोमात्मके पृथिवी प्रति —अग्निमयः) अग्निमानीचतनः

वराहप्रजापतिः

‘पृथुप ब्रह्म-रवेत-यज्ञ-आदिबराह’ इत्येते पञ्चमय-भूमि-चन्द्रमाः-सूर्यः-परमेष्ठी-स्वपम्भूः’ इत्यतएव पिण्डमावानां (सबरत्न-व्याधि-मात्राभ्यां) स्वरूपमन्यत्वे रक्षकः वद-‘बराह-बाधु-पशूनां मन्यु-मातरिश्वा’ इत्येवं प्रथितः पुराणसमये च-‘वराहप्रजापति-पृथिवीपति-भूम्युद्धारक’ इत्युपवर्णितः, अनेजब्रह्मस्तदस्य द्विप्रकृति (यमुपुन्य) तेज-सहस्रहस्तस्य भूमिहिरोमयस्य रतोरूपस्य पञ्चमयः (अपां) आवाता अन्तरिक्षविष्णुस्वरूपः विराट्प्रजापतेरुच्यस्थानीय ३१-२७-३१ स्तोमात्मके च-अन्तरिक्ष-पृथिवीरूप-दिक्त्वोम-मात्वरसाम-वेन (तज्जामय्य आप) मयं त्रैलोक्यात्मकं वैष्णवपर्विष लोके आलोमये अन्तरिक्षस्थानीयं प्रतिष्ठितः। यज्ञप्रजापत्यवयवभूताश्च राक्षसीत्रिलोक्या अन्तरिक्षलोके अन्तर्गमिताश्च वैष्णवीत्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्वात्-यज्ञप्रजापतरवयव विराट्प्रजापत्यवयवमत-वैष्णवलोके प्रतिष्ठितत्वात्-विराट्प्रजापतेर्यावय-‘वराहप्रजापतिः’ (अवयवावतार-आन्तरीक्ष्यः)।

६४१ [५]-वामनप्रजापति [चेतनो नित्य] [अवयावतार-पार्थिव]

- १-आश्रित्य-विष्णुवामन [२१-स्तोमात्मकेषु लोके प्रतिष्ठित-बाह्वमव]-अभिमानो-चेतनः
 २-बाहु-अन्त वामनः [१६-स्तोमात्मकेऽन्तर्गते प्रतिष्ठित-आपोमव] अभिमानो-चेतनः वामनप्रजापति
 ३-प्राणि-या० वामन [९-स्तोमात्मके पृथि लो० प्रति-अग्निवम] अभिमानो-चेतनः

गायत्री-इन्द्रसा त्रिभुवनस्थानीयं पृथिवीलोकमेकेनपदा त्रैष्टुभेन इन्द्रसा पञ्चदशस्थानीय
 मन्तरिक्षलोके द्वितीयेन पदा पर्व आगतेन इन्द्रसा एकविंशस्थानीयं द्युलोकं तृतीयेन पदा-आक्रम्य
 त्रिमिर्बिक्रमैस्त्रैलोक्ये (इत्यत्रैलोक्ये)ऽप्याष्ट भूगर्भे च प्रादेशमिते स्थाने व्याप्तं मन् वाननो विष्टुः
 वेदे-ठरुक्रम-वामन-स्थानविष्टु-त्रिविक्रमः 'इत्येवंरूपेण स्तुत' पुराणसमये च 'वामना
 वतार-यज्ञपतिः-बलिबन्धकः त्रिविक्रमावतारः' इत्येवंरूपेणोपदण्डितः, गङ्गा-मुलसी-लक्ष्मी-
 सरस्वती-पृथिवी-इत्येतामिर्मिथुनीकृत्यरूपं पञ्चपत्नीकं नायिकतत्त्वर्गाधिपतिं यज्ञमाही यज्ञ-
 विरपसन्नाता वैकुण्ठनाथं त्रिसुजः, श्याममूर्तिं अथवयं कपासकसमये च 'शान्ताकारं सुजग
 यन पद्मनाभं सुरेशम्' इत्येवंरूपेण नुता संवत्सर ८४ इति क्रमेण शायान प्रबुद्धश्च त्रिपृथि-
 र्भगिन्कृत्यरूपं विराट्प्रजापतेरचरणस्थानीये-२१-१५-६ स्तोमात्मके द्यु-अन्त०-पृथिविरूपे
 आदित्य-वासु-अग्निमये त्रैलोक्यात्मके ब्राह्मपार्ष्णिबलोकेऽग्निमये पृथिवी-स्थानीये प्रतिष्ठित यज्ञ-
 प्रजापत्यवयवभूतायां रोदसी त्रिलोक्याः पृथिविलोकेऽन्तर्गर्भितायां ब्राह्मी-त्रैलोक्यां प्रतिष्ठितत्वात् यज्ञ
 प्रजापतेरवयव विराट्प्रजापत्यवयवभूते ब्राह्मलोकं प्रतिष्ठितत्वात् विराट्प्रजापतेरवयव-
 'वामनप्रजापतिः' (अथवयन्तार-पार्थिव)।

२—अनप्रदक मनसो जरीपो नैनहेवा आप्नुवन् पूर्वमश्रुत ।
तदुपायतोऽन्यान्यसि तिष्ठतस्मिन्मया 'मातरिगवा' दधाति ॥
—ईरोपनिषत् ४

३—तां प्रादशुमात्रा पृथिवीं ण्मूष इति वराह उन्मथान । सोऽस्या -
पृथिव्याः-पतिं प्रजापति ।

—शत १४।१।१।१।

४—स-प्रजापति—बै वराहो ह्य कृत्वा उपन्यमन्मत् ।

—ते० भा० १।१।३।४



६४७—वामनप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विषकमे शेषा नि इष पश्य । समूलमस्य पांसुर ॥
श्रीसि पदा वि षकम विष्णुर्गोपा अदाम्बः । अतो धर्म्मोऽपि धारयन् ॥
—अष्टक १।२।१ १८।

२—ऊर्ध्वं प्राशुषुमपनि, अपानं प्रत्यगस्तति ।
मथ वामनमासीनं विष्णुदवा उपासत ॥

—अष्टकनिषत् २।१।

३—वामनो ह विष्णुरास । ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य सुनोमिरमित
पय्यरुहसन् ।

—शत १।२।३।४।



६४८—'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्व एवं विष्णु क पारिमायिक अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

वामनः पादौ वी यद् गमय होमा वि, इमं अवतारं वा लम्ब्य विष्णु ते कथाया वा । प्रह्ला.
एवं इन्द्रात्मक विष को लक्ष्य माना या । वात वायव्य में ऐनी ही है शून्य वि पाक मूलमात्र के "पदा वरा
हि धर्म्मस्य०" इत्यादि प्रकरण में देखेंगे । अभी इत लम्बक में केवल यही बतना होना पड़ता-होमा वि-
अवतार का मुख्य हेतु "अधर्मवृत्तानि" का उपशम ही है । एवं धर्म्मोऽपि धारयन् ही माने
गए है । वाम एक लक्ष नियति है (शत १।२।१।२४।) । ऊर्ध्वनिषति वी प्रथम विधामन्मि "अपूतल" है
(शत ३।२।१।१) । अपूतल ही लोमस्तव है यही विष्णु है । लोमस्तव से यहाँ यानीम वरमेडीमवडल देख्य
करताहै है यहाँ लोम ही वी बनाकरकाय अपूतल के लम्बक से "ते वायव्य वरा वाता है । अपरिपट

पारमेष्ठ्य तत्त्व वरदा है अतःपुनःपुनः में इसी की प्रशानता रहती है। परिपक्व वही पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। कश्चिन् मे इसी का शास्त्रात्म्य रहता है। अतःपुनः आध्यात्मिक वरदा का तत्त्व-परिपक्व-सोम भाग ही मर्ग है यही मर्ग स्वरूप विष्णु है। यही वाक्य मयबला से प्रकट होकर दशधर्मरूप में परिणत हुआ है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक मर्गों मय वाक्य धर्म ही सीमामय विष्णुरूप से प्रकट-होकर १ कर्मा में परिणत होता है। 'दशधर्म धर्मसंज्ञायाम्' इस दशविध स्मात् धर्म का मौलिक रहस्य मर्ग के ये ही १ रूप हैं। 'वर्षो च दश धर्मार्थ' के पौराणिक आश्रय का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म की प्रविष्टा विष्णु है अतः कर्मादि के उपरान्त में इसी को पूर्णरूप से अथवा अंशरूप से अथवा अवयवरूप से आवश्यकतानुसार प्रकट होना पड़ता है। पञ्चोक्त पाँचों अवतार इन्हीं विष्णु के निष्पावतार हैं।

६४६-दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूजावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय—

(१) स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा पृथिवी इन पाँचों पदों की समष्टि में पूजाभाव का समावेश है। स्वयम्भूदेव-वोदही-प्रजापति की पूजा का किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ अर्थ इसी पाँचों पदों को है। क्योंकि प्रजापति में पाँचों का समष्टि है अतः इसे अक्षर्य ही 'नित्य आधिकारिक-अतन पूजावतार' कहा जान ता है। एकदशमक एक ब्रह्मायुध ही इस का स्थापित्य है। ये ही पूजावतार गोलोकवासी महाशरी गोलोकमहामाता अर्जुनमित्र [इन्द्रमित्र] श्रीपरमेश्वर भानुप्रसन्न गीतन्द भगवान् हैं अतः किं कृष्णनन्दनरूपकालकाल में विस्तार से निरूपित है। इसी मन्त्र स्वर पूजावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रमूर्ति बहती है—

विष्णो कर्माणि परम्यत यतो ब्रतानि पश्यो ।

इन्द्रस्य पुन्यः सखा ॥

—श्रुतम् १।१०।१६।

६४७-‘पार्ष्णिदेव-अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(२) इस पञ्चेश्वर प्रजापति के अन्तिम पर्वतक मूर्त से विराट् कूर्म-वराह-नाम इन चार अवतारों का निष्पन्न हुआ है। मूर्तिरूप वाणी पृथिवी वेष्मणी पृथिवी-प्रेम्नी पृथिवी इन चारों की समष्टिरूप पार्ष्णिदेव ही विराट् की आकाशमयि है। अतएव इसे हम ‘पार्ष्णिदेव-अवतार’ कह सकते हैं। यही ‘नित्य आधिकारिक अतन अक्षरवतार’ कहा जाता है।

६४८-‘महीदेव-अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(३) विराट्प्रजापति का शिर स्थानीय ४८ स्त्रीमात्रक पार्ष्णिदेव विष्णु ‘मही’ नाम से प्रसिद्ध है। विराट्प्रजापति इन्द्रप्रजापति ॥ स्थापित्य है। यह मही नामक पार्ष्णिदेव ही है। अतएव इसे ‘महीदेव’

६४२-हरे-पञ्चावतारा —

१-यज्ञप्रजापतिः—एककण्ठोद्वहः—युधावतारः	
२-विराट्प्रजापतिः—वापिर्धेइवर—अ शाकटारः	
३-कूर्मप्रजापतिः—महीरवर—अनन्तरूपारो निव	} हरेः पञ्चावतारा
४-वराहप्रजापतिः—सामराज्येश्वरः—अनन्तरूपारो	
५-वामनप्रजापतिः—दुर्गादेव—पार्ष्णिः	

६४३-यज्ञप्रजापितरूप-ब्रह्मावतार-समर्थकानि वचनानि [१]—

१—ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनामृषिर्बिप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
रथनो युधाकां स्वधितिर्जनानां सोमः पवित्रमस्पति रमन् ॥
—अथर्व १६.६।६।

२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्भूत विश्वस्य कर्ता सुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्गविद्याप्रतिष्ठामवर्णय न्येष्टपुत्राय ब्राह्म ॥
—मुण्डकोपनिषद् १।१।१।

३—ब्रह्म वै त्वयम्भूः-तपोऽप्यत । तत्रैव न वै तपस्यानन्त्यमन्ति ।
इत्ये ? मृत्युप्राप्त्यान् अह्वानि, मृतानि आत्मनि-इति । तत्तत्रैव मृत्यु-
प्राप्त्यान् अह्वानि मृतानि आत्मनि (अह्वानि)-सर्वेषां मृतानां अह्वान-
स्वाराज्य-आधिपत्य-पर्येत ।
—वायव्यपञ्चागम १३.४।१।१।

६४४-विराट्प्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [२]—

१—तस्मात्-विराट्-अवतार, विराटो अधिपत्यः ।
स जातो अत्यरिष्यत परेषां भूमिमथो पुरः ॥
—अथर्व १६.१७।

२—आदित्य उकारो निहृष एकारो विरवेदेवा औ—ह्री—इकार प्रजापतिर्हिङ्कारः
प्राशः—स्वर—अन्नं,—या वाक्—(सा) 'विराट्' ।

—आन्दोग्योपनिषत् १।११।२।

३—पुरुषो ह नारायणोऽकामयत्—अतितित्येय सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं
समं स्याम्—इति । स एतं पुरुषमेवं पञ्चरात्रं—पङ्कक्तुमपरयत् । तेन सर्व-
ममयत् । चत्वारिंशदक्षरा विराट् । तद्विराजममिसम्पद्यते । ततो विराट्
वापयत् । विराजो अविपुरुषः ।

—जतपथब्राह्मण १।१।१।२ २।



६४५—कूर्मप्रजापति—[अवतार]—समर्थकानि—वचनानि [३]—

१—कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।

स्वयम्भू—कल्पः कालात् तपः कालादज्ञायत ॥

—अथर्वसं १।४।२।१०।

२—स यत्—कूर्मो नाम—एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापति प्रजा असृजत । यद्
मृक्षत—अकरोत्—तत् । यदकरोत्—तस्मात् कूर्म । कल्पयो वै कूर्मः ।
तस्यावाहु—सर्वा प्रजाः काश्यप्यः—इति ।

—शत० ७।४।१।३।

३—तां—पृथिवीं—सन्निस्तस्याप्सु—प्राविष्यत तस्य यः पराक रसोऽप्यवरत्—
स कूर्मोऽभवत् ।

—शत १।१।१।१२४

४—स य स कूर्मः, असी स आदित्य ।

—शत ६।४।१।६।



६४६ वराहप्रजापति [अवतार]—समर्थकानि—वचनानि [४]—

१—प्र काम्यगुणानेव प्रुबाखो द्यो देवानां भनिमा विवक्ति ।

महिमतः शुचिबन्धुः पावकः पदा "वराहो" अम्येति रमन् ॥

—शकुन्त० ३।२०।५।

२—अनग्रदेक मनसो ब्रवीषो नैनहेवा आप्नुवन् पूर्वमशत् ।
तद्भाषतोऽन्यानस्थति तिष्ठत्यस्मिन्नापा 'मातरिस्था' इषाति ॥

—ईशोपनिषत् ४

३—तो-प्रादेशमात्रीं पृथिवी-एयूप इति वराह उज्जवान । तोऽस्या-
पृथिव्याः-पति प्रजापति ।

—शत० १४।१।२।११।

४—स-प्रजापति-वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत् ।

—तै० ब्रा० १।१।३।४।



६४७-वामनप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विषकमे श्रेया नि दधं पदम् । समूहमस्य पशुरे ॥

श्रीसि पदा वि षकमे विष्णुर्गोपा अक्षाम्बः । अतो बर्म्मोऽति धारयन् ॥

—आकृत० १।१।१ १८।

२—ऊर्ध्वं प्राञ्चमुपपति, अपानं प्रत्यगापति ।

मध्ये वामनमासीनं निरवेक्ष्य उपासते ॥

—ऊपोपनिषत् ५।३।

३—वामनो ह विष्णुरास । ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य बन्दीमिरमितः
पप्यगृह्णन् ।

—शत १।१।५।३ ६।



६४८—'अवतार' शब्द का विष्णुदेवताजुगतत्त्व एवं विष्णु के पारिमायिक-अवतारधर्म का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

समस्त पात्रों को यह समझ देना कि, हमारे अवतार का सम्बन्ध विष्णु से ब्रह्मात्म्य का । अर्थात् एवं इन्द्रात्मक शिव की उत्पत्ति माना जा । वात वास्तव में देखी ही । इसलिए पात्रक मूलभाष्य के "यदा कदा हि बर्म्मस्य इत्यादि प्रकट में देखेंगे । कभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पड़ता है हमें कि—अवतार का मुख्य हेतु 'बर्म्मोऽनानि' का उपशम ही है । एवं बर्म्मोऽनान के पक्षान् अर्थात् विष्णुदेवता ही मानी गये हैं । बर्म्म एक स्वरूप निमित्त है (शत १।१।१।१५) । लक्ष्मिनिमित्त की प्रथम विधिसूक्ति "अपृत्य" है (शत १।१।१।३१) । अपृत्य ही लोभोत्पत्ति है यही विष्णु है । लोभोत्पत्ति के यहाँ चातुर्मय परमेश्वरब्रह्म के स्वरूप ब्रह्मात्मा है यहाँ लोभ ही की घटाकम्पाकृत अपृत्य के सम्बन्ध से इसे बाधण कहा जाता है । अपरिपक्व

कर्मोपपत्त तत्त्व ब्रह्म है अतस्तत्त्व में इसी की प्रधानता रहती है। परिपक्व नहीं पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। तत्त्व में इसी का आभास रहता है। अतस्त आधोमय वरुण का तत्त्व-परिपक्व-सोम भाग ही मर्ग है यही मर्म मन्त्र विष्णु है। यही वादय मण्डल से प्रकृत होकर आधोमय रूप में परिणत हुआ है। वृषदे शम्भो में-अधोमय-मर्मात्मक वादय धर्म ही सोममय विष्णुरूप से प्रकृत-होकर १ कर्मों में परिणत होता है। 'वराहं धर्मेणैव च' इस वराहधर्म स्माध धर्म का मौलिक रहस्य मर्ग के ने ही १ रूप है। 'इहो च वराहं धर्माय' के पौराणिक आश्रय का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म की प्रतिष्ठा विष्णु है अतः धर्म के उपरान्त में इसी की पूर्णरूप से अवस्था धर्मरूप में अवस्था अवस्था रूप से अवस्थाकृतानुसार अवस्था होता पड़ता है। पूर्वोक्त पाँचों अवस्था इसी विष्णु के निरुपाना है।

६४६-इशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूजावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय—

(१) स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पर्वों की समष्टि में पूजाभाव का उद्भावेय है। अतस्त्वेतद्वरुण-वराह-पति की पूर्णाता का किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ भय इसी पाँचों पर्वों को है। क्योंकि वराहवापति में पाँचों का समाह है अतः इसे अवस्था ही 'नित्य आधिकारिक-चेतन पूजावतार' का वाद या है। एकस्वरूपतम एक अक्षय्य ही इस का स्थापित्य है। ये ही पूजावतार गोक्षोदकामी भगवद्वासी गोक्षयवृद्धिप्राप्ता अतु नमिष [इन्द्रमित्र] श्रीपतिवत् आनन्दवत् गोविन्द भगवान् हैं अतः किष्कन्दस्वनिर्गुणकृष्ण में किष्कन्द से निकसित है। 'अही कर्मेश्वर पूजावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रमुक्ति कहती है—

विष्णो कर्माणि पश्यत यतो ब्रह्मनि पश्यते।

इन्द्रस्य पुन्यः सखा ॥

—श्रुतम् ० १८-२१६॥

६४७-‘पार्थिवेश्वर अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(१) इस कर्मेश्वर वराहपति के अन्तिम पञ्चात्मक स्वरूप से विराट् कर्म-वराह-वामन इन चार अवतारों का विभक्त हुआ है। भूपतिवत् वासी भुविषी, धीष्णवी पृथिवी-प्रेतवी भुविषी इन चारों की समष्टिरूप पार्थिव विभक्त ही विराट् की आकाशमयि है। अतएव इसे हम ‘पार्थिवेश्वर’ कह सकते हैं। यही 'नित्य आधिकारिक चेतन अक्षयवतार' कहा जाता है।

६४८-‘महीश्वर अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(१) विराट्प्रजापति का शिरःस्थानीय अन्तःस्थोमात्मक पार्थिव विभक्त 'मही' नाम से प्रसिद्ध है। विराट्प्रजापति कर्मप्रजापति का स्थापित्यवान् यह मही नामक पार्थिव विभक्त ही है। अतएव इसे 'महीश्वर'

कहा जा सकता है। क्योंकि मही नामक पार्ष्वि विषय [ऐश्वरी प्रियिनी] बुलाक स्थानीय है। अतएव इसे 'नित्यआधिकारिक चेतन विषय अवयवत्ववतार' कहा जायगा।

६५२-‘सामाराम्बरस्वर अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[४] विराट्प्रजापति का हृदयस्थानीय ३९ स्तोमात्मक पार्ष्वि विषय “सागराम्बर” नाम से प्रसिद्ध है। विराट्प्रजापति का हृदयप्रजापति का व्यापित स्थान-सागराम्बर नामक वही पार्ष्वि विषय है। अतएव इसे सामाराम्बरस्वर कहा जायगा। क्योंकि सागराम्बर नामक पार्ष्वि विषय (वैष्णवी प्रियिनी) अन्तरिक्ष-स्थानीय है। अतएव हृदयस्थानीय वराहकण्ठ को—‘नित्य आधिकारिक चेतन आन्तरिक्ष अवयवत्ववतार’ कहा जायगा।

६५३-‘उर्ध्वीस्वर अवतार’ का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[५] विराट्प्रजापति का हृदय-स्थानीय २१ स्तोमात्मक पार्ष्वि विषय ‘उर्ध्वी’ नाम से प्रसिद्ध है। विराट्प्रजापति का वामनप्रजापति का व्यापितस्थान उर्ध्वी नामक पार्ष्वि विषय ही है। अतएव इसे उर्ध्वीस्वर कहा जायगा। क्योंकि उर्ध्वी नामक पार्ष्वि विषय [आशीपयिनी] प्रियिनी-स्थानीय है। अतएव उक्त व्याप्त वामनाक्षर “नित्य आधिकारिक चेतन पार्ष्वि अवयवत्ववतार” कहा जायगा।

६५४-विराट्प्रजापति के अवयवत्ववतारों का स्वरूप-संस्मरण—

अवयव और अंश में कुछ अन्तर है। वह भी जान लेना चाहिए। अंश का प्रत्यक्ष से सम्बन्ध है एवं अवयव का अस्मिन् से सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म के पुत्र पिता का अंश है एवं पिता के हस्त-पिण्ड-माता पिता के अवयव हैं। विराट्प्रजापति प्रत्यक्ष रूप से एक स्वतन्त्र संस्था बन जाती है। अतएव इसे प्रजापतिविषय के मर्म में अस्मिन् रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इसे अवयवत्ववतार कहा जायगा। अंशत्ववतार वह अवयव है। दोनों अवयवत्ववतार विराट् के अवतार हैं।

६५५-चेतन अचेतन मेदनिष्ठान्न-अवतारों का स्वरूप-समन्वय—

अस्मिन्नी-इति से वे ही पाँचो चेतन अवतार हैं भूतल से शरीररूप पाँचों की प्रत्यक्ष संस्मरण अवयवत्ववतार हैं। एवं अचेतन-अस्मिन् के मौलिक नित्यरूप ही अचेतनत्ववतार हैं। इत्यन्तर इन निम्न-लिखित चारों के तीन विषय हो सकते हैं। इनके अन्तर सामयिक आधिकारिक अवयव हमारे सामने आता है। इनके भी वे ही तीन विषय हैं। ॥ शरीरों में इनके स्वरूप की भी योजना कर ली है।

६५६-सामयिक-अवतारों का पारिमायिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक आधिकारिक बीच से बीच माने जायेंगे जो समय समय पर विरोध परिचितियों में विरोध व्यवहार कर अवयवत्ववतारों द्वारा करते हैं एवं अविरोध कर्म की समाप्ति पर शीतलत्ववतार कर निष्का करते हैं। इन अव-

किं आधिकारिक जीवों के भी चतन अचतन अद्वैतन भ" से चीन विवरा है। चीनों में से कमप्रान्त पक्षो चतननग को ही लीधिये।

६४७-गोमययज्ञाधिष्ठाता पारमष्ठ्य विष्णु क अवतारों का नाम-संस्मरण—

[१] विन नित्यावतार अवतारों का पूर्व में विगृह्यन करया गया है उन पाँचों ही नित्यावतारों के अमयिक अवतार भी हुए हैं। समुद्रमन्थन के अवसर पर कूर्मावतार [कूर्माकृतिरूप] हुआ है। बलप्रलयावसर पर वृषिब्रह्म की रक्षा के लिए शूक्रावतार हुआ है। बलिगवह्वरन के लिए बामन अवतार हुआ है। अतो-बाकर पूर्वोक्त नित्यावतारों के १ अचान्तन विवरा होजात हैं जोकि 'वशावतन' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों ही अवतार उक्त पूर्णावतार-लक्षण यज्ञप्रभापति-नामक गोमययज्ञाधिष्ठाता विष्णु [१ षष्ठ] के ही अवतार हैं।

६४८-सामयिक-दशविध अवतारों का नामस्मरण, एवं 'सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य अवतार-जीवों का पारिमायिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक अवतारों में मीन कूर्म बरह, बामन बलराम परशुराम राम बुद्ध कम्की वृद्धि ये १ अवतार प्रसिद्ध हैं। यह एक रहस्य का नियम है कि इन १ ही अवतारों में सुप्रसिद्ध कृष्णावतार का नाम नहीं है। कारण इस का वही है कि वही अवतार उक्त कूर्ममूर्ति यज्ञप्रभापति पूर्णावतार के ही का शावतार हैं। एवं बाहुदेव कृष्ण इस पूर्णावतार की ही प्रतिइति हैं। नित्यावतारों में जो महत्त्व उक्त यज्ञप्रभापति का है समयिक अवतारों में बाहुदेव कृष्ण का वही स्थान है। दोनों अभिन्न हैं। पूर्णावतारलक्षण यज्ञप्रभापति के स्वकम्प-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-वृषिबी ये पाँच पर्व हैं। "अर बाहुदेव कृष्ण नामक सामयिक अवतार-पुराण में भी वे पाँचो वर्म प्रतिष्ठित हैं। विन की कि विलुत मीमत्ता मानुषोत्तमकृष्णरहस्य में की बाहुकी है। यही कारण है कि-अन्त अवतार वहाँ अशावतार कहलाए हैं वहाँ कृष्णावतार 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के अनुसार पूर्णावतार कहलाए हैं। अतएव परममागत श्रीबयदेव ने वही अवतारों की कृष्णाकृति-का ही रूप ही कहाया है। "बामुद्ध" सर्वमिति स महात्मा सुगुर्लभ" करते हुए स्वयं गीतावार्थन मी बाहुदेवकृष्ण की स्मरणया पूर्णावतारका ही सिद्ध की है। बह्मचार यही है कि "बहुनि ये क्वन्तीवामि जन्मानि" के अनुसार समय समय पर विशेषरूप धारण कर वर्मालानि के उपशम के लिए कर्म धारण करते वाले राम-कृष्ण-मानुषावतार, मीन-कूर्मादि बलीय अवतार, वृद्धि पञ्चीयव आदि अर मानुषावतार हुआ करते हैं। ये ही 'सामयिक चतन आधिकारिक जीव' कहलाए हैं।

६४९-मागीरपी शालग्रामशिला आदि के सामयिक-अवतारों का का स्वरूप-संस्मरण—

(२) वृषप विभाग सामयिक अचेतन आधिकारिक जीवों का है। गङ्गा यमुना सरस्वती सरयू, आदि सिन्धुनदियाँ शालग्रामशिला आदि अचेतन आधिकारिक जीव माने जायेंगे। गङ्गाकातर मागीरप के प्रयाग से सगरपुरी के उद्धार के लिए हुआ था। पुराण के मतानुसार कलि के ५ सहस्र वर्ष पर्यन्त गङ्गातत्व भूमिगड पर प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १६५५ में यह तत्व कीलार्थवशय कर गया। यही इस की सामयिकता है। शालग्रामशिला का माहात्म्य कलिके १ सहस्रवर्षों पर्यन्त रहेगा। अतएव वह अचेतनावतार मी सामयिक अवतार ही माना जाक्या।

६६०-दिव्योपधि-दिव्यवनस्पति-आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण—

(१) शीघ्र विभाग सामयिक अर्द्धचेतन आधिकारिक बीजों का है। पुण्डी, नेमकल्ली, आदि कतिपय दिव्य आधि-वनस्पतिक सामयिक अर्द्धचेतन अवतार माने जायेंगे। “चेतार्थ बहुधा सम्प्रतानि के अनुसार वेदायुग में प्रचलित परीक्षित से परीक्षित पर्यन्त (शत या) संवत्ति वर की विधि के लिए ही उक्त नित्य अर्द्धचेतनरूप योग का अवतार हुआ था। यद्यपिआविष्टादि के साथ साथ इस सामयिक नेमकल्ली का भी सीत्तासंवरण होगया। इसी आधार पर इसे हमने सामयिक अर्द्धचेतन अवतार कहा है।

६६१-आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के शिथिल ६ वर्गों का तात्त्विक स्वरूप-निर्द्धारन—

इसप्रकार आधिकारिक आरब्धतत्त्व इन दो बीजवर्गों में से पहिले आधिकारिक बीजवर्ग के नित्य-सामयिक मेर से दो मेर होते हैं प्रत्येक के अगले आकर तीन तीन विभाग होबसते हैं। सम्मन् आधिकारिक वर्ग के ६ विभाग होबसते हैं जैसाकि परिलोक से स्पष्ट है—

- १-१-नित्य आधिकारिक आर्द्धचेतनबीजा [यत्, विरट्, कूर्म, बराह, बभ्रु, अभिमानिनः]
 १-२-नित्य आधिकारिक अर्द्धचेतनबीजा [यत्, विरट्, कूर्म, बराह, बभ्रु, मीतिना]
 १-३-नित्य आधिकारिक अर्द्धचेतनबीजा [अरब्धतत्त्व, योग — “स्वाध्याय मतिनाः] ।



- २-१-सामयिक आधि चेतनबीजा [मीन, कूर्म, बराह, बभ्रु, रामः — “स्वाध्याय”] ।
 २-२-सामयिक आधि अर्द्धचेतनबीजा [गङ्गा, यमुना, सरस्वती, याम्यप्रम] ।
 २-३-सामयिक आधि अर्द्धचेतनबीजा [नेमकल्ली अन्ये च दिव्यरूपाः] ।



६६२-नित्य आरब्धतत्त्व-बीजों का पारिमायिक-स्वरूप-निर्द्धारन—

शुद्ध विभाग आरब्धतत्त्व बीजवर्ग का है। कर्मावस्थायी ही आरब्धतत्त्व बीज कहलाता है। इस आरब्धतत्त्व बीज के भी नित्य-सामयिक मेर से दो विभक्त हैं। प्रत्येक के पूर्वार्ध तीन तीन विभक्त हैं। बहिले नित्यवर्ग को ही सीत्तिष्ट। बाल्यप्रवृत्ति में रहने वाले तीव्र शरीरधारी [ईश्वरीय आधिपतिक मरहट से सम्मन् रहने वाले] ब्रह्म-ब्रह्मसि-हृन्-तिर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच के आठ देवदेवियाँ बभ्रु-मृत्पुत्रक में उदा के लिए प्रवर्धित मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि और आदि पार्थिव बीज के रूप “नित्य आरब्धतत्त्व चेतन बीज कहलायेंगे। प्रतिबंधरूप में ही वे उक्त होते।

६६३-विमिश्र-सामयिक आरवर्तियक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

तमोमय कर्मवृत्त जी-गर्ह-निम्ब-नारिकेल-मृदुर-तालादि रूपों में परिणत जीवमि वनस्पतिवर्ग 'नित्य आरवर्तियक अचचेतन जीव' कहलाये गे। एवं पार्थिव सामान्य लोठ-लोहादि वर्ग 'नित्य आरवर्तियक अचचेतन जीव' माने जायेंगे। इन लक्षण-नित्य देवयोगियों की उपासना से तत्त्वबोधोन्मुखों में परिणत तत्त्वज्ञानि देववर्ग योगब्रह्म होने में शानीयकुल किंवा सम्प्राप्तकुल में उत्पन्न निम्ब मनुष्य, उर्ध्व मन्वा आदि दिम्ब पशु पक्षी निम्बलपार्थि से तत्त्व सामयिक आरवर्तियक चेतनजीव कहलायेंगे। मेखरहपक्षी नामक दिम्ब पक्षी आब कहा है। मेखरह का आब नाम भी नहीं सुना जाय। उर्ध्व मन्वा आब कैवल्य सिद्धि की वस्तु रह गया है। मेमाथ नामक दिम्ब गन्ध की कीर्षि ही शेष रह गई है। इन्हीं सब कारणों से इन आरवर्तियक चेतनजीवों को हमने सामयिक कहा है। आरवर्तिय में उपपरिणत कल्पिय 'निम्ब जीवमि-वनस्पतिवर्ग (जो आब विरुद्ध होचुकी है) सामयिक आरवर्तियक अचचेतन जीव मानी जायेंगी। दिम्बपाद (मुक्ता-रक्त-स्फटिकादि माणिक्यवयव) सामयिक आरवर्तियक अचचेतन जीव माने जायेंगे।

६६४-नित्य, तथा सामयिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य-अनुपास्य की व्यवस्था—

इन ६ वर्गों में नित्य चेतन जीवों में से देवयोगिवर्ग ही उपास्य है नित्य मनुष्यादि चेतनवर्ग, एवं अचेतन अचचेतनवर्ग अनुपास्य है। सामयिकों में सामयिक के तीनों वर्ग उपास्य हैं। इन्हीं प्रकार आधिभौतिक जीववर्ग भी मति इस आरवर्तियक जीववर्ग के भी ६ ही विभाग होजाते हैं जैसाकि परिक्षेक से स्पष्ट है—

१-१-नित्या-आरवर्तियका चेतना (नित्यदेवचेतनवः प्राथमिकीभाष्य)।

२-२-नित्या- " अचेतना (तामान्यलोठलोहादिचातवः)

३-३-नित्या- " अचचेतना (वन-गोघृमादिवर्गा)

४-४-सामयिका- " चेतना (कर्मदेवचेतनवः तत्त्वज्ञानिनी मनुष्याः दिम्बजीववर्ग)।

५-२-सामयिका- " अचेतना (स्फटिक-मुक्ता-रक्तवर्ग-दिम्बपादवः)

६-६-सामयिका- " अचचेतना (आरवर्तियदेवता-निम्बजीववयः-वनस्पतयः)।

६६५ उपासनामंत्रों का स्वीकृति-प्रयास—

पाठकों की स्मरण होजा कि-उपासनामंत्रों का उपास्यमेदी से प्रत्यक्ष करण करते हुए हमने वर्गीकरण किया था। वहाँ का वर्गीकरण अग्राह्य था। यहाँ उक्त स्वीकृति कर लीजिए।

६६६-उपामनानुगता अभिस्तरभग्यादा की व्यवस्था—

नित्यचरित्तन इत्यादिवाचिक यज्ञप्रज्ञापति नित्यप्रचरित्तन ब्रह्मा मयः पितृभ्यः नित्यं ब्रह्म वेत्तुं शक्नोति के
मास्तिकरूप ब्रह्म चरित्तन मोक्षार्थि कतिपय परिगणितं को बलवन्तिषो ब्रूयन्ती उपान्ता वा यज्ञप्रज्ञापति
त्युपामाना से सम्पन्नः । एवं ब्रह्मा कश्चिद्वार एकमात्र शास्त्रज्ञ दिव्यतियग का ही है ।

६६७-उपासमानुषधी तथ्यों का वर्गीकरण आत्मिक समन्वय, एवं पञ्चम-अवन्तर-प्रकरण का उपराम—

नित्य चतन आधिकारिक विराट् कूर्म बराह वामनप्रजापति नित्यचतन विराट्-कूर्म-बराह-
वामनरूप पार्ष्णि विश्व नित्यचतन चतन सेमादि के पारिविक्रम क्रमविक्रम क्रमविक्रम सेमादि कतिपय
परिगणित आयोग वनस्पतिर्वा इनकी उपासना का विरुद्धवास्तुशास्त्र से सम्बन्ध है। "तथा आधिकार
मी शास्त्र विवक्षितवर्ग को ही है। क्रमविक्रम चतन वराहविष आचारा, क्रमविक्रम यज्ञ-शास्त्रमादि अथचतन
अचारा, क्रमविक्रम दुल्लो-अस्त्व्यादि अथचतनाचारा, नित्यचतन आरविक्रम अथविष देवसेनिनी
क्रमविक्रम चतन आरविक्रम चतनविषादि क्रमविक्रम चतन विष्व मनुष्य पशु पक्षी-हृमि-श्री क्रमविक्रम
अथचतन विष्व-श्रीविष वनस्पतिर्वा क्रमविक्रम अथचतन विष्ववास्तुमय मन्त्रान् की प्रतिमाई इन लक्ष्य
विश्वप्रजापत्युपासना से सम्बन्ध है। एतद् बरी प्रकृत प्रकरण की वत्त मान्युगसम्बन्धिनी उपासना है। इत्ये
देवसेनिनी की उपासना का अधिकार वा विवक्ष्युची की है। एतद् श्रेय उपासनाई त्री-शुद्धर्म से सम्-
बन्ध रखती है। वैज्ञानिक पूर्व में यह विश्वास था। सामन्तरव सतीर्तन अथवाक्यावकाश तीर्थमन्त्र
अथवा, आदि मातों का भी इही विश्वप्रजापत्युपासना में अन्तर्भाव है। यही अथवाक्यावकाश तीर्थमन्त्र मन्त्रि-
माना है। इत्ये मी हम अपना अन्तर्भाव कर सकते हैं। श्रीर यही वर्तमानयुगालुगव उपासनामन्त्र
वर्तमान इतिहास है।

इति--'पुण्यसम्यानुगता-विविधोपासना' नामके चतुर्थप्रकरणे

“वर्तमानयुगानुगता-भूतोपासना”

नामपङ्क

पञ्चम-अध्याय-प्रकरण-उपरत

4

श्रीः

इति-“युगधर्मानुगता-विविधोपासना” नामके चतुर्थप्रकरणे

“वर्तमानयुगानुगता-मृतोपासना”

नामक

पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

५

प्रतिमा, जन, और उपासना

परिशिष्ट—प्रकरण

१-निर्गुण-सगुण विकार-अज्ञान-आवरण-परिग्रह-निवन्धना पञ्चविध-उपासनाओं का संक्षेपस्वरूप-समन्वय—

युगधर्मों की अपेक्षा से शान्तिमेव की अपेक्षा से उत्पत्त्य-देवता के भेद की अपेक्षा से एवं उपासक की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में जिससे भेद सम्भव है उनका पूर्व के पाँच अध्यायों में क्रमशः निरूपण किया जा चुका है। पूर्वपक्षिपादित उन अध्यायों में उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना सगुणोपासना विकारोपासना अज्ञानोपासना आवरणोपासना इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में ही अन्तर्भाव है।

२-ज्ञान ध्यान-कर्मफलत्याग अभ्यास, कर्मफलपरिग्रहण-मृता अभ्यय-पोदशी-पञ्च विराट्-विरव-माधनिध-धना उपासना के सात्त्विक पाँच विधियों का स्वरूप-समन्वय—

पाँचों ही मार्ग शान्तिसम्पन्न हैं। इस में तो कोई संदेह नहीं, बल्कि उक्त-प्रकरणों में खप्रमाण प्रकाशित किया गया है। साथ ही वही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अधि-कारी हुए हैं एवं सभी युगों में उपासक के शारवत पाँचों रूप निरूपित हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों ही मार्ग प्रवर्तित हैं। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। वैष्णवयुगमें जानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही। ब्रह्मयुग में ध्यानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य था। त्रेतायुग में कर्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रमुख रहा। क्षत्रयुग में अज्ञानलक्षणा अज्ञानोपासना मुख्य रही एवं कलियुगमें कर्म-फल-परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का प्राधान्य रहा। ज्ञान-ध्यान-कर्मफलत्याग-अभ्यास-कर्मफलपरिग्रह ये पाँच भाव ही क्रमशः अभ्यय-पोदशीप्रजापति (अक्षर) यज्ञप्रजापति (आमक्षर) विराट्प्रजापति (विकारक्षर) विश्वप्रजापति वैष्णविक प्रपञ्च) इन पाँच उपासनाओं के मूलाधार हैं।

३-ज्ञानी विद्वान् अर्थार्थी, आर्ष-मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारी-भेद-मिश्र विधियों का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रजापति की उपासना का अनुवायी कर्मफलसे युक्त उपासक “अर्थार्थी” कहलाया। विराट्प्रजापति की उपासना का अनुवायी अध्यासमार्गासक्त उपासक “अर्थार्थी” कहलाया। यज्ञप्रजापति की उपासना का अनुवायी कर्मफलत्यागसुक्त उपासक एवं पोदशीप्रजापति की

श्री

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे
“युगवर्म्मानुगता-विषय-उपासनायै”

नामक

पञ्च-प्रकाश-प्रकरण-समूह-

चतुर्थ-प्रकरण-उपरत

४



श्री

अथ—भक्तियोगपरीक्षायां—पूर्वखण्डे
“प्रतिमापूजन, और उपासना”

नामक

* “परिशिष्ट—प्रकरण”



श्रीः

प्रतिमा, जन, और उपासना परिशिष्ट—प्रकरण

१-निर्गुण-सगुण-विकार-अज्ञान-आवरण-परिग्रह-निबन्धना पञ्चविध-उपासनाओं का संकलनात्मक स्वरूप-समन्वय—

युगजन्मों की अपेक्षा से शान्त्वमेव की अपेक्षा से उपास्य-वैषा के मे- की अपेक्षा से एवं उपास्य की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में कितने मे- सम्भव हैं, उनमें पूर्व के पाँच अन्तर-प्रकारों में क्रमशः निरूपण किया जा चुका है। पूर्वप्रतिपादित उन अन्तर सभी उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना सगुणोपासना विकारोपासना अज्ञानोपासना आवरणोपासना इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में ही अन्तर्भाव है।

२-ज्ञान-ध्यान-कर्मफलत्याग अभ्यास, कर्मफलपरिग्रहण-मूला अभ्यस्य षोडशी-पञ्च विराट्-विश्व-माधनिबन्धना उपासना के तार्किक पाँच विषयों का स्वरूप-समन्वय—

पाँचों ही मार्ग शास्त्रसम्मत हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं, केनापि तत्त्व-प्रकरणों में समभाव कला दिया गया है। साथ ही वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अवि-कारी हुए हैं एवं सभी युगों में उपास्य के शास्त्रत पाँचों रूप निर्योक्त हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों ही मार्ग प्रचलित थे। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। वेद्युगमें ज्ञानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही अतएव में ज्ञानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य रहा। वैद्युग में कर्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रधान रहा। अतएव में अज्ञानलक्षणा अज्ञानोपासना मुख्य रही एवं अतियुगमें कर्म-फल-परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का प्रधान्य रहा। ज्ञान-ध्यान-^३ कर्मफलत्याग-^४ अभ्यास-^५ कर्मफलपरिग्रह से पाँच मार्ग ही क्रमशः अभ्यस्य षोडशीप्रज्ञापति (अन्तर) यज्ञप्रज्ञापति (आत्मद्वार) विराट्प्रज्ञापति (विकारद्वार) विश्वप्रज्ञापति (वैकारिक प्रपञ्च) इन पाँच उपा-सनों के मूलाधार हैं।

३-ज्ञानी त्रिंशत्सु अघार्थी, आर्ष-मानवानुषङ्गिनी उपासना का अधिकारी भेद-मिश्र विषयों का स्वरूप दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रज्ञापति की उपासना का अनुयायी कर्मलोकेषु उपासक “आराधितः” कहलाया। विराट्प्रज्ञापति की उपासना का अनुयायी अष्टात्ममार्गीक उपासक “अघार्थीभक्त” कहलाया। यज्ञप्रज्ञापति की उपासना का अनुयायी कर्मलोकप्राप्तुम् उपासक एवं षोडशीप्रज्ञापति की

उपाख्या का अनुपायी ध्यानानुगत उपाख्य से दोनों जिज्ञासुभक्त कहलाए, एवं निगुण ब्रह्मधरमा की उपाख्या के अनुपायी राजानुगत उपाख्य “शान्तीभक्त” नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसाकि पृथ्वरूपों में स्पष्ट किया जा चुका है।

४-आत्मकामभूता अभ्ययोपामना निष्कामभूता पादशीघ्रप्राप्त्युपासना, इष्टकामभूता यत्न विराट्पामना, एवं कामभूता विश्वोपामना का पारिमायिक-समन्वय—

[illegible]

५-बैराग्यबुद्धियोगात्मिका अभ्ययापासना षष्ठ्यबुद्धियोगात्मिका षोडशीप्रज्ञापन्थु
पामना, सप्तमबुद्धियोगात्मिका विंशत्प्रज्ञापन्थुपामना, एवं ज्ञानबुद्धियोगात्मिका
अष्टकोपामना का पारिभाषिक-समन्वय, तथा गीता क माध्यम स उपामना अनुष्ठान
में शक्तिविभाग-व्यवस्थापन —

नीच की दृष्टि से इन उपासनामार्गों का वर्गीकरण कीजिए। अथवा शुद्ध ज्ञान मंत्र उपासनामार्ग
 का वर्गीकरण परात्मबुद्धियांग (बुद्धिआंग) कहा जायगा। गच्छी अनुगत उपासनामार्ग का मंत्र-
 शिवांग परात्मबुद्धियांग (अविद्यांग) कहा जायगा। मन्त्रकार बन्धुगत उपासनामार्ग का मन्त्र मन्त्र
 मन्त्र बुद्धि बन्धुगत (बुद्धिआंग) मन्त्र मन्त्र मन्त्र उपासना) का अन्तःशिवानुगत परात्मबुद्धियांग (बुद्धि-
 आंग) माना जायगा तथा इसी उपासना का योगमन्त्र देवमन्त्रमन्त्रमन्त्र ज्ञानमार्ग (योगमन्त्र
 मन्त्र मन्त्र मन्त्र उपासना) की मन्त्र उपासना। ज्ञानबुद्धियांग (ज्ञानमन्त्र) का ज्ञानमन्त्र। इसी
 मन्त्र से यह भी किष्ट होगा कि मन्त्रमन्त्रमन्त्र मन्त्रमन्त्र बुद्धिमन्त्र का बुद्धिमन्त्र मन्त्रमन्त्रमन्त्र-
 मन्त्रमन्त्रमन्त्र ज्ञानमन्त्र इन आर मन्त्रों का पूर्वशक्ति मन्त्र मन्त्र मन्त्र १-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१००-१०१-१०२-१०३-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९-११०-१११-११२-११३-११४-११५-११६-११७-११८-११९-१२०-१२१-१२२-१२३-१२४-१२५-१२६-१२७-१२८-१२९-१३०-१३१-१३२-१३३-१३४-१३५-१३६-१३७-१३८-१३९-१४०-१४१-१४२-१४३-१४४-१४५-१४६-१४७-१४८-१४९-१५०-१५१-१५२-१५३-१५४-१५५-१५६-१५७-१५८-१५९-१६०-१६१-१६२-१६३-१६४-१६५-१६६-१६७-१६८-१६९-१७०-१७१-१७२-१७३-१७४-१७५-१७६-१७७-१७८-१७९-१८०-१८१-१८२-१८३-१८४-१८५-१८६-१८७-१८८-१८९-१९०-१९१-१९२-१९३-१९४-१९५-१९६-१९७-१९८-१९९-२००-२०१-२०२-२०३-२०४-२०५-२०६-२०७-२०८-२०९-२१०-२११-२१२-२१३-२१४-२१५-२१६-२१७-२१८-२१९-२२०-२२१-२२२-२२३-२२४-२२५-२२६-२२७-२२८-२२९-२३०-२३१-२३२-२३३-२३४-२३५-२३६-२३७-२३८-२३९-२४०-२४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४-२५५-२५६-२५७-२५८-२५९-२६०-२६१-२६२-२६३-२६४-२६५-२६६-२६७-२६८-२६९-२७०-२७१-२७२-२७३-२७४-२७५-२७६-२७७-२७८-२७९-२८०-२८१-२८२-२८३-२८४-२८५-२८६-२८७-२८८-२८९-२९०-२९१-२९२-२९३-२९४-२९५-२९६-२९७-२९८-२९९-३००-३०१-३०२-३०३-३०४-३०५-३०६-३०७-३०८-३०९-३१०-३११-३१२-३१३-३१४-३१५-३१६-३१७-३१८-३१९-३२०-३२१-३२२-३२३-३२४-३२५-३२६-३२७-३२८-३२९-३३०-३३१-३३२-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७-३३८-३३९-३४०-३४१-३४२-३४३-३४४-३४५-३४६-३४७-३४८-३४९-३५०-३५१-३५२-३५३-३५४-३५५-३५६-३५७-३५८-३५९-३६०-३६१-३६२-३६३-३६४-३६५-३६६-३६७-३६८-३६९-३७०-३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६-३७७-३७८-३७९-३८०-३८१-३८२-३८३-३८४-३८५-३८६-३८७-३८८-३८९-३९०-३९१-३९२-३९३-३९४-३९५-३९६-३९७-३९८-३९९-४००-४०१-४०२-४०३-४०४-४०५-४०६-४०७-४०८-४०९-४१०-४११-४१२-४१३-४१४-४१५-४१६-४१७-४१८-४१९-४२०-४२१-४२२-४२३-४२४-४२५-४२६-४२७-४२८-४२९-४३०-४३१-४३२-४३३-४३४-४३५-४३६-४३७-४३८-४३९-४४०-४४१-४४२-४४३-४४४-४४५-४४६-४४७-४४८-४४९-४५०-४५१-४५२-४५३-४५४-४५५-४५६-४५७-४५८-४५९-४६०-४६१-४६२-४६३-४६४-४६५-४६६-४६७-४६८-४६९-४७०-४७१-४७२-४७३-४७४-४७५-४७६-४७७-४७८-४७९-४८०-४८१-४८२-४८३-४८४-४८५-४८६-४८७-४८८-४८९-४९०-४९१-४९२-४९३-४९४-४९५-४९६-४९७-४९८-४९९-५००-५०१-५०२-५०३-५०४-५०५-५०६-५०७-५०८-५०९-५१०-५११-५१२-५१३-५१४-५१५-५१६-५१७-५१८-५१९-५२०-५२१-५२२-५२३-५२४-५२५-५२६-५२७-५२८-५२९-५३०-५३१-५३२-५३३-५३४-५३५-५३६-५३७-५३८-५३९-५४०-५४१-५४२-५४३-५४४-५४५-५४६-५४७-५४८-५४९-५५०-५५१-५५२-५५३-५५४-५५५-५५६-५५७-५५८-५५९-५६०-

*-निगमागवशरानुमाप्ति-प्रतिपादयता क मयन्वय स उतागता क पदवि-
रिण पर उनस्य व्यवस्थानुगत-व्यव मयन्वय—

[illegible]

संज्ञित न आति लौकिक (पौरुषिक) प्रकारों का अनुगमन करना ४-५-वीं वर्ग के उपासनामार्ग हैं । इन दोनों मार्गों में कर्मफल पर विशेष दृष्टि है । इन दोनों मार्गों से उत्कृष्टा-कर्मनिष्ठा है कर्म से उत्कृष्टा मक्तिनिष्ठा है सर्वोत्कृष्टा बुद्धियोगनिष्ठा है । इस प्रकार बुद्धियोग कर्मयोग ज्ञानयोग गिद्धयुपासना अथवा-प्रथमा-तीर्थायुपासना-मार्ग से उपसना के ६ विध हो जाते हैं । इन ६ वीं विधों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में ही अन्तर्भाव है यैसाकि परिकेस से स्पष्ट है ।

१-निर्गुण-अव्यय (१)-बुद्धियोग-वैराग्यबुद्धियोग

२-पोडशी (२)—- मक्तियोग-एश्वर्य्यबुद्धियोग

३-यज्ञेश्वर (३)—-कर्मयोग-धर्मबुद्धियोगः

४-यज्ञेश्वर (४)—-ज्ञानयोग-ज्ञानबुद्धियोगः

५-विराट् (५)—-इष्टयोग-मनोयोगः

६-विष्णु (६)—-कामयोग-सन्निप्रमनोयोग



७-गीताशास्त्र की वैराग्यबुद्धियोगात्मिका आत्मकामोपासना का सर्वाधिकारानुगतित्व-निबन्धन भावभौमत्व, एवं तदपेक्षया गीताशास्त्र के इत्यंभूत 'आत्ममक्ति' तत्त्व की सर्वोपरिकता का रहस्यपूर्ण मन्त्रवय—

()— काम-निष्क्रम इहकाम-आति कामवादी से एकान्तत वृत्त रखते हुए, अहं एवं इह में कोई में न समझते हुए मारुतर्ष में रहने वाली बर्णाश्रम-वर्मानुयायिनी मारुतीय प्रजा (आत्मा) अपने अपने अनेक अविहृत कर्मों में बाधवर्जीवन प्रतिष्ठित रह मारुतर्ष में रहने वाले अत्यन्त अस्वावलदी हुएवारी वस्तु, अथवावावादी श्लोक ईसाई पारसी मुसलमान ब्रह्ममादी मारुतर्षेश्वर वेशों में रहने वाले जीनी बावानी बर्मी युरोपियन बर्मान अथवा रेफन प्रश्नीनी इत्यादिपन दुर्धी कजी आदि आति समस्त भूमवृद्ध के मनुष्य अपने अपने सामाजिक देशिक राष्ट्रीय भक्तिगत निबन्धनियमों पर हट रखते हुए आत्मकाममात्र से याबागजीवन स्व स्व कर्मों में प्रतिष्ठित रहें यही पक्षिता वैराग्य-बुद्धियोग मार्ग है । इस प्रणाली से गीता का यह बुद्धियोगधर्म भावभौमधर्म बना हुआ है । इसी दृष्टि से गीता मारुतीय-बर्णाश्रमानुगत प्रजा के साथ साथ समस्त मानववर्ग का भी अत्युत्पन्न कर रही है । यही गीताज्ञान (बुद्धियोग) की सर्वोपादेयता एवं सार्वव्यापकता है । इस योग का एक ही समानाधिकार है । आत्ममात्र-पूर्वक स्वकृतव्य में यावजीवन लगे रहना (फिर चाहे वह कृतव्य शेषशुक्त ही क्यों न हो) ही बुद्धियोग का निरर्थक है । हाँ प्रत्येक दशा में यह तो लक्षण में रखना ही होगा कि, बर्णाश्रम का स्वकृतव्य शास्त्रनिष्ठ अविहृत कर्म ही होगा । उल्टे ही इस बुद्धियोगमार्ग में भी शास्त्रनिर्दिष्टमार्ग का ही अनुगमन करना पड़ेगा । इतर व्यक्ति शास्त्रीय मार्ग में अनविहृत होते हुए अपने अपने दिशबन्ध-कुशाधर्म आदिधर्म का अनुगमन करते हुए सर्वभूता समानात्मिका समानात्मिका से ही मुक्त होसकेंगे ।

८-सार्धमामसिद्धान्तव्यवस्थापक मी गीताशास्त्र के द्वारा भारतदेशनिबधना द्विजाति-प्रभानुबन्धिनी प्रातिम्विकी शास्त्रमूला-गोडशीप्रजापति' की मक्ति का रास्परूत समन्वय—

यही कारण है कि वही मगधान् "त अनन्वययोग के सम्बन्ध में—'यऽपि सु पापयोनयः — "अपि यन् सुदुराचाः" करते हुए उनके शास्त्रविद्वत् कर्मों की मी अनन्वयप्रयोगात्तर बुद्धियोग-के उपाये से उत्तम मान रहे हैं वही कर्माप्रका के सम्बन्ध में— तन्माप्स्यस्य प्रमाणं त" वही निष्कर्ष लगा रहे हैं। इसी कारण के आधार पर बुद्धियोग के सम्बन्ध में वह कहा जाचका है कि, यह माय रास्त्र निर्णय के हस्त कर्माप्रका का अनुपपन्न करता हुआ आत्मानन्वय के उपरान्त के द्वारा इतर मानव ज्ञान के अनुपपन्न का मी उपदेश है खा है।

—१—

९-एकवर्णबुद्धियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणित सर्वोद्धारप्रजापति, एवं मप्रत्यय-अप्र ८-मेद-निबधना-स्त्री-शूद्रानुगता उपासना का द्वैविध्य—

(१)—एकवर्णबुद्धियोगात्मिका मक्ति का स्वरूप उत्तररथर में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वही उत्तररथरवि के लिए वही जान लेना पर्याप्त होगा कि सर्वव्यापक (मायामय बहुव्यक्त्यात्मक अस्तव्यस्त व्यापक) ईश्वर का सर्वोद्धाररूप से व्यक्त करते हुए ही अपने अविद्वत् कर्मों का एकाग्र प्रयत्न कनसते हुए अविचारित कर्मानुसार स्व-स्व कर्मों में बाधधीन प्रवृत्त रहना ही गीता का मकियाग है। "त मक्ति का अविचार एकाग्र ब्रह्ममयमनुयायिनी भारतीय-प्रजा की ही है। कारण-अविचाररूप से वही ईश्वर का लक्षण करने में समर्थ हुई है। "त सम्बन्ध में मी शूद्रवर्ग के लिए अविचार का विधान जिनों ही की दृष्टि में अनुनिग है जिनमें ही साम्प्रदायिक "अं नमा मगवते बभूवदेवाय" "अं नमो नारायणाय" इत्यादि रूप से शूद्र की मी अग्रतः समाप्त मन्त्र की दीक्षा का विधान करते हैं।

—२—

१-निष्काम-सकाम-भावापना यज्ञप्रजापतिमूला यज्ञ-विराडुपासना का अन्यतम अधिकारी सावित्री-मंस्कार-युक्त भारतीय द्विजाति-मानव, एवं तत्र स्त्री शूद्र-वर्ग का अनधिकार—

(१)—राजकीय निष्कामध्यान से वैदिक यज्ञधर्म में लोभाम्युपवर्णना की दृष्टि से) प्रवृत्त रहना ही गीता का कर्मभोग है। "तत् अविचार एकाग्र विद्यायुक्त द्विजातिवर्ग की ही है। स्त्री-शूद्र-विद्वत्-कृषुर्गों की हत का सर्वथा अनधिकार है। क्योंकि "त के अग्रता में विषयवाक्यमंस्कार के बाह्य कर्म का कर्म से ही अग्रता है। इसीलिए "स्त्रीशूद्रद्विजावर्णानां त्रयी न अनुवाचरा" यह कहा गया है। इसीवर्ग लक्षण इन कर्मयोगात्मक कर्मधर्म से यज्ञप्रजापति ही उपासित होता है। इसी उपासकों से बहुरूपवेद्य

कर्मों के बिना ही अविद्विष्ट अनाद्विष्ट महामारी दुष्कल अकाल राष्ट्रविलय आदि का शमन करने में समर्थ होत है ।

—३—

११-ज्ञानयुद्धियोगानुगता-सिद्धयुपासना के सम्बन्ध में अधिकारी-भेद-व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(४)—पुनः विल-लोकयोगियों का परियोग कर मन्वासमार्ग का ग्रहण कर आत्मचिन्तन-युक्त योगाभ्यास में प्रवृत्त रहते हुए वैष्णव-कर्मलक्षणा ज्ञान क्रिया में निमग्न रहना ही गीता का 'ज्ञानयोग' है । इस का अधिकार भी शिवातिवर्ग को ही है । इस ज्ञानयोगात्मक योग से ही यह प्रजापति ही प्राप्त होता है । यही मार्ग केवल आत्मनिर्धन्य का कारण बनता हुआ जीयोदर्शनाय से सम्बन्ध रखता है ।

—४—

१२-पुण्ययोगात्मिका पारिमायिकी उपासना, तथा इष्टयोगात्मिका पारिमायिकी उपासना के सम्बन्ध में द्विविध-धिमिक अधिकारियों की व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(५)—कामनापूर्वक (स्वयं ही फलों की कामना से) तपीकर्म का शिगुणभावनाय बनाकर काम्य-कर्मों में प्रवृत्त रहना एवं आगमोक्ता वेदापाठना का अनुगमन करते हुए सिद्धिमाना के पीछे अनुवाचन करते रहना ही गीता का पुण्ययोग किंवा इष्टयोग है । इस योग से विगन् प्रजापति ही उपासित होता है । इसमें काम्य प्लवकर्म का अधिकार तो बरख शिवातिवर्ग को ही है । वृत्तरे सिद्धिमार्ग का अधिकार शिवरूपियों को भी है ।

—५—

१३-कामनानुगता अवताराद्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारीभेद-निबन्धना व्यवस्था का स्वरूप समन्वय—

(६)—कामनापूर्वक काम्य अवतारोपासनायायक प्रतिमापूजन अथ वीरगमन आदि में प्रवृत्त रहना ही कामयोग है । स्त्री-पुरुषों की (वैयक्तिक प्रतिमापूजन के द्वारा) इस मार्ग का पूर्ण अधिकार है । शास्त्रीय पीठधारकाभ्युपगमन प्रतियोगिकता में तो स्त्री-पुरुषों को अन्तरिहृत माने जायेंगे । एवं इस प्रतियो-पासना का प्रियउपासना में ही अन्तर्भाव माना जायगा ।

—६—

१४-तथाकथित पञ्चविध उपासनायों का गीताशास्त्र के द्वारा सङ्केतविधि से समन्वय-नाम्नक समन्वय—

उक्त ६ ही मार्गों का गीता ने लङ्केतक से बड़े ही मार्मिक शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है । पाश्वरी की विधि है कि, गीता के ६ अध्याय में आरम्भ कर ११ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त साधनानुगत विरचन

बुद्धिबोधकाल मन्त्रिवीग का निकम्ब हुआ है । (देखिए मा ३० प्र० ७ विप्रबन्धमापकरण १८-
श्लोका १७) । इन चार अध्यायों में से ८-१-११ तीन अध्यायों में तो मन्त्रि के स्वरूप का तत्त्विक
विवेकन हुआ है एवं १२ वें अध्याय में मन्त्रिमागानुसूची ६ मार्गों का उद्धोतविधि से विमूर्शन
किया गया है ।

यत् सततयुक्ता ये मक्तास्त्वाः पयुपासतः ।

ये स्वाप्यक्षरमव्यक्त सर्पा के योगविद्यमा ॥

—गीता १७१।

१४-अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न, एवं भगवान् के द्वारा 'युक्तवर्माविधि' से समाधानोपक्रम—

अर्जुन का प्रश्न बुद्धिबोधकालकाल ज्ञानयोग एवं साध्यबोधकालकाल ज्ञानयोग से सम्बन्ध रखता है ।
बुद्धिबोधकालकाल का 'ज्ञा' से संबंधित सम्बन्ध से सम्बन्ध है । बुद्धिवेगी भी योगी है, ज्ञानवेगी भी
योगी है । दोनों ही एकप्रकार से ज्ञानवेगी है । जानती है । इन दोनों में बौद्ध भट्ट है । दोनों में बौद्ध योग का
वास्तविक मर्म समझने वाला है । यही प्रश्न है । श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—अर्जुन ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

अद्वया परमोपतास्ते ते युक्तवर्मा मता ॥

—गीता १७२।

१५-ज्ञानी-तपस्वी-भक्त-नामक तीन वर्गों के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा भक्ति-विमला
संस्थापन—

जो व्यक्ति युक्त (सम्बन्ध) में अपने मन की प्रविष्ट कर नित्ययुक्त (अव्ययक) बन कर मेरी उपा-
सना में ला है तो ही जो परलब्धता (अव्ययलब्धता) भद्रा से युक्त है यही भक्ति में (दोनों में के ही)
युक्तवर्मा है । उन्होंने ही योग का वास्तविक स्वरूप समझा है । दोनों ज्ञानयोगियों में सम्बन्धित योगी ही
योगविक्रम है । पाठकों को समझ होना कि वृत्ति में हमने जानी उपस्वी भक्त "न दोनों की अपेक्षा योगी
(बुद्धिवेगी) की अपेक्षा बलवाला था एवं योगी की अपेक्षा भी युक्तवर्मा योगी की अपेक्षा बल था ।

१७ अत्यन्त रहस्यपूर्ण-अध्यायविभाग के सम्बन्ध में गीता की मननीया सूत्ररूपी—

राजर्षिचिदात्मक वैराग्यबुद्धियोग-प्रकरण के उपबन्धन में श्री भगवान् ने लोकप्रचलित ज्ञान-धर्म-
मन्त्रि-तीनों योगों की अपेक्षा वैराग्यबुद्धियोग को ही अधिष्ठान किया है । एवं इस योग के उदात्तवर्मातीन
सम्बन्ध ब्रह्मयुक्त सम्बन्ध के योग में ही निश्चित मानते हुए दोनों में ब्रह्मयुक्त सम्बन्धयोगानुसूची योगी की ही
व्यक्तिगत कहा है । और यही निर्णय यही ही ब्रह्मयुक्त कहा है । देखिए !

तपस्विभ्याऽपि च योगी ज्ञानिभ्योऽपि भवोऽधिकः ।

धर्मिभ्योऽपि च योगी तन्मायोगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ॥

भद्राशान् ममैव यो मां स मे युक्ततमो मत ॥

—गीता ६।२६ ४४

—०००—

१८—क्लेशसाध्या इन्द्रियमयमादि-लक्षणा अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा महत्त्वपूर्ण श्लोकश्रयी के रूप से इदयोद्गार, एवं अव्यक्तोपासनात्मिक ज्ञाननिष्ठा का नीरक्षीर-विवेक—

इस प्रकार यद्यपि राजर्षिबिद्यात्मक बुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में ही भगवान् ने बुद्धियोग का प्रकृतमत्व सिद्ध कर दिया था। परन्तु आगे बताया गई थी ज्ञानविद्या एवं भक्तिविद्या के सम्बन्ध में पुनः अत्रुन का स्पष्ट होना एवं उसके निराकरण के लिए पुनः भगवान् को बड़ी निर्गुण "ठिमे सुस्तवमा मता इत्यादिरूप से दोहरना पड़ा। इस प्रकार बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग की वृत्ति शक्ति में निगुण अव्यक्त-मूला ज्ञानोपासना की उन्नत श्रेष्ठता बतलाकर वृत्ति-अव्यक्तज्ञानमूलक ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करत हुए भगवान् आगे जाकर कहते हैं—

ये त्वत्परमनिश्चयमव्यक्तं पश्यु पावते ।

सर्वत्रगमचित्यं च हृत्स्थमवल ध्रुवम् ॥

मनियम्यन्त्रियग्रामं सर्वत्र ममपुद्गलम् ।

त प्राप्नुवन्ति मामव सर्वभूतहितं रता ॥

क्लेशोऽधिष्ठतरन्तपामव्यत्मासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते ॥

—गीता १८।३ ४ ५

१९—सांग्यनिष्ठात्मिक अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् की अन्त्रि—

अंगार्थ स्पष्ट है। लक्षणापर अन्तिम कुर च अव्यक्त अव्यक्त प्रथम अन्तिहोर्य अक्षर से सम्बन्ध रखने वाला सांग्यमग्नत ज्ञानयोग सर्वभूतहितरति-लक्षण सौख्यमय की लक्ष्य बनाता हुआ मयोचित बनकर अवश्य ही उपादेय है। परम्परया यह बात भी (अक्षर के द्वारा) भी प्रार्थि (अव्यक्तप्रार्थि) वा वाग्य तो कन ही बाधा है। वस्तु ब्रह्मात्मक इन्द्रियमयमादि लक्षण ज्ञानयोग में लक्ष्यता मिलना पारत करित ही है। वही इस बात के सम्बन्ध में भगवान् की अवधि है।

२०—रात्रिपिपानुगत मक्ति का राजमार्गत्व, एवं तन्मयत्व में गाता की महत्त्वपूर्ण साक्ष्यार्थ—

ज्ञानवशात्प वेद प हरे भगवान् ने बुद्धिवैगमल्य ज्ञानप्राप्त एवं "मलमल ज्ञानप्राप्त की उपासना की। मक्ति का गौहरीपुत्र में लक्ष्य बनना ही स्पष्ट है। एवं इसी मक्ति

को ध्यानादिमा भक्ति कहा गया है। अपने मयूख कर्मों को ईश्वरार्पित करत हुए ईश्वर का (मोक्षी का) ध्यान करने हुए बतम्बद्ध में प्रवृत्त रहना ही मनेनयोग है। यह मनेनयोग जानबूझ कर अपेक्षा की ओर है ही, साथ ही स्वकर्मोपमा कर्मयोग की अपेक्षा भी मृत्युनन्तरकारण के लिए वर राक्षसार्थ है। इसी राक्षसार्थ का निवर्तन करते हुए मयवान् कहते हैं—

य तु सर्वाणि कर्माणि मयि मन्यस्य अनुपराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासत ॥
तेषामहं ससुखा मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नशिरास पाथ । मध्यावेक्षित-वतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निबधाय ।
निवसिष्यमि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

—गीता १२।६-७

२१-अध्यासमार्गरूप-विराडुपासनात्मक-चतुर्थ-कम्ममय भक्तिमात्र का स्वरूप-संस्मरण एवं तन्मन्त्र में भगवत्सिद्धान्त-व्यवस्था—

अब चौथा अध्यासमार्गरूप विराडुपासनात्मक कर्ममय भक्तिमात्र हमारे लक्ष्यने आया। जो व्यक्ति तन्त्रिक रूप से स्वरूप ईश्वर का ध्यान करने में अभ्यस्य है उसी चाहिए कि-ये ईश्वरविमूर्तिरूप पिब स्वर्ग, गणपति आदि ईश्वरपदों में से किसी एक की निष्कामध्यास से आराधना करते हुए कर्मों, अवस्था ईश्वर की ओर जाने का अध्यास करें। "तु विराट्कालिक अध्यास से वह उपासक अज्ञानतर में विराट् के द्वारा अक्षय ही उस ध्यातक के ध्यान में स्मर्य होता हुआ अध्यास को प्राप्त कर लेगा। आत्मतत्त्वत विराडुपासनात्मक कर्मप्रधान नी माग का निवृत्तन करते हुए मयवान् कहते हैं—

अथ बिभ्र ममावातु न शक्नोति प्रिय स्थिरम् ।
अध्यापयोगेन ततो मामिच्छ-आप्तुं वनञ्जय । ॥

—गीता १२।८।

२२-आध्यासरूपा आगमोपासना में भी असमर्थ मानवों के अध्यास क लिए गीताशास्त्र के द्वारा रहस्यपूर्ण सुगमवतपर्यो का संस्थापन, एवं तत्तुरूपा विरहोपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मान लीजिए-जो विद्वन्मुक्त आध्यासरूपा आगमोपासना में भी शक्तिशाली का अनुभव करने हैं एवं नी-शक्ति बर्य अनधिकारण इत्ये प्रवृत्त नहीं होतवते। उन के अध्यास का क्या उपाय ? उत्तर यही विरहोपासना। अध्यास में अध्यास विद्वन्मुक्त-शक्ति-रहीर्षा की मयवान् के निमित्त ही कर्म करना चाहिए। मयवान् के लिए अक्षयपुत्र, दीर्घ उपासक कथाकथ, हरिनाम-नैकीयन आदि ही सुख लावन हैं। इसी विरहोपासना का निवर्तन करते हुए मयवान् कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थाऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

—गीता १३।१० ।

२३—यश्चेत्तरोपासनात्मक उपासनामार्ग का पारिभाषिक-समन्वय—

यद्यपि एक मार्ग बारीक बण गया । वह है यज्ञात्मक कर्ममार्ग । कर्मफल की वासना छोड़ते हुए लोकेश्वरशक्ति से शास्त्रीय यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहना ॥ यज्ञरूपोपासनारूप कर्ममार्ग है । कर्मफल-याग-फल कर्मयोग के भगवान् ने शास्त्रीय कर्ममार्ग [यज्ञमार्ग] एवं लौकिक कर्ममार्ग में से दो भेद कर दिए । शास्त्रीय कर्ममार्ग ब्रह्मसम्मत यज्ञमार्ग है । इसका अन्तर्भाव तो भगवान् ने पोट्टी ईश्वर में होने वाले सर्वकर्मफलप्रदान भक्तियोग में ही मान लिया । परन्तु इस लौकिक फलत्यागप्रदान कर्ममार्ग को प्रवृत्त कर दिया ।

२४—ईश्वरसत्ताबिमुख-यथाज्ञात प्राकृत-मानवों के समुदाय के लिए गीताशास्त्र के द्वारा

अनुत्तम-कर्मफलत्यागात्मक-रहस्यार्थ-पथ का संस्थापन—

मान लीजिए—हम भगवान् को नहीं मानते । ईश्वरकृपा में हमारा कोई विश्वास नहीं । अथवा तो ईश्वरकृपा में तो विश्वास करते हैं परन्तु प्रतिप्राप्तन अक्षय्यरामना तीर्थगमन उपवास, नामस्मरण आदि माध्यमिकों को अपने-आपने के लिए न बिनके बात समझते हैं न योग्यता है अतः तो कामविक्रम प्रवाद में पड़ कर परवश से बाधित में ही निमग्न हैं। उन के ऊपर अब क्या उपाय है, इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने आकर भगवान् कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्षु मयागमाभित ।

सर्वकर्मफलत्यागं तव कुरु यथात्मवान् ॥

—गीता १३।११

२५—सर्वस्या-मान्यता-शून्य भी मानवों के समुदाय से अनुप्राप्तिता भगवद्भावना—

यदि हम ईश्वरसत्ता पर विश्वास करते हुए भी तबिनिष्ठ कर्म नहीं कर सकते तो हम कर्म की ही अपन राय का करण समझते हो, वृत्तरे शब्दों में हम स्वार्थसिद्धि के लिए ही सेवाकर्म व्यापार, बलात्कृत बाकरी हकिमनीमें एक अन्याय लौकिक कर्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हो उपवास-तीर्थ-प्रतिप्राप्तन आदि माध्यमिक में भ्रष्टा विश्वास रखते हुए भी हम इनके अनुष्ठान में अपने आप को अस्मर्य पाते हो, ठग की कोश धरति नहीं ।

२६—कर्मफलत्यागात्मक अपूर्व पथ का पारिभाषिक-समन्वय—

यदि हम ईश्वर को नहीं मानते प्रतिप्राप्तन तीर्थारति पर प्रसन्न कोई विश्वास नहीं, यात्रा शुरू आदि का उपदेश गुहारी दृष्टि में सर्वथा निरर्थक है तब भी कोई हानि नहीं । हम एक उपाय ठगों ऐसा बतलाते हैं बिनके अनुष्ठान से हम शास्त्रमित्र आदेशों में से किसी एक पर भी न चलते हैं आत्मा-परमात्मा—

कर्म-कर्म-वेदना-जाह्नव-गुरु आदि किसी की न मानते हुए भी तुम आध्यात्मिक कर लवत हो। आत्मा-
म्युक्त की देहा, अम्मान कान ध्यानादि तब मार्गों से कही उत्पन्न। वह क्या है—कर्म
फलत्याग।

२७-आस्तिक भारतीय मानव का दम्भपूर्ण आत्म का जीवनसिद्धि, एवं नास्तिक मानवों
का दम्भपूर्ण, अतएव लोकहृत्सकलतानुबन्धी मौक्तिक जीवन, और उभय-समतु
जन-माध्यम से एक विशेष तथ्य का स्वरूप-समन्वय प्रयास—

“हम नास्तिक से आस्तिक बन जाएँ ईश्वर को मानने लगे बर्बादमयकर्म का अनुगमन करते
हुए जो बर्माका बन जाएँ नामलेकीर्तन करते करते हमारे नेत्रों से अमृतावा प्रकटित होने लगे प्रपन्न
प्रतिमार्जन में बन्दी स्वीकृत करते हुए हम परम मागक बन जाएँ लीपकृत करत करते हम शरीर को
स्नन्द कर लालें उपवास करते करते शरीर को ध्यात बना लालें यक्षकर्म में बपना जीवन समाप्त करें
इन में से कुछ भी शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नहीं है। शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है आत्ममुक्ति आत्मासुख
कर्मफलप्रपाद में बह आत्मा का कर्मनाश से निरक्त कर स्वस्वकर्म में विभक्त। यदि हमने उक्त शास्त्रीय
प्रकारों का अनुगमन करते हुए आत्ममुक्ति कर ली कर्मलोककर्म से पुनःप्राप्त पा लिया तो लक्षणकर्म
उक्त लक्ष्य प्रकार लक्ष्य है। यदि अक्षीय शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए भी लक्ष्यलक्षण हम
कर्मलोककर्म से न छूट लगे तो तब प्रकार बर्बाद है। यही नहीं ऐसे शास्त्रज्ञ ईश्वरभक्त आस्तिक,
पूजक, कर्षक, उपासक नामस्मरणकर्ता ब्रह्ममागक, दीपिणी स्त्री की कपेक्षा तो बौरपैरुक्त उन
शास्त्रविरोधी अनिश्चरवासी नास्तिक पूजामिषक ईश्वर नाम से पूजा करने वाले भीलों के विपरीत
उपवास के कट्टरपुत्र लौकिक मनुष्य का आसन कही कौन है। जो इन लक्षणों की लो ब्रह्मनाम नहीं करत।
वे इन लक्षणों के नाम पर शास्त्र-ईश्वर-आदि लक्ष को लक्षित तो करते ही हैं साथ ही इस मित्रा-
हम्बर में पड़ कर लोचनैमय से भी बलिष्ठ रहते हैं। इन्कर एक नास्तिक इन लक्ष लक्षणों को बोका देने के
बलक से लो बका ही रहता है। साथ ही मौक्तिक-सम्मुखता का पाव भी बन जाता है यदि फिर परिणाम
में वह मौक्तिक वैभव उक्त के समूह विनाश का ही कारण कभी न बन जाय।

२८-वर्तमान आस्तिक-शास्त्रमक्त-भारतीय-मानवों का आत्मनिरूप-पतन का स्वरूपसिद्धि—

कर्मलक्षण का लक्ष परिधिषि की तुलना कीजिए। हम आस्तिकाली बड़े अभिमान के लक्ष ईश्वर-
लक्ष का दम मरते हैं। शास्त्रमक्ति से लक्ष आत्मनाम एक कर लते हैं। आप दिन उपवास करते हैं।
मगनाम का पूजन करते हैं। वेदपठन में प्रीति रखते हैं। अक्षीय शास्त्रविस्तार करते रहते हैं। जाह्न
करते हैं लक्षण करते हैं। यक्ष करते हैं। अक्षिमाक्ष से गङ्गा-जमुना में गोला लाताते हैं। स्थान स्थान पर
बलकनी कर हर राम हर राम के तुलनामय से आकाश विदीर्ण करते हैं। हरिकथा बरत करते हैं।
आत्मा-लक्ष मन्त्री के चरण पूजन है। लाली रान करते हैं। इन्द्रधर आनुषा अधिक भाग
शास्त्रविरोधी से ही स्वीकृत करदेते हैं। पन्तु.... । पन्तु है। पेटमर ब्रह्म की नहीं मिलता। अमृतक-

निर्धेयम की कथा लो बुर रही भिन-भिन आत्मप्रपाद लोते बाखे हैं। परलक्षता अधिकाधिक लक्ष
आली बाखी है। अम्मान के अमरलक्ष की बीम होकने लगे हम लोके से मय से ही पदों में बा लुप्त हैं। क्या
शास्त्रानुगमन का कही लाम है।।

२६-शास्त्रतन्त्रम्य प्रतीच्य मानवों की भूतोन्नतिमूला भृतजीवनपद्धति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

उपर उन परिचमी देशों की देखिए, जो शास्त्रादि के नाम में भी अपरिचित रहते हुए, केवल मानवीय विज्ञान के आधार पर किस प्रगति से लाभैमय में आगे बढ़ते जा रहे हैं। भारतीय धार्मिक व्यापक बना बना है। परिचमी देशों का बहुत हुआ वैभव पकड़ते उन का खहार कर डालेगा। ठीक है। हम भी सहमत हैं। परन्तु आप की क्या राय होगी है? पहिले यह तो सोचिए। आप कम कर्म चिन्ताते हुए जीवन पुरुषार्थ कर रहे हैं? आप तो न इधर के रहे न उधर के। फिर आपकी समाजोचना करने का क्या अधिकार है?।

२७ शास्त्रीय मार्ग के 'मुख्य' उद्देश्य का पारिभाषिक-सम्बन्ध प्रयाम—

बिना किसी नष्ट नुष्ट के आप को यह मान ही लेना चाहिए कि शास्त्रीय-मार्ग का मुख्य उद्देश्य प्रबोक्त आचरण में से एक भी नहीं है। शास्त्र चाहता केवल यही है कि आप अहोरात्र कर्म करते हुए भी कर्मलोप के बचन में न आगें। इस मुख्य सत्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनरूप से शास्त्र ने मक्ति-उपासना-पूजन तीर्थादि का विधान किया है। उस ओर मन का जाने से आप का मन फलारा से मुक्त रहेगा। परिणामतः कर्मलोप न होगा कर्म करते हुए भी आप मुक्त होकर रहेंगे और यही शास्त्र का मुख्य उद्देश्य माना जायगा।

२८ कर्मफलानामक्ति अनासक्ति के माध्यम से शास्त्रीय-उद्देश्य का नीरखीर विवेक-सम्बन्ध—

यदि शास्त्रीय सभी आदेशों का अनुगमन करते हुए भी आपने फलारा न छोड़ी तो शास्त्रादेशानुगमन न केवल स्वयं अपितु हानिकर। ठीक इस के विपरीत यदि शास्त्र के महाबल में न पड़कर आपने केवल को सम्यक् से (वैराग्यमान्) काम लेते हुए फलारा का परित्याग कर दिया तो आप मुक्त होगे, शास्त्रोद्देश्य सिद्ध होगया।

२९-गीताशास्त्र के एक रहस्यपूर्ण श्लोक का तात्त्विक-स्वरूप-सम्बन्ध, एवं तत्सम्बन्धना कर्मफलानामक्ति से अनुप्राणित पारिभाषिकी सङ्गति, तथा 'मा कर्मफलहेतुर्भू' का फलितार्थ-सम्बन्ध—

कर्म कर्म शास्त्र-इश्वर-परलोक-आदि का न मानने से कार्य हानि नहीं होती न किसी कर्म से ही फल मिले। कर्म स्वरूप से कर्म है अगम्य की विमूर्ति है। फिर वह शास्त्रीय ही अथवा लौकिक। हानि का एकमात्र कारण है-कर्मलोप। कर्मलोप की एकमात्र वन्नी है-फलारा। इसे छोड़ना फल हेतु नहीं है। एक ओर नास्तिक भी यह तो बिना किसी आपत्ति के मान ही लेगा कि फल को हम उत्पन्न नहीं करते अपितु हमारा कर्म ही फल को उत्पन्न करता है। एक ही विनीत का आत्मा-बुद्धि-मन-विज्ञान शरीर विद्ये प्राध्वन के पल्लव नवशे का निर्माण नहीं करता। अपितु उसके इन अवयवों से संवित क्रिया ही नकशा तयार करती है। कर्म करना हमारा काम कर्मफल उत्पन्न करना कर्म का नाम। कर्मफल कर्म है न कि कर्मफल हमारा फल है। हमारा फल कर्म है कर्मफल कर्म का फल है। हम कर्मनाम के

अधिकारी हैं कर्ममात्र के हेतु हैं न कि कर्मफल के। — 'मा कर्मफलहेतुर्भू १ ।' हम मानते हैं कि-
 मित्ता फल के कर्ममग्नति सम्भव नहीं। परन्तु यह भीन कहता है कि आप निश्चय कर्म कीजिए।
 अथर्व ही किसी उद्देश्यसिद्धि के लिए कर्म कीजिए। मगवान केवल यही कहना चाहते हैं कि कर्मफल में
 कर्मफल की चर्च न कीजिए। मानवीय मन में शक्ति परिमित है। कर्ममग्नतिफल में कलचर्चणा करने
 से मानचरमित हैट बावरी कर्मसिद्धि में बिचना कल लगना चाहिए न लगेगा फलार्थ अपूर्ण रह बाकना
 एक हानि। अब आप यह मानते हैं कि फल पैदा करना कर्म का काम है तो फिर इस अनधिकृता कलचर्चणा
 से क्याहानि?। आप को तो अनन्यथाय सं केवल कर्म में ही बुद्धि जाना चाहिए। फल तो क्या ही है। व्यय ही
 आप आवृत्ति से भी बच जायेंगे पुरुषार्थ सिद्ध होजायगा। यही यह उपाय है जिस से हम जैसे लोचरी
 मावानी बीच भी कलान्तर में आमास्तुदय कर सकते हैं और पूर्वश्लोचने इती उपाय का स्वोत्तरण किया
 मी है। कर्मफलत्याग ही कलान्तर आनन्दसिद्धि इतर मागों का अरम उद्देश्य है। अभी आपार पर हम यह
 कहते हैं कि, दीक्षित में सबसे नीचे के अविचारियों का कर्मफलत्यागवचन यह अन्तिम मार्ग परमावर्त कहते
 हैं। यही सुचित करते हुए मक्तिमार्गों का उपसहार करते हुए मगवान् सर्वान्त में कहते हैं—

अथो हि ज्ञानमम्पासात्, ज्ञानाद्विधानं विशिष्यते।

ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

(१२।१२।)।

३३-विश्वप्रवृत्ति का उपोद्बुधक कर्ममात्र, एवं सन्निवधना समपसृष्टा यज्ञप्रज्ञा-
 पत्न्यामना—

वैदिक पूर्व में कलान्तरा गया है कर्मफलत्यागवचन शास्त्रीय यज्ञकर्ममित्र कर्मयोग एवं कर्मफल
 त्यागवचन लौकिक कर्ममार्ग दोनों को मगवान् ने समान आवन पर प्रसिद्धि रखना है। पहिला यह मना
 पति से सम्भव करता है इसल विश्वप्रवृत्ति से सम्भव करता है। फलार्थ में दोनों समान हैं अतएव
 कलान्तर से इसे कलान्तरवचन लौकिक कर्म में ही आचर्य मान लिया है। और शास्त्रीय-वृत्ति से
 भी यह मान्यता कुच्छल बन जाती है। चाह लौकिक कर्म हो, अथवा शास्त्रीय यदि फलवाकना नहीं है तो
 स्वाव बुद्धि का अन्न आप उच्छेद होजाता है। फलार्थ ऐसा कर्ममार्ग विश्वप्रवृत्ति का उपोद्बुधक बनता
 हुआ यज्ञप्रवृत्ति में अर्पित होजाता है।

३४-मक्तिमागपेक्षया भी तथाविध कर्ममार्ग की अपेक्षा का स्वरूप-समन्वय—

कति पूर्व में हमने कर्मयोग की अपेक्षा ध्यानात्मक मक्तिमार्ग की अपेक्षा बलवाक या परन्तु यह
 अपेक्षा उपाय की अपेक्षा पर ही निर्भर है। यदि लौकिकवृत्ति से विचार किया जाता है तो कर्ममार्ग
 (मक्तिमार्ग की अपेक्षा यही अधिक) शोच्यमाहक कला दुष्ठा मक्तिमार्ग से भी अपेक्ष बन जाता है।

३५-शारमशापमूलक-उपसनातय का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

निन्द्य यह निष्कर्ष कि वैराग्यलक्षण बलानुक्त बुद्धियोग तो एक स्वतन्त्र एवं अष्टम मार्ग है। इसे
 किसी अन्य योग की तुलना में नहीं रखना चाहता। अथर्व वचन है-मक्तियोग, कर्मयोग इष्टयोग कामयोग।

कर्मयोग मगवत्पुण्यप्राप्तता से अभ्युदय बन जाता है। इष्टयोग अस्मात्प्रत्यक्ष देवोपायना से फलप्रद बन जाता है। ज्ञानयोग अक्षर के द्वारा इष्टसाधक बन जाता है। कर्मयोग यज्ञेश्वर के द्वारा सिद्धि का प्रवक्तृ बन जाता है। इन पाँचों में कर्मयोग कर्मसाध के समावेश से निम्न है। इष्टयोग मगवत्पुण्यप्राप्तता से इष्टसे भेद्य है। अस्मात्प्रत्यक्ष की अपेक्षा ज्ञानयोग बेहतर है। ज्ञानयोग की अपेक्षा ध्यानयोग मगवत्पुण्यप्राप्तता से भेद्य है। एव इस की अपेक्षा कर्मफलसाधकालक्ष्य राष्ट्रीय लौकिक कर्मयोग भेद्य है। स्वागते शान्ति मिलती है। अन्तर्मा का बीज उदर जाता है। अन्तर्मा स्वतन्त्रता में आ जाता है।

● बुद्धियोग - अस्मात्प्रत्यक्षता (उपासना) सर्वोपरिकर्ममार्गः

१-मक्तियोग - यो प्र उपासना (मक्ति)	
२-कर्मयोग - वरुण उपासना (कर्म)	हिवातीनायेव
३-ज्ञानयोग - यज्ञ उपासना (ज्ञानम्)	
४-इष्टयोग - विद्युत् उपासना (कर्म)	-विद्युत्कर्मना हिवातीनाय
५-अध्यासयोग - विश्व उपासना (कर्म)	-स्वी-शुद्धविद्युत्कर्मनाय
६-फलसाधयोग - यैमवोपासना (कर्म)	सर्वोपरिकर्ममार्गः

● बुद्धियोगः - सर्वेषा स्वतन्त्र - स्वागान्ध्यान्तिरन्तरम् (परमार्ग)

१-कर्मयोग (२) - शास्त्रीयः	} — कर्मफलसाधयोग — भेद्य हि ज्ञानसाधकम् इन्द्राध्यान्तिरिच्छते ध्यानम् कर्मसाधयोग (नवममार्गः)
२-फलसाधयोग (३) लौकिकः	
३-मक्तियोग (१) शास्त्रीय - ध्यानयोग	
४-ज्ञानयोग (४) शास्त्रीय - ज्ञानयोग	
५-इष्टयोग (६) शास्त्रीय - अस्मात्प्रत्यक्ष	

● कर्मयोग - (शास्त्रीय) - साधारणमार्गः (नवममार्गः)

३६-मक्तियोगानुबन्धी-‘साकारमग्न’ का सम्मरय एवं साकारमग्न के माया-कला-गुण विचार-अञ्जन-आवरण-नामक पद्विध परिग्रहों का सम्मरय—

उक्त उपासना-मार्ग की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में ही अब कोई विरोध बलवत् नहीं रहा। अवरण ही पूर्व के पाँच प्रकरों में प्रतिपादित पाँचों ही उपासनामग्न प्रामाणिक हैं। इस प्रामाणिकता के साथ साथ यह भी हमें निर्बिबाध माननी होना चाहिए कि, अविचारहीनता से सभी मार्ग उपासना के माध्यमिक बनते हुए अपने अपने स्थान में सर्वथा उपादेय हैं। और सर्वान्त में यह भी विद्वद् ही बात है कि, उपासना बिना मतियोग का एकमात्र सम्बन्ध “साकारमग्न” से ही है फिर चाहे वह आकार मग्न माया-कला-गुण-विचार-अञ्जन-आवरण-इन ६ परिग्रहों में से किसी भी परिग्रह से सम्बन्ध रखता हो।

३७-उपासनापथ के महान् पारिमापिक छत्र-‘असत्ये वर्तमानि स्थित्वा तत् सत्यं समीहते’ का स्वरूप-समन्वय—

इन उपासना-विधियों की हमने पुनरेव से विम्वट माना है। एवं इसी पुनरेव के आधार पर इनमें भेद-विभाग किया गया है। शास्त्र ने [केव-पुण्यशक्ति ने] अविचार की मय की मयदा की उद्विष्ट रखते हुए वहाँ सभी उपासना-मार्गों की पूर्ण व्याप्ति दे दी है। वहाँ पुनर्वर्तमानि-सत्य-असत्य-विभाग की दृष्टि से इन में उच्चतम-माध्यमिक व्यवस्था भी की है। “असत्ये वर्तमानि स्थित्वा तत् सत्यं समीहते” उक्तिगत की मुख्य मानने वाला शास्त्र यह कभी नहीं चाहता कि, अवरणपरिग्रह से कुछ आत्म के विरुद्ध-साधन मूर्तमात्र [प्रतिमा] की माध्यमिक बनाने वाला प्रतिमोपासक यावन्मूर्त उन्ही माध्यमिक पर प्रतिष्ठित रहे। अतएव यह चाहता है कि-इस माध्यमिक के द्वारा कर्मण विरुद्ध यह पोखरी पर पहुँचना हुआ निगुण अस्मन् से सम्बन्ध रखने वाली हान-वीर्यकलत्रा दुस्त्रियोगरता आत्ममति का अनुगमनी बनता हुआ वह उन्मूलककलत्र विवेकमान को प्राप्य होना।

३८-अवतार-तीर्थ-व्रत-प्रतिमा-आदि-मेदमिका विस्मोपामना ॥ सम्बन्ध में क्रमिका म्युदयमूलक-रहस्य-पूर्व-पारिमापिक-तद्वाचन—

यही कारण है कि, लौकिकदृष्टि से सिद्ध अकृतार्थ, प्रतिमा आदि की उपासनाओं का पूर्ण अवरण करने के साथ साथ ही [उपासक यही न यह बात इत दृष्टि से] “नदी क्लेशा वीर्यकलत्रा दुस्त्रियोग-मिका मति का ही उपयोग किया है। केवशास्त्र की ही अतिरिक्त, पुण्यशास्त्र की ही अतिरिक्त मिलके सम्बन्ध में अञ्जनी की यह प्रतिमा है कि, पुण्य वैदिक नहीं हैं। अतएव केवविषय अवरण-प्रतिमा-तीर्थ आदि की कर्मित उपासना बठाने वाला एक कर्मित शास्त्र है। अकृतार्थ का निरूपण करने के अवरण सामान्यमान की धीमा से बहिर्भूत, ऐसे सामान्यमानियों की दृष्टियों में केवल कर्मकारण आत्मनोपामनियों के निरूपण के कारण ही यदि पुण्यशास्त्र एक कर्मित शास्त्र है तब ही उन वेदमूर्त की वैदिकता की सुस्थित नहीं रह सकती। कारण-स्वयं केव में भी अवतार-प्रतिमा-तीर्थ आदि की उपासना का एवं वीर्य-मिका आत्मनोपामनियों का विस्तार से निरूपण हुआ है किन्तु कि स्वकीकरण का प्रकृत में अवरण नहीं है।

३६-पुराणशास्त्र से अनुप्रायिता उपासना के सम्बन्ध में तत्त्वविमर्श, एवं आन्तों की भ्रान्ति का निराकरण-प्रपास—

हो यदि पुराणशास्त्र केवल अवतार प्रतिमा-सिद्धि आदि-उपासनाओं के निरूपण पर ही अपना मुख्य उपास्य कर देता वेद की भाँति परस्पर-प्रकृपाणि सम्बन्धिनी निगुण वैराग्य ज्ञानाणि भक्तियों का निरूपण न करता इनकी ओझ्ठा सिद्ध न करता तो अन्वय ही यह शास्त्र एक अपूर्ण शास्त्र रह जाता। परन्तु हम देखते हैं कि उपासनामार्ग के सम्बन्ध में वेदशास्त्रने विशेषतः वेदशास्त्र के अन्तिम पर्वक्रम उपनिषद् ने एक उदनुगामिनी स्मार्ती गीतोपनिषद् ने जिन ओषिधियों का स्पष्टीकरण किया है पुराण में उन सब का यों का त्यों स्पष्टीकरण मिलता है। उदाहरण के लिए लोक में विशेषरूप से प्रचलित भीमद्वारागत पुराण को ही लीजिए।

४० भक्तिपथक्षेत्र में पदार्थशुद्धि (३६) पुराणोपपुराणों के समस्तान में भीमद्वारागत का ही प्राधान्य—

और किसी पुराण का नामोल्लेख न कर भागवत पुराण को ही इस प्रकार में मुख्य स्थान क्यों दिया है, इसमें भी कुछ रहस्य है। यों तो सभी पुराणों में इतर जगहों के साथ साथ भक्ति एवं उपास्य ईश्वरविवक्ष का निरूपण हुआ है। परन्तु भक्तिवाच के सम्बन्ध में भीमद्वारागत सब पुराणों से आगे निकल गया है। यही कारण है कि १८ पुराण १८ उपपुराण इन ३३ पुराणों से भागवत पुराण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि—
‘यानदेवैर्न संहिता व्याससुत ३३ पुराणोपपुराणादि का संकलन करके भी आत्ममुक्ति का अनुमान नहीं किया। सर्वज्ञ में सब उद्घोषों भीमद्वारागत का उसकी भी समग्रताभावी का निर्माण किया उस कही व्यास के भागवत द्वारा की पूर्ण शान्ति मिली।

४१ भीमद्वारागत के पारिभाषिक-‘भागवत नाम का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

पुराणसम्बन्धों के अनुसार भागवत में लौकिक १८ विषयों का तो निरूपण हुआ ही है परन्तु प्रधानतया ईश्वरस्वरूप भगवत्प्रभावा भगवद्भक्ति इन तीन विषयों का ही उपर हम दृष्टा है। ईश्वर की भगवत्तत्त्वं ईश्वरभावा भी भगवत्तत्त्वं की विशुद्धि बनती हुई भगवत्तत्त्वं है एक भगवद्भक्ति (ज्ञानवैराग्यपुरुष) की भगवत्तत्त्वं ही है। इन भगवत्तत्त्वं के लक्षण से ही यह ही अन्य ‘भागवत कहलाया है। भक्ति भावामय भगवत्तत्त्वं की ही लक्षण है एवं भागवत इन विषय का स्पष्टीकरण करने वाला मुख्य ग्रन्थ है अतएव भक्त्यकरण के सम्बन्ध में और किसी पुराण की आगे न करते हुए हमने भागवत को ही मुख्य मान लिया है।

४२-भक्तिपुत्र वैराग्य ज्ञान ज्ञान का बसो युग बादर्भय एवं भक्ति का करुणविज्ञाप—

भागवत ज्ञानवैराग्यपुरुष भक्तिमार्ग का ही ग्रन्थ है इन लक्षण में सबसे बड़ा प्रमाण-भागवतमाहात्म्य ही है। आरम्भ में ही आरम्भ यह बताने है कि मैंने ज्ञाने पूर्वमे समुदाय पर एक बड़ा आश्चर्य किया। दया वि एक-नदनी रनी निवसना कर कर रहने कर रही है। और तो इ-पुत्र ऊपरकन लन हुए उपासनापत्र मे उनके आश्रय हुए हैं। वह उन बच्चों की परिचर्या कर रही है साथ ही माँ की

आत्म पाद-पाद कर किमी ऐसे शक्ति की प्रतीक्षा कर रही है जो इसके शरीर को मुक्ति दान करे। उसे प्रेरण करने पर उस शक्ति स्त्री ने उत्तर दिया कि—मैं मक्ति हूँ, व दोनों हृद पुण्य ज्ञान वैराग्य नाम के मेरे पुत्र हैं। कायबला मे दोनों हृद होगए हैं। पादप्रतिपाद के योग से एवं पादप्रतिपाद के पादप्रतिपाद से मेरे शरीर पुनो स्थित स्थिति होना है। इत्यादि (मा मा १ अध्याय २७ में ५४ पम्पन्त)

४३-श्रीमद्भागवत की मक्ति-प्रधानता के सम्बन्ध में किञ्चिद्विषय आवदन—

सम्बन्धन सम्बन्धन का उपरान्त महामुनि वीतराग श्रीश्रीगुरुदेव के द्वारा परीक्षित के प्रति हुआ था वह निर्दिष्ट है। परीक्षित का यह उपदेशप्रकरणका कतिहीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित था वह भी निर्दिष्ट है। इन गुणवर्त्म के प्रमाण से ही शम्भवीय यामी का स्वयं लुप्तप्राय होना था। ७ बुद्धिबोधनका योग (वैराग्यिका उपपन्ना) ज्ञानयोग, कर्मयोग विद्यावृत्तान्तात्मक विधिमात्र इत्यादि का स्वयं निवृत्त होना था। ज्ञानवैराग्यवृत्त मक्ति का मौलिक स्वरूप ज्ञानप्राप्त होना था। उनी मक्तिमार्ग के प्रकार के लिए मय वत प्रत्यक्ष प्रवर्तनीय हुआ। उत इति मे मी मागवत का मक्तिप्रधान ग्रन्थ—मानना ही न्यायवर्तन प्रतीत होता है।

४४-श्री मद्भागवत क द्वारा मक्ति के ज्ञान-वैराग्य नामक हृदपुत्रों को जीवनप्रदान—

हमें दो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि, उपनिषद् में विभिन्न निगुणवर्त्म के ज्ञान दिया विवस्वान के प्रति श्रीगुरुदेव के द्वारा जो मक्ति विवस्वान् हृद व्याप्तवर्त्म के द्वारा ज्ञान मक्ति का उपरान्त हुआ श्रीमद्भागवत ने (लोकलोक ही इति से लीलाचरित्र नामस्मरण प्रतिपादन द्वारा अक्षरमक्तिमार्ग का प्रतिपादन करत हुए) मुख्यरूप से मक्ति के निवृत्तप्राप्त ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों की ही पुनरुत्थानित किया। इनी इति से हम मागवत को मगवर्तनीय-अक्षर मानने के लिए तय्यार हैं।

४५-श्रीमद्भागवत की समाधिमाया, एवं तत्प्रमाणाधारस्थ प्रतिष्ठित ब्रह्मसिद्ध हुआ- हृदमन्त्रप्रशाम्भक-पुष्टिमात्र का संस्मरण—

यही कारण है कि कर्म वैदिक शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-प्रवक्त क आचार्यजी ने वर-नीला-सम्प्रदायों के सब स्वर मागवत की सम्प्रदायिका को भी प्रमाण माना है। मागवत में-आधिकारमाया परमवर्तमाया सना-धिमाया मेर से लीन इतिर्वा है। व्यास का (ज्ञानवैराग्यवृत्त निगुणात्मक-मक्तिरूप अपना) प्राथमिक मन्त्र ही सम्प्रदायिका है। सम्प्रदायिका के आधार पर ही पुष्टिमात्र का विधान हुआ है। वैदिक विन्त विन्तित पत्नी मे मन्त्र है—

ॐ न योगी, नैव सिद्धा वा न ज्ञानी, मत्क्रियो नर ।

असिद्धावानक्षनाय साधनं मस्मतां गणम् ॥

सात्त्विका मगधदुमक्ता ये मुक्तावधिकारिण ॥

मवान्तमम्मवा देवात् तेषामर्थे निरूप्यते ॥१॥

वेदा, श्रीकृष्णशास्त्रानि, व्यासपुत्राणि चैव हि ।

समाधिमाया व्यासस्य प्रमास्य सप्तपुष्टयम् ॥२॥

लौकिकी, आन्यमाया च समाधे पोषिकेतु नु ॥३॥

४६-पौराणिक-इष्टिकोश के अमिष्यञ्जक कतिपय मन्दर्म—

हाँ तो कहना यह था कि पुनरावृत्ति पुनरावृत्ति के अमिष्यञ्जक कतिपय मन्दर्म—
इत मन्त्रमार्ग की ही श्रेष्ठता सिद्ध की है। वृद्धे शब्दों में—उत्तरे बुद्धिबलान्तर का ही समर्थन किया है। यही नहीं, एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में उत्तरे पश्चिमावृत्ति को सामान्य अधिकारियों की ही वस्तु मान लिया है। निरर्थक विस्तार का अवसर नहीं है। केवल कुछ एक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं जिन के आधार पर पक्षक स्वयं ही यह निर्णय कर लेंगे कि पुनरावृत्ति इष्टिकोश क्या है—

४७ [१]-निगु एणव्ययोपासनात्मक (वैराग्यमय अद्वैतलक्षण-सर्व श्रेष्ठ) भक्तिमार्ग (बुद्धियोग)—

१-तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।

मक्त्या विरक्त्या ह्यनेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ (३।२६।७२।)

२-प्रकृतिस्वोऽपि पुरुषा नान्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

अविकारादकर्तृत्वाभिगुणत्वाज्जलार्धवत् ॥ (३।२७।१।) — ।

३-यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुबन्धना ।

सर्वत्र आसन्नैराम्य आ प्रवृत्तुवनान्मुनि ॥ (३।२७।२७।) ।

४ मद्भक्तः प्रतिपुद्गार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।

निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाभयम् ॥ (३।२७।२८।)

५-प्राप्नोतीहाञ्जसा धीर स्वच्छाच्छिन्नसंशयः ।

यद्गच्छा न निवर्तते योगी लिङ्गादिनिर्गमि ॥ (३।२७।२९।) ।

६-यदा न योगोपशितासु चेतो-

मायासु मिदस्य विपञ्जतः ॥

अनन्यहेतुष्वयं मे गतिः स्यात्-

आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ (३।२७।३०।) ।

—अनादिस्वाभिगुणत्वात् परमात्मायमध्याय ।

शरीरस्वोऽपि कान्तं न करोति, न लिप्यते ॥ (गीता)

७-सचसं भक्तियोगस्य निगुणस्य ब्रुदाहृतम् ।

अहैतुक्यप्यवहिता वा भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (१।२६।१२) ।

८-स एव भक्तियोगारूप्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।

यनातिव्रज्यत्रिगुण्य मवभावायोपपद्यते ॥ (१।२६।१३) ।

१

४८-निगुणाव्ययोपासनात्मकस्य बुद्धियोगमार्गस्य सर्वोत्कर्षसूचनार्थं
प्रतिमोपासनाया —अवरत्वनिरूपणम् —

१-अहं सर्वेषु भूतेषु भूताभावस्थितः सदा ।

तमब्रह्माय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविदम्बनम् ॥

२-यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् * ।

हिचार्चा भजते मौढ्यात् मस्मन्ब्रुवन्नुद्योति सः ॥

३-क्षिप्तः परकाये मां मानिनो मिषद्वर्जितः ।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमुच्यते ॥

४-अहमुष्णावचैर्ब्रुव्यै क्रिययोत्पन्नयानवे ।

नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां मृतश्रामाबमानिनः ॥

५-अर्चदावचर्चवेष्टावदीश्वर मां स्वकर्मकृत् ।

यावन्न वेद ब्रह्मदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥

६-आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।

तस्य मिषद्वयो मृत्पुर्विदधे मयमुष्णचम् ॥

—१।२६।१२ से २३ पर्यन्त ।

* यह श्रुति मना है कि, अज्ञानताकर शास्त्रार्थ में गड़बड़ होने वाले लज्जालिनी, एवं आर्य्यमाविषी ये ऐसे श्रोतों के बाप ही स्वार्थमिति की बुना चष्ट की जाती है । अवरत्न ही यह वेद का दुर्भाव है कि आब हमाप वीक्षित-बगल गर्वना ही निकल पन बुका है । मिथार विषयप्रति से करना चाहिए । पूर्वोक्त की लंगरि से शान्तीव बचनी का क्या मर्म निकलता है ? यह कृति आब कर्त्तना उच्छिन्न होचुकी है । यदि कोई “उपमर्षक ब्रजामह” से प्रमापूजन के मयजन का आम्मान करता है तो कोई उक्त पुराणबचन का मर्म म समझ कर प्रमापूजन का लयजन करता है । निज की यह वीथी विदम्बना है ।

४६-(२)-सगुण-षोडशोपजापत्युपासनात्मक-(भक्तियोग-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(भक्तियोग)

१-मामेकमेव शरण्यमात्मान सर्वदेहिनाम् ।

यदि सर्वात्ममाधेन मया स्या हस्ततोमय ॥ (११।१७।१५।) ।

२-यस्मिन्निष्ठ प्रोक्तमशेषमोक्ष पटो यथा सन्तुष्टितानसंस्थः ।

स एव संसारतलः पुराण कर्मात्मक पुण्यफले प्रवृत्ते ॥ (११।१३।२१।) ।

३-द्वे अम्य मीमे शतमूलस्त्रिनाल पञ्चस्कन्ध पञ्चरसप्रवृत्ति ।

दशैकशास्त्रो द्विसुपर्वानीहस्त्रिबत्कलो द्विफलोऽर्कप्रविष्ट ॥ (११।१२।२२।) ।

४-अदन्ति चैक फलमस्य गुधा ग्रामेधरा एकमरणवासाः ।

इंसा य एक बहुरूपनिर्जयैर्माणमयं वेद स वेद वेदम् ॥ (११।१२।२३।) ।

५-एवं गुरुपामनयैकममस्या विद्याकुठारेण कितेन धीराः ।

विद्वन्त्य वीवाशपमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ (११।१२।२४।) ।

६-मनसा ध्वसा दृष्टया गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।

अहमेव न मयोऽन्यदिति बुध्यन्ममत्तमा ॥ (११।१३।२४।) ।

७ एव विमृश्य गुह्यतो मनसम्पवस्या—

ममायया मयि कृता इति निभितार्था ।

मंक्षिष्य हर्षमनुमानसदुक्तिरीक्षणा—

ज्ञानासिना मज्जत माखिलसंशयाधिम् ॥ (११।१३।२५।) ।

८-न माधयति मां योगो न सांख्य धर्म उद्वह ।।

न स्वाध्यायस्तपस्यागो यथामक्तिर्ममोज्जिता ॥ (११।१४।२०।) ।

९-वाग्गाङ्गादा द्रवते यस्य चिरं रुदत्यमीर्त्तुर्ण इति कथिष्य ।

विद्युत्त उदगापति नृत्यते च मधुमक्तिपुक्तो ध्वनं पुनाति ॥ (११।१४।२४।) ।

१०-विषयान् व्यापयन्निर्णय विषयेषु विपद्यते ।

मामनुस्मरतश्चिर्ण मय्येव प्रविलीयते ॥ (११।१४।२७।) ।

११ तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।

दिष्टा मयि समाधत्स्व मनोमदुमाधमाधितम् ॥ (११।१४।२८।) ।

५०-[३]-सर्विकार-यत्नप्रजापत्युपासनात्मक- (कर्ममय-द्वैतलक्षण)
भक्तिमार्ग- (कर्मयोग) ।

- १-यावत् क्षयेत पराशरऽस्मिन् विरचरवरे ह्यरि भक्तियोगः ।
तावत्स्यधीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरत ॥ (२।२।१४) ।
- २-एतावान् यः यजतामिह नि श्रेयसेभ्यः ।
मगवत्पथो मावो महुमागवत्सगतः ॥ (२।३।१) ।
- ३-अक्षयं सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रस्य भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम् ॥ (२।३।१) ।
- ४-कर्मं प्रवृत्तं च निवृत्तमप्युत वदे विवक्ष्योमपक्षिज्जमाश्रितम् ।
विरोधि तर्थागपदैककर्तारि द्वय तथा ब्रह्मणि कर्म न च्छति ॥ (४।४।२०) ।
- ५-राज्यकामो मनुज वेदान् निश्चरति त्वमिषरन् यजेत् ।
कामकामो यजेत् सोममकामं पुरुषं परम् ॥ (२।३।६) ।

३

५१-(४)-सर्विकार-यत्नप्रजापत्युपासनात्मक- (ज्ञानमय-द्वैतलक्षण)
भक्तिमार्ग (ज्ञानयोग)

- १-आकर्तुः कम्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाध्वय ।
गुरुषु सत्सु प्रकृतिः क्लेशस्य सेवितः कथम् ? (३।२७।१६) ।
- २-ज्ञानेन ह्येतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रस्यात्मसमाधिना ॥ (३।२७।२१) ।
- ३-प्रकृतिः पुरुषस्यैव दक्षमाना अहर्निशम् ।
विरोधवित्री शनकरग्नयोनिरिषारग्निः ॥ (३।२७।३१) ।
- ४-अतएव गुर्वभिर्धं प्रमत्तममर्षा पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयद्भुम् ॥ (३।२७।४) ।

- ५-यदैवमध्यात्मरस कालेन बहुज-मना ।
 मर्षत्र सातवैराग्य आ ब्रह्मसुवनान्मुनि ॥ (३।२७।१७) ।
 ६-प्राणस्य शोधन-मार्गं परकुम्भकरोचकैः ।
 प्रतिकूलेन वा चिन्तं यथा स्थिरमवञ्जलम् ॥ (३।२८।६) ।
 ७-मनोऽविरात् स्याद्विरज ब्रित्तत्वासस्य योगिन ।
 वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ (३।२८।१०) ।
 ८-यदा मनः स्वं विरज्य योगेन सुसमाहितम् ।
 क्वाप्तां भगवतो ध्यायेत् स्वनासप्रावलोक्तम् ॥ (३।२८।१२) ।

४

५२-(५)-साञ्जन-विराट्प्रजापत्युपासनात्मक-(काम्यकर्ममय-द्वैतल-
 चण) भक्तिकमार्ग (दृष्टयोग)-

- १-ब्रह्मवचंसकामस्तु यजेत ब्रह्मसम्पत्तिम् ।
 इन्द्रमिन्द्रयक्षमस्तु प्रजाकाम प्रजापतीन् ॥
 २-देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
 वसुकामो बलं रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ॥
 ३-अभायकामस्त्वदिति स्वर्गकामोऽदिते सुवान् ।
 विरवान् देवान् राज्यकाम साध्यान् संसाधको विशान् ॥
 ४-आयुष्कामोऽरिषतां देवीं पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
 प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरां ॥
 ५-रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरठर्बशीम् ।
 आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमप्लिनम् ॥
 ६-यक्षं यजेत्तृणशकाम कोशकाम प्रथेतसम् ।
 विद्याकामस्तु गिरिश दाम्यम्याथ उमां सतीम् ॥
 ७-धर्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तु तन्यन् पितृन् यजेत् ।
 रत्नाकाम पुण्यजनानोज्ज्वलकामो भरुणशान् ॥

८-राज्यकामो मग्नं देशाभिर्धृतिं स्वमिषरन् यजेत् ।

कामकर्मो यजेत् सोमम् ॥

—भीमव्यासतः २३२ से ३ पर्यन्त

६ (१)-क्षितासनो जितरवासो जितसङ्गो जितेन्द्रिय ।

स्थूले मग्नतो रूपं मनः सचारयेद्विया ॥

१० (२)-विशेषस्तस्य वेदाज्यं स्वविष्टरश्च स्ववीयमानम् ।

यत्रेदे हरयते विश्वं भूतं मर्त्यं मयश्च सत् ॥

११ (३)-आयुःकोशो शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।

विराजः पुरुषो योश्चा मगवान् धारणाभयः ॥

—२११ १२४ २५ ।

१२ (४)-इयानसावीरवरविग्रहस्य यः संनिवेशः कथितो मया ते ।

संभावतेऽस्मिन् वपुषि स्विष्टे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥

१३ (५)-मः सर्वबीजस्तुभूतसुखं भात्मा तथा स्वप्नजनयितैकः ।

तः सत्यमात्रन्दनिधिं मज्जेत नान्यत्र सज्जयत आत्मपातः ॥

—११३८, १९, १ ।

५

५३-(६)-सावरणं विश्वप्रजापत्युपामनात्मकं-(काममयद्वैतलक्षणं)

मक्तिमार्गं-[कामयोग]—

क-१-देवयोनिनिबन्धना मिद्धुपामना-विश्वोपामना—

१-जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितरवासस्य योगिनः ।

मयि धारयत्येषेत् उपतिष्ठति सिद्धयः ॥ (११/१५/११)

२-मिद्धयाऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारंगः ।

तासामष्टा मन्त्राणां दशैव गुणैश्च ॥ (११/१५/१२) ।

३-सवामामपि सिद्धीनां हतुः पतिरहं प्रभुः ।

अहं योगस्य सात्त्विकस्य चाम्नास्य मन्त्रादिनाम् ॥ (११/१५/१३) ।

ख-२-मनुष्य-पशु-पक्षी-कीटादि निबन्धना-उपासना [विश्वोपासना]

- १-यद्यदिष्टमं लोके यच्चातिप्रियमात्मन ।
तत्तन्निवेदयेन्मया सदानन्त्याय कल्पते ॥ (११।११।४१।)
- २-सूर्योऽग्निर्वायुश्चैव गान्धर्वश्चैव ।
भूगर्भा सर्वाभूतानि मत्त एवापदानि मे ॥ (११।११।४२।)
- ३-सूर्ये तु विद्यया प्रय्या इविपाङ्गौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोश्वरश्च यवसादिना (११।११।४३।) ।
- ४-वैष्णवे च धुसुतकृत्या हृदि खे प्याननिष्ठया ।
वाया मृत्पृथिव्या तोषे इष्येस्तोषपुरस्कृतैः ॥ (११।११।४४।)
- ५-स्थण्डिले मन्त्रहृदयेयोगैरात्मानमात्मनि ।
चेष्टां सर्वभूतेषु समन्वेन यजेत माम् ॥ (११।११।४५।)
- ६-विष्णवेऽप्येति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाशुभ्रैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नयेत्तु ममादित ॥ (११।११।४६।)
- ७-महिषमङ्गकजनदर्शनपर्यन्तार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकम्मानुकीर्तनम् ॥ (११।११।४७।)
- ८-मत्कृपाध्वये भद्रा मदनुप्यानमुदय ।
सर्वलामोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ (११।११।४८।)
- ९-गीतगायत्र्यादित्रयोप्रीतिभिर्मन्त्रैश्चैव ।
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्यानुमोदनम् ॥ (११।११।४९।)
- १०-पात्रा इक्षिषिषान् च सर्वार्थविकपत्रम् ।
वह्निं चैव शान्तिं चैव मदीयप्रवधारणम् ॥ (११।११।५०।)
- ११-ममार्चान्धापने भद्रा स्वतः संदत्तं शोचयाम् ।
उद्यानोपवनकीडापुरमन्दिरकम्पनि ॥ (११।११।५१।)
- १२-ममार्जनोपलोपायान् मेकमप्यहं वचनैः ।
प्रदुग्धं भूय मया दामयद्यदमायया ॥ (११।११।५२।)

१३-अमानिष्वमदम्भित्वं कृतव्यापरिधीतनम् ।

अपि दीपावलोर्कं मे नोपयुज्याग्निवेदितम् ॥ (११।११।४०) ।

१४-नामसंकीर्णं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।

प्रणामो दुःखशमनस्त नमामि हरिं परम् ॥ (१२।१३।२३) ।



५४-युगधर्मभेद-निवन्धन-भक्तिमार्ग-स्वरूप—

कृतयुगे—

१-आदौ कृतयुगे वर्यो नृषां हंस इति स्मृत ।

कृतकृत्याः प्रजा ज्ञात्वा तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ (११।१७।१) ।

२-वेदः प्रजय एवाग्रे धर्मोऽहं ह्यस्वरूपक ।

उपसते तपोनिष्ठां हंसं मां मुक्तिं निविधाः ॥ (११।१७।११) ।



त्रेतायुगे च—

द्वापरयुगे—

३-त्रेतायुगे महामागः । प्राञ्चान्म हृदयात्प्रयी ।

विद्या प्रादुरभूतस्या अहमासं त्रिबन्धुखः ॥ (११।१७।२१) ।

४-विप्रवत्रियविट शूद्रा मुखपातृत्वाद्भवाः ।

वैराज्यं पुरुषान्जाता य आत्माचारलक्षणाः ।



कलियुगे—

५-एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारणत् सारणीरसम् ।

विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥

६ कुक्कुर्मापरयात् सारं सर्वतो निर्गतोऽधुना ।

पदार्थाः संस्थिता भूर्भो बीजहीनास्तथा यथा ॥

७-विप्रैर्भागवती पार्ता गेहं गेहं जने जन ।

कप्रिता कथासोभेन कथासारस्ततो गतः ॥

८-कामक्रोधमहालोमतप्याध्याकुलचेतस ।

तेऽपि तिष्ठन्ति तपमि तपः सारस्ततो गत ॥

९-मनसरचाज्याल्लोमदम्मात्पास्यदमभयात् ।

शास्त्रानम्यसनाद्यैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥

१०-अस्युग्रभूरिक्कर्मासो नास्तिका रौरवा अनाः ।

तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गत ॥

११-परिहृतास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।

पुत्रस्पोत्पादन दद्याद्दद्या मुक्तिसाधन ॥

१२-न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुर सरा ।

एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुमयः स्थले स्थले ॥

१३-अयं तु युगधर्म्मो हि वर्तते कस्य रूपम् ।

अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निष्क्रे स्थितः ॥

४५-पीराखिक्क-उद्धरखों से अनुप्राणित मक्तिमाम का स्वरूप समन्वय, एवं वर्तमानयुगे तदुपासना की भी स्वरूप-विन्युति का दुस्पर्य्य इतिवृत्त—

यह पीराखिक्क उद्धरखों से यह ता वर्तमान स्थिति ही है कि कलहमूलक कलियुग में प्रचलित मक्तिमाम अपनी ज्ञान वैराग्य-तप-प्रतिपत्ति आदि मौलिक सम्पत्तियों से वञ्चित हो ही गया है तथा ही प्रतिमा-पूजन नाममरणा गुरुपाठन आदि भक्ति के भी रूप [निरुपद्रव्यपुण्यपानना रूप] विचाररूप से कलियुग के क्षिप्त ही विहित हुए हैं उन का स्वरूप भी एकप्रकार से लुप्तप्राय ही बन चुका है । प्रतिमापूजन न स्वाध्या-मिष्टि का नाममरणा ने लोकव्याप्ति का गुरुपाठना न नामप्रसाधिक कर्तव्यात्मलक इत्यतिपूजन का ध्यान ग्रहण कर लिया है । साधन में साधन का ध्यान वहिन निभा है । यदि इहाँ तब अनाचारों में दश में प्रतिमापूजन के विरोधी उत्पन्न होचार्य तो हममें इन विरोधियों का कोई दूर नहीं माना जान्यता । और नर भी निर्वी ब है कि, यदि प्रतिमापूजन का वही धर्म है तो हमें प्रतिमापूजन का शास्त्र में तो विधान भी नहीं है ।

४६-उपासनामार्ग क सम्बन्ध में अनिवार्यरूपण अप्रवित मध्यम्य का स्वरूप-समन्वय—

शास्त्र किन लक्षण में प्रतिमापूजन का विधान करता है, इन धर्म की आलाचना तो बाटक आगे के उपासनाधर्मों में देते हैं । यहाँ इन लक्षण में केवल वही ज्ञान लेना धर्म होता कि निगुण-निधर्म-निधनार अतएव अत्यन्त का मस्तक के साथ नमननमन्य प्राप्त करने के लिए (इसी लक्षण) सर्वधर्मोपग्राह्य, अतएव परिशिष्ट निरर्थक्य का साधनमिदं हि न (मन नमन के लए) आश्रय लेना ही प्रतिमापूजन है । बिना इन साधनिक के उपासना में कभी नमनन नहीं मिल सकता ।

५७-ज्ञान-कर्म-उपासना-नामक तीनों ही पथों में अनिवार्यरूपसे अपेक्षित मध्यस्थ 'भूतभावों' का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में सर्वथा अपेक्षित शुद्धप्रमाण का संस्मरण—

न केवल उपासना ही, अष्टि ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड में भी हमें लक्ष्यसिद्धि के लिए आरम्भ में मोक्षिक इच्छा की ही अभ्यस्य करना पड़ता है। ज्ञान का उदय मूल इच्छा के समापन पर ही निर्भर है। एकमेव कर्मसिद्धि ही मोक्षिक पदार्थों के आगम की ही अपेक्षा रखती है। निर्विकल्पक ज्ञान भूतविरहित कर्म प्रतिमावस्थित उपासना तीनों ही खड्गनाशेति में सर्वथा निरर्थक है। इत्युक्त किना प्रतिमा-मात्र के शरीर मूर्तियों की शास्त्रीया योग्यता एवं लीलायी योग्यता कभी समन्वित नहीं हो सकती। प्रश्न है—प्रमाणवाद का। और प्रश्न आवश्यक भी है बल्कि निम्न लिखित आदेश हमें अपने शास्त्र-कृत्य मार्ग के निर्वाह के सम्बन्ध में शास्त्रप्रमाण की आवश्यकता की ओर ही आकर्षित कर रहे हैं। देखिए !

१-‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थिता ।

आत्मा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हम्” ॥

२-‘शुद्धप्रमाणकं वयं यच्छुद्धं ब्रह्म तदस्माकं प्रमाणम्’ ।

३- ‘चोदनालक्षणेऽर्थो धर्म इत्याह वैमिनिः ।

न भवेच्चोदना यत्र सोऽधम्म इति निश्चितः’ ॥

४ ‘प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ता प्रवृत्तिमामर्थादयं च प्रमाणम्’ ।

५८-आर्यमार्ग की मान्यता से अनुप्राणित अतुल्यहितात्मक ब्रह्मशास्त्र, आर तन्मन्त्र में लिखित आदेश—

प्रमाण अपेक्षित है प्रतिमावृत्त के विज्ञान के सम्बन्ध में। और वह प्रमाण होना चाहिए शास्त्रीय। शास्त्र एक नहीं अनक है। किन्तु शास्त्र के प्रमाण से प्रमाणभक्त हुए होनेके १, वह भी एक आवश्यक प्रश्न है। यदि प्रश्नकर्ता का वह आग्रह हो कि हमें इन सम्बन्ध में केवल उन ब्रह्मशास्त्र का ही प्रमाण चाहिए, किन्ती श्रुत, स्मृत, साम आर्यवेद नाम की बार संदिग्ध प्रमाण एवं आर्यवेद में प्रवर्णित है। ऐसे प्रमाण की अपेक्षा करने वाले का अभिप्राय नहीं है कि आर्यवेदके की केवल बार ही संदिग्ध है कि कि आर्यवेद के प्रवर्णित आचार्य एवं तदनुयायी सामाजिक विद्वान् वेद नाम से व्यवहार करते हैं। एवं जिनकी कि इति में इतर १९७ वैदिकार्थ ११११ शास्त्रग्रन्थ ११११ आर्यवेदग्रन्थ ११११ उक्तितुल्य लक्षण वेद म होकर वेद के व्याख्यात्मकमान्य ही है।

५९-प्रतिमावृत्त की अपेक्षितता से अनुप्राणित अविचारितरणीया विद्या

इतनावा अनुमान के एकदेश की ही वं मानने का अभिप्राय करने वाले महाराज हैं। हमारे मानने पर प्रश्न रखते हैं कि ब्रह्मक इन बार संदिग्धों के मयी के द्वारा पाण्डित्य की प्रतिमा की का

धर्म पूजन सिद्ध नहीं कर दिया जाता किन्ना अतः इन संहिताओं में मूर्ति शब्द नहीं लिखा गया जाता वस्तु प्रतिमापूजन की वेदशास्त्रसम्मत नहीं माना जा सकता। और ऐसी दशा में यह प्रतिमापूजन-विद्वान् विमुख पौराणिक जनता हुआ अतएव वेदशास्त्रविद्वत् जनता हुआ सर्वथा स्वाभ्युदय में ही आ-जाता है।

६०-वर्तमान प्रतिमापूजन प्रकारों की तथाकथित वेदशास्त्र में अनुपलब्धि, एवं तन्नि-
बन्धना महती शिक्षा—

वैदिक हमें स्मरण होता है इन बार संहिताओं में सम्बन्ध प्रतिमापूजन का विधान नहीं है। एवं न कहीं मूर्ति शब्द ही उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में तो परम्परा का अनुगमन करते हुए हमें भी थोड़ी दूर के लिए तो यही मान लेना पड़ता है कि प्रतिमापूजन का वर्तमान रूप सर्वथा वेदविद्वत् जनता हुआ सामाजिक अतएव सर्वथा स्वाभ्युदय ही है। 'परन्तु' ।

६१-आद्यपक्षों की मान्यताओं के सम्बन्ध में समुपस्थिता महती विप्रतिपत्ति—

हम 'परन्तु' ने आद्यपक्ष जितने माधुरी की आशायें निम्न कर लीं? हम सम्बन्ध में विशेष महत्त्व की ओर आकर्षण प्रतीत नहीं होती। आद्य बरी पुगलन 'परन्तु' उक्त विद्वान्ता का भी निराकरण के लिए प्रयत्न प्रतीत होता है। 'संहिता में प्रतिमापूजन का विधान नहीं संहिता में मूर्ति शब्द नहीं हमसिद्ध मूर्तिपूजन अवैदिक, एवं स्वाभ्युदय है' यदि हम इन का सामाजिक मान लिया जायगा तो आद्यपक्षों का कार्यमात्रक को भी विधान सुरक्षित न रह सकेगा।

६२-'मन्त्रादिभिः' से अनुप्राणित संस्कारों की इतिहासप्रत्यक्षाओं से एकान्ततः अस्मृष्ट वेदशास्त्र और महाशुपबन्ध ॥ प्रतिप्रवृत्तात्मिका शिक्षा—

उपहरक के लिए मन्त्रादिभिः में प्रयुक्त मन्त्राद्यन पुनर्जन आदर्श सामर्थ्य अन्वयान् यन्त्रादीन् विवाह आदि जितने भी संस्कार हैं जिन संस्कारों का आभ्युदयान् चरित्र मानने का अनुमान कर रहा है। तब हेतुवाद के आगे इन में से किसी भी भी सामाजिकता सुरक्षित न रह सकेगी। कारण स्पष्ट है। विप्रकार संहिता में प्रतिमापूजन की पद्धति नहीं है एवमेव यह स्मरणीय की पद्धति (इतिहासप्रत्यक्षा) का भी नहीं का यन्त्रिक आभाव है। आद्यपक्ष तो यह है कि अनिमित्तक सत्तम लक्षणपूर्वक जिन यन्त्रों की स्त्री-शुद्धि के गले में डालना एक वैदिक कर्म समझते हैं। आरी मन्त्राद्यों का अर्थ न ही पश्यन्त यन्त्राद्यन करने पर भी वे 'मन्त्रापर्याय' शब्द में मिलेगा जबकि मूर्तिपूजन का ही स्वरूप प्रतिमापूजन एवं पूजनशब्द का ही स्वरूप अर्थात् विना अर्थन शब्द में ही स्थानी में स्पष्ट मूलसंहिताओं में ही प्रयुक्त मिलेगा।

६३-ज्ञानव्यपार-निबन्धन वेदशास्त्र का विद्याशास्त्र' समन्वय—

हम आचार पर १३३ हम उन आभ्युदयों में यह निबन्धन नहीं कर सकते कि पद्धति के न मिलने के मूर्ति शब्द का न मिलन से ही य. प्रतिमापूजन आर की दृष्टि में वैदिक है न? आर ही में आर का समान रूपी मूर्ति विराजमान होकर देने चाहिये। यदि आभ्युदय जितने भी धर्म की पद्धति संहिता में निरूपित नहीं है। और निरूपण हीमा भी नहीं चाहिये, जबकि पर का न ही आर के रूप आभ्युदय में ही १३ हेतु स्पष्ट केवल विद्यापूजन के विद्यापूजन है।

६४-सर्वथा विमक्त 'विद्याशास्त्र' एवं 'धर्मशास्त्र,' तथा तन्निबन्धन 'ज्ञातव्य,' और 'कृतव्य वेद का संस्मरण—

माखीयशास्त्र को विद्याशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में से ही मार्गों में विमक्त माना गया है। धर्म का मोक्षिक रहस्य कहलाने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र है एवं मोक्षिक रहस्यों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्तव्य-इतिवर्तमान-निरूपक शास्त्र धर्मशास्त्र है। हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस कृतव्य-कर्तव्य-धर्मशास्त्र की (आदेशनामाक्यों के द्वारा) व्यवस्था करने वाला शास्त्र धर्मशास्त्र है एवं 'क्यों करना चाहिए, क्यों नहीं करना चाहिए ?' इस क्यों का (रहस्यशिखण के द्वारा) उन्माधान करने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र कहलाता है।

६५-विद्या-उपनिषत् एवं भद्रा से समन्वित कर्म की वीर्यवता का स्वरूप-समन्वय, तथा विद्या धर्मेण शोभते का संस्मरण—

विद्या का केवल सम्प्राप्तन एवं सम्प्राप्तन से सम्बन्ध है एवं धर्म का सम्बन्ध आचरण से सम्बन्ध है। जानना विद्या है करना धर्म है। विद्वान् विद्या है विद्वान्वातुगमन धर्म है। यदि धर्म विद्यामय है तो 'अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्वाहनं स्थानं पदे पदे' के अनुसार वह पतन का कारण बन जाता है। 'बद्धं विद्योपनिषदा भद्रया करोति तदेव वीर्यवत्तरं यच्चति' इत्यादि अति विद्यापूरक धर्माचरण (कर्तव्यानुष्ठान) को ही वीर्यवत्तर कहला रही है। एवमेव यदि विद्या धर्ममय है तो वह निरर्थक है। 'ततो मूढ तं उमो य स विद्यायां रता' इत्यादि अति केवल विद्या को ही उपा कहला रही है। विद्या (ज्ञान) की हीमा धर्म (आचरण) है— विद्या धर्मेण शोभते।

६६-विज्ञान-स्तुति-इतिहासपरमक ज्ञातव्य-वेदशास्त्र एवं कर्म-उपासना-ज्ञानात्मक कृतव्य-वेदशास्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण—

इस कृतव्यत्मक धर्मशास्त्र के भागे बाहर अति स्मृति व ही मेर ही जाते हैं। वैदिक ज्ञातव्य, एवं वैदिक कृतव्य में से एक ही वेदशास्त्र ही मार्गों में विमक्त हो जाता है। विज्ञान स्तुति इतिहास से तीन ज्ञातव्य नियम हैं। एक तद्विषयक मन्त्रज में इसी तीन ज्ञातव्य विषयों का निरूपण हुआ है। कर्म उपासना ज्ञान (मौक्तिककर्म माध्यामिककर्म आध्यात्मिककर्म) के तीन कृतव्य नियम हैं। आध्यात्मिक वेद के विभिन्न आचरणक, उपनिषत् तीन मार्गों में क्रमशः इन तीन कर्तव्यमार्गों का निरूपण हुआ है। वैदिक कृतव्य, एवं समाप्त कर्तव्य में कृतव्य इति से कोई विशेष अन्तर नहीं है। कृतव्यत्मक वेदमार्ग में तीन कृतव्यों का निरूपण हुआ है मन्त्रादि स्मृतियों में उन्ही का स्वीकरण किया है। स्मरणार्थ निरूपणार्थ पद्धति-मार्ग में।

६७-धर्मरहस्य-प्रतिपादक भूतिशास्त्र, एवं धर्माचरण-प्रतिपादक-स्तुतिशास्त्र, तथा तत्सम्बन्ध में रात्रिपि मनु—

स्तुतिशास्त्र केवल कर्तव्यकर्तव्य के सम्बन्ध में विधि-नियम कर के उद्घरण बैठ जाता है। वह इन कर्तव्यों का मोक्षिक रहस्य (विद्या) नहीं बताता। नहीं नहीं, यदि उसके क्षेत्र उन्ही काशा के

सम्बन्ध में ऐसा ही क्यों करें ? यह हेतु सामने रखने की वृत्तता कर बैठता है तो पहिले तो सीधे शब्दों में यह—“धर्मं विज्ञात्तमसमानानां प्रमाणं परमं भूतिः” (यदि तुम्हें धर्म का मौलिक रहस्य जानना है तो वेद का आश्रय लो) यह उत्तर देना है। यदि हेतुवादी गुणाग्रह करने लगता है तो उसके मुँह से निम्न लिखित उत्तर मिलता है कि—

योऽधमन्येत ते मूले हतुशास्त्राभयावृद्धिः ।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—मनु—

६८-‘विद्याशास्त्र’ तथा ‘धर्मशास्त्र’ अभिधानों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

ऊपर कर्म्मशास्त्र (शास्त्र-आश्रयक-उपनिषद्क) वेदशास्त्र कर्म्मिकर्म्म के सम्बन्ध में विधि-निषेध करता हुआ साथ साथ इनका मौलिक रहस्य (विद्या) भी बतलाता जाता है। प्रत्येक कर्म्म-उत्पत्ति-ज्ञानरूप कर्म्म के साथ ही उसकी उत्पत्ति प्रतिपादित है। अपनी इस विद्यात्मिक विशेषता से ही भागे जाकर कर्म्मशास्त्र को उपपत्तिक कर्म्म यह ‘धर्मशास्त्र’ विद्याशास्त्र नाम से प्रसिद्ध होता है एवं केवल स्मृतिशास्त्र ही ‘धर्मशास्त्र’ नाम का अधिकारी बन रहा है।

६९-विशुद्ध विद्याशास्त्र, विद्यागमित धर्मशास्त्र, एवं विशुद्ध धर्मशास्त्र-मंडनिसूचना शास्त्रत्रयी का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय—

निष्कर्ष यह निकला कि विद्याशास्त्र वेदशास्त्र है। इसके सातव्य-कर्म्म-वेद से दो विभाग हैं। शक्त्या विन्यवधी (विज्ञान-भूति-इतिहासत्रयी) का निरूपक संक्षिप्त रूप मन्त्रत्रय है। इसमें किसी भी कर्म्मिकर्म्म का निरूपण नहीं है। एवं कर्म्मविन्यवधी (कर्म्म-उत्पत्ति-ज्ञानत्रयी) का निरूपक विधि-आश्रयक-उपनिषद्क नाम शास्त्रत्रय है। इस प्रकार ‘मन्त्रशास्त्र-विद्याशास्त्र-धर्मशास्त्र’ एवं आपौष्टिक से प्रमाणीकृत मन्त्रात्मक वेद विद्यात्मक बना हुआ है शास्त्र नाम के विद्यागमित धर्मशास्त्र बना हुआ है। धर्मशास्त्र के नाम के आधार पर प्रतिष्ठित कृत्वा शास्त्रों में भीतकर्म्मों का प्रतिपद अनुसरण करने वाला विशुद्ध विधि निषेधात्मक स्मृतिशास्त्र विशुद्ध धर्मशास्त्र बना हुआ है। इस दृष्टि से प्रमाणीकृत शास्त्र के—१-विशुद्ध विद्याशास्त्र—२-विद्यागमित-धर्मशास्त्र—३-विशुद्ध धर्मशास्त्र ये तीन में दोषरहित हैं। इन तीनों में से विशुद्ध धर्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) बह प्रामाणिक माना जाता है किन्तु मूल विद्यागमित धर्मशास्त्र के किसी पर्व में (विधि आश्रयक पर्व उपनिषद् में) एवं विशुद्ध विद्याशास्त्र में [संक्षिप्त में] प्रतिष्ठित रहता है। वेदशास्त्र में विशुद्ध धर्मशास्त्र वर्णना उपेक्षणीय है जैसा कि निम्न लिखित आशय से ही स्पष्ट है—

या वदयाद्वा स्मृतयो याम काय कुराण्य ।

सबाहता निष्कला प्रेत्य समोनिष्टा हि सा स्मृताः ॥

- १-विज्ञानम्—सबकुछसहितसबकुछपरविज्ञानगमितम्
 १-सृष्टिः—प्रत्ययेवलात्कल्पपरिचयकत्वा
 २-विविधता—सृष्टीविधयुक्तो वैषम्यगुणः
- ज्ञातमयी [विद्यात्मिका]

- १-कर्म—आधिभौतिक विद्युत् कर्म
 २-उपात्तम्—आधिभौतिकविद्युत् कर्म
 ३-ज्ञानम्—आधिभौतिक विद्युत्-कर्म
- कर्तव्यमयी [विद्यागमिता]

- १-व्यापकम्—आधिभौतिकः
 २-व्यापकव्यपकम्—आधिभौतिक आधिभौतिकः
 ३-व्यापकव्यपकम्—आधिभौतिकः
- कर्ममयी [कर्मात्मिका]

- विद्यागमिता
 वेदगमिता
 १-ज्ञातमयी—विद्युत्विद्यात्मिका—विद्यागमिता—वेद (विद्या) मयी
 २-कर्तव्यमयी—विद्यागमितव्यपकविद्या—विद्यागमिता—वेद (विद्या) मयी
 ३-व्यापकव्यपकम्—विद्युत्कर्मात्मिका—व्यापकव्यपकम्—वेद (विद्या) मयी

७० शास्त्रमारम्भ से अनुप्रासिता एक प्रासङ्गिकी विज्ञाता एवं तत्समन्वय-प्रयास —
 इस कल्पन में पाठकों के हृदय में एक नवीना विज्ञाता उत्पन्न होसकती है । शास्त्र-कारण के प्रति-
 रित्त कर पुनर्प्राप्त के लक्षण में और कुछ यही सब रहता एवं ज्ञातमयी का सब मन्त्रमात्रे कर्तव्यमयी
 का विधि आरम्भ-उपनिषद्का आरम्भमात्रे निकल कर दिया तो फिर तीसरे कर्मरास्त्र किंवा सृष्टि-
 रास्त्र की आरम्भता ही क्या रह गई ! । कभी सृष्टिरास्त्र का निम्नोक्त रूप शास्त्रमार कहा गया ! ।

७१ भारतीय-शास्त्रात्मिका की गुरुभारान्विता परम्परा के सम्बन्ध में विज्ञाता की
 विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन—

मनमोहक नहीं सम्राट् नहीं होसती । मन्त्रादि सृष्टियों के अतिरिक्त १८ पुरुष १८ उपपुरुष-
 मेरुमिथ पदविशेषों पर प्रत्यक्षरास्त्र पदविधि (१) कल्पमन्त्र कर्तव्यरास्त्र (१४) [कर्मव्यपकम्]

भक्ति-सङ्घर्ष] सिद्धांतप्रमथ अष्टविध (६) कामप्रमथ दशविध () धामप्रमथ चतुष्टयविध (१४) कर्मप्रमथ सम्मूह विंशोत्तरशत (१२) अत्रान्तर मार्गों में विद्यमान पद्धति अनामशास्त्र भीतकृत रत्नसूत्र धामयाचारिकसूत्र केन्द्रित विविध कल्पप्रमथ अत्रान्तर अनेकों विभागों को अपने गर्भ में रखने वाले विज्ञान कल्प कृत व्याकरण-निरुक्त ज्योतिष नामक अङ्गप्रमथ महाभारत १६ अत्रान्तर मार्गों में विद्यमान पद्धतौनप्रमथ, शुद्धादिनीतिप्रमथ आदि आदि उन अर्थस्य प्रमथों के निर्माण की ही वक्राकारप्रकटा थी, जबकि, सब काम शास्त्र-विद्यमान वेदास्त्र से ही सिद्ध था ।

७२-वैदशास्त्रप्रमथों के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का समुत्थान—

और फिर उन ११०७ उद्धृष्टों की ११३ भाषणा आरम्भक, उपनिषद् की ही क्या आनन्दकथा थी जबकि ४ उद्धृष्टप्रमथों से एका एक एक भाषणा आरम्भक-उपनिषद् से ही सब कुछ ज्ञायमान था ।

७३-प्रतिमापूजन की अवैदिकता के उद्घोषक-वर्ग में प्रतिप्ररनात्मिका जिज्ञासा—

प्रतिमापूजन को वैदिककृत कहलाने वाले उन बुद्धिमानों में क्या कमी उक्त प्ररनों की मीमांसा करने का कष्ट उठाया है ? और फिर हम उन्हीं से यह प्ररन क्यों न करें कि मणवत् ! कर्त्तव्यकर्म के लिए जब अनारिक्ता से कर्मप्रतिष्ठा प्रचालित है तो फिर आपने इन स्वतन्त्र संस्कारविधि आदि महाप्रमथों को रत्न देने का क्या क्यों उठाया ? जब आगम-पुण्ड्रादि सब कल्पित हैं वैदिककृत हैं केवल वे ही अमृतकर्म हैं तो उन मन्त्रसंहिताओं से ही आपने क्यों नहीं अपने मणवत् को सुरक्षित रखने का कष्ट उठाया ?

७४-वास्तविक शास्त्र, तथा शास्त्राभासों का समतुलन, एवं शास्त्राभासों की उपसर्गीयता—

मनवसो २ की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली भीति अर्गला लगा रही है । नहीं तो उक्त शास्त्रों के सभी अत्रान्तर विभागों का मौलिक रहस्य सेवा में उपस्थित किया जाता और उसके आधार पर भीमानी की यह स्थिति कथना जाता कि सभी शास्त्र किसी आधारवस्तु प्रबोधन की लक्ष्य में रगड़ रही अक्षीयों हुए हैं । ही उन शास्त्राभासों की बात तो जाने दीजिए, जो वैदिकप्रतिष्ठा से अर्थात् विद्वत् बनते हुए एकादशः उद्घोषणीय ही हैं ।

७५-मूलात्मक-यज्ञपुरुष, सुज्ञात्मक कालपुरुष, जय तस्मिन्बन्धन पुरुष, तथा प्रकृति विषयों का तार्थिक-पारिभाषिक स्वरूप-ममन्वय और पुरुष की समष्टि-व्यष्टि-रूपा पृथक्ता का स्वरूप-सम्बरण—

प्रमाण-जज्ञति के लिए सभी उक्त शास्त्रभेद के लक्ष्य में केवल यही ज्ञान लेना आवश्यक होगा कि पुरुषप्रतिष्ठा ही शास्त्रज्ञान की प्रतिष्ठा है । गीता के शब्दों में-प्रकृतिपुत्र अमृतपुरुष, एक मात्रमूर्तिना के शब्दों में अक्षरब्रह्म (अमृतब्रह्म) सर्व-व्याप्त होता है । इस पुरुषज्ञान के अक्षरब्रह्म महाभाषा एवं व्याख्या योगभाषा के लक्ष्य-नामताय से प्राप्त ज्ञान में न ही रूप होता है । पुरुषपुरुष ममन्वय है बालपुरुष ममन्वय है । पुरुषपुरुष पुरुषपुरुष है बालपुरुष प्रकृतिपुरुष है । अक्षरमृत है । अक्षरमृत

महामायाविष्णु मनुष्य (वाचस्पतिविरचित) अर्थात् नीचा गुणतीता महामाया के स्वरूप में
रहा हुआ स्वस्वरूप में विकसित रहता हुआ प्रकट बना रहता है। उपर परब्रह्म मोक्षार्थी के
पुण्य (विष्णुविरचित) परिकामीय विष्णुमायामयी मायामाया के मन्त्र से मनुष्य-परिवर्त-मनुष्य-मा-
नता हुआ स्व-स्वरूप से आहत होकर प्रकटि म निर्गोहित बना रहता है— 'नाह प्रकारा तस्मै केवल
ममावृता । इत्यन्तर अन्तर-स्व-प्रकृति के मे' म उत एक ही पुण्य के पुण्यप्रधान यज्ञपुण्य, इति-
प्रधान कर्मपुण्य व ही निर्वाही होता है। अन्ती ही निरवधारक है परब्रह्म एक (ब्रह्म) अर्थात्
रूप से— "तनेहं एष पुरुषण मयम्" । एवं एक (कलापुत्र) व्यधिकर से— "पुराणके विना" "इह
एवं मयम् ।

७६ विश्वदृश्यमूर्ति यज्ञपुत्र की त्रयीविद्यात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-मन्त्र—

"यज्ञो विश्वरूप इत्यमम्" के अनुसार अपने तन्मात्रों से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त यह
यज्ञपुत्र वरकर्म में विश्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। पारक यह जानते ही कि निरवधारक में
प्रतिष्ठित है— "आदित्यो वै विश्वस्य इत्यमम् । केन्द्रमणिष्ठित इति अर्थ में किन्ना सौन्दर्य में
गारिक वैश्वरूप के आकार पर वर-पुत्र की वरविष्णु का विकास होता है जेन कि— "सैव त्रयीवि
तपति — 'गीता त्रयीविद्या कण्ठाः । इत्यादि निगमवचनों में स्पष्ट है।

७७-पुराणानुगत-यज्ञारम्भ-सांगुत्र स अनुप्राप्तिता नित्या अपौरुषेया निगमविद्या, ज्ञा प्रकृत्यनुगता-कालात्मिक-पारिषा प्रकृति स अनुप्राप्तिता नित्या आगमविद्या का रहस्यपूर्ण समन्वय, आर तन्मन्त्रना निगमागमशास्त्रद्वयी का संस्मरण—

पुरे अन्तर्गतक प्रकृत्यनुगता कालपुत्र से कालात्मक पारिषद्यन्त्ररजः का आविर्भाव होता है।
जो पारिषा साक्षर कलनात्मिक पारिषा प्रकृति का मायविद्या का कला है। यही उत वेदात्मक यज्ञपुत्र का
वृत्ता का है। वित पूर्व प्रकरणों में हमने वैश्वरूप-विश्वरूप-पारिषा विरट कहा है। वह यज्ञपुत्र का
निर्गत होने से निगम है। यह कालात्मक निगम से प्राप्त होने से आगम है। वह नित्य शास्त्रों के वे ही
ही मन्त्रा का है। अर्थविद्या कालविद्या है। पुरुषविद्या है। पारिषदविद्या कालविद्या है। प्रकृतिविद्या है।
पुरुषविद्या नि का निगातिता है। पारिषदविद्या निगमनिगमप्रभृता शास्त्र-आगमविद्या है। निगमविद्या निग
निगमविद्या है आगमविद्या निगम आगमविद्या है।

७८-निगमागममूलक मन्त्रशास्त्रात्मक वेदशास्त्र एवं तन्मूलक पुराण स्मृति-इतिहास- रमक शास्त्र का स्वल्प-संस्मरण—

इही वेनी निगमविद्या का के अन्तर्गत पर प्रकृत शास्त्री के आचार पर शास्त्रमन्त्रों के साथ यज्ञ-
पुत्र निगम-आगम-पारिषा का निगम होता है। निगमशास्त्र के अन्तर्गत (प्रकृतिमेव के अनुसार ही)
मन्त्र शास्त्र हो मन्त्र पर प्रकृति है। पुरुष-इतिहास-स्मृति आदि विभाग पर प्रकृति है।
आगम के अन्तर्गत अनेक वेद ही प्रकृति है। पुरुष-इतिहास-स्मृति (महामायातन्त्रमय)

आदि के लिए भी मयवत्पात भीतरकर आदिने— 'यथाह स्मृति' इत्यादि रूप से स्मृति शब्द का ही व्यवहार किया है। अब निगम के मन्त्र-ब्राह्मण भागों से ही ज्ञातव्य-कर्तव्य की निश्चि गताय भी तो हीन? स्मृतिशास्त्र का कर्म क्यों हुआ? इन प्रश्न का यही निश्चित उत्तर है।

७८-ज्ञातव्यप्रयी का निरूपक वेदशास्त्र एवं तदाधारण आर्य्यभगत क मन्मुख महती विप्रतिपत्ति का संस्थापन—

संहितात्मक वेदभाग जब केवल ज्ञातव्यप्रयी का निरूपक करता है तो उसमें कष्ट-व्यभिचि का ध्वने-पण करना कृते शब्दों में आचार व्यवहार वर्णानाम संस्कार अवधारणान् मूर्तिरूपन आदि आदि धर्म-कर्मों की पद्धति होना पागलपन नहीं, तो और क्या है? यदि इनकी उन्मत्तता का नाम ही वेदमति है तो क्षणिक आत्र मे ही स्मृति तबल भीतिविशेष आदि यशोपवीति निरूपक, हवन भजन । क्योंकि इनमें से किसी एक को भी इतिवृत्तता संहिता में विहित नहीं है। एवं विप्र इतर शास्त्रीय आदेश की पद्धति मूलन होना में न हो वह आदेश आपकी दृष्टि में अवैदिक किंवा वेद-विपक्ष बनता हुआ सर्वथा स्वा-क्य है।

८०-प्रिय महाशयवर्ग से प्रकाशमावेन किञ्चिदिय मामयिक-आवेदन—

प्रिय महाशय ! आपको हमरण स्मना चाहिये कि आप्येवर्त के विपक्षे भी धर्मविशेष है किन्तु भी वनशानुष्ठान है उन सब का संहिताओं में प्रत्यक्ष अवधारण के आधारकी मूलमात्र मिल मज्जा है पद्धति नहीं। ही यदि किसी कष्ट-व्यनुष्ठान का मूल संहिता में न मिले तो वह व्यापारदेश अवश्य ही अध्यात्मिक माना जायगा एवं वन्नाय उही स्मृति की तभीनेप्य रूप जायगा।

८१-प्रतिपादनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिदिय प्रामाणिक-नम्र निवेदन—

पूर्व में कहा जा चुका है कि वेदशास्त्र के विपक्ष विद्यात्मक एवं विद्यागमिन् धर्मोपलब्धि का विभाग है। संहितामात्रक मन्त्रमय तो विपक्ष विद्यात्मक है। इनमें तो करण काव्यानुष्ठानी के करण मूल ही उपलब्ध होने। कृतमिति आत्मवर्ण-उपनिषद्वाक्य ब्राह्मणमात्र विद्यागमिन् धर्मोपलब्धि है इनमें अवश्य ही प्रतिपादन की इतिवृत्तता भी विहित हुई है। और बड़े विस्तार में विहित है। वेदोक्त हमारा विशाल है आदेशक तो ब्राह्मणमात्र का लाक्षणिक वद म मानता हुआ भी इनकी प्रामाणिकता अवश्य ही स्वी-कार करता है। ऐसी दशा में तो सर्वत्र उनके मतानुसार भी प्रतिपादन नयाँ प्रामाणिक बन जाता है। ही भी पद्धति उन संहितात्मक मूलवद का ही आधारणों के मतानुसार बार संहिताओं का ही अवधारण कीजिए। वेद उनमें प्रतिपाद वृत्त का मूल उपलब्ध होता है आपका नहीं है।

८२-प्रामाणिक विपक्ष के पूर्ण तथा अवधारणों का पावन संस्मरण—

मूलमवेप्य न पहिले इन माधव में एक रत्नमात्र की लक्ष्य बनाना अवधारण होना। लक्ष्यमात्र पण्डित यह भी मने हीने कि पूर्व के उदाहरणमात्रों में यह दृष्ट वद गृहीतव्य विद्यात्मक है कि अवधारण-मन्त्रों का विपक्ष म धर्म के विपक्षवत्ता के ही माधव माधव है। प्रत्यक्षमात्र ही विपक्ष है एवं मन्त्रों अवधारण ही के वर्णानाम विद्या अवधारण है।

८३-अथचरमूर्तिप्रजापति का स्वरूप-मंस्मरश्च, एवं तन्निष्पन्नं संपत्तीकन्दसी रोदसी विलोकी और सर्वव्यापक-अवस्थायुष का स्वरूप-मन्त्रवप—

निकला प्रजापति के प्रतिशालाक्षक ब्रह्मा आत्मनिष्पन्न विष्णु गतिनिष्पन्न-इन्द्र ने तीन पर्य है। ब्रह्मा स्वयम्भू है एकाकी है एवं ये लयतीरोलोन के अभिज्ञाता है। विष्णुनेवता इन्द्र के मुख्य-मन्त्रा है— “इन्द्रस्य सुम्भः मन्त्रा । पारमेष्ठ्य-सोम (अक्षरगवना के अनुसार बीधा काचर) इनकी प्रतिज्ञा है। अतः एव विष्णु की सोमवरी किंवा सोममूर्ति माना गया है— “यो वै विष्णु मामा सः (राजपत्र) । इस-प्रकार विष्णु सोम इन्द्र इन तीनों की समष्टि ही विष्णुतत्त्व है एवं वी विष्णुनेवता कन्दसी-वेतोत्तव के अभिज्ञाता है। पीकरे इन्द्रदेवता अग्निप्रधान सोमगर्मित बनते हुए निम्नर्ति हैं। इन्द्र का स्वर्ण-मन्त्रा में सोम का वनरूपता में एवं अग्नि का पृथिवीरूपता में विद्यमान है। स्वर्ण-मन्त्रा-पृथिवी की समष्टि ही इन्द्र-सोम-अग्निमूर्ति इन्द्र देवता है वही विनेषविष किंवा महादेव है। “महो वषो मयी आविषरा” वासे वही वृषसनाहन देवादिदेव महादेव है। स्वर्ण-मन्त्रा-पृथिवी की समष्टि ही रोदसी विलोकी है। इसके अविष्टाता ये ही इन्द्र प्रधान महादेव है।

८४-अवस्थायुष के अयोभाग में अवस्थित मगवान् भूतनाथ क आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण—

अवस्थायुष के मूल में ब्रह्मा प्रतिष्ठित है मध्य में विष्णु प्रतिष्ठित है एवं अन्तिम पर्यंरूप रोदसी में ये त्रितेज महादेव प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली वर्णशक्ति ही निम्निय कमल है। वही ‘पद्मा भूमि प्रतिष्ठित’ के अनुसार इनका आकृति (प्रतिष्ठाभूमि) है। सुहृम (अवस्थायुष) के अक्षतलोपनिषद-रोदसी-विलोकी में प्रतिष्ठित इही गुणतत्त्व का स्वरूप कलाता हुआ आगमरात्मक रहता है—

व्याख्या मुद्राचमालाकृताशुसुखिते बाहुमिर्बाममाह ।

विभ्रायो आनुमृन्ना पदतलनिहितापम्पुतिर्दुर्माषः ॥

सौवर्णे यागपीठ सिपिमयकमले वृषविष्टिनेध ।

वीरामरकन्मौलिर्वितरत विबुधां शुद्धबुद्धिं विप्रो न ॥१॥

८५-अमृत-मृत्यु-संस्थान-विशेष, एवं मृत्युविजेता मगवान् मृत्युञ्जय महादेव का माङ्गलिक संस्मरण, तथा तदनुगता चिह्नोपासना का दिग्दर्शन—

स्वर्ण से ऊपर का भाग अमृत-प्रधान बनता हुआ अभ्यक्त है। एवं नीचे का भाग मृत्यु-प्रधान बनता हुआ व्यक्त है। स्वर्ण ही व्यक्तीभाव का उपग्रह-रचना है। प्रत्यक्ष में वही श्रेष्ठविजोती की अग्नि-व्यक्ति होखी है। मृत्युपारा से बाध पाने के लिए वही मृत्युञ्जय का यन्त्र आवश्यक है। वही तत्त्व अभ्यक्त विष्णु-ब्रह्मा का सिद्ध (परिष्ठापक) है व्यक्त ॥ अभ्यक्त का सिद्ध बनाता है अतएव इस व्यक्त महादेव (महादेव) की ‘सिद्ध’ रूप से ही उपासना की जाती है क्योंकि आगे के प्रकरणी में स्पष्ट होने वाला है।

८६-वयस्कद्रात्मक सौर महादेव, एवं विह्वलात्मिका स्त्रप्रजा का स्वरूप-समन्वय, तथा व्यक्त मूर्ति मूर्ति मावानुबन्धी इन्द्रात्मक-शिव के औपामनिक स्वरूप का दिग्दर्शन-

मन्त्र में इस देवत्रयी के स्वरूप-स्मरण से यही नतमाना है कि, चीनों में ब्रह्मा एक तत्त्वमेवता है विष्णु और इन्द्रात्मक शिव देवता ही आगति-गति धर्म से सहस्रत्रयीरूप विरुप के सर्वोत्कर्ष पर रहे हैं। जैसा कि 'इन्द्राय विद्मो यक्षस्यैवेवा श्रेया सहस्र धितर्त्रयेयाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इन में वक्ष्यवि विष्णु अत्यन्त धनते हुए अनिरुक्त हैं, एवं मूलमूर्ति शिव व्यक्त बनते हुए निरुक्त हैं। अनिरुक्त विष्णु अमृत जगत् के संवालाक है एवं व्यक्त शिव मूर्त जगत् के सञ्चालक है। मूर्ति (भीतिक इत्यप्यर्थ) मात्र इत्येव जगत् है एवं वह सुसुप्तावस्था है। सुष्य से आरम्भ कर नीचे नीचे इसी मूर्तिकावस्था परमार्थ विरुप का प्राप्तावस्था है जैसा कि—'तद्यत् किञ्चात्मावीनमादित्वात्-मन्त्र तन्मृत्युनाप्यम्' इत्यादि आशयमस्ति से स्पष्ट है। इस का 'अयं करने वाले बड़ी मृत्युक्रम महादेव है। मृत्युक्रम के चक्र-वि-मेद से ही रूप मान गये हैं। प्रत्यक्ष ही तन्मृत्युक्रम है एवं सूर्य की अनन्तरदिग्दर्शन विह्वल (वक्ष्यप्रजा) है जैसा कि-निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

अमा यस्ताम्रो अरुण उत वज्र सुमङ्गल ।

ये चैनं क्त्रा अमितो दिष्टु भित्ता सहस्रयो वैषां इह ईमहे ॥

असी योऽनमर्पति नीलप्रीवा विलोहित ।

उतैन गोपा अहरयकदृश्य-नुदहाय -म ह्यो मुह्यतातु न ॥

—यजुर्महितायाम्

८७-ताम्र सुमङ्गल-नीलप्रीवादि-सद्यः श्रम्यक शिवतत्त्व, एवं उन के शिवशरीर, तथा पौरशरीर का पावन-संस्मरण—

'असी ताम्र सुमङ्गल नीलप्रीवा' विलासित हस्त- इत्यादि शब्द इस के व्यक्तीभाव का ही सम्यक् कर रहे हैं। इस व्यक्त कदवत्त्व का मौलिक स्वरूप है 'सावित्रारि'। इस अनित्यत्व के ही शिवशरीर पौरशरीर मेद से ही स्वरूप बन जाते हैं। जबकि अग्नि के श्रम्य सोमाहुति का लक्ष्य है तबकि तो इन्द्र देवता परब्रह्म बनते हुए शिव बने रहते हैं। सोमाहुति के अवरुध होशान पर व ही ब्रह्म धारण करवत् विष्णुत्व बन जाते हैं। जैसा कि पौराणिक दृष्ट-यक्ष्यताम्रयान से स्पष्ट है।

८८-अग्निपरमग्निदधता की शान्तधनु, एवं आहुतिनिरोधानुगता पौरधनु का संस्मरण—

शरीरगति की बड़ा लक्ष्यप्रिय। ब्रह्मक नाय मातः इस में सोमरूप काय की आहुति होती रहती है तबकि तो अग्नि वक्ष्य शान्त बना हुआ शरीरलक्ष्य की दृष्टि शरीर में शरीरगत की धा करने रहते हैं। सोमाहुति का होशान पर वही निगुह पौररूप धारण करवा हुआ अनाश का वाग्य बन जाता है। ब्रह्म के वही वीर्य स्वर्ण की लक्ष्य में लक्ष्य धृति रहती है—

या से रुद्र शिवा तनूरपोरा पापकाशिनी ।

तथा नमन्वा शन्तमया गिरिशन्त ! अमिवाकशीदि ॥

—यजुर्महितायाम्

८६-भावशमास उपास्य शान्तशरीरी साम्प्रदायिक, एवं काम्यशुनमासे उपास्य शरीरी लोदेव का संस्मरण—

अनिर्वाच्यः सः तस्यैते द्वे त्वं पौरुषा च शिवाया च' । शरीरशरीर विगुह्य अनिमित्त वनर मंगार की कलाय दुष्का मूत्र' है । शिव-शरीर आधोमय वनय दुष्का मंगार का स्थान करता दुष्का "मात्र सदाशिव" है । पारमेष्ठ्य भाव (मोन) के मन्त्र में वही साम्प्रदायिक है विगुह्य में वही सदाशिव है । भावशमास साम्प्रदायिक की उपासना का लक्षण है एवं काम्यशुनमास वदतामनासना है । काम्य, दत्त विगुह्य में वही छोड़ कर प्रकृत का अनुसरण कीजिए ।

६-अवतारमात्रनिर्वाचन अभ्यक्त विष्णु एवं उपास्यमात्रानुवर्धी व्यक्त शिव का स्वरूप संस्मरण, तथा शिवापासना की शाश्वतता का स्वरूप-समन्वय, और साम्प्रदायिक अंगत् की अबाधीना वैष्णवी-उपासना का दिग्दर्शन—

अवतार का लक्षण वही अभ्यक्त अभ्यक्त काम्य विष्णु स है वही मूर्ति का लक्षण व्यक्त निरक्त मूर्ति इन्द्रप्रधान शिवलक्ष्य स है । इन्हीं आचार पर मार्गदर्श में अवतार के लक्षण में वही विष्णु का विशेषण विद्यमान है वही प्रतिमापूजन के लक्षण में शिवलक्ष्य की ही प्रधानता ही होती है । यद्यपि यह ठीक है कि आद्य शिवप्रतिमा के स्थान में विष्णुप्रतिमा प्रधान बन गई है । परन्तु इस लक्षण में इसे बदला जायेगा कि, वैष्णवमात्रमात्रों के प्रचार बाहुल्य न ही शिवप्रतिमाश्रयितासर्वों की शिक्षा करना है । निरक्त शिवाधिपति में मातृभूत औपमानुष्य लक्षण निर्यात, मात्र आदि साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रचार-विशेष से ही विष्णुपूजन को आद्य वच मानक्य मिल गया है । कम्य देखा जाय तो आदिप्रधान से (द्वयपुत्र से) आरम्भ कर लक्ष्मणपुत्र से पहिले पहिले सम्पन्न शिवपूजन ही प्रधान रहा है । और देखा होना लक्षण लक्ष्य भी है । क्योंकि मूलमहिमा में प्रतिमा अर्थान्तर मन्त्र पूजन आदि के लक्षण में इन्द्रात्मक शिवलक्ष्य का ही निरक्त लक्षण ही होता है । वही कारण है कि, लक्ष्मणमात्राचार्यों की छोड़कर मार्गदर्श में मिलने की महापुत्र हुए हैं दत्त लक्ष्मण प्रतिमाश्रयिता के लक्षण में शिवप्रतिमा की ही विशेष महत्त्व विद्यमान है । एवं अवतारपुत्रों में भी (महाबाहू राम परशुरामादिर्वाच्य) शिवपूजन का ही अनुपमन विद्यमान है । एवं श्रुत्यैव अर्थ भी दत्त पक्ष का लक्षण बन रहा है । क्योंकि आनी जाय लक्षण होता ।

निष्पन्न यह दुष्का वि, अवतार का प्रधान लक्षण वही विष्णु स है वही प्रतिमापूजन का प्रधान लक्षण (अनिमित्तमार्गित, अवतार शिव माम सै प्रसिद्ध) इन्द्र लक्ष्य के साथ ही है । इस का सब से प्रमाण प्रमाण वही है कि लक्ष्मणमात्रों में वही वही प्रतिमा लक्षण प्रमुख दुष्का है । वही वही लक्षण यह प्रमाण इन्द्रलक्ष्य से ही लक्षण लक्ष्य है । क्योंकि निरक्त शिवलक्ष्य में ही सर्वथा लक्षण है—

६२-(१)-महिताभाग में प्रतिमापूजन के मौलिक-सूत्रात्मक-संस्मरण—

१-ऋक्संहिता—

१ कामीत् प्रमा, प्रतिमा, किं निदानमार्ग्य, किमासीत् परिधि क आसीत् ।

छन्द किमासीत् प्रउग किमुर्क्य यदेवा देवमयजन्त निरवम् ॥

—ऋक्सं० १०।१३।३।

(१)-विषय समय देवताओंमें उस विराटप्रजापति का यज्ञ के द्वारा बचन किया था उससमय यज्ञन काशनमूत्र यज्ञ की प्रमा (इयत्ता) कथा थी यह प्रतिमा कौनसी थी जिसके निमित्त बनाकर इविप्रदान किया गया ?। उसका मिगान (मूलकारण) कौनसा ? परिधिवाँ क्या थी ? आरम्भ क्या था ? छन्द क्या था ? प्रउग शब्द क्या थे । यज्ञपति इन्द्र की प्रतिमा ही यहाँ प्रतिमा शब्द से अभिप्रेत है । उस त्रैलोक्य-व्यापक इन्द्र प्रतिमा को लक्ष्य बना कर ही मीमंसेवादीोंने यज्ञधर्म के द्वारा विराटप्रजापति की उपासना की थी । मन्त्रोपास प्रतिमा शब्द इन्द्र का वाचक है यह आगे के १०-११-२१-२२ ६, दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है ।

२-प्रपवहन्तो अपृथग्यदित्रमास्य दक्षमधि सानौ जघान ।

दृष्ट्यो वधिः प्रतिमानं पुमूयन् पुरुषा वृत्रो अरायद्वयहन्त ॥

—ऋक्सं० १।३२।६।

(२)-विषयकार हिम अयहकोशकाला एक हीनवीर्यपुत्र्य रतासेव में समय (अयहमुक्त) अन्य पुरुष के नाहरय का वृत्रा अभिमान किया करता है एवमेव इन्द्र के वज्र से अतविद्यवाह बने हुए, इतिगादशून्य उस वृत्र नाम के असुरने एक ऐसे पुत्र्य के नाहरय का वृत्रा अभिमान करते हुए, जो कि पुरुष शाय वर से प्रहार करने में समर्थ है इन्द्र से पुनः पुत्र्य करने की इच्छा प्ररट की ।

मन्त्र का यही अभिप्राय है कि मूत्र वृत्र ने उस इन्द्र के लक्ष्य स्पर्श करने की प्रवृत्ता की जिस इन्द्र का कि प्रतिमान (समकक्ष) वृत्रा नहीं है । जिस इन्द्र ने कि अपने वज्रप्रहारसे जिसे सर्वथा निर्बल्य बना डाला है । यहाँ के 'प्रतिमान' शब्द से हमें प्रतिमापूजन सिद्ध नहीं करना है अपितु यही बखाना है कि 'प्रतिमान' शब्द यहाँ वृत्रनाश में प्रयुक्त हुआ है । जो अर्थ 'न तस्य प्रतिमास्ति' के प्रतिमा शब्द का है वही अर्थ उक्त मन्त्र के प्रतिमान शब्द का है । साथ ही मन्त्र से यह भी प्पनि निश्चय रही है कि इन्द्र का प्रतिमान अन्य नहीं है ।

३-स्वमरुप पारे रजसो व्यामन म्भमूयोऽत्रा अशमे धृपन्मनः ।

पक्ष्य मूर्मि प्रतिमानमोजसोऽप स्वः पग्मूरत्वा निधम् ॥ (१।१५।१०) ।

• इन त्रय मन्त्रों के उन्मूलन से प्रकृत में विचल गयी कहना है कि महिताभाग में प्रतिमा प्रतिमान प्रतिमानानि शब्द इन्द्र के लक्ष्य में ही प्रयुक्त हुए हैं । कारण-महिताभाग में शिवादिमहा इन्द्रप्रतिमाएँ ही उपासनादिदि का कारण बनती थीं । आरम्भ में ये प्रतिमा निन्देप्रवृत्ता मनुष्य-इन्द्राकार की बनती थी, आगे जाकर तैत्तिरीय में इन्हीं निन्दारूप धारण कर लिया ।

- ४—योषिता धातु अभितुषतु मिम कम्मन् कर्मव्यस्तमूति खजहर ।
अकल्प इन्द्रः प्रतिमानमोजसाया अनावि ह्यन्ते सिपासव ॥ (११०२।६) ।
- ५—त्रिविष्टि धातु प्रतिमानमोजमस्तिम्वा मूमीनपते त्रीणि रोचना ।
अर्तन्नि विरव मुवन ववविषा शगुरिन्त्र अनुपा अनावसि ॥ (११०२।८) ।
- ६—यन्मास अते विजयन्ते अग्रसो य शुध्यमाना अपसे हवन्ते ।
यो विरक्व प्रतिमानं बभूव पां अच्युतच्युतसज्जयस इन्द्र ॥ (१११।१) ।
- ७—सत् सत प्रतिमानं पूरेऽमूर्धिरथ वेव जनिमा हन्ति शुष्यम् ।
प्रयो विवः पववीरोष्म-“रर्चन्” तस्य सखीगुञ्जभिरवपात् ॥ (१११।८) ।
- ८—किं न अक्षयकृत्तय सख्य मासो जमार शरवण पूर्वीः ।
नही न्दन्व प्रतिमानमस्त्यन्तवतिपूत ये जनिता ॥ (४।१८।१) ।
- ९—प्र तु रिधुन्तस्य स्वाधिरस्य वृध्वेर्विचो ररप्तां मक्षिमा पृथिव्याः ।
नान्य शत्रुने प्रतिमाननस्ति न प्रविष्टिः पुरमायस्य सखोः ॥ (६।१८।२) ।
- १०—इन्द्रा विव प्रतिमानं पृथिव्या विरवा केव सक्व हन्ति शुष्यम् ।
मही विध्वमावनेतु ध्वेव आम्कस्य चितम्कमनेव ॥ (१०।११।५) ।
- ११—वि सूप्यो अभ्ये अमुषवरव विवो विवहासाय प्रतिमानमार्कः ।
इवानि पिप्रोरसुरस्य भाविन इन्द्रो व्यास्पन्कूर्वा अविशिन्य ॥ (१०।१८।३) ।
- १२—सुपेय्य पुरुषैवससुप्रमिनतममाप्यमाम्पानाम् ।
आ इपते शवसा सय्य वानू प्रसाक्षते प्रतिमानानि मूरि ॥ (१।१९।६) ।



२-यजु संहिता—

- १—आधिरस्य पवसा समक्षि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिहक्षि हरसा मायि रैस्य यतायुव इयुहि वीयमानः ॥ (यजुः १६।४।१) ।
- २—सहस्रस्य ममाक्षि सहस्रस्य प्रतिमामि सहस्रस्योन्मासि ।
साहस्रोऽसि सहस्राय स्वा (१५।६।१) ।



३-अथर्वमहिता—

१—वैश्वानरस्य प्रतिपोपरि क्षौर्याब्द् रोतसी विष्वाधे अग्नि ।

तत पद्मादामुतो यन्नि स्रोमा उवितो यन्ममि पष्ठमह ॥ (८।४।६।) ।

२—अपां यो अमे प्रतिमा अमूष प्रमू सर्वस्मै पृथिवीव पवी ।

पिता वत्मानां पतिरध्वानां साहस्ये पोऽ अपि न कृणोतु ॥ (२।४।२।) ।

३—यस्मान्न श्रुते विद्वयन्ते जनानो य युष्यमाना अवसं हवन्ते ।

यो विश्वस्य प्रतिमान अमूष या अच्युः क्युन सजनास इन्द्र ॥ (२०।४।३५।१०) ।



६३—मूलमहितानुगत प्रतिमा-प्रतिमान-अवचन-भजन-सेवा-आदि औपासनिक शब्दों का सम्मरण, एवं प्रतिपोपामना की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय—

निरुक्तमात्र के लिए ही मंहिता में प्रतिमा-प्रतिमान-शब्द प्रयुक्त हुए हैं एवं उन प्रतिमा और प्रतिमान भावों का एकमात्र इन्द्र किंवा शिव के साथ ही सम्बन्ध है वह तो निर्विवाद है। रही बात प्रतिमाभूजन की। अथर्वन-भजन-सेवा-ये-सभी शब्द पूजन के ही सम्यक् हैं। एवं इन सभी शब्दों का स्वयं मूलमहिता में ही प्रयोग हुआ है वैदिक श्रुतिमहिता के— ३८।१ ३।२।१। ६६।४।४ इत्यादि स्थलों से यजु-महिता के—१।४।१६ ४।२।४ १३।२३ २०।४।४ इत्यादि स्थलों से साममहिता के पू ३।२।४। ८।२।१। ६ इत्यादि स्थलों से स्पष्ट है। इन सब स्थलों के आचार पर इत विद्वान्त की स्वीकार कराने में कोई कन्देह नहीं रह जाता कि, 'मूर्त्ति स्थूल भौतिक प्रपञ्च का अवचन पूजन सेवन भजन अपरवही विद्यामक वदरात्म से सर्वस्वना सम्मत अतएव सबका प्रामाणिक अतएव च सर्वथा ही उपाध्य है ।

६४—स्थूल साकार-मूर्त्ति-मध्यस्थ-भावों से अनुप्राणित उपासना का स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानदृष्टि से भी प्रत्येक विचारशील की यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि द्वैतमूलक उपासना कायदे में उपास्यदेव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक दशा में स्थूल-साकार-मूलमध्य की ही उपासना का व्यवह करना पड़ेगा फिर वह भाषन शब्दब्रह्मण ही, अथ ब्रह्मावयवमण वैकारिक पाद, मूल-वाग्यादि की प्रतियार्थ ही अथवा तत्तर्क बतावों के लक्ष्यमात्रनामय चित्र ही ।

६५—भौतिकी आकारमय्यादा से अतीत भी उपास्य-ब्रह्म की उपासनासिद्धि का अनि वाग्यरूपम अवहित भागिक-माध्यमों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इस में कोई कन्देह नहीं कि उपास्यगत आभवेचना है ब्रह्मतर है। पर भी निर्विवाद है कि विगुह ब्रह्म का भौतिक आचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हमके साथ ही यह भी प्रुप्त मय है कि वही पदुवन के लिए उनी का आचारिय निदरुत भूतमय की मध्यम बनाना भी आवश्यकतम है। माध्यमिक

प्राज्ञरों के अधिपारी-वेद से अनेकरूप होतबते हैं। एवं अधिपारी के भेद से वे सभी रूप उपादेय हैं पर भी निःमंशित्व विद्य है।

६६—प्रतिमान्मिका 'मूर्ति' की प्रामासिकता के सम्बन्ध में कतिपय ब्राह्मसम्बन्ध-वचनों का स्वरूप—मंस्तरण—

यह तो हुआ मूलकाय का विचार। अब कल व्यात्मक ब्राह्मसमाय की मीमांसा कीजिए। इस सम्बन्ध में तो विचार वस्तुत्व है ही नहीं। कारण-वेद के कल व्यात्मक विधि-कारणक-उपनिषदों में बड़े ही स्थिर के साथ प्रसिद्ध-निर्गुण-प्रतिमापूजन-सूत्रात्मक आदि का उपरहृष्ट हुआ है। वक्तवाए में कमीकवत से महावीर की प्रतिमा बनाई जाती है उस में प्राणप्रकृष्टा कराई जाती है। जिस पाठकों के बरितों के लिए तो निम्न लिखित कुछ एक भीतवचन ही पर्याप्त होये। यही बात अधिमिनिषों की। उन के लिए तो "न तु प्रतिनिधित्वमूलजनचित्तमात्रावयेत्" "तत्ते आधिकं चौरं वृत्तं यत्न उत्तर ॥ नदी कथा—

१—"मूर्तिनिम्माकाय नां बस्मीकृषां परिगृह्णाति। मूर्तिनिम्माकाय बराएविहितं चर परिगृह्णाति" (कायक राज ११/१०/१०/११)।

२—यथा वाऽपुत्रकुर्वत तथा यथेनचक्रस्म शिरोऽपिच्छत। तन्माहिन्माकाय तां बस्मीकृषां परिगृह्णाति। तामिरेवैनमनरु रमन समदृषति, हृस्म कृति" (मार्क ० राज १४/१०/१०)।

३—स पर विनमकवत्ते। अथ यथास्यापुत्रानि यान्नि भवन्ति वंशतायतनानि (मन्दिरादि) कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुन्ति नृस्पन्ति, स्फुटन्ति, उन्मी सन्ति निमीलन्ति, प्रतिप्रयान्ति नथ कलन्धमादिरम्य हरयत विस्ते न परिधिष्यते, केतुपताम्य अत्रवचन-विपाखानि प्रज्जन्मन्ति अरबना च बालपीड्यहारा छरन्ति, अहतानि मन्मासि कनिकरन्त इत्येवमग्नीनि तन्मयतानि सवसि विष्णुवचनमूलानि * प्रायासि चानि सचन्ति—“इदं विष्णुर्विचक्रम” इति। स्वाकीयाक हुत्वा पञ्चमिराहुतिनिमिषुहोनि, विष्णव स्वाहा सवाधिपतये स्वाहा अक्रपाकयेस्वाहा सर्वाधरमन्त्राय स्वाहा सर्वाभूताधिरतये स्वाहा इति व्याहृतिर्मिष्टुत्वा अथ साम गावत्” इति राम्भवति, हातं रान्त्यर्थे, राम्भवथ पद्मिराब्राह्म ५/१ १)।

* इत्युक्त कम वक्ष्य जेअवयव अग्नि वायु सोम विष्णु इन प्राकृतिक देवताओं के स्वरूप में (मानव-स्माक के अनाकार से) कम जोम उत्पन्न होता है तो बड़े बड़े (प्रतिविपर्ययमूलक) अग्नि होने लगते हैं। ये ही अनिष्ट 'अधुमुत्तम' माय से व्यपन्न हो गए हैं। इन की शान्ति के लिए ही तर्क-कथा का उत्तराहुतिविरोधी में समन किया जाता है।

४-अग्निर्वायुगदित्य कास प्राणोऽन ब्रह्मा रुद्रो विष्णुगिति । एकेऽयमभिधायन्ति, एकेऽयम् । अथ कृतमो, य मोऽयमाक पूहीति । तान् होमाश्च-ब्रह्मणो वायीता अमपास्तनप परस्य, अमृतस्य, अमरीरस्य । तस्मैव साके प्रतिमा उदेति, इह यो यस्यानुपक इति । एव शाह । ब्रह्म अस्त्वित् वाध सयम् । य अस्या अमपास्तनवन्ता अभिध्यायेत्, अर्घ्य येत्" (प्रणपतिब्राह्मिस्त्व वाद, मजुर्वेदीयोपनिषत् ४ प्रपाठक ४ वद्विक्ता) ।

६७-सम्प्रदायविशेष के द्वारा भारतीय सनातन आचारधर्म पर कुठाराघात, तद्बुद्धिपरिणाम, एव सनातनी, तथा आव्यमयात्रियों का निरर्थकतम वाक्फलह—

अधुना भारतवर्ष का यह आत्यन्तिक अपभ्रष्टन ही माना जायगा कि आज रानी के देश में एक ऐसा मन्त्राय बड़ा हुआ है जिस में वेद का अणुमात्र भी स्पर्श न कर किमामक धर्मानुष्ठान के प्रति आचार्य मनुष्यों में बुद्धिमें उत्पन्न कर दिया है । ब्रह्माणु समझते हैं कि, बिना केवल मूर्तिपूजन आद आकार या परिचित किमों में ही हैं । परन्तु मीमांसा करने पर उन्हें विदित होगा कि वहाँ वा सम्पूर्ण कार्यवलाप अथ से इति पर्यन्त एकान्तता वेदविद्वद्विद्वत् की सिद्धि के लिए ही कहे अभिमान से शक्तार्थ के लिए आह्वान किया गया है । और दुर्भाग्य से वेदतत्त्वानभिज्ञ ऐसे सनातनी विद्वान् की भी कमी नहीं है जो आदेश में पड़ कर तत्काल कमर कस के लड़क होजाते हैं । परिणाम में दोनों ओर से इमाय विबाह मार विहय के उत्पन्न पत्र निकलते हैं । शास्त्राय में होता क्या है ? यह भी नमूना देख लीजिये । आव्यमयात्री यदि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" केवल इस वाक्य का आगे कर प्रतिमापूजन की आर्थिक अवलम्ब का बानरहाय किया है तो सनातनी "यदि अश्मानमातिष्ठ" इस मन्त्र का आगे कर पाण्ड्यप्रतिमा की सिद्धि में अपना बनीना बहाल है । वस्तुतः देखा जाय तो दोनों ही महानुमान भ्रान्त हैं । पहिले प्रतिमामरहनामिनिविह की ही लीजिये । पूरे मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

एहि-अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवति ते तनु ।

कृयन्तु विश्वेदेवा आमुष्टि शरद शतम् ॥

—अथयमं २१३१४१

६८-प्रतिमापूजक सनातनी की वेदार्थ के सम्बन्ध में महती भ्रान्ति—

प्रतिमापूजन-समर्थक सनातनी इसका अर्थ यह समझता है कि "वस्तुता की मणवन्प्रतिमा बर्तत बली है परं इन में ईश्वरतत्त्व का आह्वान बिना जाता है जो कि आह्वानधर्म प्राणप्रतिष्ठा माय ही पण्डित है" ।

६९-भूवदेदीप अश्माभाधानुगत मन्त्र के पाण्ड्यविष मन्त्राय का समन्वय-प्रयाम, एवं तद्द्वारा सम्माहित उद्बोधन—

आमुष्टिपति कुल ओर ही है । जिस वा विज्ञा शान्त होजाता है । य मात्रक अमहान-मयना न (बुध नाम के लिए) पुन हीजाता है । जब यह लक्षणव शमयानयना के पर लीटता है तो बुधपुष्टि

हार के बाहिर एक पायाग पर उसे लड़ा करता है एवं उस पर उक्त मन्त्र बोलाता हुआ जल डालता है ।
 'ये मातृमन्त्र आद्यो । इत पायाग पर लगे हो आद्यो । दुष्टारा शरीर पायागारूप बन पात्र विरमेदेव दुष्टं
 त्वे कार्य की प्राप्ति प्रदान करें' यही बान्धविक मातृमन्त्र है । स्वयं मातृमन्त्रार्थ ने भी यही कार्य किया है ।
 अन्य रमणानरात्री भी वर आने से पहिले नानाविध से निवृत्त होकर (उसी अमङ्गलमायना को दूर करने के
 लिए) मृत्युञ्जय महादेव के दर्शन किया करते हैं ।

१००- 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के सम्बन्ध में लीलाधरों की लीला का नमनविषय
 एवं तदनुगता आन्ति का स्वरूप-विरूपेण-

अब उन लीलाधरों की लीला का वर्णन कीर्तिप की स्वार्थविधि के किम्वदन्त के मन्त्र से पूरा मन्त्र
 न मिलकर प्रतिमावृत्त के लक्षण के सम्बन्ध में केला- 'न तस्य प्रतिमास्ति' यह एक कारण उद्धृत करते
 हुए मोक्षी बनता की कहा करते हैं कि 'दिलो बेदों में साफ साफ लिखा है कि उस की मूर्ति नहीं होती नहीं
 हो सकती । परन्तु अब सम्पूर्ण मन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है तो सम्पूर्ण रहस्य प्रकट होजाता है । मन्त्र
 का स्वरूप निम्न शिखित है-

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महाद्युः ।

द्विरप्यगर्भ इत्यथ मामा द्वितीदित्येवा, यस्मात्प्रजात इत्येव ॥

१- 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के बान्धविक मातृमन्त्र का सम्बन्ध प्रयास, एवं लीला-
 धरों का सम्भावित अनुबोधन-

मन्त्र के पूर्वांश पर दृष्टि डालिए । लीला का कार्य यही है कि- 'वित ईश्वर का क्या महान् है
 स्पष्ट है उस ईश्वर के लक्षण का प्रमाण नहीं है । प्रतिमाद्युः प्रतिकृति (मूर्ति) का भी वाच्य माना
 गया है एवं उपमान (सादृश्य) का भी । निरवमेव से बृहते शब्दों में प्रसङ्ग उपोद्घात होता कबल
 निर्वाहक, कार्योन्वयमात्मिक-सम्मत योग्यता के अनुसार विषयमेव से प्रवक्तानुसार होनी कार्य निवृत्त
 है । यदि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का प्रतिमा शब्द प्रतिकृति का वाच्य होता तब तो चक्षुष्य ही इस मन्त्र
 की मूर्तिवचन परक माना जायता था । परन्तु देखते हैं कि यहाँ के प्रतिमा शब्द की मूर्तिवच्य मान लेने से
 मन्त्र का कोई कार्य ही नहीं होता । लोक में किता बेर में (लौकिक वाक्यव्यवहारों में एवं शालीन वाक्य-
 व्यवहारों में) शब्दों का यही कार्य मुक्तिर्गत बनता हुआ प्रामाणिक माना जाता है जो कि शब्द स्वस्मय
 भावत उभयथा वाक्यार्थ के साथ लक्ष्यमाना अभिहित रहते हैं । जैसा प्रसङ्ग देखा है तदनुसार ही प्रसङ्गोपाय
 शब्दों का कार्य मानना पड़ता है । यदि प्रसङ्ग की बिना वाक्यार्थतत्त्वज्ञ की उपेक्षा कर उन शब्दों का
 (वाक्यार्थ प्रत्यक्षतत्त्वज्ञ से लक्ष्य बिना अमालाङ्गिक वाक्यार्थ में अनभिज्ञ) कार्य किया जाता है तो वह
 शब्दाय कार्य के स्थान में अनर्थ का ही कारण बन-जाता है ।

१- २-मीमांसा-सम्मता प्रकरसप्तज्ञति स अनुप्रासित-समन्वय का स्वरूप-निर्गर्हण-

पाठशाला में बैठा हुआ शेषदल मीमांस कर रहा है । शेष की 'मीमांसमानस' चारेण देता है ।
 मूर्त शेष की मीमांसप्रज्ञ की उपेक्षा कर उस लक्ष्य पात्र ला लड़ा करदेता है तो क्या यहाँ का शेष-

शब्द अथसिद्धि का प्रयोजक माना जायगा ?। एकमेव अमरार्थ सञ्जीवित देवस्य का 'सम्प्रमानव' वाक्य सुनकर नमक की डली लाने वाला सेवक क्या अर्थ के स्थान में अनर्थ नहीं कर रहा ?। तत्पर्य्य यही हुआ कि, प्रसङ्गवश ही शब्दार्थ-सङ्गति लगाने का प्रयास करना चाहिए ।

१०३ 'प्रतिमान' शब्द का प्रकरणासङ्गति-निषेधन-वास्तविक-स्वरूप समन्वय प्रयास—

प्रकृत स्थल का विचार कीजिए । 'जिसका यश महान् है उसकी कोई मूर्ति नहीं' क्या यह वाक्य ठीक होगा । क्या मूर्ति का न होना महद्गुण के लिये बाध लगाने वाला है ?। हम तो देखते हैं कि लोक में जो यशस्वी महापुरुष होते हैं उनके स्मारक लगे किए जाते हैं चित्र छाये जाते हैं । जो यथाभावं हैं उन की न मूर्ति बनती न स्मारक लगे किए जाते । इसप्रकार महाकर तो मूर्ति का कारण ही, बन रहा है । ऐसी दशा में यहाँ के प्रतिमा शब्द का अर्थ 'मूर्ति लगाना सर्वथा अनर्थक बन जाता है । क्या विरघ के चराचर प्राणी उसकी मूर्तियाँ नहीं हैं ?। क्या गीता का 'मनेषारो जीवकोके जीवमूतः सनातनः' यह विद्वान्त सिद्धा है ?। फलतः आप को वाक्य होकर प्रकृत प्रतिमान शब्द का उपमान (छादय) अर्थ ही करना पड़ेगा । उपमान अर्थ मान लेने पर 'जिस का यश महान् है जो परोक्ष से सम्बन्धित बन रहा है उस के लिये विरघ में वृत्त नहीं है' यह अवलोकित ठीक बैठ जाती है । अन्यत्र भी ऐसे स्थानों में प्रतिमान का अर्थ छादय ही हुआ है । देखिए ।

स तन्नियोगात् सल्लु सत्यवादी सस्यां प्रतिष्ठां नृपपालयैस्ते ।

इतो महात्मा वनमेव रामो गत्व सुखा गच्छतिमानि हिन्वा ॥

—वा समायये

“रूपेणाप्रतिमो भुवि” (नलधरिश्च-महामारत)

१०४- तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

उक्त समाधान से ही 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिमुपासते' इत्यादि आक्षेपों का भी समाधान होजाता है । जिसकी इस उपासना कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं अपितु ब्रह्म की प्रतिरूपि है तत्वा-धिक मूर्तकर्म है मूर्ति है इस अर्थ से लक्ष कुछ सुलभ बन जाता है ।

१५-प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में पुद्गलानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अमिनिवेश—

यह तो हुई प्रामाणिक-वास्तविकदृष्टि । अब संक्षेप से प्रामाणिक-ऐतिहासिक-दृष्टि से भी विचार कर लीजिए । कुछ समय से इतिहासपुरीषों की सम्प्रदाय की धार से यह भी कलकल-बौद्धिक सुनार पड़ने लगा है कि 'प्रतिमापूजन वीरूपधर्म के लक्षण का ही फल है । इन लक्षणियों का बहना है कि जब कुछ निर्माण कर गये, तो कुछ समय तक तो उनकी प्रतिमाओं का डार अवश्य रहा । कीर्तियों का विरवात था कि पुत्र का वचार्थ में निर्माण होगया है । ० जब देह का निर्माण होगया तो उसकी प्रतिरूपि (मूर्ति) बनाना अनुचित है ।

• पुत्र के महापुत्रार देह ही आत्मा है । ऐतिहासिक निर्यामलता यहाँ अवसीकृत है ।

१६-बुद्धनिर्वाणान्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना-प्रचार-दिग्दर्शन—

कुछ समय पीछे ही एक ऐसा कर्ण उत्पन्न हुआ जिसने बुद्ध की प्रतिमाओं का पूजन प्रारम्भ कर दिया। बुद्ध देवताओं के स्थान पर ले जाने लगे। लाओत्सीन समर्पणवादी की ओर से स्थान स्थापना पर स्तूप चढ़ा और शिलालेख बुद्धप्रतिमा उनके शीलाचरित्र मिश्रितव्यवहार की प्रतिष्ठित करने लगी। आगे जाकर ही इस कला का ऐसा विकास हुआ कि, आज भी पुरातत्त्वज्ञान में यही स्मारक प्रमुख माना जा रहा है।

१०७-हीनयान तथा महायान-बौद्धधर्मबुद्धमत के दो विभिन्न पक्ष एवं तत् सम्बन्धिता प्रतिमापासना—

यही वृत्त (प्रतिमापूजा) सम्भवतः 'महायान' नाम से प्रसिद्ध हुआ एवं वास्तविक निर्वाण के अनुपस्थिति में हीनयान के रूप में 'हीनयान' कहा गया। बुद्धकालीन प्रतिमा-प्रचार केवल भारतवर्ष में ही नहीं पनपा। अस्तित्व प्राप्त अशोक एवं कनिष्क के द्वारा तथा चीन और उत्तरेश्वरी के द्वारा तथा गुप्तकाल में हीनयान की हीनता में ही बुद्धप्रतिमाएँ स्थापित हुईं। मूलप्रतिमाएँ मूर्तिनिर्माण एवं शिलालेखों के लिए बौद्धकला अर्थात् हीनयान में बहुत प्रसिद्ध माना जाता है।

१०८-बुद्धमत के प्रभाव से आक्रान्त ब्राह्मणधर्म का भी प्रतिमापासनागतत्व एवं ऐतिहासिकों का आन्त इष्टिकोण—

प्रलयकाल से पहले हुए इस बौद्धकाल के आक्रमण से ब्राह्मणधर्म भी अपने मौलिक स्वरूप को लुप्त न रह सका। बौद्धों के संघों से इस में भी मूर्तिपूजन-प्रवृत्ति का नवीन रूप सन्भावित होने लगा। बौद्धों ने सिद्धांत सिद्ध गणपति अथवा गौरी बुद्धों की मूर्तियों के प्रतिमाएँ बनाने लगीं। इस प्रकार बौद्धकाल के संघों से ब्राह्मणधर्म का मौलिक उपासनाप्रवृत्ति अथवा हीनयान प्रतिमापूजन का अनुगामी बन गया।

१०९-प्रतीक-शक्ति के अन्धानुकरण से अनुप्राणित, तथा साम्प्रदायिक आचार्यों के अतिनिवेश से समन्वित भारतीयों की परस्परयथेयता के भीषण परिणामों का किञ्चिद्व-निर्द्धारण—

कहना न होता कि, केवल पश्चिमी विद्वानों के बुद्धिवाद के आधार पर ही जो कृत्य करने वाले इन ऐतिहासिकों की उक्त कल्पना में कोई भी त्रुटि नहीं है। पश्चिमी विद्वानों के नीतिपूर्ण ऐतिहासिकों में भारतीय प्राचीन संस्कृति की ओर से लोगों का कुछ मोड़ दिया। इस भारतीय इतिहास के संस्कृतमाया में निश्चित होने से आधार बन गया इस अपने घर की मौलिक निर्वाण के वास्तविक स्वरूपमान से बहिरंग होना। परिणाम इस का यह हुआ कि ऐतिहासिकों ने हमें जो कुछ लिखाया पढ़ाया समझाया उद्योग ही हम पर-वश्य मानने लग पड़े। दुर्भाग्यवश ब्राह्मणधर्म में एवं इसी अर्थवश आचार्यधर्म में भी अपनी ईश्वर-

किं स्वयंविदि के लिए वेद-शास्त्रों की ओर में मिथोपदेश के द्वारा हमारे ध्यान का मार्ग और भी अधिक शुद्ध बना दिया। अतः हमें अपनी संप्रदाय संस्था भगवद्भक्त आदि के सम्बन्ध में परममुखापेक्षी बन कर संकुल्य अपमान स्वीकार करना पड़ा और सहते बांधे हैं। इन्हीं उन्मुख प्रसाद से हमारा आत्म निर्बल बन गया आत्मनिर्मलता स्वावलम्बित्व अत्यन्त आत्मा हम से किनारा कर गए। किन्तु हमें जैसे बड़ा दिया 'अन्वेनैव नीयमाना यथान्धा' की परिचाय करते हुए हम उसी प्रवाह में बहने लगे। वैष्णवाचार्यों की शिष्यसम्प्रदायों ने हमें भी शिष्यसम्प्रदाय बनने लगे कभी शैली के आकाश में विष्णु की निम्ना करने लागे पड़े। कभी बुद्ध का शरीरमान करने लगे तो कभी स्वामी दयानन्द को ही एकमात्र वेदज्ञ मानने का दम मरने लगे। और आचार्यसिद्ध से प्रभावित होने वाली उन्नी अविद्या के कारण आज तो हम विष्णु यज्ञादी करने में ही अपना अ पुनः सम्मिल रहे हैं।

११०-मुक्ति-तर्क-प्रमाणादि के आवेशों से आविष्ट भी शरमान गतानुगतिक भारतीय मानवों का आश्चर्यप्रद प्रतीत्य-अन्वयनकरण—

एक सबसे बड़ा आश्चर्य आश्चर्य ही नहीं महान् आश्चर्य। भारतीय कर्तव्यमुष्टानों के प्रति उदासीनता दिखलाने वाले वे भक्त मान्य कहा करते हैं कि जबतक किसी कर्तव्यदेश किंवा भगवद्भक्त को एक मुक्ति अनुभव आदि की कसौटी पर न कल निवा जाय तबतक अन्वयन बन कर, केवल शास्त्रादेश पर ही विश्वास कर कभी उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। अपने इसी महातर्क को एक अनेक गुण सम्मन्ने का अभिमान करते हुए वे स्वामिमानों भारतीय भगवद्भक्तों का उपहास करने में अशुभम भी तो लक्ष्य का अनुभव नहीं करते। उन्नी किन उपदेशों को इन्होंने महामु मान रक्खा है उनके आदेशों के सम्बन्ध में उन्नी तर्क की एकान्त उपेक्षा कर अभी। हम क्या जाने उनके रहस्य को। हमें तो (न समझे हुए भी) उन के आदेश पर चलना ही चाहिए। इस वाक्य का प्रयोग करते हुए पूरे पर आश्चर्य करने हुए हैं। विधि का कैसा विविध विधान है उन्नीका का कैसा अनुपयोग हो रहा है। इसी अनुपयोग के आधार पर यदि हम भारतीय शास्त्रसिद्ध आश्चर्यसिद्ध प्रतिपादन को भी बुद्धसंज्ञा का प्रसिद्ध बनाने की मत्त कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

१११-ब्राह्मणधर्म, तथा बुद्धमत के समतुल्य-माध्यम से प्रतिमापन की अनारिता सादिता का नीरक्षरविशेष-प्रयास—

उन पंडितों की यह न समझ कि, जब बुद्ध ने ब्राह्मणधर्म के स्थान में अपने नवीन धर्म की प्रतिष्ठित किया था तो ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठावा से वह आधिक समय पर्यन्त जैसे बच सकता था। धर्म ही बुद्ध ने प्रतिमापन समुत्तरकरवा पशुहितायुक्त धर्म आदि ब्राह्मणधर्मों का किन्ती धरतुविशेष से

• अतः हमारे विचार से बुद्ध में आर्यक-वर्णप्रवाहमक विषय मरिममनिकाय (मध्यमपथ) का आविष्कार किया है वह कोई अपूर्व नहीं है। बुद्ध के लगी विद्वान्ता का मूल ब्राह्मणधर्म में स्त्री का त्यों उपलब्ध होता है। विशेषतः भारतीय उपवेदशास्त्र (आयुर्वेदशास्त्र) एवं पातञ्जलयोगशास्त्र के सिद्धांत ही स्त्री के त्यों समनुचित हैं।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म की अपात्तर प्रदान किया। प्रतिमापूजन का विरोध निर्वाक्यत्व के समय में प्रबोधितियों के प्रति होने वाला "मेरे निर्वाक के अन्तर मेरी प्रतिमाएँ न बनाना वह उपदेशवाचक ही यह शिक्षा करने के लिए बन्धोस प्रमाण है कि बुद्धकाल से पहिले ही भारतवर्ष में प्रतिमापूजन प्रचलित था।

११२-पुरातत्त्वान्वेषणानुषंधी कारखानास की मातिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन-

यही कारण था कि बुद्धनिर्वाक के अन्तर कुछ ही समय वर्धन्त निर्वाणवादियों का निर्वाणवाद सुरक्षित रहा। ब्राह्मणधर्म के शारङ्ग प्रतिमापूजन से बौद्धधर्म अधिक समय वर्धन्त जाने जानकी सुरक्षित नही ग्य क्य। उक्त महापुन-सम्प्रदायके नाम से ही वो लिया। क्या इन सब विम्वट परिस्थितियों को देखते हुए जो ऐतिहासिक यह ज्ञानि करेंगे कि बुद्धधर्म से लक्ष्यो से ब्राह्मणधर्म में प्रतिमापूजन का समावेश हुआ। एक और उदाहरणस्त कह सुनिए। प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्त्वान्वेषणोंमें अनेक किन प्रतिमाओं की खोज की है वे सब बुद्धकाल से आरंभित ही हैं। बुद्धकाल से पहिले भी प्रतिमाएँ अनेक उत्खनन नहीं हुई हैं किन के आधार पर यह प्रमाणित किया जावे कि, प्रतिमापूजन बुद्ध से पहिले जो विद्यमान था।

११३-बादमत से पूर्णपुग के प्रतिमा-चिह्नों के सम्बन्ध में सिन्धुदिन सामयिक-आवेदन-

पठक स्वयं विचार करें "त बुद्धि में कहाँ तक लम्ब है?। बौद्धधर्म का प्रथम भारतवर्ष में गई राधास्वियों वर्धन्त रहा। भव ऐतिहासिक हल स्वयं का स्वीकार करते हैं कि बौद्धधर्म के अनुयायी समय राधास्वियों और से ब्राह्मणधर्मानुयायियों पर घोर आत्माचार हुआ। उस समय की मीरछ परिस्थिति को देखते हुए एक बार तो ऐसा मंथित होने लगा था कि अब मनिष्य में ब्राह्मणधर्म कमी बीजित न होसकेगा। इस मौकाल के आवेश में था र यदि ब्राह्मणधर्म के पुरातन चिह्नों को तह करने का कोई ब्रह्मवैभवन हुआ हो, तो यह अविकार में सम्य है। और समय है इसीलिए बुद्धधर्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अनन्त पुरातनत्वियों की उत्खनन न हुए हों।

११४-सप्तश्रीपा वसुमती-पृथिवी से अनुप्रासित अन्धपक्षधर्म की अनन्तकासानुगत-

व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में महापुन पतञ्जलि के उद्गार-

परन्तु कीन कहते हैं कि अन्धधर्म का कार्य ब्रह्म लीमा पर पहुँच चुका?। जो कुछ मिलना था मिल चुका?। बहुतर बहुत कही है कलपयुग में अनन्त है। अक्षय ही हम प्रतिमापूजकों के धीमाय से एवं अन्धधर्म के अनेक अन्धधर्म परिभम से इसी धरित्री के किती धीमायवाली गार में हमारे पूर्वसृष्टि-विह्वलतन्त्र हीम और अक्षय उपलब्ध हीम। इस सम्बन्ध में हमें महापुन पतञ्जलि एवं आत्मान का यह विचरवाद् यह आशय है किन में बरबस के आत्मापन के-"न चैवोपलब्धस्यते" करने पर मायधार ने- उपलब्धो यस्त किन्ताम्। सप्तश्रीपा वसुमती त्रया कोक्षरधर्मको वेदा साङ्गा सरइस्व ब्रह्माभिज्ञ एकपुनमप्यमु साङ्गा सहस्रधर्मा सामवेद एकविंशतिधा ब्रह्मधर्म, उपलब्धवाधधर्मको वेदा वाकोवाध इतिहासः पुरासं विचरमिति। पतञ्जल्यस्य प्रयोगविषय"। पतञ्जल्य हाकस्व प्रयोगविषयमनुमुपिहास्य-सत्यप्रयुक्त इति वचन केवल साङ्गसमात्रमेव (पा म १।१।१।)। यह उक्त विषय था।

११५-सर्वशास्त्रमर्मयिता प्रतिमोपासना के अनादिष्व के सम्बन्ध में दृष्टतापूर्ण आपात रमणीय-आक्षेप-प्रत्याक्षेप-विहम्बना—

इस मी आपापद्वि का अनुसरण करते हुए आज उस ऐतिहासिकों से यह कहने का साहस करते हैं कि जिस प्रतिमापूजन का मूल स्वयं नि य वेदग्रन्थों में उपलब्ध होना है त्रेतायुगवर्तिनामक वात्सीकि-प्रत्यक्ष का पूर्ण समर्थन कर रहा है दशम पुण्य स्मृति आगम आदि सब शास्त्र जिस की एकस्वर से प्रामाणिकता घोषित कर रहे हैं उस सत्य तत्त्व को केवल कल्पना के आधार पर उन पुरातत्व की अशुद्धी लोगों के आधार पर अप्रामाणिक कहलाना केवल साहस है अपराध है अपराध ही नहीं अशुद्ध अप-राध है ।

११६-अलक्षेन्द्र (सिद्धन्दर)-युगानुगत उदाहरण और मेगस्थनीज—

एक वृत्त प्रसङ्ग में विचार । मगवान् पाणिनि के समय में ही प्रतिमापूजन का प्रचार था ही वैसाकि अनुपद में ही कलाशा बनेवाला है । परन्तु पाणिनि ने पहिले मी प्रतिमापूजन का प्रचार तो कत मान इतिहास लेखक युनानी मी स्वीकार करते हैं । सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि जब अलक्षेन्द्र (सिद्धन्दर) का सामना करने के लिए महाराज पोषक बुद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह स्वर्ण की प्रतिमा होगी जिस के कि छाकी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक मगस्थनीज हैं । पाठकों को यह कहलाने की आवश्यकता नहीं कि सिद्धन्दरने मारतवर्ष पर कब आक्रमण किया था एवं मेगस्थनीज कब अत्र आए थे ।

११७-बुद्धसमर्ग से अतस्तुष्ट भारतीय-प्रतिमापूजन प्रवाह का पावन-संस्मरण—

अनुमानत यह सिद्ध होजुगा है कि, ईसा से ३२५ २६ अथवा ६ वर्ष पूर्व एव बेबानीप्रिकर्णी भारत के अन्तिम सम्राट् अशोक से १ वर्ष पहिले मी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था । इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, उक्त समय मी बुद्ध एवं जिन से तो अर्वाचीन ही है । तथापि हमें यह मान लेने में कोई मकोब नहीं करना चाहिए कि उस समय न तो बुद्धधर्म का विशेष प्रचार ही था एवं न महायान सम्प्रदाय का ही प्राक्व था । यदि प्रचार होगा मी तो हीनयान का ही प्राक्व होगा बौद्ध प्रतिमा पूजन का विवेकी था । इस युग के १ वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सम्राट् अशोक मी आरम्भ में ब्राह्मणधर्म के ही कट्टर पक्षपाती थे यह मी सुविनि है ही । कनिष्कविभव में होने वाली हिंसा से ज्ञान्त होकर तदनन्तर ही अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था । प्रकृत यह स्पष्ट लक्ष्य है कि भारतीय प्रतिमा-पूजन बुद्धसमर्ग से कीर्त सम्बन्ध न रखता हुआ दूसरी क्यों में प्रचलित था ।

११८-सम्भावित-चिह्नो की प्रतीक्षा एवं भारतीय-प्रतिमापूजन का अनादिष्व—

यह कि आहत की लुपार्द में एक मी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला, तो जिस आधार पर प्रतिमापूजन की बुद्ध से पहिले का माना जाय इस प्रत्यक्ष तर्क का वगैरि राष्ट्र प्रमाणमक अपार्युक्त की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है । तथापि प्रत्यक्ष तो ही सर्वेत्तर्मा मानने वाली के लिए अपर्याप्त ही उक्त तर्क का बुद्ध मूल्य है । नगम्य है प्रविष्ट में ऐसे मी चिह्न मिलें जिन से इस सम्बन्ध में कन्तीय लिया जायके ।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म की कपास पर प्रधान दिया। प्रतिमाध्वन का विशेष निर्माणकाल के लक्ष्य में प्रधानाभिषेकी के प्रति देने वाला "मेरी निर्वाण के अन्तर मेरी प्रतिमाई न बनाना" यह उपदेशवाच्य ही यह विद्वत् करने के लिए वर्णित प्रमाण है कि बुद्धकाल से पहिले ही मार्गदर्श में प्रतिमाध्वन प्रचलित था।

११२—पुरातत्त्वान्वेषखानुबन्धी कारखानाम की मातिसिद्धता का स्वरूप—दिग्दर्शन—

यही कारण था कि बुद्धनिर्वाण के अनन्तर कुछ ही समय पश्चात् निर्वाणवाचिणी का निर्वाणवाच्य मुद्रित रहा। ब्राह्मणधर्म के शास्त्र पर प्रतिमाध्वन से बौद्धधर्म अधिक लम्ब प्रचलित करने वाली मुद्रित नहीं लक्ष्य। अतः महाबान—ब्रह्मराज का समय से ही हो गया। क्या इन सब विमल परिस्थितियों की देखते हुए भी ऐतिहासिक यह मान्यता है कि बुद्धधर्म से लक्ष्य में ब्राह्मणधर्म में प्रतिमाध्वन का समावेश हुआ। एक और उपहासपूर्ण लक्ष्य मुद्रित। प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्त्वान्वेषकों' में अनेक किन प्रतिमाध्वी की खोज की है। बल्कि बुद्धावतार से अर्थात्त ही है। बुद्धकाल से पहिले की प्रतिमाई अनेक उपलब्ध नहीं हुई है किन्तु के आधार पर यह प्रमाणित किया जावे कि प्रतिमाध्वन बुद्ध से पहिले भी विद्यमान था।

११३—बौद्धमत से पूजापुष्प के प्रतिमा—चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिद्विषय सामयिक—आवेदन—

प्राक् लक्ष्य विचार करें हम मुक्ति में बहोत लक्ष्य है। बौद्धधर्म का प्रथम भारतवर्ष में बड़े शक्तिशाली प्रवर्तित रहा। स्वयं ऐतिहासिक इन लक्ष्य की स्वीकार करते हैं कि बौद्धधर्म के अनुयायी लक्ष्य राक्षसी और से ब्राह्मणधर्मानुयायियों पर और अत्यधिक हुआ। उन लक्ष्य की मीमांसा परिस्थिति का देखते हुए एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अथ मरिच्य में ब्राह्मणधर्म कभी जीवित न हो सकेगा। इन मीमांसकों के आवेदन में आरंभ कि ब्राह्मणधर्म के पुरातन चिह्नों का नष्ट करने का कोई ब्रह्माध्वन हुआ हो, तो यह अपेक्षा में लम्ब है। और लम्ब है इसीलिए बुद्धधर्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अमीयक पुरातत्त्वविदों की उपलब्ध न हुए ही।

११४—सप्तश्रीपा बहुमती—पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म की अनन्तकालानुगत—

व्याप्ति का स्वरूप—दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पञ्चजलि के उद्गार—

परन्तु वीन कहता है कि अन्वेषण का कार्य अरुण सीमा पर पहुँच चुका है। जो कुछ मिलना था मिल चुका है। बहुचरा बहुत कभी है अन्तपुष्प भी अनन्त है। अथवा ही हम प्रतिमाध्वनों के क्षिमाक्ष से एवं अन्वेषण के अनेक अन्वेषों परिभाष से इसी अर्थों के किन्हीं विमाध्यकारी ग्यार में हमारे पूर्वस्मृति-विद्वत् उपलब्ध होने और अथवा उपलब्ध होने। इन सम्बन्ध में हमें समझ पवञ्जलि एवं अन्वेषण का यह विमलवाच्य वाच्य आयाता है विषय में बरचसि के अन्वेषण के—'न वेद्योपलब्धयन्त' कहने पर माध्वधर ने—'इयच्छामा यत्न किञ्चिन्मा'। सप्तश्रीपा बहुमती तथा जोकारवचनारो वेद्यः सप्त सप्तश्रीपा बहुमतिभ्यः पञ्चसप्तमभ्युत्थानां सप्तश्रीपा सामवेद्यः, एकविंशतिपा बहुमतिभ्यः, नवमास्यधर्मवेद्यो वेद्यः बाह्योपलब्ध इतिहासाः पुराण वेद्यकमिति। पञ्चसप्तश्रीपा प्रयोगविषय'। पञ्चसप्तश्रीपा प्रयोगविषयमननुप्राणित्य—'सम्बन्धप्रमुख' इति बचनं कथं सप्तसप्तमवेद्य' (पा म १।१।१।)। यह उक्त किया था।

११५-सर्वाश्रयसमर्थिता प्रतिमोपासना के अनादिश्व के सम्बन्ध में दृष्टापूर्व आपल रमणीय-आधेय-प्रत्याधेय-विहम्बना—

हम भी आर्तपदति का अनुसरण करते हुए आज उस ऐतिहासिकी से यह कहने का तात्पर्य करते हैं कि, विन प्रतिमापूजन का मूल स्वयं नि य वेदग्रन्थों में उपलब्ध होगा है वेदायुगार्थात्मक वास्तीकि-
क्य किम का पूर्ण समर्पण कर रहा है दशम पुण्य स्मृति आगम आदि सब शास्त्र विन की एकस्वर
से प्रामाणिकता पोषित कर रहे हैं उस समय तब को केवल कल्पना के आधार पर, उन पुरातत्व की कष्टी
मोहो के आधार पर अप्रामाणिक कहलाना केवल साहस है अपराध है अपराध ही नहीं अक्षम्य अप-
राध है ।

११६ अलक्षेत्र (सिक्न्दर)-युगानुगत उदाहरण, और मेगास्थनीज—

एक दूसरे प्रश्न में विचार । अगस्त्य पाणिनि के समय में तो प्रतिमापूजन का प्रचार था ही वैद्यकि
कृत्य में ही बलवान् मानेवाला है । परन्तु पाणिनि ने पहिले भी प्रतिमापूजन का प्रचार तो बल मान इतिहास
लेखक बुनानी भी स्वीकार करते हैं । सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि जब अलक्षेत्र (सिक्न्दर)
का जमाना करने के लिए महाकाव्य पौरोष बुद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह सूर्य की
प्रतिमा होगी जिस के कि लक्ष्मी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक मेगास्थनीज हैं । पाठकों को यह बतलाने की
आवश्यकता नहीं कि सिक्न्दरने मातृवर्ष पर कब आक्रमण किया था एवं मेगास्थनीज कब अत्र
आए थे ।

११७ बुद्धसमर्ग से अर्द्धशृष्ट भारतीय-प्रतिमापूजन प्रवाह का पानन-संस्मरण—

अनुमानतः यह विश्व होजुका है कि, ईसा से १७५२६ अथवा ६ वर्ष पूर्व एवं तेजनाप्रिवर्षों
मध्य के अन्तिम सत्रा अशोक से १ वर्ष पहिले भी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था । इस
में तो कोई संदेह नहीं कि उक्त समय भी बुद्ध एवं विन से तो अर्द्धाधीन ही है । तथापि हमें यह मान
लेंगे कि कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि उस समय न तो बुद्धधर्म का विशेष प्रचार ही था एवं न
मत्तान सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था । यदि प्रचार होगा भी तो हीनयान का ही प्राबल्य होगा जोकि प्रतिमा-
पूजन का विरोधी था । इस युग के १ वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सत्रा अशोक भी आरम्भ में
बुद्धधर्म के ही कट्टर पक्षपाती थे यह भी सुनिश्चित है ही । कतिपयविषय में होने वाली हिंसा से ज्ञान
दीनर करनेवाले हैं । अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था । फलतः यह स्पष्ट रूप से कि भारतीय प्रतिमा-
पूजन बुद्धसमर्ग से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ इसी काल में प्रचलित था ।

११८-मम्मवित्त-चिह्नो की प्रतीक्षा, एवं भारतीय-प्रतिमापूजन का अनादिश्व—

जब कि शाक्यक की कृत्य में एक भी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला तो किम आधार
पर प्रतिमापूजन को बुद्ध से पहिले का माना जाय इस प्रश्न पर कई का यद्यपि शब्द प्रमासम्भ आर्ययुग
की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है । तथापि प्रत्यक्ष को ही सर्वोत्तम मानने वालों के लिए अक्षय ही उक्त
तब का बुद्ध मूल्य है । मम्मवित्त अभिष्य में ऐसे भी चिह्न मिलें विन से इस सम्बन्ध में कृत्य किम
मानके ।

११८-पुरातनयुगानुगत मृगमयी प्रतिमाएँ, एवं तदनुपलब्धि के कालिक-सहस्र-कारण- का स्वरूप-दिग्दर्शन—

विद्वान् मित्रान् वा वारणायक मीरो कथयति । त्वं आरम्भ मे मिट्टी की हों प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं । तत्प्रागुपलब्ध महावीर की प्रतिमा कलीकपासे बनती थी । मुख्य नामक शशा एवं लम्बाभि नामक वैश्य ने मृगमयी प्रतिमा में ही ब्रह्ममाता को प्रकट किया था । मुख्यतः एकलक्ष्य मे मिट्टी की प्रतिमा को तत्प्रागु-
वेक्या मान कर ही चतुर्विधा में निपुणता प्राप्त की थी । ये कुछ एक निदर्शन हैं यह सिद्ध करने के लिए पर्वान्त प्रमाण है कि, आरम्भ में प्रतिमाएँ मिट्टी की ही बनती थीं । मृगमयी प्रतिमाएँ विरचयित पर्यन्त नहीं टकराती । आरंभ बहुत लम्बा है —तीनविर, पुरातन-प्रतिमाओं के विद्वान् पुण्यलक्षितों को उपलब्ध नहीं होकर ही ।

११९-मृगमयी प्रतिमाओं के अनन्तर काष्ठमयी प्रतिमाओं का स्वरूपाविर्भाव, एवं तत्सम्बन्ध में वेदव्याख्याता सर्वांगी याम्काचार्य—

आगे बाहर मिट्टी के स्थान में काष्ठ की प्रतिमाएँ बनने लगीं, यह भी अनुमान स्वरूप प्रतीत होता है । तत्सम्बन्ध में लक्ष्या प्रमाणिक याम्कनिबन्ध की लक्ष्मि देखिए ।

‘‘कनीनकच विद्वत्तनव कुपद आयक । बभू याम्यु रोमते । (श्रुत्तम ३०/३) । कनीनक-
कन्यक । कन्या कमनीया भवति । कनेयं नेतव्यति वा । कमनतामीत्य इति वा । कनेतेवा स्वाम्
कान्तिरुत्तमया । कन्यगौरविद्यानप्रवचनानि, सप्तम्या एकवचनानि शाकपूणि । विद्वद्योद्धार-
कः । दारु इत्यन्तवा श्रुत्तमया । तस्मादेव कु । नव नवव्यत अस्मिन् अष्टौ ते मया तद्विद्यमानेषु
रोमते, एवं च याम्यु यामत । कन्मोचययो मन्त्रः’’

(वा निरुक्त अ ३। न १५।) ।

१२० इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप-ममर्षक श्रेष्ठेरीय मन्त्र—

इस काष्ठ की लक्ष्मि न मान कर स्वर्ष श्रेष्ठ की लक्ष्मि मानना ही उचित होगा । स्वर्ष
श्रेष्ठायाम्क अ ‘‘विद्वत्तनव’’ का ‘‘शाम्भुश्रुत्तम’’ कार्य करते हुए यह उचित किया है कि पहिले शारमयी प्रतिमाएँ
ही बनती थी । आरम्भ में ही शीघ्र-लक्ष्मयी कुछ एक मूल उद्धृत किए जाचुके हैं । अब इस लक्ष्म में
प्राचीनप्रमा (कर्मान मानानुसार) श्रेष्ठेरीय का एक दल मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है जिनके आधार
पर इस विद्वत्त की प्रामाणिकता में कोई संशय नहीं रह जाता कि, प्रतिमा-निर्माण-प्रवृत्ति ने आर्यत्वकता
के अन्वयात् में ही अन्तर्भाव-लक्ष्म उद्भव कर लिया था । देखिए !

क इम दशमिममन्त्र क्रीणानि धनुभिः ।

यथा वृषाणि अधनश्चन मे पुनश्च ॥

—श्रुत्त ३०/३। ॥

१०२-महर्षि वामदेव के द्वारा मौमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से देवेन्द्रोपासना, और प्रतिमामात्र का सम्मरस्य—

महर्षि वामदेव के उपास्य इन्द्र थे । उत्कलजीन मौम-मानवेन्द्र उसी इन्द्रदेव के अवतार थे । अतएव इन पर मी वामदेव की वैसी ही भक्तितान्त्रिका थी । इस निष्पाकपर्यं से वामदेव नराकार इन्द्र की प्रतिमा की सम्मरस्य बना कर इन्द्रदेव की उपासना किया करते थे । एक समय इन्द्र (मानवेन्द्र) का इलासुर के शत्रु युद्ध छिड़ गया । वामदेव भी वहाँ आने के लिए, समझ हुए । करणा-ऐसे अवसरों पर स्वयं इन्द्र की ओर से वामदेव नियमित किए जाते थे । वैसाकि श्रुत्वेद के कई स्थलों से स्पष्ट है ।

१०३-स्तुतवदीय-सन्त्राय-समन्वय—

जाने से पहिले वामदेव ने इन्द्रप्रतिमा के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी उक्त मन्त्र इसी का स्मरण कर रहा है । तनोत्तरियता मयबली से सम्बन्ध करते हुए वामदेव कहते हैं कि—

‘आप लोगों में से कौन १० वस्तुओं ७ में इस मेरे (उपास्य) इन्द्र का (इन्द्रप्रतिमा का) स्मरण-करेगा ? परन्तु इसके माध्यम यह सचा (राष्ट्र) है कि युद्ध में जब इन्द्र बुद्धिमानवर्ग को मार बालें अनन्तर जब मैं वापस ओटूँ तो पुनः मेरा इन्द्र वापस सीटा दिया जाय’ । इसप्रकार स्पष्ट ही प्रतिमाध्य-व्यवहार प्रतिमाध्यवहार का अनादित्व किया प्राचीनत्व सिद्ध कर रहा है ।

१०४-प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाष्पीकि रामायण—

वाष्पीकिरामायण एक प्रामाणिक साहित्य है । उक्त मी स्वरूप से त्रैतायुग में प्रतिमापूजन का समर्थन किया है । महाभारत और वाष्पीकिरामायण दोनों ही हम भारतीयों के प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ हैं । अन्तर दोनों में केवल यही है कि महाभारत बर्ही अन्तर्बर्ग का प्रधानरूप से निरूपण करना हुआ आपरयुगकालीन इतिहास का विशेषरूप से निरूपण करता है । वहाँ वाष्पीकिरामायण धर्मपर्यं को प्रधानरूप देता हुआ त्रैतायुगकालीन इतिहास को विशेषरूप देता है । दोनों में से पहिले वाष्पीकि की ही लिखिए ।

१०५-राक्षसेश्वर राक्षस के द्वारा बाम्बुनद सुपर्वात्मक शिखरिणी की उपासना, और प्रतिमापूजन—

महामातृकाल में धर्मपरिधि की सुमित्र राजा अयोध्या में राज्य करते थे । वे विद्वत्त्वान् की १२८ वी पीढ़ी में थे । एवं भगवान् राम ६१ वी पीढ़ी में थे । रामयुग में मी धर्मपूजा प्रवर्धित थी । वैदिक निम्न लिखित-वचनों से स्पष्ट है—

यत्र यदा यातिस्म राक्षशी राक्षसेश्वरः ।

बाम्बुनदमय किंजलं तत्र तत्र स्म नीयते ॥१॥

बाणका-वेदिसम्ये ॥ तस्मिन् स्थाय राक्षसाः ।

अथ यामास राक्षसस्य पुष्पश्यागुकायिभिः ॥२॥

(या १० ३० का ३१४१४१११)

॥ वैदिककाल में मी के आचार के ही गुणों के मी भिन्ने बजाए जाते थे ।

‘राक्षसेश्वर राक्षस की राक्षसप्रति प्रतिष्ठ है । वे वहाँ वहाँ जाते थे आमुनसुवर्त्मन अपने उपास्य शिष्यशिष्य को साथ रखते थे । बलुका की बेमि बनाकर उस पर शिष्ट प्रतिष्ठित कर पुष्प-दीप-मन्त्रादि से उषस ने (अपने इहदेव शिष्य) पूजन किया ।

१२६-सेतुबन्ध रामेश्वर के माध्यम से प्रतिमापूजन की भार्यता का पावन स्मरण—

स्वयं मयवान् राम ने कुछ से पहिले अपने इहदेव राक्षस की प्रतिमा बनाकर उसका पूजन किया था कि पावन दीर्घ काव जी सेतुबन्धरामेश्वर’ नाम से प्रतिष्ठ है । शिष्यापक को राज्य-सिद्धि प्रदान कर मयवान् राम नीला वस्त्रि बस लह्मा से बापत सीटते हैं । वा माय में जाने वाले दर्शनीय स्थानों की ओर संकेत कर बप्पमाता को उनका परिचय करते जाते हैं । समुद्रोत्थारण के अनन्तर जब रामेश्वर का रत्नन काया है तो मयवान् कहते हैं—

पशु हरयते तीर्थ सागरस्य महात्मन ॥

सेतुबन्ध’ इति ध्यात त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥१॥

पशु पवित्र परम महापातकनाशनाम् ।

अत्र पूर्वं महादेव प्रसावमफरोन्मुक्तिः ॥२॥

—वा रा पु १२१।२०-२१ ।

‘हे लोके ! महात्मा सागर का भी यह सेतुबन्ध दीर्घ विचकार्य पड़ता है । (काव) वह वैलोम्य में वृद्धि होमका है । इसी दीर्घ पर (रावन पर चक्रार्थ करने से) पहिले विष्णु महादेव ने कुछ पर हवा की भी । यह दीर्घ परम पवित्र है एवं वहाँ वड़े पावों का माया करने वाला है ।

१२७ क्षात्रीय बचनों के सम्बन्ध में दोषदृष्टि, एवं तस्मिन्बन्धना महती आन्ति—

कथा मुर्तिपूजन की अवैदिक मानने वाले काव ही क्षात्रीकिरायावरा को भी एक प्रामाणिक आर्यजन्य मानने वाली की इच्छा उक्त बचनों पर नहीं गई थी । एवं ही और अवश्य गई थी । परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में भी उन्ही दोषदृष्टि का अनुगमन किया है जिस के कि आचार पर स्वार्थसिद्धि के लिए पूरे बचन उक्त व न कर आ ही उक्त व कि है । जेना कि “न तस्य प्रतिमा अस्ति” में बल्लावा बापुका है ।

१२८-निर्वाणविष्णुमक प्रामाणिक-उदाहरण के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-विस्फोटन—

एक दमरा उदाहरण निर्वाणविधि का लीकिए । निर्वाणविधि शास्त्रीया है मानवधर्मशास्त्र से सम्मत है इस में ही कोई अन्वेष नहीं । परन्तु नीन किन अवस्था में अन्वेष निर्वाण कर सकता है, वह निर्वाण विषय है । प्रकरण यह है—

यस्या श्रियत कस्याया वाचा मरये कृते पतिः ।

शामनन पिधानेन निजो विन्देन देवरा ॥

—मनु २।६६।

‘जिन कन्या का वाग्दत्त पति मर जाय उसे निम्न लिखित विधान से उस वाग्दत्त पति के अनुग्रह के लिये नियोग कछोना चाहिए’ । तात्पर्य यदि केवल वाग्दान हुआ हो विवाह न हुआ हो और उठी वरसा मे माजी पति मर जाय तो अभी उस का कन्यात्व सुरक्षित है । इस दशा में उस मृतक के छोटे भाया के लिये इस का नियोग (विवाह नहीं) किया जा सकता है ।

१२६-‘अत्र पूर्व महादेवः’-इत्यादि श्रीरामायणीय-आर्पणचन के साथ परमहात्तु गामियों का बन्धनापूर्व-समन्वय-प्रकार—

उपर उक्त पूरे बचन का उत्ते न न कर केवल निजो विन्देत् देवरः इस वाक्यांश को उद्धृत कर कश्चिन्मानिषीर्न सुखबनता को यह उलगा पाठ पठाने का बचन्य कर्म किया है कि ‘जिसे स्त्री का पति मर जाय उसे देवर के साथ पुनर्विवाह कर लेना चाहिए’ । यही सीला प्रकृत स्थल में प्रतिष्ठित हुई है । पूर्वोक्त कस्तीकि-बचनो का पूरा उत्ते न न कर केवल निम्नलिखित का ही उन के उत्तरग्रन्थ में उद्धृत हुआ है—
मर्या कवा किया गया है । वह भी नमूना देन लीकिए—

“अत्र पूर्व महादेवः प्रमादमकरोत्त्रिभुः ।

नेतुबन्ध इति क्मात्स” ॥

‘हे सीते ! तेरे वियोग से हम व्यकुल होकर चमते थे, और इसी स्थान में जातुर्नात्त किया था और पत्थेरवर की उपासना—स्नान भी करते थे । कहीं को सर्वत्र त्रिभु वेचो का देव महादेव परमात्मा है । उस की इपाते हम को सब कामभी प्राप्त हुई । और देख ! यह सेतु हमने बीचकर लड़ा में आके यवन की मार के इस को ले आया

—अर्पणप्रकार

१२७-श्रीरामायणमान्यतानुबन्ध के प्रति कृतज्ञतार्पण एवं तत्त्वचिन्तना बन्धुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रपास—

बड़ा अनुग्रह हुआ को उक्त ऐतिहासिक घटना की ही मामाधिक मान लिया गया । हम तो डर रहे थे कि, कहीं वेदों में उक्त अर्थ के न होने से इसे भी गण्य ही न मान लिया जाय । प्रतीत होता है ‘त्रैलोक्येन च पूजितम्’ वह अर्थ उस युग की पुस्तकों में नहीं होगा पीछे से जोड़ दिया गया होगा । नहीं तो ‘अथर्व वेद’ की केवल इसी स्थान पर आके त्रैलोक्य के अनुग्रह पूजते’ यह कैसे संभव है । अस्तु, स्वयं निर्णय कीजिए कि कस्तुस्थिति क्या है । इत्युत्तर निम्न महाभारतोक्ता प्रकृत्य की उपासना का है । शुक्रोक्त गौरव-पावनी को धनुर्विद्या का शिक्षण करते थे ।

१२८-वर्षाभ्रमय्यवर्षानिष्ट आचार्य्य श्रोत्र, एवं एकस्त्वय्य—

एक दिन प्रकृत होकर श्रोत्रने अजुन को यह वर प्रदान किया कि, ‘अजुन ! धनुर्विद्या में हम तुझे उधार का सर्वश्रेष्ठ दोहा बना दगे । इन्हीं दिनों भीतबासि में उपगत एकस्त्वय्य श्रोत्राचार्य्य की क्याति पुन कर इतिहासपुर आया । परन्तु-वर्षाभ्रमय्य की लक्ष्य में रहते हुए शुक्रश्रोत्रने— श्रेष्ठराजवर्ष इत्येव एक श्रुति प्राप्त नहीं कर सकता’—यह कहते हुए एकस्त्वय्य की निराश लीय दिया ।

एष सर्वेषु भूतेषु गृहोत्तमा न प्रकाशते ।

हरयते स्वप्नयया मुदया घ्नमया घृणमदक्षिभिः ।

—कृष्णनिषण्ण १।१।१२।

इह चेददीदृश सत्यमस्ति, न यदिद्वावदी-महती चिनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विधित्य धीरा प्रेत्याम्मान्लोकदमृता भवन्ति ॥

—कृष्णनिषण्ण २।४।

१४ - भद्राविश्वासात्मक-उपास्यदेव, और महात्मा तुलसी—

भद्रा-विराट है तो लव में मगवान हैं, लव मगवान हैं । यदि भद्रा (विराट) नहीं तो कुरुकुल खते हुए भी कुछ नहीं —

भवानीशङ्करा बन्द भद्रा-विरास-रूपिणौ ।

धाम्पां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तस्पमीरवरम् ॥

१४१-परमत् की दृष्टि में प्रतिमापूजन—

वो मुक्तमानस्य बुधपरमती (मुक्तिपूजन) को कुछ (कल्पित) कहते हैं उन में भी कुछ एक मनीषी उपासकता महानुभावों में निम्न विधित शम्भो में प्रतिमापूजन की उपवासित्य तत्त्व शम्भो में लीकार की है—

१-कृष्ण ब्रह्म क ई तारीक, झकन का ई हर ।

चाहिए रोदनी राम बँकी बोड़ी सी ॥’

—अमीरमीनार्ई सखनऊ

“लवार में पर पर पर संशयों का बना बगला लड़ा हुआ है । अक्षर ही राशीर के गुम होमने का हर है । इत करगुमानी से बचने के लिए कभीन (विश्वासरूप) रोदनी (प्रकाश) अक्षर चाहिए ।

२-मुसलमानी गर्भगनिम्ते कि बुत भीत ।

विद्वानिस्त कि बीरर बुत परमतीत ॥

—मीलामा महमूद शखस्वरी किलाब गुलरानेराम

— ‘मने तो देव, नहीं माटा का खेव’ राजस्थान प्रान्त की सुप्रसिद्धा लोकोक्ति जिस का अर्थ यही है कि, ‘भद्रा-विश्वासानुगता वात्सागर्मिता मान्यता से ही पापाख मयी भी प्रतिमा देवमात्रस्थानीया बन जाती है । भद्रा-विश्वास नहीं है, तो फिर प्रतिमा पापाखमात्र ही है” ।

० ‘संशयात्मा विनश्यति’ (गीता) ।

‘मुसलमान यदि यह ज्ञान लेता कि प्रतिमा क्या वस्तु है तो उसे मान्य हो जाता कि—स्वयं दीनार्थ—मान बुतपरस्ती में ही मरा पड़ा है ।

३—दुरुर्ने हर जुर्न आनेस्त पिनहा ।

धजेगे कुम्ह ईमानेस्त पिनहा ॥

“प्रत्येक प्रतिमा में गुप्तरूप से माण प्रतिष्ठित रहता है । और कुम्ह ईमान खुपा हुआ है । अविद्या कुम्ह है । मीठिक फार्थ अविद्या (तम) प्रधान बनते हुए कुम्ह हैं । फलतः प्रतिमा भी कुम्ह है । ईमान विघातक है । विद्या की प्राप्ति का साधन अविद्या है* अस्मृति में ही सम्मृति मिलती है मृत्यु ही अमृत प्राप्ति का कारण है—असत्ये वरमनि स्विच्छा तव सत्यं समीहते ।

१४२—प्रतिमापूजन का समर्पण, तथा “* परिशिष्ट—प्रकरणोपराम”—

इसप्रकार युक्ति तर्क अनुभव विज्ञान इतिहास पुराण वेद स्मृति दर्शन पञ्च परमवै इत्यादि सभी प्रमाणाँ के द्वारा मूर्तिपूजन का प्राचीनत्व, प्रमाणात्मक एव उपादेयत्व मालूम हो जाता है । जो महानुभाव मूर्तिपूजन के विरोधी हैं वे सर्वशास्त्र-विरोधी बनते हुए दूर से ही प्रणम्य हैं—‘अज्ञे कारुणिक । स्वयैव कृपया ते माननीया नराः ।

इति—भक्तियोगपरीक्षायां—पूर्वखण्डे—

“प्रतिमापूजन, और उपासना”

नामक

“*—परिशिष्ट—प्रकरण”

उपरत

समाप्तश्चाय-भक्तियोगपरीक्षाया-पूर्वखण्ड



* अविद्याया मृत्यु तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते ।

—इशापनिषद्

